ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क ४]

भगवदुमास्वामिप्रणीतस्य

तत्त्वार्थसूत्रस्य

श्री श्रुतसागरसूरिविरचिता

तत्त्वार्थवृत्तिः

[हिन्दीसारसहिता]

सम्पादक—

प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ

बौद्धदर्शनाध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ।

सहायक—

पं० उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य, बौद्धदर्शनशास्त्री, न्यायतीर्थ, बी. ए.

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

फाल्गुन, वीरनि० सं० २४७५
वि० सं० २००५
मार्च १९४९

मूल्य
सोलह रुपये

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुण्यश्लोका माता श्री मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में
तत्सुपुत्र सेठ शान्तिप्रसाद जी द्वारा
संस्थापित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड तामिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक दार्शनिक पौराणिक साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन, उसका मूल और यथासंभव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन होगा। जैन भंडारों की सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययनग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक (संस्कृत विभाग)
प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ, आदि
बौद्धदर्शनाध्यापक संस्कृत महाविद्यालय,
हिन्दू विश्वविद्यालय काशी

संस्कृत ग्रन्थाङ्क ४

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री-भारतीय ज्ञानपीठ काशी,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस सिटी।

मुद्रक—पं० पृथ्वीनाथ भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, काशी।

स्थापनाब्द
फाल्गुन कृष्णा ९
वीर नि० सं० २४७०

विक्रम सं० २०००
१८ फरवरी १९४४

तत्त्वार्थवृत्ति



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

JNANA-PITHA MOORTI DEVI JAIN GRANTHAMALA
SANSKRIT GRANTHA No. 4

TATTVARTHAVRITTI

OF

SHRI SHRUTASAGAR SURI

The commentary on

TATTVARTHASUTRA

OF

SHRI UMASWAMI

WITH

HINDI TRANSLATION

EDITED WITH

introduction, appendices, variant readings, comparative notes etc.

BY

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN

Nyayacharya, Jain-Prachina Nyayatirtha, etc.

Prof. of Bauddha Darshana. Sanskrit Maha Vidyalaya
BANARAS HINDU UNIVERSITY.

Assisted by

UDAYACHANDRA JAIN

Sarvadarshanacharya, Bauddhadarshan Shastri,

Nyayatirtha, B. A.

Published by

BHARATIYA JNANA-PITHA, KASHI

First Edition
600 Copies.

FALGUNA, VIR SAMVAT 2475
VIKRAMA SAMVAT 2005
MARCH, 1949.

Price
Rs. 16/-

BHARATIYA JNANA-PITHA KASHI

Founded by

SETH SHANTI PRASAD JAIN

In memory of his late benevolent mother

SHRI MOORTI DEVI

JNANA-PITHA MOORTI DEVI JAIN GRANTHAMALA

In this Granthmala critically edited, Jain agamic, Philosophical, Pauranic literary, historical and other original texts available in Prakrit, Sanskrit, Apabhransha, Hindi, Kannada, Tamil Etc. will be published in their respective languages with their translations in modern lenguages

AND

Catalogues of Jain Bhandaras, inscriptions, studies of competent scholars and Jain literature of popular interest will also be published.

GENERAL EDITOR OF THE SANSKRIT SECTION

Prof. MAHENDRA KUMAR JAIN

NYAYACHARYA, JAIN-PRACHINA NYAYATIRTHA Etc.

Professor of Bauddha Darshana, Sanskrit Mahavidyalaya

Banaras Hindu University

SANSKRIT GRANTHA No. 4

Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA

SECY.

BHARATIYA JNANAPITHA

DURGAKUND ROAD, BANARAS CITY.

Founded in Falguna Krishna 9, Vir Sam. 2470

Vikram Samvat 2000 *18th Feb. 1944.*

अनुक्रम

शुद्धिपत्रम्

पृ०	प०	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१४	केवली सिद्धाश्च	केवली । सिद्धाश्च
५३	८	मिश्रे क्षीणकषाये	मिश्रे क्षीणेऽकषाये
६१	११	इन्द्रः । आत्मतत्त्वस्य	इन्द्रः आत्मा । तस्य
६१	२०	इन्द्रियलिङ्गं	इन्द्रलिङ्गं
६५	२०	कमादय	कर्मोदय
९९	१६	कमयोगः	कर्मयोगः
११०	७	उत्तमदेवत्वे	उत्तमदेहत्वे
१३७	१६	विदेहान्ता	विदेहान्ताः
१६९	१९	निर्वाणरजो	निर्माणरजो
१८३	६	जघन्योत्कृष्ट–	अजघन्योत्कृष्ट–
१८४	१७	का० त०	कात०
१९०	६	२९	१९
२१५	१३	–कपायव्रत	–कषायाव्रत
२३१	१६	हिंसदिभ्यो	हिंसादिभ्यो
२३१	२२	पश्चद्वलते	पश्चाद्वलते
२३९	१४	अघ्ननपि	अघ्नन्नपि
२४०	३१	पींडिताः	–पीडिताः
२४३	१२	समंथयति	समर्थयति
२५५	२२	–करणतोश्च	–करणयोश्च
२५९	६	असतद्गिुण्णा–	सतद्गिुण्णा
२६४	२०	–निदा कथ्यते	निद्रानिद्रा कथ्यते
२८१	२०	उपशमकश्रोणिः	उपशमकश्रेणिः
२८२	२	–शब्दे कषायो	–शब्देन कषायो
३०३	१७	–लतोप्थाने	–लतोत्थाने
३०७	२०	३१	३२
३११	९	–चलनं भवति	–चलनं न भवति
३२१	१६	–कारण भावात्	–कारणाभावात्
३२६	१	–भद्र:श्री–	–भद्रश्री–
५३२	१	–गनानाममुद्धत	–गतानां समुद्धृत–

सम्पादकीय

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमालामें अकलङ्कीय वाङ्मयके सम्पादन संशोधनके साथ ही दूसरा कार्य चालू है—तत्त्वार्थसूत्रकी अमुद्रित टीकाओंका प्रकाशन। इसी कार्यक्रममें श्रुतसागरसूरि विरचित तत्त्वार्थवृत्ति योगदेवविरचित तत्त्वार्थसुखबोधवृत्ति और प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिटिप्पणका संपादन-संशोधन हो चुका है। तत्त्वार्थवार्तिकका तीन ताड़पत्रीय तथा तीन कागजकी प्रतियोंके आधारसे सम्पादन हो रहा है।

बड़े बड़े ग्रन्थोंका अक्षरानुवाद जितना समय और शक्ति लेता है उतनी उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। कारण, संस्कृताभ्यासी तो मूलग्रन्थसे ही पदार्थबोध कर लेते हैं और भाषाभ्यासीके लिए अक्षरानुवादका कोई विशिष्ट उपयोग नहीं है, अतः बड़े ग्रन्थोंका प्रकरणवार हिन्दी सार लिखा जाना व्यवहार्य समझकर तत्त्वार्थवृत्ति ग्रन्थका, जो परिमाणमें ९००० श्लोक है संक्षेपमें हिन्दी सार लिखा है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र पर श्रुतसागरसूरिका जो विवेचन है वह पूरा संगृहीत है।

दिगम्बर वाङ्मयके शुद्ध संपादनमें ताड़पत्रीय प्रतियाँ बहुमूल्य सिद्ध हुई हैं। न्यायकुमुदचन्द्र और न्यायविनिश्चय विवरणके सम्पादनमें ताड़पत्रीय प्रतियाँ ही पाठशुद्धि और संशोधनका मुख्य साधन रही हैं। इसी तरह तत्त्वार्थवार्तिकके अशुद्धिपुञ्ज संस्करणका शुद्ध सम्पादन भी दक्षिणकी ताड़पत्रीय प्रतियोंसे ही हो सका है।

इस तत्त्वार्थवृत्तिके सम्पादनमें बनारस, आरा और दिल्लीकी प्राचीन कागजकी प्रतियोंका उपयोग तो किया ही गया है पर जो विशिष्ट प्रति हमें मिली और जिसके आधारसे यह संस्करण शुद्ध सम्पादित हुआ, वह है मूड़बिद्रीकी ताड़पत्रीय प्रति।

आरा जैन सिद्धान्त भवनसे प्राप्त हुई प्रतिकी आ० संज्ञा है। प्रायः अशुद्ध है।

बनारस स्याद्वाद विद्यालयसे प्राप्त हुई प्रतिकी ब० संज्ञा है। यह भी अशुद्ध है।

दिल्लीकी प्रति श्री पन्नालालजी अग्रवालकी कृपासे प्राप्त हुई है। इसकी संज्ञा द० है। यह अपेक्षाकृत शुद्ध है।

जैन मन्दिर बनारसकी प्रतिकी संज्ञा ज० है। यह प्राचीन और शुद्ध है।

मूडबिद्री जैन मठकी ताड़पत्रीय प्रतिकी संज्ञा ता० है। यह कनड़ी लिपि में लिखी हुई है और शुद्ध है। इस तरह पाँच प्रतियोंके आधारसे इसका सम्पादन किया गया है।

ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत वाक्योंका मूलस्थल निर्देश [ ] इस ब्रेकिटमें कर दिया है। कुछ अर्थबोधक टिप्पण सम्पादक द्वारा लिखे गए हैं। ताड़पत्रीय प्रतिमें भी कहीं कहीं टिप्पण उपलब्ध हुए हैं उन्हें 'ता० टि०'के साथ छपाया है।

इस ग्रन्थमें निम्नलिखित परिशिष्ट लगाए गए हैं—१ तत्त्वार्थसूत्रोंका अकाराद्यनुक्रम, २ तत्त्वार्थसूत्रके शब्दोंकी सूची, ३ तत्त्वार्थवृत्तिके उद्धृत वाक्योंकी सूची, ४ तत्त्वार्थवृत्तिगत ग्रन्थ और ग्रन्थकार, ५ तत्त्वार्थवृत्तिके विशेष शब्द, ६ ग्रन्थसंकेत विवरण।

प्रस्तावनामें तत्त्व, तत्त्वाधिगमके उपाय और सम्यग्दर्शन शीर्षकोंमें जैन तत्त्वोंको मूल जैनदृष्टिसे देखनेका प्रयत्न किया है। आशा है इससे सांस्कृतिक पदार्थोंके निरूपणके लिए नवीनमार्ग मिल सकेगा। 'तत्त्वाधिगमके उपाय' प्रकरणमें स्याद्वाद और सप्तभंगीके संबंधमें श्री राहुलजी, सर राधाकृष्णन्, बलदेवजी उपाध्याय आदि वर्तमान दर्शनलेखकों की भ्रान्त धारणाओंकी आलोचना भी की गई है।

दानवीर साहु शान्ति प्रसादजी और उनकी समरूपा धर्मपत्नी सौ० रमाजी जैन ने भारतीय ज्ञानकी अमूल्य निधियोंके अन्वेषण संशोधन और प्रकाशन निमित्त भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना की है। इसीके अन्तर्गत जैनग्रन्थोंके अनुसन्धान और प्रकाशनके लिए स्व०मातेश्वरी मूर्तिदेवीके स्मरणार्थ ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश आदि भाषाओंमें प्रकाशित की गई है। यह ग्रन्थ उसी ग्रन्थमालाका चतुर्थ पुष्प है। इस भद्र दम्पतिकी यह मौलिक सांस्कृतिक रुचि अनुकरणीय और अभिनन्दनीय है।

सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित 'श्रुतसागरसूरि' लेख ग्रन्थकार विभाग में उद्धृत है।

श्री पं० राजकुमारजी शास्त्री साहित्याचार्यने इसके २।। अध्यायके प्रारम्भिक पाठान्तर लिए थे। पं० देवकुमारजी शास्त्री ने कन्नडप्रतिका वाचन किया तथा पं० महादेवजी चतुर्वेदी व्याकरणाचार्यने प्रूफसंशोधनमें सहयोग दिया है।

ज्ञानपीठने सम्पादनशिक्षणनिमित्त दो विशेषवृत्तियाँ प्रारम्भ की थीं। उनमें एक वृत्ति उदयचन्द्र सर्वदर्शनाचार्य बी.ए. को दी गई थी। प्रिय शिष्य श्री उदयचन्द्रजीने इस ग्रन्थके कुछ पाठान्तर लिये और हिन्दीसार लिखा है। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि ये आगे चलकर अच्छे साहित्यसेवी सिद्ध होंगे। पं० परमानन्दजी शास्त्रीने कुछ अवतरणोंके मूलस्थल खोजकर भेजे हैं। उनके द्वारा लिखित 'ब्रह्मश्रुतसागरका समय और साहित्य' शीर्षक लेखकी पाण्डुलिपि भी मुझे प्राप्त हुई थी।

श्री बाबू पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली, पं० भुजबली शास्त्री मूडबिद्री और पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने अपने यहांके भण्डारोंकी प्रतियां भिजवाईं। मैं इन सब विद्वानोंका आभारी हूँ। अन्तमें मैं पुनः वही बात दुहराता हूँ कि–'सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्'–अर्थात् सामग्री कार्यको उत्पन्न करती है, एक कारण नहीं। मैं सामग्रीका मात्र एक अंग ही हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
माघ शुक्ल ५, वीर सं० २४७५

—महेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशन-व्यय

छपाई ३०००)	कमीशन २४००)
कागज १०००)	भेंट आलोचना ८००)
सम्पादन २२५०)	विज्ञापन २००)
जिल्द ६००)	चित्रकवर १००)
व्यवस्था २२५०)	

१२६००)

६०० प्रति छपी, लागत मूल्य २१) कीमत १६)

प्रस्तावना

१ ग्रन्थविभाग

[तत्त्व और तत्त्वाधिगम के उपाय]

आजसे २५००–२६०० वर्ष पूर्व इस भारतभूमिके बिहार प्रदेशमें दो महान् नक्षत्रोंका उदय हुआ था, जिनकी प्रभासे न केवल भारत ही आलोकित हुआ था किन्तु सुदूर एशियाके चीन जापान तिब्बत आदि देश भी प्रकाशित हुए थे। आज भी विश्वमें जिनके कारण भारतका मस्तक गर्वोन्नत है, वे थे निग्गंठनाथ-पुत्त वर्धमान और शौद्धोदनि–गौतम बुद्ध। इनके उदयके २५० वर्ष पहले तीर्थंकर पार्श्वनाथने काशी देशमें जन्म लिया था और श्रमणपरंपरा के चातुर्याम संवरका जगत्को उपदेश दिया था। बुद्धने बोधिलाभके पहिले पार्श्वनाथकी परंपराके केशलुंच, आदि उग्रतपों को तपा था, पर वे इस मार्गमें सफल न हो सके और उनने मध्यम मार्ग निकाला। निग्गंठनाथपुत्त साधनोंकी पवित्रता और कठोर आत्मानुशासनके पक्ष-पाती थे। वे नग्न रहते थे, किसी भी प्रकारके परिग्रहका संग्रह उन्हें हिंसाका कारण मालूम होता था। मात्र लोकसंग्रहके लिए आचारके नियमोंको मृदु करना उन्हें इष्ट नहीं था। संक्षेपमें बुद्ध मातृहृदय दया-मूर्ति थे और निग्गंठनाथपुत्त पितृचेतस्क साधनामय संशोधक योगी थे। बुद्धके पास जब उनके शिष्य आकर कहते थे—'भन्ते, जन्ताघर की अनुज्ञा दीजिए, या तीन चीवरकी अनुज्ञा दीजिए' तो दयालु बुद्ध शिष्य-संग्रहके लिए उनकी सुविधाओंका ध्यान रखकर आचारको मृदु कर उन्हें अनुज्ञा देते थे। महावीरकी जीवनचर्या इतनी अनुशासित थी कि उनके संघके शिष्योंके मनमें यह कल्पना ही नहीं आती थी कि आचारके नियमोंको मृदु करानेका प्रस्ताव भी महावीरसे किया जा सकता है। इस तरह महावीरकी संघपरंपरामें चुने हुए अनु-शासित दीर्घ तपस्वी थे, जब कि बुद्धका संघ मृदु मध्यम सुकुमार सभी प्रकारके भिक्षुओंका संग्राहक था। यद्यपि महावीरकी तपस्याके नियम अत्यंत अहिंसक अनुशासनबद्ध और स्वावलंबी थे फिर भी उस समय उनका संघ काफी बड़ा था। उसकी आचारनिष्ठा दीर्घ तपस्या और अनुशासन की साक्षी पाली साहित्यमें पग पग पर मिलती है।

महावीर कालमें ६ प्रमुख संघनायकोंकी चर्चा पिटक साहित्य और आगम साहित्यमें आती है। बौद्धों के [1]पाली ग्रंथोंमें उनकी जो चर्चा है उस आधारसे उनका वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) अजितकेशकम्बलि—भौतिकवादी, उच्छेदवादी।

(२) मक्खलिगोशाल—नियतिवादी, संसारशुद्धिवादी।

(३) पूरण कश्यप—अक्रियावादी।

(४) प्रकुध कात्यायन—शाश्वतार्थवादी, अन्योन्यवादी।

(५) संजयवेलट्ठिपुत्त—संशयवादी, अनिश्चयवादी या विक्षेपवादी।

(६) बुद्ध—अव्याकृतवादी, चतुरार्यसत्यवादी, अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी।

(७) निग्गंठनाथपुत्त—स्याद्वादी, चातुर्याममंवरवादी।

(१) **अजितकेशकम्बलिका** कहना था कि–"दान यज्ञ तथा होम सब कुछ नहीं है। भले बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता। न इहलोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज (औपपातिक देव) सत्त्व हैं, और न इहलोक में वैसे ज्ञानी और समर्थश्रमण या ब्राह्मण हैं जो इस लोक और परलोकको स्वयं जानकर और साक्षात्कारकर कहेंगे। मनुष्य पाँच महाभूतोंसे मिलकर बना है। मनुष्य जब मरता है तब पृथ्वी

---

१ देखो दीघनिकाय समाजञ्ञफलसुत्त १।२। हिन्दी अनुवाद।

महापृथ्वीमें, जल जलमें, तेज तेज में, वायु वायुमे और इंद्रियां आकाशमें लीन हो जाती हैं। लोग मरे हुए मनुष्यको खाटपर रखकर ले जाते हैं, उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियां उजली हो बिखर जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उसका कोई फल नहीं होता। आस्तिक-वाद झूठा है। मूर्ख और पंडित सभी शरीरके नष्ट होते ही उच्छेदको प्राप्त हो जाते हैं। मरनेके बाद कोई नहीं रहता।"

इस तरह अजितका मत उच्छेद या भौतिकवादका प्रख्यापक था।

(२) **मक्खलिगोशालका मत**---"सत्त्वोंके क्लेशका कोई हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धिका कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना हेतुके और बिना प्रत्ययके सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने कुछ नहीं कर सकते हैं, पराये भी कुछ नहीं कर सकते हैं, (कोई) पुरुष भी कुछ नहीं कर सकता है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुषका कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वशमें नहीं हैं, निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोगके फेरसे छै जातियोंमें उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते हैं। वे प्रमुख योनियाँ चौदह लाख छियासठ सौ हैं। पांच सौ पांच कर्म, तीन अर्ध कर्म (केवल मनसे शरीरसे नहीं), बासठ प्रतिपदाएँ (मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुषभूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उन-चास सौ नाग-आवास, बीस सौ इंद्रियां, तीस सौ नरक, छत्तीस रजोधातु, सात संज्ञी (होशवाले) गर्भ सात असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रन्थ गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात गाँठ, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न, और अस्सी लाख छोटे बड़े कल्प हैं, जिन्हें मूर्ख और पंडित जानकर और अनुगमन कर दुःखोंका अंत कर सकते हैं। वहां यह नहीं है—इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख दुःख द्रोण (—नाप) से तुले हुए हैं, संसारमें घटना-बढ़ना उत्कर्ष, अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर—आवागमनमें पड़कर, दुखका अन्त करेंगे।"

गोशालक पूर्ण भाग्यवादी था। स्वर्ग नरक आदि मानकर भी उनकी प्राप्ति नियत समझता था, उसके लिए पुरुषार्थ कोई आवश्यक या कार्यकारी नहीं था। मनुष्य अपने नियत कार्यक्रमके अनुसार सभी योनियोंमें पहुँच जाता है। यह मत पूर्ण नियतिवादका प्रचारक था।

(३) **पूरण कश्यप**---"करते कराते, छेदन करते, छेदन कराते, पकाते पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान कराते, चलते चलाते, प्राण मारते, बिना दिये लेते, सेंध काटते, गांव लूटते, चोरी करते, बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी, पाप नहीं किया जाता। छुरे से तेज चक्र द्वारा जो इस पृथ्वीके प्राणियोंका (कोई) एक मांसका खलियान, एक मांसका पुञ्ज बना दे; तो इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। यदि घात करते कराते, काटते, कटाते, पकाते पकवाते, गंगाके दक्षिण तीरपर भी जाये; तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं, पापका आगम नहीं होगा। दान देते, दान दिलाते, यज्ञ करते, यज्ञ कराते, यदि गंगाके उत्तर तीर भी जाये, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं, पुण्यका आगम नहीं होगा। दान दम संयमसे, सत्य बोलनेसे न पुण्य है, न पुण्यका आगम है।"

पूरण कश्यप परलोकमें जिनका फल मिलता है ऐसे किसी भी कर्मको पुण्य या पापरूप नहीं समझता था। इस तरह पूरण कश्यप पूर्ण अक्रियावादी था।

(४) **प्रकुध कात्यायनका मत था**---"यह सात काय (समूह) अकृत—अकृतविध—अनिर्मित —निर्माणरहित, अबध्य—कूटस्थ, स्तम्भवत् (अचल) हैं। यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नहीं होते; न एक दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक दूसरेके सुख, दुख या सुख-दुखके लिए पर्याप्त हैं। कौनसे सात ?

पृथिवी-काय, आप-काय, तेज काय, वायु-काय,सुख,दुख और जीवन यह सात। यह सात काय अकृत० सुख-दुखके योग्य नहीं हैं। यहां न हन्ता (—मारनेवाला) है, न घातयिता (—हनन करनेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। जो तीक्ष्ण शस्त्रसे शीश भी काटे (तो भी) कोई किसीको प्राणसे नहीं मारता। सातों कायोंसे अलग, विवर (—खाली जगह)में शस्त्र (—हथियार) गिरता है।"

यह मत अन्योन्यवाद या शाश्वतवाद कहलाता था।

(५) **संजय बेलट्ठि पुत्तका** मत था—"यदि आप पूछें,क्या परलोक है ? और यदि मैं समझूं कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरहसे भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है', मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं नहीं है।' परलोक नहीं है०। परलोक है भी और नहीं भी०, परलोक न है और न नहीं है०। अयोनिज (—औपपातिक) प्राणी हैं०। आयोनिज प्राणी नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं०। अच्छे बुरे काम के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं०। तथागत मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं०। यदि मुझे ऐसा पूछें और मैं ऐसा समझूं कि मरनेके बाद तथागत न रहते हैं और न नहीं रहते हैं तो मैं ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।"

संजय स्पष्टतः संशयालु क्या घोर अनिश्चयवादी या आज्ञानिक था। उसे तत्त्वकी प्रचलित चतुष्कोटियों मेंसे एकका भी निर्णय नहीं था। पालीपिटकमें इसे 'अमराविक्षेपवाद' नाम दिया है। भले ही हमलोगोंकी समझमें यह विक्षेपवादी ही हो पर संजय अपने अनिश्चयमें निश्चित था।

(६) **बुद्ध**—अव्याकृतवादी थे। उनने इन दस बातोंको अव्याकृत[1] बतलाया है। (१) लोक शाश्वत है ? (२) लोक अशाश्वत है ? (३) लोक अन्तवान् है ? (४) लोक अनन्त है ? (५) वही जीव वही शरीर है ? (६) जीव अन्य और शरीर अन्य है ? (७) मरनेके बाद तथागत रहते हैं ? (८) मरने के बाद तथागत नहीं रहते ? (९) मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते ? (१०) मरनेके बाद तथागत नहीं होते, नहीं नहीं होते ?

इन प्रश्नोंमें लोक आत्मा और परलोक या निर्वाण इन तीन मुख्य विवादग्रस्त पदार्थोंको बुद्धने अव्याकृत कहा। दीघनिकायके पोट्ठवादसुत्त में इन्हीं प्रश्नोंको अव्याकृत कहकर [2]अनेकांशिक कहा है। जो व्याकरणीय हैं उन्हें 'ऐकांशिक' अर्थात् एक सुनिश्चितरूपमें जिनका उत्तर हो सकता है कहा है। जैसे दुःख आर्यसत्य है ही ? उसका उत्तर हो 'है ही' इस एक अंशरूपमें दिया जा सकता है। परन्तु लोक आत्मा और निर्वाणसंबंधी प्रश्न अनेकांशिक हैं अर्थात् इनका उत्तर हां या न इनमेंसे किसी एकके द्वारा नहीं दिया जा सकता। कारण बुद्धने स्वयं बताया है कि यदि वही जीव वही शरीर कहते हैं तो उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादका प्रसंग आता है जो बुद्धको इष्ट नहीं और यदि अन्य जीव और अन्य शरीर कहते हैं तो नित्य आत्मवादका प्रसंग आता है जो भी बुद्धको इष्ट नहीं था। बुद्ध ने प्रश्नव्याकरण चार प्रकार का बताया है—(१) एकांश (है या नहीं एकमें) व्याकरण, प्रतिपृच्छाव्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। जिन प्रश्नोंको बुद्धने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकांशिक भी कहा है अर्थात् उनका उत्तर एक है या नहीं में

---

१ "सस्सतो लोको इतिपि, असस्सतो लोको इतिपि, अन्तवा लोको इतिपि, अनन्तवा लोको इतिपि, तं जीवं तं सरीरं इतिपि, अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं इतिपि, होत्ति तथागतो परम्मरणा इतिपि, होतिच न च होति च तथागतो पम्मरणा इतिपि, नेव होति न नहोति तथागतो परम्मरणा इतिपि।" —मज्झिमनि० चूलमालुक्यसुत्त।

२ "कतमे च ते पोट्ठपाद मया अनेकंसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सतो लोको ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोको ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको.."—दीघनि० पोट्ठपादसुत्त।

नहीं दिया जा सकता। फिर इन प्रश्नोंके बारेमें कुछ कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं और न निर्वेद, निरोध, शांति, परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है।

इस तरह बुद्ध जब आत्मा, लोक, और निर्वाणके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेको अनुपयोगी बताते हैं तो उसका सीधा अर्थ यही ज्ञात होता है कि वे इन तत्त्वोंके सम्बन्धमें अपना निश्चित मत नहीं बना सके थे। शिष्योंके तत्त्वज्ञानके झगड़ेमें न डालनेकी बात तो इसलिए समझमें नहीं आती कि जब उस समयका प्रत्येक मतप्रचारक इनके विषयमें अपने मतका प्रतिपादन करता था उसका समर्थन करता था, जगह जगह इन्हींके विषयमें वाद रोपे जाते थे,तब उस हवासे शिष्योंकी बुद्धिको अचलित रखना दुःशक ही नहीं अशक्य ही था। बल्कि इस अव्याकृत कोटिकी सृष्टि ही उन्हें बौद्धिक हीनताका कारण बनती होगी।

बुद्धका इन्हें अनेकांशिक कहना भी अर्थपूर्ण हो सकता है। अर्थात् वे एकान्त न मानकर अनेकांश मानते तो थे पर चूंकि निग्गंठनाथपुत्त ने इस अनेकांशताका प्रतिपादन सियावाद अर्थात् स्याद्वादसे करना प्रारम्भकर दिया था, अतः विलक्षणशैली स्थापनके लिए उनने इन्हें अव्याकृत कह दिया हो। अन्यथा अनेकांशिक और अनेकान्तवादमें कोई खास अन्तर नहीं मालूम होता। यद्यपि संजयवेलट्ठिपुत्त बुद्ध और निग्गंठनाथपुत्त इन तीनोंका मत अनेकांशको लिए हुए है, पर संजय उन अनेक अंशोंके सम्बन्धमें स्पष्ट अनिश्चयवादी है। वह साफ साफ कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ कि परलोक है या नहीं है आदि"। बुद्ध कहते हैं यह अव्याकृत है। इस अव्याकृति और संजय की अनिश्चितिमें क्या सूक्ष्म अन्तर है सो तो बुद्धही जानें, पर व्यवहारतः शिष्योंके पल्ले न तो संजय ही कुछ दे सके और न बुद्ध ही। बल्कि संजयके शिष्य अपना यह मत बना भी सके होंगे कि–इन आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका निश्चय नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धशिष्योंका इन पदार्थों के विषयमें बुद्धिभेद आज तक बना हुआ है। आज श्री **राहुल सांकृत्यायन** बुद्धके मतको अभौतिक अनात्मवाद जैसा उभयप्रतिषेधी नाम देते हैं। इधर आत्मा शब्दसे नित्यत्वका डर है उधर भौतिक कहनेमें उच्छेदवादका भय है। किंतु यदि निर्वाणदशामें दीपनिर्वाणकी तरह चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है तो भौतिकवादसे क्या विशेषता रह जाती है? चार्वाक हर एक जन्ममें आत्माकी भूतोंसे उत्पत्ति मानकर उनका भूतविलय मरणकालमें मान लेता है। बुद्धने इस चित्तसन्ततिको पंचस्कंधरूप मानकर उसका विलय हर एक मरणके समय न मानकर संसारके अन्तमें माना। जिस प्रकार रूप एक मौलिक तत्त्व अनादि अनन्त धारारूप है उस प्रकार चित्तधारा न रही, अर्थात् चार्वाकका भौतिकत्व एक जन्मका है जब कि बुद्धका भौतिकत्व एक संसारका। इस प्रकार बुद्ध तत्त्वज्ञानकी दिशामें संजय या भौतिकवादी अजितके विचारोंमेंही दोलान्दोलित रहे और अपनी इस दशामें भिक्षुओंको न डालनेकी शुभेच्छासे उनने इनका अव्याकृत रूपसे उपदेश दिया। उनने शिष्योंको समझा दिया कि इस वाद-प्रतिवादसे निर्वाण नहीं मिलेगा,निर्वाणके लिए चार आर्यसत्योंका ज्ञान ही आवश्यक है। बुद्धने कहा कि दुःख, दुःखके कारण,दुःखनिरोध और दुःखनिरोधका मार्ग इन चार आर्यसत्यों को जानो। इनके यथार्थ ज्ञानसे दुःखनिरोध होकर मुक्ति हो जायगी। अन्य किसी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है।

निग्गंठनाथपुत्त—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर स्याद्वादी और सप्ततत्त्वप्रतिपादक थे। उनके विषयमें यह प्रवाद था कि निग्गंठनाथपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी है, उन्हें सोते जागते हर समय ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। ज्ञातपुत्र वर्धमानने उस समयके प्रत्येक तीर्थंकरकी अपेक्षा वस्तुतत्त्वका सर्वांगीण साक्षात्कार किया था। वे न संजयकी तरह अनिश्चयवादी थे और न बुद्धकी तरह अव्याकृतवादी और न गोशालक आदिकी तरह भूतवादी ही। उनने प्रत्येक वस्तुको परिणामीनित्य बताया। आजतक उस समयके प्रचलित मतवादियोंके तत्त्वोंका स्पष्ट पता नहीं मिलता। बुद्धने स्वयं कितने तत्त्व या पदार्थ माने थे यह आजभी विवादग्रस्त है पर महावीरके तत्व आजतक निर्विवाद चले आए हैं। महावीरने वस्तुतत्त्वका एक स्पष्ट दर्शन प्रस्तुत किया उनने कहा कि–इस जगत्में कोई द्रव्य या सत् नया उत्पन्न नहीं होता और जो द्रव्य या सत् विद्यमान है उनमें प्रतिक्षण परिवर्त्तन

होनेपरभी उनका अत्यंत विनाश नहीं हो सकता। पर कोई भी पदार्थ दो क्षणतक एक पर्यायमें नहीं रहता, प्रतिक्षण नूतन पर्याय उत्पन्न होती है पूर्व पर्याय विनष्ट होती है पर उस मौलिक तत्त्वका आत्यन्तिक उच्छेद नहीं होता, उसकी धारा प्रवाहित रहती है। चित्तसन्तति निर्वाणावस्थामें शुद्ध हो जाती है पर दीपककी तरह बुझकर अस्तित्वविहीन नहीं होती। रूपान्तर तो हो सकता है पदार्थान्तर नहीं और न अपदार्थ ही या पदार्थविलय ही। इस संसारमें अनन्त चेतन आत्माएँ अनन्त पुद्‌गल परमाणु, एक आकाश द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालपरमाणु इतने मौलिक द्रव्य हैं। इनकी संख्यामें कमी नहीं हो सकती और न एक भी नूतन द्रव्य उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें एककी भी वृद्धि कर सकता है। प्रतिक्षण परिवर्तन प्रत्येक द्रव्यका होता रहता है उसे कोई नहीं रोक सकता, यह उसका स्वभाव है।

महावीरकी जो मातृकात्रिपदी समस्त द्वादशांगका आधार बनी, वह यह है—"**उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा**" अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, विनष्ट होता है, और ध्रुव है। उत्पाद और विनाशमें पदार्थ रूपान्तरको प्राप्त होता है पर ध्रुवसे अपना मौलिक अस्तित्व नहीं खोता। जगत्‌से किसी भी 'सत्' का समूल विनाश नहीं होता। इतनी ही ध्रुवता है। इसमें न कूटस्थनित्यत्व जैसे शाश्वतवादका प्रसंग है और न सर्वथा उच्छेदवादका ही। मूलतः प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है। उसमें यही अनेकांशता या अनेकान्तता या अनेकधर्मात्मकता है। इसके प्रतिपादनकेलिए महावीरने एक खास प्रकारकी भाषाशैली बनाई थी। उस भाषाशैलीका नाम स्याद्वाद है। अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षासे वस्तु ध्रुव है और अमुक निश्चित अपेक्षासे उत्पादव्ययवाली। अपने मौलिक सत्त्वसे च्युत न होनेके कारण उसे ध्रुव कहते हैं तथा प्रतिक्षण रूपान्तर होनेके कारण उत्पादव्ययवाली या अध्रुव कहते हैं। ध्रुव कहते समय अध्रुव अंशका लोप न हो जाय और अध्रुव कहते समय ध्रुव अंश का उच्छेद न समझा जाय इसलिए 'सिया' या 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् 'स्यात् ध्रुव है' इसका अर्थ है कि अपने मौलिक अस्तित्वकी अपेक्षा वस्तु ध्रुव है, पर ध्रुवमात्रही नहीं है इसमें ध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी हैं इसकी सूचनाके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आवश्यक है। इसी तरह रूपान्तरकी दृष्टिसे वस्तुमें अध्रुवत्व ही है पर वस्तु अध्रुवमात्र ही नहीं है उसमें अध्रुवत्वके सिवाय अन्य धर्म भी विद्यमान हैं इसकी सूचना 'स्यात्' पद देता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात्' शब्द वस्तुमें विद्यमान अविवक्षित शेष धर्मों की सूचना देता है। बुद्ध जिस भाषाके सहजप्रकारको नहीं पा सके या प्रयोगमें नहीं लाये और जिसके कारण उन्हें अनेकांशिक प्रश्नोंको अव्याकृत कहना पड़ा उस भाषाके सहज प्रकारको महावीरने दृढ़ताके साथ व्यवहारमें लिया। पाली साहित्यमें 'स्यात्' 'सिया' शब्दका प्रयोग इसी निश्चित प्रकारकी सूचनाके लिए हुआ है। यथा मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तमें आपोधातुका वर्णन करते हुए लिखा है कि—""**कतमा च राहुल आपोधातु ? आपोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।**" अर्थात् आपोधातु कितने प्रकारकी है। एक आभ्यन्तर और दूसरी बाह्य। यहां आभ्यन्तर धातुके साथ 'सिया'—स्याद् शब्दका प्रयोग आपोधातुके आभ्यन्तरके सिवाय द्वितीय प्रकारकी सूचनाके लिए है। इसी तरह बाह्यके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग बाह्य के सिवाय आभ्यन्तर भेदकी सूचना देता है। तात्पर्य यह कि न तो तेजोधातु बाह्यरूप ही है और न आभ्यन्तर रूप ही। इस उभयरूपताकी सूचना 'सिया—स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो स्यात् शब्दका शायद अर्थ है और न संभवतः और न कदाचित् **ही,** क्योंकि तेजो धातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नहीं है और न संभवतः आभ्यन्तर और बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और कदाचित् बाह्य, किन्तु सुनिश्चित रूपसे आभ्यन्तर और बाह्य उभय अंशवाली है। इसी तरह महावीरने प्रत्येक धर्मके साथ 'सिया-स्यात्' शब्द जोड़कर अविवक्षित शेष धर्मोंकी सूचना दी है। 'स्यात्' शब्दको शायद संभव या कदाचित्का पर्यायवाची कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है।

महावीरने वस्तुतत्त्वको अनन्तधर्मात्मक देखा और जाना। प्रत्येक पदार्थ अनन्त ही गुण पर्यायोंका अखण्ड आधार है। उसका विराट् रूप पूर्णतया ज्ञानका विषय हो भी जाय पर शब्दोंके द्वारा तो नहीं ही कहा

जा सकता। कोई ऐसा शब्द नहीं जो उसके पूर्ण रूपको स्पर्श कर सके। शब्द एक निश्चित दृष्टिकोण से प्रयुक्त होते हैं और वस्तुके एक ही धर्मका कथन करते हैं। इस तरह जब शब्द स्वभावतः विवक्षानुसार अमुक धर्मका प्रतिपादन करते हैं तब अविवक्षित धर्मोंकी सूचनाके लिए एक ऐसा शब्द अवश्यही रखना चाहिए जो वक्ता या श्रोताको भूलने न दे। 'स्यात्' शब्दका यही कार्य है, वह श्रोताको वस्तुके अनेकान्त स्वरूप का द्योतन करा देता है। यद्यपि बुद्धने इस अनेकांशिक सत्यके प्रकाशनकी स्याद्वादवाणीको न अपनाकर उन्हें अव्याकृत कोटिमें डाला है, पर उनका चित्त वस्तुकी अनेकांशिकताको स्वीकार अवश्य करता था।

तत्त्वनिरूपण—

विश्वव्यवस्थाका निरूपण और तत्त्वनिरूपणके जुदा जुदा प्रयोजन हैं। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मुक्तिसाधनापथमें पहुँचा जा सकता है। तत्त्वज्ञान न होने पर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान निरर्थक और अनर्थक हो सकता है। मुमुक्षके लिए अवश्य ज्ञातव्य प्रदार्थ तत्त्वश्रेणीमें लिये जाते हैं। साधारणतया भारतीय परम्परा हेय उपादेय और उनके कारणभूत पदार्थ इस चतुर्व्यूहका ज्ञान आवश्यक मानती रही है। आयुर्वेदशास्त्र रोग रोगनिदान रोगनिवृत्ति और चिकित्सा इन चार भागोंमें विभक्त है। रोगीके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जबतक उसे अपने रोगका भान नहीं होता तबतक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। रोगका ज्ञान होनेके बाद रोगीको यह विश्वास भी आवश्यक है कि उसका यह रोग छूट सकता है। रोगकी साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामें प्रवर्तक होता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है। जिससे वह भविष्यमें उन अपथ्य आहार विहारों से बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। जब वह भविष्यमें रोगके कारणोंसे दूर रहता है तथा मौजूदा रोग का औषधोपचारसे समूल उच्छेद कर देता है तभी वह अपने स्वरूपभूत स्थिर-आरोग्यको पा सकता है। अतः जैसे रोगमुक्तिके लिए रोग रोगनिदान आरोग्य और चिकित्सा इस चतुर्व्यूहका ज्ञान अत्यावश्यक है उसीतरह भवरोगकी निवृत्तिके लिए संसार संसारके कारण मोक्ष और उसके कारण इन चार मूल-तत्त्वोंका यथार्थज्ञान नितान्त अपेक्षणीय है। बुद्धने कर्तव्यमार्गकेलिए चिकित्साशास्त्रकी तरह चार आर्यसत्यों का उपदेश दिया। वे कभी भी आत्मा क्या है? परलोक क्या है? आदिके दार्शनिक विवादमें न तो स्वयं गये और न शिष्योंको ही जाने दिया। उनने इस संबंध में एक बहुत उपयुक्त उदाहरण दिया है कि जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो। बन्धुजन जब उसके तीरको निकालनेकेलिए विषवैद्यको बुलाते हों, उस समय रोगीकी यह मीमांसा कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया? यह कब तक स्थिर रहेगा? या जो यह वैद्य आया है वह किस गोत्रका है? आदि' निरर्थक है उसीतरह आत्मा आदि तत्त्वोंका स्वरूपचिन्तन न ब्रह्मचर्य साधनकेलिए उपयोगी है न निर्वाणके लिए न शान्तिके लिए और न बोधि प्राप्ति आदिके लिए ही। उनने मुमुक्षुके लिए चार [1]आर्यसत्योंका उपदेश दिया—दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध, और दुःखनिरोधमार्ग।

दुःखसत्यकी व्याख्या बुद्धने इस प्रकार की है—जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक, परिवेदन, मनकी विकलता भी दुःख है, इष्ट वियोग, अनिष्टसंयोग, इष्टाप्राप्ति सभी दुःख है। संक्षेपमें पांचों उपादान स्कन्ध ही दुःखरूप है।

दुःखसमुदय——कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दुःखका कारण है। जितने इंद्रियोंके प्रिय विषय हैं प्रिय रूपादि हैं वे सदा बने रहें उनका वियोग न हो इस तरह उनके संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते हैं और यही तृष्णा समस्त दुःखोंका कारण है।

दुःखनिरोध——इस तृष्णाके अत्यंत निरोध या विनाशको निरोध आर्यसत्य कहते हैं।

---

१ दीर्घनि० महासतिपट्ठान सुत्त।

दुःखनिरोधका मार्ग है आष्टांगिकमार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यग्वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्यभावना मुख्य रूपसे मार्ग है। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना है एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति उसे स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-पर विभागसे परिग्रह और द्वेष होते हैं और ये रागद्वेष ही समस्त संसार परम्पराके मूलस्रोत हैं। अतः इस सर्वानर्थमूलिका आत्मदृष्टिको नाशकर नैरात्म्यभावनासे दुःखनिरोध होता है।

बुद्धका दृष्टिकोण—उपनिषद्का[1] तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता था और आत्मदर्शनको ही तत्त्वज्ञान और मोक्षका परमसाधन मानता था और मुमुक्षुके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्चसाध्य समझता था वहाँ बुद्धने इस आत्मदर्शनको ही सर्वानर्थमूल माना। आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही बुद्धने मिथ्यादृष्टि कहा और नैरात्म्यदर्शनको दुःखनिरोधका प्रधान हेतु बताया। यह औपनिषद तत्त्वज्ञानकी ओटमें जो याज्ञिक क्रियाकाण्डको प्रश्रय दिया जा रहा था उसीकी प्रतिक्रिया थी जो बुद्धको 'आत्म'शब्दसे ही चिढ़ हो गई थी। स्थिरात्मवादको उनने राग और द्वेषका कारण समझा, जब कि औपनिषदवादी आत्मदर्शनको विरागका कारण मानते थे। बुद्ध और औपनिषदवादी दोनों ही राग द्वेष और मोहका अभावकर वीतरागता और वासना-निर्मुक्तिको ही अपना लक्ष्य मानते थे पर साधन दोनोंके जुदा जुदा थे और इतने जुदे कि एक जिसे मोक्षका कारण मानता था दूसरा उसे संसारका मूल कारण। इसका एक कारण और भी था और वह था बुद्धका दार्शनिक मानस न होना। बुद्ध ऐसे गोलगोल शब्दोंको बिलकुल हटा देना चाहते थे जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें भ्रान्त धारणाओंकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' उन्हें ऐसा ही मालूम हुआ। पर वेदवादियोंका तो यही मूल आधार था। बुद्धकी नैरात्म्यभावनाका उद्देश्य बोधिचर्यावतारमें इस प्रकार बताया है—

"यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव यदा न स्यां कुतो भीतिर्भविष्यति॥"

अर्थात्—यदि 'मैं' नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था पर जब 'मैं' ही नहीं है तब भय किसे होगा?

बुद्ध जिस प्रकार भौतिकवादरूपी एक अन्तको खतरा समझते थे तो इस शाश्वत आत्मवाद रूपी दूसरे अन्तको भी उसी तरह खतरा मानते थे और इसलिए उनने इस आत्मवादको अव्याकृत अर्थात् अनेकांशिक प्रश्न कहा। तथा भिक्षुओंको स्पष्टरूपसे कह दिया कि इस आत्मवादके विषयमें कुछभी कहना या सुनना न बोधिके लिए न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

निग्गंठनाथपुत्त महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको उतना ही निरर्थक और श्रेयःप्रतिरोधी मानते थे जितना कि बुद्ध, और आचार अर्थात् चरित्रको ही वे मोक्षका अन्तिम साधन मानते थे। पर उनने यह साक्षात् अनुभव किया कि जबतक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके स्वरूपके संबंधमें शिष्य निश्चित विचार नहीं बना लेता है जिस आत्माको दुःख होता है और जिसे दुःखकी निवृत्ति करके निर्वाण पाना है तबतक वह मानसविचिकित्सासे मुक्त होकर साधना कर ही नहीं सकता। जब बाह्यजगत्के प्रत्येक कोनेमें यह आवाज गूंज रही हो कि "आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न? परलोक क्या है? निर्वाण क्या है?" और अन्यतीर्थिक अपना मत प्रचारित कर रहे हों, इसीको लेकर वाद रोपे जाते हों उस समय शिष्योंको यह कहकर तत्काल चुप तो किया जा सकता है कि 'क्या रखा है इस विवादमें कि आत्मा क्या है, हमें तो दुःख निवृत्तिके लिए प्रयास करना चाहिए' परन्तु उनकी मानसशल्य और बुद्धिविचिकित्सा नहीं निकल सकती और वे इस बौद्धिक-हीनता और विचारदीनताके हीनतर भावोंसे अपने चित्तकी रक्षा नहीं कर सकते। संघमें इन्हीं अन्यतीर्थिकोंके शिष्य और खासकर वैदिक ब्राह्मण भी दीक्षित होते थे। जब ये सब पंचमेल व्यक्ति जो मूल आत्माके विषयमें

१ "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" बृहदा० ४।५।६।

विभिन्न मत रखते हों और चर्चा भी करते हों, तो मानस अहिंसक कैसे रह सकते हैं? जबतक उनका समाधान वस्तुस्थिति मूलक न हो जाय तबतक वे कैसे परस्पर समता और अहिंसाका वातावरण बना सकते होंगे ?

महावीरने तत्त्वका साक्षात्कार किया और उनने धर्मकी सीधी परिभाषा बताई वस्तुका स्वरूपस्थित होना—**"वत्थुसहावो धम्मो"**—जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसका उस पूर्णस्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि यदि अपनी उष्णताको लिए हुए है तो वह धर्मस्थित है। यदि वह वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है तो कहना होगा कि वह चंचल है अतः अपने निश्चलस्वरूपसे च्युत होनेके कारण उतने अंशमें धर्मस्थित नहीं है। जल जबतक अपने स्वाभाविक शीतस्पर्शमें है तबतक वह धर्मस्थित है। यदि वह अग्निके संसर्गसे स्वरूप-च्युत हो जाता है तो वह अधर्मरूप हो जाता है और इस परसंयोगजन्य विभावपरिणतिको हटा देनाही जलकी मुक्ति है उसकी धर्मप्राप्ति है। रोगीके यदि अपने आरोग्यस्वरूपका भान न कराया जाय तो वह रोगको विकार क्यों मानेगा और क्यों उसकी निवृत्तिकेलिए चिकित्सामें प्रवृत्ति करेगा ? जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मेरा तो स्वरूप आरोग्य है। इस अपथ्य आदिसे मेरा स्वाभाविक आरोग्य विकृत हो गया है, तभी वह उस आरोग्य प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। भारतकी राष्ट्रीय कांग्रेसने प्रत्येक भारतवासीको जब यह स्वरूप-बोध कराया कि—"तुम्हें भी अपने देशमें स्वतंत्र रहनेका अधिकार है इन परदेशियोंने तुम्हारी स्वतंत्रता विकृत कर दी है, तुम्हारा इस प्रकार शोषण करके पददलित कर रहे हैं। भारत सन्तानों, उठो, अपने स्वातंत्र्य-स्वरूपका भान करो" तभी भारतने अंगड़ाई ली और परतंत्रताका बंधन तोड़ स्वातंत्र्य प्राप्त किया। स्वातंत्र्यस्वरूपका भान किये बिना उसके सुखदरूपकी झांकी पाए बिना केवल परतंत्रता तोड़नेकेलिए वह उत्साह और सन्नद्धता नहीं आ सकती थी। अतः उस आधारभूत आत्माके मूलस्वरूपका ज्ञान प्रत्येक मुमुक्षको सर्वप्रथम होना ही चाहिए जिसे बन्धनमुक्त होना है।

भगवान् महावीरने मुमुक्षकेलिए दुःख अर्थात् बन्ध, दुःखके कारण अर्थात् मिथ्यात्व आदि आस्रव, मोक्ष अर्थात् दुःखनिवृत्तिपूर्वक स्वरूपप्राप्ति और मोक्षके कारण संवर अर्थात् नूतन बन्धके कारणोंका अभाव और निर्जरा अर्थात् पूर्वसंचित दुःखकारणोंका क्रमशः विनाश,इस तरह बुद्धके चतुरार्यसत्यकी तरह बन्ध, मोक्ष,आस्रव संवर और निर्जरा इन पांच तत्त्वों के ज्ञानके साथ ही साथ जिस जीवको यह सब बन्ध मोक्ष होता है उस जीवका ज्ञान भी आवश्यक बताया। शुद्ध जीवको बन्ध नहीं हो सकता। बन्ध दो में होता है। अतः जिस कर्म-पुद्गलसे यह जीव बंधता है उस अजीव तत्त्वको भी जानना चाहिए जिससे उसमें रागद्वेष आदिकी धारा आगे न चले। अतः मुमुक्षकेलिए जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका ज्ञान आवश्यक है।

जीव—आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है। अनन्त है। अमूर्त है। चैतन्यशक्तिवाला है। ज्ञानादि पर्यायोंका कर्ता है। कर्मफलका भोक्ता है। स्वयंप्रभु है। अपने शरीरके आकारवाला है। मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन कर लोकान्तमें पहुँच जाता है।

भारतीय दर्शनोंमें प्रत्येक ने कोई न कोई पदार्थ अनादि माने हैं। परम नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नहीं आती जिसके पहले कोई क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारंभ हुआ इसका निर्देश असंभव है। इसी तरह समय कब तक रहेगा यह उत्तरावधि बताना भी असंभव है। जिस प्रकार काल आनादि अनन्त है उसकी पूर्वावधि और उत्तरावधि निश्चित नहीं की जा सकती उसी तरह आकाश की कोई क्षेत्रकृत मर्यादा नहीं बताई जा सकती। 'सर्वतो ह्यनन्तं तत्' सभी ओरसे वह अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सद्के विषयमें यह कह सकते हैं कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा। **"नाऽसतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः"** अर्थात् किसी असत्का सद्रूपसे उत्पाद नहीं होता और न किसी सत्का समूल विनाश ही हो सकता है। जितने गिने हुए सत् हैं उनकी संख्यामें वृद्धि नहीं हो सकती और न उनकी संख्यामेंसे किसी एककी

भी हानि ही हो सकती है। रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतंत्र सत् है तथा पुद्गल परमाणु स्वतंत्र सत्। अनादिसे यह आत्मा पुद्गलसे सम्बद्ध ही मिलता आया है।

अनादिबद्ध माननेका कारण—आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। आज इसका ज्ञान और सुख यहां तक कि जीवन भी शरीराधीन है। शरीरमें विकार होनेसे ज्ञानतन्तुओंमें क्षीणता आते ही स्मृतिभ्रंश आदि देखे ही जाते हैं। अतः आज संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई हेतु ही नहीं था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण हैं—राग, द्वेष, मोह, और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मा में ये विभावभाव हो ही नहीं सकते। चूंकि आज ये विभाव और उनका फल शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्ष अनुभवमें आ रहा है अतः मानना होगा कि आजतक इनकी अशुद्ध परंपरा चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विधिमुखसे नहीं दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्याका कब उत्पन्न हुई? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ? इसका एकमात्र उत्तर है—अनादिसे। दूसरा प्रकार है कि—यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोगहो ही नहीं सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नहीं रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग या अविद्योत्पत्ति होने दे। उसी तरह आत्मा यदि शुद्ध हो जाता है तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या पुद्गलसंयोगका नहीं रह जाता। जब दो स्वतंत्र सत्ताक द्रव्य हैं तब उनका संयोग चाहे जितना भी पुराना क्यों न हो नष्ट किया जा सकता है और दोनोंको पृथक् पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खानिसे सर्वप्रथम निकाले गये सोनेमें कीट असंख्य-कालसे लगी होगी पर प्रयोगसे चूंकि वह पृथक् की जाती है, अतः यह निश्चय किया जाता है कि सुवर्ण अपने शुद्धरूपमें इस प्रकार है तथा कीट इस प्रकार। सारांश यह कि जीव और पुद्गलका बंध अनादि है। चूंकि वह दो द्रव्योंका बन्ध है अतः स्वरूपबोध हो जानेपर वह पृथक् किया जा सकता है।

आज जीवका ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष आदि सभी भाव बहुत कुछ इस जीवनपर्यायके अधीन हैं। एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमें लगाता है। जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे थे, प्रचुर मात्रामें थे, तो वे ज्ञानतन्तु चैतन्यको जगाए रखते थे। बुढ़ापा आने पर उसका मस्तिष्क शिथिल पड़ जाता है। विचारशक्ति लुप्त होने लगती है। स्मरण नहीं रहता। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गये लेखको बुढ़ापेमें पढ़ता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। वह विश्वास नहीं करता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई भौतिक ग्रन्थि बिगड़ जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमाग का यदि कोई पेंच कस गया या ढीला होगया तो उन्माद, सन्देह आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती हैं। मुझे एक ऐसे योगीका प्रत्यक्ष अनुभव है जिसे शरीरकी नसोंका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी एक किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण दूसरी नसके दबातेही अत्यन्त दया और करुणाके भाव होते थे और वह रोने लगता था। एक तीसरी नसके दबातेही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। एक नसके दबाते ही परमात्मभक्तिकी ओर मनकी गति होने लगती थी। इन सब घटनाओंसे एक इस निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही सकते हैं कि हमारी सारी शक्तियां जिनमें ज्ञान दर्शन सुख राग द्वेष कषाय आदि हैं, इस शरीर पर्यायके अधीन हैं। शरीरके नष्ट होते ही जीवन भरमें उपासित ज्ञान आदि पर्यायशक्तियां बहुत कुछ नष्ट हो जाती हैं। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार जाते हैं।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियां यदि न हों तो ज्ञानकी शक्ति बनी रहने पर भी ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मामें सुननेकी और देखनेकी शक्ति मौजूद है पर यदि आंखें फूट जायं और कान फट जाय तो वह शक्ति रखी रह जायगी और देखना सुनना नहीं हो सकेगा। विचारशक्ति

विद्यमान है पर मन यदि ठीक नहीं है तो विचार नहीं किये जा सकते । पक्षाघात यदि हो जाय तो शरीर देखनेमें वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास पुद्गलके अधीन हो रहा है । जीवननिमित्तभी खान पान श्वासोच्छ्वास आदि सभी साधन भौतिक ही अपेक्षित होते हैं । इस समय यह जीव जो भी विचार करता है देखता है जानता है या क्रिया करता है उसका एक जातिका संस्कार आत्मापर पड़ता है और उस संस्कारकी प्रतीक एक भौतिक रेखा मस्तिष्कमें खिंच जाती है । दूसरे तीसरे चौथे जो भी विचार या क्रियाएँ होती हैं उन सबके संस्कारोंको यह आत्मा धारण करता है और उनकी प्रतीक टेढ़ी सीधी गहरी उथली छोटी बड़ी नाना प्रकारकी रेखाएँ मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे भौतिक पदार्थ पर खिंचती चली जाती हैं । जो रेखा जितनी गहरी होगी वह उतने ही अधिक दिनोंतक उस विचार या क्रियाकी स्मृति करा देती है । तात्पर्य यह कि आजका ज्ञान शक्ति और सुख आदि सभी पर्यायशक्तियां हैं जो इस शरीर-पर्याय तक ही रहती हैं ।

व्यवहारनयसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ यही है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है । स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्म शरीर सदा इसके साथ रहता है । इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं । जीव पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें क्रिया होती है तथा विभाव या अशुद्ध परिणमन होता है । पुद्गलका अशुद्ध परिणमन पुद्गल और जीव दोनों के निमित्तसे होता है जबकि जीवका अशुद्ध परिणमन यदि होगा तो पुद्गलके ही निमित्तसे । शुद्ध जीवमें अशुद्ध परिणमन न तो जीवके निमित्तसे हो सकता है और न पुद्गलके निमित्तसे । अशुद्ध जीवके अशुद्ध परिणमनकी धारामें पुद्गल या पुद्गलसम्बद्ध जीव निमित्त होता है । जैन सिद्धान्तने जीवको देहप्रमाण माना है । यह अनुभवसिद्ध भी है । शरीरके बाहर उस आत्माके अस्तित्व माननेका कोई खास प्रयोजन नहीं रह जाता और न यह तर्कगम्य ही है । जीवके ज्ञानदर्शन आदि गुण उसके शरीरमें ही उपलब्ध होते हैं शरीरके बाहर नहीं । छोटे बड़े शरीरके अनुसार असंख्यातप्रदेशी आत्मा संकोच-विकोच करता रहता है । चार्वाकका देहात्मवाद तो देहको ही आत्मा मानता है तथा देहकी परिस्थितिके साथ आत्माका भी विनाश आदि स्वीकार करता है । जैनका देहपरिमाण-आत्मवाद पुद्गलदेहसे आत्मद्रव्यकी अपनी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है । न तो देहकी उत्पत्तिसे आत्माकी उत्पत्ति होती है और न देहके विनाशसे आत्मविनाश । जब कर्मशरीरकी शृंखलासे यह आत्मा मुक्त हो जाता है तब अपनी शुद्ध चैतन्य दशामें अनन्तकाल तक स्थिर रहता है । प्रत्येक द्रव्यमें एक अगुरुलघु गुण होता है जिसके कारण उसमें प्रतिक्षण परिणमन होते रहने पर भी न तो उसमें गुरुत्व ही आता है और न लघुत्व ही । द्रव्य अपने स्वरूपमें सदा परिवर्तन करते रहने भी अपनी अखण्ड मौलिकताको भी नहीं खोता ।

आजका विज्ञान भी हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढ़ी सीधी उथली गहरी रेखाएँ मस्तिष्कमें भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिंचती जाती हैं और उन्हींके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती हैं । जैन कर्म सिद्धान्त भी यही है कि—रागद्वेष प्रवृत्तिके कारण केवल संस्कार ही आत्मापर नहीं पड़ता किंतु उस संस्कारको यथासमय उद्बुद्ध करने वाले कर्मद्रव्यका संबंध भी होता जाता है । यह कर्मद्रव्य पुद्गल द्रव्यही है । मन वचन कायकी प्रत्येक क्रिया के अनुसार शुक्ल या कृष्ण कर्म पुद्गल आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं । ये विशेष प्रकारके कर्मपुद्गल बहुत कुछ तो स्थूल शरीरके भीतर ही पड़े रहते हैं जो मनोभावोंके अनुसार आत्माके सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं, कुछ बाहिरसे भी आते हैं । जैसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीसे भरे हुए वर्तनमें छोड़िये तो वह गोला जलके भरे हुए बहुतसे परमाणुओंको जिस तरह अपने भीतर सोख लेता है उसी तरह अपनी गरमी और भापसे बाहिरके परमाणुओंको भी खींचता है । लोहेका गोला जब तक गरम रहता है पानीमें उथल पुथल पैदा करता रहता है, कुछ परमाणुओंको लेगा कुछ को निकालेगा कुछको भाप बनाएगा, एक अजीबसी परिस्थिति समस्त वातावरणमें उपस्थित कर देता है । उसी तरह जब यह आत्मा रागद्वेषादिसे उत्तप्त होता है तब शरीरमें एक अद्भुत हलनचलन उपस्थित करता है ।

क्रोध आते ही आंखें लाल हो जाती हैं, खूनकी गति बढ़ जाती है, मुंह सूखने लगता है, नथुने फड़कने लगते हैं। काम वासनाका उदय होते ही सारे शरीरमें एक विलक्षण प्रकारका मन्थन शुरू होता है। और जब तक वह कषाय या वासना शांत नहीं हो लेती यह चहल-पहल मन्थन आदि नहीं रुकता। आत्माके विचारोंके अनुसार पुद्गल द्रव्योंमें परिणमन होता है और विचारोंके उत्तेजक पुद्गल द्रव्य आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब जब उन कर्मपुद्गलोंपर दबाव पड़ता है तब तब वे कर्मपुद्गल फिर उन्हीं रागादि भावोंको आत्मामें उत्पन्न कर देते हैं। इसी तरह रागादि भावोंसे नए कर्मपुद्गल कर्मशरीरमें शामिल होते हैं तथा उन कर्मपुद्गलोंके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोंकी सृष्टि होती है। फिर नए कर्मपुद्गल बंधते हैं फिर उनके परिपाकके समय रागादिभाव होते हैं। इस तरह रागादिभाव और कर्म पुद्गलबन्धका चक्र बराबर चलता रहता है जबतक कि चरित्रके द्वारा रागादि भावोंको रोक नहीं दिया जाता। इस बन्ध परम्पराका वर्णन आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें इस प्रकार किया है—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥"

अर्थात् जीवके द्वारा किये गए राग द्वेष मोह आदि परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्मरूपसे परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावों से स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। जीव और पुद्गल एक दूसरेके परिणमनमें परस्पर निमित्त होते हैं।

सारांश यह कि जीवकी वासनाओं राग द्वेष मोह आदि की और पुगल कर्मबन्धकी धारा बीजवृक्षसन्तति की तरह अनादिसे चालू है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे इस समय राग द्वेष आदि उत्पन्न हुए हैं, इनमें जो जीवकी आसक्ति और लगन होती है वह नूतन कर्मबन्ध करती है। उस बद्धकर्मके परिपाकके समय फिर राग द्वेष होते हैं, फिर उनमें आसक्ति और मोह होनेसे नया कर्म बंधता है। यहाँ इस शंकाको कोई स्थान नहीं है कि—'जब पूर्वकर्मसे रागद्वेषादि तथा राग द्वेषादिसे नूतन कर्मबन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद ही नहीं हो सकता, क्योंकि हर एक कर्म रागद्वेष आदि उत्पन्न करेगा और हर एक राग-द्वेष कर्मबन्धन करेंगे।' कारण यह है कि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले कर्मफलभूत रागद्वेष वासना आदिका भोगना कर्मबन्धक नहीं होता किन्तु भोगकालमें जो नूतन राग द्वेषरूप अध्यवसान भाव होते हैं वे बन्धक होते हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिका कर्मभोग निर्जराका कारण होता है और मिथ्यादृष्टिका बन्धका कारण। सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वकर्मके उदयकालमें होनेवाले राग द्वेष आदिको विवेकपूर्वक शान्त तो करता है, पर उनमें नूतन अध्यवसान नहीं करता, अतः पुराने कर्म तो अपना फल देकर निर्जीर्ण हो जाते हैं और नूतन आसक्ति न होनेके कारण नवीन बन्ध होता नहीं अतः सम्यग्दृष्टि तो दोनों तरफसे हलका हो चलता है जब कि मिथ्यादृष्टि कर्मफलके समय होनेवाले राग द्वेष वासना आदिके समय उनमें की गई नित नई आसक्ति और लगनके परिणामस्वरूप नूतन कर्मोंको और भी दृढ़तासे बांधता है, और इस तरह मिथ्यादृष्टि का कर्मचक्र और भी तेजीसे चालू रहता है। जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवकी असंख्य सीधी टेढ़ी गहरी उथली रेखाएँ पड़ती रहती हैं, एक प्रबल रेखा आई तो उसने पहिलेकी निर्बल रेखाको साफ कर दिया और अपना गहरा प्रभाव कायम कर दिया, दूसरी रेखा पहिलेकी रेखाको या तो गहरा कर देती है या साफ कर देती है और इस तरह अन्तमें कुछ ही अनुभव रेखाएँ अपना अस्तित्व कायम रखती हैं, उसी तरह आज कुछ राग द्वेषादि जन्य संस्कार उत्पन्न हुए कर्मबन्धन हुआ, पर दूसरे ही क्षण शील व्रत संयम और श्रुत आदिकी पूत भावनाओंका निमित्त मिला तो पुराने संस्कार धुल जायगें या क्षीण हो जायेंगे, यदि दुबारा और भी तीव्र रागादि भाव हुए तो प्रथमबद्ध कर्म पुद्गलमें और भी तीव्र-

फलदात्री अनुभागशक्ति पड़ जायगी । इस तरह जीवनके अन्तमें कर्मोंका बन्ध निर्जरा उत्कर्षण अपकर्षण आदि होते होते जो रोकड़ बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्मशरीरके रूपमें परलोक तक जाती है । जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल चावल शाक जो भी डालिए उसका ऊपर नीचे जाकर उफान लेकर नीचे बैठकर अन्तमें एक पाक बन जाता है, उसी तरह प्रतिक्षण बंधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें शुभभावोंसे शुभकर्मोंमें रसप्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभकर्मोंमें रसापकर्ष और स्थितिहानि होकर अनेक प्रकारके ऊंचनीच परिवर्तन होते होते अन्तमें एक जातिका पाकयोग्य स्कन्ध बन जाता है, जिसके क्रमोदयसे रागादि सुखदुःखादि भाव उत्पन्न होते हैं। अथवा, जैसे उदरमें जाकर आहारका मल मूत्र स्वेद आदि रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है कुछ वहीं हजम होकर रक्तादि धातु रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है, बीचमें चूरन चटनी आदिके योगसे लघुपाक दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती हैं पर अन्तमें होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनमें सुपाकी दुष्पाकी आदि व्यवहार होता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले शुभ अशुभ विचारोंके अनुसार तीव्र मन्द मध्यम मृदु मृदुतर आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है। कुछ कर्म संस्कार ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता और उनका फल भोगना ही पड़ता है, पर ऐसे कर्म बहुत कम हैं जिनमें किसी जातिका परिवर्तन न हो। अधिकांश कर्मोंमें अच्छे बुरे विचारों के अनुसार उत्कर्षण (स्थिति और अनुभागकी वृद्धि) अपकर्षण (स्थिति और अनुभागकी हानि) संक्रमण (एकका दूसरे रूपमें परिवर्तन) उदीरणा (नियत समयसे पहिले उदयमें ले आना) आदि होते रहते हैं और अन्तमें शेष कर्मबन्धका एक नियत परिपाकक्रम बनता है। उसमें भी प्रतिसमय परिवर्तनादि होते हैं । तात्पर्य यह कि यह आत्मा अपने भले बुरे विचारों और आचारोंसे स्वयं बन्धनमें पड़ता है और ऐसे संस्कारोंको अपनेमें डाल लेता है जिनसे छुटकारा पाना सहज नहीं होता। जैन सिद्धान्तने उन विचारोंके प्रतिनिधिभूत कर्मद्रव्यका इस आत्मासे बंध माना है जिससे उस कर्मद्रव्यपर भार पड़ते ही या उसका उदय आते ही वे भाव आत्मामें उदित होते हैं।

जगत् भौतिक है। वह पुद्गल और आत्मा दोनोंसे प्रभावित होता है । जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका केन्द्र है, आत्मासे सम्बद्ध हो गया तब उसकी सूक्ष्म पर तीव्र शक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते हैं। बाह्य पदार्थोंके समवधानके अनुसार कर्मोंका यथासंभव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र मन्द मध्यम शुभ अशुभ भावोंके अनुसार आगे उदय आनेवाले कर्मोंके रसदानमें अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि बहुत कुछ कर्मोंका फल देना या अन्य रूपमें देना या न देना हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर है।

इस तरह जैन दर्शनमें यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और वह प्रयोगसे शुद्ध हो सकता है । शुद्ध होनेके बाद फिर कोई कारण अशुद्ध होनेका नहीं रह जाता । आत्माके प्रदेशोंमें संकोच विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अतः कर्म निमित्तके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्व लोकमें लोकाग्रभागमें स्थिर हो अपने अनन्त चैतन्यमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

इस **आत्माका स्वरूप** उपयोग है। आत्माकी चैतन्यशक्तिको उपयोग कहते हैं। यह चिति शक्ति बाह्य अभ्यन्तर कारणोंसे यथासंभव ज्ञानाकार पर्यायको और दर्शनाकार पर्यायको धारण करती है। जिस समय यह चैतन्यशक्ति ज्ञेयको जानती है उस समय साकार होकर ज्ञान कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकार रहती है तब दर्शन कहलाती है। ज्ञान और दर्शन क्रमसे होनेवाली पर्याएँ हैं। निरावरण दशामें चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूपमें लीन रहता है । इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशाको ही निर्वाण कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओंका निर्वाण । स्वरूपसे अमूर्तिक होकर भी यह आत्मा अनादि कर्मबन्धनबद्ध होनेके कारण मूर्तिक हो रहा है और कर्मबन्धन हटते ही फिर अपनी शुद्ध अमूर्तिक दशामें पहुँच जाता है। यह आत्मा अपनी शुभ अशुभ परिणतियोंका कर्त्ता है।

और उनके फलोंका भोक्ता है। उसमें स्वयं परिणमन होता है। उपादान रूपसे यही आत्मा राग द्वेष मोह अज्ञान क्रोध आदि विकार परिणामोंको धारण करता है और उसके फलोंको भोगता है। संसार दशामें कर्मके अनुसार नानाविध योनियोंमें शरीरोंका धारण करता है पर मुक्त होते ही स्वभावत: ऊर्ध्वगमन करता है और लोकाग्रभागमें सिद्धलोकमें स्वरूपप्रतिष्ठित हो जाता है।

अत: महावीरने बन्ध मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय इस आत्मा का भी ज्ञान आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है तथा जो अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूपप्रच्युतिरूप है और यह स्वस्वरूपको भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहंकार करनेके कारण हुई है। अत: इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपज्ञानसे ही हो सकता है। जब इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि— "मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्यमय वीतराग निर्मोह निष्कषाय शान्त निश्चल अप्रमत्त ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें ममकार तथा शरीरको अपना माननेके कारण राग द्वेष मोह कषाय प्रमाद मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरा परिणमन हो गया है और इन कषायोंकी ज्वालामें मेरा रूप समल और चंचल हो रहा है। यदि पर पदार्थोंसे ममकार और रागादिभावोंसे अहंकार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा ये वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जायगीं।।" तो यह विकारों को क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप होता जाता है। इसी शुद्धिकरण को मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जबतक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो तबतक कैसे हो सकता है?

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति दुःखनिवृत्ति में होती है। पर महावीर बन्ध और मोक्षके आधार भूत आत्माको ही मूलत: तत्त्वज्ञानका आधार बनाते हैं। बुद्धको आत्मा शब्दसे ही चिढ़ है। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा। और नित्य आत्मामें स्नेह होनेके कारण स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्व-पर विभागसे रागद्वेष और राग द्वेषसे यह संसार बन जाता है। अत: सर्वानर्थमूल यह आत्मदृष्टि है। पर वे इस ओर ध्यान नहीं देते कि 'आत्मा' की नित्यता या अनित्यता राग और विरागका कारण नहीं है। राग और विराग तो स्वरूपानवबोध और स्वरूपबोध से होते हैं। रागका कारण पर पदार्थोंमें ममकार करना है। जब इस आत्माको समझाया जायगा कि "मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है। तेरा इन स्त्री पुत्र शरीरादि में ममत्व करना विभाव है स्वभाव नहीं।" तब यह सहज ही अपने निर्विकार सहज स्वभावकी ओर दृष्टि डालेगा और इसी विवेक दृष्टि या सम्यग्दर्शनसे पर पदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर स्वरूपमें लीन होने लगेगा। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होता है।

आत्मदृष्टि ही बन्धोच्छेदिका—विश्वका प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंका स्वामी है। जिस तरह अनन्त चेतन अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं उसी तरह अनन्त पुद्गल परमाणु एक धर्म द्रव्य (गति सहायक) एक अधर्म द्रव्य (स्थिति सहकारी) एक आकाशद्रव्य (क्षेत्र) असंख्य कालाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिवर्तित होता है। परिवर्तनका अर्थ विलक्षण परिणमन ही नहीं होता। धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य आकाश और कालद्रव्य इनका विभाव परिणमन नहीं होता, ये सदा सदृश परिणमन ही करते हैं। प्रतिक्षण परिवर्तन होनेपर भी एक जैसे बने रहते हैं। इनका शुद्ध परिणमन ही रहता है। रूप रस गन्ध और स्पर्शवाले पुद्गल परमाणु प्रतिक्षण शुद्ध परिणमन भी करते हैं। इनका अशुद्ध परिणमन है स्कन्ध बनना। जिस समय ये शुद्ध परमाणु की दशामें रहते हैं उस समय इनका शुद्ध परिणमन होता है और जब ये दो या अधिक मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं तब अशुद्ध परिणमन होता है। जीव जबतक संसार दशामें है और अनेकविध सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध होनेके कारण अनेक स्थूल शरीरोंको धारण करता है तबतक इसका विभाव या विकारी परिणमन है। जब स्वरूप-बोधके द्वारा पर पदार्थोंसे मोह हटाकर स्वरूपमात्रमग्न होता है तब स्थूल शरीरके साथ ही सूक्ष्म कर्मशरीरका भी उच्छेद होनेपर निर्विकार शुद्ध चैतन्य मात्र

रह जाता है और अनन्त कालतक अपनी शुद्ध चिन्मात्र दशामें बना रहता है। फिर इसका विभाव या अशुद्ध परिणमन नहीं होता क्योंकि विभाव परिणमन की उपादानभूत रागादि सन्तति उच्छिन्न हो चुकी है। इस प्रकार द्रव्य स्थिति है। जो पर्याय प्रथमक्षणमें है वह दूसरे क्षणमें नहीं रहती है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायका उपादान है। दूसरा द्रव्य चाहे वह सजातीय हो या विजातीय निमित्त ही हो सकता है, उपादान नहीं। पुद्गलमें अपनी योग्यता ऐसी है जो दूसरे परमाणुसे सम्बन्ध करके स्वभावतः अशुद्ध बन जाता है पर आत्मा स्वभावसे अशुद्ध नहीं बनता। एक बार शुद्ध होने पर वह कभी भी फिर अशुद्ध नहीं होगा।

इस तरह इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्तद्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ। मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गल आदि द्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ, मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गल परमाणुओंका एक पिण्ड है, इसका मैं स्वामी नहीं हूँ। यह सब पर द्रव्य है। इसके लिए पर पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करना ही संसार है। मैं एक व्यक्ति हूँ। आजतक मैंने पर पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा की। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की कि संसारके अधिकसे अधिक पदार्थ मेरे अधीन हों, जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। अपने परिणमन पर अर्थात् अपने विचारों पर और अपनी क्रियापर ही अधिकार रख सकता है, पर पदार्थों पर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? यह अनधिकार चेष्टा ही राग द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि–शरीर प्रकृति स्त्री पुत्र परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें, संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हों, तू त्रैलोक्यको इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। पर यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ हैं। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ़ चेतन भी यही दुर्वासना लिए हैं और दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करना चाहते हैं। इसी छीनाझपटीमें संघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग द्वेष होता है और अन्ततः दुःख। सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे' इसे कहते हैं सुख और 'चाहे कुछ और होवे कुछ, या जो चाहे सो न हो' यही है दुःख। मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे, अनिष्टका संयोग न हो, चाहके अनुसार समस्त भौतिक जगत् और चेतन परिणत होते रहें, शरीर चिर यौवन रहे, स्त्री स्थिरयौवना हो, मृत्यु न हो, अमरत्व प्राप्त हो, धन धान्य हों, प्रकृति अनुकूल रहे, और न जाने कितनी प्रकारकी 'चाह' इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती हैं। उन सबका निचोड़ यह है कि जिन्हें हम चाहें उनका परिणमन हमारे इशारे पर हो, तब इस मूढ़ मानवको क्षणिक सुखका आभास हो सकता है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया–स्वस्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान। यदि मनुष्यको यह पता हो कि जिनकी मैं चाह करता हूँ, जिनकी तृष्णा करता हूँ वे पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। कवि युगवीरने बहुत सुन्दर लिखा है:—

"जगके पदार्थ सारे वर्ते इच्छानुकूल जो तेरी।
तो तुझको सुख होवे, पर ऐसा हो नहीं सकता॥
क्योंकि परिणमन उनका शश्वत उनके अधीन रहता है।
जो निज अधीन चाहे वह व्याकुल व्यर्थ होता है॥
इससे उपाय सुखका सच्चा स्वाधीन वृत्ति है अपनी।
रागद्वेषविहीना क्षणमें सब दुःख हरती जो॥"

सारांश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एवं स्वस्वरू के कारण होती है, पर पदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अतः उसका उच्छेद स्व के यथार्थ परिज्ञानसे या स्वपरविवेकसे ही हो सकता है । इस मानवने अपने आत्माके उसके अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्या आचरण किया और पर पदार्थोंके जगतमें अनेक कल्पित ऊंच नीच भावोंकी सृष्टिकर मिथ्या अहंकारका पोषण किया। या जीविकाश्रित ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णोंको लेकर ऊंच नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खड़ी कर मानवसे इतना जुदा कर दिया जो एक उच्चाभिमानी मांसपिंड दूसरेकी छायासे या दूसरे को छूनेसे अपवित्र मानने लगा । बाह्य परपदार्थोंके संग्रही और परिग्रही को सम्राट् राजा आदि संज्ञाएं तृष्णा की पूजा की। इस जगतमें जितने संघर्ष और हिंसाएँ हुई हैं वे सब पर पदार्थोंकी छीनाझ कारण ही हुई हैं। अतः जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक रूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परत्र बुद्धि' को नहीं समझ लेता तब तक दुःखनिवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नहीं हो सकती। संक्षेपमें पंच स्कन्धोंको दुःख कहा है, पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको बताया—चूँकि ये स्व आत्मरूप नहीं है अतः इनका संसर्ग ही अनेक रागादिभावोंका सर्जक है, अतः ये दुःखस्वरूप है। अतः आकु-कुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और पर पदार्थोंसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्मदृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका उपर्युक्त प्रकार परपदार्थोंसे द्वेष करना नहीं सिखाता किन्तु यह बताता है कि इनमें जो तुम्हारी तृष्णा फैल रही है वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा अपने विचार और अपनी प्रवृत्ति पर ही है। इस तरह आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए बिना दुःखनिवृत्ति या मुक्तिकी संभावना ही नहीं की जा सकती। अतः धर्मकीर्तिकी यह आशंका भी निर्मूल है कि—

> "आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
>
> अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥" [प्रमाण वा० १।२२१]

अर्थात् आत्माको माननेपर दूसरेको पर मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकड़ों अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व और आत्मेतरको पर मानेगा। पर स्व-परविभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होंगे? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि पर पदार्थोंका और उसके सुखसाधनोंका होता है जिन्हें आत्मदर्शी व्यक्ति छोड़ेगा ही ग्रहण नहीं करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुखसाधन पर हैं वैसे शरीर भी। राग और द्वेषभी शरीरादिके सुखसाधनों और असाधनोंमें होते हैं सो आत्मदर्शीको क्यों होंगे? उलटे आत्मद्रष्टा शरीरादिनिमित्तक यावत् रागद्वेष द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हाँ, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्म-दर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी पर ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा? अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है। अतः धर्मकीर्तिका आत्मदर्शनकी बुराइयोंका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

> "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
>
> स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ॥
>
> गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते ।
>
> तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे ॥" [प्रमाणवा० १।२१९-२०]

र्थात् जो आत्माको देखता है उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है। स्नेहसे आत्मसुखमें है। तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोंपर दृष्टि नहीं जाती, गुण ही गुण दिखाई देते हैं। आत्मसुख-त्मे उसके साधनोंमें ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है। इसतरह जब तक अभिनिवेश है तब तक संसार ही है। क्योंकि–

त्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी तो समझता है रादि पर पदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बन्धमें ला है। आत्माको स्वरूपमात्रप्रतिष्ठारूप सुखके लिए किसी साधनके ग्रहण करनेकी आवश्यकता किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थोंमें सुखसाधनत्वकी मिथ्याबुद्धि कर रखी है वह मिथ्याबुद्धि ही है। आत्मगुणका दर्शन आत्ममात्रमें लीनताका कारण होगा न कि बन्धनकारक पर पदार्थोंके ग। शरीरादि पर पदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका सर्जक हो सकता न्तु शरीरादिसे भिन्न आत्मतत्त्वका दर्शन क्यों शरीरादिमें रागादि उत्पन्न करेगा? यह तो धर्मकीर्ति ग उनके अनुयायिओंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेके कारण दृष्टिव्यामोह है जो वे अंधेरेमें उसका न्धस्कन्धरूप ही स्वरूप टटोल रहे हैं और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहनेका दुःसाहस कर रहे हैं। एक ओर वे पृथिवी आदि भूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खंडन भी करते हैं दूसरी ओर रूप-वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धोंसे व्यतिरिक्त किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवाद से कोई विशेषता नहीं रखता। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृतकोटिमें डाल गए तो उनके शिष्योंका युक्तिमूलक दार्शनिक क्षेत्रोंमें भी आत्माके विषयमें परस्पर विरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज राहुल सांकृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिकअनात्मवाद' जैसे उभयप्रतिषेधक नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर फिर आत्मा का स्वरूप है क्या? क्या उसकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्र सत्ता है? क्या वेदना संज्ञा संस्कार और विज्ञान ये स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतन्त्रसत् हैं? और यदि निर्वाणमें चित्त-सन्तति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एकजन्मतक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित देहात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रहती है? अन्तमें तो उसका निरोध हुआ ही।

महावीर इस असंगतिजालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका पूरा पूरा निरूपण किया और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना। जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मका लक्षण है वस्तुका स्व-स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका खालिस आत्मरूपमें लीन होना ही धर्म है और मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता।

आत्मा तीन प्रकारके हैं–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो आत्माएँ शरीरादिको ही अपना रूप मानकर उनकी ही प्रिय साधनामें लगे रहते हैं वे बहिर्मुख बहिरात्मा हैं। जिन्हें स्वपरविवेक या भेद-विज्ञान उत्पन्न हो गया है, शरीरादि बहिःपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हैं। जो समस्त कर्ममल कलंकोंसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमें मग्न हैं वे परमात्मा हैं। एक ही आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान कर अन्तर्दृष्टि हो क्रमशः परमात्मा बन जाता है। अतः आत्मधर्मकी प्राप्तिके लिए या बन्धमोक्षके लिए आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान अवश्यक है उसी प्रकार जिन अजीवोंके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक इस अजीवतत्त्वको नहीं जानेंगे तब तक किन दोमें बन्ध हुआ यह मूल बात ही अज्ञात रह जाती है। अतः अजीवतत्त्वका ज्ञान जरूरी है। अजीवतत्त्वमें चाहे धर्म अधर्म आकाश और कालका सामान्य ज्ञान ही हो पर पुद्गलका किंचित्

विशेष ज्ञान अपेक्षित है। शरीर स्वयं पुद्गलपिंड है। यह चेतनके संसर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप रस गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक हैं। पृथिवी जल अग्नि वायु सभी पौद्गलिक हैं। इनमें किसीमें कोई गुण उद्भूत रहता है किसीमें कोई गुण। अग्निमें रस अनुद्भूत है, वायुमें रूप अनुद्भूत है जलमें गन्ध अनुद्भूत है। पैर, ये सब विभिन्न जातीय द्रव्य नहीं हैं किन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही हैं। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि पुद्गल स्कन्धकी पर्यायें हैं। विशेषतः मुमुक्षुके लिए यह जानना जरूरी है कि शरीर पुद्गल है और आत्मा इससे पृथक् है। यद्यपि आज अशुद्ध दशामें आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है। शरीरके पुर्जोंके बिगड़ते ही वर्तमान ज्ञानविकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमानशक्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं फिर भी आत्मा स्वतन्त्र और शरीरके अतिरिक्त भी उसका अस्तित्व परलोकके कारण सिद्ध है। आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर भी दूसरे स्थूल शरीरको धारण कर लेता है। आज आत्माके सात्त्विक राजस या तामस सभी प्रकारके विचार या संस्कार शरीरकी स्थितिके अनुसार विकसित होते हैं। अतः मुमुक्षुके लिए इस शरीर पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है जिससे वह इसका उपयोग आत्मविकासमें कर सके, ह्रासमें नहीं। यदि उत्तेजक या अपथ्य आहार-विहार होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयत्न किया जाय पर सफलता नहीं मिल सकती। इसलिए बुरे संस्कार और विचारोंका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन पर पदार्थोंसे आत्माको विरक्त होना है या उन्हें पर समझकर उनके परिणमन पर जो अनधिकृत स्वामित्वके दुर्भाव आरोपित हैं उन्हें नष्ट करना है उस परका कुछ विशेष ज्ञान तो होना ही चाहिए, अन्यथा विरक्ति किससे होगी? सारांश यह कि जिसे बंधन होना है और जिससे बंधता है उन दोनों तत्त्वोंका यथार्थ दर्शन हुए बिना बन्ध परम्परा कट नहीं सकती। इस तत्त्वज्ञानके विना चारित्रकी ओर उत्साह ही नहीं हो सकता। चारित्रकी प्रेरणा विचारोंसे ही मिलती है।

बन्ध—बन्ध दो पदार्थोंके विशिष्ट सम्बन्धको कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग द्वेष मोह आदि विभावोंसे कर्मवर्गणाओंका बंध होता है उन रागादिभावोंको भावबंध कहते हैं और कर्मवर्गणाओंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका है। यह निश्चित है कि दो द्रव्योंका संयोग ही हो सकता है तादात्म्य नहीं। पुद्गलद्रव्य परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो एक विशेष प्रकारके संयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमें स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है जिससे उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओंकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमें आ जाते हैं कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी ही पर्याएँ होती रहती हैं। स्कन्धके रूप रसादिका व्यवहार तदन्तर्गत परमाणुओंके रूपरसादिपरिणमनकी औसतसे होता है। कभी कभी एक ही स्कन्धके अमुक अंशमें रूप रसादि अमुक प्रकारके हो जाते हैं और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके। एक ही आम स्कन्ध एक ओर पककर पीला मीठा और सुगन्धित हो जाता है तो दूसरी ओर हरा खट्टा और विलक्षण गन्धवाला बना रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्कन्धमें शिथिल या दृढ़ बन्धके अनुसार तदन्तर्गत परमाणुओंके परिणमनकी औसतसे रूपरसादि व्यवहार होते हैं। स्कन्ध अपनेमें स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। किन्तु वह अमुक परमाणुओं की विशेष अवस्था ही है। और अपने आधारभूत परमाणुओंके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोंके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामें उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नहीं हो सकता किन्तु एक जैसा परिणमन होता रहता है। परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलोंका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नहीं सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमें विलक्षणता आ जाय और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाय पर इससे आत्मा और पुद्गलकर्मके बन्धको रासायनिक मिश्रण नहीं कह सकते। क्योंकि जीव और कर्मके बन्धमें दोनोंकी एक जैसी पर्याय नहीं होती। जीवकी पर्याय चेतन

रूप होगी, पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप रस गन्धादिरूप होगा, जीव का चैतन्यके विकाररूप। हाँ, यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोंका पुराने बंधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो और वह उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बंधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय। होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु झरते हैं और दूसरे कुछ नए शामिल होते हैं। परन्तु आत्मप्रदेशोंसे उनका बन्ध रासायनिक बिलकुल नहीं है। वह तो मात्र संयोग है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्रकारने यही की है—**"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।" (तत्त्वार्थसूत्र ८।२४)** अर्थात् योगके कारण समस्त आत्म प्रदेशोंपर सूक्ष्म पुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है। द्रव्यबन्ध भी यही है। अतः आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता। रासायनिक मिश्रण नवीन कर्मपुद्गलोंका प्राचीन कर्मपुद्गलोंसे ही हो सकता है, आत्मप्रदेशोंसे नहीं।

जीवके रागादिभावोंसे जो योगक्रिया अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उससे कर्मवर्गणाएँ खिंचती हैं। वे शरीरके भीतरसे भी खिंचती हैं बाहिरसे भी। खिंचकर आत्मप्रदेशोंपर या प्राक्बद्ध कर्मशरीरसे बन्धको प्राप्त होतीं हैं। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पड़ता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमें बाधा डालने रूप क्रियासे खिंचे हैं तो उनमें ज्ञानावरणका स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायसे तो उनमें चारित्रावरणका। आदि। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्म पुद्गलोंको आत्मप्रदेशोंसे एकक्षेत्रावगाही कर देना और उनमें ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि स्वभावोंका पड़ जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता और मन्दता के अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पड़ती है यह स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध कहलाता है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते हैं। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नहीं होतीं अतः उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते हैं वे द्वितीय समयमें झड़ जाते हैं, उनका स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है और जैसा कि मैं पहिले लिख आया हूँ कि उसमें अनेक प्रकारका परिवर्तन प्रतिक्षणभावी कषायादिके अनुसार होता रहता है। अन्तमें कर्मशरीरकी जो स्थिति रहती है उसके अनुसार फल मिलता है। उन कर्मनिषेकोंके उदयसे बाह्य वातावरण पर वैसा वैसा असर पड़ता है। अन्तरंगमें वैसे वैसे भाव होते हैं। आयुर्बन्धके अनुसार स्थूल शरीर छोड़नेपर उन उन योनियोंमें जीवको नया स्थूल शरीर धारण करना पड़ता है। इस तरह यह बन्धचक्र जबतक राग द्वेष मोह वासनाएँ आदि विभाव भाव हैं बराबर चलता रहता है।

बन्धहेतु आस्रव—मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग ये पांच बन्धके कारण हैं। इन्हें आस्रवप्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते हैं और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोंमें कर्मत्व प्राप्त हो जाना भी द्रव्यास्रव कहलाता है। आत्मप्रदेशतक उनका आना द्रव्यास्रव है। जिन भावोंसे वे कर्म खिंचते हैं उन्हें भावास्रव कहते हैं। प्रथमक्षणभावी भावोंको भावास्रव कहते हैं और अग्रिम क्षणभावी भावोंको भाव बन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र मन्द मध्यमात्मक होगा तज्जन्य आत्मप्रदेशपरिस्पन्दसे वैसे कर्म आयेंगे और आत्मप्रदेशोंसे बंधेंगे। भावबन्धके अनुसार उस स्कन्धमें स्थिति और अनुभाग पड़ेगा। इन आस्रवोंमें मुख्य अनन्तकर्मबन्धक आस्रव है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्या दृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि पर द्रव्योंमें आत्मबुद्धि करता है और इसके समस्त विचार और क्रियाएँ उन्हीं शरीराश्रित व्यवहारोंमें उलझी रहती हैं। लौकिक यशोलाभ आदिकी दृष्टिसे ही यह धर्म जैसी क्रियाओंका आचरण करता है। स्व-पर विवेक नहीं रहता। पदार्थोंके स्वरूपमें भ्रान्ति बनी रहती है। तात्पर्य यह कि लक्ष्यभूत कल्याणमार्गमें ही इसकी सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। वह सहज और गृहीत दोनों प्रकारकी मिथ्या दृष्टियोंके कारण तत्त्वरुचि नहीं कर पाता। अनेक प्रकारकी देव गुरु तथा लोकमूढ़ताओंको धर्म समझता है। शरीर और शरीराश्रित स्त्री पुत्र कुटुम्बादिके मोहमें उचित अनुचितका विवेक किए बिना

भीषण अनर्थ परम्पराओंका सृजन करता है। तुच्छ स्वार्थके लिए मनुष्य जीवनको व्यर्थ ही खो देता है। अनेक प्रकारके ऊंच नीच भेदोंकी सृष्टि करके मिथ्या अहंकारका पोषण करता है। जिस किसी भी देवको जिस किसी भी वेषधारी गुरुको जिस किसी भी शास्त्रको भय आशा स्नेह और लोभसे माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त है और न व्यवहार। थोड़ेसे प्रलोभनसे वह सब अनर्थ करने को प्रस्तुत हो जाता है। जाति, ज्ञान, पूजा, कुल, बल, ऋद्धि, तप ओर शरीर आदिके करण मदमत्त होता है और अन्योंको तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार करता है। भय, आकाङ्क्षा, घृणा, अन्यदोषप्रकाशन आदि दुर्गुणोंका केन्द्र होता है। इसकी प्रवृत्तिके मूलमें एक ही बात है और वह है स्व-स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नहीं। अतः वह बाह्य पदार्थोंमें लुभाया रहता है। यही मिथ्या दृष्टि सब दोषोंकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका बन्ध होता है। दर्शनमोहनीय नामक कर्मके उदयमें यह दृष्टिमूढ़ता होती है।

अविरति–चारित्रमोह नामक कर्मके उदयसे मनुष्यको चारित्र धारण करनेके परिणाम नहीं हो पाते। वह चाहता भी है तो भी कषायोंका ऐसा तीव्र उदय रहता है जिससे न तो सकल चारित्र धारण कर पाता है और न देश चारित्र। कषाएँ चार प्रकार की हैं–

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ–अनन्त संसारका बंध करानेवाली, स्वरूपाचरण चारित्रका प्रतिबन्ध करनेवाली, प्रायः मिथ्यात्वसहचारिणी कषाय। पत्थरकी रेखाके समान।
(२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ–देश चारित्र-अणुव्रतोंको धारण करनेके भावोंको न होने देने वाली कषाय। इसके उदयसे जीव श्रावकके व्रतोंको भी ग्रहण नहीं कर पाता। मिट्टीके रेखाके समान।
(३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ–संपूर्ण चारित्रकी प्रतिबन्धिका कषाय। इसके उदयसे जीव सकल त्याग करके संपूर्ण व्रतोंको धारण नहीं कर पाता। धूलि रेखाके समान।
(४) संज्वलन क्रोध मान माया लोभ–पूर्ण चारित्रमें किंचिन्मात्र दोष उत्पन्न करनेवाली कषाय। यथाख्यात चारित्रकी प्रतिबन्धिका। जलरेखाके समान।

इस तरह इन्द्रियोंके विषयोंमें तथा प्राण्यसंयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोंका आस्रव होता है। अविरतिका निरोध कर विरतिभाव आनेपर कर्मोंका आस्रव नहीं होता।

प्रमाद–असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादरका भाव होना प्रमाद है। पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन होनेके कारण, राजकथा चोरकथा स्त्रीकथा और भोजनकथा इन चार विकथाओंमें रस लेनेके कारण, क्रोध मान माया और लोभ इन चार कषायोंमें लिप्त रहनेके कारण, निद्रा और प्रणयमग्न होनेके कारण कर्तव्य पथमें अनादरका भाव होता है। इस असावधानी से कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है, साथही साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका स्थान ही प्रमुख है। बाह्यमें जीवका घात हो या न हो किन्तु असावधान और प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक है। अतः प्रमाद आस्रवका मुख्य द्वार है। इसीलिए भ० महावीरने बारबार गौतम गणधरको चेताया है कि **"समयं गोयम मा पमादए।"** अर्थात् गौतम, किसी भी समय प्रमाद न करो।

कषाय–आत्माका स्वरूप स्वभावतः शान्त और निर्विकारी है। परन्तु क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाएँ आत्माको कस देती हैं और इसे स्वरूपच्युत कर देती हैं। ये चारों आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोधकषाय द्वेष रूप है यह द्वेषका कार्य और द्वेषको उत्पन्न करती है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेष रूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग द्वेष मोह की दोषत्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहरूप मिथ्यात्व दूर हो जानेपर भी सम्यग्दष्टिको राग-द्वेष रूप कषायें बनी रहती हैं। जिसमें लोभ कषाय तो पदप्रतिष्ठा और यशोलिप्साके

रूपमें बड़े बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग द्वेष रूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल हेतु है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पालीपिटकोंमें भी इसी द्वन्द्वको ही पापमूल बताया है। जैन शास्त्रोंका प्रत्येक वाक्य कषायशमन का ही उपदेश देता है। इसीलिए जैनमूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। उसमें न द्वेष का साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे तो परम वीतरागता और अकिंचनताका पावन सन्देश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय–हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा (ग्लानि) स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये ९ नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकार परिणति उत्पन्न होती है। अतः ये भी आस्रव हैं

योग–मन वचन और काय के निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे योग कहते हैं। योगकी साधारण प्रसिद्धि चित्तवृत्तिनिरोध रूप ध्यानके अर्थमें है पर जैन परम्परामें चूँकि मन वचन और कायसे होनेवाली आत्माकी क्रिया कर्मपरमाणुओंसे योग अर्थात् सम्बन्ध करानेमें कारण होती है अतः इसे योग कहते हैं और योगनिरोधको ध्यान कहते हैं। आत्मा सक्रिय है। उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तको भी बराबर होती है। परमुक्तिसे कुछ समय पहिले अयोगकेवलि अवस्थामें मन वचन कायकी क्रियाका निरोध होता है और आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्धरूपका आविर्भाव होता है न उसमें कर्मजन्य मलिनता रहती और न योगजन्य चंचलता ही। प्रधानरूपसे आस्रव तो योग ही है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है तथा अशुभ योग पापकर्मके आस्रवका कारण होता है। सबका शुभचिन्तन तथा अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित मित प्रिय सम्भाषण शुभ वचनयोग है। परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभ काय योग है। इस तरह इस आस्रव तत्त्व का ज्ञान मुमुक्षु को अवश्य ही होना चाहिए। साधारण रूपमें यह तो उसे ज्ञात कर ही लेना चाहिए कि हमारी अमुक प्रवृत्तियोंसे शुभास्रव होता है और अमुक प्रवृत्तियोंसे अशुभास्रव, तभी वह अनिष्ट प्रवृत्तियोंसे अपनी रक्षा कर सकेगा।

सामान्यतया **आस्रव दो प्रकारका** होता है–एक तो कषायानुरञ्जित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव जो बन्धका हेतु होकर संसारकी वृद्धि करता है तथा दूसरा केवल योगसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव जो कषाय न होनेसे आगे बन्धनका कारण नहीं होता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओंके वर्तमान शरीरसम्बन्ध तक होता रहता है। यह जीवस्वरूपका विघातक नहीं होता।

प्रथम साम्परायिक आस्रव कषायानुरंजित योगसे होनेके कारण बन्धक होता है। कषाय और योग प्रवृत्ति शुभरूप भी होती है और अशुभरूप भी। अतः शुभ और अशुभ योगके अनुसार आस्रव भी शुभास्रव या पुण्यास्रव और अशुभास्रव अर्थात् पापास्रवके भेद से दो प्रकारका हो जाता है। साधारणतया साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य कर्म हैं और शेष ज्ञानावरण आदि घातिया और अ-घातियाँ कर्मप्रकृतियाँ पापरूप हैं। इस आस्रवमें कषायोंके तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, आधार, और शक्ति आदिकी दृष्टिसे तारतम्य होता है। संरम्भ (संकल्प) सामारंभ (सामग्री जुटाना) आरम्भ (कार्यकी शुरूआत) कृत (स्वयं करना) कारित (दूसरोंसे कराना) अनुमत (कार्यकी अनुमोदना करना) मन वचन काय योग और क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाएँ परस्पर मिलकर ३×३×३×४×१०८ प्रकारके हो जाते हैं। इनसे आस्रव होता है। आगे ज्ञानावरण आदि कर्मोंमें प्रत्येकके आस्रव कारण बताते हैं–

ज्ञानावरण दर्शनावरण–ज्ञानी और दर्शनयुक्त पुरुषकी या ज्ञान और दर्शनकी प्रशंसा सुनकर भीतरी द्वेषवश उनकी प्रशंसा नहीं करना तथा मनमें दुष्टभावोंका लाना, (प्रदोष) ज्ञानका और ज्ञानके साधनोंका अपलाप करना (निह्नव) योग्य पात्रको भी मात्सर्यवश ज्ञान नहीं देना, ज्ञानमें विघ्न डालना, दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानकी अविनय करना, ज्ञानका गुण कीर्तन न करना, सम्यग्ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहकर ज्ञानके नाशका अभिप्राय रखना आदि यदि ज्ञानके सम्बन्धमें हैं तो ज्ञानावरण के आस्रवके कारण होते हैं और

यदि दर्शनके सम्बन्धमें हैं तो दर्शनावरणके आस्रवके कारण हो जाते हैं। इसी तरह आचार्य और उपाध्यायसे शत्रुता रखना, अकाल अध्ययन, अरुचिपूर्वक पढ़ना, पढ़नेमें आलस करना, व्याख्यान को अनादर पूर्वक सुनना, तीर्थोपरोध, बहुश्रुतके समक्ष भी ज्ञानका गर्व करना, मिथ्या उपदेश देकर दूसरेके मिथ्या ज्ञानमें कारण बनना, बहुश्रुतका अपमान करना, लोभादिवश तत्त्वज्ञानके पक्षका त्याग करके अतत्त्वज्ञानीय पक्षको ग्रहण करना, असम्बद्ध प्रलाप, सूत्र विरुद्ध व्याख्यान, कपटसे ज्ञानार्जन करना, शास्त्र विक्रय आदि जितने ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञानके साधनोंमें विघ्न और द्वेषोत्पादक भाव और क्रियाएँ होती है उन सबसे आत्मापर ऐसा संस्कार पड़ता है जो ज्ञानावरण कर्मके आस्रवका हेतु होता है।

देव गुरु आदिके दर्शनमें मात्सर्य करना, दर्शनमें अन्तराय करना, किसीकी आंख फोड़ देना, इन्द्रियोंका अभिमान करना, नेत्रोंका अहंकार करना, दीर्घ निद्रा, अतिनिद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टिमें दोषोद्भावन, कुशास्त्र प्रशंसा, गुरुजुगुप्सा आदि दर्शनके विघातक भाव और क्रियाएं दर्शनावरण का आस्रव कराती हैं।

असातावेदनीय—अपनेमें परमें और दोनोंमें दुःख शोक आदि उत्पन्न करनेसे आसातावेदनीयका आस्रव होता है। स्व पर या उभयमें दुःख उत्पन्न करना, इष्टवियोगमें अत्यधिक विकलता और शोक करना, निन्दा मानभंग या कर्कशवचन आदिसे भीतरही भीतर जलना, परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक बहु विलाप करना, छाती कूटकर या सिर फोड़कर आक्रन्दन करना, दुःखसे आंखें फोड़ लेना या आत्महत्या कर लेना, इस प्रकार रोना चिल्लाना कि सुननेवाले भी रो पड़ें, शोक आदिसे लंघन करना, अशुभ प्रयोग, परनिन्दा, पिशुनता, अदया, अंग उपांगोंका छेदन भेदन ताड़न, त्रास, अंगुली आदिसे तर्जन करना, वचनोंसे भर्त्सना करना, रोधन, बंधन, दमन, आत्म प्रशंसा, क्लेशोत्पादन, बहुपरिग्रह, आकुलता, मन वचन कायकी कुटिलता, पाप कार्योंसे आजीविका करना, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण, बाण जाल पिंजरा आदिका बनाना इत्यादि जितने कार्य स्वयं में परमें या दोनोंमें दुःख आदिके उत्पादक हैं वे सब असाता वेदनीय कर्मके आस्रवमें कारण होते हैं।

सातावेदनीय—प्राणिमात्र पर दयाका भाव, मुनि और श्रावकके व्रत धारण करनेवाले व्रतियोंपर अनुकम्पाके भाव, परोपकारार्थ दान देना, प्राणिरक्षा, इन्द्रियजय, क्षान्ति अर्थात् क्रोध मान मायाका त्याग, शौच अर्थात् लोभका त्याग, रागपूर्वक संयम धारण करना, अकामनिर्जरा अर्थात् शान्तिसे कर्मोंके फलको भोगना, कायक्लेश रूप कठिन बाह्यतप, अर्हत्पूजा आदि शुभ राग, मुनि आदिकी सेवा आदि स्व पर तथा उभयमें निराकुलता सुखके उत्पादक विचार और क्रियाएँ सातावेदनीयके आस्रवका कारण होती हैं।

दर्शनमोहनीय——जीवन्मुक्त केवली शास्त्र संघ धर्म और देवोंकी निन्दा करना इनमें अवर्णवाद अर्थात् अविद्यमान दोषोंका कथन करना दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व कर्मका आस्रव करता है। केवली रोगी होते हैं, कवलाहारी होते हैं, नग्न रहते हैं पर वस्त्रयुक्त दिखाई देते हैं, इत्यादि केवलीका अवर्णवाद है। शास्त्रमें मांसाहार आदिका समर्थन करना श्रुतका अवर्णवाद है। शास्त्र मुनि आदि मलिन हैं, स्नान नहीं करते, कलिकालके साधु हैं इत्यादि संघका अवर्णवाद है। धर्म करना व्यर्थ है, अहिंसा कायरता है आदि धर्मका अवर्णवाद है। देव मद्यपायी और मांसभक्षी होते हैं आदि देवोंका अवर्णवाद है। सारांश यह कि देव गुरु धर्म संघ और श्रुतके सम्बन्धमें अन्यथा विचार और मिथ्या धारणाएँ मिथ्यात्वको पोषण करती हैं और इससे दर्शनमोह का आस्रव होता है जिससे यथार्थ तत्त्वरुचि नहीं हो पाती।

चारित्र मोहनीय—स्वयं और परमें कषाय उत्पन्न करना, व्रतशीलवान् पुरुषोंमें दूषण लगाना, धर्मका नाश करना, धर्ममें अन्तराय करना, देश संयमियोंसे व्रत और शीलका त्याग कराना, मात्सर्यादिसे रहित सज्जन पुरुषोंमें मतिविभ्रम उत्पन्न करना, आर्त और रौद्र परिणाम आदि कषाय की तीव्रताके साधन कषाय चारित्र मोहनीयके आस्रवके कारण हैं। समीचीन धार्मिकोंकी हंसी करना, दीनजनोंको देखकर हंसना, काम विकारके भावों पूर्वक हंसना, बहु प्रलाप तथा निरन्तर भांड़ों जैसी हंसोड़ प्रवृत्तिसे हास्य नो कषायका आस्रव होता है। नाना प्रकार क्रीड़ा, विचित्र क्रीड़ा, देशादिके प्रति अनौत्सुक्य, व्रत शील आदिमें अरुचि आदि रति नोकषायके आस्रवके हेतु हैं। दूसरोंमें अरति उत्पन्न करना, रतिका विनाश करना, पापशीलजनों

का संसर्ग, पाप क्रियाओंको प्रोत्साहन देना आदि अरति नोकषायके आस्रव के कारण हैं। अपने और दूसरेमें शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्तका अभिनन्दन, शोकके वातावरणमें रुचि आदि शोक नोकषायके आस्रवके कारण हैं। स्व और परको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, दूसरोंको त्रास देना, आदि भयके आस्रवके कारण हैं। पुण्यक्रियाओंमें जुगुप्सा करना, पर निन्दा आदि जुगुप्साके आस्रवके कारण हैं। परस्त्रीगमन, स्त्रीके स्वरूपको धारण करना, असत्य वचन, परवञ्चना, परदोष दर्शन, वृद्ध होकर भी युवकों जैसी प्रवृत्ति करना आदि स्त्रीवेद के आस्रवके हेतु हैं। अल्पक्रोध मायाका अभाव गर्वका अभाव, स्त्रियोंमें अल्प आसक्ति, ईर्षाका न होना, राग वर्धक वस्तुओंमें अनादर, स्वदार सन्तोष परस्त्रीत्याग आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर कषाय, गुह्येन्द्रियोंका विनाश, परांगनाका अपमान, स्त्री या पुरुषोंमें अनंग क्रीड़ा, व्रतशीलयुक्त पुरुषोंको कष्ट उत्पन्न करना, तीव्रराग आदि नपुंसक वेदनीय नोकषायके आस्रवके हेतु हैं।

नरकायु—बहुत आरम्भ और बहुपरिग्रह नरकायुका आस्रव कराते हैं। मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, निःशीलता, तीव्र वैर, परोपकार न करना, यतिविरोध, शास्त्रविरोध, कृष्णलेश्या रूप अतितामसपरिणाम, विषयोंमें अतितृष्णा, रौद्र ध्यान, हिंसादि क्रूर कार्योंमें प्रवृत्ति, बाल वृद्ध स्त्री हत्या आदि क्रूरकर्म नरकायुके आस्रवके कारण होते हैं।

तिर्यचायु—छल कपट आदि मायाचार, मिथ्या अभिप्रायसे धर्मोपदेश देना, अधिक आरम्भ, अधिक परिग्रह, निःशीलता, परवञ्चकता, नील लेश्या और कपोत लेश्या रूप तामस परिणाम। मरणकालमें आर्तध्यान, क्रूरकर्म, भेद करना, अनर्थोद्भावन, सोना चांदी आदिको खोटा करना, कृत्रिम चन्दनादि बनाना, जाति कुल शीलमें दूषण लगाना, सद्गुणोंका लोप, दोष दर्शन आदि पाशव भाव तिर्यंचायुके आस्रवके कारण होते हैं।

मनुष्यायु—अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, विनय, भद्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार, अल्पकषाय, मरण-कालमें संक्लेश न होना, मिथ्यात्वी व्यक्तिमें भी नम्रभाव, सुखबोध्यता, अहिंसकभाव, अल्पक्रोध, दोष-रहितता, क्रूरकर्मोंमें अरुचि, अतिथिस्वागततत्परता, मधुर वचन, जगत्में अल्प आसक्ति, अनसूया, अल्प-संक्लेश, गुरु आदि की पूजा, कापोत और पीतलेश्याके राजस और अल्प सात्त्विक भाव, निराकुलता आदि मानवभाव मनुष्यायुके आस्रवके कारण होते हैं। स्वाभाविक मृदुता और निरभिमान वृत्ति मनुष्यायुके आस्रवके असाधारण हेतु हैं।

देवायु—सराग संयम अर्थात् अभ्युदयकी कामना रहते हुए संयम धारण करना, श्रावकके व्रत, समता पूर्वक कर्मोंका फल भोगनारूप अकामनिर्जरा, सन्यासी एकदण्डी त्रिदण्डी परमहंस आदि तापसोंका बालतप और सम्यक्त्व आदि सात्त्विक परिणाम देवायुके आस्रवके कारण होते हैं।

नाम कर्म—मन वचन कायकी कुटिलता, विसंवादन अर्थात् श्रेयोमार्गमें अश्रद्धा उपन्न करके उससे च्युत करना, मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, अस्थिरचित्तता, झूठे बांट तराजू गज आदि रखना, मिथ्या साक्षी देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परद्रव्य ग्रहण, असत्यभाषण, अधिक परिग्रह, सदा विलासीवेश धारण करना, रूपमद, कठोरभाषण, असभ्य भाषण, आक्रोश, जान बूझकर छैल छबीला वेश धारण करना, वशीकरण चूर्ण आदिका प्रयोग, मन्त्र आदिके प्रयोगसे दूसरोंमें कुतूहल उत्पन्न करना, देवगुरु पूजाके बहाने गन्ध माला धूप आदि लाकर अपने रागकी पुष्टि करना, पर विडम्बना, परोपहास, इंटोंके भट्टे लगाना, दावानल प्रज्वलित कराना, प्रतिमा तोड़ना, मन्दिर ध्वंस, उद्यान उजाड़ना, तीव्र क्रोध मान माया लोभ, पापजीविका आदि कार्योंसे अशुभ शरीर आदिके उत्पादक अशुभ नाम कर्म का आस्रव होता है।

इनसे विपरीत मन वचन कायकी सरलता, ऋजु प्रवृत्ति आदिसे सुन्दर शरीरोत्पादक शुभनाम कर्मका आस्रव होता है।

तीर्थंकर नाम—निर्मल सम्यग्दर्शन, जगद्धितैषिता, जगत्के तारनेकी प्रकृष्ट भावना, विनयसम्पन्नता, निरतिचार शीलव्रतपालन, निरन्तर ज्ञानोपयोग, संसार दुःखभीरुता, यथा शक्ति तप, यथाशक्ति त्याग,

समाधि, साधु सेवा, अर्हन्त आचार्य बहुश्रुत और प्रवचनमें भक्ति, आवश्यक क्रियाओंमें सश्रद्ध निरालस्य प्रवृत्ति, शासन प्रभावना, प्रवचन वात्सल्य आदि सोलह भावनाएँ जगदुद्धारक तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रवका कारण होती हैं। इनमें सम्यग्दर्शनके साथ होने वाली जगदुद्धार की तीव्र भावना ही मुख्य है।

नीचगोत्र—परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परगुणविलोप, अपनेमें अविद्यमान गुणोंका प्रख्यापन, जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद, तपोमद, परापमान, परहास्यकरण, परपरिवादन, गुरुतिरस्कार, गुरुओंसे टकराकर चलना, गुरु दोषोद्भावन, गुरु विभेदन, गुरुओंको स्थान न देना, भर्त्सना करना, स्तुति न करना, विनय न करना, उनका अपमान करना, आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।

उच्चगोत्र—पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा, पर सद्गुणोद्भावन, स्वसद्गुणाच्छादन, नीचैर्वृत्ति—नम्रभाव, निर्मद भाव रूप अनुत्सेक, परका अपमान हास परिवाद न करना, मृदुभाषण आदि उच्चगोत्रके आस्रवके कारण होते हैं।

अन्तराय—दूसरोंके दान लाभ भोग उपभोग और वीर्यमें विघ्न करना, दानकी निन्दा करना, देवद्रव्यका भक्षण, परवीर्यापहरण, धर्मोच्छेद, अधर्माचरण, परनिरोध, बन्धन, कर्णछेदन, गुह्यछेदन, इन्द्रिय विनाश आदि विघ्नकारक विचार और क्रियाएँ अन्तराय कर्मका आस्रव कराती हैं।

सारांश यह कि इन भावोंसे उन उन कर्मोंको स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध विशेष रूपसे होता है। वैसे आयुके सिवाय अन्य सात कर्मोंका आस्रव न्यूनाधिक भावसे प्रतिसमय होता रहता है। आयुका आस्रव आयुके त्रिभागमें होता है।

मोक्ष—बन्धनमुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोंका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा होनेपर समस्त कर्मोंका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका संसार अवस्थामें विभाव परिणमन हो रहा था। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्षदशामें उसका स्वभाव परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते हैं। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन बन जाता है, अज्ञान ज्ञान और अचारित्र चारित्र। तात्पर्य यह कि आत्मा का सारा नकशा ही बदल जाता है। जो आत्मा मिथ्यादर्शनादि रूपसे अनादिकालसे अशुद्धिका पुंज बना हुआ था वही निर्मल निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह चैतन्य निर्विकल्प है। वह निस्तरंग समुद्रकी तरह निर्विकल्प निश्चल और निर्मल है। न तो निर्वाण दशामें आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है तब उसका अभाव हो ही नहीं सकता। उसमें परिवर्तन कितने ही हो जाँय पर अभाव नहीं हो सकता। किसीकी भी यह सामर्थ्य नहीं जो जगत्के किसीभी एक सत्का समूल उच्छेद कर सके।

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि—'मरनेके बाद तथागत होते हैं या नहीं' तो उनने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योंने निर्वाणके विषयमें दो तरहकी कल्पनाएँ कर डालीं। एक निर्वाण वह जिसमें चित्त सन्तति निरास्रव हो जाती है और दूसरा निर्वाण वह जिसमें दीपकके समान चित्त सन्तति भी बुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। रूप वेदना विज्ञान संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्ध रूप ही आत्माको माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि बुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय बताए बिना ही दुःख निवृत्तिके उपदेशके सर्वांगीण औचित्यका समर्थन करते रहे। यदि निर्वाणमें चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी तरह बुझ जाती है अर्थात् अस्तित्वशून्य हो जाती है तो उच्छेदवादके दोषसे बुद्ध कैसे बचे? आत्माके नास्तित्वसे इनकार तो इसी भयसे करते थे कि यदि आत्माको नास्ति कहते हैं तो उच्छेदवादका प्रसंग आता है और अस्ति कहते हैं तो शाश्वतवादका प्रसंग आता है। निर्वाणावस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमें तत्त्वदृष्टिसे कोई विशेष अन्तर नहीं है। बल्कि चार्वाक का सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अयत्नसाध्य होनेसे सहजग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद

अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास ध्यान आदिसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। अतः मोक्ष अवस्थामें शुद्ध चित्त सन्ततिकी सत्ता मानना ही उचित है। तत्त्वसंग्रह पंजिकामें (पृ० १०४) आचार्य कमलशीलने संसार और निर्वाणका प्रतिपादक यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् ।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥"

अर्थात् रागादिक्लेश-वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश वासनाओंसे मुक्त हो जाता है तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। यह जीवन्मुक्तिका वर्णन नहीं है किन्तु निर्वाणका। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था संसार है और उसकी रागादिरहितता मोक्ष। अतः सर्वकर्मक्षयसे प्राप्त होनेवाला स्वात्मलाभ ही मोक्ष है। आत्माका अभाव या चैतन्यके अभावको मोक्ष नहीं कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है न कि रोगी की ही निवृत्ति या समाप्ति। स्वास्थ्यलाभ ही आरोग्य है न कि मृत्यु।

मोक्षके कारण—१ संवर—संवर रोकनको कहते हैं। सुरक्षाका नाम संवर है। जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था उन द्वारोंका निरोध कर देना संवर कहलाता है। आस्रवका मूल कारण योग है। अतः योगनिवृत्ति ही मूलतः संवरके पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। पर,मन वचन कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए आहार करना मलमूत्रका विसर्जन करना चलना फिरना बोलना रखना उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। अतः जितने अंशोंमें मन वचन कायकी क्रियाओंका निरोध है उतने अंशको गुप्ति कहते हैं। गुप्ति अर्थात् रक्षा। मन वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना। यह गुप्ति ही संवरका प्रमुख कारण है। गुप्तिके अतिरिक्त समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र आदिसे संवर होता है। समिति आदिमें जितना निवृत्तिका भाग है उतना संवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अंश शुभबन्धका हेतु होता है।

समिति—सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना। ईर्या समिति—देखकर चलना। भाषा समिति—हित मित प्रिय वचन बोलना। एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना। आदान-निक्षेपण समिति—देख शोधकर किसी भी वस्तुका रखना उठाना। उत्सर्ग समिति—निर्जन्तु स्थानपर मल मूत्रका विसर्जन करना।

धर्म—आत्मस्वरूपमें धारण करानेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर भी विवेकवारिसे उन्हें शान्त करना। कायरता दोष है और क्षमा गुण। जो क्षमा आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान पूजा कुल जाति बल ऋद्धि तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूप को न भूलना, इनका अहंकार न करना। अहंकार दोष है, स्वमान गुण है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मन वचन कायमें कुटिलता न होकर सरलभाव होना। जो मनमें हो, तदनुसारी ही वचन और जीवन व्यवहारका होना। माया का त्याग-सरलता गुण है भोंदूपन दोष है। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फंसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है पर बाह्य सोला और चौकापन्थ आदिके कारण छू छू करके दूसरों से घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास परिपालन, तथ्य स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है परन्तु परनिन्दाके लिए दूसरेके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। पर बाधाकारी सत्य भी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय विजय, प्राणि रक्षण। पांचो इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्ति पर अंकुश रखना, निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, वश्येन्द्रिय होना। प्रणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए खान-पान जीवन व्यवहारको अहिंसाकी भूमिका पर चलाना। संयम गुण है पर भावशून्य बाह्य-क्रियाकाण्डमें का अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा तृष्णाओंको रोककर

प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य (सेवाभाव) स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) में चित्तवृत्ति लगाना। ध्यान–चित्तकी एकाग्रता। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तसेवन, मौन, शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्यतप हैं। इच्छानिवृत्ति रूप तप गुण है और मात्र बाह्य कायक्लेश, पंचाग्नि तपना, हठ योग की कठिन क्रियाएँ बालतप हैं। उत्तमत्याग—दान देना, त्यागकी भूमिका पर आना। शक्त्यनुसार भूखोंको भोजन, रोगी को औषधि, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और प्राणिमात्रको अभय देना। समाज और देशके निर्माणके लिए तन धन आदि साधनोंका त्याग। लाभ पूजा नाम आदि के लिए किया जानेवाला दान उत्तम दान नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य–अकिञ्चनभाव, बाह्यपदार्थोंमें ममत्व भावका त्याग। धन धान्य आदि बाह्यपरिग्रह तथा शरीरमें 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, आत्माका धन तो उसका शुद्ध चैतन्यरूप है' 'नास्ति मे किञ्चन'–मेरा कुछ नहीं है आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य हैं। कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर भौतिकतासे दृष्टि हटाकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य–ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्रीसुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक मानसिक आत्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना। मनःशुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन और आत्मामें ही पवित्रता लाता है।

अनुप्रेक्षा–सद्भावनाएँ आत्मविचार। जगत्में प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है, स्त्री पुत्र आदि पर पदार्थ स्वभावतः अनित्य हैं अतः इनके बिछुड़नेपर क्लेश नहीं होना चाहिए। संसारमें मृत्युमुखसे बचानेवाला कोई नहीं। बड़े बड़े सम्राट् और साधनसम्पन्न व्यक्तियोंको आयुकी परिसमाप्ति होने ही इस नश्वर शरीरको छोड़ देना होता है। अतः इस ध्रुवमृत्युसे घबड़ाना नहीं चाहिए। इस जगत्में कोई किसीको शरण नहीं है। इस संसारमें यह जीव नाना योनियोंमें परिभ्रमण करते हुए भी आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं करनेके कारण अनेक दुर्वासनाओंसे वासित रहकर रागद्वेष आदि द्वन्द्वमें उलझा रहा। मैं अकेला हूँ, मैं स्वयं एक स्वतंत्र हूँ। स्त्री पुत्र धन धान्य मकान यहां तक कि शरीर भी मेरा नहीं है, हमारे स्वरूपसे जुदा है। यह शरीर मांस रुधिर आदि सात धातुओंसे बना हुआ है। इसमें नव द्वारोंसे मल बहता रहता है। इसकी सेवा करते करते जीवन बीत गया। यह जब तक है तब तक अपना और जगत्का जो उपकार हो सकता हो, कर लेना चाहिये। जितने रागादि भाव और वासनाएँ हैं उनसे फिर दुर्भावोंकी सृष्टि होती है कर्मोंका आस्रव होता है, और उससे आत्माको बन्धनमें पड़ना पड़ता है। अतः इन रागद्वेष आदि कषायोंको छोड़ देना चाहिए। सद्विचार अहिंसकवृत्ति, समताभाव आदि आध्यात्मिक वृत्तियोंसे रागादि कषायोंका शमन होता है, आगे होनेवाले कुभाव रोके जा सकते हैं, सद्विचारोंकी सृष्टि की जा सकती है, पुराने दुर्विचारोंसे और खोटी आदतोंसे धीरे धीरे उद्धार हो सकता है। यह अनन्तलोक अनन्त विचित्रताओंसे भरा है। इसमें लिप्त होना मूर्खता है। व्यक्तिका उद्धार ही मुख्य है। लोकके प्राकृतिक रूपका तटस्थ भावसे चिन्तन करनेसे रागादि वृत्तियाँ अपने आप संकुचित होने लगती हैं। साक्षी बननेमें जो आनन्द है वह लिप्त होनेमें नहीं। संसारमें सब पदार्थ सुलभ हैं, बूढ़ेसे जवान बननेके साधन भी विज्ञानने उपस्थित कर दिये हैं, पर बोधि अर्थात् सम्यग्ज्ञान–तत्त्वनिर्णय होना कठिन है। जिससे आत्मा शान्ति और निराकुलताका लाभ करे वह बोधि अत्यंत दुर्लभ है। यह अहिंसाकी भावना, मानवमात्र के ही नहीं प्राणिमात्रके सुखकी आकांक्षा, जगत्के हितकी पुण्यभावना ही धर्म है। प्राणिमात्रमें मैत्रीभाव, गुणियोंके गुणमें प्रमोदभाव, दुःखी जीवोंके दुःखमें सहानुभूति और संवेदनाके विचार तथा जिनसे हमारी चित्तवृत्तिका मेल नहीं खाता उन विपरीत पुरुषोंसे द्वेष न होकर तटस्थ भाव ही हमारी आत्माको तथा मानवसमाजको अहिंसक तथा उच्च भूमिकापर ले जा सकते हैं। ऐसी भावनाओंको सदा चित्तमें भाते रहना चाहिये। इन विचारोंसे सुसंस्कृत चित्त समय आनेपर विचलित नहीं हो सकता, सभी द्वन्द्वोंमें समताभाव रख सकता है और कर्मों के आस्रवको रोककर संवरकी ओर ले जा सकता है।

परीषहजय–साधकको भूख प्यास ठंड गरमी बरसात डांस मच्छर चलने फिरने सोनेमें आनेवाली कंकड़ आदि बाधाएँ, वध आक्रोश मल रोग आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहते हुए भी स्त्री

आदिको देखकर अविकृत बने रहना चाहिए। चिरतपस्या करनेपर भी यदि कोई ऋद्धि सिद्धि प्राप्त न हो तो भी तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना चाहिए। कोई सत्कार पुरस्कार करे तो हर्ष, न करे तो खेद नहीं करना चाहिए। यदि तपस्यासे कोई विशेष ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो अहंकार और प्राप्त न हुआ हो तो खेद नहीं करना चाहिए। भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हुए भी दीनताका भाव आत्मामें नहीं आने देना चाहिए। इस तरह परीषहजयसे चरित्रमें दृढ़ निष्ठा होती है और इससे आस्रव रुककर संवर होता है।

चारित्र–चारित्र अनेक प्रकारका है। इसमें पूर्ण चारित्र मुनियोंका होता है तथा देश चारित्र श्रावकोंका। मुनि अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन व्रतोंका पूर्णरूपमें पालन करता है तथा श्रावक इनको एक अंशसे। मुनियोंके महाव्रत होते हैं तथा श्रावकोंके अणुव्रत। इनके सिवाय सामायिक आदि चारित्र भी होते हैं। सामायिक---समस्त पापक्रियाओंका त्याग, समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना---यदि व्रतोंमें दूषण आ गया हो तो फिरसे उसमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि---इस चारित्रवाले व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है जो सर्वत्र गमन करते हुए भी इसके शरीरसे हिंसा नहीं होती। सूक्ष्म साम्पराय---अन्य सब कषायोंका उपशम या क्षय होनेपर जिसके मात्र सूक्ष्म लोभ-कषाय रह जाती है उसके सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र होता है। यथाख्यातचारित्र---जीवन्मुक्त व्यक्तिके समस्त कषायोंके क्षय होनेपर होता है। जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही उसका प्राप्त हो जाना यथाख्यात है। इस तरह गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र आदिकी किलेबन्दी होनेपर कर्मशत्रुके प्रवेशका कोई अवसर नहीं रहता और पूर्णसंवर हो जाता है।

निर्जरा–गुप्ति आदिसे सर्वतः संवृत व्यक्ति आगामी कर्मोंके आस्रवको तो रोक ही देता है साथ ही साथ पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमशः मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है---(१) औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा (२) अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रति समय कर्मोंका फल देकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है और नूतन कर्म बंधते जाते हैं। गुप्ति समिति और खासकर तपरूपी अग्निके द्वारा कर्मोंको उदयकालके पहिले ही भस्म कर देना अविपाक निर्जरा या औपक्रमिक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि, श्रावक, मुनि, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षय करनेवाला, उपशान्तमोह गुणस्थानवाला, क्षपकश्रेणीवाले, क्षीणमोही और जीवन्मुक्त व्यक्ति क्रमशः असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। 'कर्मोंकी गति टल नहीं सकती' यह एकान्त नहीं है। यदि आत्मामें पुरुषार्थ हो और वह साधना करे तो समस्त कर्मोंको अन्तर्मुहूर्तमें ही नष्ट कर सकता है। "**नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि**।" अर्थात् सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता–यह मत जैनोंको मान्य नहीं। जैन तो यह कहते हैं कि "**ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते क्षणात्**।" अर्थात् ध्यानरूपी अग्नि सभी कर्मोंको क्षण भरमें भस्म कर सकती है। ऐसे अनेक दृष्टान्त मौजूद हैं---जिन्होंने अपनी प्राक्साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधुदीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्य लाभ हो गया। पुरानी वासनाओंको और रागद्वेष आदि कुसंस्कारोंको नष्ट करनेका एकमात्र मुख्य साधन है ध्यान अर्थात् चित्तवृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दुःख) बन्धके कारण (आस्रव) मोक्ष और मोक्षके कारण–संवर निर्जरा इन पांच तत्त्वोंके साथ ही साथ आत्मतत्त्वके ज्ञानकी भी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है तथा उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी जिसके कारण अनादिसे यह जीव बन्धनबद्ध हो रहा है।

मोक्षके साधन---वैदिक संस्कृति विचार या ज्ञानसे मोक्ष मानती है जब कि श्रमण संस्कृति आचार अर्थात् चारित्रको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिमें तत्त्वज्ञानके साथ ही साथ वैराग्य और संन्यासको भी मुक्तिका अंग माना है पर वैराग्य आदि का उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें

होता है अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान परिपूर्ण होता है और फिर मुक्ति। जैन तीर्थंकरोंने "**सम्यग्दर्शनज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः**" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्द्धक नहीं है मोक्षका साधन नहीं हो सकता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे वही मोक्षका कारण है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्रशुद्धि है। ज्ञान थोड़ा भी हो पर यदि उसने जीवनशुद्धिमें प्रेरणा दी है तो वह सम्यग्ज्ञान है। अहिंसा संयम और तप साधनात्मक वस्तुएँ हैं ज्ञानात्मक नहीं। अतः जैनसंस्कृतिने कोरे ज्ञानको भार ही बताया है। तत्त्वोंकी सच्ची श्रद्धा खासकर धर्मकी श्रद्धा मोक्ष-प्रासादका प्रथम सोपान है। आत्मधर्म अर्थात् आत्मस्वभावका और आत्मा तथा शरीरादि परपदार्थोंका स्वरूपज्ञान होना—इनमें भेदविज्ञान होना ही **सम्यग्दर्शन** है। सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मस्वरूपका स्पष्ट दर्शन, अपने लक्ष्य और कल्याण-मार्गकी दृढ़ प्रतीति। भय आशा स्नेह और लोभादि किसी भी कारण से जो श्रद्धा चल और मलिन न हो सके, कोई साथ दे या न दे पर भीतरसे जिसके प्रति जीवनकी भी बाजी लगानेवाला परमावगाढ़ संकल्प हो वह जीवन्त श्रद्धा **सम्यक्दर्शन** है। इस ज्योतिके जगते ही साधकको अपने तत्त्वका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे स्वानुभूति—अर्थात् आत्मानुभव प्रतिक्षण होता है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें है, बाह्य पदार्थाश्रित क्रियाकाण्डमें नहीं। इसीलिए उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकारकी हो जाती है। उसे आत्मकल्याण, मानवजातिका कल्याण, देश और समाजके कल्याणके मार्गका स्पष्ट भान हो जाता है। अपने आत्मासे भिन्न किसी भी परपदार्थकी अपेक्षा ही दुखका कारण है। सुख स्वाधीन वृत्तिमें है। अहिंसा भी अन्ततः यही है कि हमारा परपदार्थमें स्वार्थसाधनका भाव कम हो। जैसे स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा है उसी तरह प्राणिमात्रका भी जीवित रहनेका अधिकार स्वीकार करें।

स्वरूपज्ञान और स्वाधिकार मर्यादाका ज्ञान **सम्यग्ज्ञान** है। उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा **सम्यग्दर्शन** है और तद्रूप होनेके यावत् प्रयत्न **सम्यक्चारित्र** हैं। यथा—प्रत्येक आत्मा चैतन्यका धनी है। प्रतिक्षण पर्याय बदलते हुए भी उसकी अविच्छिन्न धारा अनन्तकालतक चलती रहेगी। उसका कभी समूल नाश न होगा। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई अधिकार नहीं है। रागादि कषायें और वासनाएँ आत्माका निजरूप नहीं हैं, विकारभाव हैं। शरीर भी पर है। हमारा स्वरूप तो चैतन्यमात्र है। हमारा अधिकार अपनी गुणपर्यायों पर है। अपने विचार और अपनी क्रियाओंको हम जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं। दूसरेको बनाना बिगाड़ना हमारा स्वाभाविक अधिकार नहीं है। यह अवश्य है कि दूसरा हमारे बनने बिगड़नेमें निमित्त होता है पर निमित्त उपादानकी योग्यताका ही विकास करता है। यदि उपादान कमजोर है तो निमित्तके द्वारा अत्यधिक प्रभावित हो सकता। अतः बनना बिगड़ना बहुत कुछ अपनी भीतरी योग्यतापर ही निर्भर है। इसतरह अपने आत्माके स्वरूप और स्वाधिकारपर अटल श्रद्धा होना और आचार व्यवहारमें इसका उल्लंघन न करनेकी दृढ़ प्रतीति होना **सम्यग्दर्शन** है।

सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन—

सम्यग्दर्शनका अर्थ मात्र यथार्थ देखना या वास्तविक पहिचान ही नहीं है, किंतु उस दर्शनके पीछे होनेवाली दृढ़ प्रतीति, जीवन्त श्रद्धा और उसको कायम रखनेकेलिए प्राणोंकी भी बाजी लगा देनेका अटूट विश्वास ही वस्तुतः सम्यग्दर्शनका स्वरूपार्थ है।

सम्यग्दर्शनमें दो शब्द हैं सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द सापेक्ष है, उसमें विवाद हो सकता है। एक मन जिसे सम्यक् समझता है दूसरा मन उसे सम्यक् नहीं मानकर मिथ्या मानता है। एक ही वस्तु परिस्थिति विशेषमें एक को सम्यक् और दूसरेको मिथ्या हो सकती है। दर्शनका अर्थ देखना या निश्चय करना है। इसमें भी भ्रान्तिकी सम्भावना है। सभी मत अपने अपने धर्मको दर्शन अर्थात् सा-साक्षात्कार किया हुआ बताते हैं, अतः कौन सम्यक् और कौन असम्यक् तथा कौन दर्शन और कौन अदर्शन

ये प्रश्न मानव मस्तिष्कको आन्दोलित करते रहते हैं। इन्हीं प्रश्नोंके समाधानमें जीवन का लक्ष्य क्या है ? धर्मकी आवश्यकता क्यों है ? आदि प्रश्नोंका समाधान निहित है।

सम्यक्दर्शन एक क्रियात्मक शब्द है, अर्थात् सम्यक्-अच्छीतरह दर्शन–देखना। प्रश्न यह है कि– 'क्यों देखना, किसको देखना और कैसे देखना।' 'क्यों देखना' तो इसलिए कि मनुष्य स्वभावतः मननशील और दर्शनशील प्राणी होते हैं। उनका मन यह तो विचारता ही है कि—यह जीवन क्या है ? क्या जन्मसे मरणतक ही इसकी धारा है या आगे भी ? जिन्दगीभर जो अनेक द्वंद्वों और संघर्षोंसे जूझना है वह किसलिए ? अतः जब इसका स्वभाव ही मननशील है तथा संसारमें सैकड़ों मत प्रचारक मनुष्यको बलात् वस्तु-स्वरूप दिखाते हुए चारों ओर घूम रहे हैं, 'धर्म डूबा, संस्कृति डूबी, धर्मकी रक्षा करो, संस्कृतिको बचाओ' आदि धर्मप्रचारकोंके नारे मनुष्यके कानके पर्दे फाड़ रहे हैं तब मनुष्यको न चाहने पर भी देखना तो पड़ेगा ही। यह तो करीब करीब निश्चित ही है कि मनुष्य या कोई भी प्राणी अपने लिए ही सब-कुछ करता है, उसे सर्वप्रिय वस्तु अपनी ही आत्मा है। उपनिषदोंमें आता है कि "**आत्मनो वै कामाय सर्वं प्रियं भवति।**" कुटुम्ब स्त्री पुत्र तथा शरीरका भी ग्रहण अपनी आत्माकी तुष्टिकेलिए किया जाता है। अतः 'किसको देखना' इस प्रश्न का उत्तर है कि सर्वप्रथम उस आत्माको ही देखना चाहिए जिसकेलिए यह सब कुछ किया जा रहा है, और जिसके न रहने पर यह सब कुछ व्यर्थ है, वही आत्मा द्रष्टव्य है, उसीका सम्यक्दर्शन हमेंकरना चाहिए। 'कैसे देखना' इस प्रश्न का उत्तर धर्म और सम्यग्दर्शन का निरूपण है।

जैनाचार्योंने '**वत्थुस्वभावो धम्मो**' यह धर्मकी अन्तिम परिभाषा की है। प्रत्येक वस्तुका अपना निज स्वभाव ही धर्म है तथा स्वभावसे च्युत होना अधर्म है। मनुष्यका मनुष्य रहना धर्म है पशु बनना अधर्म है। आत्मा जब तक अपने स्वरूपमें है धर्मात्मा है, जहाँ स्वरूपसे च्युत हुआ अधर्मात्मा बना। अतः जब स्वरूपस्थिति ही धर्म है तब धर्मकेलिए भी स्वरूपका जानना नितान्त आवश्यक है। यह भी जानना चाहिए कि आत्मा स्वरूपच्युत क्यों होता है ? यद्यपि जलका गरम होना उसकी स्वरूपच्युति है, एतावता वह अधर्म है पर जल चूंकि जड़ है, अतः उसे यह भान ही नहीं होता कि मेरा स्वरूप नष्ट हो गया है। जैन तत्त्वज्ञान तो यह कहता है कि जिस प्रकार अपने स्वरूपसे च्युत होना अधर्म है उसी प्रकार दूसरेको स्वरूपसे च्युत करना भी अधर्म है। स्वयं क्रोध करके शान्तस्वरूपसे च्युत होना जितना अधर्म है उतना ही दूसरे के शान्तस्वरूपमें विघ्न करके उसे स्वरूपच्युत करना भी अधर्म है। अतः ऐसी प्रत्येक विचार धारा, वचनप्रयोग और शारीरिक प्रवृत्ति अधर्म है जो अपनेको स्वरूपच्युत करती हो या दूसरेकी स्वरूपच्युतिका कारण होती हो।

आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है—स्वरूप और स्वाधिकारकी मर्यादाका अज्ञान। संसारमें अनन्त अचेतन और अनन्त चेतन द्रव्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। प्रत्येक अपने स्वरूपमें परिपूर्ण है। इन सबका परिणमन मूलतः अपने उपादानके अनुसार होकर भी दूसरेके निमित्तसे प्रभावित होता है। अनन्त अचेतन द्रव्योंका यद्यपि संयोगोंके आधारसे स्वरसतः परिणमन होता रहता है पर जड़ होनेके कारण उनमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। जैसी जैसी सामग्री जुटती जाती है वैसा वैसा उनका परिणमन होता रहता है। मिट्टीमें यदि विष पड़ जाय तो उसका विषरूप परिणमन हो जायगा यदि क्षार पड़ जाय तो खारा परिणमन हो जायगा। चेतन द्रव्य ही ऐसे हैं जिनमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है। ये अपनी प्रवृत्ति तो बुद्धिपूर्वक करते ही हैं साथ ही साथ अपनी बुद्धिके अनधिकार उपयोगके कारण दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन करनेकी कुचेष्टा भी करते हैं। यह सही है कि जबतक आत्मा अशुद्ध या शरीरपरतन्त्र है तबतक उसे परपदार्थोंकी आवश्यकता होगी और वह परपदार्थोंके विना जीवित भी नहीं रह सकता। पर इस अनिवार्यस्थितिमें भी उसे यह सम्यक्दर्शन तो होना ही चाहिए कि—"यद्यपि आज मेरी अशुद्ध दशामें शरीरादिके परतन्त्र होनेके कारण नितान्त परवश स्थिति है और इसके लिए यत्किंचित् परसंग्रह आवश्यक है पर मेरा निसर्गतः परद्रव्योंपर कोई अधिकार नहीं है'

प्रत्येक द्रव्य अपना अपना स्वामी है।" इस परम व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उद्घोषणा जैन तत्त्वज्ञानियोंने अत्यंत निर्भयतासे की है। और इसके पीछे हजारों राजकुमार राजपाट छोड़कर इस व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी उपासनामें लगते आए हैं। यही सम्यग्दर्शनकी ज्योति है।

प्रत्येक आत्मा अपनी तरह जगत्में विद्यमान अनन्त आत्माओंका भी यदि समान-आत्माधिकार स्वीकार कर ले और अचेतन द्रव्योंके संग्रह या परिग्रहको पाप और अनाधिकार चेष्टा मान ले तो जगत्में युद्ध संघर्ष हिंसा द्वेष आदि क्यों हों? आत्माके स्वरूपच्युत होनेका मुख्य कारण है परसंग्रहाभिलाषा और परपरिग्रहेच्छा। प्रत्येक मिथ्यादर्शी आत्मा यह चाहता है कि संसारके समस्त जीवधारी उसके इशारेपर चलें, उसके अधीन रहें, उसकी उच्चता स्वीकार करें। इसी व्यक्तिगत अनधिकार चेष्टाके फलस्वरूप जगत्में जाति वर्ण रंग आदिप्रयुक्त वैषम्यकी सृष्टि हुई है। एक जातिमें उच्चत्वका अभिमान होनेपर उसने दूसरी जातियोंको नीचा रखनेका प्रयत्न किया। मानवजातिके काफी बड़े भागको अस्पृश्य घोषित किया गया। गोरेरंगवालोंकी शासक जाति बनी। इस तरह जाति वर्ण और रंगके आधारसे गुट बने और इन गिरोहोंने अपने वर्गकी उच्चता और लिप्साकी पुष्टिकेलिए दूसरे मनुष्योंपर अवर्णनीय अत्याचार किए। स्त्रीमात्र भोगकी वस्तु रही। स्त्री और शूद्रका दर्जा अत्यन्त पतित समझा गया। जैन तीर्थंकरोंने इस अनधिकार चेष्टाको मिथ्यादर्शन कहा और बताया कि इस अनधिकार चेष्टाको समाप्त किये बिना सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः मूलतः सम्यग्दर्शन—आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारके ज्ञानमें ही परिसमाप्त है। शास्त्रोंमें इसका ही स्वानुभव, स्वानुभूति, स्वरूपानुभव जैसे शब्दोंमें वर्णन किया गया है। जैन परम्परामें सम्यक् दर्शनके विविधरूप पाए जाते हैं (१) तत्त्वार्थश्रद्धान (२) जिनदेव शास्त्र गुरुका श्रद्धान (३) आत्मा और परका भेदज्ञान आदि।

जैनदेव, जैनशास्त्र और जैनगुरुकी श्रद्धाके पीछे भी वही आत्मसमानाधिकारकी बात है। जैनदेव परम वीतरागताके प्रतीक हैं। उस वीतरागता और आत्ममात्रत्वके प्रति सम्पूर्ण निष्ठा रखे बिना शास्त्र और गुरुभक्ति भी अधूरी है। अतः जैनदेव शास्त्र और गुरुकी श्रद्धा का वास्तविक अर्थ किसी व्यक्तिविशेषकी श्रद्धा न होकर उन गुणोंके प्रति अटूट श्रद्धा है जिन गुणोंके वे प्रतीक हैं।

आत्मा और पदार्थोंका विवेकज्ञान भी उसी आत्मदर्शनकी ओर इशारा करता है। इसीतरह तत्त्वार्थश्रद्धानमें उन्हीं आत्मा, आत्माको बन्ध करने वाले और आत्माकी मुक्तिमें कारणभूत तत्त्वोंकी श्रद्धा ही अपेक्षित है। इस विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूपदर्शन और आत्माधिकारका परिज्ञान तथा उसके प्रति अटूट जीवन्त श्रद्धारूप ही है। सम्यग्द्रष्टाके जीवनमें परिग्रहसंग्रह और हिंसाका कोई स्थान नहीं रह सकता। वह तो मात्र अपनी आत्मापर ही अपना अधिकार समझकर जितनी दूसरी आत्माओंको या अन्य जडद्रव्योंको अधीन करने की चेष्टाएँ हैं उन सभीको अधर्मही मानता है। इस तरह यदि प्रत्येक मानवको यह आत्मस्वरूप और आत्माधिकारका परिज्ञान हो जाय और वह जीवनमें इसके प्रति निष्ठावान् हो जाय तो संसारमें परम शान्ति और सहयोगका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके इस अन्तरस्वरूपकी जगह आज बाहरी पूजा-पाठने ले ली है। अमुक पद्धतिसे पूजन और अमुक प्रकारकी द्रव्यसे पूजा आज सम्यक्त्व समझी जाती है। जो महावीर और पद्मप्रभु वीतरागता के प्रतीक थे आज उनकी पूजा व्यापारलाभ, पुत्रप्राप्ति, भूतबाधाशान्ति जैसी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिके लिए ही की जाने लगी है। इतना ही नहीं इन तीर्थंकरोंका 'सच्चा दरबार' कहलाता है। इनके मन्दिरोंमें शासनदेवता स्थापित हुए हैं और उनकी पूजा और भक्तिने ही मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। और यह सब हो रहा है सम्यग्दर्शनके पवित्र नामपर।

जिस सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको स्वामी समन्तभद्रने देवके समान बताया उसी सम्यग्दर्शनकी ओटमें और शास्त्रोंकी ओटमें जातिगत उच्चत्व नीचत्वके भावका प्रचार किया जा रहा है। जिस बाह्यपदार्थाश्रित या शरीराश्रित भावोंके विनाशकेलिए आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शनका उपदेश दिया गया

था उन्हीं शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिके नामपर ब्राह्मणधर्मकी वर्णाश्रमव्यवस्थाको चिपटाया जा रहा है। इसतरह जबतक हमें सम्यग्दर्शनका ही सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होगा तबतक न जाने क्या क्या अलाय-बलाय उसके पवित्र नामसे मानवजातिका पतन करती रहेगी। अतः आत्मस्वरूप और आत्माधिकारकी मर्यादाको पोषण करने वाली धारा ही सम्यग्दर्शन है अन्य नहीं। यही धर्म है।

दो मिथ्यादर्शन—मैंने आगे 'संस्कृतिके सम्यग्दर्शन' प्रकरणमें लिखा है कि—गर्भस्थ बालकके ९० प्रतिशत संस्कार मां बापके रजोवीर्यके परिपाकानुसार होते हैं और १० प्रतिशत संस्कार जन्मान्तरसे आते हैं। उन १० प्रतिशतमें भी जो मन्द संस्कार होंगे वे इधरकी समग्रीसे प्रभावित होकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देते हैं। अतः जिन संस्कारोंमें बालककी अपनी बुद्धि कोई कार्य नहीं कर सकती वे सब मां बाप और समाजव्यवस्थाकी देन हैं अर्थात् अगृहीत संस्कार हैं। जिन संस्कारोंको या विचारोंको बालक स्वयं शिक्षा उपदेश आदिसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण करता है वे गृहीत संस्कार हैं। अब विचारिए कि १८ या २० वर्षकी उमर तक, जबतक बालक शिष्य है तबतक मां बाप, समाजके बड़ेबूढ़े धर्मगुरु, धर्मप्रचारक, शिक्षक सभी उस मोमको अपने सांचेमें ढालनेका प्रयत्न करते हैं। बालक सफेद कोरा कागज है। ये सब मां-बाप, शिक्षक और समाज आदि उस कोरे कागजपर अपने संस्कारानुसार काले लाल पीले धब्बे प्रतिक्षण लगाते रहते हैं और उसकी स्वरूपभूत सफेदीको रंचमात्रभी अवशिष्ट नहीं रहने देना चाहते। जब वह बालिग होता है और अपने स्वरूपदर्शनका प्रयत्न करता है तो अपने मनरूपी कागजको पंचरंगा पाता है, दूसरे रंग तो नाममात्रको हैं काला ही काला रंग है। सारा जीवन उन धब्बों को साफ करनेमें ही बीत जाता है। सारांश यह कि—यह अगृहीत मिथ्यात्व जो माँ बाप शिक्षक समाजव्यवस्था आदिसे कच्ची उमरमें प्राप्त होता है दुर्निवार है। गृहीत-मिथ्यात्वको तो जिसे कि वह बुद्धिपूर्वक स्वीकार करता है बुद्धि पूर्वक तुरंत छोड़ भी सकता है। अतः पहिली आवश्यकता है—माँ बाप समाज और शिक्षकवर्गको सम्यग्द्रष्टा बनानेकी। अन्यथा ये स्वयं तो मिथ्यादृष्टि बने ही हैं पर आगेकी नवपीढ़ीको भी अपने काले विचारोंसे दूषित करते रहेंगे।

जिस प्रकार मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी निसर्गज—अर्थात् बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना अनायास प्राप्त होनेवाला और अधिगमज अर्थात् बुद्धिपूर्वक—परोपदेशसे सीखा हुआ, इस प्रकार दो भेद हैं। जन्मान्तरसे आये हुए सम्यग्दर्शन संस्कारका निसर्गजमें ही समावेश है। अतः जबतक माँ बाप, शिक्षक, समाजके नेता, धर्मगुरु और धर्मप्रचारक आदिको सम्यग्दर्शनका सम्यग्दर्शन न होगा तबतक ये अनेक निरर्थक क्रियाकाण्डों और विचारशून्य रूढ़ियोंकी शराब धर्म और सम्यग्दर्शनके नामपर नूतनपीढ़ीको पिलाते जायंगे और निसर्गमिथ्यादृष्टियोंकी सृष्टि करते जायंगे। अतः नई पीढ़ीके सुधारकेलिए व्यक्तिको सम्यग्दर्शन प्राप्त करना होगा। हमें उस मूलभूत तत्त्व—आत्मस्वरूप और आत्माधिकारको इन नेताओंको समझाना होगा और इनसे करबद्ध प्रार्थना करनी होगी कि इन कच्चे बच्चोंपर दया करो, इन्हें सम्यग्दर्शन और धर्मके नामपर बाह्यगत उच्चत्वनीचत्व शरीराश्रित पिण्डशुद्धि आदिमें न उलझाओ, थोड़ा थोड़ा आत्मदर्शन करने दो। परम्परागत रूढ़ियोंको धर्मका जामा मत पहिनाओ। बुद्धि और विवेकको जाग्रत होने दो। श्रद्धाके नामपर बुद्धि और विवेककी ज्योतिको मत बुझावो। अपनी प्रतिष्ठा स्थिर रखनेकेलिए नई पीढ़ीके विकासको मत रोको। स्वयं समझो जिससे तुम्हारे संपर्कमें आने वाले लोगोंमें समझदारी आवे। रूढ़िचक्रका आम्नाय परम्परा आदिके नामपर आंख मूंदकर अनुसरण न करो। तुम्हारा यह पाप नई पीढ़ीको भोगना पड़ेगा। भारतकी परतन्त्रता हमारे पूर्वजोंकी ही गलती या संकुचित दृष्टिका परिणाम थी, और आज जो स्वतंत्रता मिली वह गान्धीयुगके सम्यग्द्रष्टाओंके पुरुषार्थका फल है। इस विचारधाराको प्राचीनता, हिंन्दुत्व, धर्म और संस्कृतिके नामपर फिर तमःछन्न मत करो।

सारांश यह कि आत्मस्वरूप और आत्माधिकारके पोषक उपबृंहक परिवर्धक और संशोधक कर्त्तव्योंका प्रचार करो जिससे सम्यग्दर्शनकी परम्परा चले। व्यक्तिका पाप व्यक्तिको तो भोगना ही

पड़ता है पर उसका सूक्ष्म विष समाजशरीरमें व्याप्त होता है, जो सारे समाजको ही अज्ञातरूपसे नष्ट कर देता है। तुम तो समझ सकते हो पर तुम्हारे बच्चे तो तुम्हारे नामपर न जाने क्या क्या करते जायंगे। अतः उनकी खातिर स्वयं सम्यग्द्रष्टा बननेका स्थिर प्रयत्न करो।

परम्परा का सम्यग्दर्शन—

प्राचीन नवीन या समीचीन ?

मनुष्यमें प्राचीनताका मोह इतना दृढ़ है कि अच्छी से अच्छी बातको वह प्राचीनताके **अस्त्रसे उड़ा देता** है और बुद्धि तथा विवेकको ताकमें रख उसे 'आधुनिक' कहकर आग्राह्य बनानेका दुष्ट **प्रयत्न करता है**। इस मूढ़ मानवको यह पता नहीं है, कि प्राचीन होनेसे ही कोई विचार अच्छा और **नवीन होनेसे** ही कोई बुरा नहीं कहा जा सकता। मिथ्यात्व हमेशा प्राचीन होता है, अनादिसे आता है और सम्यग्दर्शन नवीन होता है पर इससे मिथ्यात्व अच्छा और सम्यक्त्व बुरा नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्रने धर्मदेशनाकी प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है—"**देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्**।" इसमें उनने प्राचीन या नवीन धर्मके उपदेश देनेकी बात नहीं कही है किंतु वे 'समीचीन' धर्मका उपदेश देना चाहते हैं। जो समीचीन अर्थात् सच्चा हो बुद्धि और विवेकके द्वारा सम्यक् सिद्ध हुआ हो, वही ग्राह्य है न कि प्राचीन या नवीन। प्राचीनमें भी कोई बात समीचीन हो सकती है और नवीनमें भी कोई बात समीचीन। दोनोंमें असमीचीन बातें भी हो सकती हैं। अतः परीक्षा कसौटीपर जो खरी समीचीन उतरे वही हमें ग्राह्य है। प्राचीनताके नामपर पीतल ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीनताके कारण सोना त्याज्य नहीं। कसौटी रखी हुई है, जो कसनेपर समीचीन निकले वही ग्राह्य है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरने बहुत खिन्न होकर इन प्राचीनता-मोहियोंको सम्बोधित करते हुए छठवीं द्वात्रिंशतिकामें बहुत मार्मिक चेतावनी दी है, जो प्रत्येक संशोधकको सदा स्मरण रखने योग्य है—

यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः॥

समीक्षक विद्वानोंके सामने प्राचीनरूढ़िवादी बिना पढ़ा पंडितम्मन्य जब अंटसंट बोलनेका साहस करता है, वह तभी क्यों नहीं भस्म हो जाता ? क्या दुनियामें कोई न्याय-अन्यायको देखनेवाले देवता नहीं हैं ?

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥

पुराने पुरुषोंने जो व्यवस्था निश्चित की है वह विचारनेपर क्या वैसी ही सिद्ध हो सकती है ? यदि समीचीन सिद्ध हो तो हम उसे समीचीनताके नामपर मान सकते हैं, प्राचीनताके नामपर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती तो मरे हुए पुरुषोंके झूठे गौरवके कारण 'तथा' हाँ में हाँ मिलानेके लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस समीचीनप्रियताके कारण यदि विरोधी बढ़ते हैं तो बढ़ें। श्रद्धावश कबरपर फूल तो चढ़ाये जा सकते हैं पर उनकी हर एक बातका अन्धानुसरण नहीं किया जा सकता।

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते॥

पुरानी परम्पराएँ बहुत प्रकारकी हैं, उनमें परस्पर पूर्व-पश्चिम जैसा विरोध भी है। अतः बिना विचारे प्राचीनताके नामपर चटसे निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्यविशेषकी सिद्धिके लिए 'यही व्यवस्था है, अन्य नहीं' 'यही पुरानी आम्नाय है' आदि जड़ताकी बातें पुरातनप्रेमी जड़ ही कह सकते हैं।

जनोऽयमन्यस्य स्वयं पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ।।

आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं वही व्यक्ति मरनेके बाद नई पीढ़ीकेलिए पुराना हो जायगा और पुरातनोंकी गिनतीमें शामिल हो जायगा । प्राचीनता अस्थिर है । जिन्हें आज हम पुराना कहते हैं वे भी अपने जमानेमें नए रहे होंगे और जो उस समय नवीन कहकर दुरदुराये जाते होंगे वे ही आज प्राचीन बने हुए हैं । इस तरह प्राचीनता और पुरातनता जब कालकृत है और कालचक्रके परिवर्तनके अनुसार प्रत्येक नवीन पुरातनोंकी राशिमें सम्मिलित होता जाता है तब कोई भी विचार बिना परीक्षा किये इस गड़बड़ पुरातनताके नामपर कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

विनिश्चयं नैति यथा यथाऽलसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ।।

प्राचीनतामूढ़ आलसी जड़ निर्णयकी अशक्ति होनेके कारण अपने अनिर्णयमें ही निर्णयका भान करके प्रसन्न होता है । उसके तो यही अस्त्र हैं कि 'अवश्य ही इसमें कुछ तत्त्व होगा ? हमारे पुराने गुरु अमोघवचन थे, उनके वाक्य मिथ्या हो नहीं सकते, हमारी ही बुद्धि अल्प है जो उनके वचनों तक नहीं पहुँचती' आदि । इन सिद्धावृत आलसी पुराणप्रेमियोंकी ये सब बुद्धिहत्याके सीधे प्रयत्न हैं और इनके द्वारा वे आत्मविनाशकी ओर ही तेजीसे बढ़ रहे हैं ।

मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ।।

जिन्हें हम पुरातन कहते हैं वे भी मनुष्य ही थे और उन्होंने मनुष्योंकेलिए ही मनुष्यचरित्रोंका वर्णन किया है । उनमें कोई दैवी चमत्कार नहीं था । अतः जो आलसी या बुद्धिजड़ हैं उन्हें ही वे अगाध गहन या रहस्यमय मालूम हो सकते हैं पर जो समीक्षकचेता मनस्वी है वह उन्हें आंख मूंदकर 'गहन रहस्य'के नामपर कैसे स्वीकार कर सकता है ।

यदेव किञ्चित् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ।।

कितनी भी असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनताके नामपर प्रशंसित हो रही हैं और चल रही हैं । उनकी असम्बद्धता 'पुरातनोक्त और हमारी अशक्ति' के नामपर भूषण बन रही है तथा मनुष्यकी प्रत्यक्षसिद्ध बोधगम्य और युक्तिप्रवण भी रचना आज नवीनताके नामपर दुरदुराई जा रही है । यह तो प्रत्यक्षके ऊपर स्मृतिकी विजय है । यह मात्र स्मृतिमूढ़ता है । इसका विवेक या समीक्षणसे कोई सम्बन्ध नहीं है ।

न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलाङ्गनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ।।

पुरातनके मिथ्यागौरवका अभिमानी व्यक्ति युक्त और अयुक्तका विचार ही नहीं कर सकता । उसकी बुद्धि उस थोथे बड़प्पनसे इतनी दब जाती है कि उसकी विचारशक्ति सर्वथा रुद्ध हो जाती है । अन्तमें आचार्य लिखते हैं कि गौरव गुणकृत है । जिसमें गुण है वह चाहे प्राचीन हो या नवीन या मध्ययुगीन, गौरवके योग्य है । इसके सिवाय अन्य गौरवके नामका ढोल पीटना किसी कुलकामिनीके अपने कुलके नामसे सतीत्वको सिद्ध करनेके समान ही है ।

कवि कालिदासने भी इन प्राचीनताबद्धबुद्धियोंको परप्रत्ययनेयबुद्धि कहा है । वे परीक्षकमतिकी सराहना करते हुए लिखते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।।

अर्थात् सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार परीक्षा करके उनमेंसे समीचीनको ग्रहण करते हैं। मूढ़ ही दूसरोंके बहकावेमें आता है।

अतः इस प्राचीनताके मोह और नवीनताके अनादरको छोड़कर समीचीनताकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए तभी हम नूतन पीढ़ीकी मतिको समीचीन बना सकेंगे। इस प्राचीनताके मोहने असंख्य अन्धविश्वासों, कुरूढ़ियों, निरर्थक परम्पराओं और अनर्थक कुलाम्नायोंको जन्म देकर मानवकी सहजबुद्धिको अनन्त भ्रमोंमें डाल दिया है। अतः इसका सम्यग्दर्शन प्राप्तकर जीवनको समीक्षापूर्ण बनाना चाहिए।

संस्कृति का सम्यग्दर्शन—

मानवजातिका पतन—आत्म स्वरूपका अज्ञान ही मानवजातिके पतनका मुख्य कारण है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह अपने आसपासके मनुष्योंको प्रभावित करता है। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर आता है। उत्पत्तिकी बात जाने दीजिये। यह आत्मा जब एक देहको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिए किसी स्त्रीके गर्भमें पहुँचता है तो बहुत कम संस्कारोंको लेकर जाता है। पूर्व जन्मकी यावत् शक्तियाँ उसी पर्यायके साथ समाप्त हो जाती हैं, कुछ सूक्ष्म संस्कार ही जन्मान्तर तक जाते हैं। उस समय उसका आत्मा सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ रहता है। वह जिस स्त्रीके गर्भमें पहुँचता है वहाँ प्राप्त वीर्यकण और रजःकणसे बने हुए कललपिण्डमें विकसित होने लगता है। जैसे संस्कार उस रजःकण और वीर्यकणमें होंगे उनके अनुसार तथा माताके आहार-विहार-विचारोंके अनुकूल वह बढ़ने लगता है। वह तो कोमल मोमके समान है जैसा सांचा मिल जायगा वैसा ढल जायगा। अतः उसका ९९ प्रतिशत विकास मातापिताके संस्कारोंके अनुसार होता है। यदि उनमें कोई शारीरिक या मानसिक बीमारी है तो वह बच्चेमें अवश्य आजायगी। जन्म लेनेके बाद वह मां बापके शब्दोंको सुनता है उनकी क्रियाओंको देखता है। आसपासके लोगोंके व्यवहारके संस्कार उसपर क्रमशः पड़ते जाते हैं। एक ब्राह्मणसे उत्पन्न बालकको जन्मते ही यदि किसी मुसलमानके यहां पालनेको रख दिया जाय तो उसमें सलाम दुआ करना, मांस खाना, उसी पात्रसे पानी पीना उसीसे टट्टी जाना आदि सभी बातें मुसलमानों जैसी होने लगती हैं। यदि वह किसी भेड़ियेकी मांदमें चला जाता है तो वह चौपायोंकी तरह चलने लगता है, कपड़ा पहिनना भी उसे नहीं सुहाता, नाखूनसे दूसरोंको नोचता है, शरीरके आकारके सिवाय सारी बातें भेड़ियों जैसी हो जाती हैं। यदि किसी चाण्डालका बालक ब्राह्मणके यहां पले तो उसमें बहुत कुछ संस्कार ब्राह्मणोंके आ जाते हैं। हां, नौ माह तक चाण्डालीके शरीरसे जो संस्कार उसमें पड़े हैं वे कभी कभी उद्बुद्ध होकर उसके चाण्डालत्वका परिचय करा देते हैं। तात्पर्य यह कि मानवजातिकी नूतन पीढ़ीकेलिए बहुत कुछ मां बाप उत्तरदायी हैं। उनकी बुरी आदतें और खोटे विचार नवीन पीढ़ीमें अपना घर बना लेते हैं।

आज जगत्में सब चिल्ला रहे हैं कि—'संस्कृतिकी रक्षा करो, संस्कृति डूबी, संस्कृति डूबी उसे बचाओ।' इस संस्कृति नामपर उसके अजायबघरमें अनेक प्रकारकी बेहूदगी भरी हुई है। कल्पित ऊँच-नीच भाव, अमुकप्रकारके आचार-विचार, रहनसहन, बोलना-चालना, उठना बैठना आदि सभी शामिल हैं। इस तरह जब चारों ओर से संस्कृतिरक्षाकी आवाज आ रही है और यह उचित भी है, तो सबसे पहिले संस्कृतिकी ही परीक्षा होना जरूरी है। कहीं संस्कृतिके नामपर मानवजातिके विनाशके साधनोंका पोषण तो नहीं किया जा रहा है। ब्रिटेनमें अंग्रेज जाति यह प्रचार करती रही कि गोरी जातिको ईश्वरने काली जातिपर शासन करनेकेलिए ही भूतल पर भेजा है और इसी कुसंस्कृतिका प्रचार करके वे भारतीयोंपर शासन करते रहे। यह तो हम लोगोंने उनके ईश्वरको बाध्य किया कि वह अब उनसे कह दे कि अब शासन करना छोड़ दो और उसने बाध्य होकर छोड़ दिया। जर्मनीने अपने नवयुवकोंमें इस संस्कृतिका प्रचार किया था कि—जर्मन एक आर्यरक्त है। वह सर्वोत्तम है। वह यहूदियोंके विनाशकेलिए है और जगतमें शासन

करनेकी योग्यता उसीमें है। यह भाव प्रत्येक जर्मनयुवकमें उत्पन्न किया गया। उसका परिणाम द्वितीय महायुद्धके रूपमें मानवजातिको भोगना पड़ा और ऐसी ही कुसंस्कृतियोंके प्रचारसे तीसरे महायुद्धकी सामग्री इकट्ठी की जा रही है।

भारतवर्षमें सहस्रों वर्षसे जातिगत उच्चता नीचता, छुआछूत, दासीदासप्रथा और स्त्रीको पददलित करनेकी संस्कृतिका प्रचार धर्मके ठेकेदारोंने किया और भारतीय प्रजाके बहुभागको अस्पृश्य घोषित किया, स्त्रियोंको मात्र भोगविलासकी सामग्री बनाकर उन्हें पशुसे भी बदतर अवस्थामें पहुँचा दिया। रामायण जैसे धर्म-ग्रन्थमें "**ढोल गवांर शूद्र पशु नारी ये सब ताड़नके अधिकारी।**" जैसी व्यवस्थाएँ दी गयीं हैं और मानवजातिमें अनेक कल्पित भेदोंकी सृष्टि करके एक वर्गके शोषणको वर्गविशेषके शासन और विलासको प्रोत्साहन दिया, उसे पुण्यका फल बनाया और उसके उच्छिष्ट कणोंसे अपनी जीविका चलाई। नारी और शूद्र पशुके समान करार दिये गये और उन्हें ढोलकी तरह ताड़नाका पात्र बनाया। इस धर्मव्यवस्था को आज संस्कृतिके नामसे पुकारा जाता है। जिस पुरोहितवर्गकी धर्मसे आजीविका चलती है उनकी पूरी सेना इस संस्कृतिकी प्रचारिका है। पशुओंको ब्रह्माने यज्ञके लिए उत्पन्न किया है अतः ब्रह्माजीके नियमके अनुसार उन्हें यज्ञमें झोंको। गौकी रक्षाके बहाने मुसलमानोंको गालियां दी जाती हैं पर इन याज्ञिकोंकी यज्ञशालामें गोमेध यज्ञ धर्मके नामपर बराबर होते थे। अतिथि सत्कारके लिए इन्हें गायकी बछियाका भर्ता बनानेमें कोई संकोच नहीं था। कारण स्पष्ट था–'ब्राह्मण ब्रह्माका मुख है, धर्मशास्त्रकी रचना उसके हाथमें थी।' अपने वर्गके हितकेलिए वे जो चाहें लिख सकते थे। उनने तो यहांतक लिखनेका साहस किया है कि–"ब्रह्माजीने सृष्टिको उत्पन्न करके ब्राह्मणोंको सौंप दी थी अर्थात् ब्राह्मण इस सारी सृष्टिके ब्रह्माजीसे नियुक्त स्वामी हैं। ब्राह्मणोंकी असावधानीसे ही दूसरे लोग जगत्‌के पदार्थोंके स्वामी बने हुए हैं। यदि ब्राह्मण किसीको मारकर भी उसकी संपत्ति छीन लेता है तो वह अपनी ही वस्तु वापिस लेता है। उसकी वह लूट सत्कार्य है। वह उस व्यक्तिका उद्धार करता है।" इन ब्रह्ममुखोंने ऐसी ही स्वार्थपोषण करनेवाली व्यवस्थाएँ प्रचारित कीं, जिससे दूसरे लोग ब्राह्मणके प्रभुत्वको न भूलें। गर्भसे लेकर मरणतक सैकड़ों संस्कार इनकी आजीविकाकेलिए कायम हुए। मरणके बाद श्राद्ध, वार्षिक त्रैवार्षिक आदि श्राद्ध इनकी जीविकाके आधार बने। प्राणियोंके नैसर्गिक अधिकारोंको अपने आधीन बनानेके आधारपर संस्कृतिके नामसे प्रचार होता रहा है। ऐसी दशामें इस संस्कृतिका सम्यग्दर्शन हुए बिना जगत्‌में शान्ति और व्यक्तिकी मुक्ति कैसे हो सकती है? वर्गविशेषकी प्रभुताके लिए किया जानेवाला यह विषैला प्रचार ही मानवजातिके पतन और भारतकी पराधीनताका कारण हुआ है। आज भारतमें स्वातन्त्र्योदय होनेपर भी वही जहरीली धारा 'संस्कृतिरक्षा' के नामपर युवकोंके कोमल मस्तिष्कोंमें प्रवाहित करनेका पूरा प्रयत्न वही वर्ग कर रहा है।

हिंदीकी रक्षाके पीछे वही भाव है। पुराने समयमें इस वर्गने संस्कृतको महत्ता दी थी और संस्कृतके उच्चारणको पुण्य और दूसरी जनभाषा-अपभ्रंशके उच्चारणको पाप बताया था। नाटकोंमें स्त्री और शूद्रोंसे अपभ्रंश या प्राकृत भाषाका बुलवाया जाना उसी भाषाधारित उच्चनीच भावका प्रतीक है। आज संस्कृतनिष्ठ हिन्दीका समर्थन करनेवालोंका बड़ा भाग जनभाषाकी अवहेलनाके भावसे ओतप्रोत है। अतः जबतक जगत्‌के प्रत्येक द्रव्यकी अधिकारसीमाका वास्तविक यथार्थदर्शन न होगा तबतक यह धाँधली चलती ही रहेगी। धर्मरक्षा, संस्कृतिरक्षा, गोरक्षा, हिन्दीरक्षा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, धर्मसंघ आदि इसके आवरण हैं।

जैन संस्कृतिने आत्माके अधिकार और स्वरूपकी ओर ही सर्वप्रथम ध्यान दिलाया और कहा कि इसका सम्यग्दर्शन हुए बिना बन्धनमोक्ष नहीं हो सकता। उसकी स्पष्ट घोषणा है—

(१) प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है उसका मात्र अपने विचार और अपनी क्रियाओंपर अधिकार है, वह अपने ही गुण पर्यायका स्वामी है। अपने सुधार-बिगाड़का स्वयं जिम्मेदार है।

(२) कोई ऐसा ईश्वर नहीं जो जगत्के अनन्त पदार्थोंपर अपना नैसर्गिक अधिकार रखता हो, पुण्य पापका हिसाब रखता हो और स्वर्ग या नरकमें जीवोंको भेजता हो, सृष्टिका नियन्ता हो।

(३) एक आत्माका दूसरी आत्मापर तथा जड़ द्रव्योंपर कोई स्वाभाविक अधिकार नहीं है। दूसरी आत्माको अपने अधीन बनानेकी चेष्टा ही अनधिकार चेष्टा अत एव हिंसा और मिथ्या दृष्टि है।

(४) दूसरी आत्माएँ अपने स्वयंके विचारोंमे यदि किसी एकको अपना नियन्ता लोक-व्यवहारकेलिए नियुक्त करती या चुनती हैं तो यह उन आत्माओंका अपना अधिकार हुआ न कि उस चुने जानेवाले व्यक्तिका जन्मसिद्ध अधिकार। अतः सारी लोक-व्यवहार व्यवस्था सहयोगपर ही निर्भर है न कि जन्मजात अधिकारपर।

(५) ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्णव्यवस्था अपने गुणकर्मके अनुसार है जन्मसे नहीं।

(६) गोत्र एक जन्ममें भी बदलता है, वह गुण-कर्मके अनुसार परिवर्तित होता है।

(७) परद्रव्योंका संग्रह और परिग्रह ममकार और अहंकारका हेतु होनेसे बन्धकारक है।

(८) दूसरे द्रव्योंको अपने अधीन बनानेकी चेष्टा ही समस्त अशान्ति दुःख संघर्ष और हिंसाका मूल है। जहां तक अचेतन पदार्थोंके परिग्रहका प्रश्न है यह छीनाझपटीका कारण होनेसे संक्लेशकारक है, अतः हेय है।

(९) स्त्री हो या पुरुष धर्ममें उसे कोई रुकावट नहीं। यह जुदी बात है कि स्त्री अपनी शारीरिक मर्यादाके अनुसार ही विकास कर सकती हो।

(१०) किसी वर्गविशेषका जन्मजात कोई धर्मका ठेका नहीं है। प्रत्येक आत्मा धर्मका अधिकारी है। ऐसी कोई क्रिया धर्म नहीं हो सकती जिसमें प्राणिमात्र का अधिकार न हो।

(११) भाषा भावोंको दूसरेतक पहुँचानेका माध्यम है। अतः जनताकी भाषा ही ग्राह्य है।

(१२) वर्ण जाति रंग और देश आदिके कारण आत्माधिकारमें भेद नहीं हो सकता, ये सब शरीराश्रित हैं।

(१३) हिंदू मुसलमान सिख ईसाई जैन बौद्ध आदि पन्थभेद भी आत्माधिकारके भेदक नहीं हैं।

(१४) वस्तु अनेकधर्मात्मक है उसका विचार उदारदृष्टिसे होना चाहिए।

सीधी बात तो यह है कि हमें एक ईश्वरवादी शासकसंस्कृतिका प्रचार इष्ट नहीं है। हमें तो प्राणिमात्रको समुन्नत बनानेका अधिकार स्वीकार करनेवाली सर्वसमभावी संस्कृतिका प्रचार करना है।

जबतक हम इस सर्वसमानाधिकारवाली सर्वसमा संस्कृतिका प्रचार नहीं करेंगे तबतक जातिगत उच्चत्व नीचत्व, बाह्याश्रित तुच्छत्व आदिके दूषित विचार पीढ़ी दरपीढ़ी मानवसमाजको पतनकी ओर ले जायँगे। अतः मानव समाजकी उन्नतिके लिए आवश्यक है कि संस्कृति और धर्म विषयक दर्शन स्पष्ट और सम्यक् हो। उसका आधार सबभूतमैत्री हो न कि वर्ग विशेषका प्रभुत्व या जाति विशेषका उच्चत्व।

इस तरह जब हम इस आध्यात्मिक संस्कृतिके विषयमें स्वयं सम्यग्दर्शन प्राप्त करेंगे तभी हम मानवजातिका विकास कर सकेंगे। अन्यथा यदि हमारी दृष्टि मिथ्या हुई तो हम तो पतित है ही अपनी सन्तान और मानव जातिका बड़ा भारी अहित उस विषाक्त सर्वकषा संस्कृतिका प्रचार करके करेंगे। अतः मानवसमाजके पतनका मुख्य कारण मिथ्यादर्शन और उत्थानका मुख्य साधन सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। जब हम स्वयं इन सर्वसमभावी उदार भावोंसे सुसंस्कृत होंगे तो वही संस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्तानमें तथा विचारप्रचार द्वारा पास पड़ोसके मानवसन्तानोंमें जायँगे और इस तरह हम ऐसी नूतन पीढ़ीका निर्माण करनेमें समर्थ होंगे जो अहिंसक समाज रचनाका आधार बनेगी। यही भारतभूमिकी विशेषता है जो इसने महावीर और बुद्ध जैसे श्रमणसन्तों द्वारा इस उदार आध्यात्मिकताका सन्देश जगत्को दिया। आज विश्व भौतिकविषमतासे त्राहि त्राहि कर रहा है। जिनके हाथमें बाह्य

साधनोंकी सत्ता है अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टिसे जो अत्यधिक अनधिकार चेष्टा कर पर द्रव्योंको हस्तगत करनेके कारण मिथ्यादृष्टि और बंधवान् हैं वे उस सत्ताका उपयोग दूसरी आत्माओंको कुचलनेमें करना चाहते हैं, और चाहते हैं कि संसारके अधिकसे अधिक पदार्थोंपर उनका अधिकार हो और इसी लिप्साके कारण वे संघर्ष हिंसा अशान्ति ईर्षा युद्ध जैसी तामस भावनाओंका सृजन कर विश्वको कलुषित कर रहे हैं। धन्य है, इस भारतको जो उसने इस बीसवीं सदीमें भी हिंसा बर्बरता के इस दानवयुगमें भी उसी आध्यात्मिक मानवताका संदेश देनेके लिए गान्धी जैसे सन्तको उत्पन्न किया। पर हाय अभागे भारत, तेरे ही एक कपूतने, कपूतने नहीं, उस सर्वकषा संस्कृतिने जिसमें जातिगत उच्चत्व आदि कुभाव पुष्ट होते रहे हैं और जिसके नाम पर करोड़ों धर्मजीवी लोगोंकी आजीविका चलती है, उस सन्तके शरीरको गोलीका निशाना बनाया। गान्धीकी हत्या व्यक्तिकी हत्या नहीं है **यह तो** उस अहिंसक सर्वसमा संस्कृतिके हृदयपर उस दानवी, साम्प्रदायिक, हिन्दूकी ओटमें हिंसक **विद्वेषिणी सर्वकषा** संस्कृतिका प्रहार है। अतः मानवजातिके विकास और समुत्थानके लिए हमें संस्कृति **विषयक सम्यग्दर्शन** प्राप्त करना ही होगा और सर्वसमा आध्यात्मिक अहिंसक संस्कृतिके द्वारा आत्मस्वरूप और आत्माधिकारका सम्यग्ज्ञान लाभ करके उसे जीवनमें उतारना होगा तभी हम बन्धनमुक्त हो सकेंगे, स्वयं स्वतन्त्र रह सकेंगे और दूसरोंको स्वतन्त्र रहनेकी उच्चभूमिका तैयार कर सकेंगे।

सारांश यह कि पतनका, चाहे वह सामाजिक हो राष्ट्रीय हो या वैयक्तिक–मूल कारण मिथ्यादर्शन अर्थात् दृष्टिका मिथ्यापन-स्वरूपविभ्रम ही है। दृष्टिमिथ्यात्वके कारण ज्ञान मिथ्या बनता है और फिर समस्त क्रियाएँ और आचरण मिथ्या हो जाते हैं। उत्थानका क्रम भी दृष्टिके सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञानकी गति सम्यक् हो जाती है और समस्त प्रवृत्तियाँ सम्यक्त्वको प्राप्त हो जाती हैं। इसप्रकार बन्धनका कारण मिथ्यात्व और मुक्तिका कारण सम्यक्त्व होता है।

अध्यात्म और नियतिवाद का सम्यग्दर्शन–

पदार्थस्थिति–"नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः"–जगतमें जो सत् है उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता और सर्वथा नए किसी असत्का सद्रूपमें उत्पाद नहीं हो सकता। जितने मौलिक द्रव्य इस जगतमें अनादिसे विद्यमान हैं वे अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल अणु, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इनसे यह लोक व्याप्त है। ये छह जातिके द्रव्य मौलिक हैं, इनमेंसे न तो एक भी द्रव्य कम हो सकता है और न कोई नया उत्पन्न होकर इनकी संख्यामें वृद्धि ही कर सकता है। कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्यरूपमें परिणमन नहीं कर सकता। जीव जीव ही रहेगा पुद्गल नहीं हो सकता। जिस तरह विजातीय द्रव्यरूपमें किसी भी द्रव्यका परिणमन नहीं होता उसी तरह एक जीव दूसरे सजातीय जीवद्रव्यरूप या एक पुद्गल दूसरे सजातीय पुद्गलद्रव्यरूपमें परिणमन भी नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायों-अवस्थाओंकी धारामें प्रवाहित है। वह किसी भी विजातीय या सजातीय द्रव्यान्तरकी धारामें नहीं मिल सकता। यह सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तरमें असंक्रान्ति ही प्रत्येक द्रव्यकी मौलिकता है। इन द्रव्योंमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्योंका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है, इनमें विकार नहीं होता, एक जैसा परिणमन प्रतिसमय होता रहता है। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें शुद्धपरिणमन भी होता है तथा अशुद्ध परिणमन भी। इन दो द्रव्योंमें क्रियाशक्ति भी है जिससे इनमें हलन-चलन, आना-जाना आदि क्रियाएँ होती हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं, वे जहाँ हैं वहीं रहते हैं। आकाश सर्वव्यापी है। धर्म और अधर्म लोकाकाशके बराबर हैं। पुद्गल और काल अणुरूप हैं। जीव असंख्यातप्रदेशी है और अपने शरीरप्रमाण विविध आकारोंमें मिलता है। एक पुद्गलद्रव्य ही ऐसा है जो सजातीय अन्य पुद्गलद्रव्योंसे मिलकर स्कन्ध बन जाता है और कभी कभी इनमें इतना रासायनिक मिश्रण हो जाता है कि उसके अणुओंकी पृथक् सत्ताका भान करना भी कठिन होता है। तात्पर्य यह कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यमें अशुद्ध परिणमन होता है और वह एक दूसरे

के निमित्तसे। पुद्गलमें इतनी विशेषता है कि उसकी अन्य सजातीय पुद्गलोंसे मिलकर स्कन्ध-पर्याय भी होती है पर जीवकी दूसरे जीवसे मिलकर स्कन्ध पर्याय नहीं होती। दो विजातीय द्रव्य बँधकर एक पर्याय प्राप्त नहीं कर सकते। इन दो द्रव्योंके विविध परिणमनोंका स्थूलरूप यह दृश्य जगत् है।

द्रव्य-परिणमन–प्रत्येक द्रव्य परिणामीनित्य है। पूर्वपर्याय नष्ट होती है उत्तर उत्पन्न होती है पर मूलद्रव्यकी धारा अविच्छिन्न चलती है। यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता प्रत्येक द्रव्यका निजी स्वरूप है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्योंका सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। जीवद्रव्यमें जो मुक्त जीव हैं उनका परिणमन शुद्ध ही होता है कभी भी अशुद्ध नहीं होता। संसारी जीव और अनन्त पुद्गलद्रव्यका शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही प्रकारका परिणमन होता है। इतनी विशेषता है हैं कि जो संसारी जीव एकबार मुक्त होकर शुद्ध परिणमनका अधिकारी हुआ वह फिर कभी भी अशुद्ध नहीं होगा, पर पुद्गलद्रव्यका कोई नियम नहीं है। वे कभी स्कन्ध बनकर अशुद्ध परिणमन करते हैं तो परिमाणुरूप होकर अपनी शुद्ध अवस्थामें आ जाते हैं फिर स्कन्ध बन जाते हैं इस तरह उसका विविध परिणमन होता रहता है। जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है, उसके कारण विभाव परिणमनको भी प्राप्त होते हैं।

द्रव्यगतशक्ति–धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक एक एक हैं। कालाणु असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणुमें एक-जसी शक्तियाँ हैं। वर्तना करनेकी जितने अविभागप्रतिच्छेदवाली शक्ति एक कालाणुमें है वैसी ही दूसरे कालाणुमें। इस तरह कालाणुओंमें परस्पर शक्ति-विभिन्नता या परिणमनविभिन्नता नहीं है। पुद्गलद्रव्यके एक अणुमें जितनी शक्तियाँ हैं उतनी ही और वैसी ही शक्तियाँ परिणमन-योग्यताएँ अन्य पुद्गलाणुओंमें हैं। मूलतः पुद्गल-अणुद्रव्योंमें शक्तिभेद, योग्यताभेद या स्वभावभेद नहीं है। यह तो सम्भव है कि कुछ पुद्गलाणु मूलतः स्निग्ध स्पर्शवाले हों और दूसरे मूलतः रूक्ष, कुछ शीत और कुछ उष्ण, पर उनके ये गुण भी नियत नहीं है, रूक्षगुणवाला भी अणु स्निग्धगुणवाला बन सकता है तथा स्निग्धगुणवाला भी रूक्ष, शीत भी उष्ण बन उकता है उष्ण भी शीत। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें ऐसा कोई जातिभेद नहीं है जिससे किसी भी पुद्गलाणुका पुद्गलसम्बन्धी कोई परिणमन न हो सकता हो। पुद्गलद्रव्यके जितने भी परिणमन हो सकते हैं उन सबकी योग्यता और शक्ति प्रत्येक पुद्गलाणुमें स्वभावतः है। यही द्रव्यशक्ति कहलाती है। स्कन्ध अवस्थामें पर्यायशक्तियाँ विभिन्न हो सकती हैं। जैसे किसी अग्निस्कन्धमें सम्मिलित परमाणुका उष्णस्पर्श और तेजोरूप था, पर यदि वह अग्निस्कन्धसे जुदा हो जाय तो उसका शीतस्पर्श तथा कृष्णरूप हो सकता है, और यदि वह स्कन्ध ही भस्म बन जाय तो सभी परमाणुओंका रूप और स्पर्श आदि बदल सकते हैं।

सभी जीवद्रव्योंकी मूल स्वभावशक्तियाँ एक जैसी हैं, ज्ञानादि अनन्तगुण और अनन्त चैतन्य-परिणमनकी शक्ति मूलतः प्रत्येक जीवद्रव्यमें है। हाँ, अनादिकालीन अशुद्धताके कारण उनका विकास विभिन्न प्रकारसे होता है। चाहे भव्य हो या अभव्य दोनों ही प्रकारके प्रत्येक जीव एक-जैसी शक्तियोंके आधार हैं। शुद्ध दशामें सभी एक जैसी शक्तियोंके स्वामी बन जाते हैं और प्रतिसमय अखण्ड शुद्ध परिणमनमें लीन रहते हैं। संसारी जीवोंमें भी मूलतः सभी शक्तियाँ हैं। इतना विशेष है कि अभव्यजीवोंमें केवल ज्ञानादि शक्तियोंके आविर्भावकी शक्ति नहीं मानी जाती। उपर्युक्त विवेचनसे एक बात निर्विवादरूपसे स्पष्ट हो जाती है कि चाहे द्रव्य चेतन हो या अचेतन, प्रत्येक मूलतः अपनी अपनी चेतन-अचेतन शक्तियोंका धनी है उनमें कहीं कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है। अशुद्ध दशामें अन्य पर्यायशक्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं और विलीन होती रहती हैं।

परिणमनके नियतत्वकी सीमा—उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि द्रव्योंमें परिणमन होनेपर भी कोई भी द्रव्य सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं कर सकता। अपनी धारामें सदा उसका परिणमन होता रहता है। द्रव्यगत मूल स्वभावकी अपेक्षा प्रत्येक द्रव्यके अपने परिणमन नियत हैं। किसी भी पुद्गलाणुके वे सभी पुद्गलसम्बन्धी परिणमन यथासमय हो सकते हैं और किसी भी जीवके जीवसम्बन्धी अनन्त परिणमन। यह तो सम्भव है कि कुछ पर्यायशक्तियोंसे सीधा

सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन कारणभूत पर्यायशक्तिके न होने पर न हों। जैसे प्रत्येक पुद्गलपरमाणु यद्यपि घट बन सकता है फिर भी जबतक अमुक परमाणु मिट्टी स्कन्धरूप पर्यायको प्राप्त न होंगे तब तक उनमें मिट्टीरूप पर्यायशक्तिके विकाससे होनेवाली घटपर्याय नहीं हो सकती। परन्तु मिट्टी पर्यायसे होनेवाली घट सकोरा आदि जितनी पर्यायें सम्भवित हैं वे निमित्त के अनुसार कोई भी हो सकती हैं। जैसे जीवमें मनुष्यपर्यायमें आँखसे देखनेकी योग्यता विकसित है तो वह अमुक समयमें जो भी सामने आयगा उसे देखेगा। यह कदापि नियत नहीं है कि अमुक समयमें अमुक पदार्थको ही देखनेकी उसमें योग्यता है शेषकी नहीं, या अमुक पदार्थमें उस समय उसके द्वारा ही देखे जानेकी योग्यता है अन्यके द्वारा नहीं। मतलब यह कि परिस्थितिवश जिस पर्यायशक्तिका द्रव्यमें विकास हुआ है उस शक्तिसे होनेवाले यावत्कार्योंमेंसे जिस कार्यकी सामग्री या बलवान् निमित्त मिलेंगे उसके अनुसार उसका वैसा परिणमन होता जायगा। एक मनुष्य गद्दीपर बैठा है उस समय उसमें हँसना-रोना, आश्चर्य करना, गम्भीरतासे सोचना आदि अनेक कार्योंकी योग्यता है। यदि बहुरूपिया सामने आजाय और उसकी उसमें दिलचस्पी हो तो हँसनेरूप पर्याय हो जायगी। कोई शोकका निमित्त मिल जाय तो रो भी सकता है। अकस्मात् बात सुनकर आश्चर्यमें डूब सकता है और तत्त्वचर्चा सुनकर गम्भीरतापूर्वक सोच भी सकता है। इसलिए यह समझना कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है उसमें कुछ भी हेर-फेर नहीं हो सकता और न कोई हेर-फेर कर सकता है' द्रव्यके परिणमनस्वभावको गम्भीरतासे न सोचनेके कारण भ्रमात्मक है। द्रव्यगत परिणमन नियत हैं। अमुक स्थूलपर्यायगत शक्तियोंके परिणमन भी नियत हो सकते हैं, जो उस पर्यायशक्तिके सम्भावनीय परिणमनोंमेंसे किसी एकरूपमें निमित्तानुसार सामने आते हैं। जैसे एक अंगुली अगले समय टेढ़ी हो सकती है, सीधी रह सकती है, टूट सकती है, घूम सकती है, जैसी सामग्री और कारण-कलाप मिलेंगे उसमें विद्यमान इन सभी योग्यताओंमेंसे अनुकूल योग्यताका विकास हो जायगा। उस कारणशक्तिसे वह अमुक परिणमन भी नियत कराया जा सकता है जिसकी पूरी सामग्री अविकल हो और प्रतिबन्धक कारणकी सम्भावना न हो, ऐसी अन्तिम-क्षणप्राप्त शक्तिसे वह कार्य नियत ही होगा, पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिक्षणका परिणमन सुनिश्चित है उसमें जिसे जो निमित्त होना है नियतिचक्रके पेटमें पड़कर ही वह उसका निमित्त बनेगा ही। यह अतिसुनिश्चित है कि हरएक द्रव्यका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होना ही चाहिए। पुराने संस्कारोंके परिणामस्वरूप कुछ ऐसे निश्चित कार्यकारणभाव बनाए जा सकते हैं जिनसे यह नियत किया जा सकता है कि अमुक समयमें इस द्रव्यका ऐसा परिणमन होगा ही, पर इस कारणताकी अवश्यभाविता सामग्रीकी अविकलता तथा प्रतिबन्धक-कारणकी शून्यता पर ही निर्भर है। जैसे हल्दी और चूना दोनों एक जलपात्रमें डाले गये तो यह अवश्यंभावी है कि उनका लालरंगका परिणमन हो। एक बात यहाँ यह खासतौरसे ध्यानमें रखनेकी है कि अचेतन परमाणुओंमें बुद्धिपूर्वक क्रिया नहीं हो सकती। उनमें अपने संयोगोंके आधारसे ही क्रिया होती है, भले ही वे संयोग चेतन द्वारा मिलाए गए हों या प्राकृतिक कारणोंसे मिले हों। जैसे पृथिवीमें कोई बीज पड़ा हो तो सरदी गरमीका निमित्त पाकर उसमें अंकुर आ जायगा और वह पल्लवित पुष्पित होकर पुनः बीजको उत्पन्न कर देगा। गरमीका निमित्त पाकर जल भाप बन जायगा। पुनः सरदीका निमित्त पाकर भाप जलके रूपमें बरसकर पृथिवीको शस्यश्यामल बना देगा। कुछ ऐसे भी अचेतन द्रव्योंके परिणमन हैं जो चेतन निमित्तसे होते हैं जैसे मिट्टीका घड़ा बनना या रुईका कपड़ा बनना। तात्पर्य यह कि अतीतके संस्कारवश वर्तमान क्षणमें जितनी और जैसी योग्यताएँ विकसित होंगी और जिनके विकासके अनुकूल निमित्त मिलेंगे द्रव्योंका वैसा वैसा परिणमन होता जायगा। भविष्यका कोई निश्चित कार्यक्रम द्रव्योंका बना हुआ हो और उसी सुनिश्चित अनन्त क्रमपर यह जगत चल रहा हो यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है।

नियताऽनियतत्ववाद—जैन दृष्टिसे द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके प्रतिक्षणके परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्यकी उस समयकी योग्यतासे जितने प्रकारके परिणमन हो सकते हैं उनमेंसे कोई भी परिणमन जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी हो जायगा। तात्पर्य कियह

प्रत्येक द्रव्यकी शक्तियाँ तथा उनसे होनेवाले परिणमनोंकी जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गलके परिणमन जीवमें तथा जीवके परिणमन पुद्गलमें नहीं हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनों धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेदसे सम्भव हैं।

जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यका ही खेल यह जगत है। इनकी अपनी द्रव्यशक्तियाँ नियत हैं। संसारमें किसीकी शक्ति नहीं जो द्रव्यशक्तियोंमेंसे एकको भी कम कर सके या एकको बढ़ा सके। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्यायके कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्यायको प्राप्त पुद्गलसे तेल नहीं निकल सकता, वह सोना नहीं बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योंकि मिट्टी पर्यायवाले पुद्गलोंकी वह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बनने की, अंकुरको उत्पन्न करनेकी, बर्तनोंके शुद्ध करनेकी, प्राकृतिक चिकित्सामें उपयोग आनेकी आदि पचासों पर्याय योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी अगले क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्यायमें घड़ा बननेकी योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेंटके साथ मिलकर दीवालपर पुष्ट लेप करनेकी योग्यता प्रकट है, वह कांच बन सकती है या वही पर लिखी जानेवाली काली स्याहीका शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्यायमें ये योग्यताएँ अप्रकट हैं। तात्पर्य यह कि :—

(१) प्रत्येक द्रव्यकी मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत हैं उनकी संख्यामें न्यूनाधिकता कोई नहीं कर सकता। पर्यायके अनुसार कुछ शक्तियां प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय योग्यता कहते हैं। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूप से तथा अचेतनका चेतनरूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्यका दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूपसे परिणमन नहीं हो सकता। (४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिलकर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अनेक अचेतन परमाणु मिलकर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (५) यह भी नियत है कि द्रव्यमें उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ हैं उनमें जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएं केवल सद्भावमें रहेंगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्यका कोई न कोई परिणमन अगले क्षणमें अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यताओं और पर्यायगत प्रकट योग्यताओंकी सीमाके भीतर ही होगा बाहर कदापि नहीं। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यताका ही विकास करता है, उसमें नूतन-सर्वथा असद्भूत परिणमन उपस्थित नहीं कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अपने परिणमनका उपादान होता है। उस समयकी पर्याययोग्यतारूप उपादानशक्तिकी सीमाके बाहिरका कोई परिणमन निमित्त नहीं ला सकता। परन्तु—

(१) यही एक बात अनियत है कि **'अमुक समयमें अमुक परिणमन ही होगा।'** मिट्टीकी पिंड-पर्यायमें घड़ा सकोरा सुराई दिया आदि अनेक पर्यायोंके प्रकटानेकी योग्यता है। कुम्हारकी इच्छा और क्रिया आदिका निमित्त मिलनेपर उनमेंसे जिसकी अनकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षणमें उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्टीकी यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्भाव रूपसे होना था, पानीकी यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यताके अज्ञानका फल है।

नियतिवाद नहीं—जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है, इस प्रकारके निष्क्रिय नियतिवादके विचार जैनतत्त्वस्थितिके प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं उनमें हमारा कोई पुरुषार्थ नहीं, हमारा पुरुषार्थ तो कोयलेकी हीरापर्यायके विकास करानेमें है। यदि कोयलेके लिए उसकी हीरापर्यायके विकासके लिए आवश्यक सामग्री न मिले तो या तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानिमें ही पड़े पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसमें उपादान शक्ति नहीं है उसका परिणमन भी निमित्तसे हो सकता है या निमित्तमें यह शक्ति है जो निरुपादानको परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष–एकबार 'ईश्वरवाद'के विरुद्ध छात्रोंने एक प्रहसन खेला था। उसमें एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वरने समस्त दुनियाके पदार्थोंका कार्यक्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थकी अमुक समयमें यह दशा होगी इसके बाद यह,सब सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि—'हम क्या कर सकते हैं? ईश्वरने ऐसा ही नियत किया था। ईश्वरके नियतिचक्रमें हमारा हस्तक्षेप उचित नहीं "ईश्वरकी मर्जी"। एकबार कुछ गुण्डोंने राजाके सामने ही रानीका अपहरण किया। जब रानीने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजाको क्रोध आया तब गुण्डोंके सरदारने जोरसे कहा–"ईश्वरकी मर्जी"। राजाके हाथ ढीले पड़ते हैं और वे गुण्डे रानीको उसके सामने ही उठा ले जाते हैं। गुण्डे रानीको भी समझाते हैं कि 'ईश्वरकी मर्जी यही थी' रानी भी 'विधिविधान' में अटल विश्वास रखती थी और उन्हें आत्म समर्पण कर देती है। राज्यमें अव्यवस्था फैलती है और परचक्रका आक्रमण होता है और राजाकी छातीमें दुश्मनकी जो तलवार घुसती है वह भी 'ईश्वरकी मर्जी' इस जहरीले विश्वासविषसे बुझी हुई थी और जिसे राजाने विधिविधान मानकर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी गुण्डों और शत्रुओंके आक्रमणके समय "ईश्वरकी मर्जी" "विधिका विधान" इन्हीं ईश्वरास्त्रोंका प्रयोग करते थे और ईश्वरसे ही रक्षाकी प्रार्थना करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर भी क्या करता? गुण्डे और शत्रुओंका कार्यक्रम भी उसीने बनाया था और वे भी 'ईश्वरकी मर्जी' और 'विधिविधान'की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवादमें इतनी गुंजाइश थी कि यदि ईश्वर चाहता तो अपने विधानमें कुछ परिवर्तन कर देता। आज श्री कानजी स्वामीकी 'वस्तुविज्ञानसार' पुस्तकको पलटते समय उस प्रहसनकी याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवादका कालकूट 'ईश्वरवाद'से भी भयंकर है। ईश्वरवादमें इतना अवकाश है कि यदि ईश्वरकी भक्तिकी जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वरके विधानमें हेरफेर हो जाता है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मोंके अनुसार ही फलका विधान करता है। पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ'का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्मकी शक्करमें लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी सांपके जहरका एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूटका इस भीषण दृष्टिविषका कोई उपाय नहीं; क्योंकि हर एक द्रव्यकी हर समयकी पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकांत विषको अनेकान्त अमृतके नामसे कोमलमति नई पीढ़ीको पिलाकर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदाके लिए पुरुषार्थसे विमुख किया जा रहा है।

पुण्य और पाप क्यों?–जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नहीं है तब क्या पुण्य और क्या पाप? किसी मुसलमानने जैनप्रतिमा तोड़ी, तो जब मुसलमानको उस समय प्रतिमाको तोड़ना ही था, प्रतिमाको उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो बिचारे मुसलमान का क्या अपराध? वह तो नियतिचक्रका दास था। एक याज्ञिक ब्राह्मण बकरेकी बलि चढ़ाता है तो क्यों उसे हिंसक कहा जाय—'देवीकी ऐसी ही पर्याय होनी थी, बकरेके गलेको कटना ही था, छुरेको उसकी गर्दनके भीतर घुसना ही था, ब्राह्मणके मुंहमें मांस जाना ही था, वेदमें ऐसा लिखा ही जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तब उस बिचारेको क्यों हत्यारा कहा जाय? हत्याकाण्ड रूपी घटना अनेक द्रव्योंके सुनिश्चित परिणमनका फल है। जिस प्रकार ब्राह्मणके छुरेका परिणमन बकरेके गलेके भीतर घुसनेका नियत था उसी प्रकार बकरेके गलेका परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुसवानेका निश्चित था। जब इन दोनों नियत घटनाओंका परिणाम बकरेका बलिदान है तो इसमें क्यों ब्राह्मणको हत्यारा कहा जाय? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट करनेवाला व्यक्ति क्यों दुराचारी गुण्डा कहा जाय? स्त्रीका परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुषका भी ऐसा ही, दोनों के नियत परिणमनोंका नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यों कहा जाय? इस तरह इस श्रोत्र विषरूप (जिसके सुननेसे ही

पुरुषार्थहीनताका नशा आता है) नियतिवादमें जब अपने भावोंका भी कर्तृत्व नहीं है अर्थात् ये भाव सुनिश्चित हैं तब पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा, सदाचार-दुराचार, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या ?

गोडसे हत्यारा क्यों?—यदि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिसमयका परिणमन नियत है, भले ही वह हमें न मालूम हो, तो किसी कार्यको पुण्य और किसी कार्यको पाप क्यों कहा जाय ? नाथूराम गोडसेने महात्माजीको गोली मारी तो क्यों नाथूरामको हत्यारा कहा जाय ? नाथूरामका उस समय वैसा ही परिणमन होना था महात्माजीका भी वैसा ही होना था और गोलीका और पिस्तौलका भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थोंके नियत कार्यक्रमका परिणाम है। इस घटनासे सम्बद्ध सभी पदार्थोंके परिणमन नियत थे। और उस सम्मिलित नियतिका परिणाम हत्या है। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजीके प्राणवियोगरूप परिणमनमें निमित्त हुआ है अतः अपराधी है तो महात्माजीको नाथूरामके गोली चलानेमें निमित्त होनेपर क्यों न अपराधी ठहराया जाय ? जिस प्रकार महात्माजीका वह परिणमन निश्चित था उसी प्रकार नाथूरामका भी। दोनों नियतिचक्रके सामने समानरूपसे दास थे । सो यदि नियतिदास नाथूराम हत्याका निमित्त होनेसे दोषी है तो महात्माजी भी नाथूरामकी गोली चलाने रूप पर्यायमें निमित्त होनेसे दोषी क्यों नहीं ? इन्हें जाने दीजिए, हम तो यह कहते हैं कि--पिस्तौलसे गोली निकलनी थी और गोलीको गाँधीजीकी छातीमें घुसना था इसलिए नाथूराम और महात्माजीकी उपस्थिति हुई । नाथूराम तो गोली और पिस्तौलके उस अवश्यम्भावी परिणमनका एक निमित्त था जो नियतिचक्र के कारण वहाँ पहुँच गया। जिनकी नियतिका परिणाम हत्या नामकी घटना है वे सब पदार्थ समानरूपसे नियतिचक्रसे प्रेरित होकर उस घटनामें अपने अपने नियत भवितव्यके कारण उपस्थित हैं। अब उनमें क्यों मात्र नाथूरामको पकड़ा जाता है ? बल्कि हम सबको उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरणको जज बनना था इसलिए वह सब हुआ। अतः हम सबको और आत्माचरणको ही पकड़ना चाहिए । अतः इस नियतिवादमें न कोई पुण्य है न पाप, न सदाचार न दुराचार । जब कर्तृत्व ही नहीं तब क्या सदाचार क्या दुराचार ? नाथूराम गोडसेको नियतिवादके आधारपर ही अपना बचाव करना चाहिए था, और सीधा आत्माचरणके ऊपर टूटना चाहिए था कि—चूँकि तुम्हें हमारे मुकदमेका जज होना था इसलिए इतना बड़ा नियतिचक्र चला और हम सब उसमें फंसे। यदि सब चेतनोंको छुड़ाना है तो पिस्तौल के भवितव्यको दोष देना चाहिए—न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता, न वह गोडसेके हाथमें आती और न गाँधीजीकी छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौलके नियत परिणमनका है। तात्पर्य यह कि इस नियतिवादमें सब साफ है। व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सबकुछ उन उन पदार्थोंके नियत परिणमनके परिणाम हैं, इसमें व्यक्तिविशेषका क्या दोष ? अतः इस सत्-असत् लोपक, पुरुषार्थ-विघातक नियतिवादके विषसे रक्षा करनी चाहिए ।

नियतिवादमें एक ही प्रश्न एक ही उत्तर—नियतिवादमें एक उत्तर है—'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमें न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि । वस्तुव्यवस्थामें इस प्रकारके मृत विचारोंका क्या उपयोग ? जगत्‌में विज्ञानसम्मत कार्यकारणभाव है। जैसी उपादान योग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतनका परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्रीके जुटानेमें है। एक अग्नि है, पुरुषार्थी यदि उसमें चन्दनका चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकलकर कमरेको सुवासित कर देता है, यदि बाल आदि पड़ते है तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न हो जाता है। यह कहना अत्यन्त भ्रान्त है कि चूराको उसमें पड़ना था, पुरुषको उसमें डालना था, अग्निको उसे ग्रहण करना ही था। इसमें यदि कोई हेर-फेर करना है तो नियतिवादीका वही उत्तर कि 'ऐसा ही होना था।'' मानो जगत्‌के परिणमनोंको 'ऐसा ही होना था' इस नियति-पिशाचिनीने अपनी गोदमें ले रखा हो !

नियतिवादमें स्वपुरुषार्थ भी नहीं—नियतिवादमें अनन्त पुरुषार्थकी बात तो जाने दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नहीं है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षणका कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्तकालका, उसमें हेरफेरका हमको भी अधिकार नहीं है तब हमारा पुरुषार्थ कहां ? और कहां हमारा सम्यग्दर्शन ?

हम तो एक महानियित चक्रके अंश हैं और उसके परिचलनके अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा पुरुषार्थ कहां होगा? कोई भी क्षण इस नियतिभूतकी मौजूदगीसे रहित नहीं है, जब हम सांस लेकर कुछ अपना भविष्य निर्माण कर सकें।

भविष्य निर्माण कहां? इस नियतिवादमें भविष्य निर्माणकी सारी योजनाएँ हवा हैं। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह भी नियतिचक्रमें सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि—तुममें उपादान योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बननेकी, सत् और असत् होनेकी है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्यका निर्माण स्वयं कर सकोगे।" पर जब नियतिचक्र निर्माण करनेकी बात पर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करें? हमारा हमारे ही परिणमनपर अधिकार नहीं है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थ-भ्रष्टताका इससे व्यापक उपदेश दूसरा नहीं हो सकता। इस नियतिचक्रमें सबका सब कुछ नियत है उसमें अच्छा क्या? बुरा क्या? हिंसा अहिंसा क्या?

सबसे बड़ा अस्त्र सर्वज्ञत्व—नियतिवादी या तथोक्त अध्यात्मवादियोंका सबसे बड़ा तर्क है कि—'सर्वज्ञ है या नहीं? यदि सर्वज्ञ है तो वह त्रिकालज्ञ होगा अर्थात् भविष्यज्ञ भी होगा। फलतः वह प्रत्येक पदार्थका अनन्तकाल तक प्रतिक्षण जो होना है उसे ठीक रूपमें जानता है। इस तरह प्रत्येक परमाणुकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है उनका परस्पर जो निमित्तनैमित्तिकजाल है वह भी उसके ज्ञानके बाहिर नहीं है।' सर्वज्ञ माननेका दूसरा अर्थ है नियतिवादी होना। पर, आज जो सर्वज्ञ नहीं मानते उनके सामने हम नियतितन्त्रको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? जिस अध्यात्मवादके मूलमें हम नियतिवादको पनपाते हैं उस अध्यात्मदृष्टिसे सर्वज्ञता व्यवहारनयकी अपेक्षासे है। निश्चयनयसे तो आत्मज्ञतामें ही उसका पर्यवसान होता है, जैसा कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसार (गा. १५८) में लिखा है—

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥"

अर्थात्—केवली भगवान् व्यवहारनयसे सब पदार्थोंको जानते देखते हैं। निश्चयसे केवलज्ञानी अपनी आत्माको ही जानता देखता है।

अध्यात्मशास्त्रगत निश्चयनयकी भूतार्थता और परमार्थता तथा व्यवहारनयकी अभूतार्थता और अपरमार्थता पर विचार करनेसे तो अध्यात्मशास्त्रमें पूर्णज्ञानका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञानमें ही होता है। अतः सर्वज्ञत्वकी दलीलका अध्यात्मचिन्तनमूलक पदार्थव्यवस्थामें उपयोग करना उचित नहीं है।

समग्र और अप्रतिबद्ध कारण ही हेतु—अकलंक देवने उस कारण को हेतु स्वीकार किया है जिसके द्वितीयक्षणमें नियमसे कार्य उत्पन्न हो जाय। उसमें भी यह शर्त है कि जब उसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध उपस्थित न हो तथा सामग्र्यन्तर्गत अन्य कारणोंकी विकलता न हो। जैसे अग्नि धूमकी उत्पत्तिमें अनुकूल कारण है पर यह तभी कारण हो सकती है जब इसकी शक्ति किसी मन्त्र आदि प्रतिबन्धकने न रोकी हो तथा धूमोत्पादक सामग्री-गीला ईंधन आदि पूरे रूपसे विद्यमान हो। यदि कारणका अमुक कार्यरूपमें परिणमन नियत हो तो प्रत्येक कारण को हेतु बनाया जा सकता था। पर कारण तबतक कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता जबतक उसकी सामग्री पूर्ण न हो और शक्ति अप्रतिबद्ध न हो। इसका स्पष्ट अर्थ है कि शक्तिकी अप्रतिबद्धता और सामग्री की पूर्णता जबतक नहीं होगी तबतक अमुक अनुकूल भी कारण अपना अमुक परिणमन नहीं कर सकता। अग्निमें यदि गीला ईंधन डाला जाय तो ही धूम उपन्न होगा अन्यथा वह धीरे २ राख बन जायगी। यह बिल्कुल निश्चित नहीं है कि उसे उस समय राख बनना ही है या धूम पैदा करना ही है। यह तो अनुकूल सामग्री जुटाने की बात है। जिस परिणमनकी सामग्री जुटेगी वही परिणमन उसका होगा।

रागादिका पुद्गलत्व—अध्यात्म शास्त्रमें रागादिको परभाव और पौद्गलिक बताया है। इसका कारण भी यह बताया गया है कि चूँकि ये भाव पुद्गलनिमित्तसे होते हैं अतः पुद्गलावलम्बन होनेसे पौद्गलिक हैं। सर्वार्थसिद्धिमें भावमनको इसीलिए पौद्गलिक बताया है कि वह पुद्गलनिमित्तक या पुद्गलावलम्बन है। रागादि या भावमनमें उपादान तो आत्मा ही है, आमा ही का परिणमन रागादि रूपसे होता है। यहाँ स्पष्टतः पुद्गलका या पर द्रव्य का सबलनिमित्तत्व स्वीकृत है। पर को निमित्त हुए बिना रागादिको परभाव कैसे कहा जा सकता है? अतः अध्यात्मभी उभयकारणोंसे कार्य होता है इस सर्वसम्मत कार्यकारणभावका निषेध नहीं करता। "**सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्**' अर्थात् सामग्रीसे कार्य होता है एक कारणसे नहीं, यह अनुभवसिद्ध कार्यकारणव्यवस्था है। कार्य उभयजन्य होनेपर भी चूँकि अध्यात्म उपादानका सुधार करना चाहता है अतः उपादानपर ही दृष्टि रखता है, और वह प्रति समय अपने मूलस्वरूप की याद दिलाता रहता है कि तेरा वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध है, यह रागादिकुभाव परनिमित्त से उत्पन्न होते हैं अतः परनिमित्तोंको छोड़। इसीमें अनन्त पुरुषार्थ है न कि नियतिवादकी निष्क्रियनामें।

उभय कारणोंसे कार्य—कार्योत्पत्तिके लिए दोनों ही कारण चाहिए उपादान और निमित्त; जैसा कि अनेकान्तदर्शी स्वामी समन्तभद्रने कहा है कि "**यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः**" अर्थात् कार्य बाह्य-अभ्यान्तर दोनों कारणोंसे होता है। वे बृहत्स्वयंभू स्तोत्रके वासुपूज्य स्तवनमें और भी स्पष्ट लिखते हैं कि—

"यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं न॥"

अर्थात् अन्तरंगमें विद्यमान मूलकारण अर्थात् उपादान योग्यताके गुण और दोषको प्रकट करनेमें जो बाह्य वस्तु कारण होती है वह उस उपादानके लिये अंगभूत अर्थात् सहकारी कारण है। केवल अभ्यन्तर कारण अपने गुणदोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है। भले ही अध्यात्मवृत्त पुरुषके लिए बाह्यनिमित्त गौण हो जाँय पर उनका अभाव नहीं हो सकता। वे अन्तमें उपसंहार करते हुए और भी स्पष्ट लिखते हैं—

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥"

अर्थात् कार्योत्पत्तिके लिए बाह्य और आभ्यन्तर, निमित्त और उपादान दोनों कारणोंकी समग्रता पूर्णता ही द्रव्यगत निजस्वभाव है। इसके बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

इस उभयकारणोंकी स्पष्ट घोषणाके रहते हुए भी केवल नियतिवादैकान्तका पोषण अनेकान्त दर्शन और अनन्त पुरुषार्थका रूप नहीं ले सकता।

यही अनाद्यनन्त वैज्ञानिक कारण-कार्यधारा ही द्रव्य है जिसमें पूर्वपर्याय अपनी सामग्रीके अनुसार सदृश, विसदृश, अर्धसदृश, अल्पसदृश आदिरूपसे अनेक पर्यायोंकी उत्पादक होती है। मान लीजिए एक जलबिन्दु है उसकी पर्याय बदल रही है, वह प्रतिक्षण जलबिन्दु रूपसे परिणमन कर रही है पर यदि गरमीका निमित्त मिलता है तो तुरन्त भाप बन जाती है। किसी मिट्टीमें यदि पड़ गई तो सम्भव है पृथिवी बन जाय। यदि साँपके मुँहमें चली गई तो जहर बन जायगी। तात्पर्य यह कि एकधारा पूर्व-उत्तर पर्यायों की बहती है उसमें जैसे जैसे संयोग होते जाँयगे उसका उस जातिमें परिणमन हो जायगा। गंगाकी धारा हरिद्वारमें जो है वह कानपुरमें नहीं। वह और कानपुरकी गटर आदिका संयोग पाकर इलाहाबादमें बदली और इलाहाबादकी गन्दगी आदिके कारण काशीकी गंगा जुदी ही हो जाती है। यहाँ यह कहना कि "गंगाके जलके प्रत्येक परमाणुका प्रतिसमयका सुनिश्चित कार्यक्रम बना हुआ है उसका जिस समय जो परिणमन होना है वह होकर ही रहेगा" द्रव्यकी विज्ञानसम्मत कार्यकारणपरम्पराके प्रतिकूल है।

समयसारमें निमित्ताधीन उपादान परिणमन—समयसार (गा० ८६।८८) में जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बताते हुए लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु कत्ता आदा सएण भावेण॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।"

अर्थात्–जीवके भावोंके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्गलकर्मोंके निमित्तसे जीव रागादिरूपसे परिणमन करता है। इतना समझ लेना चाहिए कि जीव उपादान बनकर पुद्गलके गुणरूपसे परिणमन नहीं कर सकता और न पुद्गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपमे परिणति कर सकता है। हाँ, परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोंका परिणमन होता है। इस कारण उपादान दृष्टिसे आत्मा अपने भावोंका कर्त्ता है पुद्गलके ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमनका कर्त्ता नहीं है।

इस स्पष्ट कथनसे कुन्दकुन्दाचार्यकी कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी दृष्टि समझमें आ जाती है। इसका विशद अर्थ यह है कि–प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान है, दूसरा उसका निमित्त हो सकता है उपादान नहीं। परस्पर निमित्तसे दोनों उपादानोंका अपने अपने भावरूपसे परिणमन होता है। इसमें निमित्त-नैमित्तिकभावका निषेध कहाँ है? निश्चयदृष्टिसे परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपका विचार है। उसमें कर्तृत्व अपने उपयोगरूपमें ही पर्यवसित होता है। अतः कुन्दकुन्दके मतसे अध्यात्ममें द्रव्यस्वरूपका वही निरूपण है जो आगे समन्तभद्रादि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया है।

मूलमें भूल कहां?––इसमें कहाँ मूलमें भूल है? जो उपादान है वह उपादान ही है, जो निमित्त है वह निमित्त ही है। कुम्हार घटका कर्त्ता है यह कथन व्यवहार हो सकता है; कारण, कुम्हार वस्तुतः अपनी हलन-चलनक्रिया तथा अपने घट बनानेके उपयोगका ही कर्त्ता है, उसके निमित्तसे मिट्टीके परमाणुओंमें वह आकार उत्पन्न हो जाता है। मिट्टीको घड़ा बनना ही था और कुम्हारके हाथको वैसा होना ही था और हमें उसकी व्याख्या ऐसी करनी ही थी, आपको ऐसा प्रश्न करना ही था और हमें यह उत्तर देना ही था। ये सब बातें न अनुभवसिद्ध कार्यकारणभावके अनुकूल ही हैं और न तर्कसिद्ध ही।

परम स्वपुरुषार्थी कुन्दकुन्दका अध्यात्म––आ० कुन्दकुन्दने अपने आध्यात्ममें यह बताया है कि यद्यपि कार्य निमित्त और उपादान दोनोंसे होता है पर निमित्तको यह अहंकार नहीं करना चाहिये कि "मैंने ऐसा किया।" यदि उपादानकी योग्यता न होती तो निमित्त कुछ नहीं कर सकता था। पर केवल उपादानकी योग्यता भी निमित्तके बिना अविकसित रह जाती है। प्रतिसमय विकसित होनेकी सैकड़ों योग्यताएँ हैं। जिसका अनुकूल निमित्त जुट जाता है उसका विकास हो जाता है। यही पुरुषार्थ है। श्री कुन्दकुन्द उस निमित्तपनेके अहंकारको निकालनेके लिए पर-अकर्तृत्वकी भावना पर जोर देते हैं। पर यह नियतिवादका भूत स्वकर्तृत्वको भी समाप्त कर रहा है। कुन्दकुन्द यह तो कहते ही हैं कि जीव अपने गुण-पर्यायोंका कर्ता है। पर इस नियतिवादमें जब सब सुनियत है तब रंचमात्र भी स्वकर्तृत्वको अवकाश नहीं है। कुन्दकुन्द जहां चरित्र दर्शन शील आदि पुरुषार्थों पर भार देकर यह कहते हैं कि इनके द्वारा अपनी आत्मामें बद्ध प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा करके शीघ्र मुक्त हो सकते हैं। वहां यह नियतिवाद कहता है––कि "शीघ्रताकी बात न करो, सब नियत है, होना होगा, हो जायगा।" कुन्दकुन्दकी दृष्टि तो यह है कि हम परकर्तृत्वका आरोप करकेही राग द्वेष मोहकी सृष्टि करते हैं। यदि हम यह समझ लें कि हम यदि किसीके परिणमनमें निमित्त हुए भी हैं तो इतने मात्रसे उसके स्वामी नहीं हो सकते, स्वामी तो उपादान ही होगा जिसका कि विकास हुआ है तो सारे झगड़े ही समाप्त हो जाँय। पर इसका यह अर्थ तो कदापि नहीं है जो स्वपुरुषार्थ या स्वकर्तृत्व की भी स्वतन्त्रता नहीं है।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका उपयोग–तब अध्यात्मशास्त्रकी अकर्तृत्वभावनाका क्या अर्थ है? अध्यात्ममें समस्त वर्णन उपादानयोग्यताके आधारसे किया गया है। निमित्त मिलानेपर भी यदि उपादान-

योग्यता विकसित नहीं होती, तो कार्य नहीं हो सकेगा। एक ही निमित्तभूत अध्यापकसे एक छात्र प्रथम श्रेणीका विकास करता है जबकि दूसरा द्वितीय श्रेणीका और तीसरा अज्ञानीका अज्ञानी बना रहता है। अतः अन्ततः कार्य अन्तिमक्षणवर्ती उपादानयोग्यतासे ही होता है हाँ निमित्त उस योग्यताको विकासोन्मुख बनाते हैं। ऐसी दशामें अध्यात्मशास्त्रका कहना है कि निमित्तको यह अहंकार नहीं होना चाहिए कि हमने उसे ऐसा बना दिया। निमित्तकारणको सोचना चाहिए कि–इसकी उपादानयोग्यता न होती तो मैं क्या कर सकता था। अतः अपनेमें कर्तृत्वजन्य अहंकारकी निवृत्तिके लिए उपादानमें कर्तृत्वकी भावनाको दृढ़मूल करना चाहिए, ताकि परपदार्थके कर्तृत्वका अहंकार हमारे चित्तमें आकर रागद्वेषको सृष्टि न करे। बड़ेसे बड़ा कार्य करके भी मनुष्यको यही सोचना चाहिए कि 'मैंने क्या किया ? यह तो उसकी उपादानयोग्यता का ही विकास है, मैं तो एक साधारण निमित्त हूं।' **'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्'** अर्थात्–क्रिया योग्यमें परिणमन कराती है अयोग्यमें नहीं। इस तरह अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावना हमें वीतरागताकी ओर ले जानेके लिए है, न कि उसका उपयोग नियतिवादके पुरुषार्थविहीन कुमार्गपर ले जानेको किया जाय।

'जं जस्स जम्मि' आदि भावनाएं हैं–स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टिके धर्म भावनाके चिन्तनमें ये दो गाथाएँ लिखी हैं—

> **"जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।**
> **णादं जिणेण णियदं जम्मं व अहव मरणं वा ।। ३२१ ।।**
> **तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।**
> **को चालेदुं सक्को इंदो वा अह जिणिंदो वा ।। ३२२ ।।"**

अर्थात् जिसका जिस समय जहाँ जैसे जन्म या मरण होना है उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी नहीं टाल सकता, वह होगा ही। पं० दौलतरामजीने भी छहढालामें यही लिखा है—

> **"सुर असुर खगधिप जेते, मृग ज्यों हरि काल दलें ते।**
> **मणिमन्त्र तन्त्र बहु होई, मरतें न बचावे कोई ।।"**

इस तरह मृत्युभय से साधकको निर्भय होकर पुरुषार्थी बननेके लिए नियतत्वकी **भावनाका उपदेश** है न कि पुरुषार्थसे विमुख होकर नियतिचक्रके निष्क्रिय कुमार्गपर पहुँचनेके लिए।

उक्त गाथाओंका भावनीयार्थ यही है कि–जो जब होना है होगा उसमें कोई किसीका शरण नहीं है, आत्मनिर्भर रहकर जो आवे उसे सहना चाहिए। मृत्युको कोई नहीं टाल सका। इस तरह चित्तसमाधानके लिए भाई जानेवाली भावनाओंसे वस्तुव्यवस्था नहीं हो सकती। अनित्य भावनामें हो कहते हैं कि–'जगत् स्वप्नवत् है,' पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शून्यवादियोंकी तरह जगत् पदार्थोंकी सत्तासे शून्य है। बल्कि उसका यही तात्पर्य है कि स्वप्नकी तरह वह आत्महितके लिए वास्तविक कार्यकारी नहीं है। यहाँ सम्यग्दृष्टिकी चिन्तन-भावनामें स्वावलम्बनका उपदेश है, उससे पदार्थव्यवस्था नहीं की जा सकती।

निश्चय और व्यवहार—निश्चयनय वस्तुकी परनिरपेक्ष स्वभूत दशाका वर्णन करता है। वह यह बताता है कि प्रत्येक जीव स्वभावसे अनन्तज्ञान-दर्शन या अखण्ड चैतन्यका पिण्ड है। आज यद्यपि वह कर्मनिमित्तसे विभाव परिणमन कर रहा है पर उसमें स्वभावभूत शक्ति अपने अखण्ड निर्विकार चैतन्य होनेकी है। व्यवहारनय परसापेक्ष अवस्थाओंका वर्णन करता है। वह जहाँ आत्माको परघटपटादि पदार्थोंके कर्तृत्वके वर्णनसम्बन्धी लम्बी उड़ान लेता है वहाँ निश्चयनय रागादि भावोंके कर्तृत्वको भी आत्मकोटिसे बाहर निकाल देता है और आत्माको अपने शुद्ध भावोंका ही कर्ता बताता है, अशुद्ध भावोंका नहीं। निश्चयनयकी भूतार्थताका तात्पर्य यह है कि वही दशा आत्माके लिए वास्तविक उपादेय है, परमार्थ है। यह जो रागादिरूप विभावपरिणति है वह अभूतार्थ है अर्थात् आत्माके लिए उपादेय नहीं है, इसके लिए वह अपरमार्थ है, अग्राह्य है।

निश्चयनयका वर्णन हमारा लक्ष्य है–निश्चयनय जो वर्णन करता है कि मैं सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, निष्कषाय हूँ, यह सब हमारा लक्ष्य है। इसमें 'हूँ' के स्थानमें 'हो सकता हूँ' यह प्रयोग भ्रम उत्पन्न नहीं

करेगा। यह भाषाका एक प्रकार है। साधक अपनी अन्तर्जल्प अवस्थामें अपने ही आत्माको सम्बोधन करता है कि—हे आत्मन्, तू तो स्वभावसे सिद्ध है, बुद्ध है, वीतराग है, आज फिर यह तेरी क्या दशा हो रही है? तू कषायी और अज्ञानी बना है। यह पहला 'सिद्ध है बुद्ध है' वाला अंश दूसरे 'आज फिर तेरी क्या दशा हो रही है, तू कषायी अज्ञानी बना है' इस अंशसे ही परिपूर्ण होता है।

इस लिए निश्चयनय हमारे लिए अपने द्रव्यगत मूलस्वभावकी ओर संकेत करता है जिसके बिना हम कषायपंकसे नहीं निकल सकते। अतः निश्चयनयका सम्पूर्ण वर्णन हमारे सामने कागजपर मोटे मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ टँगा रहे ताकि हम अपनी मूलभूत उस परमदशाको प्राप्त करनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहें। न कि 'हम तो सिद्ध हैं, कर्मोंसे अस्पृष्ट हैं' यह मानकर मिथ्या अहंकारका पोषण करें और जीवन्तचारित्र्यसे विमुख हो निश्चयैकान्तरूपी मिथ्यात्वको बढ़ावें।

निवेदन—मेरा यही निवेदन है कि, हम सब समन्तभद्रादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्थाको समझें। कुन्दकुन्दके अध्यात्मसे अहंकार और परकर्तृत्व भावको नष्ट करें, कार्तिकेयकी भावनासे निर्भयता प्राप्त करें और अनेकान्त दृष्टि और अहिंसाके पुरुषार्थ द्वारा शीघ्र ही आत्मोन्नतिके असीम पुरुषार्थमें जुटें। भविष्यको हम बनाएंगे, वह हमारे हाथमें है। कर्मोंके उत्कर्षण अपकर्षण उदीरणा संक्रमण उद्वेलन आदि सभी हम अपने भावोंके अनुसार कर सकते हैं और इसी परम स्वपुरुषार्थकी घोषणा हमें इस छन्दमें सुनाई देती है—

"कोटि जन्म तप तपें ज्ञानबिन कर्म झड़ें जे। ज्ञानीके क्षणमें त्रिगुप्तितें सहज टरें ते॥"

यह त्रिगुप्ति स्वपुरुषार्थकी सूचना है। इसमें स्वोदयका स्थिर आश्वासन है। नियतिवाद एक **अदार्शनिक** सिद्धांतोंसे समुत्पन्न काल्पनिक भूत है। इसकी डाढ़ी पकड़कर हिला दीजिये और तत्त्वव्यवस्थाके **दार्शनिक** सिद्धांतोंके आधारसे इस श्रोत्रविषसे नई पीढ़ीको बचाइये। यह बड़ा सीधा उपाय है। न इसमें कुछ करना है न विचारना है एक ही बात याद कर लो "जो होना होगा सो होगा ही" भाई, इस बातका भी उपयोग जब तुम्हारा पुरुषार्थ थक जाय तो सांस लेनेके लिए कर लो, कुछ हर्ज नहीं, पर यह धर्म नहीं है। धर्म है—स्वपुरुषार्थ, स्वसंशोधन और स्वदृष्टि।

महावीरके समयमें मक्खलिगोशाल इस नियतिवादका प्रचारक था। आज सोनगढ़से नियतिवादकी आवाज फिरसे उठी है और वह भी कुन्दकुन्दके नामपर। भावनीय पदार्थ जुदा हैं उनसे तत्त्वव्यवस्था नहीं होती यह मैं पहले लिख चुका हूँ। यों ही भारतवर्षने नियतिवाद और ईश्वरवादके कारण तथा कर्मवादके स्वरूपको ठीक नहीं समझनेके कारण अपनी यह नितान्त परतन्त्र स्थिति उत्पन्न कर ली थी। किसी तरह अब नव-स्वातन्त्र्योदय हुआ है। इस युगमें वस्तुतत्त्वका वह निरूपण हो जिससे सुन्दर समाजव्यवस्था-घटक व्यक्तिका निर्माण हो। धर्म और आध्यात्मके नामपर और कुन्दकुन्दाचार्यके सुनामपर आलस्य-पोषक पुण्य-पापलोपक नियतिवादका प्रचार न हो। हम सम्यक् तत्त्वव्यवस्थाको समझें और समन्तभद्रादि आचार्योंके द्वारा परिशीलित उभयमुखी तत्त्वव्यवस्थाका मनन करें।

निश्चय और व्यवहार का सम्यग्दर्शन—

"**यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः**" अर्थात् भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होती। यह भाव क्या है? जिसके बिना समस्त क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं? यह भाव है निश्चयदृष्टि। निश्चय नय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूपको कहता है। परमवीतरागता पर उसकी दृष्टि रहती है। जो क्रियाएँ इस परमवीतरागताकी साधक और पोषक हों वे ही सफल हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें बताया है कि "**निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।**" अर्थात् निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ। इस भूतार्थता और अभूतार्थताका क्या अर्थ है? 'जब आत्मामें इस समय रागद्वेष मोह आदि भाव उत्पन्न हो रहे हैं, आत्मा इन भावों रूपसे परिणमन कर रहा है, तब परनिरपेक्ष सिद्धवत्

स्वरूपके दर्शन उसमें कैसे किए जा सकते हैं?' यह शंका व्यवहार्य है, और इसका समाधान भी सीधा और स्पष्ट है कि–प्रत्येक आत्मामें सिद्धके समान अनन्त चैतन्य है, एक भी अविभाग प्रतिच्छेदकी न्यूनता किसी आत्माके चैतन्यमें नहीं है। सबकी आत्मा असंख्यातप्रदेशवाली है, अखण्ड द्रव्य है। मूल द्रव्य-दृष्टिसे सभी आत्माओंकी स्थिति एकप्रकारकी है। विभाव परिणमनके कारण गुणोंके विकासमें न्यूनाधिकता आ गई है। संसारी आत्माएँ विभाव पर्यायोंको धारण कर नानारूपमें परिणत हो रही हैं। इस परिणमनमें मूल द्रव्यकी स्थिति जितनी सत्य और भूतार्थ है उतनी ही उसकी विभावपरिणतिरूप व्यवहार स्थिति भी सत्य और भूतार्थ है। पदार्थपरिणमनकी दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार दोनों भूतार्थ और सत्य हैं। निश्चय जहाँ मूल द्रव्यस्वभावको विषय करता है, वहाँ व्यवहार परसापेक्ष पर्यायको विषय करता है, निर्विषय कोई नहीं है। व्यवहारकी अभूतार्थता इतनी ही है कि वह जिन विभाव पर्यायोंको विषय करता है वे विभाव पर्याएँ हेय हैं, उपादेय नहीं, शुद्ध द्रव्यस्वरूप उपादेय है, यही निश्चयकी भूतार्थता है। जिस प्रकार निश्चय द्रव्यके मूल स्वभावको विषय करता है उसी प्रकार शुद्ध सिद्ध पर्याय भी निश्चय का विषय है। तात्पर्य यह कि परनिरपेक्ष द्रव्य स्वरूप और परनिरपेक्ष पर्याएँ निश्चयका विषय हैं और परसापेक्ष परिणमन व्यवहारके विषय हैं। व्यवहारकी अभूतार्थता वहाँ है जहाँ आत्मा कहता है कि "मैं राजा हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं ऊंच हूँ, यह नीच है, मेरा धर्माधिकार है, इसका धर्माधिकार नहीं है आदि" तब अर्न्तदृष्टि कहता है कि राजा विद्वान् स्वस्थ ऊंच नीच आदि बाह्यापेक्ष होनेसे हेय हैं इन रूप तुम्हारा मूलस्वरूप नहीं है, वह तो सिद्धके समान शुद्ध है, उसमें न कोई राजा है न रंक, न कोई ऊंच न नीच, न कोई रूपवान् न कुरूपी। उसकी दृष्टिमें सब अखण्ड चैतन्यमय समस्वरूप समाधिकार हैं। इस व्यवहारमें अहंकारको उत्पन्न करनेका जो जहर है, भेद खड़ा करनेकी जो कुटेव है, निश्चय उसीको नष्ट करता है और अभेद अर्थात् समत्वकी ओर दृष्टिको ले जाता है और कहता है कि–मूर्ख, क्या सोच रहा है, जिसे तू नीच और तुच्छ समझ रहा है वहभी अनन्त चैतन्यका अखण्ड मौलिक द्रव्य है, परकृत भेदसे तू अहंकारकी सृष्टि कर रहा है और भेदका पोषण कर रहा है, शरीराश्रित ऊंचनीचभावकी कल्पनासे धर्माधिकार जैसे भीषण अहंकारकी बात बोलता है? इस अनन्त विभिन्नतामय अहंकारपूर्ण व्यवहारसंसारमें निश्चय ही एक अमृतशलाका है जो दृष्टिमें व्यवहारका भेदविष नहीं चढ़ने देती।

पर ये निश्चयकी चरचा करने वाले ही जीवनमें अनन्त भेदोंको कायम रखना चाहते हैं। व्यवहारलोपका भय पग पगपर दिखाते हैं। यदि दस्सा मंदिरमें आकर पूजा कर लेता है तो इन्हें व्यवहार-लोपका भय व्याप्त हो जाता है। भाई, व्यवहारका विष दूर करना ही तो निश्चयका कार्य है। जब निश्चयके प्रसारका अवसर आता है तो क्यों व्यवहारलोपसे डरते हो? कबतक इस हेय व्यवहारसे चिपटे रहोगे और धर्मके नामपर भी अहंकारका पोषण करते रहोगे? अहंकारकेलिए और क्षेत्र पड़े हुए हैं, उन कुक्षेत्रोंमें तो अहंकार कर ही रहे हो? बाह्य विभूतिके प्रदर्शनसे अन्य व्यवहारोंमें दूसरोंसे श्रेष्ठ बनने का अभिमान पुष्ट कर ही लेते हो, इस धर्मक्षेत्रको तो समताकी भूमि बनने दो। धर्मके क्षेत्रको तो धनके प्रभुत्वसे अछूता रहने दो। आखिर यह अहंकारकी विषबेल कहां तक फैलाओगे? आज विश्व इस अहंकारकी भीषण ज्वालाओंमें भस्मसात् हुआ जा रहा है। गोरे कालेका अहंकार, हिन्दू मुसलमानका अहंकार, धनी निर्धनका अहंकार, सत्ताका अहंकार, ऊँचनीचका अहंकार, आदि छूत अछूतका अहंकार, आ दिइस सहस्रजिह्वअहंकारनागकी नागदमनी औषधि निश्चयदृष्टि ही है। यह आत्ममात्रको समभूमिपर लाकर उसकी आंखे खोलती है कि–देखो, मूलमें तुम सब कहाँ भिन्न हो? और अन्तिम लक्ष्य भी तुम्हारा वही समस्वरूपस्थिति प्राप्त करना है तब क्यों बीचके पड़ावोंमें अहंकारका सर्जन करके उच्चत्वकी मिथ्या प्रतिष्ठाकेलिए एक दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे हो? धर्मका क्षेत्र तो कमसे कम ऐसा रहने दो जहां तुम्हें स्वयं अपनी मूलदशाका भान हो और दूसरे भी उसी समदशाका भान कर सकें। "**सम्मीलने नयनयोः न हि किंचिदस्ति**"–आंख मुंदजाने पर यह सब भेद तुम्हारे लिए कुछ नहीं है। परलोकमें तुम्हारे साथ वह अहंकारविष तो चला जायगा

पर यह जो भेदसृष्टि कर जाओगे उसका पाप मानवसमाजको भोगना पड़ेगा। यह मूढ़ मानव अपने पुराने पुरुषों द्वारा किये गये पापको भी बापके नामपर पोषता रहना चाहता है। अतः मानवसमाजकी हितकामनासे भी निश्चयदृष्टि—आत्मसमत्वकी दृष्टि को ग्रहण करो और पराश्रित व्यवहारको नष्ट करके स्वयं शान्तिलाभ करो और दूसरोंको उसका मार्ग निष्कंटक कर दो।

समयसारका सार यही है। कुन्दकुन्दकी आत्मा समयसारके गुणगानसे, उसके ऊपर अर्घ चढ़ानेसे, उसे चांदी सोनेमें मढ़ानेसे सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह तो समयसारको जीवनमें उतारनेसे ही प्रसन्न हो सकती है। यह जातिगत ऊँचनीच भाव, यह धर्मस्थानोंमें किसीका अधिकार किसीका अनधिकार इन सब विषोंका समयसारके अमृतके साथ क्या मेल? यह निश्चयमिथ्यात्वी निश्चयको उपादेय और भूतार्थ तो कहेगा पर जीवनमें निश्चयकी उपेक्षाके ही कार्य करेगा, उसकी जड़ खोदने का ही प्रयास करेगा।

निश्चयनयका वर्णन तो कागजपर लिखकर सामने टांग लो। जिससे सदा तुम्हें अपने ध्येयका भान रहे। सच पूछो तो भगवान् जिनेन्द्रकी प्रतिमा उसी निश्चयनयकी प्रतिकृति है। जो निपट वीतराग होकर हमें आत्ममात्रसत्यना सर्वात्मसमत्व और परमवीतरागताका पावन सन्देश देती है। पर व्यवहारमूढ़-मानव उसका मात्र अभिषेक कर बाह्यपूजा करके ही कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ लेता है। उलटे अपनेमें मिथ्या धर्मात्मत्वके अहंकारका पोषण कर मंदिरमें भी चौका लगानेका दुष्प्रयत्न करता है। 'अमुक मन्दिर में आ सकता है अमुक नहीं' इन विधिनिषेधोंकी कल्पित अहंकारपोषक दीवारें खड़ी करके धर्म, शास्त्र और परम्पराके नामपर तथा संस्कृतिरक्षाके नामपर सिरफुड़ौवल और मुकदमेबाजीकी स्थिति उत्पन्न की जाती है और इस तरह रौद्रानन्दी रूपका नग्न प्रदर्शन इन धर्मस्थानोंमें आये दिन होता रहता है।

निश्चयनयावलम्बियोंकी एक मोटी भ्रान्त धारणा यह है कि ये द्रव्यमें अशुद्धि न मानकर पर्यायको अशुद्ध कहते हैं और द्रव्यको सदा शुद्ध कहने का साहस करते हैं। जब जैनसिद्धान्तमें द्रव्य और पर्यायकी पृथक् सत्ता ही नहीं है तब केवल पर्याय ही अशुद्ध कैसे हो सकती है? जब इन दोनोंका तादात्म्य है तब दोनों ही अशुद्ध हैं। दूसरे शब्दोंमें द्रव्य ही पर्याय बनता है। द्रव्यशून्य पर्याय और पर्यायशून्य द्रव्य हो ही नहीं सकता। जब इस तरह दोनों एकसत्ताक ही हैं तब अशुद्धि पर्याय तक सीमित रहती है द्रव्यमें नहीं पहुँचती यह कथन स्वतः निःसार हो जाता है। पर्यायके परिवर्तन होनेपर द्रव्य किसी अपरिवर्तित अंशका नाम नहीं है और न ऐसा अपरिवर्तिष्णु कोई अंश ही द्रव्यमें है जो परिवर्तनसे सर्वथा अछूता रहता हो किन्तु द्रव्य अखण्डका अखण्ड परिवर्तित होकर पर्याय नाम पाता है। उसकी परिवर्तित धारा अनाद्यनन्तकाल तक चालू रहती है, इसीको द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। अतः 'पर्याय अशुद्ध होती है और द्रव्य शुद्ध बना रहता है' यह धारणा द्रव्यस्वरूप के अज्ञानका परिणाम है।

इसी धारणावश निश्चयमूढ़ 'मैं सिद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, कर्मबन्धनमुक्त हूँ' आदि वर्तमानकालीन प्रयोग करने लगते हैं। और उसका समर्थन उपर्युक्त भ्रान्तधारणाके कारण करने लगते हैं। पर कोई भी समझदार आजकी नितान्त अशुद्ध दशामें अपनेको शुद्ध माननेका भ्रान्त साहस भी नहीं कर सकता। यह कहना तो उचित है कि मुझमें सिद्ध होनेकी योग्यता है, मैं सिद्ध हो सकता हूँ, या सिद्धका मूल द्रव्य जितने प्रदेशवाला जितने गुणधर्मवाला है उतने ही प्रदेशवाला उतने ही गुणधर्मवाला मेरा भी है। अन्तर इतना ही है कि सिद्धके सब गुण निरावरण हैं और मेरे सावरण। इस तरह शक्ति प्रदेश और अविभाग प्रतिच्छेदोंकी दृष्टिसे समत्व कहना जुदी बात है। वह समानता तो सिद्धके समान निगोदियासे भी है। पर इससे मात्र द्रव्योंकी मौलिक एकजातीयताका निरूपण होता है न कि वर्तमान कालीन पर्यायका। वर्तमान पर्यायोंमें तो अन्तरं महदन्तरम् है।

इसीतरह निश्चयनय केवल द्रव्यको विषय करता है यह धारणा भी मिथ्या है। वह तो पर निरपेक्ष स्वभावको विषय करनेवाला है चाहे वह द्रव्य हो या पर्याय। सिद्ध पर्याय परनिरपेक्ष स्वभावभूत है, उसे निश्चयनय अवश्य विषय करेगा। जिस प्रकार द्रव्यके मूलस्वरूपपर दृष्टि रखनेसे आत्मस्वरूपकी प्रेरणा

मिलती हैं उसी तरह सिद्ध पर्यायपर भी दृष्टि रखनेसे आत्मोन्मुखता होती है। अतः निश्चय और व्यवहारका सम्यग्दर्शन करके हमें निश्चयनयके लक्ष्य-आत्मसमत्वको जीवनव्यवहारमें उतारनेका प्रयत्न करना चाहिए। धर्म-अधर्मकी भी यही कसौटी हो सकती है। जो क्रियाएँ आत्मस्वभावकी साधक हों परमवीतरागता और आत्मसमताकी ओर ले जाँय वे धर्म हैं शेष अधर्म।

परलोक का सम्यग्दर्शन—

धर्मक्षेत्रमें सब ओरसे 'परलोक सुधारो'की आवाज सुनाई देती है। परलोकका अर्थ है मरणोत्तर जीवन। हरएक धर्म यह दावा करता है कि उसके बताए हुए मार्गपर चलनेसे परलोक सुखी और समृद्ध होगा। जैनधर्ममें भी परलोकके सुखोंका मोहक वर्णन मिलता है। स्वर्ग और नरकका सांगोपांग विवेचन सर्वत्र पाया जाता है। संसारमें चार गतियाँ हैं—मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और देवगति। नरक अत्यन्त दुःखके स्थान हैं और स्वर्ग सांसारिक अभ्युदयके स्थान। इनमें सुधार करना मानवशक्तिके बाहरकी बात है। इनकी जो रचना जहाँ है सदा वैसी रहनेवाली है। स्वर्गमें एक देवको कमसे कम सदायौवना बत्तीस देवियाँ अवश्य मिलती हैं। शरीर कभी रोगी नहीं होता। खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं। सब मनःकामना होते ही समुपस्थित हो जाता है। नरकमें सब दुःख ही दुःखकी सामग्री है।

यह निश्चित है कि एक स्थूल शरीरको छोड़कर आत्मा अन्य स्थूल शरीरको धारण करता है। यही परलोक कहलाता है। मैं यह पहिले विस्तारसे बता आया हूँ कि आत्मा अपने पूर्वशरीरके साथ ही साथ उस पर्यायमें उपार्जित किये गए ज्ञान विज्ञान शक्ति आदिको वहीं छोड़ देता है, मात्र कुछ सूक्ष्म संस्कारोंके साथ परलोकमें प्रवेश करता है। जिस योनिमें जाता है वहाँके वातावरणके अनुसार विकसित होकर बढ़ता है। अब यह विचारनेकी बात है कि मनुष्यके लिए मरकर उपन्न होनेके दो स्थान तो ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इसी जन्ममें सुधार सकता है, अर्थात् मनुष्य योनि और पशु योनि इन दो जन्मस्थानोंके संस्कार और वातावरणको सुधारना तो मनुष्यके हाथमें है ही। अपने स्वार्थकी दृष्टिसे भी आधे परलोकका सुधारना हमारी रचनात्मक प्रवृत्तिकी मर्यादामें है। बीज कितना ही परिपुष्ट क्यों न हो यदि खेत ऊबड़ खाबड़ है, उसमें कास आदि हैं, सांप चूहे छछूंदर आदि रहते हैं तो उस बीजकी आधी अच्छाई तो खेतकी खराबी और गन्दे वातावरणमें समाप्त हो जाता है। अतः जिसप्रकार चतुर किसान बीजकी उत्तमत्ताकी चिन्ता करता है उसी प्रकार खेतको जोतने बखरने, उसे जीवजन्तुरहित करने, घास फूस उखाड़ने आदिकी भी पूरी पूरी कोशिश करता ही है, तभी उसकी खेती समृद्ध और आशातीत फलप्रसू होती है। इसी तरह हमें भी अपने परलोकके मनुष्यसमाज और पशुसमाज रूप दो खेतोंको इस योग्य बना लेना चाहिए कि कदाचित् इनमें पुनः शरीर धारण करना पड़ा तो अनुकूल सामग्री और सुन्दर वातावरण तो मिल जाय। यदि प्रत्येक मनुष्यको यह दृढ़ प्रतीति हो जाय कि हमारा परलोक यही मनुष्य समाज है और परलोक सुधारनेका अर्थ इसी मानव समाजको सुधारना है तो इस मानवसमाजका नकशा ही बदल जाय। इसी तरह पशुसमाजके प्रति भी सद्भावना उत्पन्न हो सकती है और उनके खानेपीने रहने आदिका समुचित प्रबन्ध हो सकता है। अमेरिकाकी गाएँ रेडियो सुनती है और सिनेमा देखती हैं। वहाँकी गोशालाएँ यहाँके मानवघोंसलोंसे अधिक स्वच्छ और व्यवस्थित हैं।

परलोक अर्थात् दूसरेलोग, परलोकका सुधार अर्थात् दूसरे लोगोंका—मानवसमाजका सुधार। जब यह निश्चित है कि मरकर इन्हीं पशुओं और मनुष्योंमें भी जन्म लेनेकी संभावना है तो समझदारी और सम्यग्दर्शनकी बात तो यह है कि इस मानव और पशु समाजमें आए हुए दोषोंको निकालकर इन्हें निर्दोष बनाया जाय। यदि मनुष्य अपने कुकृत्योंसे मानवजातिमें क्षय, सुजाक, कोढ़, मृगी आदि रोगोंकी सृष्टि करता है, इसे नीतिभ्रष्ट, आचारविहीन, कलह केन्द्र, और शराबखोर आदि बना देता है तो वह कैसे अपने मानव परलोकको सुखी कर सकेगा। आखिर उसे भी इसी नरकभूत समाजमें जन्म लेना पड़ेगा। इसी तरह गाय भैंस आदि पशुओंकी दशा यदि मात्र मनुष्यके ऐहिक स्वार्थके ही आधारपर चली तो

उनका कोई सुधार नहीं हो सकता। उनके प्रति सद्भाव हो। यह समझें कि कदाचित् हमें इस योनिमें जन्म लेना पड़ा तो यही भोग हमें भोगना पड़ेगें। जो परम्पराएँ हम इनमें डाल रहे हैं उन्हींके चक्रमें हमें भी पिसना पड़ेगा। जैसा करोगे वैसा भरोगे, इसका वास्तविक अर्थ यही है कि यदि अपने कुकृत्योंसे इस मानव समाज और पशु समाजको कलंकित करोगे तो परलोकमें कदाचित् इन्हीं समाजोंमें आना पड़ा तो उन अपने कुकृत्यों का भोग भोगना ही पड़ेगा।

मानव समाजका सुख दुःख तत्कालीन समाज व्यवस्थाका परिणाम है। अतः परलोकका सम्यग्दर्शन यही है कि जिस अर्थ परलोकका सुधार हमारे हाथमें है उसका सुधार ऐसी सर्वोदयकारिणी व्यवस्था करके करें जिससे स्वर्गमें उत्पन्न होनेकी इच्छा ही न हो। यही मानवलोक स्वर्गलोकसे भी अधिक सर्वाभ्युदय कारक बन जाय। हमारे जीवनके असदाचार असंयम कुटेव बीमारी आदि सीधे हमारे वीर्यकणको प्रभावित करते हैं और उसमें जन्म लेनेवाली सन्ततिके द्वारा मानवसमाजमें वे सब बीमारियाँ और चरित्रभ्रष्टताएँ फैल जाती हैं। अतः इनसे परलोक बिगड़ता है। इसका तात्पर्य यही है कि खोटे संस्कार सन्तति द्वारा उस मानवजातिमें घर कर लेते हैं जो मानवजाति कभी हमारा पुनः परलोक बन सकती है। हमारे कुकृत्यों-से नरक बना हुआ यही मानवसमाज हमारे पुनर्जन्मका स्थान हो सकता है। यदि हमारा जीवन मानव-समाज और पशुजातिके सुधार और उद्धारमें लग जाता है तो नरकमें जन्मलेनेका मौका ही नहीं आ सकता। कदाचित् नरकमें पहुँच भी गए तो अपने पूर्व संस्कारवश नारकियोंको भी सुधारनेका प्रयत्न किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि हमारा परलोक यही हमसे भिन्न अखिल मनुष्य समाज और पशुजाति हैं जिनका सुधार हमारे परलोकका आधा सुधार है।

दूसरा परलोक है हमारी सन्तति। हमारे इस शरीरसे होनेवाले यावत् सत्कर्म और दुष्कर्मोंके रक्तद्वारा जीवित संस्कार हमारी सन्ततिमें आते हैं। यदि हममें कोढ़ क्षय या सुजाक जैसी संक्रामक बीमारियाँ हैं तो इसका फल हमारी सन्ततिको भोगना पड़ेगा। असदाचार और शराबखोरी आदिमें होनेवाले पापसंस्कार रक्तद्वारा हमारी सन्ततिमें अंकुरित होंगे तथा बालकके जन्म लेनेके बाद वे पल्लवित पुष्पित और फलित होकर मानवजातिको नरक बनाएँगे। अतः परलोकको सुधारनेका अर्थ है सन्ततिको सुधारना और सन्ततिको सुधारनेका अर्थ है अपनेको सुधारना। जबतक हमारी इस प्रकारकी अन्तर्मुखी दृष्टि न होगी तबतक हम मानवजातिके भावी प्रतिनिधियोंके जीवनमें उन असंख्य काली रेखाओंको अंकित करते जाँयगे जो सीधे हमारे असंयम और पापाचारका फल हैं।

एक परलोक है—शिष्य परम्परा। जिस प्रकार मनुष्यका पुनर्जन्म रक्तद्वारा अपनी सन्ततिमें होता है उसी तरह विचारों द्वारा मनुष्यका पुनर्जन्म अपने शिष्योंमें या आसपासके लोगोंमें होता है। हमारे जैसे आचार-विचार होंगे, स्वभावतः शिष्योंके जीवनमें उनका असर होगा ही। मनुष्य इतना सामाजिक प्राणी है कि वह जान या अनजानमें अपने आसपासके लोगोंको अवश्य ही प्रभावित करता है। बापको बीड़ी पीता देखकर छोटे बच्चोंको झूठे ही लकड़ीकी बीड़ी पीनेका शौक होता है और यह खेल आगे जाकर व्यसन का रूप ले लेता है। शिष्यपरिवार मोमका पिंड है। उसे जैसे सांचेमें ढाला जायगा ढल जायगा। अतः मनुष्यके ऊपर अपने सुधार-बिगाड़की जवाबदारी तो है ही साथ ही साथ मानव समाजके उत्थान और पतनमें भी उसका साक्षात् और परम्परया खास हाथ है। रक्तजन्य सन्तति तो अपने पुरुषार्थद्वारा कदाचित् पितृ-जन्य कुसंस्कारोंसे मुक्त भी हो सकती है पर यह विचारसन्तति यदि जहरीली विचारधारासे बेहोश हुई तो इसे होशमें लाना बड़ा दुष्कर कार्य है। आजका प्रत्येक व्यक्ति इस नूतनपीढ़ी पर ही आंख गड़ाए हुए है। कोई उसे मजहबकी शराब पिलाना चाहता है तो कोई हिन्दुत्व की तो कोई जातिकी तो कोई अपनी कुल परम्परा की। न जाने कितने प्रकारकी विचारधाराओंकी रंग विरंगी शराबें मनुष्यकी दुर्बुद्धिने तैयार की हैं और अपने वर्गका उच्चत्व, स्वसत्ता स्थायित्व और स्थिर स्वार्थोंकी संरक्षाके लिए विविध प्रकारके धार्मिक सांस्कृतिक सामाजिक और राष्ट्रीय आदि सुन्दर मोहक पात्रोंमें ढाल ढालकर भोली नूतन पीढ़ीको पिलाकर उन्हें

स्वरूपच्युत किया जा रहा है। वे इसके नशेमें उस मानवसमत्वाधिकारको भूलकर अपने भाइयोंका खून बहानेमें भी नहीं हिचकिचाते। इस मानवसंहारयुगमें पशुओंके सुधार और उनकी सुरक्षाकी बात तो सुनता ही कौन है ? अतः परलोक सुधारके लिए हमें परलोकके सम्यग्दर्शनकी अवश्यकता है। हमें समझना होगा कि हमारा पुरुषार्थ किस प्रकार उस परलोकको सुधार सकता है।

परलोकमें स्वर्गके सुखादिके लोभसे इस जन्ममें कुछ चारित्र या तपश्चरणको करना तो लम्बा व्यापार है। यदि ३२ देवियोंके महासुखकी तीव्रकामनासे इस जन्ममें एक बूढ़ी स्त्रीको छोड़कर ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है तो यह केवल प्रवञ्चना है। न यह चारित्रका सम्यग्दर्शन है और न परलोकका। यह तो कामनाका अनुचित पोषण है, कषायकी पूर्तिका दुष्प्रयत्न है। अतः परलोक सम्वन्धी सम्यग्दर्शन साधकके लिए अत्यावश्यक है।

कर्मसिद्धान्तका सम्यग्दर्शन—

जैन सिद्धान्तने सर्वग्रासी ईश्वरसे जिस किसी तरह मुक्ति दिलाकर यह घोषणा की थी कि प्रत्येक जीव स्वतन्त्र है। वह स्वयं अपने भाग्यका विधाता है। अपने कर्मका कर्त्ता और उसके फलका भोक्ता है। परन्तु जिस पक्षी की चिरकालसे पिंजरेमें परतन्त्र रहनेके कारण सहज उड़नेकी शक्ति कुंठित हो गई है उसे पिंजड़ेसे बाहर भी निकाल दीजिए तो वह पिंजड़ेकी ओर ही झपटता है। इसीतरह यह जीव अनादिसे परतन्त्र होनेके कारण अपने मूल स्वातन्त्र्य-आत्मसमानाधिकारको भूला हुआ है। उसे इसकी याद दिलाते हैं तो कभी वह भगवान्का नाम लेता है, तो कभी किसी देवी देवता का। और कुछ नहीं तो '**करमगति टाली नाहिं टलै**' का नारा किसीने छीन ही नहीं लिया। 'विधिका विधान' 'भवितव्यता अमिट है' आदि नारे बच्चे से बूढ़ेतक सभीकी जबानपर चढ़े हुए हैं। ईश्वरकी गुलामीसे हटे तो यह कर्मकी गुलामी गले आ पड़ी।

मैंने बन्धतत्त्वके विवेचनमें कर्मका स्वरूप विस्तारसे लिखा है। हमारे विचार, वचन व्यहार और शारीरिक क्रियाओंके संस्कार हमारी आत्मापर प्रतिक्षण पड़ते हैं और उन संस्कारोंको प्रबोध देनेवाले पुद्गल स्कन्ध आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त हो जाते हैं। आजका किया हुआ हमारा कर्म कल दैव बन जाता है। पुराकृत कर्मको ही दैव विधि भाग्य आदि शब्दोंसे कहते हैं। जो कर्म हमने किया है, जिसे हमने बोया है उसे चाहें तो दूसरे क्षण ही उखाड़कर फेंक सकते हैं। हमारे हाथमें कर्मोंकी सत्ता है। उनकी उदीरणा—समयसे पहिले उदयमें लाकर झड़ा देना, संक्रमण-साताको असाता और असाताको साता बना देना, उत्कर्षण—स्थिति और फल देनेकी शक्तिमें वृद्धि कर देना, अपकर्षण—स्थिति और फलदानशक्तिका ह्रास कर देना, उपशम —उदयमें न आने देना, क्षय—नाश करना, उद्वेलन क्षयोपशम आदि विविध दशाएँ हमारे पुरुषार्थके अधीन हैं। अमुक कोई कर्म बंधा इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह वज्रलेप हो गया। बंधनेके बाद भी हमारे अच्छे बुरे विचार और प्रवृत्तियोंसे उसकी अवस्थामें सैकड़ों प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं। हाँ, कुछ कर्म ऐसे जरूर बंध जाते हैं जिन्हें टालना कठिन होता है उनका फल उसीरूपमें भोगना पड़ता है। पर ऐसा कर्म सौ में एक ही शायद होता है।

सीधीसी बात है—पुराना संस्कार और पुरानी वासना हमारे द्वारा ही उत्पन्न की गई थी। यदि आज हमारे आचार-व्यवहारमें शुद्धि आती है तो पुराने संस्कार धीरे धीरे या एकही झटकेमें समाप्त हो ही जायँगे। यह तो बलाबल की बात है। यदि आजकी तैयारी अच्छी है तो प्राचीनको नष्ट किया जा सकता है, यदि कमजोरी है तो पुराने संस्कार अपना प्रभाव दिखाएँगे ही। ऐसी स्वतन्त्रस्थितिमें में "**करमगति टाली नहीं टलै**" जैसे क्लीबविचारों का क्या स्थान है ? ये विचार तो उस समय शान्ति देनेके लिए है जब पुरुषार्थ करनेपर भी कोई प्रबल आघात आ जावे, उस समय सान्त्वना और सांस लेनेके लिए इनका उपयोग है। कर्म बलवान् था, पुरुषार्थ उतना प्रबल नहीं हो सका अतः फिर पुरुषार्थ कीजिए। जो अवश्यंभावी बातें हैं उनके द्वारा कर्मकी गतिको अटल बनाना उचित नहीं है। एक शरीर धारण किया है, समयानुसार वह जीर्ण शीर्ण

होगा ही। अब यहाँ यह कहना कि 'कितना भी पुरुषार्थ कर लो मृत्युसे बच नहीं सकते और इसलिए कर्मगति अटल है' वस्तुस्वरूपके अज्ञानका फल है। जब वह किंचित्काल स्थायी पर्याय है तो आगे पीछे उसे जीर्ण शीर्ण होना ही पड़ेगा। इसमें पुरुषार्थ इतना ही है कि यदि युक्त आहार-विहार और संयमपूर्वक चला जायगा तो जिन्दगी लम्बी और सुखपूर्वक चलेगी। यदि असदाचार और असंयम करोगे तो शरीर क्षय आदि रोगोंका घर होकर जल्दी क्षीण हो जायगा। इसमें कर्मकी क्या अटलता है? यदि कर्म वस्तुतः अटल होता तो ज्ञानी जीव त्रिगुप्ति आदि साधनाओं द्वारा उसे क्षणभरमें काटकर सिद्ध नहीं हो सकेंगे। पर इस आशयकी पुरुषार्थप्रवण घोषणाएँ मूलतः शास्त्रोंमें मिलती ही हैं।

स्पष्ट बात है कि कर्म हमारी क्रियाओं और विचारोंके परिणाम हैं। प्रतिकूल विचारोंके द्वारा पूर्वसंस्कार हटाए जा सकते हैं। कर्मकी दशाओंमें विविध परिवर्तन जीवके भावोंके अनुसार प्रतिक्षण होते ही रहते हैं। इसमें अटलपना क्या है। कमजोरके लिए कर्मही क्या, कुत्ता भी अटल है, पर सबलके लिए कोई भी अटल नहीं है। परन्तु कर्मको टालनेके लिए शारीरिक बलकी आवश्यकता नहीं है, इसके लिये चाहिए आत्मबल। चूँकि कर्मोंके बन्धन आत्माके ही विकारी भावोंसे, आत्माकी ही कमजोरीसे हुए थे अतः उसकी निवृत्ति भी आत्माके ही स्वभावोंसे, स्वसंशोधनसे ही हो सकती है। यही आत्मबल यदि है तो फिर किसी कर्मकी ताकत नहीं जो तुम्हें प्रभावित कर सके।

श्री पंडित टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशमें काल लब्धि और भवितव्यके सम्बन्धमें स्पष्ट लिखा है कि–"**काललब्धि और होनहार तो किछू वस्तु नाहीं। जिस काल विषै कार्य बनै सोई काललब्धि और जो कार्य भया सो होनहार।**" मैं अध्यात्मके विवेचनमें बता आया हूँ कि प्रतिक्षण वस्तुमें अनेक परिणमनोंकी तरतमभूत योग्यताएँ रहती हैं। जैसे निमित्त और जैसी सामग्री जुट जायगी तदनुकूल योग्यताका परिणमन होकर उसका विकास हो जायगा। इसमें स्वपुरुषार्थ और स्वशक्तिको पहिचानेकी आवश्यकता है। जिस जैनधर्मने ईश्वर जैसी दृढ़मूल समर्थ और बहुप्रचलित कल्पनाका उच्छेद करके जीवस्वातन्त्र्यका स्वावलम्बी उपदेश दिया उसमें कर्म अमिट और विधिविधान अटल कैसे हो सकता है? जो हमारी गलती है उसे हम कभी भी सुधार सकते हैं। यह अवश्य है कि जितनी पुरानी भूलें और आदतें होंगी उन्हें हटानेके लिए उतना ही प्रबल पुरुषार्थ करना होगा। इसके लिए समय भी अपेक्षित हो सकता है। इसका अर्थ पुरुषार्थमें अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिए।

कर्मके सम्बन्धमें एक भ्रम यह भी है कि कर्मके बिना पत्ता भी नहीं हिलता। संसारके अनेकों कार्य अपने अपने अनुकूल प्रतिकूल संयोगोंसे होते रहते हैं। उन उन पदार्थोंके सन्निधानमें जीवके साता और असाता का परिपाक होता है। जैसे ठंडी हवा अपने कारणोंसे चल रही है। स्वस्थ पुरुषकी सातामें वह नोकर्म हो जाती है और निमोनियाँ रोगीके असातामें नोकर्म बन जाती है। यह कहना कि 'हमारे साताके उदयने हवाको चला दिया और रोगीके असाताके उदयने, भूल है। ये तो नोकर्म हैं। इनकी समुत्पत्ति अपने कारणोंसे होती है। और ये उन कर्मोंके उदयकी सामग्री बन जाते हैं। यह भी ठीक है कि द्रव्य क्षेत्र कालभावकी सामग्रीके अनुसार कर्मोंके उदयमें–उसकी फलदान शक्तिमें तारतम्य हो जाता है। 'लाभान्तरायका उदय लाभको रोकता है और उसका क्षयोपशम लाभका कारण है' इसका आन्तरिक अर्थ तो यही है कि जीवमें उसके क्षयोपशमसे उस लाभको अनुभवनकी योग्यता होती है। बाह्य पदार्थोंका मिलना आदि उस योग्यता-जन्य पुरुषार्थ आदिके फल हैं।

यह भी निश्चित है कि आत्मा भौतिक जगत्को प्रभावित करता है। आत्माके प्रभावके साक्षी मैस्मरेजिम, हिप्नाटिज्म आदि हैं। अतः आत्मपरिणामोंके अनुसार भौतिक जगत्में भी परिवर्तन प्रायः हुआ करते हैं। पर नैयायिकोंकी तरह जैनकर्म अमेरिकामें उत्पन्न होनेवाली हमारी भोग्य साबुनमें कारण नहीं हो सकता। कर्म अपनी आसपासकी सामग्रीको प्रभावित करता है। अमेरिकामें उत्पन्न साबुन अपने कारणोंसे उत्पन्न हुई है। हाँ, जिससमय वह हमारे संपर्क में आ जाती है तबसे हमारी

सातामें नोकर्म हो जाती हैं। रास्तेमें पड़ा हुआ एक पत्थर सैकड़ों जीवोंके सैकड़ों प्रकारके परिणमन-में तत्काल निमित्त बन जाता है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उस पत्थर को उत्पन्न करनेमें उन सैकड़ों जीवोंके पुण्य-पापने कोई कार्य किया है। संसारके पदार्थोंकी उत्पत्ति अपने-अपने कारणोंसे होती है। उत्पन्न पदार्थ एक दूसरेकी साता असाताके लिए कारण हो जाते हैं। एक ही पदार्थ समयभेदसे एकजीव या नाना-जीवोंके राग द्वेष और उपेक्षाका निमित्त होता रहता है। किसीका त्रैकालिक रूप सदा एकसा नहीं रहता। अतः कर्मका सम्यग्दर्शन करके हमें अपने पुरुषार्थको पहिचान कर स्वात्मदृष्टि हो तदनुकूल सत्पुरुषार्थमें लगना चाहिए। वही पुरुषार्थ सत् है जो आत्मस्वरूप का साधक हो और आत्माधिकारकी मर्यादाको न लांघता हो।

संसारके अनन्त अचेतन पदार्थोंका परिणमन यद्यपि उनकी उपादान योग्यताके अनुसार होता है पर उनका विकास पुरुष निमित्तसे अत्यधिक प्रभावित होता है। प्रत्येक परमाणुमें पुद्गलकी वे सब शक्तियाँ हैं जो किसी भी एक पुद्गलाणु द्रव्यमें हो सकती हैं अतः उपादान योग्यताकी कमी तो किसीमें भी नहीं है। रह जाती है पर्याययोग्यता, सो पर्याययोग्यता परिणमनोंके अनुसार बदल जायगी। रेत पर्यायसे मामूली कुम्हार आदि निमित्तोंसे घटरूप परिणमनका विकास नहीं हो सकता जैसे कि मिट्टीका हो जाता है पर कांचकी भट्टीमें या चीनी मिट्टीके कारखानेमें उसी रेत पर्यायका कांचके घड़े रूपसे और चीनी मिट्टीके घड़े रूपमें स्थिरतर सुन्दर परिणमन विकसित हो जाता है। अचेतन पदार्थोंके परिणमन जैसे स्वतः बुद्धिशून्य होनेके कारण संयोगाधीन हैं वैसे चेतन पदार्थोंके परिणमन मात्र संयोगाधीन ही नहीं हैं। जबतक यह आत्मा परतन्त्र है तबतक उसे कुछ संयोगाधीन परिणमन करना भी पड़ते हों फिर भी वह उन संयोगोंसे मुक्त होकर उन परिणमनोंसे मुक्ति पा सकते है। चेतन अपनी स्वशक्तिकी तरतमताके अनुसार अपने परिणमनोंमें स्वाधीन बन सकता है। उसमें कर्म अर्थात् हमारे पुराने संस्कार तभी तक बाधक हो सकते हैं जबतक हम अपने प्रयोगों द्वारा उनपर विजय नहीं पा लेते। उन पुराने संस्कार और विकारोंसे जो पुद्गलद्रव्य हमारी आत्मासे बंधा था, उसकी अपनी स्वतः सामर्थ्य कुछ नहीं है उसे बल तो हमारे संस्कार और हमारी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है।

इसके सम्बन्धमें सांख्यकारिकामें बहुत उपयुक्त दृष्टान्त वेश्या का दिया है। जिस प्रकार वेश्या हमारी वासनाओंका बल पाकर ही हमें नानाप्रकारसे नचाती है, हम उसके इशारेपर चलते हैं, उसे ही अपना सर्वस्व मानते हैं, चूमते हैं, चाटते हैं, जैसा वह कहती है वैसा करते हैं। पर जिस समय हम स्वयं वासनानिर्मुक्त होकर स्वरूपदर्शी होते हैं उस समय वेश्या का बल समाप्त हो जाता है और वह हमारी गुलाम होकर हमें रिझानेकी चेष्टा करती है, पुनः वासना जाग्रत करनेका प्रयत्न करती है। यदि हम पक्के रहे तो वह स्वयं असफल प्रयत्न होकर हमें छोड़ देती है, और समझती है कि अब इनपर रंग नहीं जम सकता। यही हालत कर्मपुद्गलकी है। वह तो हमारी वासनाओंका बल पाकर ही सस्पन्द होता है। बंधा भी हमारी वासनाओंके कारण ही था और छूटेगा या निःसार होगा तो हमारी वासनानिर्मुक्त परिणतिसे ही। कर्मका बल हमारी वासना है और वह यदि निर्बल होगा तो हमारी वीतरागतासे ही। शास्त्रोंमें मोहनीयको कर्मोंका राजा कहा है और ममकार तथा अहंकारको मोहराजका मन्त्री। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन, राग और द्वेष। बाह्य पदार्थोंमें ये 'मेरे हैं' इस ममकारसे तथा 'मैं ज्ञानी हूँ' 'रूपवान् हूँ' इत्यादि अहंकारसे राग द्वेषकी सृष्टि होती है और मोहराज की सेना तैयार हो जाती है। जिस समय इस मोहराजका पतन हो जाता है उस समय सेना अपने आप निर्वीर्य होकर तितर बितर हो जाती है। साथ रह गया इन कुभावोंके साथ बंधनेवाला पुद्गल। सो वह तो बिचारा पर द्रव्य है। वह यदि आत्मामें पड़ा भी रहा तो भी हानिकारक नहीं। सिद्धशिलापर भी सिद्धोंके पास अनन्त पुद्गलाणु पड़े होंगें पर वे उनमें रागादि उत्पन्न नहीं कर सकते क्योंकि उनमें भीतरसे वे कुभाव नहीं है। अतः मोहनीयके नष्ट होते ही, वीतरागता आते ही वह बंधा हुआ द्रव्यभी झड़ जायगा, या न भी झड़ा वहाँ ही बना रहा तो भी उसमें जो कर्मपना आया है वह समाप्त हो जायगा, वह मात्र पुद्गलपिंड रह जायगा। कर्मपना

तो हमारी ही वासनासे उसमें आया था सो समाप्त हो जायगा। "**करम बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घनघात लोहकी संगति पाई।**" यह स्तुति हम रोज पढ़ते हैं। इसमें कर्मशास्त्रका सारा तत्त्व भरा हुआ है। तात्पर्य यह कि—कर्म हमारी लगाई हुई खेती है उसे हमीं सींचते हैं। चाहें तो उसे निर्जीव कर दें चाहें तो सजीव। पर पुरानी परतन्त्रताके कारण आत्मा इतना निर्बल हो गया है कि उसकी अपनी कोई आवाज ही नहीं रह गई है। आत्मामें जितना सम्यग्दर्शन और स्वरूप-स्थितिका बल आयगा उतना ही वह सबल होगा और पुरानी वासनाएँ समाप्त होतीं जाँयगीं। इस तरह कर्मके यथार्थ रूपको समझ कर हमें अपनी शक्तिकी पहिचान करनी चाहिए और उन सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियोंका संवर्धन तथा पोषण करना चाहिए जिससे पुरानी कुवासनाएँ नष्ट होकर वीतराग चिन्मय स्वरूपकी पुनः प्रतिष्ठा हो।

शास्त्रका सम्यग्दर्शन—

वैदिक परम्परा और जैनपरम्परामें महत्त्वका मौलिक भेद यह है कि वैदिक परम्परा धर्म-अधर्मव्यवस्थाके लिए वेदोंको प्रमाण मानती है जब कि जैन परम्पराने वेद या किसी शास्त्रकी केवल शास्त्र होने के ही कारण प्रमाणता स्वीकार नहीं की है। धर्म अधर्मकी व्यवस्थाके लिए पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक अनुभवको प्रमाण माना है। वैदिक परम्परामें स्पष्ट घोषणा है कि—'**धर्मे चोदनैव प्रमाणम्**' अर्थात् धर्मव्यवस्थामें अन्तिम प्रमाण वेद है। इसीलिए वेदपक्षवादी मीमांसकने पुरुषकी सर्वज्ञतासे ही इनकार कर दिया है। वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके सिवाय अन्य पदार्थोंका यथासंभव प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञान मानता है, पर धर्मका ज्ञान वेद के ही द्वारा मानता है। जब कि जैन परम्परा प्रारम्भसे ही वीतरागी पुरुषके तत्त्वज्ञानमूलक वचनोंको धर्मादिमें प्रमाण मानती आई है। इसीलिए इस परम्परामें पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकृत हुई है। इस विवेचनसे इतना स्पष्ट है कि कोई भी शास्त्र मात्र शास्त्र होनेके कारण ही जैन परम्पराको स्वीकार्य नहीं हो सकता जब तक कि उसके वीतराग–यथार्थ-वेदिप्रणीतत्व का निश्चय न हो जाय। साक्षात् सर्वज्ञकृतत्वके निश्चय या सर्वज्ञप्रणीत मूल-परम्परागतत्व के निश्चयके बिना कोई भी शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाणकोटिमें उपस्थित नहीं किया जा सकता।

वेदकी गुलामीको जैन तत्त्वज्ञानियोंने हमारे ऊपरसे उतारकर हमें पुरुषानुभवमूलक पौरुषेय वचनोंको परीक्षापूर्वक माननेकी राय दी है। पर शास्त्रोंके नामपर अनेक मूल परम्परामें अनिर्दिष्ट विषयोंके संग्राहक भी शास्त्र तैयार हो गये हैं। अतः हमें यह विवेक तो करना ही होगा कि इस शास्त्रके द्वारा प्रतिपाद्य विषय मूल अहिंसापरम्परासे मेल खाते हैं या नहीं? अथवा तत्कालीन ब्राह्मणधर्मके प्रभावसे प्रभावित हुए हैं। श्री पंडित जुगुलकिशोरजी मुख्तारने ग्रन्थपरीक्षाके तीन भागोंमें अनेक ऐसे ही ग्रन्थोंकी आलोचना की है जो उमास्वामी और पूज्यपाद जैसे युगनिर्माता आचार्योंके नामपर बनाए गए हैं। जिस जन्मना जातिव्यवस्थाका जैन संस्कृतिने अस्वीकार किया था कुछ पुराणग्रन्थोंमें वही अनेक संस्कार और परिकरोंके साथ विराजमान है। जैनसंस्कृति बाह्य आडम्बरोंसे शून्य अध्यात्म-अहिंसक संस्कृति है। उसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। ब्राह्मणधर्ममें धर्मका उच्चाधिकारी ब्राह्मण है जब कि जैन संस्कृतिने धर्मका प्रत्येक द्वार मानवमात्रकेलिए उन्मुक्त रखा है। किसी भी जातिका किसी भी वर्णका मानव धर्मके उच्च स्तर तक बिना किसी रुकावटके पहुँच सकता है। पर कालक्रमसे यह संस्कृति ब्राह्मणधर्मसे पराभूत हो गई है और इसमें भी वर्णव्यवस्था और जातिगत उच्चनीच भाव आदि शामिल हो गये हैं। तर्पण श्राद्ध उपाध्यायप्रथा आदि इसमें भी प्रचलित हुए हैं। यज्ञोपवीतादि संस्कारोंने जोर पकड़ा है। दक्षिण में तो जैन और ब्राह्मणमें फर्क करना भी कठिन हो गया है। तदनुसार ही अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ हुईं और सभी शास्त्रके नामपर प्रचलित हैं। त्रिवर्णाचार और चर्चासागर जैसे ग्रन्थ भी शास्त्रके खातेमें खत-याए हुए हैं। शासन देवताओंकी पूजा प्रतिष्ठा दायभाग आदिके शास्त्र भी बने हैं। कहनेका तात्पर्य

यह कि मात्र शास्त्र होनेके कारण ही हर एक पुस्तक प्रमाण और ग्राह्य नहीं कही जा सकती। अनेक टीकाकारोंनेभी मूलग्रन्थका अभिप्राय समझनेमें भूलें की हैं। अस्तु।

हमें यह तो मानना ही होगा कि शास्त्र पुरुषकृत हैं। यद्यपि वे महापुरुष विशिष्ट ज्ञानी और लोक कल्याणकी सद्भावनावाले थे पर क्षायोपशमिकज्ञानवश या परम्परावश मतभेदकी गुंजायश तो हो ही सकती है। ऐसे अनेक मतभेद गोम्मटसार आदिमें स्वयं उल्लिखित हैं। अतः शास्त्र विषयक सम्यग्दर्शन भी प्राप्त करना होगा कि शास्त्रमें किस युगमें किस पात्रके लिए किस विवक्षासे क्या बात लिखी गई है? उनका ऐतिहासिक पर्यवेक्षण भी करना होगा। दर्शनशास्त्रके ग्रन्थोंमें खण्डन मण्डन के प्रसंगमें तत्कालीन या पूर्वकालीन ग्रन्थोंका परस्परमें आदान-प्रदान पर्याप्त रूपसे हुआ है। अतः आत्म-संशोधकको जैन संस्कृतिकी शास्त्र विषयक दृष्टि भी प्राप्त करनी होगी। हमारे यहां गुणकृत प्रमाणता है। गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया वह शास्त्र जिसमें हमारी मूलधारासे विरोध न आता हो, प्रमाण है।

इसीतरह हमें मन्दिर, संस्था, समाज, शरीर, जीवन, विवाह आदिका सम्यग्दर्शन करके सभी प्रवृत्तियोंकी पुनारचना आत्मममत्वके आधारसे करनी चाहिए तभी मानव जातिका कल्याण और व्यक्तिकी मुक्ति हो सकेगी।

तत्त्वाधिगम के उपाय—

"ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः॥"—लघीय०।

अकलंकदेवने लघीयस्त्रय स्ववृत्तिमें बताया है कि जीवादि तत्त्वोंका सर्वप्रथम निक्षेपोंके द्वारा न्यास करना चाहिए, तभी प्रमाण और नयसे उनका यथावत् सम्यग्ज्ञान होता है। ज्ञान प्रमाण होता है। आत्मादिको रखनेका उपाय न्यास है। ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। प्रमाण और नय ज्ञानात्मक उपाय हैं और निक्षेप वस्तुरूप है। इसीलिए निक्षेपोंमें नययोजना कषायपाहुडचूर्णि आदिमें की गई है कि अमुक नय अमुक निक्षेपको विषय करता है।

निक्षेप—निक्षेपका अर्थ है रखना अर्थात् वस्तुका विश्लेषण कर उसकी स्थितिकी जितने प्रकारकी संभावनाएँ हो सकती हैं उनको सामने रखना। जैसे 'राजाको बुलाओ' यहाँ राजा और बुलाना इन दो पदोंका अर्थबोध करना है। राजा अनेक प्रकारके होते हैं यथा 'राजा' इस शब्दको भी राजा कहते हैं, पट्टीपर लिखे हुए 'राजा' इन अक्षरोंको भी राजा कहते हैं, जिस व्यक्तिका नाम राजा है उसे भी राजा कहते हैं, राजाके चित्रको या मूर्तिको भी राजा कहते हैं, शतरंजके मुहरों में भी एक राजा होता है, जो आगे राजा होनेवाला है उसे भी लोग आजसे ही राजा कहने लगते हैं, राजाके ज्ञानको भी राजा कहते हैं, जो वर्तमानमें शासनाधिकारी है उसे भी राजा कहते हैं। अतः हमें कौन राजा विवक्षित है? बच्चा यदि राजा माँगता है तो उस समय किस राजाकी आवश्यकता होगी, शतरंजके समय कौन राजा अपेक्षित होता है। अनेक प्रकारके राजाओंसे अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित राजाका ज्ञान करा देना निक्षेपका प्रयोजन है। राजाविषयक संशयका निराकरण कर विवक्षित राजाविषयक यथार्थबोध करा देना ही निक्षेपका कार्य है। इसी तरह बुलाना भी अनेक प्रकारका होता है। तो 'राजाको बुलाओ' इस वाक्यमें जो वर्तमान शासनाधिकारी है वह भावराजा विवक्षित है, न शब्दराजा, न ज्ञानराजा न लिपि-राजा न मूर्तिराजा न भावीराजा आदि। पुरानी परम्परामें अपने विवक्षित अर्थका सटीक ज्ञान करानेकेलिए प्रत्येक शब्दके संभावित वाच्यार्थोंको सामने रखकर उनका विश्लेषण करनेकी परिपाटी थी। आगमोंमें प्रत्येक शब्दका निक्षेप किया गया है। यहां तक कि 'शेष' शब्द और 'च' शब्द भी निक्षेप विधिमें भुलाये नहीं गये हैं। शब्द ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे व्यवहार चलते हैं। कहीं शब्दव्यवहारसे कार्य चलता

है तो कहीं ज्ञानसे तो कहीं अर्थसे। बच्चेको डरानेके लिए शेर शब्द पर्याप्त है। शेरका ध्यान करनेके लिए शेरका ज्ञान भी पर्याप्त है। पर सरकसमें तो शेर पदार्थ ही चिंघाड़ सकता है।

विवेचनीय पदार्थ जितने प्रकारका हो सकता है उतने सब संभावित प्रकार सामने रखकर अप्रस्तुतका निराकरण करके विवक्षित पदार्थको पकड़ना निक्षेप है। तत्त्वार्थसूत्रकारने इस निक्षेपको चार भागोंमें बाँटा है—शब्दात्मक व्यवहारका प्रयोजक नामनिक्षेप है, इसमें वस्तुमें उस प्रकारके गुण जाति क्रिया आदिका होना आवश्यक नहीं है जैसा उसे नाम दिया जा रहा है। किसी अन्धेका नाम भी नयनसुख हो सकता है और किसी सूखकर काँटा हुए दुर्बल व्यक्तिको भी महावीर कहा जा सकता है। ज्ञानात्मक व्यवहारका प्रयोजक स्थापना निक्षेप है। इस निक्षेपमें ज्ञानके द्वारा तदाकार या अतदाकार में विवक्षित वस्तुकी स्थापना कर ली जाती है और संकेत ज्ञानके द्वारा उसका बोध करा दिया जाता है। अर्थात्मक निक्षेप द्रव्य और भावरूप होता है। जो पर्याय आगे होनेवाली है उसमें योग्यताके बलपर आज भी वह व्यवहार करना अथवा जो पर्याय हो चुकी है उसका व्यवहार वर्तमानमें भी करना द्रव्यनिक्षेप है जैसे युवराजको राजा कहना और राजपदका जिसने त्याग कर दिया है उसको भी राजा कहना। वर्तमानमें उस पर्यायवाले व्यक्तिमें ही वह व्यवहार करना भावनिक्षेप है, जैसे सिंहासनस्थित शासनाधिकारीको राजा कहना। आगमोंमें द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको मिलाकर यथासंभव पांच, छह और सात निक्षेप भी उपलब्ध होते हैं परन्तु इस निक्षेपका प्रयोजन इतना ही है कि शिष्यको अपने विवक्षित पदार्थका ठीक ठीक ज्ञान हो जाय। धवला टीकामें (पृ० ३१) निक्षेपके प्रयोजनोंका संग्रह करनेवाली यह प्राचीन गाथा उद्धृत है—

"अवगयनिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"

अर्थात्—अप्रकृतका निराकरण करनेके लिए, प्रकृतका निरूपण करनेके लिए, संशयका विनाश करनेके लिए और तत्त्वार्थका निर्णय करनेके लिए निक्षेपकी उपयोगिता है।

प्रमाण, नय और स्याद्वाद—निक्षेप विधिसे वस्तुको फैलाकर अर्थात् उसका विश्लेषण कर प्रमाण और नयके द्वारा उसका अधिगम करनेका क्रम शास्त्रसम्मत और व्यवहारोपयोगी है। ज्ञानकी गति दो प्रकारसे वस्तुको जाननेकी होती है। एक तो अमुक अंशके द्वारा पूरी वस्तुको जाननेकी और दूसरी उसी अमुक अंशको जाननेकी। जब ज्ञान पूरी वस्तुको ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है तथा जब वह एक अंशको जानता है तब नय। पर्वतके एक भागके द्वारा पूरे पर्वतका अखण्ड भावसे ज्ञान प्रमाण है और उसी अंश का ज्ञान नय है। सिद्धान्तमें प्रमाणको सकलादेशी तथा नयको विकलादेशी कहा है उसका यही तात्पर्य है कि प्रमाण ज्ञात वस्तुभागके द्वारा सकल वस्तुको ही ग्रहण करता है जब कि नय उसी विकल अर्थात् एक अंशको ही ग्रहण करता है। जैसे आंखसे घटके रूपको देखकर रूपमुखेन पूर्ण घटका ग्रहण करना सकलादेश है और घटमें रूप है इस रूपांशको जानना विकलादेश अर्थात् नय है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुका यावत् विशेषोंके साथ संपूर्ण रूपसे ग्रहण करना तो अल्पज्ञानियोंके वशकी बात नहीं है वह तो पूर्ण ज्ञानका कार्य हो सकता है। पर प्रमाणज्ञान तो अल्पज्ञानियोंका भी कहा जाता है अतः प्रमाण और नय की भेदक रेखा यही है कि जब ज्ञान अखंड वस्तु पर दृष्टि रखे तब प्रमाण तथा जब अंशपर दृष्टि रखे तब नय। वस्तुमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके धर्म पाए जाते हैं। प्रमाण ज्ञान सामान्यविशेषात्मक पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है जब कि नय केवल सामान्य अंशको या विशेष अंशको। यद्यपि केवल सामान्य और केवल विशेषरूप वस्तु नहीं है पर नय वस्तुको अंशभेद करके ग्रहण करता है। वक्ताके अभिप्रायविशेषको ही नय कहते हैं। नय जब विवक्षित अंशको ग्रहण करके भी इतर अंशोंका निराकरण नहीं करता उनके प्रति तटस्थ रहता है तब सुनय कहलाता है और जब वही एक अंशका आग्रह करके दूसरे अंशोंका निराकरण करने लगता है तब दुर्नय कहलाता है।

नय—विचार व्यवहार साधारणतया तीन भागोंमें बाँटे जा सकते हैं—१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। अनेक ग्राम्य व्यवहार या लौकिक व्यवहार संकल्पके आधारसे ही चलते हैं। जैसे रोटी बनाने या कपड़ा बुननेकी तैयारी के समय रोटी बनाता हूँ, कपड़ा बुनता हूँ, इत्यादि व्यवहारोंमें संकल्पमात्रमें ही रोटी या कपड़ा व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार अनेक प्रकार के औपचारिक व्यवहार अपने ज्ञान या संकल्पके अनुसार हुआ करते हैं। दूसरे प्रकारके व्यवहार अर्थाश्रयी होते हैं—अर्थमें एक ओर एक नित्य व्यापी और सन्मात्ररूपसे चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है तो दूसरी ओर क्षणिकत्व परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी। इन दोनों अन्तोंके बीच अनेक अवान्तर भेद और अभेदोंका स्थान है। अभेद कोटि औपनिषद अद्वैतवादियोंकी है। दूसरी कोटि वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिकनिरंश-परमाणुवादी बौद्धोंकी है। तीसरी कोटिमें पदार्थको अनेक प्रकारसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक वैशेषिक आदि दर्शन हैं। तीसरे प्रकारके शब्दाश्रित व्यवहारोंमें भिन्न कालवाचक, भिन्न कारकोंमें निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्न पर्यायवाले, और विभिन्न क्रियावाचक शब्द एक अर्थको या अर्थकी एक पर्यायको नहीं कह सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिए। इस तरह इन ज्ञान अर्थ और शब्दका आश्रय लेकर होनेवाले विचारोंके समन्वयके लिए नयदृष्टियोंका उपयोग है।

इसमें संकल्पाधीन यावत् ज्ञानाश्रित व्यवहारोंके ग्राहक नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही बताया है। तत्त्वार्थभाष्यमें अनेक ग्राम्य व्यवहारोंका तथा औपचारिक लोकव्यवहारोंका स्थान इसी नयकी विषयमर्यादा में निश्चित किया है।

आ० सिद्धसेनने अभेदग्राही नैगमका संग्रहनयमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहार नयमें अन्तर्भाव किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे नैगमको संकल्पमात्रग्राही मानकर अर्थग्राही स्वीकार करते हैं। अकलङ्कदेवने यद्यपि राजवार्तिकमें पूज्यपादका अनुसरण करके नैगमनयको संकल्पमात्रग्राही लिखा है फिरभी लघीयस्त्रय (का० ३९) में उन्होंने नैगमनयको अर्थके भेदको या अभेदको ग्रहण करनेवाला भी बताया है। इसीलिए इन्होंने स्पष्ट रूपसे नैगम आदि ऋजुसूत्रान्त चार नयोंको अर्थनय माना है।

अर्थाश्रित अभेदव्यवहारका, जो "**आत्मैवेदं सर्वम्**" आदि उपनिषद्वाक्योंसे व्यक्त होता है, पर-संग्रहनयमें अन्तर्भाव होता है। यहाँ एक बात विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शनमें दो या अधिक द्रव्योंमें अनुस्यूत सत्ता रखनेवाला कोई सत् नामका सामान्यपदार्थ नहीं है। अनेक द्रव्योंका सद्रूपसे जो संग्रह किया जाता है वह सत्सादृश्यके निमित्तसे ही किया जाता है न कि सदेकत्वकी दृष्टिसे। हां, सदेकत्वकी दृष्टिसे प्रत्येक सत्की अपनी क्रमवर्ती पर्यायोंका और सहभावी गुणोंका अवश्य संग्रह हो सकता है; पर दो सत्में अनुस्यूत कोई एक सत्त्व नहीं है। इस परसंग्रहके आगे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहिले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंका व्यवहारनयमें समावेश होता है। इन अवान्तर भेदोंको न्यायवैशेषिक आदि दर्शन ग्रहण करते हैं। अर्थकी अन्तिम देशकोटि परमाणुरूपता तथा चरमकालकोटि क्षणमात्रस्थायिताको ग्रहण करनेवाली बौद्ध दृष्टि ऋजुसूत्रकी परिधिमें आती है। यहाँतक अर्थको सामने रखकर भेद तथा अभेद ग्रहण करनेवाले अभिप्राय बताये गये हैं। इसके आगे शब्दाश्रित विचारोंका निरूपण किया जाता है।

काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदिकी दृष्टिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं, इस कालादिभेदसे शब्दभेद मानकर अर्थभेद माननेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनमें निष्पन्न तथा एक कालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं; इन पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेद माननेवाला समभिरूढनय है। एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रियामें परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिए। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियावाची हैं। गुणवाचक शुक्लशब्द भी शुचिभवन-

रूप क्रियासे, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक चलति शब्द चलनेरूप क्रियासे नामवाचक यदृच्छाशब्द देवदत्त आदि भी 'देवने इसको दिया' इस क्रियासे निष्पन्न हुए हैं। इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दको आश्रय लेकर होनेवाले ज्ञाताके अभिप्रायोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है। यह समन्वय एक खास शर्तपर हुआ है। वह शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि या अभिप्राय अपने प्रतिपक्षी अभिप्रायका निराकरण नहीं कर सकेगा। इतना हो सकता है कि जहाँ एक अभिप्रायकी मुख्यता रहे वहाँ दूसरा अभिप्राय गौण हो जाय। यही सापेक्षभाव नयका प्राण है, इसीसे नय सुनय कहलाता है। आ० समन्तभद्र आदिने सापेक्षको सुनय तथा निरपेक्षको दुर्नय बतलाया है।

इस संक्षिप्त कथनमें सूक्ष्मतासे देखा जाय तो दो प्रकारकी दृष्टियाँ ही मुख्यरूपसे कार्य करती हैं एक अभेद दृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियोंका अवलम्बन चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना भेद या अभेद दो ही रूप से की जा सकती है। उस कल्पनाका प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारभूत दृष्टियोंको द्रव्यनय और पर्यायनय कहते हैं। अभेदको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है तथा भेदग्राही पर्यायार्थिकनय है। इन्हें मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त नयोंके मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादिनय तो इन्हींकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक, मातृकापदास्तिक, निश्चयनय, शुद्धनय आदि शब्द द्रव्यार्थिकके अर्थमें तथा उत्पन्नास्तिक, पर्यायास्तिक, व्यवहारनय, अशुद्धनय, आदि पर्यायार्थिकके अर्थमें व्यवहृत होते हैं।

इन नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् असत् दोनोंको विषय करता था इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रहनय उससे सूक्ष्म एवं अल्पविषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेष-ग्राही व्यवहारनयसे वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दभेद होनेपर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्रसे कालादि भेदसे शब्दभेद मानकर भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायभेद होनेपर भी अभिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थभेदग्राही समभिरूढ़ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियाभेदसे अर्थभेद नहीं माननेवाले समभिरूढ़से क्रिया-भेद होनेपर भी अर्थभेदग्राही एवम्भूत परमसूक्ष्म एवम्अत्यल्पविषयक है।

नय-दुर्नय—नय वस्तुके एक अंशको ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करता उन्हें गौण करता है। दुर्नय अन्यधर्मोंका निराकरण करता है। नय साक्षेप होता है दुर्नय निरपेक्ष। प्रमाण उभयधर्मग्राही हैं। अकलङ्कदेवने बहुत सुन्दर लिखा है—**"धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाण-नयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात् तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च"** (अष्टा-श० अष्टसह० पृ० २९०) अर्थात् प्रमाण तत् और अतत् सभी अंशोंसे पूर्ण वस्तुको जानता है, नयसे केवल तत्-विवक्षित अंशकी प्रतिपत्ति होती है और दुर्नय अपने अविषय अंशोंका निराकरण करता है। नय धर्मान्तरोंकी उपेक्षा करता है जबकि दुर्नय धर्मान्तरोंकी हानि अर्थात् निराकरण करनेकी दुष्टता करता है। प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी होता है। यद्यपि दोनोंका कथन शब्दसे होता है फिर भी दृष्टिभेद होने से यह अन्तर हो जाता है। यथा, 'स्यादस्ति घटः' यह वाक्य जब सकला-देशी होगा तब अस्तिके द्वारा पूर्ण वस्तुको ग्रहण कर लेगा। जब यह विकालदेशी होगा तब अस्तिको मुख्य-तथा शेषधर्मोंको गौण करेगा। विकलादेशी नय विवक्षित एक धर्मको मुख्यरूपसे तथा शेषको गौणरूपसे ग्रहण करते हैं जबकि सकलादेशी प्रमाणका प्रत्येक वाक्य पूर्ण वस्तुको समानभावसे ग्रहण करता है। सकलादेशी वाक्योंमें भिन्नताका कारण है—शब्दोच्चारणकी मुख्यता। जिस प्रकार एक पूरे चौकोण कागजको क्रमशः चारों कोने पकड़कर पूराका पूरा उठाया जा सकता है उसी प्रकार अनन्तधर्मा वस्तुके किसी भी धर्मके द्वारा पूरीकी पूरी वस्तु ग्रहण की जा सकती है। इसमें वाक्योंमें परस्पर भिन्नता इतनी ही है कि उस धर्मके द्वारा या तद्वाचक शब्दप्रयोग करके वस्तुको ग्रहण कर रहे हैं। इसी शब्दप्रयोगकी मुख्यता

से प्रमाणसप्तभंगीका प्रत्येक वाक्य भिन्न हो जाता है। नयसप्तभंगीमें एक धर्म प्रधान होता है तथा अन्यधर्म गौण। इसमें मुख्यधर्म ही गृहीत होता है, शेषका निराकरण तो नहीं होता पर ग्रहण भी नहीं होता। यही सकलादेश और विकलादेशका पार्थक्य है। 'स्यात्' शब्दका प्रयोग दोनोंमें होता है। सकलादेशमें प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द यह बताता है कि जैसे अस्तिमुखेन सकल वस्तुका ग्रहण किया गया है वैसे 'नास्ति' आदि अनन्त मुखोंसे भी ग्रहण हो सकता है। विकलादेशका स्यात् शब्द विवक्षित धर्मके अतिरिक्त अन्य शेष धर्मोंका वस्तुमें अस्तित्व सूचित करता है।

स्याद्वाद

स्याद्वाद—जैनदर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्को परिणामीनित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। अनेकान्तात्मक अर्थका निर्दुष्ट रूपसे कथन करनेवाली भाषा स्याद्वाद रूप होती है। उसमें जिस धर्मका निरूपण होता है उसके साथ 'स्यात्' शब्द इसलिए लगा दिया जाता है जिससे पूरी वस्तु उसी धर्मरूप न समझ ली जाय। अविवक्षित शेष धर्मोंका अस्तित्व भी उसमें है यह प्रतिपादन 'स्यात्' शब्दसे होता है।

स्याद्वादका अर्थ है—स्यात्—अमुक निश्चित अपेक्षासे। अमुक निश्चित अपेक्षासे घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षासे घट नास्ति ही है। स्यात्का अर्थ न शायद है न सम्भवतः और न कदाचित् ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। इस शब्दके अर्थको पुराने मतवादी दार्शनिकोंने ईमानदारीसे समझनेका प्रयास तो नहीं ही किया था किंतु आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकी दुहाई देनेवाले दर्शनलेखक उसी भ्रान्त परम्पराका पोषण करते आते हैं।

स्याद्वाद—सुनयका निरूपण करनेवाली भाषा पद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है उसमें इसके अतिरिक्त भी धर्म विद्यमान हैं। तात्पर्य यह कि—अविवक्षित शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व स्यात् शब्द करता है। 'रूपवान् घटः' यह वाक्य भी अपने भीतर 'स्यात्' शब्दको छिपाए हुए है। इसका अर्थ है कि 'स्यात् रूपवान् घटः' अर्थात् चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य होनेसे या रूप गुणकी सत्ता होनेसे घड़ा रूपवान् है, पर रूपवान् ही नहीं है उसमें रस गन्ध स्पर्श आदि अनेक गुण, छोटा, बड़ा आदि अनेक धर्म विद्यमान हैं। इन अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा करनेवाला 'स्यात्' शब्द है। 'स्यात्' का अर्थ शायद या सम्भावना नहीं है किन्तु निश्चय है। अर्थात् घड़े में रूपके अस्तित्वकी सूचना तो रूपवान् शब्द दे ही रहा है। पर उन उपेक्षित शेष धर्मोंके अस्तित्वकी सूचना 'स्यात्' शब्दसे होती है। सारांश यह कि 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्'के साथ नहीं जुटता है, किन्तु अविवक्षित धर्मोंके साथ। वह 'रूपवान्'को पूरी वस्तु पर अधिकार जमानेसे रोकता है और कह देता है कि वस्तु बहुत बड़ी है उसमें रूप भी एक है। ऐसे अनन्त गुणधर्म वस्तुमें लहरा रहे हैं। अभी रूपकी विवक्षा या उसपर दृष्टि होनेसे वह सामने है या शब्दसे उच्चरित हो रहा है सो वह मुख्य हो सकता है पर वही सब कुछ नहीं है। दूसरे क्षणमें रसकी मुख्यता होनेपर रूप गौण हो जायगा और वह अविवक्षित शेष धर्मोंकी राशिमें शामिल हो जायगा।

'स्यात्' शब्द एक प्रहरी है, जो उच्चरित धर्मको इधर उधर नहीं जाने देता। वह उन अविवक्षित धर्मोंका संरक्षक है। इसलिए 'रूपवान्'के साथ 'स्यात्' शब्दका अन्वय करके जो लोग घड़ेमें रूपकी भी स्थितिको स्यात्का शायद या संभावना अर्थ करके संदिग्ध बनाना चाहते हैं वे भ्रममें हैं। इसीतरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्यमें 'घटः अस्ति' यह अस्तित्व अंश घटमें सुनिश्चितरूपसे विद्यमान है। स्यात् शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नहीं बनाता किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोंके सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। सारांश यह कि 'स्यात्' पद एक स्वतंत्र पद है जो वस्तुके शेषांशका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चरित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको न हड़प जाय, अपने अन्य नास्ति

आदि सहयोगियोंके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रतिवाक्यमें चेतावनी देता रहता है कि हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोंके हकको हड़पनेकी चेष्टा नहीं करना। इस भयका कारण है–'नित्य ही है, अनित्य ही है' आदि अंशवाक्योंने अपना पूर्ण अधिकार वस्तुपर जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्में अनेक तरह से वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है. पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक मतवादोंकी सृष्टि करके अहंकार हिंसा संघर्ष अनुदारता परमतासहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और आकुलतामय बना दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है जिससे अहंकारका सर्जन होता है और वस्तुके अन्य धर्मोंके सद्भावसे इनकार करके पदार्थके साथ अन्याय होता है।

'स्यात्' शब्द एक निश्चित अपेक्षाको द्योतन करके जहाँ 'अस्तित्व' धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहाँ उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि–हे अस्ति, तुम अपने अधिकारकी सीमाको समझो। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी दृष्टि से जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो उसी तरह पर द्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा भाई भी उसी घटमें है। इसी प्रकार घटका परिवार बहुत बड़ा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे काम है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी विवक्षा है। अतः इस समय तुम मुख्य हो। पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि–*तुम अपने समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको भी नष्ट करनेका दुष्प्रयास करो।* वास्तविक बात तो यह है कि यदि 'पर'की अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो तो जिस घड़ेमें तुम रहते हो वह घड़ा घड़ा ही न रहेगा कपड़ा आदि पररूप हो जायगा। अतः जैसी तुम्हारी स्थिति है वैसी ही पररूपकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्मकी भी स्थिति है। तुम उनकी हिंसा न कर सको इसके लिए अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहिले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नहीं है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि अनन्त भाइयोंको वस्तुमें रहने देते हो और बड़े प्रेमसे सबके सब अनन्त धर्मभाई हिलमिलकर रहते हो पर इन वस्तुदर्शियोंकी दृष्टिको क्या कहा जाय! इनकी दृष्टि ही एकांगी है। ये शब्दके द्वारा तुममेंसे किसी एक 'अस्ति' आदिको मुख्य करके उसकी स्थिति इतनी अहंकारपूर्ण कर देना चाहते हैं जिससे वह 'अस्ति' अन्यका निराकरण करने लग जाय। बस, **'स्यात्' शब्द एक अञ्जन है** जो उनकी दृष्टिको विकृत नहीं होने देता और उसे निर्मल तथा पूर्णदर्शी बनाता है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषहारी, शब्दको सुधारूप बनानेवाले, सचेतक प्रहरी, अहिंसक भावनाके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोंने न्याय तो किया ही नहीं किन्तु उसके स्वरूपका शायद, संभव है, 'कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका दुष्ट प्रयत्न अवश्य किया है तथा अभी भी किया जा रहा है।

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि–'घड़ा जब अस्ति है तो नास्ति कैसे हो सकता है, घड़ा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है, यह तो प्रत्यक्ष विरोध है' पर विचार तो करो घड़ा घड़ा ही है, कपड़ा नहीं, कुरसी नहीं, टेबिल नहीं, गाय नहीं, घोड़ा नहीं तात्पर्य यह कि वह घटभिन्न अनन्त पदार्थरूप नहीं है। तो यह कहनेमें आपको क्यों संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है, घटभिन्न पररूपोंसे नास्ति है। इस घड़ेमें अनन्त पररूपोंकी अपेक्षा 'नास्तित्व' धर्म है, नहीं तो दुनियामें कोई शक्ति घड़ेको कपड़ा आदि बननेसे रोक नहीं सकती थी। यह 'नास्ति' धर्म ही घड़ेको घड़े रूपमें कायम रखनेका हेतु है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति'के प्रयोगके समय 'स्यात्' शब्द दे देता है। इसी तरह घड़ा एक है। पर वही घड़ा रूप रस गन्ध स्पर्श छोटा बड़ा हलका भारी आदि अनन्त शक्तियोंकी दृष्टिसे अनेक रूपमें दिखाई देता है या नहीं? यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक रूपमें दिखाई देता है तो आपको यह कहनेमें क्यों कष्ट होता है कि–'घड़ा द्रव्य-रूपसे एक है, पर अपने

गुण धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' कृपा कर सोचिए कि वस्तुमें जब अनेक विरोधी धर्मोंका प्रत्यक्ष हो ही रहा है और स्वयं वस्तु अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीड़ास्थल है तब हमें उसके स्वरूपको विकृत रूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नहीं करनी चाहिए। जो 'स्यात्' शब्द वस्तुके इस पूर्ण-रूप दर्शनकी याद दिलाता है उसे ही हम 'विरोध संशय' जैसी गालियोंसे दुरदुराते हैं। किमाश्चर्यमतः परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकांश ध्यानमें आ जाता है कि–

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्"

अर्थात्–यदि यह अनेकधर्मरूपता वस्तुको स्वयं पसन्द है, उसमें है, वस्तु स्वयं राजी है तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन? जगत्‌का एक एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें अपनी दृष्टि निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हमारी दृष्टिमें है। और इस दृष्टिविरोधकी अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको कटु तो जरूर मालूम होती है पर इसके बिना यह दृष्टिविषम-ज्वर उतर भी नहीं सकता।

प्रो० बलदेव उपाध्यायने भारतीय दर्शन (पृ० १५५) में स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि–"स्यात् (शायद, सम्भवतः) शब्द अस् धातुके विधिलिंगके रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घड़ेके विषयमें हमारा परामर्श 'स्यादस्ति–संभवतः यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिए।" यहाँ 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो उपाध्यायजी स्वीकार नहीं करना चाहते। इसीलिए वे शायद शब्दको कोष्ठकमें लिखकर भी आगे 'संभवतः' शब्दका समर्थन करते हैं। वैदिक आचार्योंमें शंकराचार्यने शांकरभाष्यमें स्याद्वादको संशयरूप लिखा है इसका संस्कार आज भी कुछ विद्वानोंके माथेमे पड़ा हुआ है और वे उस संस्कारवश स्यात्‌का अर्थ शायद लिख ही जाते हैं। जब यह स्पष्ट रूपसे अवधारण करके कहा जाता है कि–'घटः स्यादस्ति अर्थात् घड़ा अपने स्वरूपसे है ही।' 'घटः स्यान्नास्ति–घट स्वभिन्न पररूपसे नहीं ही है' तब संशयको स्थान कहाँ है? स्यात् शब्द जिस धर्मका प्रतिपादन किया जा रहा है उससे भिन्न अन्य धर्मोंके सद्भावको सूचित करता है। वह प्रति समय श्रोता को यह सूचना देना चाहता है कि वक्ताके शब्दोंसे वस्तुके जिस स्वरूपका निरूपण हो रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें अन्य धर्म भी विद्यमान है। जब कि संशय और शायदमें एक धर्म निश्चित नहीं होता। जैनके अनेकान्तमें अनन्त ही धर्म निश्चित हैं, और उनके दृष्टिकोण भी निश्चित हैं तब संशय और शायदकी उस भ्रान्त परम्पराको आज भी अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् भी चलाए जाते हैं। यह रूढ़िवादका ही माहात्म्य है!

इसी संस्कारवश प्रो० बलदेवजी स्यात्‌के पर्यायवाचियोंमें शायद शब्दको लिखकर (पृ०१७३) जैन दर्शनकी समीक्षा करते समय शंकराचार्यकी वकालत इन शब्दोंमें करते हैं कि–"यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय दृष्टिसे वह पदार्थोंके विभिन्न रूपोंका समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमें अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमें रखकर शंकराचार्यने इस 'स्याद्वाद'का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियोंके सहारे किया है।" पर उपाध्यायजी, जब आप स्यात्‌का अर्थ निश्चित रूपसे 'संशय' नहीं मानते तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है? आप कृपाकर **स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथझाके** इन वाक्योंको देखें—

"जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्यों ने नहीं समझा।"

श्री फणिभूषण अधिकारी तो और स्पष्ट लिखते हैं कि–"**जैनधर्मके** स्याद्वाद सिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। **यहाँ तक कि शंकराचार्य** भी इस

दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्मके दर्शनशास्त्रके मूलग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।"

जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान हैं उन्हींका समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आप वास्तव बहुत्ववादी लिख आये हैं। अनेक स्वतंत्र सत् व्यवहारके लिए सद्रूपसे एक कहे जायँ पर वह काल्पनिक एकत्व वस्तु नहीं हो सकता? यह कैसे सम्भव है कि चेतन और अचेतन दोनों ही एक सत्के प्रातिभासिक विवर्त हों? जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजी संकेत करते हैं उस ओर भी जैन दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही दृष्टिपात किया है। परमसंग्रह नयकी दृष्टिसे सद्रूपसे यावत् चेतन अचेतन द्रव्योंका संग्रह करके 'एकं सत्' इस शब्दव्यवहारके करनेमें जैन दार्शनिकोंको कोई आपत्ति नहीं है। सैकड़ों काल्पनिक व्यवहार होते हैं, पर इससे मौलिक तत्त्वव्यवस्था नहीं की जा सकती? एक देश या एक राष्ट्र अपनेमें क्या वस्तु है? समय समय पर होनेवाली बुद्धिगत दैशिक एकताके सिवाय एक देश या एक राष्ट्र का स्वतंत्र अस्तित्व ही क्या है? अस्तित्व जुदा जुदा भूखण्डोंका अपना है। उसमें व्यवहारकी सुविधाके लिए प्रान्त और देश संज्ञाएँ जैसे काल्पनिक हैं व्यवहारसत्य हैं उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिकसत् होकर व्यवहारसत्य तो बन सकता है और कल्पनाकी दौड़का चरम बिन्दु भी हो सकता है पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असम्भव है। आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है और सब मौलिक अणुओंकी पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। उनमें अभेद और इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त आदि सभी लीन हो जायँ कल्पनासाम्राज्यकी अन्तिम कोटि है। और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न मानने के कारण यदि जैन दर्शनका स्याद्वाद सिद्धान्त आपको मूलभूत तत्त्वके स्वरूप समझानेमें नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो हो, पर वह वस्तुसीमाका उल्लंघन नहीं कर सकता और न कल्पनालोककी लंबी दौड़ ही लगा सकता है।

स्यात् शब्दको उपाध्यायजी संशयका पर्यायवाची नहीं मानते यह तो प्रायः निश्चित है क्योंकि आप स्वयं लिखते हैं (पृ० १७३) कि—"यह अनेकान्तवाद संशयवादका रूपान्तर नहीं है" पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते हैं। परन्तु स्यात्का अर्थ 'संभवतः' करना भी न्याय संगत नहीं है क्योंकि संभावना संशयमें जो कोटियां उपस्थित होती हैं उनकी अर्धनिश्चितताकी ओर संकेत मात्र है, निश्चय उससे भिन्न ही है। उपाध्यायजी स्याद्वादको संशयवाद और निश्चयवादके बीच संभावनावादकी जगह रखना चाहते हैं जो एक अनध्यवसायात्मक अनिश्चयके समान है। परन्तु जब स्याद्वाद स्पष्टरूपसे डंकेकी चोट यह कह रहा है कि—घड़ा स्यादस्ति अर्थात् अपने स्वरूप, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने आकार इस स्वचतुष्टयकी अपेक्षा है ही यह निश्चित अवधारण है। घड़ा स्वसे भिन्न यावत् परपदार्थोंकी दृष्टिसे नहीं ही है यह भी निश्चित अवधारण है। इस तरह जब दोनों धर्मोंका अपने अपने दृष्टिकोणसे घड़ा अविरोधी आधार है तब घड़ेको हम उभयदृष्टिसे अस्ति-नास्ति रूप भी निश्चित ही कहते हैं। पर शब्दमें यह सामर्थ्य नहीं है कि घटके पूर्णरूपको—जिसमें अस्ति-नास्ति जैसे एक-अनेक नित्य-अनित्य आदि अनेकों युगल-धर्म लहरा रहे हैं—कह सकें, अतः समग्रभावसे घड़ा अवक्तव्य है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणोंसे तत्तत् धर्मोंके वास्तविक निश्चयकी घोषणा करता है तब इसे संभावनावादमें कैसे रखा जा सकता है? स्यात् शब्दके साथ ही एवकार भी लगा रहता है जो निर्दिष्ट धर्मके अवधारणको सूचित करता है तथा स्यात् शब्द उस निर्दिष्ट धर्मसे अतिरिक्त अन्य धर्मोंकी निश्चित स्थितिकी सूचना देता है। जिससे श्रोता यह न समझ ले कि वस्तु इसी धर्मरूप है। यह स्याद्वाद

कल्पित धर्मों तक व्यवहारके लिए भले ही पहुँच जाय पर वस्तुव्यवस्थाके लिए वस्तुकी सीमाको नहीं लाँघता। अतः न यह संशयवाद है, न अनिश्चयवाद है और न संभावनावाद ही, किंतु खरा अपेक्षा-प्रयुक्त निश्चयवाद है।

इसी तरह **डॉ० देवराजजीका** पूर्वी और पश्चिमी दर्शन (पृ० ६५) में किया गया स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है किसी समय। और प्रचलित अर्थमें यह संशयकी ओर ही झुकता है। स्यात् का प्राचीन अर्थ है कथञ्चित्–अर्थात् किसी निश्चित प्रकारसे, स्पष्ट शब्दोंमें अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे। इस प्रकार अपेक्षाप्रयुक्त निश्चय-वाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायनने तथा इतः पूर्व प्रो० जैकोबी आदिने स्याद्वादकी उत्पत्तिको संजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शन-दिग्दर्शन (पृ० ४९६) में लिखा है कि –"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अंग वाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (परलोक देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकार कहा है–

१ है ? नहीं कह सकता।

२ नहीं है ? नहीं कह सकता।

३ है भी और नहीं भी ? नहीं कह सकता।

४ न है और न नहीं है ? नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१ है ? हो सकता है (स्यादस्ति)

२ नहीं है ? नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

३ है भी और नहीं भी ? है भी और नहीं भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते हैं (–वक्तव्य हैं) ? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं–

४ स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है (–वक्तव्य) है ? नहीं, स्याद् अ-वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।

६ 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भंगियाँ बनाईं हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है' को जोड़कर 'सद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।..... इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (–स्याद) की स्थापना न करना जो कि संजय का वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।"

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभंगी और स्याद्वादको न समझकर केवल शब्दसाम्य से एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है जैसे कि चोरसे 'क्या तुम अमुक जगह गये थे ?' यह पूछनेपर वह कहे कि "मैं नहीं कह सकता कि गया था" और जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि चोर अमुक जगह गया था। तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (पृ० ४९१) इन शब्दोंमें किया है–

"यदि आप पूछें–'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और नहीं है।"

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शतप्रतिशत अनिश्चयवादके हैं। वह स्पष्ट कहता है कि–"यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ।" संजयको परलोक मुक्ति आदिके स्वरूप का कुछ भी निश्चय नहीं था। इसलिए उसका दर्शन वकौल राहुलजीके मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहता और न कुछ निश्चयकर भ्रान्त धारणाओंकी पुष्टि ही करना चाहता है। तात्पर्य यह कि संजय घोर अनिश्चयवादी था।

बुद्ध और संजय–बुद्धने "लोकनित्य हैं, अनित्य है, नित्य-अनित्य है, न नित्य न अनित्य हैं, लोक अन्तवान् है, नहीं है, है–नहीं है, न है न नहीं है, निर्वाणके बाद तथागत होते हैं, नहीं होते, होते–नहीं होते, न होते न नहीं होते, जीव शरीरसे भिन्न है, जीव शरीरसे भिन्न नहीं है।" (माध्यमिक वृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओंको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकायमें (२।२३) इनकी संख्या दश है। इसमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नहीं गिनाया गया है। इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमें कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद निरोध शान्ति परमज्ञान या निर्वाणके लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिए आवश्यक नहीं था। दूसरे शब्दोंमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालना चाहते थे और न भ्रान्त धारणाओंको पुष्ट ही करना चाहते थे। हाँ संजय जब अपनी अज्ञानता या अनिश्चयको साफ साफ शब्दोंमें कह देता है कि यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, तब बुद्ध अपने जानने न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योंके लिए अनुपयोगी, बताकर अपना पीछा छुड़ा लेते हैं। किसी भी तार्किकका यह प्रश्न अभी तक असमाहित ही रह जाता है कि इस अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमें क्या अन्तर है ? सिवाय इसके कि संजय फक्कड़-की तरह खरी खरी बात कह देता है और बुद्ध बड़े आदमियोंकी शालीनताका निर्वाह करते हैं।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा लोक परलोक और मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें—'है (सत्), नहीं (असत्) है–नहीं (सत्असत् उभय), न है न नहीं है (अवक्तव्य या अनुभय)' ये चार कोटियाँ गूँज रही थीं। कोई भी प्राश्निक किसी भी तीर्थंकर या आचार्यसे बिना किसी संकोचके अपने प्रश्नको एक साँसमें ही उक्त चार कोटियोंमें विभाजित करके ही पूँछता था। जिस प्रकार आज कोई भी प्रश्न मजदूर और पूँजीपति, शोषक और शोष्यके द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार उस समय आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंके प्रश्न सत् असत् उभय और अनुभय-अनिर्वचनीय इस चतुष्कोटिमें आवेष्टित रहते थे। उपनिषद् और ऋग्वेद में इस चतुष्कोटिके दर्शन होते हैं। विश्वके स्वरूपके सम्बन्धमें सत्से असत् हुआ ? या सत्से सत् हुआ ? विश्व सत् रूप है ? या असत् रूप है, या सदसत् उभयरूप है या सदसत् दोनों रूपसे अनिर्वचनीय है ? इत्यादि प्रश्न उपनिषद् और वेदमें बराबर उपलब्ध होते हैं ? ऐसी दशामें राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भंगीको तोड़मरोड़ कर सप्तभंगी बनी–कहाँतक उचित है यह वे स्वयं विचारें।

बुद्धके समकालीन जो छह तीर्थिक थे उनमें निग्गण्ठ नाथपुत्र महावीरकी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के रूपमें प्रसिद्धि थी। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे या नहीं यह इस समयकी चरचा का विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्वविचारक थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चयकोटि या

विक्षेपकोटिमें और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालने वाले नहीं थे और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासा को अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते तबतक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इनका असर उनके जीवन और आचार पर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह जगत्के स्वरूप विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे, किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मननशक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'है' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और 'नहीं है' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकत्वका प्रसंग प्राप्त होगा, अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूद तर्कोंका और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभव कर यह बताया कि जगत्का प्रत्येक सत् चाहे वह चेतनजातीय हो या अचेतनजातीय परिवर्तनशील है। वह निसर्गतः प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। उसकी पर्याय बदलती रहती है। उसका परिणमन कभी सदृश भी होता है कभी विसदृश भी। पर परिणमनसामान्यके प्रभावसे कोई भी अछूता नहीं रहता। यह एक मौलिक नियम है कि किसी भी सत् का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता, वह परिवर्तित होकर भी अपनी मौलिकता या सत्ताको नहीं खो सकता। एक परमाणु है वह हाइड्रोजन बन जाय, जल बन जाय, भाप बन जाय, फिर पानी हो जाय, पृथिवी बन जाय, और अनन्त आकृतियों या पर्यायोंको धारण कर ले, पर अपने द्रव्यत्व या मौलिकत्व को नहीं खो सकता। किसीकी ताकत नहीं जो उस परमाणुकी हस्ती या अस्तित्वको मिटा सके। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने 'सत्' हैं उतने बने रहेंगे, उनमेंसे एक भी कम नहीं हो सकता, एक दूसरे में विलीन नहीं हो सकता। इसी तरह न कोई नया 'सत्' उत्पन्न हो सकता है। जितने हैं उनका ही आपसी संयोग वियोगोंके आधारसे यह विश्व जगत् (गच्छतीति जगत् अर्थात् नाना रूपोंको प्राप्त होना) बनता रहता है।

तात्पर्य यह कि—विश्वमें जितने सत् हैं उनमें से न तो एक कम हो सकता है और न एक बढ़ सकता है। अनन्त जड़ परमाणु, अनन्त आत्माएँ, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश और असंख्य कालाणु इतने सत् हैं। इनमें धर्म अधर्म आकाश और काल अपने स्वाभाविक रूपमें सदा विद्यमान रहते हैं उनका विलक्षण परिणमन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये कूटस्थ नित्य हैं किन्तु इनका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, वह सदृश स्वाभाविक परिणमन ही होता है। आत्मा और पुद्गल ये दो द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। जिस समय आत्मा शुद्ध हो जाता है उस समय वह भी अपने प्रतिक्षणभावी स्वाभाविक परिणमनका ही स्वामी रहता है, उसमें विलक्षण परिणति नहीं होती। जबतक आत्मा अशुद्ध है तबतक ही इसके परिणमनपर सजातीय जीवान्तरका और विजातीय पुद्गलका प्रभाव आनेसे विलक्षणता आती है। इसकी नानारूपता प्रत्येकको स्वानुभवसिद्ध है। जड़ पुद्गल ही एक ऐसा विलक्षण द्रव्य है जो सदा सजातीयसे भी प्रभावित होता है और विजातीय चेतनसे भी। इसी पुद्गल द्रव्यके चमत्कार आज विज्ञानके द्वारा हम सबके सामने प्रस्तुत हैं। इसीके हीनाधिक संयोग-वियोगोंके फलस्वरूप असंख्य आविष्कार हो रहे हैं। विद्युत् शब्द आदि इसीके रूपान्तर हैं, इसीकी शक्तियाँ हैं। जीवकी अशुद्ध दशा इसीके संपर्कसे होती है। अनादिसे जीव और पुद्गल का ऐसा संयोग है जो पर्यायान्तर लेनेपर भी जीव इसके संयोगसे मुक्त नहीं हो पाता और उसमें विभाव परिणमन—राग द्वेष मोह अज्ञानरूप दशाएँ होती रहती हैं। जब यह जीव अपनी चारित्रसाधना

द्वारा इतना समर्थ और स्वरूपप्रतिष्ठ हो जाता है कि उस पर बाह्य जगत्का कोई भी प्रभाव न पड़ सके तो वह मुक्त हो जाता है और अपने अनन्त चैतन्यमें स्थिर हो जता है। मुक्त जीव अपने प्रतिक्षण परिवर्तित स्वाभाविक चैतन्यमें लीन रहता है। फिर उसमें अशुद्ध दशा नहीं होती। अन्ततः पुद्गल परमाणु ही ऐसे हैं जिनमें शुद्ध या अशुद्ध किसी भी दशामें दूसरे संयोगके आधारसे नाना आकृतियाँ और अनेक परिणमन संभव हैं तथा होते रहते हैं। इस जगत् व्यवस्थामें किसी एक ईश्वर जैसे नियन्ताका कोई स्थान नहीं है। यह तो अपने अपने संयोग-वियोगोंसे परिणमनशील है। प्रत्येक पदार्थका अपना सहज स्वभावजन्य प्रतिक्षणभावी परिणमनचक्र चालू है। यदि कोई दूसरा संयोग आ पड़ा और उस द्रव्यने इसके प्रभावको आत्मसात् किया तो परिणमन तत्प्रभावित हो जायगा, अन्यथा वह अपनी गतिसे बदलता चला जायगा। हॉइड्रोजनका एक अणु अपनी गतिसे प्रतिक्षण हाइड्रोजन रूपमें बदल रहा है। यदि ऑक्सीजनका अणु उसमें आ जुटा तो दोनों का जलरूप परिणमन हो जायगा। वे दोनों एक जलबिन्दु रूपसे सदृश संयुक्त परिणमन कर लेंगे। यदि किसी वैज्ञानिकके विश्लेषणप्रयोगका निमित्त मिला तो वे दोनों फिर जुदा जुदा भी हो सकते हैं। यदि अग्निका संयोग मिल गया तो भाप बन जायँगे। यदि सांपके मुखका संयोग मिला विषबिन्दु हो जायेंगे। तात्पर्य यह कि यह विश्व साधारणतया पुद्गल और अशुद्ध जीवके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका वास्तविक उद्यान है। परिणमनचक्र पर प्रत्येक द्रव्य चढ़ा हुआ है। वह अपनी अनन्त योग्यताओंके अनुसार अनन्त परिणमनोंको क्रमशः धारण करता है। समस्त 'सत्' के समुदायका नाम लोक या विश्व है। इस दृष्टिसे अब आप लोकके शाश्वत और अशाश्वत वाले प्रश्नको विचारिए—

(१) क्या लोक शाश्वत है? हाँ, लोक शाश्वत है। द्रव्योंकी संख्या की दृष्टिसे, अर्थात् जितने सत् इसमें हैं उनमेंका एक भी सत् कम नहीं हो सकता और न उसमें किसी नये सत्की वृद्धि ही हो सकती है। न एक सत् दूसरेमें विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जो इसके अंगभूत द्रव्योंका लोप हो या वे समाप्त हो जाँय।

(२) क्या लोक अशाश्वत है? हाँ, लोक अशाश्वत है, अंगभूत द्रव्योंके प्रतिक्षण भावी परिणमनों की दृष्टि से? अर्थात् जितने सत् हैं वे प्रतिक्षण सदृश या विसदृश परिणमन करते रहते हैं। इसमें दो क्षण तक ठहरनेवाला कोई परिणमन नहीं है। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी सदृश परिणमनका स्थूल दृष्टिसे अवलोकनमात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील संयोग-वियोगोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप है? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनों दृष्टियोंसे विचार कीजिए तो लोक शाश्वत भी है (द्रव्य दृष्टिसे) अशाश्वत भी (पर्याय दृष्टिसे)। दोनों दृष्टि कोणों को क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनों पर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप ही प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनों रूप नहीं है? आखिर उसका पूर्णरूप क्या है? हाँ, लोकका पूर्णरूप अवक्तव्य है, नहीं कहा जा सकता। कोई शब्द ऐसा नहीं जो एक साथ शाश्वत और अशाश्वत इन दोनों स्वरूपोंको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोंको युगपत् कह सके। अतः शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्णरूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है, अनिर्वचनीय या अवक्तव्य है। यह चौथा उत्तर वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कहनेकी दृष्टिसे है। पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे, अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलतः चौथा, पहिला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक हैं। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयके संयोगरूप

है। अब आप विचारें कि संजयने जब लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कह दिया कि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ और बुद्धने कह दिया कि इनके चक्करमें न पड़ो, इसका जानना उपयोगी नहीं है, तब महावीरने उन प्रश्नोंका वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योंकी जिज्ञासा का समाधान कर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोंका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१. क्या लोक शाश्वत है ?	मैं जानता होऊँ तो बताऊँ, (अनिश्चय, विक्षेप)	इसका जानना अनुपयोगी है (अव्याकृत अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्य दृष्टिसे शाश्वत है, इसके किसी भी सत्‌का सर्वथा नाश नहीं हो सकता।
२. क्या लोक अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षण भावी परिवर्तनोंकी दृष्टिसे अशाश्वत है, कोई भी परिवर्तन दो क्षणस्थायी नहीं है।
३. क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, दोनों दृष्टिकोणोंसे क्रमशः विचार करने पर लोकको शाश्वत भी कहते हैं और अशाश्वत भी।
४. क्या लोक दोनों रूप नहीं है अनुभय है ?	,,	,,	हाँ, ऐसा कोई शब्द नहीं जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्र भावसे कह सके। अतः पूर्णरूप से वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है, अनिर्वचनीय है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोंका समाधान नहीं करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं, महावीर उन्हींका वास्तविक युक्तिसंगत समाधान करते हैं। इस पर भी **राहुलजी,** और स्व० धर्मानन्द कोसम्बी आदि यह कहनेका साहस करते हैं कि 'संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर संजयके वादको ही जैनियोंने अपना लिया।' यह तो ऐसाही है जैसे कोई कहे कि "भारतमें रही परतन्त्रताको ही परतन्त्रताविधायक अंग्रेजोंके चले जानेपर भारतीयोंने उसे अपरतन्त्रता (स्वतन्त्रता) रूपसे अपना लिया है, क्योंकि अपरतन्त्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद हैं ही। या हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायियोंके लुप्त होनेपर अहिंसारूपसे अपना लिया है क्योंकि अहिंसा में भी 'हिं सा' ये दो अक्षर हैं ही।" यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि—आप (पृ० ४८४) अनिश्चिततावादियोंकी सूचीमें संजयके साथ निग्गंठ नाथपुत्र (महावीर) का नाम भी लिख जाते हैं, तथा (पृ० ४९१) संजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापकं तमः' नहीं कहा जा सकता ?

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोंको संशय अनिश्चय या संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसंगकी, जहाँ एक वादका स्थापन नहीं होता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'स्यात्' पदका प्रयोग भाषाकी शैलीका एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवाद सुत्तके निम्नलिखित अवतरणसे ज्ञात होता है—"**कतमा राहुल च तेजो-**

धातु ? तेजोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा।" अर्थात् तेजो धातु स्यात् आध्यात्मिक है, स्यात् बाह्य है। यहाँ सिया (स्यात्) शब्दका प्रयोग तेजो धातुके निश्चित भेदोंकी सूचना देता है न कि उन भेदोंका संशय अनिश्चय या संभावना बताता है। आध्यात्मिक भेद के साथ प्रयुक्त होनेवाला स्यात् शब्द इस बातका द्योतन करता है कि तेजो धातु मात्र आध्यात्मिक ही नहीं है किन्तु उससे व्यतिरिक्त बाह्य भी है। इसी तरह 'स्यादस्ति'में अस्तिके साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द सूचित करता है कि अस्तिसे भिन्न धर्म भी वस्तुमें है केवल अस्तिधर्मरूप ही वस्तु नहीं है। इस तरह 'स्यात्' शब्द न शायदका न अनिश्चयका और न सम्भावनाका सूचक है किन्तु निर्दिष्ट धर्मके सिवाय अन्य अशेष धर्मोंकी सूचना देता है जिससे श्रोता वस्तुको निर्दिष्ट धर्ममात्र रूप ही न समझ बैठे।

सप्तभंगी—वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है। उसमें विभिन्न दृष्टियोंसे विभिन्न विवक्षाओंसे अनन्त धर्म है। प्रत्येक धर्मका विरोधी धर्म भी दृष्टिभेदसे वस्तुमें सम्भव है। जैसे 'घटः स्यादस्ति' में घट है अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादासे। जिस प्रकार घटमें स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व धर्म है उसी तरह घटव्यतिरिक्त अन्य पदार्थोंका नास्तित्व भी घटमें है। यदि घटभिन्न पदार्थोंका नास्तित्व घटमें न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जायँगे। अतः घट स्यादस्ति और स्यान्नास्ति रूप है। इसी तरह वस्तुमें द्रव्यदृष्टिसे नित्यत्व और पर्यायदृष्टिसे अनित्यत्व आदि अनेकों विरोधी युगल धर्म रहते हैं। एक वस्तुमें अनन्त सप्तभंग बनते हैं। जब हम घटके अस्तित्वका विचार करते हैं तो अस्तित्वविषयक सात भंग हो सकते हैं। जैसे संजयके प्रश्नोत्तर या बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोत्तरमें हम चार कोटि तो निश्चित रूपसे देखते हैं—सत् असत् उभय और अनुभय। उसी तरह गणित के हिसाबसे तीन मूल भंगोंको मिलानेपर अधिकसे अधिक सात अपुनरुक्त भंग हो सकते हैं। जैसे घड़ेके अस्तित्वका विचार प्रस्तुत है तो पहिला अस्तित्व, धर्म दूसरा तद्विरोधी नास्तित्व धर्म और तीसरा धर्म होगा अवक्तव्य जो वस्तुके पूर्ण रूपकी सूचना देता है कि वस्तु पूर्णरूपसे वचनके अगोचर है, उसके विराट् रूपको शब्द नहीं छू सकते। अवक्तव्य धर्म इस अपेक्षासे है कि दोनों धर्मोंको युगपत् कहनेवाला शब्द संसारमें नहीं है। अतः वस्तु यथार्थतः वचनातीत है, अवक्तव्य है। इस तरह मूलमें तीन भंग है—

१ स्यादस्ति घटः २ स्यान्नास्ति घटः ३ स्यादवक्तव्यो घटः

अवक्तव्यके साथ स्यात् पद लगानेका भी अर्थ है कि वस्तु युगपत् पूर्ण रूपमें यदि अवक्तव्य है तो क्रमशः अपने अपूर्ण रूपमें वक्तव्य भी है और वह अस्ति नास्ति आदि रूपसे वचनोंका विषय भी होती है। अतः वस्तु स्याद् अवक्तव्य है। जब मूल भंग तीन हैं तब उनके द्विसंयोगी भंग भी तीन होंगे तथा त्रि-संयोगी भंग एक होगा। जिस तरह चतुष्कोटिमें सत् और असत्को मिलाकर प्रश्न होता है कि 'क्या सत् होकर भी वस्तु असत् है ?" उसी तरह ये भी प्रश्न हो सकते हैं कि—१ क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? २ क्या असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? ३ क्या सत्असत् होकर भी वस्तु अवक्तव्य है ? इन तीनों प्रश्नोंका समाधान संयोगज चार भंगोंमें है। अर्थात्—

(४) अस्ति नास्ति उभय रूप वस्तु है—स्वचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(५) अस्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपरचतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(६) नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें परचतुष्टय और द्वितीय समयमें युगपत् स्वपर चतुष्टयकी क्रमशः दृष्टि रखनेपर और दोनोंकी सामूहिक विवक्षा रहने पर।

(७) अस्ति नास्ति अवक्तव्य वस्तु है—प्रथम समयमें स्वचतुष्टय, द्वितीय समयमें परचतुष्टय तथा तृतीय समयमें युगपत् स्व-पर चतुष्टय पर क्रमशः दृष्टि रखने पर और तीनोंकी सामूहिक विवक्षा रहने पर।

जब अस्ति और नास्ति की तरह अवक्तव्य भी वस्तुका धर्म है तब जैसे अस्ति और नास्तिको मिलाकर चौथा भंग बन जाता है वैसे ही अवक्तव्यके साथ भी अस्ति, नास्ति और अस्तिनास्तिकोमिलाकर पाँचवें छठवें और सातवें भंगकी सृष्टि हो जाती है।

इस तरह गणितके सिद्धान्तके अनुसार तीन मूल वस्तुओंके अधिकसे अधिक अपुनरुक्त सात ही भंग हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तुके प्रत्येक धर्मको लेकर सात प्रकारकी जिज्ञासा हो सकती है, सात प्रकारके प्रश्न हो सकते हैं अतः उनके उत्तर भी सात प्रकारके ही होते हैं।

दर्शनदिग्दर्शनमें श्री **राहुलजी** ने पाँचवें छठवें और सातवें भंगको जिस भ्रष्ट तरीकेसे तोड़ा-मरोड़ा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और अतिसाहस है। जब वे दर्शनोंको व्यापक नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते हैं तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके स्वरूपको ठीक समझ कर ही करनी चाहिए। वे अवक्तव्य नामक धर्मको, जो कि सत्के साथ स्वतन्त्रभावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोड़कर अ-वक्तव्य करके संजयके 'नहीं' के साथ मेल बैठा देते हैं और 'संजय[1]' के घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह देते हैं ! किमाश्चर्यमतः परम्

श्री सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभंगी न्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभंगीको आजसे ढाई हजार बर्ष पहिलेके वातावरणमें देखनेपर वे स्वयं उसे समयकी माँग कहे बिना नहीं रह सकते। अढ़ाई हजार वर्ष पहिले आबाल गोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज तरीकेसे 'सत् असत् उभय और अनुभय' इन चार कोटियोंमें गूँथ कर ही उपस्थित करते थे और उस समयके भारतीय आचार्य उत्तर भी चतुष्कोटिका ही, हाँ या ना में देते थे, तब तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भंगोंके गणितके नियमानुसार अधिकसे अधिक सात प्रश्न बनाकर उनका समाधान सप्तभंगी द्वारा किया जो निश्चितरूपसे वस्तुकी सीमाके भीतर ही रहा है। सात भंग बनाने का उद्देश्य यह है कि— वस्तुमें अधिकसे अधिक सात ही प्रश्न हो सकते हैं। अवक्तव्य वस्तुका मूलरूप है, सत् और असत् ये दो धर्म इस तरह मूल धर्म तीन हैं। इनके अधिकसे अधिक मिला जुड़ाकर सात ही प्रश्न हो सकते हैं। इन सब संभव प्रश्नोंका समाधान करना ही सप्तभंगी न्यायका प्रयोजन है। यह तो जैसे को तैसा उत्तर है अर्थात् यदि तुम कल्पना करके सात प्रश्नों की संभावना करते हो तो उसी तरह उत्तर भी वास्तविक तीन धर्मोंको मिलाकर सात हो सकते हैं। इतना ध्यानमें रहना चाहिए कि एक एक धर्मको लेकर ऐसे अनन्त सात भंग वस्तुमें बन सकते हैं। अनेकान्तवादने जगत्के वास्तविक अनेक सत्का अपलाप नहीं किया और न वह केवल कल्पनाके क्षेत्रमें विचरा है।

मेरा उन दार्शनिकोंसे निवेदन है कि भारतीय परम्परामें जो सत्यकी धारा है उसे 'दर्शनग्रन्थ' लिखते समय भी कायम रखें और समीक्षाका स्तम्भ तो बहुत सावधानी और उत्तरदायित्वके साथ लिखनेकी कृपा करें जिससे दर्शन केवल विवाद और भ्रान्त परम्पराओंका अजायबघर न बने, वह जीवन में संवाद लावे और दर्शनप्रणेताओंको समुचित न्याय दे सके।

इस तरह जैनदर्शनने दर्शन शब्दकी काल्पनिक भूमिकासे निकलकर वस्तु सीमापर खड़े होकर जगत्में वस्तुस्थितिके आधारसे संवाद समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञानकी दृष्टि दी। जिसकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक रूपको समझकर निरर्थक विवादसे बचकर सच्चा संवादी बन सकता है।

---

१ जैन कथाग्रन्थोंमें महावीर के बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन आता है कि–'संजय और विजय नामके दो साधुओंका संशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसलिए इनका नाम सन्मति रखा गया था। सम्भव है यह संजय-विजय संजयबेलट्ठिपुत्त ही हों और इसीके संशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभंगीन्यायसे हुआ हो। यहाँ बेलट्ठिपुत्त विशेषण भ्रष्ट होकर विजय नामका दूसरा साधु बन गया है।

अनेकान्तदर्शनका सांस्कृतिक आधार—

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण मानने वाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तोंकी। यद्यपि चार्वाक दर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक, पुण्य, पाप, और मोक्ष जैसे आत्मप्रतिष्ठित तत्त्वों को तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदिकी उपयोगिताको स्वीकृत नहीं किया है। अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जड़भिन्न ज्ञान सन्तान, पुण्य-पाप, परलोक निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है, अतः पाणिनिकी परिभाषा के अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधाराको नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि अपनी अमुक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक हैं तो श्रमणपरम्परा को न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणों से पुकारे गये हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवन-शोधन या चारित्र्य वृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको मुक्तिका साधन माना है, जब कि श्रमणधारामें चारित्र को। वैदिकपरम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है, और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जब कि श्रमणपरम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवनमें न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवनशोधन न हो वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्यसूत्र है—**"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टांग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमण सन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परमवीतरागता, समता या अहिंसा की उत्कृष्ट ज्योतिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं आचार था, ज्ञान नहीं चारित्र्य था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवनशुद्धि और संवाद था।

अहिंसाका अन्तिम अर्थ है—जीवमात्रमें (चाहे वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी) देश, काल, शरीराकार, वर्ण, जाति, रंग आदिके अवरणोंसे परे होकर समत्व दर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष, कीड़ा-मकोड़ा, पशु और मनुष्य आदि शरीरोंको धारण करता है, पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता। वह वासना या रागद्वेषादिके द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारतः की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्र के मूलतः समान अधिकार हैं, इतना ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक प्रकार की आजीविका या व्यापारके कारण कोई भी मनुष्य किसी मानवाधिकारसे वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्वभावना, प्राणिमात्रमें समता और उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके ही विकसित रूप हैं। श्रमणसन्तोंने यही कहा है कि—एक मनुष्य किसी भूखण्डपर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् बनकर दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्म का ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनों

की प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा। हर एक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समानभावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससेही कोई महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस प्रकार जाति, वर्ण, रंग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमता और संघर्षके कारणों से परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीतरागताका पावन सन्देश इन श्रमणसन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे। कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे स्वर्गके टिकिट प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध अजामेध क्वचित् नरमेधतक का खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व नीचत्वका विष समाजशरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथियानेके षड़यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युगमें मानवसमत्व और प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या लांछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाजरचनाका मूलमन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है कि अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें पर यदि वचन व्यवहार और चित्तगत-विचार विषम और विसंवादी है तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने मनके विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोंका इतिहास ऐसे अनेक हिंसा काण्डोंके रक्तरञ्जित पन्नोंसे भरा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वांगीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचार शुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवनव्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नहीं है कि एक ही वस्तुके विषय में परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्षप्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थ में हारनेवालेको तैलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा बनी रहे!

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जबतक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तबतक हिंसाकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्त धर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्ण रूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तुके एक एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णता का दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है। विवाद तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें है। काश ये वस्तुके विराट् अनन्त-धर्मात्मक या अनेकात्मक स्वरूपकी झाँकी पा सकते। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि—देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तानरूप स्थितिकी दृष्टिसे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रंगमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उनके गुण-धर्मोंमें भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है, अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति हैं। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करने वालोंकी उखाड़ पछाड़में लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला बुरा कह रहा है।

महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और प्रवृत्ति पर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्मनित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत (अकथनीय) कहकर बौद्धिक तमकी

सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाशमें लाकर उन्हें मानस समताकी समभूमिपर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो वस्तु उतनी ही नहीं है, उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है, उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारी से विचार करो, वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो, वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादाका उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व मिल जाय या चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक कह रहा हूँ, सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके सम्भव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत धर्म अचेतनमें। चेतनके गुण-धर्म अचेतनमें नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुँजाइश है। वह इतनी विराट् है, जो तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिका आग्रह करके दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्रसूरिने बहुत सुन्दर लिखा है कि—

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥" (लोकतत्त्वनिर्णय)

अर्थात्—आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियाँ ढूँढ़ता है, युक्तियोंको अपने मतकी ओर ले जाता है, पर पक्षपातरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपको स्वीकार करनेमें ही अपनी मति की सफलता मानता है।

अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तु की सीमाको ही लाँघ जाय। तात्पर्य यह है कि मानससमताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतन-धारी को ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है, और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सर्जन करके मानवसमाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीलाढाला समझौता नहीं होता, किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक संवाद दृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी (जिल्द १ पृ० ३०५–६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—"इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें—स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता।" आदि।

क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्ण सत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ, और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य रूपसे वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्धसत्योंके पास लाकर पटकना समझते हैं, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक

है तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुँचनेको अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं? हाँ, स्याद्वाद उस प्रामाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नहीं जा सकता। वैसे, संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परम संग्रहनयकी अभेद दृष्टिसे बताया है कि–"सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात्–जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतन में कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है, क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्‌को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते हैं, पर वह केवल कल्पना ही होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह **प्रो० बलदेव उपाध्याय** इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्‌का अनुसरण कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म?) के स्वरूपके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है कि–"इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचों-बीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिए विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" (भारतीय दर्शन पृ० १७३)। आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेदतक पहुँचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तुविचार कर रहा है तब वह परमार्थसत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है किन्तु आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमका भी विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः यदि स्याद्वाद वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत **हनुमन्तराव एम. ए.** ने अपने "Jain Instrumental theory of knowledge" नामक लेखमें लिखा है कि–"स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता।" आदि। ये सब एक ही प्रकारके विचार हैं जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि–महावीरने देखा कि–वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्त धर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमारी दृष्टिमें विरोध होनेसे हम उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं।

जैन दर्शन वास्तव-बहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ताक वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे, पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैन दर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद तो मानता है, पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेदको नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है, जो यह परमार्थ सत् वस्तुकी परिधिको न लाँघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरत कर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेद तक न पहुँचनेके कारण अनेकान्त दर्शनको सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्योंका समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्त दर्शन एक व्यक्तिका एक धर्म मानता है। वह उन अभेदकल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बड़ी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा विशाल करके वस्तुके पूर्ण रूपको देखो, उसमें अभेद एक कोनेमें पड़ा होगा और अभेदके अनन्तों भाई-बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अतः इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झाँकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शन ने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है, और यह सब हुआ है मानससमता-मूलक तत्त्वज्ञानकी खोजसे। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज

ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिये और वस्तुस्थिति मूलक समीकरण होना चाहिये। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तुकी अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी, जो कि अहिंसा-का संजीवन बीज है। इस तरह मानस समताके लिए अनेकान्तदर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्त दर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्योंने वस्तुकी अनेकधर्मात्मिताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं जो कि वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्म को कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मों की सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्'का 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' या 'निर्णीत अपेक्षा' ही अर्थ है 'शायद, सम्भव, कदाचित् आदि नहीं। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है–'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है', 'कदाचित् है' आदि। संक्षेपतः जहाँ अनेकान्त दर्शन चित्तमें समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता आनेका पूरा अवसर देता है।

इस प्रकार अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्रेरणाने मानस शुद्धिके लिए अनेकान्त-दर्शन और वचन शुद्धिके लिए स्याद्वाद जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमें दिया है। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि वह जो बोल रहा है उतनी ही वस्तु नहीं है, किन्तु बहुत बड़ी है, उसके पूर्णरूप तक शब्द नहीं पहुँच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिङ्में निष्पन्न होता है, जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है न कि संशय रूपमें। जैन तीर्थंकरोंने इस तरह सर्वांगीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया है। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका और उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका नया वस्तुस्पर्शी मार्ग बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता और धर्म तथा दर्शन-के नामपर मानवताका निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासन भावना मानवको दानव बना देती है। उस पर भी धर्म और मतका 'अहम्' तो अति दुर्निवार होता है। परन्तु युग युगमें ऐसे ही दानवों-को मानव बनानेके लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वय दृष्टि, इसी समता भाव और इसी सर्वांगीण अहिंसा-का सन्देश देते आए हैं। यह जैन दर्शनकी ही विशेषता है जो वह अहिंसाकी तह तक पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा अपि तु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक गुत्थि-यों को सुलझानेकी मौलिक दृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन वचन और काय इन तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

आज **डॉ भगवान्दास** जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वय दृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकना, मानव मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शन का प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी सम-न्वय तत्त्वका भूरि भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जबतक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तबतक मतभेद और संघर्ष बना ही रहेगा। नए दृष्टिकोणसे वस्तु स्थिति तक पहुँचना ही विसंवादसे हटाकर जी-वनको संवादी बना सकता है। जैन दर्शनकी भारतीय संस्कृतिको यही देन है। आज हमें जो स्वा-तन्त्र्यके दर्शन हुए हैं वह इसी अहिंसाका पुण्यफल है। कोई यदि विश्वमें भारतका मस्तक ऊँचा रखता है तो यह निरुपाधि–वर्ण जाति रंग देश आदिकी क्षुद्र उपाधियोंसे रहित-अहिंसा भावना ही

सदादि अनुयोग–प्रमाण और नयके द्वारा जाने गए तथा निक्षेपके द्वारा अनेक संभवित रूपोंमें सामने रखे गए पदार्थोंसे ही तत्त्वज्ञानोपयोगी प्रकृत अर्थका यथार्थ बोध हो सकता है। उन निक्षेपके विषय भूत पदार्थोंमें दृढ़ताकी परीक्षाके लिए या पदार्थके अन्य विविध रूपोंके परिज्ञानके लिए अनुयोग अर्थात् अनुकूल प्रश्न या पश्चाद्भावी प्रश्न होते हैं। जिनसे प्रकृत पदार्थकी वास्तविक अवस्थाका पता लग जाता है। प्रमाण और नय सामान्यतया तत्त्वका ज्ञान कराते हैं। निक्षेप विधिसे अप्रकृतका निराकरण-कर प्रस्तुतको छांट लिया जाता है। फिर छंटी हुई प्रस्तुत वस्तुका निर्देशादि और सदादि द्वारा सविवरण पूरी अवस्थाओंका ज्ञान किया जाता है। निक्षेपसे छंटी हुई वस्तुका क्या नाम है? (निर्देश) कौन उसका स्वामी है? (स्वामित्व) कैसे उत्पन्न होती है? (साधन) कहाँ रहती है? (अधिकरण), कितने कालतक रहती है? (स्थिति) कितने प्रकारकी है? (विधान), उसकी द्रव्य-क्षेत्र काल भाव आदिसे क्या स्थिति है। अस्तित्वका ज्ञान 'सत्' है। उसके भेदोंकी गिनती संख्या है। वर्तमान निवास क्षेत्र है। त्रैकालिक निवासपरिधि स्पर्शन है। ठहरनेकी मर्यादा काल है। अमुक अवस्थाको छोड़कर पुनः उस अवस्थामें प्राप्त होनेतकके विरहकालको अन्तर कहते हैं। औपशमिक आदि भाव हैं। परस्पर संख्याकृत तारतम्यका विचार अल्पबहुत्व है। सारांश यह कि निक्षिप्त पदार्थका निर्देशादि और सदादि अनुयोगोंके द्वारा यथावत् सविवरण ज्ञान प्राप्त करना मुमुक्षुकी अहिंसा आदि साधनाओंके लिए आवश्यक है। जीवरक्षा करने के लिए जीवकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिकी दृष्टिसे परिपूर्ण स्थितिका ज्ञान अहिंसकको जरूरी ही है।

इस तरह प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा तत्त्वोंका यथार्थ अधिगम करके उनकी दृढ़ प्रतीति और अहिंसादि चारित्रकी परिपूर्णता होनेपर यह आत्मा बन्धनमुक्त होकर स्वस्वरूपमें प्रति-ष्ठित हो जाता है। यही मुक्ति है।

"श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः।
परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान्॥७३॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान्॥७४॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः॥७५॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित्।
तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति॥७६॥

अर्थात्–अनेकान्तरूप जीवादि पदार्थोंको श्रुत-शास्त्रोंसे सुनकर प्रमाण और अनेक नयोंके द्वारा उनका यथार्थ परिज्ञान करना चाहिए। उन पदार्थोंके अनेक व्यावहारिक और पारमार्थिक गुण-धर्मोंकी परीक्षा नय दृष्टियोंसे की जाती है। नयदृष्टियोंके विषयभूत निक्षेपोंके द्वारा वस्तुका अर्थ ज्ञान और शब्द आदि रूपसे विश्लेषण कर उसे फैलाकर उनमेंसे अप्रकृतको छोड़ प्रकृतको ग्रहण कर लेना चाहिए। उस छंटे हुए प्रकृत अंशका निर्देश आदि अनुयोगोंमें अच्छी तरह बारबार पूछकर सविवरण पूर्णज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इस तरह जीवादि पदार्थोंका खासकर आत्मतत्त्वका जीवस्थान गुणस्थान और मार्गणा स्थानोंमें दृढ़तर ज्ञान करके उनपर गाढ़ विश्वास रूप सम्यग्दर्शनकी वृद्धि करनी चाहिए। इस तत्त्वश्रद्धा और तत्त्वज्ञानके होनेपर परपदार्थोंसे विरक्ति इच्छानिरोधरूप तप और चारित्र आदिसे समस्त कुसंस्कारोंका विनाशकर पूर्व कर्मोंकी निर्जरा कर, यह आत्मा विमुक्त होकर अनन्त चैतन्यमय स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

ग्रन्थका बाह्य स्वरूप—

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैनपरम्परा की गीता बाइबिल कुरान या जो कहिए एक पवित्र ग्रन्थ है। इसमें बन्धनमुक्तिके कारणोंका सांगोपांग विवेचन है। जैनधर्म और जैनदर्शनके समस्त मूल आधारोंकी संक्षिप्त सूचना इस सूत्र ग्रन्थसे मिल जाती है। भ० महावीरके उपदेश अर्धमागधी भाषामें होते थे जो उस समय मगध और विहारकी जनबोली थी। शास्त्रोंमें बताया है कि यह अर्धमागधी भाषा अठारह महाभाषा और सातसौ लघुभाषाओं के शब्दोंसे समृद्ध थी। एक कहावत है—"कोस कोस पर पानी बदले चारकोस पर पर बानी।" सो यदि मगध देश काशीदेश और विहार देशमें चार चार कोसपर बदलने-वाली बोलियोंकी वास्तविक गणना की जाय तो वे ७१८ से कहीं अधिक हो सकती होंगीं। अठारह महाभाषाएँ मुख्य मुख्य अठारह जनपदोंकी राजभाषाएँ कहीं जातीं थी। इनमें नाममात्रका ही अन्तर था। क्षुल्लकभाषाओंका अन्तर तो उच्चारणकी टोनका ही समझना चाहिए। जो हो, पर महावीरका उपदेश उसमयकी लोकभाषामें होता था जिसमें संस्कृत जैसी वर्गभाषाका कोई स्थान नहीं था। बुद्धकी पालीभाषा और महावीरकी अर्धमागधी भाषा करीब करीब एक जैसी भाषाएँ हैं। इनमें वही चारकोसकी बानी वाला भेद है। अर्धमागधीको सर्वार्धमागधी भाषा भी कहते हैं और इसका विवेचन करते हुए लिखा है—

"**अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकम् अर्धं च सर्वदेशभाषात्मकम्**" अर्थात्—भगवान्की भाषामें आधे शब्द तो मगध देशकी भाषा मागधी के थे और आधे शब्द सभी देशोंकी भाषाओंके थे। तात्पर्य यह कि अर्धमागधी भाषा वह लोकभाषा थी जिसे प्रायः सभी देशके लोग समझ सकते थे। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि महावीरकी जन्मभूमि मगध देश थी, अतः मागधी उनकी मातृभाषा थी और उन्हें अपना विश्वशान्तिका अहिंसा सन्देश सब देशोंकी कोटि कोटि उपेक्षित और पतित जनता तक भेजना था अतः उनकी बोलीमें सभी देशोंकी बोलीके शब्द शामिल थे और यह भाषा उस समयकी सर्वाधिक जनताकी अपनी बोली थी अर्थात् सबकी बोली थी।

जनबोलीमें उपदेश देनेका कारण बतानेवाला एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां न्नृणां चारित्र्यकांक्षिणाम्।
प्रतिबोधनाय तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥"

अर्थात्—बालक स्त्री या मूर्खसे मूर्ख लोगोंको, जो अपने चारित्र्यको समुन्नत करना चाहते हैं, प्रतिबोध देनेके लिए भगवान्का उपदेश प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक जनबोलीमें होता था न कि संस्कृत अर्थात् बनी हुई बोली—कृत्रिम वर्गभाषामें। इन जनबोलीके उपदेशोंका संकलन 'आगम' कहा जाता है। इसका बड़ा विस्तार था। उस समय लेखनका प्रचार नहीं हुआ था। सब उपदेश कण्ठपरम्परा से सुरक्षित रहते थे। एक दूसरेसे सुनकर इनकी धारा चलती थी अतः ये 'श्रुत' कहे जाते थे। महावीरके निर्वाणके बाद यह श्रुत परम्परा लुप्त होने लगी और ६८३ वर्ष बाद एक अंगका पूर्ण ज्ञान भी शेष न रहा। अंगके एक देशका ज्ञान रहा। श्वेताम्बर परम्परामें बौद्ध संगीतियोंकी तरह वाचनाएँ हुईं और अन्तिम वाचना देवर्धिगणि क्षमाश्रमणके तत्त्वावधानमें वीरसंवत् ९८० वि० सं० ५१० में वलभीमें हुई। इसमें आगमोंका त्रुटित अत्रुटित जो रूप उपलब्ध था संकलित हुआ। दिगम्बर परम्परामें ऐसा कोई प्रयत्न हुआ या नहीं इसकी कुछ भी जानकारी नहीं है। दिगम्बर परम्परामें विक्रमकी द्वितीय तृतीय शताब्दीमें आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त और गुणधरने षट्खंडागम और कसायपाहुडकी रचना आगमाश्रित साहित्यके आधारसे की। पीछे कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने आगम परम्पराको केन्द्रमें रखकर तदनुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना की।

अनुमान है कि विक्रमकी तीसरी चौथी शताब्दीमें उमास्वामी भट्टारकने इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की थी। इसीसे जैन परम्परामें संस्कृतग्रन्थनिर्माणयुग प्रारम्भ होता है। इस तत्त्वार्थसूत्रकी रचना इतने

मूलभूत तत्त्वोंको संग्रह करनेकी असाम्प्रदायिक दृष्टिसे हुई है कि इसे दोनों जैन सम्प्रदाय थोड़े बहुत पाठभेद-से प्रमाण मानते आए हैं। श्वे० परम्परामें जो पाठ प्रचलित है उसमें और दिगम्बर पाठमें कोई विशिष्ट साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है। दोनों परम्पराओंके आचार्योंने इसपर दशों टीका ग्रन्थ लिखे हैं। इस सूत्र ग्रन्थको दोनों परम्पराओंमें एकता स्थापना का मूल आधार बनाया जा सकता है।

इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें मोक्षके मार्ग और तदुपयोगी जीवादि तत्त्वोंका ही सविस्तार निरूपण है। इसमें दश अध्याय हैं। प्रथमके चार अध्यायोंमें जीवका, पांचवेंमें अजीव का, छठवें और सातवें अध्यायमें आस्रवका, आठवें अध्यायमें बन्धका, नौवें में संवरका तथा दशवें अध्यायमें मोक्षका वर्णन है। प्रथम अध्यायमें मोक्षकामार्ग सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको बताकर जीवादि सात तत्त्वोंके अधिगमके उपाय प्रमाण नय निक्षेप और निर्देशादि सदादि अनुयोगोंका वर्णन है। पांच ज्ञान उनका विषय आदिका निरूपण करके उनमें प्रत्यक्ष परोक्ष विभाग उनका सम्यक्त्व मिथ्यात्व और नयोंका विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्यायमें जीवके औपशमिक आदि भाव, जीवका लक्षण, शरीर, इन्द्रियाँ, योनि जन्म आदिका सविस्तार निरूपण है। तृतीय अध्यायमें जीवके निवासभूत—अधोलोक और मध्यलोक गत भूगोलका उसके निवासियोंकी आयु कायस्थिति आदिका पूरा पूरा वर्णन है। चौथे अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका देवोंके भेद लेश्याएँ आयु काय परिवार आदिका वर्णन है। पांचवें अध्यायमें अजीवतत्त्व अर्थात् पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्योंका समग्र वर्णन है। द्रव्योंकी प्रदेश संख्या, उनके उपकार, शब्दादिका पुद्गल पर्यायत्व, स्कन्ध बननेकी प्रक्रिया आदि पुद्गल द्रव्यका सर्वांगीण विवेचन है। छठवें अध्यायमें ज्ञानावरणादि कर्मोंके आस्रवका सविस्तार निरूपण है। किन किन वृत्तियों और प्रवृत्तियोंसे किस किस कर्मका आस्रव होता है, कैसे आस्रवमें विशेषता होती है, कौन कर्म पुण्य है, और कौन पाप आदिका विशद विवेचन है। सातवें अध्यायमें शुभ आस्रवके कारण, पुण्यरूप अहिंसादि व्रतोंका वर्णन है। इसमें व्रतोंकी भावनाएँ उनके लक्षण अतिचार आदिका स्वरूप बताया गया है। आठवें अध्यायमें प्रकृतिबन्ध आदि चारों बन्धोंका, कर्म-प्रकृतियोंका उनकी स्थिति आदिका निरूपण है। नौवें अध्यायमें संवर तत्त्वका पूरा पूरा निरूपण है। इसमें गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परिषहजय चारित्र तप ध्यान आदिका सभेदप्रभेद निरूपण है। दशवें अध्यायमें मोक्षका वर्णन है। सिद्धोंमें भेद किन निमित्तोंसे हो सकता है। जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है? सिद्ध अवस्थामें कौन कौन भाव अवशिष्ट रह जाते हैं आदिका निरूपण है।

यह अकेला तत्त्वार्थसूत्र जैन ज्ञान, जैन भूगोल, खगोल, जैनतत्त्व, कर्मसिद्धान्त, जैन चारित्र आदि समस्त मुख्य मुख्य विषयोंका अपूर्व आकर है।

मंगल श्लोक—'मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगल श्लोक है या नहीं यह विषय विवादमें पड़ा हुआ है। यह श्लोक उमास्वामि कर्तृक है इसका स्पष्ट उल्लेख श्रुतसागरसूरिने प्रस्तुत तत्त्वार्थवृत्तिमें किया है। वे इसकी उत्थानिकामें लिखते हैं कि—द्वैयाक नामक भव्यके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए उमास्वामि भट्टारकने यह मंगल श्लोक बनाया। द्वैयाकका प्रश्न है—'भगवन्, आत्माका हित क्या है?' उमास्वामी उसका उत्तर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र में देते हैं। पर उन्हें उत्तर देनेके पहिले मंगलाचरण करनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। श्रुतसागरके पहिले विद्यानन्दि आचार्यने आप्त परीक्षा (पृ० ३) में भी इस श्लोकको सूत्रकारके नामसे उद्धृत किया है। पर यही विद्यानन्द 'तत्त्वार्थ-सूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' जैसे वाक्य भी आप्त परीक्षा (पृ० ५४) में लिखते हैं जो उमास्वामिके साथ ही साथ प्रभृति शब्दसे सूचित होनेवाले आचार्योंको भी तत्त्वार्थसूत्रकार माननेका या सूत्र शब्दकी गौणार्थताको प्रसंग उपस्थित करते हैं। यद्यपि अभयनन्दि श्रुतसागर जैसे पश्चाद्वर्ती ग्रन्थकारोंने इस श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगल लिख दिया है पर इनके इस लेखमें निम्नलिखित अनुपपत्तियाँ हैं जो इस श्लोकको पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धिका मंगलश्लोक माननेको बाध्य करती हैं—

(१) पूज्यपादने इस मंगलश्लोककी न तो उत्थानिका लिखी और न व्याख्या की। इस मंगलश्लोक-

के बाद ही प्रथमसूत्रकी उत्थानिका शुरू होती है।

(२) अकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिकमें न इस श्लोककी व्याख्या करते हैं और न इसके पदोंपर कुछ ऊहापोह ही करते हैं।

(३) विद्यानन्द स्वयं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसकी व्याख्या नहीं करते। इनने प्रसंगतः इस श्लोक के प्रतिपाद्य अर्थका समर्थन अवश्य किया है। यदि विद्यानन्द स्वयं ऐतिहासिक दृष्टिसे इसके कर्तृत्वके सम्बन्धमें असंदिग्ध होते तो वे इसकी यथावद् व्याख्या भी करते।

(४) तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार समस्त श्वेताम्बरीय आचार्योंने इस श्लोककी व्याख्या नहीं की और न तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें इस श्लोककी चर्चा ही की है।

यह श्लोक इतना असम्प्रादायिक और जैन आप्त स्वरूपका प्रतिनिधित्व करनेवाला है कि इसे सूत्रकारकृत होनेपर कोई भी कितना भी कट्टर श्वे० आचार्य छोड़ नहीं सकता था।

अनेकान्त पत्रके पांचवें वर्षके अंकोंमें इस श्लोकके ऊपर अनुकूल-प्रतिकूलचरचा चल चुकी है। फिर भी मेरा मत उपर्युक्त कारणोंके आधारसे इस श्लोकको मूलसूत्रकारकृत माननेका नहीं है। यह श्लोक पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि टीकाके प्रारम्भमें बनाया है इस निश्चयको बदलनेका कोई प्रबल हेतु अभीतक मेरी समझमें नहीं आया।

लोकवर्णन और भूगोल–जैनधर्म और जैन दर्शन जिसप्रकार अपने सिद्धान्तोंके स्वतन्त्र प्रतिपादक होनेसे अपना मौलिक और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं उस प्रकार जैन गणित या जैन भूगोल आदिका स्वतन्त्र स्थान नहीं है। कोई भी गणित हो, वह दो और दो चार ही कहेगा। आजके भूगोलको चाहे जैन लिखे या अजैन जैसा देखेगा या सुनेगा वैसा ही लिखेगा। उत्तरमें हिमालय और दक्षिणमें कन्याकुमारी ही जैन भूगोलमें रहेगी। तथ्य यह है कि धर्म और दर्शन जहाँ अनुभवके आधारपर परिवर्तित और संशोधित होते रहते हैं वहाँ भूगोल अनुभवके अनुसार नहीं किन्तु वस्तुगत परिवर्तनके अनुसार बदलता है। एक नदी जो पहिले अमुक गांवसे बहती थी कालक्रमसे उसकी धारा मीलों दूर चली जाती है। भूकम्प, ज्वालामुखी और बाढ़ आदि प्राकृतिक परिवर्तनकारणोंसे भूगोलमें इतने बड़े परिवर्तन हो जाते हैं जिसकी कल्पना भी मनुष्यको नहीं हो सकती। हिमालयके अमुक भागोंमें मगर और बड़ी बड़ी मछलियोंके अस्थि-पंजरोंका मिलना इस बातका अनुमापक है कि वहाँ कभी जलीय भाग था। पुरातत्त्वके अन्वेषणोंने ध्वंसावशेषोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि भूगोल कभी स्थिर नहीं रहता वह कालक्रमसे बदलता जाता है। राज्य परिवर्तन भी अन्तःभौगिलिक सीमाओंको बदलनेमें कारण होते हैं। पर समग्र भूगोलका परिवर्तन मुख्यतया जलका स्थल और स्थलका जलभाग होनेके कारण ही होता है। गाँवों और नदियोंके नाम भी उत्तरोत्तर अपभ्रष्ट होते जाते हैं और कुछके कुछ बन जाते हैं। इस तरह कालचक्रका ध्रुवभावी प्रभाव भूगोलका परिवर्तन बराबर करता रहता है। जैन शास्त्रोंमें जो भूगोल और खगोलका वर्णन मिलता है उसकी परम्परा करीब तीन हजार वर्ष पुरानी है। आजके भूगोलसे उसका मेल भले ही न बैठे पर इतने मात्रसे उस परम्पराकी स्थिति सर्वथा सन्दिग्ध नहीं कही जा सकती। आजसे २॥-३हजारवर्ष पहिले सभी सम्प्रदायोंमें भूगोल और खगोलके विषयमें प्रायः यही परम्परा प्रचलित थी जो जैन परम्परामें निबद्ध है। बौद्ध वैदिक और जैन तीनों परम्पराके भूगोल और खगोल सम्बन्धी वर्णन करीब करीब एक जैसे हैं। वही जम्बूद्वीप, विदेह, सुमेरु, देवकुरु,उत्तरकुरु, हिमवान्, आदि नाम और वैसीही लाखों योजनकी गिनती। इनका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस निष्कर्षपर पहुँचाता है कि उस समय भूगोल और खगोलकी जो परम्परा श्रुतानुश्रुत परिपाटीसे जैनाचार्योंको मिली उसे उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया है। उस समय भूगोलका यही रूप रहा होगा जैसा कि हमें प्रायः भारतीय परम्पराओंमें मिलता है। आज हमें जिस रूपमें मिलता है उसे उसी रूपमें माननेमें क्या आपत्ति है? भूगोलका रूप सदा शाश्वत तो रहता नहीं। जैन परम्परा इस ग्रन्थके तीसरे और चौथे अध्यायके पढ़नेसे ज्ञात हो सकती है। बौद्ध और वैदिक परम्पराके भूगोल और खगोलका वर्णन इस प्रकार है—

बौद्ध परम्परा अभिधर्मकोशके आधारसे—

असंख्यात वायुमण्डल हैं जो कि नीचेके भागमें सोलह लाख योजन गम्भीर है। जलमण्डल ११२०००० योजन गहरा है। जलमण्डलमें ऊपर ८००००० योजन भागको छोड़कर नीचेका भाग ३२०००० योजन भाग सुवर्णमय है। जलमण्डल और काञ्चनमण्डलका व्यास १२०२३४० योजन है और परिधि ३६४०३५० योजन है।

काञ्चनमण्डलमें मेरु, युगन्धर, ईषाधर, खदिरक्, सुदर्शन, अश्वकर्ण, वितनक और निमिन्धर ये ८ पर्वत हैं। ये पर्वत एक दूसरेको घेरे हुए हैं। निमिन्धर पर्वतको घेरकर जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, अवर-गोदानीय और उत्तरकुरु ये चार द्वीप हैं। सबसे बाहर चक्रवाल पर्वत हैं। सात पर्वत सुवर्णमय हैं। चक्रवाल लोहमय है। मेरुके ४ रंग हैं। उत्तरमें सुवर्णमय, पूर्वमें रजतमय, दक्षिणमें नीलमणिमय और पश्चिममें वैदूर्यमय हैं। मेरु पर्वत ८०००० योजन जलके नीचे है और इतना ही जलके ऊपर है। मेरु पर्वतकी ऊँचाईसे अन्य पर्वतोंकी ऊँचाई क्रमशः आधी आधी होती गई है। इस प्रकार चक्रवाल पर्वतकी ऊँचाई ३१२॥ योजन है। सब पर्वतोंका आधा भाग जलके ऊपर है। इन पर्वतोंके बीचमें सात सीता (समुद्र) हैं। प्रथम समुद्रका विस्तार ८०००० योजन है। अन्य समुद्रोंका विस्तार क्रमशः आधा-आधा होता गया है। अन्तिम समुद्रका विस्तार ३२०००० योजन है।

मेरुके दक्षिण भागमें जम्बूद्वीप शकटके समान अवस्थित है। मेरुके पूर्व भागमें पूर्वविदेह अर्धचन्द्राकार है। मेरुके पश्चिम भागमें अवरगोदानीय मण्डलाकार है। इसकी परिधि ७५०० योजन है। और व्यास २५०० योजन है। मेरुके उत्तरभागमें उत्तर कुरुद्वीप चतुष्कोण है। इसकी सीमाका मान ८००० योजन है। चारों द्वीपोंके मध्यमें आठ अन्तर द्वीप हैं। उनके नाम ये हैं–देह, विदेह, पूर्वविदेह, कुरु कौरव, चामर, अवर चामर, शाठ और उत्तरमंत्री। मार द्वीपमें राक्षस रहते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य रहते हैं।

जम्बूद्वीपके उत्तर भागमें पहले तीन फिर तीन और फिर तीन इस प्रकार ९ कीटाद्रि हैं। इसके बाद हिमालय है। हिमालयके उत्तरमें पचास योजन विस्तृत अनवतप्त नामका सरोवर है। इसके बाद गन्धमादन पर्वत है। अनवतप्त सरोवरमें गंगा, सिंधु, वक्षु और सीता ये चार नदियाँ निकली हैं। अनवतप्तके समीपमें जम्बूवृक्ष है जिससे इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड़ा।

जम्बू द्वीपके नीचे बीस योजन परिमाण अवीचि नरक है। इसके बाद प्रतापन, तपन, महारौरव रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीवक–ये सात नरक हैं। इस प्रकार कुल आठ नरक हैं। नरकोंमें चारों पार्श्वोंमें असिपत्रवन, श्यामशबलश्वस्थान, अयःशाल्मलीवन और वैतरणी नदी ये चार उत्सद (अधिक पीड़ाके स्थान) हैं। जम्बू द्वीपके अधोभागमें तथा महानरकोंके धरातलमें आठ शीतलनरक भी हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—अर्बुद, निरर्बुद, अटट, हहव, उत्पलपद्म और महापद्म।

मेरु पर्वतके अधोभागमें (अर्थात् युगन्धर पर्वतके समतलमें) चन्द्रमा और सूर्य भ्रमण करते हैं। चन्द्रमण्डलका विस्तार ५० योजन है तथा सूर्यमण्डलका विस्तार ५१ योजन है। चारों द्वीपोंमें एक साथ ही अर्धरात्रि, सूर्यास्त, मध्यान्ह और सूर्योदय होते हैं, अर्थात् जिस समय जम्बूद्वीपमें मध्याह्न होता है उसी समय उत्तरकुरुमें अर्धरात्रि, पूर्वविदेहमें सूर्यास्त और अवरगोदानीयमें सूर्योदय होता है। चन्द्रमाकी विकलांगताका दर्शन सूर्यके समीप होनेसे तथा अपनी छायासे आवृत होनेके कारण होता है।

मेरुके चार विभाग हैं। ये चारों विभाग क्रमशः दस हजार योजन के अन्तरालसे ऊपर हैं। पूर्वमें पहिले विभागमें करोटपाणि यक्ष रहते हैं। इनका राजा धृतराष्ट्र है। दक्षिणमें द्वितीयभागमें मालाधर यक्ष रहते हैं। इनका राजा विरुढक है। पश्चिममें तीसरे भागमें सदामद देव रहते ह। इनका राजा विरूपाक्ष है। उत्तरमें चौथे भागमें चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इनका राजा वैश्रवण

है। मेरुके समान अन्य सात पर्वतोंमें भी देव रहते हैं।

त्रयस्त्रिंश स्वर्गलोक का विस्तार ८०००० योजन है। वहां चारों दिशाओंके बीच में वज्रपाणि-देव रहते हैं। त्रायस्त्रिंशलोकके मध्यभागमें सुदर्शन नामका सुवर्णमय नगर है। इस नगरके मध्यमें वैजयन्त नामका इन्द्रका प्रासाद है। यह नगर बाह्य भागमें चार उद्योनोंसे सुशोभित है। इन उद्यानोंकी चारों दिशाओंमें बीस योजनके अन्तरालसे देवोंके क्रीड़ास्थल हैं। पूर्वोत्तर दिग्भागमें पारिजात देवद्रुम हैं। दक्षिण-पश्चिम भागमें सुधर्मा नामकी देव सभा है। त्रायस्त्रिंश लोकसे ऊपर याम, तुषित, निर्माणरति, और परनिर्मित-वशवर्ती देव विमानोंमें रहते हैं। महाराजिक और त्रायस्त्रिंशदेव मनुष्योंके समान कामसेवन करते हैं। याम आलिंगनसे, तुषित पाणिसंयोगसे, निर्माणरति हास्यसे और परनिर्मितवशवर्ती देव अवलोकनसे कामसुखका अनुभव करते हैं। कामधातुमें देव पांच या दस वर्षके बालक जमे उत्पन्न होते हैं। रूप-धातुमें पूर्ण शरीरधारी और वस्त्र सहित उत्पन्न होते हैं। ऋद्धिबल अथवा अन्य देवोंकी सहायताके बिना देव अपने ऊपर देवलोकको नहीं देख सकते।

जम्बूद्वीपवासी मनुष्योंका परिमाण (शरीरकी ऊँचाई) ३॥ या ४ हाथ है। पूर्वविदेहवासी मनुष्यों का परिणाम ७ या ८ हाथ है। गोदानीयवासियों का परिमाण १४ या १६ हाथ है। और उत्तर कुरुवासी मनुष्योंका परिमाण २८ या ३२ हाथ है। चातुर्महाराजिक देवोंका परिमाण पावकोश त्रायस्त्रिंशदेवोंका आधाकोश, यामोंका पौनकोश, तुषितोंका एक कोश, निर्माणरतियोंका सवाकोश और परिनिर्मितवशवर्ती देवोंका परिमाण डेड़ कोश है।

उत्तरकुरुमें मनुष्योंकी आयु एक हजार वर्ष है। पूर्व विदेहमें ५०० वर्ष आयु है। गोदानीयमें २५० वर्ष आयु है। लेकिन जम्बू-द्वीपमें मनुष्योंकी आयु निश्चित नहीं है। कल्पके अन्तमें दस वर्ष की आयु रह जाती है। उत्तरकुरुमें आयुके बीचमें मृत्यु नहीं होती है। अन्य पूर्वविदेह आदि द्वीपोंमें तथा देवलोकमें बीचमें मृत्यु होती है।

वैदिक परम्परा योगदर्शन-व्यासभाष्यके आधारसे—

भुवन विन्यास—लोक सात होते हैं। प्रथम लोकका नाम भूलोक है। अन्तिम अवीचि नरकसे लेकर मेरुपृष्ठ तक भूलोक है। द्वितीय लोक का नाम अन्तरिक्ष लोक है। मेरुपृष्ठसे लेकर ध्रुव तक अन्त-रिक्ष लोक है। अन्तरिक्षलोकमें ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं। इसके ऊपर स्वर्लोक है। स्वर्लोकके भेद हैं—माहेन्द्रलोक, प्राजापत्यमहर्लोक, और ब्रह्मलोक आदि। ब्रह्मलोकके तीन भेद हैं—जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक। इस प्रकार स्वर्लोकके पांच भेद होते हैं।

अवीचिनरकसे ऊपर छह महानरक हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र और अन्धतामिस्र। ये नरक क्रमशः घन(शिलाशकल आदि पार्थिव पदार्थ), सलिल, अनल, अनिल, आकाश और तमके आधार (आश्रय) हैं। महानरकोंके अतिरिक्त कुम्भीपाक आदि अनन्त उपनरक भी हैं। इन नरकोंमें अपने अपने कर्मोंके अनुसार दीर्घायुवाले प्राणी उत्पन्न होकर दुःख भोगते हैं। अवीचिनरकसे नीचे सात पाताललोक हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल और पाताल।

भूलोकका विस्तार—इस पृथ्वीपर सात द्वीप हैं। भूलोकके मध्यमें सुमेरु नामक स्वर्णमय पर्वत-राज है जिसके शिखर रजत, वैडूर्य, स्फटिक, हेम और मणिमय हैं। सुमेरु पर्वतके दक्षिणपूर्वमें जम्बू नामका वृक्ष है जिसके कारण लवणोदधिसे वेष्टित द्वीपका नाम जम्बूद्वीप है। सूर्य निरन्तर मेरुकी प्रद-क्षिणा करता रहता है। मेरुसे उत्तरदिशामें नील श्वेत और शृंगवान् ये तीन पर्वत हैं। प्रत्येक पर्वतका विस्तार दो हजार योजन है। इन पर्वतोंके बीचमें रमणक, हिरण्मय और उत्तरकुरु ये तीन क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ योजन है। नीलगिरि मेरुसे लगा हुआ है। नीलगिरिके उत्तरमें रमणक क्षेत्र है। श्वेत-

पर्वतके उत्तरमें हिरण्यमय क्षेत्र है। शृंगवान् पर्वतके उत्तरमें उत्तरकुरु है। मेरुसे दक्षिणदिशामें भी निषध, हेमकूट और हिम नामक दो दो हजार योजन विस्तारवाले तीन पर्वत हैं। इन पर्वतोंके बीचमें हरि-वर्ष, किम्पुरुष और भारत ये तीन क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है।

मेरुसे पूर्वमें माल्यवान् पर्वत है। माल्यवान् पर्वतसे समुद्रपर्यन्त भद्राश्व नामक देश है—इस देशमें भद्राश्वनामक क्षेत्र है। मेरुसे पश्चिममें गन्धमादन पर्वत है। गन्धमादन पर्वतसे समुद्रपर्यन्त केतुमाल नामक देश है—क्षेत्रका नाम भी केतुमाल है। मेरुके अधोभागमें इलावृत नामक क्षेत्र है। इसका विस्तार पचास हजार योजन है। इस प्रकार जम्बूद्वीपमें नौ क्षेत्र हैं। एक लाख योजन विस्तारवाला यह जम्बूद्वीप दो लाख योजन विस्तारवाले लवण समुद्रसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपके विस्तारसे क्रमशः दूने दूने विस्तार वाले छह द्वीप और हैं—शाक, कुश, क्रौञ्च, शालमल, मगध और पुष्करद्वीप। सातों द्वीपोंको घेरे हुए सात समुद्र हैं। जिनके पानीका स्वाद क्रमशः इक्षुरस, सुरा, घृत, दधि मांड, दूध और मीठा जैसा है। सातों द्वीप तथा सातों समुद्रोंका परिमाण पचास करोड़ योजन है।

पातालोंमें, समुद्रोंमें और पर्वतोंपर असुर, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि देव रहते हैं। सम्पूर्ण द्वीपोंमें पुण्यात्मा देव और मनुष्य रहते हैं। मेरु पर्वत देवोंकी उद्यानभूमि है। वहां मिश्रवन, नन्दन, चैत्ररथ, सुमानस इत्यादि उद्यान हैं। सुधर्मा नामकी देवसभा है। सुदर्शन नगर है तथा इस नगरमें वैजयन्त प्रासाद है। ग्रह, नक्षत्र और तारा ध्रुव (ज्योतिर्विशेष) मेरुके ऊपर स्थित हैं। इनका भ्रमण वायुके विक्षेपसे होता है।

स्वर्लोकका वर्णन—माहेन्द्रलोकमें छह देवनिकाय हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्तायाम्य, तुषित, अपरिनिर्मितवशवर्ति और परिनिर्मितवशवर्ति। ये देव संकल्पसिद्ध (संकल्पमात्रसे सबकुछ करनेवाले) अणिमा आदि ऋद्धि तथा ऐश्वर्यसे संपन्न, एक कल्प की आयु वाले, औपपादिक (माता पिताके संयोगके बिना लक्षण-मात्रमें जिनका शरीर उत्पन्न हो जाता है) तथा उत्तमोत्तम अप्सराओंसे युक्त होते हैं। महर्लोकमें पांच देवनिकाय हैं—कुमुद, ऋभव, प्रतर्दन, अञ्जनाभ और प्रचिताभ। ये देव महाभूतोंको वशमें रखनेमें स्वतंत्र होते हैं तथा ध्यानमात्रसे तृप्त हो जाते हैं। इनकी आयु एक हजार कल्पकी है। प्रथम ब्रह्मलोक (जनलोकमें) चार देवनिकाय हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, प्रब्रह्ममहाकायिक और अमर। ये देव भूत और इन्द्रियोंको वशमें रखने वाले होते हैं। ब्रह्मपुरस्थित देवोंकी आयु दो हजार कल्पकी है। अन्य देवनिकायोंमें आयु क्रमशः दूनी दूनी है। द्वितीय ब्रह्मलोकमें (तपोलोकमें) तीन देवनिकाय हैं—आभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर। ये देव भूत और इन्द्रिय और अन्तःकरणको वशमें रखने-वाले होते हैं। इनकी आयु पहले निकायकी अपेक्षा क्रमशः दूनी है। ये देव ऊर्ध्वरेतस् होते हैं तथा ध्यानमात्र से तृप्त हो जाते हैं। इनका ज्ञान ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोकमें अप्रतिहत होता है। तृतीय ब्रह्मलोक (सत्य-लोक)में चार देवनिकाय हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञि। इन देवोंके घर नहीं होते। इनका निवास अपनी आत्मामें ही होता है। क्रमशः ये ऊपर स्थित हैं। प्रधान (प्रकृति) को वशमें रखने वाले तथा एक सर्गकी आयुवाले हैं। अच्युतदेव सवितर्क ध्यानसे सुखी रहते हैं। शुद्धनिवासदेव सविचार ध्यानसे सुखी रहते हैं। सत्याभदेव आनन्दमात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। संज्ञासंज्ञि देव अस्मिता-मात्र ध्यानसे सुखी रहते हैं। ये सात लोक तथा अवान्तर सात लोक सब ब्रह्मलोक (ब्रह्माण्ड) के अन्तर्गत हैं।

वैदिक परम्परा श्रीमद्भागवतके आधारसे—

भूलोकका वर्णन—यह भूलोक सात द्वीपोंमें विभाजित है। जिनमें प्रथम जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है तथा यह कमलपत्रके समान गोलाकार है।

इस द्वीपमें आठ पर्वतोंसे विभक्त नौ क्षेत्र हैं। प्रत्येक क्षेत्रका विस्तार नौ हजार योजन है। मध्यमें इलावृत नामका क्षेत्र है। इस क्षेत्रके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है। मेरुकी ऊँचाई नियुतयोजन

प्रमाण है। मूलमें मेरु पर्वत सोलह हजार योजन पृथ्वीके अन्दर है तथा शिखर पर बत्तीस हजार योजन फैला हुआ है। मेरुके उत्तरमें नील, श्वेत तथा शृंगवान् ये तीन मर्यादागिरि हैं जिनके कारण रम्यक, हिरण्यमय और कुरुक्षेत्रोंका विभाग होता है। इसी प्रकार मेरुसे दक्षिणमें निषध, हेमकूट, हिमालय ये तीन पर्वत हैं जिनके द्वारा हरिवर्ष, किम्पुरुष और भारत इन तीन क्षेत्रोंका विभाग होता है। इलावृत क्षेत्रसे पश्चिममें माल्यवान् पर्वत है जो केतुमाल देशकी सीमा का कारण है। इलावृतसे पूर्वमें गन्धमादन पर्वत है जससे भद्राश्व देशका विभाग होता है। मेरुके चारों दिशाओंमें मन्दर, मेरुमन्दर, सुपार्श्व और कुमुद ये चार अवष्टम्भ पर्वत हैं। चारों पर्वतोंपर आम्र, जम्बू, कदम्ब और न्यग्रोध ये चार विशालवृक्ष हैं। चारों पर्वतोंपर चार तालाब हैं जिनका जल दूध, मधु, इक्षुरस तथा मिठाई जैसे स्वादका है। नन्दन, चैत्ररथ, वैभ्राजक और सर्वतोभद्र ये चार देवोद्यान हैं। इन उद्योनोंमें देव देवांगनाओं सहित विहार करते हैं। मन्दर पर्वतके ऊपर ११ सौ योजन ऊँचे आम्र वृक्षसे पर्वतके शिखर जैसे स्थूल और अमृतके समान रस-वाले फल गिरते हैं। मन्दर पर्वतसे अरुणोदा नदी निकलकर पूर्व में इलावृत क्षेत्रमें बहती है। अरुणोदा नदीका जल आम्र वृक्षके फलोंके कारण अरुण रहता है। इसी प्रकार मेरुमन्दर पर्वतके ऊपर जम्बूद्वीप वृक्षके फल गिरते हैं। मेरुमन्दरपर्वतसे जम्बू नामकी नदी निकलकर दक्षिणमें इलावृत क्षेत्रमें बहती है। जम्बूवृक्षके फलोंके रससे युक्त होनेके कारण इस नदीका नाम जम्बू नदी हैं। सुपार्श्व पर्वत पर कदम्ब वृक्ष है। सुपार्श्व पर्वतसे पांच नदियां निकलकर पश्चिममें इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। कुमुद पर्वत पर शातवल्श नामका बट वृक्ष है। कुमुद पर्वतसे पयोनदी, दधिनदी, मधुनदी, घृतनदी, गुडनदी, अन्ननदी, अम्बरनदी, शय्यासननदी, आभरणनदी आदि सब कामोंको तृप्त करनेवाली नदियां निकलकर उत्तरमें इलावृत क्षेत्रमें बहती हैं। इन नदियोंके जलके सेवन करनेसे कभी भी जरा, रोग, मृत्यु, उपसर्ग आदि नहीं होते हैं। मेरुके मूलमें कुरंग, कुरर, कुसुम्भ आदि बीस पर्वत हैं। मेरुसे पूर्वमें जठर और देवकूट, पश्चिममें पवन और परिपात्र, दक्षिणमें कैलास और करवीर, उत्तरमें त्रिशृंग और मकर इस प्रकार आठ पर्वत हैं। मेरुके शिखर पर भगवान की शातकौम्भी नामकी चतुष्कोण नदी है। इस नगरीके चारों ओर आठ लोकपालोंके आठ नगर हैं।

सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा इस प्रकार चार नदियां चारों दिशाओंमें बहती हुई समुद्रमें प्रवेश करती हैं। सीता नदी ब्रह्मसदनकेसर ,अचल आदि पर्वतोंके शिखरोंसे नीचे नीचे होकर गन्धमादन पर्वतके शिखरपर गिरकर भद्राश्व क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वमें क्षार समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार चक्षु नदी माल्य-वान् पर्वतके शिखरसे निकलकर केतुमाल क्षेत्रमें बहती हुई समुद्रमें मिलती है। भद्रा नदी मेरुके शिखरसे निकलकर शृंगवान् पर्वतके शिखरसे होकर उत्तरकुरुमें बहती हुई उत्तरके समुद्रमें मिलती है। अलक-नन्दा नदी ब्रह्मसदन पर्वतसे निकलकर भारतक्षेत्रमें बहती हुई दक्षिणके समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार अनेक नद और नदियां प्रत्येक क्षेत्रमें बहती हैं। भारतवर्ष ही कर्मक्षेत्र है। शेष आठ क्षेत्र स्वर्गवासी पुरुषोंके स्वर्गभोगसे बचे हुए पुण्योंके भोगनेके स्थान हैं।

अन्य द्वीपोंका वर्णन–जिस प्रकार मेरु पर्वत जम्बूद्वीपसे घिरा हुआ है उसी प्रकार जम्बूद्वीप भी अपने ही समान परिमाण और विस्तारवाले खारे जलके समुद्रसे परिवेष्टित है। क्षार समुद्रभी अपनेसे दूने प्लक्षद्वीपसे घिरा हुआ है। जम्बूद्वीपमें जितना बड़ा जामुनका पेड़ है उतने ही विस्तारवाला यहां प्लक्ष (पाकर)का वृक्ष है। इसीके कारण इसका नाम प्लक्षद्वीप हुआ। इस द्वीपमें शिव, यवस सुभद्र, शान्त, क्षेम, अमृत और अभय ये सात क्षेत्र हैं। मणिकूट, वज्रकूट, इन्द्रसेन, ज्योतिष्मान् सुपर्ण, हिरण्य-ष्ठीव और मेखमाल ये सात पर्वत हैं। अरुण, नृम्ण, आगिंरसी, सावित्री, सुप्रभाता, ऋतम्भरा और सत्यम्भरा ये सात नदियां हैं।

प्लक्षद्वीप अपने ही समान विस्तारवाले इक्षुरसके समुद्रसे घिरा हुआ है। उससे आगे उससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मली द्वीप है जो उतने ही परिमाणवाले मदिराके सागरसे घिरा हुआ है। इस द्वीपमें

शाल्मली (सेमर)का वृक्ष है जिसके कारण इस द्वीपका नाम शाल्मलीद्वीप हुआ। इस द्वीपमें सुरोचन, सौमनस्य, रमणक, देववर्ष, पारिभद्र और अविज्ञात ये सात क्षेत्र हैं। स्वरस, शतशृंग, वामदेव, कुन्द, मुकुन्द, पुष्पवर्ष और सहस्रश्रुति ये सात पर्वत हैं। अनुमति, सिनीवाली, सरस्वती, कुहु, रजनी, नन्दा और राका ये नदियां हैं।

मदिराके समुद्रसे आगे उसके दूने विस्तारवाला कुशद्वीप है। यह द्वीप अपने ही परिमाणवाले घृतके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें एक कुशोंका झाड़ है इसीसे इस द्वीपका नाम कुशद्वीप है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं। चक्र, चतुःशृंग, कपिल, चित्रकूट, देवानीक ऊर्ध्वरोमा और द्रविण ये सात पर्वत हैं। रसकुल्या, मधुकुल्या, मित्रवृन्दा, देवगर्भा, घृतच्युता और मन्त्रमाला ये सात नदियां हैं।

घृत समुद्रसे आगे उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप है। यह द्वीप भी अपने समान विस्तार-वाले दूधके समुद्रसे घिरा हुआ है। यहां क्रौञ्च नामका एक बहुत बड़ा पर्वत है उसीके कारण इसका नाम क्रौञ्च द्वीप हुआ। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र हैं। शुक्ल, वर्धमान, भोजन, उपबर्हिण, नन्द, नन्दन और सर्वतोभद्र ये सात पर्वत हैं। तथा अभया, अमृतौघा, आर्यका, तीर्थवती, वृतिरूपवती, पवित्रवती और शुक्ला ये सात नदियां हैं।

इसी प्रकार क्षीरसमुद्रसे आगे उसके चारों ओर बत्तीस लाख योजन विस्तारवाला शाकद्वीप है जो अपने ही समान परिमाणवाले मठेके समुद्रसे घिरा हुआ है। इसमें शाक नामका एक बहुत बड़ा वृक्ष है वही इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपमें भी सात क्षेत्र सात पर्वत तथा सात नदियां हैं।

इसी प्रकार मठेके समुद्रसे आगे उससे दूने विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है। वह चारों ओर अपने समान विस्तारवाले मीठे जलके समुद्रसे घिरा हुआ है। वहां एक बहुत बड़ा पुष्कर (कमल) है जो इस द्वीपके नामका कारण है। इस द्वीपके बीचोंबीच इसके पूर्वीय और पश्चिमीय विभागोंकी मर्यादा निश्चित करनेवाला मानसोत्तर नामका एक पर्वत है। यह दस हजार योजन ऊँचा और इतना ही लम्बा है।

इस द्वीपके आगे लोकालोक नामका एक पर्वत है। लोकालोक पर्वत सूर्यसे प्रकाशित और अप्रकाशित भूभागोंके बीच में स्थित है इसीसे इसका यह नाम पड़ा। यह इतना ऊँचा और इतना लम्बा है कि इसके एक ओरसे तीनों लोकोंको प्रकाशित करने वाली सूर्यसे लेकर ध्रुव पर्यंत समस्त ज्योतिमण्डलकी किरणें दूसरी ओर नहीं जा सकतीं।

समस्त भूगोल पचास करोड़ योजन है। इसका चौथाई भाग (१२॥ करोड़ योजन) यह लोकालोक पर्वत है।

इस प्रकार भूलोक का परिमाण समझना चाहिए। भूलोकके परिमाणके समान ही द्युलोकका भी परिमाण है। इन दोनों लोकोंके बीचमें अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और ताराओंका निवास है। सूर्यमण्डलका विस्तार दस हजार योजन है और चन्द्रमण्डलका विस्तार बारह हजार योजन है।

अतल आदि नीचेके लोकों का वर्णन—भूलोकके नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, और पाताल नामके सात भू-विवर (बिल) हैं। ये क्रमशः नीचे नीचे दस दस हजार योजनकी दूरी पर स्थित हैं। प्रत्येक बिलकी लम्बाई चौड़ाई भी दस दस हजार योजनकी है। ये भूमिके बिल भी एक प्रकारके स्वर्ग हैं। इनमें स्वर्गसे भी अधिक विषयभोग ऐश्वर्य, आनन्द, सन्तानसुख और धन-संपत्ति है।

नरकोंका वर्णन—समस्त नरक अट्ठाइस हैं। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—तामिस्र, अन्ध-तामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, असिपत्रवन, सूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभाजन, सन्दंश, तप्तसूर्मि, वज्रकण्टकशाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचि, अयः-पान, क्षारकर्दम, रक्षोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटरोधन, पर्यावर्तन, और सूचीमुख।

जो पुरुष दूसरोंके धन सन्तान, अथवा स्त्रियोंका हरण करता है उसे अत्यन्त भयानक यमदूत कालपाशमें बांधकर बलात्कारसे तामिस्र नरकमें गिरा देता है। इसी प्रकार जो पुरुष किसी दूसरेको धोखा देकर उसकी स्त्री आदिको भोगता है वह अन्धतामिस्र नरकमें पड़ता है। जो पुरुष इस लोकमें यह शरीर ही मैं हूँ और ये स्त्री धनादि मेरे हैं ऐसी बुद्धिसे दूसरे प्राणियोंसे द्रोह करके अपने कुटुम्बके पालन पोषण में ही लगा रहता है वह रौरव नरकमें गिरता है। जो क्रूर मनुष्य इस लोकमें अपना पेट पालनेके लिए जीवित पशु या पक्षियोंको रांधता है उसे यमदूत कुम्भीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तेलमें रांधते हैं। जो पुरुष इस लोकमे खटमल आदि जीवोंकी हिंसा करता है वह अन्धकूप नरकमें गिरता है। इस लोकमें यदि कोई पुरुष अगम्या स्त्रीके साथ सम्भोग करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे व्यभिचार करती है तो यमदूत उसे तप्तसूर्मि नरकमें ले जाकर कोड़ोंसे पीटते हैं। तथा पुरुषको तपाए हुए लोहेकी स्त्री-मूर्तिसे और स्त्रीको तपायी हुई पुरुष-प्रतिमासे आलिंगन कराते हैं। जो पुरुष इस लोकमें पशु आदि सभीके साथ व्यभिचार करता है उसे यमदूत वज्रकण्टकशाल्मली नरकमें ले जाकर वज्रके समान कठोर कांटोंवाले सेमरके वृक्षपर चढ़ाकर फिर नीचेकी ओर खींचते हैं। जो राजा या राजपुरुष इस लोकमें श्रेष्ठकुल में जन्म पाकर भी धर्मकी मर्यादाका उच्छेद करते हैं वे उस मर्यादातिक्रमके कारण मरने पर वैतरणी नदीमें पटके जाते हैं। यह नदी नरकोंकी खाईके समान है। यह नदी मल, मूत्र, पीव, रक्त, केश, नख, हड्डी, चर्बी, मांस, मज्जा आदि अपवित्र पदार्थों से भरी हुई है। जो पुरुष इस लोकमें नरमेधादिके द्वारा भैरव, यक्ष, राक्षस, आदिका यजन करते हैं उन्हें वे पशुओंकी तरह मारे गये पुरुष यमलोकमें राक्षस होकर तरह तरहकी यातनाएँ देते हैं तथा रक्षोगणभोजन नामक नरकमें कसाइयोंके समान कुल्हाड़ीसे काट काटकर उसका लोहू पीते हैं तथा जिस प्रकार वे मांसभोजी पुरुष इस लोकमें उनका मांस भक्षण करके आनन्दित होते थे उसी प्रकार वे भी उनका रक्तपान करते और आनन्दित होकर नाचते-गाते हैं।

इसी प्रकार अन्य नरकोंमें भी प्राणी अपने-अपने कमके अनुसार दुःख भोगते हैं।

वैदिक परम्परा (विष्णु पुराणके आधारसे–)

भूलोकका वर्णन–इस पृथ्वीपर सात द्वीप हैं जिनके नाम ये हैं–जम्बू प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। ये द्वीप लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल इन सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं।

सब द्वीपोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके मध्यमें सुवर्णमय मेरु पर्वत है जो ८४ हजार योजन ऊँचा है। मेरुके दक्षिणमें हिमवान्, हेमकूट और निषध पर्वत हैं तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी पर्वत हैं। मेरुके दक्षिणमें भारत, किम्पुरुष और हरिवर्ष ये तीन क्षेत्र हैं तथा उत्तरमें रम्यक, हिरण्मय और उत्तर-कुरु ये तीन क्षेत्र हैं। मेरुके पूर्वमें भद्रापूर्व क्षेत्र है तथा पश्चिममें केतुमाल क्षेत्र है। इन दोनों क्षेत्रोंके बीचमें इलावृत क्षेत्र है। इलावृत क्षेत्रके पूर्व में मन्दर, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें विपुल, उत्तरमें सुपार्श्व पर्वत हैं। मेरुके पूर्वमें शीतान्त, चक्रमुञ्च, कुररी, माल्यवान् वैकङ्क आदि पर्वत हैं। दक्षिणमें त्रिकूट, शिशिर, पतङ्ग, रुचक, निषध आदि पर्वत हैं, पश्चिममें शिखिवास, वैदूर्य, कपिल, गन्धमादन आदि पर्वत हैं और उत्तरमें शंखकूट, ऋषभ, हंस, नाग आदि पर्वत हैं।

मेरुके पूर्वमें चैत्ररथ, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें वैभ्राज और उत्तरमें नन्दनवन हैं। अरुणोद, महाभद्र असितोद और मानस ये सरोवर हैं।

मेरुके ऊपर जो ब्रह्मपुरी है उसके पाससे गंगानदी चारों दिशाओंमें बहती है। सीता नदी भद्रापूर्वक्षेत्रसे होकर पूर्व समुद्रमें मिलती है। अलकनन्दा नदी भारतक्षेत्रसे होकर समुद्रमें प्रवेश करती है। चक्षुःनदी केतुमाल क्षेत्रमें बहती हुई समुद्रमें मिलती है और भद्रानदी उत्तरकुरुमें बहती हुई समुद्रमें प्रवेश करती है।

इलावृतक्षेत्रके पूर्वमें जठर और देवकूट, दक्षिणमें गन्धमादन और कैलाश और पश्चिममें निषध और पारिपात्र और उत्तरमें त्रिश्रृंग और जारुधि पर्वत हैं। पर्वतोंके बीचमें सिद्धचारण देवोंसे सेवित खाई है और उनमें मनोहर नगर तथा वन हैं।

समुद्रके उत्तरमें तथा हिमालयके दक्षिणमें भारत क्षेत्र है। इसमें भरतकी सन्तति रहती है। इसका विस्तार नौ हजार योजन है। इस क्षेत्रमें महेंद्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य, और पारिपात्र ये सात क्षेत्र हैं।

इस क्षेत्रमें इन्द्रद्वीप, कशेरुमान, ताम्रवण, गधहस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और सागरसंवृत ये नव द्वीप हैं। हिमवान् पर्वतसे शतद्रु, चन्द्रभागा आदि नदियाँ निकली हैं। पारिपात्र पर्वतसे वेदमुख, स्मृतिमुख आदि नदियाँ निकली हैं। विंध्य पर्वतसे नर्मदा, सुरसा आदि नदियाँ निकली हैं। ऋषि पर्वतसे तापी, पयोष्णि, निर्विन्ध्या आदि नदियाँ निकली हैं। सह्य पर्वतसे गोदावरी, भीमरथी, कृष्ण-वेणी आदि नदियाँ निकली हैं। मलय पर्वतसे कृतमाल, ताम्रपर्णी आदि नदियाँ निकली हैं। महेन्द्र पर्वतसे त्रिसामा, आयकुल्या, आदि नदियाँ निकली हैं। शुक्तिमान् पर्वतसे त्रिकुल्या, कुमारी आदि नदियाँ निकली हैं।

प्लक्षद्वीप–इस द्वीपमें शान्तिमय, शिशिर, सुखद, आनन्द, शिव, क्षेमक, और ध्रुव ये सात क्षेत्र हैं। तथा गोमेंद्र, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, सामक, सुमन और वैभ्राज ये सात पर्वत हैं। अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, क्रमु, अमृता और सुकृता, ये सात नदियाँ हैं।

शाल्मलिद्वीप–इस द्वीपमें श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस और सुप्रभ ये सात क्षेत्र हैं। कुमुद, उन्नत, बलाहक, द्रोण, कङ्क, महिष और ककुद्म ये सात पर्वत हैं। योनी, तोया, वितृष्णा, चन्द्रा, शुक्ला, विमोचनी और निवृत्ति ये सात नदियाँ हैं।

कुशद्वीप–इस द्वीपमें उद्भिद्, वेणुमत्, वैरथ, लम्बन, धृति, प्रभाकर, और कपिल ये सात क्षेत्र हैं। विद्रुम, हेमशैल, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरि और मन्दराचल ये सात पर्वत हैं। धूतपापा, शिवा, पवित्रा, संमति, विद्युदंभा, मही आदि सात नदियाँ हैं।

क्रौञ्च द्वीप–इस द्वीपमें कुशल, मन्दक, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि और दुन्दुभि ये सात क्षेत्र हैं। क्रौञ्च, वामन, अन्धकारक, देवावृत, पुण्डरीकवान्, दुन्दुभि और महाशैल ये सात पर्वत हैं। गौरी, कुमुद्वती, सन्ध्या, रात्रि, मनोजवा, क्षान्ति और पुण्डरीका ये सात नदियाँ हैं।

शाक द्वीप–इस द्वीपमें जलद, कुमार, सुकुमार, मनीचक, कुसुमोद, मौदाकि और महाद्रुम ये सात क्षेत्र हैं। उदयगिरि, जलाधर, वतक, श्याम अस्तगिरि, अम्बिकेय और केसरी ये सात पर्वत हैं। सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, धेनुका, इक्षु, वेणुका और गभस्ती ये सात नदियाँ हैं।

पुष्कर द्वीप–इस द्वीपमें महावीर और धातकीखण्ड ये दो क्षेत्र हैं। मानुसोत्तर पर्वत पुष्करद्वीप के बीचमें स्थित है। अन्य पर्वत तथा नदियाँ इस द्वीपमें नहीं हैं।

भूगोलकी इन परम्पराओंका तुलनात्मक अध्ययन हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि आजसे दो ढाई हजार वर्ष पहिले भूगोल और लोक वर्णनकी करीब करीब एक जैसी अनुश्रुतियाँ प्रचलित थीं। जैन अनुश्रुतिको प्रकृत तत्त्वार्थसूत्रके तृतीय और चतुर्थ अध्यायमें निबद्ध किया गया है। लोकका पुरुषाकार वर्णन भी योगभाष्यमें पाया जाता है। अतः ऐतिहासिक और उस समयकी साधनसामग्रीकी दृष्टिसे भारतीय परम्पराओंका लोकवर्णन अपनी खास विशेषता रखता है। आजके उपलब्ध भूगोलमें प्राचीन स्थानोंकी खोज करनेपर बहुत कुछ तथ्य सामने आ सकता है।

प्रस्तुतवृत्ति–इस वृत्तिका नाम तत्त्वार्थवृत्ति है जैसा कि स्वयं श्रुतिसागरसूरिने ही प्रारम्भमें लिखा–है "वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निजविभवतयाऽहं श्रुतोदन्वदाख्यः।" अर्थात् मैं श्रुतसागर अपनी शक्तिके अनुसार तत्त्वार्थवृत्तिको कहूँगा। अध्यायोंके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकाओंमें इसके 'तत्त्वार्थटीकायाम्',

'तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ' ये दो प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि द्वितीय उल्लेखमें इसका 'तात्पर्य' यह नाम सूचित किया गया है, परन्तु स्वयं श्रुतसागरसूरिको तत्त्वार्थवृत्ति यही नाम प्रचारित करना इष्ट था। वे इस ग्रन्थके अन्तमें इसे तत्त्वार्थवृत्ति ही लिखते हैं। यथा–"एषा तत्त्वार्थवृत्तिः यैर्विचार्यते" आदि। तत्त्वार्थटीका यह एक साधारण नाम है, जो कदाचित् पुष्पिकामें लिखा भी गया हो, पर प्रारम्भ श्लोक और अन्तिम उपसंहारवाक्यमें 'तत्त्वार्थवृत्ति' इन समुल्लेखोंके बलसे इसका 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम ही फलित होता है।

इस तत्त्वार्थवृत्तिको श्रुतसागरसूरिने स्वतंत्रवृत्तिके रूपमें बनाया है। परन्तु ग्रन्थके पढ़ते ही यह भान होता है कि यह पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिकी ही व्याख्या है। इसमें सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ तो प्रायः पूराका पूरा ही समा गया है। कहीं सर्वार्थसिद्धिकी पंक्तियोंको दो चार शब्द नए जोड़कर अपना लिया है, कहीं उनकी व्याख्या की है, कहीं विशेषार्थ दिया है और कहीं उसके पदोंकी सार्थकता दिखाई है। अतः प्रस्तुतवृत्तिको सर्वार्थसिद्धिकी अविकल व्याख्या तो नहीं कह सकते। हाँ, सर्वार्थसिद्धि को लगानेमें इससे सहायता पूरी पूरी मिल जाती है।

श्रुतसागरसूरि अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे। उनने स्वयं ही अपना परिचय प्रथम अध्याय की पुष्पिका में दिया है। उसका भाव यह है–"अनवद्य गद्य पद्य विद्याके विनोदसे जिनकी मति पवित्र है, उन मतिसागर यतिराजकी प्रार्थनाको पूरा करनेमें समर्थ, तर्क, व्याकरण, छन्द, अलङ्कार साहित्यादिशास्त्रोंमें जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकके प्रशिष्य और विद्यानन्दिदेवके शिष्य श्रुतसागरसूरिके द्वारा रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि न्यायकुमुदचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड प्रचण्ड-अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंके पाण्डित्यका प्रदर्शन करानेवाली तत्त्वार्थटीकाका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।"

इन्होंने अपने को स्वयं कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किका शिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे भी अलंकृत किया है।

इन्होंने सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायके उद्घाटनका पूरा पूरा प्रयत्न किया है। सत्संख्यासूत्रमें सर्वार्थसिद्धिके सूत्रात्मक वाक्योंकी उपपत्तियां इसका अच्छा उदाहरण हैं। जैसे–(१) सर्वार्थसिद्धिमें क्षेत्रप्ररूपणामें सयोगकेवलीका क्षेत्र लोकका असंख्येय भाग असंख्येय बहुभाग और सर्वलोक बताया है। इसका अभिप्राय इस प्रकार बताया है–"लोकका असंख्येय भाग दण्ड कपाट समुद्घात की अपेक्षा है। सो कैसे? यदि केवली कायोत्सर्गसे स्थित हैं तो दण्ड समुद्घातको प्रथम समयमें बारह अंगुल प्रमाण समवृत्त या मूलशरीर प्रमाण समवृत्त रूपसे करते हैं। यदि बैठे हुए हैं तो शरीरसे तिगुना या वातवलयसे कम पूर्ण लोक प्रमाण दण्ड समुद्घात करते हैं। यदि पूर्वाभिमुख हैं तो कपाट समुद्घातको उत्तर-दक्षिण एक धनुषप्रमाण प्रथम समयमें करते हैं। यदि उत्तराभिमुख हैं तो पूर्व-पश्चिम करते हैं। इस प्रकार लोकका असंख्या-तैकभाग होता है। प्रतर अवस्थामें केवली तीन वातवलयकम पूर्णलोकको निरन्तर आत्मप्रदेशोंसे व्याप्त करते हैं। अतः लोकका असंख्यात बहुभाग क्षेत्र हो जाता है। पूरण अवस्थामें सर्वलोक क्षेत्र हो जाता है।

(२) वेदकसम्यक्त्वकी छयासठ सागर स्थिति–सौधर्मस्वर्गमें २ सागर, शुक्रस्वर्गमें १६ सागर, शतारमें १८ सागर, अष्टम ग्रैवेयकमें ३० सागर, इस प्रकार छ्यासठ सागर हो जाते हैं। अथवा सौधर्ममें दो बार उत्पन्न होनेपर ४ सागर, सनत्कुमारमें ७ सागर, ब्रह्म स्वर्गमें दस सागर, लान्तवमें १४ सागर, नवम ग्रैवेयकमें ३१ सागर, इस प्रकार ६६ सागर स्थिति होती है। अन्तिम ग्रैवेयककी स्थितिमें मनुष्यायुओंका जितना काल होगा उतना कम समझना चाहिये।

(३) सासादन सम्यग्दृष्टिका लोकका देशोन ८ भाग या १२ भाग स्पर्शन–परस्थान विहारकी अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टि देव नीचे तीसरे नरक तक जाते हैं तथा ऊपर अच्युत स्वर्ग तक। सो नीचे दो राजू और ऊपर ६ राजू, इस प्रकार आठ राजू हो जाते हैं। छठवें नरकका सासादन मारणान्तिक समुद्घात

मध्यलोक तक ५ राजू और लोकान्तवर्ती बादरजलकाय या वनस्पतिकायमें उत्पन्न होनेके कारण ७ राजू, इस प्रकार १२ राजू हो जाते हैं। कुछ प्रदेश सासादनके स्पर्शयोग्य नहीं होते अतः देशोन समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार समस्त सूत्रमें सर्वार्थसिद्धिके अभिप्रायको खोलनेका पूर्ण प्रयत्न किया गया है। न केवल इसी सूत्रको ही, किन्तु समग्र ग्रन्थ को ही लगानेका विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया गया है।

परन्तु शास्त्रसमुद्र इतना अगाध और विविध भंग तरंगोंसे युक्त है कि उसमें कितना भी कुशल अवगाहक क्यों न हो चक्करमें आ ही जाता है। इसीलिए बड़े बड़े आचार्योंने अपने छद्मस्थज्ञान और चंचल क्षायोपशमिक उपयोग पर विश्वास न करके स्वयं लिख दिया है कि—"को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।" श्रुतसागरसूरि भी इसके अपवाद नहीं हैं। यथा—

(१) सर्वार्थसिद्धिमें "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" (५।४१) सूत्रकी व्याख्यामें 'निर्गुण' इस विशेषण की सार्थकता बताते हुए लिखा है कि—"निर्गुण इति विशेषणं द्वयणुकादिनिवृत्त्यर्थम्, तान्यपि हि कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयाणि गुणवन्ति तु तस्मात् 'निर्गुणाः' इति विशेषणात्तानि निवर्तितानि भवन्ति।" अर्थात् द्वयणुकादि स्कन्ध नैयायिकों की दृष्टिसे परमाणुरूप कारणद्रव्यमें आश्रित होनेसे द्रव्याश्रित हैं और रूपादि गुणवाले होनेसे गुणवाले भी हैं अतः इनमें भी उक्त गुणका लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा। इसलिए इनकी निवृत्तिके लिए 'निर्गुणाः' यह विशेषण दिया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरि लिखते हैं कि—

"निर्गुणाः इति विशेषणं द्वयणुकत्र्यणुकादिस्कन्धनिषेधार्थम्, तेन स्कन्धाश्रया गुणा गुणा नोच्यन्ते। कस्मात्? कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयत्वात्, तस्मात् कारणात् निर्गुणा इति विशेषणात् स्कन्धगुणा गुणा न भवन्ति पर्यायाश्रयत्वात्।" अर्थात्—'निर्गुणाः' यह विशेषण द्वयणुक त्र्यणुकादि स्कन्धके निषेधके लिए है। इससे स्कन्धमें रहनेवाले गुण गुण नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे कारणभूत परमाणुद्रव्यमें रहते हैं। इसलिए स्कन्धके गुण गुण नहीं हो सकते क्योंकि वे पर्यायमें रहते हैं। यह हेतुवाद बड़ा विचित्र है और जैन सिद्धान्त के प्रतिकूल भी। जैनसिद्धान्तमें रूपादि चाहे घटादिस्कन्धोंमें रहनेवाले हों या परमाणुमें, सभी गुण कहे जाते हैं। ये स्कन्धके गुणोंको गुण ही नहीं कहना चाहते क्योंकि वे पर्यायाश्रित हैं। यदि वे यह कहते कि कारणपरमाणुओंको छोड़कर स्कन्धकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है और इसलिए स्कन्धाश्रित गुण स्वतंत्र नहीं हैं तो कदाचित् संगत भी था। पर इस कथनका प्रकृत 'निर्गुण' पदकी सार्थकतासे कोई मेल नहीं बैठता। इस असंगतिके कारण आगेके शंकासमाधानमें भी असंगति हो गई है। यथा—सर्वार्थसिद्धिमें है कि—घटकी संस्थान-आकार आदि पर्याएँ भी द्रव्याश्रित हैं और स्वयं गुणरहित हैं अतः उन्हें भी गुण कहना चाहिए। इसका समाधान यह कर दिया गया है कि जो हमेशा द्रव्याश्रित हों, रूपादि गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं, जब कि घटके संस्थानादि सदा द्रव्याश्रित नहीं हैं। इस शंका-समाधानका सर्वार्थसिद्धिका पाठ यह है—

"ननु पर्याया अपि घटसंस्थानादयो द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च, तेषामपि गुणत्वं प्राप्नोति। द्रव्याश्रया इति वचनान्नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते, गुणा इति विशेषणात् पर्यायाश्च निर्वर्तिता भवन्ति, ते हि कादाचित्का इति।"

इस शंकासमाधानको श्रुतसागर सूरि इस रूपमें उपस्थित करते हैं—

"ननु घटादिपर्यायाश्रिताः संस्थानादयो ये गुणा वर्तन्ते, तेषामपि संस्थानादीनां गुणत्वमास्कन्दनि द्रव्याश्रयत्वात्, यतो घटपटादयोऽपि द्रव्याणीत्युच्यन्ते। साध्वभाणि भवता। ये नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाश्रया गुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिता गुणाः कदाचित्काः कदाचिद्भवा वर्तन्ते इति।"

इस अवतरणमें श्रुतसागरसूरि संस्थानादिको घटादिका गुण कह रहे हैं, और उनका कादाचित्क होनेका उल्लेख है फिर भी उसका अन्यथा अर्थ किया गया है।

(२) सर्वार्थसिद्धि (८।२)में जीव शब्दकी सार्थकता बताते हुए लिखा है कि "अमूर्तिरहस्त आत्मा कथं कर्मादत्ते?" इति चोदितः सन् जीव इत्याह। जीवनाज्जीवः प्राणधारणादायुःसम्बन्धात् नायुर्विरहा-

दिति।" अर्थात्–'हाथरहित अमूर्त आत्मा कैसे कर्म ग्रहण करता है' इस शंका का उत्तर है 'जीव' पदका ग्रहण। प्राणधारण और आयु:संबंधके कारण जीव बना हुआ आत्मा कर्म ग्रहण करता है, आयुसम्बन्धसे रहित होकर सिद्ध अवस्थामें नहीं। यहां श्रुतसागरसूरि 'नायुर्विरहात्' वाले अंशको इस रूपमें लिखते हैं– "आयु:सम्बन्धविरहे जीवस्यानाहारकत्वात् एकद्वित्रिसमयपर्यन्तं कर्म नादत्ते जीवः एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारक इति वचनात्।" अर्थात्–आयुसम्बन्धके बिना जीव अनाहारक रहता है और वह एक दो तीन समय तक कर्मको ग्रहण नहीं करता क्योंकि एक दो तीन समय तक अनाहारक रहता है ऐसा कथन है। यहां कर्मग्रहणकी बात है, पर श्रुतसागरसूरि उसे नोकर्म ग्रहणरूप आहारमें लगा रहे हैं, जिसका कि आयुसम्बन्धविरहसे कोई मेल नहीं है। संसार अवस्थामें कभी भी जीव आयुसंबंधसे शून्य नहीं होता। विग्रहगतिमें भी उसके आयुसंबंध होता ही है।

(३) सर्वार्थसिद्धि (८।२)में ही 'सः' शब्दकी सार्थकता इसलिए बताई गई है कि इससे गुणगुणिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है। नैयायिकादि शुभ अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें ही 'अदृष्ट' नामके गुणकी उत्पत्ति मानते हैं उसीसे आगे फल मिलता है। इसे ही बन्ध कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यही गुणगुणिबन्ध कहलाता है। आत्मा गुणीमें अदृष्ट नामके उसीके गुणका सम्बन्ध हो गया। इसका व्याख्यान श्रुतसागरसूरि इस प्रकार करते हैं–

"तेन गुणगुणिबन्धो न भवति। यस्मिन्नेव प्रदेशे जीवस्तिष्ठति तस्मिन्नेव प्रदेशे केवलज्ञानादिकं न भवति किंतु अपरत्रापि प्रसरति।" अर्थात्–इसलिए गुणगुणिबन्ध–गुणका गुणिके प्रदेशों तक सीमित रहना–नहीं होता। जिस प्रदेशमें जीव है उसी प्रदेशमें ही केवल ज्ञानादि नहीं रहते किन्तु वह अन्यत्र भी फैलता है। यहां, गुणगुणिबन्धका अनोखा ही अर्थ किया है, और यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि गुणी चाहे अल्पदेशोंमें रहे पर गुण उसके साथ बद्ध नहीं है वह अन्यत्र भी जा सकता है। जो स्पष्टतः सिद्धांतसमर्थित नहीं है।

(४) पृ० २७० पं० ११ में एकेन्द्रियके भी असंप्राप्तासृपाटिका संहननका विधान किया है।

(५) पृ० २७५ में सर्व मूलप्रकृतियोंके अनुभागको स्वमुखसे विपाक मानकर भी 'मतिज्ञानावरणका मतिज्ञानावरणरूप से ही विपाक होता है' यह उत्तरप्रकृतिका दृष्टान्त उपस्थित किया गया है।

(६) पृ० २८१में गुणस्थानोंका वर्णन करते समय लिखा है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पहुँचनेवाला जीव प्रथमप्रथमोपशम सम्यक्त्वमें ही दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धी चार इन सात प्रकृतियोंका उपशम करता है। जो सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि प्रथमोशमसम्यक्त्वमें दर्शनमोहनीय की केवल एक प्रकृति मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी चार इस तरह पांच प्रकृतियोंके उपशमसे ही प्रथमोशम सम्यक्त्व बताया गया है। सातका उपशम तो जिनके एकबार सम्यक्त्व हो चुकता है उन जीवोंके दुबारा प्रथमोशमके समय होता है।

(७) आदाननिक्षेपसमितिमें—मयूरपिच्छ के अभावमें वस्त्रादिके द्वारा प्रतिलेखनका विधान किया गया है, यह दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं है।

(८) सूत्र ८।४७ में द्रव्यलिंगकी व्याख्या करते हुए श्रुतसागरसूरिने असमर्थ मुनियोंको अपवादरूपसे वस्त्रादिग्रहण इन शब्दोमें स्वीकार किया है—

"केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति, न तत् सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेण अपवादरूपं ज्ञातव्यम्। 'उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवान्' इत्युत्सर्गेण तावद् यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति, आर्यसमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षया अपवादव्याख्याने न दोषः।"

अर्थात् भगवती आराधनाके अभिप्रायानुसार असमर्थ या दोषयुक्त शरीरवाले साधु शीतकालमें वस्त्र ले लेते हैं, पर वे न तो उसे धोते हैं न सीते हैं और न उसके लिए प्रयत्न ही करते हैं, दूसरे समयमें उसे छोड़ देते हैं। उत्सर्गलिंग तो अचेलकता है पर आर्या असमर्थ और दोषयुक्त शरीरवालोंकी अपेक्षा अपवादलिंगमें भी दोष नहीं है।

भगवती आराधना (गा० ४२१) की अपराजितसूरिकृत विजयोदया टीकामें कारणापेक्ष यह अपवादमार्ग स्वीकार किया गया है। इसका कारण स्पष्ट है कि अपराजितसूरि यापनीयसंघके आचार्य थे और यापनीय आगमवाचनाओंको प्रमाण मानते थे। उन आगमोंमें आए हुए उल्लेखोंके समन्वयके लिए अपराजितसूरिने यह व्यवस्था स्वीकार की है। परन्तु श्रुतसागरसूरि तो कट्टर दिगम्बर थे, वे कैसे इस चक्करमें आ गये ?

भाषा और शैली—तत्त्वार्थवृत्तिकी शैली सरल और सुबोध है। प्रत्येक स्थानमें नूतन पर सुमिल शब्दोंका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। सैद्धान्तिक बातोंका खुलासा और दर्शनगुत्थियोंके सुलझानेका प्रयत्न स्थान स्थान पर किया गया है। भाषाके ऊपर तो श्रुतसागरसूरिका अद्भुत अधिकार है। जो क्रिया एक जगह प्रयुक्त है वही दूसरे वाक्यमें नहीं मिल सकती। प्रमाणोंको उद्धृत करनेमें तो इनके श्रुतसागरत्वका पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। इस वृत्ति में निम्नलिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका उल्लेख नाम लेकर किया गया है। अनिर्दिष्टकर्तृक गाथाएँ और श्लोक भी इस वृत्तिमें पर्याप्त रूपमें संगृहीत हैं। इस वृत्तिमें उमास्वामी (उमास्वाति भी) समन्तभद्र पूज्यपाद अकलंकदेव विद्यानन्दि प्रभाचन्द्र नेमिचन्द्रदेव योगीन्द्रदेव मतिसागर देवेन्द्रकीर्तिभट्टारक आदि ग्रन्थकारोंके तथा सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक अष्टसहस्री भगवतीआराधना संस्कृतमहापुराणपंजिका प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थोंके नामोल्लेख हैं। इनके अतिरिक्त सोमदेवके यशस्तिलकचम्पू आशाधरके प्रतिष्ठापाठ वसुनन्दिश्रावकाचार आत्मानुशासन आदिपुराण त्रिलोकसार पंचास्तिकाय प्रवचनसार नियमसार पंचसंग्रह प्रमेयकमलमार्तण्ड बारसअणुवेक्खा परमात्मप्रकाश आराधनासार गोम्मटसार बृहत्स्वयंभूस्तोत्र रत्नकरण्डश्रावकाचार श्रुतभक्ति पुरुषार्थसिद्धयुपाय नीतिसार द्रव्यसंग्रह कातन्त्रसूत्र सिद्धभक्ति हरिवंशपुराण षड्दर्शनसमुच्चय पाणिनिसूत्र इष्टोपदेश न्यायसंग्रह ज्ञानार्णव अष्टांगहृदय द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका शाकटायनव्याकरण तत्त्वसार सागारधर्मामृत आदि ग्रंथोंके श्लोक गाथा आदि उद्धृत किये गये हैं।

इस प्रकार यह वृत्ति अतिशयपाण्डित्यपूर्ण और प्रमाणसंग्रहा है। श्रुतसागरसूरिने इसे सर्वोपयोगी बनानेका पूरा पूरा प्रयत्न किया है।

ग्रन्थकार

इस विभागमें सूत्रकार उमास्वामी और वृत्तिकारके समय आदिका परिचय कराना अवसरप्राप्त है। सूत्रकार उमास्वामीके संबंधमें अनेक विवाद हैं—वे किस आम्नायके थे ? क्या तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्ति उनकी लिखी है ? क्या तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ नहीं है ? मूल सूत्रपाठ कौन है ? वे कब हुए थे ? आदि। इस संबंधमें श्रीमान् पं० सुखलालजीने अपने तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें पर्याप्त विवेचन किया है और उमास्वामीको श्वे० परम्पराका बताया है, तत्त्वार्थभाष्य स्वोपज्ञ है और उसकी प्रशस्तिमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं है। इनने उमास्वामीके समयकी अवधि विक्रमकी दूसरीसे पांचवीं सदी तक निर्धारित की है।

श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने भारतीय विद्याके सिंघी स्मृति अंकमें "उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र और उनका सम्प्रदाय" शीर्षक लेखमें उमास्वातिको यापनीय संघका आचार्य सिद्ध किया है। इसके प्रमाणमें उनने मैसूरके नगरतालुके ४६ नं०के शिलालेखमें आया हुआ यह श्लोक उद्धृत किया है—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्तारम् उमास्वामिमुनीश्वरम् ।
श्रुतिकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ।।"

इस श्लोकमें उमास्वामीको 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण दिया है और यही विशेषण यापनीय-संघाग्रणी शाकटायन आचार्यको भी लगाया जाता है। अतः उमास्वामी यापनीयसंघकी परम्परामें हुए हैं। इधर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उमास्वामीको दिगम्बर परम्पराका स्वीकार करते हैं तथा भाष्यको स्वोपज्ञ नहीं मानते। यद्यपि यह भाष्य अकलंकदेवसे पुराना है क्योंकि इनने राजवार्तिकमें भाष्यगत कारिकाएँ उद्धृत की है और भाष्यमान्य सूत्रपाठकी आलोचना की है तथा भाष्यकी पंक्तियोंको वार्तिक भी बनाया है।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य और उमास्वामीके संबंधके अनेक विवाद हैं जो गहरी छानवीन और स्थिर गवेषणाकी अपेक्षा रखते हैं। मैंने जो सामग्री इकट्ठी की है वह इस अवस्थामें नहीं है कि उससे कुछ निश्चित परिणाम निकाला जा सके। अतः तत्त्वार्थवार्तिककी प्रस्तावनाके लिए यह विषय स्थगित कर रहा हूँ।

वृत्तिकर्ता श्रुतसागरसूरि वि० १६वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। इनके समय आदिके सम्बन्धमें श्रीमान् प्रेमीजीने 'जैन साहित्य और इतिहास'में सांगोपांग विवेचन किया है। उनका वह लेख यहां साभार उद्धृत किया जाता है।

श्रुतसागरसूरि

ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं और इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि-देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्मनन्दिके* शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक-पदपर आसीन हुए थे। श्रुतसागर शायद गद्दीपर बैठे ही नहीं, फिर भी वे भारी विद्वान् थे। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है।

विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थानपर था, परन्तु कहां पर था, इसका उल्लेख नहीं मिला§।

श्रुतसागरके भी अनेक शिष्य होंगे, जिनमें एक शिष्य श्रीचन्द्र थे जिनकी बनाई हुई वैराग्य-मणिमाला उपलब्ध है। आराधनाकथाकोश, नेमिपुराण आदि ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी जो मल्लि-भूषणके शिष्य थे—श्रुतसागरको गुरुभावसे स्मरण किया है और मल्लिभूषणकी वही गुरुपरपम्परा दी है जो श्रुतसागरके ग्रन्थोंमें मिलती है। उन्होंने सिंहनन्दिका भी उल्लेख किया है जो मालवाकी गद्दीके भट्टारक थे और जिनकी प्रार्थनासे श्रुतसागरने यशस्तिलककी टीका लिखी थी।

श्रुतसागरने अपनेको कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, व्याकरणकमल-मार्तण्ड, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। ये विशेषण उनकी अहम्मन्यताको खूब अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

वे कट्टर तो थे ही असहिष्णु भी बहुत ज्यादा थे। अन्य मतोंका खण्डन और विरोध तो औरोंने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डनके साथ बुरी तरह गालियां भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्र-मण इन्होंने मूर्तिपूजा न करनेवाले लोंकागच्छ (ढूंढ़ियों)पर किया है।........

अधिकतर टीकाग्रन्थ ही श्रुतसागरने रचे हैं, परन्तु उन टीकाओंमें मूल ग्रन्थकर्ताके अभिप्रायोंकी अपेक्षा उन्होंने अपने अभिप्रायोंको ही प्रधानता दी है। दर्शनपाहुडकी २४वीं गाथाकी टीकामें उन्होंने

---

*. ये पद्मनन्दि वही मालूम होते हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि गिरिनार पर सरस्वती देवी से उन्होंने कहला दिया था कि दिगम्बर पन्थ ही सच्चा है। इन्हीं की एक शिष्य शाखा में सकलकीर्ति, विजयकीर्ति और शुभचन्द्र भट्टारक हुए हैं।

§. इनकी गद्दी सूरत में थी। देखो 'दानवीर माणिकचन्द्र' पृ० ३७।

जो अपवाद वेषकी व्याख्या की है, वह यही बतलाती है। वे कहते हैं कि दिगम्बर मुनि चर्याके समय चटाई आदिसे अपने नग्नत्वको ढांक लेता है। परन्तु यह उनका खुदका ही अभिप्राय है, मूलका नहीं। इसी तरह तत्त्वार्थटीका (संयमश्रुतप्रतिसेवनादि सूत्रकी टीका)में जो द्रव्यलिंगी मुनिको कम्बलादि ग्रहणका विधान किया है वह भी उन्हींका अभिप्राय है, मूल ग्रन्थकर्ताका नहीं।

श्रुतसागरके ग्रन्थ—

(१) यशस्तिलकचन्द्रिका—आचार्य सोमदेवके प्रसिद्ध यशस्तिलक चम्पूकी यह टीका है और निर्णयसागर प्रेसकी काव्यमालामें प्रकाशित हो चुकी है। यह अपूर्ण है। पांचवें आश्वासके थोड़ेसे अंशकी टीका नहीं है। जान पड़ता है, यही उनकी अन्तिम रचना है। इसकी प्रतियां अन्य अनेक भण्डारोंमें उपलब्ध हैं, परन्तु सभी अपूर्ण हैं।

(२) तत्त्वार्थवृत्ति—यह श्रुतसागरटीकाके नामसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी एक प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवनमें मौजूद है जो वि० सं० १८४२ की लिखी हुई है। श्लोकसंख्या नौ हजार है। इसकी एक भाषावचनिका भी हो चुकी है।

(३) तत्त्वत्रयप्रकाशिका—श्री शुभचन्द्राचार्यके ज्ञानार्णव या योगप्रदीपके अन्तर्गत जो गद्यभाग है, यह उसीकी टीका है। इसकी एक प्रति स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके ग्रन्थसंग्रहमें है।

(४) जिनसहस्रनामटीका—यह पं० आशाधरकृत सहस्रनामकी विस्तृत टीका है। इसकी भी एक प्रति उक्त सेठजीके ग्रन्थसंग्रहमें है। पं० आशाधरने अपने सहस्रनामकी स्वयं भी एक टीका लिखी है जो उपलब्ध है।

(५) औदार्य चिन्तामणि—यह प्राकृतव्याकरण है और हेमचन्द्र तथा त्रिविक्रमके व्याकरणोंसे बड़ा है। इसकी प्रति बम्बईके ऐ० पन्नालाल सरस्वतीभवनमें है (४६८ क), जिसकी पत्रसंख्या ५६ है। यह स्वोपज्ञवृत्तियुक्त है।

(६) महाभिषेक टीका—पं० आशाधरके नित्यमहोद्योतकी यह टीका है। यह उस समय बनाई गई है जबकि श्रुतसागर देशव्रती या ब्रह्मचारी थे।

(७) व्रतकथाकोश—इसमें आकाशपञ्चमी, मुकुटसप्तमी, चन्दनषष्ठी, अष्टाह्निका आदि व्रतों की कथायें हैं। इसकी भी एक प्रति बम्बईके सरस्वतीभवनमें है और यह भी उनकी देशव्रती या ब्रह्मचारी अवस्थाकी रचना है।

(८) श्रुतस्कन्धपूजा—यह छोटीसी नौ पत्रोंकी पुस्तक है। इसकी भी एक प्रति बंबईके सरस्वती-भवनमें है।

इसके सिवाय श्रुतसागरके और भी कई ग्रन्थोंके* नाम ग्रन्थसूचियोंमें मिलते हैं। परन्तु उनके विषयमें जबतक वे देख न लिये जायँ, निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

समय विचार—

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें रचनाका समय नहीं दिया है परन्तु यह प्राय: निश्चित है कि ये विक्रमकी १६वीं शताब्दीमें हुए हैं। क्योंकि—

---

* पं० परमानन्दजी ने अपने लेख में सिद्धभक्ति टीका सिद्धचक्राष्टक पूजा टीका श्रीपालचरित यशोधर चरित ग्रन्थों के भी नाम दिए हैं। इन्होंने व्रतकथाकोश के अन्तर्गत २४ कथाओं को स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर ग्रन्थ संख्या ३६ कर दी है। इसका कारण बताया है कि—चूंकि भिन्न भिन्न कथाएं भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न व्यक्तियों के अनुरोध से बनाई हैं अतः वे सब स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। यथा पल्यविधान व्रत कथा ईडर के राठौर वंशी राजा भानुभूपति (समय वि० स० १५५२ के बाद) के राज्य काल में मल्लिभूषण गुरु के उपदेश से रची गई है।

१–महाभिषेककी टीकाकी जिस प्रतिकी प्रशस्ति आगे दी गई है वह विक्रम संवत् १५८२की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषणके उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागरके पढ़नेके लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्रका उल्लेख श्रुतसागरने स्वयं अपने टीकाग्रन्थोंमें कई जगह किया है।

२–ब्र० नेमिदत्तने श्रीपालचरित्रकी रचना वि० सं० १५८५में की थी और वे मल्लिभूषणके शिष्य थे। आराधनाकथाकोशकी प्रशस्तिमें उन्होंने मल्लिभूषणका †गुरुरूपमें उल्लेख किया है और साथही श्रुतसागरका भी जयकार‡ किया है, अर्थात् कथाकोशकी रचनाके समय श्रुतसागर मौजूद थे।

३–स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी सं० १९५४में लिखी गई ग्रन्थसूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४–षट्प्राभृतटीकामें लोंकागच्छपर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और यह गच्छ वि० सं० १५३० के लगभग स्थापित हुआ था। अतएव उससे ये कुछ समय पीछे ही हुए होंगे। सम्भव है, ये लोंकाशाहके समकालीन ही हों।§

ग्रन्थप्रशस्तियाँ—

(१) श्री विद्यानन्दिगुरोर्बुद्धिगुरोः पादपङ्कजभ्रमरः।
श्री श्रुतसागर इति देशव्रती तिलकष्टीकते स्मेदम्॥

इति ब्रह्मश्रीश्रुतसागर कृता महाभिषेक टीका समाप्ता।

(२) संवत् १५५२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पञ्चम्यां तिथौ रवौ श्रीआदिजिनचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीविद्यानन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदेवास्तेषां शिष्यवरब्रह्मश्रीज्ञानसागरपठनार्थं आर्याश्रीविमलचेली भट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रदीक्षिता विनयश्रिया स्वयं लिखित्वा प्रदत्तं महाभिषेकभाष्यम्। शुभं भवतु। कल्याणं भूयात् श्रीरस्तु॥

—आशाधरकृतमहाभिषेककी टीका*

(३) इति श्रीपद्मनन्दि-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दि-मल्लिभूषणाम्नायेन भट्टारकश्रीमल्लिभूषणगुरुपरमाभीष्टगुरुभ्रात्रा गुर्जरदेशसिंहासनस्थभट्टारकश्रीलक्ष्मीचन्द्रकाभिमतेन मालवदेशभट्टारकश्रीसिंहनन्दिप्रार्थनया यतिश्रीसिद्धान्तसागरव्याख्याकृतिनिमित्तं नवनवतिमहावादिस्याद्वादलब्धविजयेन तर्क-व्याकरणछन्दोलंकार-सिद्धान्तसाहित्यादिशास्त्रनिपुणमतिना व्याकरणाद्यनेकशास्त्रचुञ्चुना सूरिश्रीश्रुतसागरेण विरचितायां यशस्तिलकचन्द्रिकाभिधानायां यशोधरमहाराजचरितचम्पूमहाकाव्यटीकायां यशोधरमहाराजराजलक्ष्मीविनोदवर्णनं नाम तृतीयाश्वासचन्द्रिका परिसमाप्ता।

—यशस्तिलकटीका

---

† श्री भट्टारक मल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे॥६ ॥

‡ जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतिनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः॥७१॥

§ प० परमानन्दजी शास्त्री सरसावा ने अपने 'ब्रह्मश्रुत सागर और उनका साहित्य लेख में लिखा है कि—भट्टारक विद्यानन्दी के वि० सं० १४९९ से वि० १५२३ तक के ऐसे मूर्ति लेख पाए जाते हैं जिनकी प्रतिष्ठाएँ विद्यानन्दी ने स्वयं की हैं अथवा जिनमें आ० विद्यानन्दी के उपदेश से प्रतिष्ठित होने का समुल्लेख पाया जाता है। आदि। श्रीमान् प्रेमीजी की सूचनानुसार मैंने मूर्ति लेखों की खोज की तो नाहरजी कृत जैनलेखसंग्रह लेख नं० ६८० में संवत् १५३३ में विद्यानन्दि भट्टारक का उल्लेख है तथा लेख नं० २८६ में संवत् १५३५ में विद्यानन्दि गुरु का उल्लेख है। इसी तरह 'दानवीर माणिकचन्द' पुस्तक पृ० ४ पर एक धातु की प्रतिमा का लेख सं० १४२९ का है जिसमें विद्यानन्दि गुरु का उल्लेख है। यदि यह संवत् ठीक है तो भट्टारक विद्यानन्दि का समय १४२९ से १५३४ तक मानना होगा और इनके शिष्य श्रुत सागर का समय भी १६ वीं सदी।

* ऐ० सेठ माणिकचन्द्रजी जौहरी के भण्डार की प्रति।

(४) श्रीपद्मनन्दिपरमात्मपरः पवित्रो देवेन्द्रकीर्तिरथ साधुजनाभिवन्द्यः ।
विद्यादिनन्दिवरसूरिरनल्पबोधः श्रीमल्लिभूषण इतोऽस्तु च मङ्गलं मे ॥
अदः पट्टे भट्टाविकमतघटापट्टनपटु-
घटद्धर्मव्याप्तः स्फुटपरमभट्टारकपदः ।
प्रभापुञ्जः सयद्विजितवरवीरस्मरनरः
सुधीर्लक्ष्मीचन्द्रश्चरणचतुरोऽसौ विजयते ॥ ३ ॥
आलम्बनं सुविदुषां हृदयाम्बुजानामानन्दनं मुनिजनस्य विमुक्तिसेतोः ।
सट्टीकनं विविधशास्त्रविचारचारुचेतश्चमत्कृतकृतं श्रुतसागरेण ॥ ४ ॥
श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥ ५ ॥
अस्ति स्वस्ति समस्तसङ्घतिलकं श्रीमूलसङ्घोऽनघं
वृत्तं यत्र मुमुक्षुवर्गशिवदं संसेवितं साधुभिः ।
विद्यानन्दिगुरुस्त्विहास्ति गुणवद्गच्छे गिरः साम्प्रतं
तच्छिष्यश्रुतसागरेण रचिता टीका चिरं नन्दतु ॥ ६ ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां जिननामसहस्रटीकायाम् तकृच्छतविवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ श्रीविद्यानन्दिगुरुभ्यो नमः ।

—जिनसहस्रनामटीका

(५) आचार्यैरिह शुद्धतत्त्वमतिभिः श्रीसिंहनन्द्याह्वयैः
सम्प्रार्थ्य श्रुतसागरं कृतिवरं भाष्यं शुभं कारितम् ।
गद्यानां गुणवत्प्रियं विनयतो ज्ञानार्णवस्यान्तरे
विद्यानन्दिगुरुप्रसादजनितं देयादमेयं सुखम् ॥

इति श्री ज्ञानार्णवस्थितगद्यटीका तत्त्वत्रयप्रकाशिका समाप्ता ।

—तत्त्वत्रयप्रकाशिका

(६) इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्तण्डतार्किकशिरोमणि-परमागमप्रवीण-सूरिश्रीदेवेन्द्रकीर्ति-प्रशिष्यमुमुक्षुविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविदुष (?) सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिते औदार्य-चिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे संयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।

—औदार्य चिन्तामणि

(७) सुदेवेन्द्रकीर्तिश्च विद्यादिनन्दी गरीयान् गुरुर्मेऽर्हदादिप्रवन्दी ।
तयोर्विद्धि मां मूलसङ्घे कुमारं श्रुतस्कन्धमीडे त्रिलोकैकसारम् ॥
सम्यक्त्वसुरत्नं सकलजन्तुकरुणाकरणम् ।
श्रुतसागरमेतं भजत सन्तं निखिलजने परितः शरणम् ॥

इति श्रुतस्कन्धपूजाविधिः ।

इसतरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें उपलब्ध सामग्रीके अनुसार कुछ विचार लिखकर इस प्रस्तावनाको यहीं समाप्त किया जाता है । तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी अन्य मुद्दोंपर तत्त्वार्थवार्तिककी प्रस्तावनामें प्रकाश डालनेका विचार है ।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी
वसन्त पंचमी वीर सं० २४७५,
३।२।१९४९

—महेन्द्रकुमार जैन

विषयसूची

त त्त्वा र्थ वृ त्तिः

"तत्त्वार्थसूत्रकर्तारम् उमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥"

—नगरताल्लुक-शिलालेख नं० ४६

"श्रुतसागरकृतिवरवचनामृतपानमत्र यैर्विहितम् ।
जन्मजरामरणहरं निरन्तरं तैः शिवं लब्धम् ॥"

—जिनसहस्रनामटीका

श्रीमदुमास्वामिविरचितस्य

तत्त्वार्थसूत्रस्य

श्रीश्रुतसागरसूरिरचिता

तत्त्वार्थवृत्तिः

[प्रथमोऽध्यायः]

सिद्धोमास्वामिपूज्यं जिनवरवृषभं वीरमुत्तीरमाप्तं
श्रीमन्तं पूज्यपादं गुणनिधिमधियन् सत्प्रभाचन्द्रमिन्द्रम् ।
श्रीविद्यानन्द्यधीशं गतमलमकलङ्कार्यमानम्य रम्यं
वक्ष्ये तत्त्वार्थवृत्तिं निजविभवतयाऽहं [1]श्रुतोदन्वदाख्यः ॥ १ ॥

अथ श्रीमदुमास्वामिभट्टारकः कलिकालगणधरदेवो महामुनिमण्डलीसंसेवितपादपद्मः कस्मिंश्चिदाश्रमपदे सुस्थितः मनोवाक्कायसरलतया [2]वाचंयमोऽपि निजमूर्त्या साक्षान्मोक्षमार्गं कथयन्निव सर्वप्राणिहितोपदेशैककार्यः समार्य[3]जनसमाश्रितः [4]निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः अतिनिकटीभवत्परमनिर्वाणेनासन्नभव्येन [5]द्वैयाकनाम्ना भव्यवरपुण्डरीकेण सम्पृष्टः '[6]भगवन्, किमात्मने हितम् ?' इति । भगवानपि तत्प्रश्नवशात् 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षितसन्मार्गसम्प्राप्यो मोक्षो हितः' इति प्रतिपादयितुकाम इष्टदेवताविशेषं नमस्करोति–

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥ १ ॥

वन्दे नमस्करोमि । कः ? कर्ताहमुमास्वामिनामाचार्यः भव्यजीवविश्रामस्थानप्रायः । किमर्थं वन्दे ? तद्गुणलब्धये । तस्य भगवतः सर्वज्ञवीतरागस्य गुणास्तद्गुणाः, तेषां लब्धिः प्राप्तिः तद्गुणलब्धिः, तस्यै तद्गुणलब्धये । 'के तस्य गुणाः' इति प्रश्ने भगवद्गुणत्रयगर्भितं विशेषणत्रयमाह । कथम्भूतं सर्वज्ञवीतरागम् ? मोक्षमार्गस्य नेतारम् । मोक्षः सर्वकर्मविप्रयोगलक्षणः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणो वक्ष्यमाणो मोक्षमार्गः,

---

१ श्रुतसागरः । २ मौनवानपि । ३–जनमाश्रि–ब० । ४ निग्र–ता० । ५ द्वैयाक–ब० । द्वैयायिक–आ० । एतन्नामा श्रावकः । ६ भगवन्नत्र कि–ब० ।

तस्य नेतारं प्रापकं नायकम्। पुनरपि कथम्भूतम्? भेत्तारं चूर्णीकर्तारं मूलादुन्मूलकमित्यर्थः। केषाम्? कर्मभूभृताम्। कर्माणि ज्ञानावरणादीनि, तान्येव भूभृतः पर्वताः कर्मभूभृतः, तेषां कर्मभूभृतां कर्मगिरीणाम्। भूयोऽपि किंविशिष्टम्? ज्ञातारं सम्यक् स्वरूपज्ञायकम्। केषाम्? विश्वतत्त्वानाम्, विश्वानि समस्तानि तानि च[1] तानि तत्त्वानि विश्वतत्त्वानि, तेषां विश्वतत्त्वानाम्। अत्रायं भावः–सर्वज्ञवीतरागशब्दोऽध्याहारेण लब्धः, तस्यानन्तगुण[2]स्यासाधारणगुणा मुख्यत्वेन मोक्षमार्गनेतृत्व-कर्मभूभृद्भेत्तृत्व-विश्वतत्त्वज्ञातृत्वलक्षणास्त्रयः, तत्प्राप्तये इत्यर्थः।

अथ द्वैया[3]कः प्राह–य[4]द्यात्मने हितो मोक्षः, किं तर्हि तस्य स्वरूपम्? तस्य च मोक्षस्य प्राप्तेरुपायः कः? [5]भगवानाह– मोक्षस्येदं स्वरूपम्। इदं किम्? जीवस्य समस्तकर्ममलकलङ्करहितत्वम्, अशरीरत्वम्, अचिन्तनीय[6]नैसर्गिकज्ञानादिगुणसहिताव्याबाधसौख्यम्, ईदृशमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष उच्यते। स तु मोक्षोऽतीव परोक्षः छद्मस्थानां प्रवादिनाम्। ते तु तीर्थकरम्मन्यास्तीर्थकरमात्मानं मन्यन्ते न तु ते तीर्थकराः परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वात्, तेषां वाचः [7]मोक्षस्वरूपं न स्पृशन्ति। कस्मात्? युक्त्याभासनिबन्धना यस्मात्। कस्माद्युक्त्याभासनिबन्धनास्तद्वाचः?

यतः [8]केचित् चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति परिकल्पयन्ति। तच्चैतन्यं [9]ज्ञेयाकारपरिच्छेदपराङ्मुखम्। तच्चैतन्यं विद्यमानमप्यविद्यमानम्। किंवत्? खरविषाणवत्। कस्मात्? निराकारत्वात्। कोऽर्थः? स्वरूपव्यवसायलक्षणाकारशून्यत्वात्।

[10]केचिच्च पुरुषस्य बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेदो मोक्ष इति परिकल्पयन्ति। तदपि परिकल्पनं मिथ्यैव। कस्मात्? विशेषलक्षणशून्यस्य वस्तुनोऽवस्तुत्वात्।

---

१ च तत्त्वानि आ०। २–णस्य गुणा ता०। ३ द्वैयायकः आ०, ब०। द्वैवायानामकः ब०। द्वैपायकः द०। ४ यथात्म–द०। ५ स भग–आ०, ब०। ६–य स्वाभाविकनै–ब०। –यं नै–द०। ७ मोक्षं स्व–ता०। ८ सांख्याः। "चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति"–योगभा० १।९। "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" –योगसू० १।३। ९ "तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्येते इति? यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते स इति तस्य फलस्य भोक्तेति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, बुद्धेरेव पुरुषार्थापरिसमाप्तिर्बन्धः तदर्थावसायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्त्वज्ञानाभिनिवेशा बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषेऽध्यारोपितसद्भावाः स हि तत्फलस्य भोक्तेति।"–योगभा० २।१८। १० वैशेषिकाः। "नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः॥"–प्रश० व्यो० पृ० ६३८। "आत्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिरपवर्गो न सावधिका द्विविधदुःखावमर्शिना सर्वनाम्ना सर्वेषामात्मगुणानां दुःखावमर्शाद् अत्यन्तग्रहणेन च सर्वात्मना तद्वियोगाभिधानात्। नवानामात्मगुणानां बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्ग इत्युक्तं भवति। यावदात्मगुणाः सर्वे नोच्छिन्ना वासनादयः। तावदात्यन्तिकी दुःखव्यावृत्तिर्नावकल्प्यते॥"–न्यायमं० पृ० ५०८।

[1]केचित्तु आत्मनिर्वाणं प्रदीपनिर्वाणकल्पं परिकल्पयन्ति । तैरात्मनिर्वाणस्य[2] खरविषाणकल्पनासदृशी परिकल्पना स्वयमाहृत्य[3] समर्थिता, हठात् [4]समर्थितेत्यर्थः । यद्येवं मोक्षस्वरूपं मिथ्या, तर्हि परमार्थं मोक्षस्वरूपं किम् ? [5]तदग्रे कथयिष्यामो वयम् ।

मोक्षस्य प्राप्तेरुपायमपि प्रवादिनो विसंवदन्ते । [6]केचिच्चारित्रनिरपेक्षं ज्ञानमेव मोक्षोपायं [7]मन्वते । केचित् श्रद्धानमात्रमेव मोक्षोपायं जानन्ति । [8]केचित् ज्ञाननिरपेक्षं चारित्रमेव मोक्षोपायं जल्पन्ति । तदपि मिथ्या । [9]व्यस्तैर्ज्ञानादिभिर्मोक्षप्राप्तेरुपायो न भवति । यथा कश्चिद् व्याधिपराभूतो व्याधिविनाशकभेषजज्ञानेनैवोल्लाघो न भवति भेषजोपयोगं विना, तथा चारित्रहीनो ज्ञानमात्रान्मोक्षं न लभते । यथा कश्चिदौषधमाचरन्नपि औषधस्वरूपमजानन् उल्लाघो न भवति तथाऽऽचारवान[10]प्यात्मज्ञानरहितो[11] मोक्षं न लभते । यथा कश्चिदौषधरुचिरहितः तत्स्वरूपं जानन्नप्यौषधं नाचरति सोप्युल्लाघो न भवति, तथात्मा श्रद्धानरहितो ज्ञानचारित्राभ्यां मोक्षं न लभते[12] । तदुक्तम्—

"ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्‌द्वयम् ।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥" [यश० उ० पृ० २७१]

---

१ बौद्धाः । "यस्मिन् न जातिर्न जरा न मृत्युर्न व्याधयो नाप्रियसंप्रयोगः । नेच्छा विपन्न प्रियविप्रयोगः क्षेमं पदं नैष्ठिकमच्युतं तत् ॥ दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् । दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥" –सौन्दर० १६।२७–२९ ।"प्रदीपस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः ।"–प्र० वार्तिकाल० १।४५ । २–र्णं परि–ब० । ३–माहृत्य आ०, द०, ब० । ४ समर्थ्यते इ–ब० । ५ १।४, १०।१ सूत्रयोः । ६ नैयायिकादयः । ७ मन्यन्ते आ०, ब०, व, द० । ८ मीमांसकाः । ९ तैर्ज्ञा–आ० ब०, द० । १०–प्यात्मा ज्ञा–आ०, ब०, द० । ११–तो आत्मानादिज्योतिःस्वरूपममन्यमानो मोक्षं लभते । कस्मात् ? आत्मनोऽनादिज्योतिस्त्वात्, आत्मा आत्मानमनादिज्योतिस्त्वं मन्यमानो मोक्षं लभते यथा–आ०, द०, ब० । १२ "तथा हि–सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणात् श्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्ष इति सिद्धान्तवैशेषिकाः । द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्रात् ज्ञानमात्रान्मोक्ष इति तार्किकवैशेषिकाः । त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्यालड्डुकप्रदानप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्रानुष्ठानादेव मोक्ष इति पाशुपताः । सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निश्शङ्कचित्तत्वान्मोक्ष इति कालाचार्यकाः । तथा च त्रिकमतोक्तिः–मदिरामोदमेदुरवदनसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वसमीपविनिवेशितशक्तिः शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणो नित्यामन्त्रेण पार्वतीश्वरमाराधयेदिति मोक्षः । प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाख्यातेर्मोक्ष इति साङ्ख्याः । नैरात्म्यादिनिवेदितसम्भावनातो मोक्ष इति दशबलशिष्याः । अङ्गाराञ्जनादिवत् स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धिरिति जैमिनीयाः । सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावे कस्यासौ मोक्ष इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्याः । परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाऽविद्याविनाशान्मोक्ष इति वेदान्तवादिनः ।"–उ० भास्क० ११ ।

अथ 'येन समस्तेन मोक्षो भवति तत्किम् ?' इति प्रश्ने सूत्रमिदमाचार्याः प्राहुः—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

सम्यक्शब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेन सम्यग्दर्शनं च सम्यग्ज्ञानं च सम्यक्चारित्रं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, समीचीनानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणीत्यर्थः। तत्र जीवादिपदार्थानां यथावत् प्रतिपत्तिविषयं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थिता वर्तन्ते तेन तेन प्रकारेण मोहसंशयविपर्ययरहितं परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। मोह इति अनध्यवसाय[1]पर्यायः। संशयः सन्देहः। विपर्ययो विपरीतत्वम्। तैः रहितं सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः। संसारहेतुभूतक्रियानिवृत्त्युद्यतस्य तत्त्वज्ञानवतः पुरुषस्य कर्मादानकारणक्रियोपरम[2]णमज्ञानपूर्वकाचरणरहितं सम्यक्चारित्रम्। एतानि समुदितानि मोक्षस्य मार्गो [3]भवति।

अथ सम्यग्दर्शनलक्षणोपलक्षणार्थं सूत्रमिदं निर्दिशन्ति सूरयः—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

योऽर्थो यथा व्यवस्थितस्तस्यार्थस्य तथाभावो [4]भवनं तत्त्वमुच्यते। अर्यते गम्यते ज्ञायते निश्चीयते इत्यर्थः। "उषिकुषिगर्तिभ्यस्थः।" [कात० उ० ५।६३] तत्त्वेन अर्थः तत्त्वार्थः। तत्त्वमेव वाऽर्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थस्य परमार्थभूतस्य पदार्थस्य [6]श्रद्धा रुचिः तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवतीति वेदितव्यम्। तत्त्वार्थस्तु जीवादिर्वक्ष्यते। [7]न तु अर्थशब्देन प्रयोजनाभिधेयधनादिकं ग्राह्यम्, [8]तच्छ्रद्धानस्य मोक्षप्राप्तेरयुक्तत्वात्। अर्थशब्दस्यानेकार्थत्वम्। [9]तदुक्तम्—

"हेतौ प्रयोजने वाच्ये निवृत्तौ विषये तथा।
प्रकारे वस्तुनि द्रव्ये अर्थशब्दः प्रवर्तते॥" [ ]

ननु [10]दर्शनमवलोकनं श्रद्धानं कथं घटते ? सत्यम्; धातूनामनेकार्थत्वात्। रुच्यर्थे दृशिधातुर्वर्तते। 'दृशिर् प्रेक्षणे' प्रेक्षणार्थस्तु प्रसिद्धोऽप्यर्थोऽत्र मोक्षमार्गप्रकरणे त्यज्यते। तत्त्वार्थश्रद्धानमात्मपरिणामः सिद्धिसाधनं घटते। स तु परिणामो भव्यात्मन एव भवति। प्रेक्षणलक्षणस्त्वर्थः चक्षुरादिनिमित्तो वर्तते। स तु सर्वेषां संसारिणां जीवानां साधारणोऽस्ति। स मोक्षमार्गावयवो न सङ्गच्छते।

तत्सम्यग्दर्शनं द्विप्रकारम्—सरागम्, वीतरागञ्च। तत्र सरागं सम्यग्दर्शनं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरभिव्यज्यते। तत्र रागादिदोषेभ्यश्चेतोनिवर्तनं प्रशमः। शारीर-

---

१–यः संश–आ०, ब०, द०। २–रममज्ञा–आ०, ब०, ब०, द०। ३ भवन्ति ता०। ४ भवो ता०। भवं त–द०। ५ उषिअषिग—आ०, ब०। उषिकृषि—द०। ६ श्रद्धार्थ इ–ता०। ७ ननु अ–आ०, ब०। ८ प्रयोजनादिश्रद्धानस्य। ९ तुलना–"अर्थोऽभिधेयरैवस्तु प्रयोजननिवृत्तिषु"—अमरः, नाममा०। "अर्थः प्रयोजने वित्ते हेत्वभिप्रायवस्तुषु। शब्दाभिधेये विषये स्यान्निवृत्तिप्रकारयोः॥"—विश्वलो०। १० सम्यग्दर्शनं ब०।

मानसागन्तुवेदनाप्रसारात् संसाराद्भयं संवेगः । सर्वेषु प्राणिषु चित्तस्य दयार्द्रत्वमनुकम्पा । आप्तश्रुतव्रततत्त्वेषु अस्तित्वयुक्तं मन आस्तिक्यमुच्यते । तथा चोक्तम्—

"यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम् ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥ १ ॥
शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात्[2] ।
स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः[3] संवेग उच्यते ॥ २ ॥
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥ ३ ॥
आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंयुतम्[4] ।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥ ४ ॥"

[यश० उ० पृ० ३२३] इति ।

वीतरागं सम्यग्दर्शनम् आत्मविशुद्धिमात्रम् ।

'अथेदृशं[5] सम्यग्दर्शनं जीवादिपदार्थगोचरं कथमुत्पद्यते' इति प्रश्ने सूत्रमिदं ब्रुवन्ति[6]—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

तत्–सम्यग्दर्शनम्, निसर्गात् स्वभावात् उत्पद्यते । वा-अथवा, अधिगमात्–अर्थाववोधात् उत्पद्यते ।

ननु निसर्गजं सम्यग्दर्शनम् अर्थाधिगमं प्राप्योत्पद्यते, [7]न वा ? यदि अर्थाधिगमं प्राप्योत्पद्यते; तर्हि तदपि निसर्गजमपि अधिगमजमेव भवति, अर्थान्तरं न वर्तते, किमर्थं सम्यग्दर्शनोत्पत्तेर्द्वैविध्यम् ? अविज्ञाततत्त्वस्य अर्थश्रद्धानं न सङ्गच्छत एव । सत्यम्; निसर्गजेऽधिगमजे च सम्यग्दर्शनेऽन्तरङ्गं कारणं दर्शनमोहस्योपशमः [8]दर्शनमोहस्य क्षयो वा दर्शनमोहस्य क्षयोपशमो वा [9]सदृशमेव कारणं वर्तते । तस्मिन् सदृशे कारणे सति यत्सम्यग्दर्शनं बाह्योपदेशं विनोत्पद्यते तत् सम्यग्दर्शनं निसर्गजमुच्यते । यत् सम्यग्दर्शनं परोपदेशेनोत्पद्यते तदधिगमजमुच्यते । नैसर्गिकमपि सम्यग्दर्शनं गुरोरक्लेशकारित्वात् स्वाभाविकमुच्यते न तु गुरूपदेशं विना प्रायेण तदपि जायते ।

ननु तच्छब्दस्य ग्रहणं किमर्थम् ? "अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा" [पा० महा० १ २।४७] इति परिभाषणात् 'निसर्गादधिगमाद्वा' ईदृशेनैव सूत्रेण अनन्तरं सम्यग्दर्शनमेव लभ्यते तेन सूत्रे तच्छब्दस्य वैयर्थ्यम्; सत्यम्; यथा सम्यग्दर्शनमनन्तरं वर्तते तथा मोक्षमार्गशब्दोऽपि प्रत्यासन्नो वर्तते, "प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः" [ ] इति परिभाषणात् मोक्षमार्गो निसर्गादधिगमाद्वा भवतीत्यर्थं उत्पद्यते । तच्छब्देन तु सम्यग्दर्शनमेवाकृष्यते तेन तच्छब्दग्रहणे दोषो नास्ति ।

१-तत-ब० । २ "प्रभवाद्भयात्"-यश० । ३-द्भातिः ता० । ४-त्वसंस्तुतम् ता०, ब० । ५ अथेदं स-आ०, ब० । ६ ब्रुवन्त्याचार्याः आ०, द०, ब० । ७ न च आ०, ब०, ज०, ब० । ८ 'दर्शनमोहस्य क्षयो वा' इति नास्ति ता० । ९ सदृशका-ब० ।

अथ 'किं[1] तत् तत्त्वम्, यस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति ?' इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते[2]–

जीवाजीवाऽऽस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीवश्चाजीवश्चाऽऽस्रवश्च बन्धश्च संवरश्च निर्जरा च मोक्षश्च जीवाजीवाऽऽस्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः, एते सप्त पदार्थाः तत्त्वं [3]भवति । तत्र ज्ञानादिभेदेनानेकप्रकारा चेतना, सा लक्षणं यस्य स जीव उच्यते । यस्य तु ज्ञानदर्शनादिलक्षणं नास्ति [4]स पुद्गलधर्माधर्माऽऽकाशकाललक्षणोऽजीवः । शुभाशुभकर्मागमनद्वारलक्षण आस्रव उच्यते । आत्मनः कर्मणश्च [5]परस्परप्रदेशानुप्रवेशस्वभावो बन्धः । आस्रवनिरोधरूपः संवरः । एकदेशेन कर्मक्षयो निर्जरा । सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः ।

सर्वं फलं जीवाधीनं तेन जीवस्य ग्रहणं प्रथमम् । जीवस्योपकारकोऽजीवः, तेन जीवानन्तरमजीवग्रहणम् । जीवाजीवोभयगोचरत्वात् तत्पश्चादास्रवोपादानम् । आस्रवपूर्वको बन्धो भवतीति कारणात् [7]आस्रवादनन्तरं बन्धस्वीकारः । बन्धप्रतिबन्धकः संवरः, तेन बन्धादनन्तरं संवराभिधानम् । संवृतस्य निर्जरा भवतीति कारणात् संवरानन्तरं निर्जराकथनम् । मोक्षस्त्वन्ते प्राप्यते तेन मोक्षस्याभिधानमन्ते कृतम् ।

आस्रवबन्धयोरन्तर्भावात् पुण्यपापपदार्थद्वयस्य ग्रहणं न कृतम् । एवं चेदास्रवोऽपि जीवाजीवयोरन्तर्भवति, तद्ग्रहणमप्यनर्थकम्; तन्न; इह मोक्षशास्त्रे प्रधानभूतो मोक्षः, स तु अवश्यमेव वक्तव्यः । मोक्षस्तु संसारपूर्वको भवति । संसारस्य मुख्यहेतुरास्रवो बन्धश्च । मोक्षस्य [8]मुख्यं कारणं संवरो निर्जरा च । तेन कारणेन प्रधानहेतुमन्तौ संसारमोक्षौ, संसारमोक्षलक्षणफलप्रदर्शनार्थमास्रवादयः पृथग्व्यपदिश्यन्ते । तत्रास्रवबन्धयोः फलं संसारः, संवरनिर्जरयोः फलं मोक्षः, हेतुहेतुमतोः फलत्वेन निदर्शनम्, [9]दृष्टान्तभूताश्चत्वारः तेषां चतुर्णामास्रवादीनां पृथग्व्यपदेशो विहितः विशेषेण प्रदर्शनार्थम् ।

यदि संसारमोक्षयोर्मध्य एते चत्वारोऽन्तर्भवन्ति तर्हि पृथक् किमिति व्यपदिश्यन्ते ? साधूक्तं भवता, सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषस्य भिन्नोपादानं कार्यार्थं[10] हि दृश्यते, यथा क्षत्रियाः समागताः, तन्मध्ये शूरवर्मापि समागत इत्युक्ते [11]शूरवर्मा किं क्षत्रियो न भवति ? तथा आस्रवादयश्च ।

जीवादयः सप्त द्रव्यवचनानि, तत्त्वशब्दस्तु भाववाची[12], तेषां तस्य च समानाधिकरणता कथं घटते-'जीवादयः किल तत्त्वम्' इति ? सत्यम्; अव्यतिरेकतया तत्त्व[13]भावाध्यारोपतया च समानाधिकरणता भवत्येव । [14]लिङ्गसङ्ख्याव्यतिक्रमस्तु न दूष्यते, अजहल्लिङ्गादित्वात् । एवं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यत्रापि योजनीयम् ।

---

१ किं तत्त्वं द० । २–ते स्वामिना आ०, ब०, द० । ३ भवन्ति ता० । ४–नालक्ष–आ०, ब० । ५ स तु ब० । ६ परस्परं प्र–ज० । ७ आश्रवान–द० । ८ मुख्यका–ज०, द० । ९ दृष्टान्ताश्च–द०, ब० । १०–र्थे इ–द० । ११ शूरवर्मापि किं ब० । १२–वाची समा–ता० । –वाचकः ते–आ०, द०, ब० । १३–भावाध्याहारोपचारतया आ०, ब०, द० । १४ मोक्षाः इत्यत्र पुल्लिङ्गत्वं बहुवचनञ्च 'तत्त्वम्' इत्यत्र च नपुंसकैकवचनत्वम् इति व्यतिक्रमः ।

अथ सम्यग्दर्शनादिजीवादिव्यवहारव्यभिचारप्रतिषेधनिमित्तं सूत्रमुच्यते—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नाम च स्थापना च द्रव्यं च भावश्च नामस्थापनाद्रव्यभावाः, तेभ्यो नामस्थापनाद्रव्यभावतः, तेषां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्च न्यासः प्रमाणनयैर्योर्निक्षेपः तन्न्यासः। अस्यायमर्थः—अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारप्रवर्तननिमित्तं पुरुषकारात् हठात् नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नामकर्म कथ्यते। अतद्गुणे वस्तुनीति कोऽर्थः ? न विद्यन्ते शब्दप्रवृत्तिनिमित्तास्ते जगत्प्रसिद्धा जातिगुणक्रियाद्रव्यलक्षणा गुणा विशेषणानि यस्मिन् वस्तुनि तद्वस्तु 'अतद्गुणम्' तस्मिन् अतद्गुणे। तदुक्तम्—

"द्रव्यक्रियाजातिगुणप्रभेदैर्डवित्थकर्तृद्विजपाटलादौ।
शब्दप्रवृत्तिं मुनयो वदन्ति चतुष्टयीं शब्दविदः पुराणाः ॥ १ ॥" [ ]

काष्ठकर्मणि पुस्तकर्मणि लेपकर्मणि अक्षनिक्षेपे। कोऽर्थः ? सारिनिक्षेपे वराटकादिनिक्षेपे च सोऽयं मम गुरुरित्यादि स्थाप्यमाना या सा स्थापना कथ्यते। गुणैर्द्रुतं गतं प्राप्तं द्रव्यम्, गुणान् वा द्रुतं गतं प्राप्तं द्रव्यम्, गुणैर्द्रोष्यते द्रव्यम्, गुणान्वा द्रोष्यतीति द्रव्यम्। द्रव्यमेव वर्तमानपर्यायसहितं भाव उच्यते।

तथा हि—कोऽर्थः ? नामस्थापनाद्रव्यभावान् दर्शयति—नामजीवः, स्थापनाजीवः, द्रव्यजीवः, भावजीवश्चेति चतुर्विधो जीवशब्दो न्यस्यते। जीवनगुणं विनापि यस्य कस्यचित् जीवसंज्ञा विधीयते स नामजीव उच्यते। अक्षनिक्षेपादिषु जीव इति वा मनुष्यजीव इति वा व्यवस्थाप्यमानः स्थापनाजीव उच्यते। सारिचालनसमये 'अयमश्वः' 'अयं गजः' 'अयं पदातिः' इति जीवस्थापनैव वर्तते।

द्रव्यजीवो द्विप्रकारः—आगमद्रव्यजीव—नोआगमद्रव्यजीवभेदात्। तत्र जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वानुपयुक्तो निःकार्य आत्मा आगमद्रव्यजीव उच्यते। नोआगमद्रव्यजीवस्त्रिप्रकारः—ज्ञायकशरीर-भावि-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञायकशरीरं त्रिकालगोचरं यत् ज्ञातुः शरीरं तत् ज्ञायकशरीरमुच्यते। सामान्यत्वेन नोआगमद्रव्यभाविजीवो न विद्यते। कस्मात् ? जीवनसामान्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्। विशेषापेक्षया तु नोआगमद्रव्यभाविजीवस्तु विद्यत एव। कोऽसौ विशेषः ? कश्चित् जीवो गत्यन्तरे स्थितो वर्तते, स मनुष्यभवप्राप्तिं प्रति सम्मुखो मनुष्यभाविजीव उच्यते। अथवा, यदा जीवादिप्राभृतं न जानाति अग्रे तु ज्ञास्यति तदा भाविनोआगमद्रव्यजीव उच्यते। तद्व्यतिरिक्तः

१—नयैर्नि—द०। २ पुरुषाकारात् आ०, ब०, व०, द०। ३ संज्ञा नामकर्म ब०। ४ "नामजात्यादियोजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्ना विशिष्टोऽर्थ उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देषु जात्या गौरयमिति, गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणीति।" —प्र० समु० टी० १।३। ५ डवित्थः काष्ठमयो मृगः। काष्ठादिद्रव्यनिमित्तको डवित्थ इति, करोतिक्रियानिमित्तकः कर्त्तेति, द्विजत्वजातिनिमित्तको द्विज इति, ईषद्रक्तगुणनिमित्तकः पाटल इति व्यवहारः। ६ दुहितृकादिसूत्रचीवरादिविरचिते। ७ गोमयादिना लेपे।

कोऽर्थः ? कर्म-नोकर्मभेदः । तत्र कर्म तावत् प्रसिद्धम् । नोकर्मस्वरूपं निरूप्यते-औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्य षट्पर्याप्तीनाञ्च योग्यपुद्गलानामादानं नोकर्म ।

भावजीवो द्विप्रकारः-आगमभावजीव-नोआगमभावजीवभेदात् । तत्रागमभावजीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टः परिणत आत्मा आगमभावजीवः कथ्यते । मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगसंयुक्तो वाऽऽत्मा आगमभावजीवः कथ्यते । नोआगमभावजीवस्वरूपं निरूप्यते-जीवनपर्यायेण समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः । मनुष्यजीवपर्यायेण वा समाविष्ट आत्मा नोआगमभावजीवः कथ्यते ।

एवमजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाणां षण्णां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रयाणाञ्च नामादिनिक्षेपविधानं संयोजनीयम् । [1]तत्किमर्थम् ? अप्रस्तुतनिराकरणार्थं प्रस्तुतस्य नामस्थापनाजीवादे[2]र्निरूपणार्थं च ।

ननु 'नामस्थापनाद्रव्यभावतो न्यासः' इति सूत्रं क्रियताम्, तच्छब्दग्रहणं किमर्थम् ? साधूक्तम् भवता; तच्छब्दग्रहणं सर्वसङ्ग्रहणार्थम् । तच्छब्दं विना प्रधानभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामेव न्यासविधिः स्यात्, तद्विषयाणां जीवादीनामप्रधा[3]नानां न्यासविधिर्न स्यात् । तच्छब्दग्रहणे सति समर्थतया प्रधानानामप्रधानानाञ्च न्यासविधिर्निषेद्धुं[4] न शक्यते ।

अथ 'नामादिप्रस्तीर्णोधिकृततत्त्वानामधिगमः कुतो भवति ?' इति प्रश्ने सूत्रमिदं[5]मुच्यते—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनयाः, तैः प्रमाणनयैः कृत्वा अधिगमः नामादिनिक्षेपविधिकथितजीवादिस्वरूपपरिज्ञानं भवति । ते प्रमाणे नयाश्च वक्ष्यन्ते । तत्र [6]प्रमाणं द्विप्रकारम्—स्वपरार्थभेदात् । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतरहितम् । श्रुतं तु स्वार्थं परार्थं च भवति । ज्ञानात्मकं श्रुतं स्वार्थम्, वचनात्मकं परार्थम् । [7]वचनविकल्पास्तु नया उच्यन्ते ।

ननु नयशब्दः अल्पस्वरः प्रमाणशब्दो बहुस्वरः, "[8]अल्पस्वरतरं तत्र पूर्वम्" [का० २।५।१२] इति वचनात्—नयशब्दस्य कथं पूर्वनिपातो न भवति ? साधूक्तं भवता । तत्रैवापवादभूतं "यच्चार्चितं द्वयोः" [का० २।५।१३] इति सूत्रं वर्तते । तेन प्रमाणस्यार्चितत्वात् पूर्वनिपातः । अभ्यर्चितं तु सर्वथा बलीयः । प्रमाणस्यार्चितत्वं कस्मात् ? नयानां निरूपणप्रभवयोनित्वात् । प्रमाणेनार्थं ज्ञात्वाऽर्थावधारणं नय उच्यते । तेन [9]सकलादेशः

---

१ "उक्तं हि-अवगयणिवारणट्ठं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च । संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च ॥"-ध० टी० भा० १ पृ० ३१ । अक० टि० पृ० १५३ । २-जीवादिनि-आ०, ब०, द० । ३-नानाञ्च न्या-आ०, ब०, द० । ४-विधिं निषेधं कर्तुं शक्यते आ०, ब०, द० । ५ सुगमु-आ०, ब० । ६ "प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थञ्च"-स० सि० १।६ । ७ "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।"-सन्मति० ३।४७ । ८ अल्पस्वरं तन्त्रं च पूर्वं-आ० ब० द० । ९ "तथा चोक्तं सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः"-स०सि० १।६ ।

प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः। स नयो द्विप्रकारः[1] द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात्। [2]भावस्वरूपं पर्यायार्थिकनयेन ज्ञातव्यम्। नामस्थापनाद्रव्याणां त्रयाणां तत्त्वं द्रव्यार्थिकनयेन ज्ञातव्यम्। नामस्थापनाद्रव्यभावचतुष्टयं समुदितं सर्वं प्रमाणेन ज्ञातव्यम्। तेन प्रमाणं सकलादेशो नयस्तु विकलादेश इति युक्तम्।

अथ प्रमाणनयैरधिगता अपि जीवादयः पदार्था भूयोऽपि उपायान्तरेणाधिगम्यन्ते इत्यर्थं चेतस्यवधार्य सूत्रमिदं सूरयः प्राहुः–

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

निर्दिश्यत इति निर्देशः। निर्देशश्च स्वरूपकथनम्, स्वामित्वं च अधिपतित्वम्, साधनं चोत्पत्तिकारणम्, अधिकरणं चाधारः–अधिष्ठानमिति यावत्, स्थितिश्च कालाव[3]धारणम्, विधानं च प्रकारः, निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानानि, तेभ्यः निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः। एभ्यः षड्भ्यः अधिगमसम्यग्दर्शनमुत्पद्यते।

तत्र 'सम्यग्दर्शनं किम्?' इति केनचित् प्रश्ने कृते तं[4] प्रति सम्यग्दर्शनस्वरूपं निरूप्यते-तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनमिति निर्देशः। नाम स्थापना द्रव्यं भावो वा निर्देश उच्यते। 'कस्य सम्यग्दर्शनं भवति?' इति सम्यग्दर्शनस्वामित्वप्रश्ने केनचित् कृते सति तं प्रत्युच्यते–'सामान्येन सम्यग्दर्शनस्य स्वामी जीवो भवति' इति स्वामित्वमुच्यते।

विशेषेण तु चतुर्दशमार्गणानुवादेन स्वामित्वमुच्यते। तत्र गत्यनुवादेन नरकगतौ सप्तस्वपि पृथ्वीषु नारकाणां पर्याप्तकानां द्वे सम्यक्त्वे भवतः–औपशमिकं क्षायोपशमिकं च वेदनानुभवनादित्यर्थः। प्रथमपृथिव्यां पर्याप्तकानामपर्याप्तकानाञ्च क्षायिकं क्षायोपशमिकञ्च सम्यक्त्वमस्ति। कथम्? नरकगतौ [5]पूर्वं बद्धायुष्कस्य पश्चात् गृहीतक्षायिकक्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्य अधःपृथ्वीपूत्पादाभावात् प्रथमपृथिव्यामपर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकञ्च वर्तते। ननु वेदकयुक्तस्य तिर्यङ्मनुष्यनरकेपूत्पादाभावात् कथमपर्याप्तकानां तेषां क्षायोपशमिकमिति? सत्यम्; क्षपणायाः प्रारम्भकेन वेदकेन युक्तस्य तत्रोत्पादे विरोधाभावात्। एवं तिरश्चामप्यपर्याप्तकानां क्षायोपशमिकत्वं[6] ज्ञातव्यम्।

तिर्यग्गतौ तिरश्चां पर्याप्तकानामौपशमिकं भवति। क्षायिकं क्षायोपशमिकं पर्याप्तापर्याप्तकानामस्ति। तिरश्चीनां क्षायिकं नास्ति। कस्मादिति चेत्? उच्यते–कर्मभूमिजो मनुष्य एव दर्शनमोहक्षपणायाः प्रारम्भको भवति। क्षपणायाः प्रारम्भकालात् पूर्वं[7] तिर्यक्षु बद्धायुष्कोऽपि उत्कृष्टभोगभूमिजतिर्यङ्मनुष्येष्वेवोत्पद्यते न तिर्यक्स्त्रीषु। तदुक्तम्–

---

१ –कारो भवति पर्यायार्थिकद्रव्यार्थिकभेदात् आ०, ब०, द०। –कारो भवति द्रव्या–ब०। २ "णामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो। भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो ॥"–सन्मति० १।६। स० सि० १।६। जयध० पृ० २६०। ३ कालावधानम् ता०। ४ तं प्रति सम्यग्दर्शनमि–आ०, ब०, द०। ५–ग चतु–ब०, द०। ६–क्त्वमिति आ०, ब०, द०। ७ पूर्वबद्धा–ब०।

"दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो[1] दु ।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥"

[गो० जी० गा० ६४७]

औपशमिकं क्षायोपशमिकं च सम्यग्दर्शनं पर्याप्तिकानामेव तिरश्चीनां भवति, न त्वपर्याप्तिकानां तिरश्चीनाम् ।

एवं मनुष्यगतौ मनुष्याणां पर्याप्तापर्याप्तकानां क्षायिकं क्षायोपशमिकं च भवति । औपशमिकं पर्याप्तकानामेव, न त्वपर्याप्तकानाम् । मानुषीणां त्रितयमपि पर्याप्तिकानामेव, न त्वपर्याप्तिकानाम् । क्षायिकं तु सम्यक्त्वं यत् मानुषीणामुक्तं तत् भाववेदापेक्षयैव, द्रव्यस्त्रीणां तु सम्यग्दर्शनं न भवत्येव ।

देवगतौ देवानां पर्याप्तापर्याप्तकानां सम्यग्दर्शनत्रयमपि भवति । अपर्याप्तावस्थायां देवानां कथमौपशमिकं भवति, औपशमिकयुक्तानां मरणासम्भवात् ? सत्यम् ; मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकयुक्तानामेव मरणासम्भवोऽस्ति, वेदकपूर्वकौपशमिकयुक्तानां तु मरणसम्भवोऽस्त्येव । कथम् ? वेदक[3]पूर्वकोपशमयुक्ता नियमेन श्रेण्यारोहणं कुर्वन्ति[4], [5]श्रेण्यारूढात् (न्) चारित्रमोहोपशमेन सह मृतानपेक्ष्य अपर्याप्तावस्थायामपि देवानामौपशमिकं[6] सम्भवति । विशेषेण तु भवनवासिनां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च देवानां तद्देवीनां च क्षायिकं न वर्तते । सौधर्मैशानकल्पवासिनीनां च देवीनां क्षायिकं सम्यग्दर्शनं नास्ति । सौधर्मैशानकल्पवा[7]सिनीनाञ्च देवीनां पर्याप्त(प्ति)कानामौपशमिकं क्षायोपशमिकं च वर्तते ॥ १ ॥

इन्द्रियानुवादेन पञ्चेन्द्रियसंज्ञिनां सम्यग्दर्शनत्रितयमप्यस्ति । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामेकमपि नास्ति ॥ २ ॥

कायानुवादेन त्रसकायिकानां त्रितयमपि भवति । स्थावराणामेकमपि नास्ति ॥३॥

योगानुवादेन त्रयाणां योगानां त्रितयमपि भवति । अयोगिनां क्षायिकमेकमेव ॥४॥

वेदानुवादेन वेदत्रयस्य दृक्त्रयमपि भवति । अवेदानामौपशमिकं क्षायिकं च ॥ ५ ॥

कषायानुवादेन चतुःकषायाणां त्रितयमपि विद्यते । अकषायाणामौपशमिकं क्षायिकं च ॥ ६ ॥

ज्ञानानुवादेन मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानिनां त्रितयमपि दीयते । केवलिनां क्षायिकमेव ॥ ७ ॥

१–जादो उ आ० । २–पर्याप्तका–आ०, ब०, व०, द० । ३ वेदपूर्वकोप–ता० । वेदकपूर्वकोपशमकसंयु–द० । वेदकपूर्वकोपशमिकसंयु–ब० । ४ कुर्वन्तु ब० । ५ श्रेण्यारोहात् आ०, ब, द० । ६–कं भ–ब० । ७–वासिनां देवानां पर्या–ता० ।–वासिनीनां दे–ब० । वासिनीनां देवानां ब० ।

संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनासंयमिनां त्रितयम् । परिहारविशुद्धिसंयमिनां वेदकं क्षायिकं च । परिहारविशुद्धिसंयतानामौपशमिकं कस्मान्न भवतीति चेत् ? मनःपर्यय[1]परिहारविशुद्ध्यौ[2]पशमिकसम्यक्त्वाहारकर्द्धीनां मध्येऽन्यतरसम्भवे परं त्रितयं न भवति । एकस्मिन्[3] मनःपर्यये तु मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकं[4]प्रतिषेधो द्रष्टव्यो न वेदकपूर्वकस्य । उक्तं च—

"मणप[5]ज्जवपरिहारा उवसमसम्मत्त आहारया दोण्णि[6] ।
एदेसिं य एगदरे सेसाणं संभवो णत्थि ॥ १ ॥"

[गो० जी० गा० ७२८]

आहारया दोण्णि आहारकाहारकमिश्रौ[7] सूक्ष्मसाम्परायिकयथाख्यातसंयमिनामौपशमिकं क्षायिकं च वर्तते । संयतासंयतानामसंयतानां च[8] त्रितयं वर्तते ॥ ८ ॥

दर्शनानुवादेन चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनिनां सदृष्टित्रयमपि[9] स्यात् । केवलिनां क्षायिकमेव ॥ ९ ॥

लेश्यानुवादेन षड्लेश्यानां सम्यक्त्वत्रयमपि स्यात् । निर्लेश्यानां [10]क्षायिकमेव ॥ १० ॥

भव्यानुवादेन भव्यानां त्रयमपि । अभव्यानामेकमपि नास्ति ॥ ११ ॥

सम्यक्त्वानुवादेन यत्र यत्सम्यक्त्वं तत्र तदेव ॥ १२ ॥

संज्ञानुवादेन संज्ञिनां सम्यग्दर्शनत्रयमपि असंज्ञिनामेकमपि नास्ति । ये तु न संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनस्तेषां क्षायिकमेव ॥ १३ ॥

आहारानुवादेन आहारकाणां सम्यग्दर्शनत्रयमपि । छद्मस्थानाम[11]नाहारकाणां त्रितयमपि सम्यग्दर्शनम् । समुद्घातप्राप्तानां केवलिनां क्षायिकमेव ॥ १४ ॥

सम्यग्दर्शनस्य साधनं द्विप्रकारम्—आभ्यन्तर—बाह्यभेदात् । तत्राभ्यन्तरं सम्यग्दर्शनस्य साधनं दर्शनमोहस्योपशमः, क्षयोपशमः, क्षयो वा ।

बाह्यं सम्यग्दर्शनस्य साधनं नारकाणां प्रथमद्वितीयतृतीयनरकभूमिषु केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिद्वेदनानुभवनम् । चतुर्थ्यादिसप्तमीपर्यन्तासु नरकभूमिषु नारकाणां जातिस्मरणवेदनाभिभवौ सम्यग्दर्शनस्य साधनम् । तिर्यङ्मनुष्याणां जातिस्मरणधर्मश्रवणजिनबिम्बदर्शनानि । देवानां सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषाञ्चिज्जातिस्मरणम्, अन्येषां धर्मश्रवणम्, अपरेषां जिनमहिमदर्शनम्, इतरेषां देवर्द्धिदर्शनं सहस्रारपर्यन्तम् । आनतप्राणतारणाच्युतदेवानां देवर्द्धिदर्शनं सम्यग्दर्शनस्य साधनं

१—पर्याय—ब० । २—हारशुद्धौ—ता०, द०, ब० । ३ एकयतौ म—ब०, ता० । ४—कस्य प्रतिषेधो दृष्टो न आ०, ब०, द० ।—कस्य प्रतिषेधो द्रष्ट—व० । ५—पज्जय—ब० । ६ दोणि ब०, आ०, द०, ब० । ७—मिश्रैः द०, आ०, ब० । ८ त्रितयं च व—ब० । ९—पि नि—ता०, ब० । १० क्षायिकम् ता०, ब० । ११-नामाहार—आ० ।

नास्ति, जातिस्मरण-धर्मश्रवण-जिनमहिमदर्शनानि[1] च वर्तन्ते। नवग्रैवेयकदेवानां केषाञ्चिज्जातिस्मरणम्, अपरेषां धर्मश्रवणम्। ग्रैवेयकवासिनामहमिन्द्रत्वात् कथं धर्मश्रवणमिति चेत्? उच्यते—तत्र कश्चित् सम्यग्दृष्टिः परिपाटीं करोति, शास्त्रगुणनिकां करोति, तामाकर्ण्यान्यः कोऽपि तत्र स्थित एव सम्यग्दर्शनं गृह्णाति। अथवा, प्रमाणनयनिक्षेपास्तेषां न विद्यन्ते, तत्त्वविचारस्तु लिङ्गिनामिव विद्यत इति नास्ति दोषः। अनुदिशानुत्तरविमानदेवास्तु पूर्वमेव गृहीतसम्यक्त्वास्तत्रोत्पद्यन्ते[2]। तेन तेषां जातिस्मरणधर्मश्रवणकल्पना नास्ति।

अधिकरणं द्विप्रकारम्—अभ्य(आभ्य)न्तर-बाह्यभेदात्। अ(आ)भ्यन्तरं सम्यग्दर्शनस्याधिकरणमात्मैव। बाह्यमधिकरणं सम्यग्दर्शनस्य चतुर्दशरज्ज्वायामा एकरज्जुविष्कम्भा लोकनाडी वेदितव्या। जीवाकाशपुद्गलकालधर्माधर्माणां निश्चयनयेन स्वप्रदेशा एवाधिकरणम्। व्यवहारेण आकाशरहितानामाकाशमधिकरणम्। जीवस्य शरीरक्षेत्रादिरप्यधिकरणम्। कुटलकुटादिपुद्गलानां भूम्यादिरप्याधारः। जीवादिद्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञानसुखादिरूपादिर्[3]अधिकरणं—घटादीनां (रूपादिघटादीनां) जीवादिद्रव्यमेवाधिकरणम्। इत्याद्यधिकरणं वेदितव्यम्।

औपशमिकस्य सम्यग्दर्शनस्य उत्कृष्टा निकृष्टा च स्थितिरन्तर्मुहूर्तः। क्षायिकस्य सम्यग्दर्शनस्य स्थितिः संसारिजीवस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तिकी (न्तर्मौहूर्तिकी)। उत्कृष्टा तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि। कथम्भूतानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि? अन्तर्मुहूर्ताधिकाष्टवर्षहीनपूर्वकोटिद्वयसहितानि। तत्पश्चात् क्षायिकसद्दृष्टेः[4] संसारो निवर्तते। तथा हि—कश्चित् कर्मभूमिजो मनुष्यः पूर्वकोट्यायुरुत्पन्नो गर्भाष्टमवर्षानन्तरमन्तर्मुहूर्तेन दर्शनमोहं क्षपयित्वा क्षायिकसद्दृष्टिर्भूत्वा तपो विधाय सर्वार्थसिद्धावुत्पद्य ततश्च्युत्वा[5] पूर्वकोट्यायुरुत्पद्य कर्मक्षयं कृत्वा मोक्षं याति, भवत्रयं नातिक्रामति। मुक्तजीवस्य साद्यनन्ता क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य स्थितिर्वेदितव्या।

वेदकस्य जघन्या स्थितिरान्तर्मौहूर्तिकी[6]। वेदकस्योत्कृष्टा स्थितिः षट्षष्टिसागरोपमानि। सा कथम्? सौधर्मे द्वौ सागरौ, शुक्रे षोडश सागराः, शतारे अष्टादश सागराः, अष्टमग्रैवेयके त्रिंशत्सागराः, एवं षट्षष्टिसागराः। अथवा, सौधर्मे द्विरुत्पन्नस्य चत्वारः[7] सागराः, सनत्कुमारे सप्त सागराः, ब्रह्मणि दश सागराः, लान्तवे चतुर्दश सागराः, नवमग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागराः, एवं षट्षष्टिः। अन्त्यसागरशेषे मनुष्यायुर्हीनं क्रियते तेन षट्षष्टिसागराः साधिका न भवन्ति।

सर्वजीवानां द्रव्यापेक्षयाऽनाद्यनन्ता स्थितिः, पर्यायापेक्षया एकसमयादिका[8] स्थितिः। वागास्रवस्य मानसास्रवस्य[9] च जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेण घटिकाद्वयम्, मध्यमा

१—नि च-द०, आ०, ब०। २-न्ते तेषां आ०, द०, ब०। ३—'रधिकरणम्' इति पाठः निरर्थको भाति। ४-सम्यग्दृष्टेः आ०, ब०। ५-श्चुत्वा ता०, ब०। ६—रन्तर्मुहूर्तिकी आ०, ब०, व०, द०। ७— रः स—आ०, ब०, द०। ८—समयादिकस्थितिः द०, आ०, ब०। ९ मनसास्रवस्य आ०, ब०।

स्थितिरन्तर्मुहूर्तः[1]। कायास्रवस्य च जघन्येन एकसमयः, उत्कर्षेणानन्तकालः। तत्कथ[2]मनन्तकालः स्थितेः? एकस्मिन्नेव काये मृत्वा मृत्वा स एव जीव उत्पद्यते, अन्ये[3] अन्ये वा। बन्धस्थितिर्वेदनीयस्य जघन्या द्वादश मुहूर्ताः। नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः। शेषाणामन्तर्मुहूर्ता जघन्या स्थितिः। ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणामुत्कृष्टा स्थितिः त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः। मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिः सप्ततिसागरोपमकोटीकोट्यः। नामगोत्रयोरुत्कृष्टा स्थितिर्विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः। आयुष्कर्मण[4] उत्कृष्टा स्थितिः त्रयस्त्रिंशत्सागरा एव। संवरस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तः। उत्कृष्टा पूर्वकोटी देशोना। निर्जराया जघन्या स्थितिरेकसमयः, उत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्तः। मोक्षस्य स्थितिः साद्यनन्ता।

विधानम्–'सम्यग्दर्शनं कतिभेदम्?' इति केनचित् पृष्टे सामान्येन सम्यग्दर्शनमेकमेव। विशेषेण निसर्गजाधिगमजविकल्पात् द्विविधम्[5]। उपशम-वेदक-क्षायिकभेदात् त्रिविधम्। दशविधञ्च। तदुक्तम्–

"आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात् सूत्रबीजसंक्षेपात्।
[6]विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥ १ ॥"

[आत्मानु० श्लो० ११]

[7]अस्या आर्याया विवरणार्थं वृत्तत्रयमाह। तथा हि–

"आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञा नागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १ ॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धैर[8]समसमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थान्
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधुसंक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरिह तं विद्धि विस्तारदृष्टिं
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता याऽवगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥ ३ ॥"

[आत्मानु० श्लो० १२–१४]

१–रन्तर्मुहूर्ताः द०, आ०, ब०। २ कथं तत्कालस्थितिः आ०, ब०। कथमनन्तकालस्थितिः द०, ब०। ३ अन्यो वा द०, आ०, ब०। ४ आयुकर्मणः ता०। ५ द्विधम् आ०, ब०। ६ विस्तरा–ब०। ७ वाक्यमिदं ता० प्रतौ नास्ति। ८–तोपलब्धेर–ता०।

एवं संख्येयविकल्पं सम्यग्दर्शनप्ररूपकशब्दानां संख्यातत्वात्। श्रद्धायक-श्रद्धातव्य-भेदादसंख्येया अनन्ताश्च सम्यग्दर्शनस्य भेदा भवन्ति। तदपि कस्मात्? श्रद्धायकानां भेदोऽसंख्यातानन्तमानावच्छिन्नः श्रद्धायकवृत्तित्वात् श्रद्धेयस्याप्येतदवच्छिन्नत्वम्, असंख्येयानन्तभेदस्तद्विषयत्वात्। एवं निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानविधिर्यथा योजितस्तथा ज्ञाने चारित्रे च सूत्रानुसारेण योजनीयः।

आस्रवो द्विविधः—शुभाशुभविकल्पात्। तत्र कायिक आस्रवः हिंसानृतस्तेयाब्रह्मादिषु प्रवृत्तिनिवृत्ती। वाचिकास्रवः परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्तिनिवृत्ती। मानस आस्रवो मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु मनसः प्रवृत्तिनिवृत्ती।

बन्धो द्विविधः—शुभाशुभभेदात्। चतुर्धा—प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशभेदात्। पञ्चधा—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगभेदात्। अष्टधा—ज्ञानावरणादिभेदात्।

आस्रवभेदात् संवरोऽपि तद्भेदः। "आस्रवनिरोधः संवरः" [त० सू० ९।१] इति वचनात्।

निर्जरा द्विधा—यथाकालौपक्रमिकभेदात्। अष्टधा—ज्ञानावरणादिभेदात्।

ज्ञानं सामान्यादेकम्। द्विधा—प्रत्यक्षपरोक्षतः। पञ्चधा—मत्यादिभेदात्।

चारित्रं सामान्यादेकम्। द्विधा—बाह्याभ्यन्तरनिवृत्तिभेदात्। त्रिधा-उप (औप) शमिक-क्षायिक-मिश्रभेदात्। पञ्चधा-सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातभेदात्। इत्यादिविधानं वेदितव्यम्।

अथ जीवादीनामधिगमो यथा प्रमाणनयैर्भवति तथा निर्देशादिभिः षड्भिश्च भवति तथान्यैरपि कैश्चिदुपायैरधिगमो भवति न वा? इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

'सत्' शब्दो यद्यप्यनेकार्थो वर्तते, "साध्वर्चितप्रशस्तेषु सत्येऽस्तित्वे च सन्मतः।" [ ] इति वचनात्, तथाप्यत्रास्तित्वे गृह्यते नान्यत्र। सङ्ख्याशब्देन भेदगणना वेदितव्या। क्षेत्रं निवास उच्यते। स तु वर्तमानकालविषयः। क्षेत्रमेव त्रिकालगोचरं स्पर्शनमुच्यते। मुख्य-व्यावहारिकविकल्पात् कालो द्विप्रकारः। विरहकालोऽन्तरं कथ्यते। औपशमिकादिलक्षणो भावः। परस्परापेक्षया विशेषपरिज्ञानमल्पबहुत्वम्। सच्च संख्या च क्षेत्रं च स्पर्शनं च कालश्चान्तरं च भावश्चाल्पबहुत्वं च सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वानि, तैस्तथोक्तैः। चकारः परस्परं समुच्चये वर्तते। तेनायमर्थः—न केवलं

१–त्वात् एवं आ०, ब०, द०। २–विधानतः वि–आ०, ब०, द०। ३ हिंसास्तेया–ता०, ब०। ४–दात् आस्रव–आ०, ब०, द०। ५ द्विविधा आ०, ब०, द०। ६–कालोपक्रमिकानोपक्रमिकभे–आ०, ब०, द०। ७ "संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि।"–षट्खंडा० १।७। ८ "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्चिते च सत्।" इत्यमरः।

प्रमाणनयैर्निर्देशादिभिश्च सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्चाधिगमो भवति । किन्तु सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च अष्टभिरनुयोगैश्चाधिगमो भवति ।

ननु निर्देशात् सत् सिद्धम्, विधानात् संख्यापि ज्ञायते, अधिकरणात् क्षेत्रस्पर्शनद्वयस्वीकारो भविष्यति, स्थितिग्रहणात् कालो विज्ञायते, नामादिसङ्गृहीतो भावश्च वर्तते, पुनः सदादीनां ग्रहणं किमर्थम् ? साधूक्तं भवता । शिष्याभिप्रायवशादेषां ग्रहणम् । केचिच्छिष्याः संक्षेपरुचयः, केचिद्विस्तरप्रियाः, अन्ये मध्यमत्वसन्तोषिणः । सत्पुरुषाणां तूद्यमः सर्वजीवोपकारार्थ इति कारणादधिगमस्याभ्युपायः कृतः । अन्यथा प्रमाणनयै[1]रेवाधिगमो भवति, अपरग्रहणमनर्थकं भवति ।

तत्र तावज्जीवद्रव्यमुद्दिश्य सदाद्यधिकारो विधीयते । ते तु जीवाश्चतुर्दशसु[2] गुणस्थानेषु तिष्ठन्ति । कानि तानीति चेत् ? उच्यते[3]–मिथ्यादृष्टिः ॥ १ ॥ सासादनसम्यग्दृष्टिः ॥ २ ॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः ॥ ३ ॥ असंयतसम्यग्दृष्टिः ॥ ४ ॥ देशसंयतः ॥ ५ ॥ प्रमत्तसंयतः ॥ ६ ॥ अप्रमत्तसंयतः ॥ ७ ॥ अपूर्वकरणगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः ॥ ८ ॥ अनिवृत्तिबादरसाम्परायगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः ॥ ९ ॥ सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने उपशमकः क्षपकः ॥ १० ॥ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थः ॥ ११ ॥ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थः ॥ १२ ॥ सयोगकेवली ॥ १३ ॥ अयोगकेवली[4] चेति ॥ १४ ॥ अमीषां[5] जीवसमासानां प्ररूपणार्थं चतुर्दशमार्गणास्थानानि ज्ञातव्यानि । तथा हि—गतयः ॥ १ ॥ इन्द्रियाणि ॥ २ ॥ कायाः ॥ ३ ॥ योगाः ॥ ४ ॥ वेदाः ॥ ५ ॥ कषायाः ॥ ६ ॥ ज्ञानानि ॥ ७ ॥ संयमाः ॥ ८ ॥ दर्शनानि ॥ ९ ॥ लेश्याः ॥ १० ॥ भव्याः ॥ ११ ॥ सम्यक्त्वानि ॥ १२ ॥ संज्ञाः ॥ १३ ॥ आहारकाश्चेति[6] ॥ १४ ॥

गुणस्थानेषु सत्प्ररूपणा द्विप्रकारा[7] सामान्यविशेषभेदात् । तत्र सामान्येन अस्ति मिथ्यादृष्टिः, अस्ति सासादनसम्यग्दृष्टिः, अस्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टिः, अस्ति असंयतसम्यग्दृष्टिः, अस्ति संयतासंयतः, अस्ति प्रमत्तसंयत इत्यादि [8]चतुर्दशसु गुणस्थानेषु वक्तव्यम् ।

विशेषेण गत्यनुवादेन[9] नरकगतौ सप्तस्वपि पृथिवीषु मिथ्यादृष्ट्यादिचत्वारि गुणस्थानानि वर्तन्ते । तिर्यग्गतौ देशसंयतान्तानि पञ्च गुणस्थानानि सन्ति । मनुष्यगतौ चतुर्दशापि जाग्रति । देवगतौ आद्यानि चत्वारि विद्यन्ते ।

इन्द्रियानुवादेन[10] एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु प्रथमं गुणस्थानं ध्रियते । पञ्चेन्द्रियेषु चतुर्दशाप्यासते ।

कायानुवादेन[11] पृथिव्यादिपञ्चकायेषु प्रथमं गुणस्थानं जागर्ति । त्रसकायेषु चतुर्दशापि विद्यन्ते ।

१–नयैरधि–आ०, व०, द० । २–र्दशगुण–आ०, ब०, व०, द० । ३ उच्यन्ते आ०, ब०, द० । ४–ली अमी–आ०, ब०, द० । ५ षट्खण्डा० १।२-४ । ६–कश्चेति आ०, ब०, द० । ७ षट्खं० १।८–२२ । ८ चतुर्दश गुण–आ०, ब०, व०, द० । ९ षट्खं० १।२५–२९ । १० षट्खं० १।३६, ३७ । ११ षट्खं० १।४३, ४४ ।

योगानुवादेन[1] त्रिषु योगेषु सयोगकेवल्यन्तानि त्रयोदश गुणस्थानानि ध्रियन्ते। तत्पश्चादयोगकेवली।

वेदानुवादेन[2] त्रयाणां वेदानाम् अनिवृत्तिबादरान्तानि नव विद्यन्ते। वेदरहितेषु[3] अनिवृत्तिबादराद्ययोगकेवल्यन्तानि षट् गुणस्थानानि ज्ञातव्यानि। ननु एकस्यैव अनिवृत्तिबादरगुणस्थानस्य सवेदत्वमवेदत्वञ्च कथमिति चेत्? भण्यते–अनिवृत्तिगुणस्थानं षट्भागीक्रियते। तत्र प्रथमभागत्रये वेदानामनिवृत्तित्वात् सवेदत्वम्। अन्यत्र वेदानां निवृत्तित्वादवेदत्वम्।

कषायानुवादेन[4] क्रोधमानमायासु अनिवृत्तिबादरगुणस्थानान्तानि नव ज्ञातव्यानि। लोभकषाये मिथ्यादृष्ट्यादीनि दश। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलि[5]चतुष्टये अकषायाः।

ज्ञानानुवादेन[6] मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु आद्यं[7] गुणस्थानद्वयमस्ति। सम्यग्[8]मिथ्यादृष्टेः ज्ञानमज्ञानञ्च केवलं न सम्भवति तस्याज्ञानत्रयाधारत्वात्। उक्तञ्च–

"मिस्से णाणत्तयं मिस्सं अण्णाणत्तयेण" [ ] इति।

तेन ज्ञानानुवादे मिश्रस्यानभिधानम्, तस्याज्ञानप्ररूपणायामेवाभिधानं ज्ञानं ज्ञातव्यम्, [9]ज्ञानस्य यथावस्थितार्थविषयत्वाभावात्। मतिश्रुतावधिज्ञानेषु क्षीणकषायान्तानि असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि नव वर्तन्ते। मनःपर्ययज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणकषायान्तानि सप्त गुणस्थानानि सन्ति। [10]केवलज्ञाने सयोगोऽयोगश्च गुणस्थानद्वयं वर्तते।

संयमानुवादेन[11] सामायिकच्छेदोपस्थानशुद्धिसंयमद्वये प्रमत्तादीनि चत्वारि गुणस्थानानि। [12]परिहारविशुद्धिसंयमे प्रमत्ताप्रमत्तद्वयम्। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयमे सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानमेकमेव। यथाख्यातविहारशुद्धिसंयमे उपशान्तकषायादीनि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति। देशसंयमे देशसंयमगुणस्थानमेकमेव। असंयता आदिगुणस्थानचतुष्टये भवन्ति।

दर्शनानुवादेन[13] चक्षुरचक्षुर्दर्शनयोः आदितो द्वादश गुणस्थानानि भवन्ति। अवधिदर्शने असंयतसद्दृष्ट्यादीनि[14] गुणस्थानानि नव भवन्ति। केवलदर्शने [15]सयोगायोगद्वयं भवति।

---

१ षट्खं० १।९७-१००। २ षट्खं० १।१०१-१०३। ३ षट्खं० १।१०४। ४ षट्खं० १।१११-११४। ५–लिनश्च ये ते क-आ०, ब०, द०। ६ षट्खं० १।११५-२२। ७ आद्यगुण-ता०। ८ "सम्मामिच्छाइट्ठिट्ठाणे तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि। आभिणिबोहियणाणं मदिअण्णाणेण मिस्सियं, सुदणाणं सुदअण्णाणेण मिस्सियं, ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सियं, तिण्णि वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा॥"–षट्खं० १।११९। ९ सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानस्य। १० "केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि।"–षट्खं० १।१२२। ११ षट्खं० १।१२४-१२९। १२ परिहारशुद्धि-ता०। १३ षट्खं० १।१३२-१३४। १४–नि नव गुणस्थानानि भव-आ०, ब०, द०। १५ "केवलदंसणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि।"–षट्खं० १।१३५।

लेश्यानुवादेन[1] कृष्णनील[2]कापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति । तेजःपद्मलेश्ययोरादितः सप्त गुणस्थानानि[3] । शुक्ललेश्यायामादितस्त्रयोदश गुणस्थानानि सन्ति । चतुर्दशं गुणस्थानमलेश्यम् ।

भव्यानुवादेन[4] भव्येषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति । अभव्येषु प्रथममेव गुणस्थानं सत् ।

सम्यक्त्वानुवादेन[5] क्षायिकसम्यक्त्वे असंयतसद्दृष्ट्यादीनि एकादश गुणस्थानानि भवन्ति । वेदकसम्यक्त्वे चतुर्थादीनि चत्वारि । औपशमिकसम्यक्त्वे चतुर्थादीनि अष्ट गुणस्थानानि सन्ति । सासादनसम्यग्दृष्टौ[6] सासादनगुणस्थानमेकमेव । सम्यग्मिथ्यादृष्टौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेकमेव । मिथ्यादृष्टौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेकमेव ।

संज्ञ्यनुवादेन[7] संज्ञिषु आदितः द्वादश गुणस्थानानि सन्ति । असंज्ञिषु प्रथममेव[8] गुणस्थानं सत् । अन्त्यगुणस्थानद्वयं संज्ञ्यसंज्ञि[9]व्यपदेशरहितम् ।

आहारानुवादेन[10] आहारकेषु आदितः त्रयोदश गुणस्थानानि सन्ति । अनाहारकेषु विग्रहगतिषु मिथ्यादृष्टि-सासादनसद्दृष्टि-असंयतसद्दृष्टिगुणस्थानत्रयमस्ति । समुद्घातावसरे सयोगकेवली अयोगकेवली सिद्धाश्च गुणस्थानरहिताः । इति सत्प्ररूपणा समाप्ता ।

अथ संख्याप्ररूपणा प्रारभ्यते । संख्या द्विप्रकारा-सामान्यविशेषभेदात् । सामान्येन मिथ्यादृष्टयो[11] जीवा अनन्तानन्तसंख्याः । सासादनसम्यग्दृष्टयः[12] सम्यग्मिथ्यादृष्टयः असंयतसम्यग्दृष्टयो देशसंयताश्च पल्योपमासंख्येयभागसंख्याः । तथाहि–[13]द्वितीये गुणस्थाने द्वापञ्चाशत्कोटयः ५२०००००० । [14]तृतीये गुणस्थाने चतुरधिकशतकोटयः १०४०००००००। चतुर्थगुणस्थाने सप्तशतकोटयः ७०००००००००। पञ्चमगुणस्थाने त्रयोदशकोटयः १३०००००००। उक्तञ्च[15]—

"तेरहकोडी देसे बावण्णा सासणा मुणेयव्वा ।
मिस्सम्मि य[16] ते दूणा असंजया सत्तसयकोडी[17] ॥" [ ]

प्रमत्तसंयताः[18] कोटिपृथक्त्वसंख्याः । पृथक्त्वमिति कोऽर्थः ? आगमभाषया

---

१ षट्खं० १।१३६–१४० । २–लकपो–आ०, ब०, द० । ३–नि भवन्ति शु–व० । ४ षट्खं० १।१४२–१४३ । ५ षट्खं० १।१४५–१५० । ६ सासादनस्य सम्य–ता० । ७ षट्खं० १।१७३–१७४ । ८ प्रथममेकमेव आ०, ब० । ९ संज्ञासंज्ञि–आ०, ब०, व० । १० षट्खं० १।१७६–१७७ । ११ षट्खं० द्र० २ । १२ षट्खं० द्र० ६ । १३ द्वितीयगु–आ०, ब०, द० । १४ तृतीयगु–आ०, ब०, द० । १५ "वुत्तं च तेरहकोडी देसे बावण्णं ···॥ अहवा, तेरहकोडी देसे पण्णासं सासणे मुणेयव्वा । मिस्से वि य तद्दुगुणा असंजदे सत्तकोडिसया ॥"–ध० टी० द्र० पृ० २५२ । त्रयोदशकोटयो देशे द्वापञ्चाशत् सासादना मन्तव्याः । मिश्रे च ते द्विगुणा असंयताः सप्तशतकोटयः ॥ १६–य त दू–आ०, ब०, ज०, द० । १७ गो० जी० गा० ६४२ । १८ षट्खं० द्र० ७ । स० सि० ८८ । गो० जी० गा० ६२५ ।

तिसृणां कोटीनामुपरि नवानां कोटीनामधस्तात्[1] पृथक्त्वमिति संज्ञा[2]। तथापि प्रमत्तसंयता न निर्धारयितुं शक्याः[3]। तेन तत्संख्या कथ्यते—कोटिपञ्चकं त्रिनवतिलक्षा अष्टानवतिसहस्राः शतद्वयं षट् च वेदितव्याः ५९३९८२०६। अप्रमत्तसंयताः[4] संख्येयाः। सा संख्या न ज्ञायत इति चेत्; उच्यते—कोटिद्वयं षण्णवतिलक्षा नवनवतिसहस्राः शतमेकं[5] त्र्याधिकम्। प्रमत्तसंयतार्धपरिमाणा इत्यर्थः। २९६९९१०३। तदुक्तम्[6]—

"छस्सुण्ण-वेण्णि-अट्ठ य णव-तिय-णव-पंच होंति पम्मत्ता।
ताणद्धमप्पमत्ता गुणठाणजुगे [7]जिणुद्दिट्ठा॥" [ ]

अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषायाः चत्वार उपशमकाः। [8]ते प्रत्येकं एकत्रैकत्र गुणस्थाने [9]अष्टसु अष्टसु समयेषु एकस्मिन्नेकस्मिन्समये यथासंख्यं षोडश-चतुर्विंशति-त्रिंशत्-षट्त्रिंशत्-द्विचत्वारिंशत्-अष्टचत्वारिंशत्-चतुष्पञ्चाशत्-चतुष्पञ्चाशत् भवन्तीति। अष्टसमयेषु चतुर्गुणस्थानवर्तिनां सामान्येन [10]उत्कृष्टा संख्या-१६।२४।३०।३६।४२।४८।५४।५४। विशेषेण तु प्रथमादिसमयेषु एको वा द्वौ वा त्रयो वा चेत्यादि षोडशाद्युत्कृष्टसंख्या यावत् प्रतिपत्तव्याः। उक्तञ्च—

"सोलसगं चदुवीसं तीसं छत्तीसमेव जाणाहि।
बादालं अडदालं दो चउवण्णा य उवसमग्गा[11]॥" [ ]

ते तु स्वकालेन समुदिताः संख्येया भवन्ति नवनवत्यधिकशतद्वयपरिमाणा [12]एकत्रैकत्र गुणस्थाने भवन्तीत्यर्थः। २९९। तदुक्तम्—

"णवणवदो एक्कठाण[13] उवसंता।" [ ]

ननु [14]चाष्टसमयेषु षोडशादीनां समुदितानां चतुरधिकं शतत्रयं भवति कथमुक्तं नवनवत्यधिकं[15] शतद्वयम्? सत्यम्; [16]अष्टसमयेषु औपशमिका निरन्तरा भवन्ति परिपूर्णा

१-स्तात्तु पृ-आ०, ब०, द०। २ "पुधत्तमिदि तिण्हं कोडीणमुवरि णवण्हं कोडीणं हेट्ठदो जा संखा सा घेतव्वा।"-ध० टी०, द्र० पृ० ८९। ३ शक्ताः आ०, ब०, द०। ४ षट्खं० द्र० ८। ५-मेकं अधि-आ०, ब०। ६ "वुत्तं च-तिगहियसदणवणउदी छण्णउदी अप्पमत्त बे कोडी। पंचेव य तेणउदी णवट्ठविसया छ उत्तरा चे य॥"-ध० टी० द्र० पृ० ८९। गो० जी० गा० ६२४। ७ जिणुद्दिट्ठा ता०, व०, ब०, द०। षट् शून्यम् द्वौ अष्ट च नव त्रीणि नव पञ्च भवन्ति प्रमत्ताः। तेषामर्द्धमप्रमत्ता गुणस्थानयुगे जिनोद्दिष्टाः॥ ८ "चदुण्हमुवसामगा दव्वपमाणेण केवडिया? पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कस्सेण चउवण्णं।"-षट्खं० द्र० ९। ९ अष्टगुणसमयेषु एक-आ०, ब०, द०। १० ध० टी० द्र० पृ० ९०। ११ षोडशचतुर्विंशतित्रिंशत्षट्त्रिंशदेव जानीहि द्वाचत्वारिंशत् अष्टचत्वारिंशत् द्वौ चतुःपञ्चाशत् च उपशमकाः॥ १२ एकत्रयिक गुण-ता०। १३-ठाणे उ-आ०, द०, ब०। नव नव द्वौ एकस्थान उपशान्ताः। १४ चाष्टमस-आ०, ब०, द०। १५-धिकशत-आ०, ब०, द०। १६ अष्टमस-आ०, ब०।

न लभ्यन्ते किन्तु पञ्चहीना भवन्ति, इति चतुर्गुणस्थानवर्तिनामपि उपशमकानां समुदितानां षण्णवत्यधिकानि एकादश शतानि भवन्ति ॥ ११९६ ॥

अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायायोगकेवलिनश्च—एतेषामष्टधा समयक्रमः पूर्ववद् द्रष्टव्यः, केवलं तेषामुपशमकेभ्यो [2]द्विगुणसंख्या। तदुक्तम्—

"[4]बत्तीसं अडदालं सट्ठी बाहत्तरी य चुलसीदी।
छण्णउदी अट्ठुत्तरअट्ठुत्तरसयं च बोधव्वा ॥"

३२।४८।६०।७२।८४।९६।१०८।१०८।

अत्रापि एको वा द्वौ वा त्रयो वा इत्याद्युत्कृष्टाष्टसमयप्रवेशापेक्षयोक्तम्, स्वकालेन समुदिताः प्रत्येकम् अष्टनवत्युत्तरपञ्चशतपरिमाणा भवन्ति ॥ ५९८ ॥ नन्वत्रापि षट्शतानि अष्टाधिकानि भवन्ति कथमष्टनवत्यधिकानि पञ्चशतान्युक्तानि ? सत्यम्; उपशमकेषु यथा पञ्च हीयन्ते तथा क्षपकेषु द्विगुणहानौ [6]दश हीयन्ते। तेन एकगुणस्थाने पञ्चशतानि अष्टनवत्यधिकानि भवन्ति। ।५९८। गुणस्थानपञ्चकवर्त्तिनां क्षपकाणां गुणसमुदितानां दशोनानि त्रीणि सहस्राणि भवन्ति। तदुक्तम्—

"[7]खीणकसायाण पुणो तिण्णि सहस्सा दसूणया भणिया।" [ ] ॥ २९९० ॥

सयोगकेवलिनामपि[8] उपशमकेभ्यो द्विगुणत्वात् समयेषु प्रथमादिसमयक्रमेण एको वा द्वौ वा त्रयो वा [9]चत्वारो वा इत्यादिद्वात्रिंशदाद्युत्कृष्टसंख्यायावत् संख्याभेदः प्रतिपत्तव्यः।

नन्वेवमुदाहृतक्षपकेभ्यो भेदेनाभिधानमेषामनर्थकमिति चेत्; न; स्वकालसमुदितसंख्यापेक्षया तेषां तेभ्यो विशेषसम्भवात्। सयोगकेवलिनो हि स्वकालेन समुदिता लक्षपृथक्त्वसंख्या भवन्ति। अष्टलक्षाष्टनवतिसहस्रद्व्यधिकपञ्चशतपरिमाणा भवन्तीत्यर्थः ॥ ८९८५०२ ॥ [10]तदुक्तम्—

---

१ "सउक्कस्सपमाणजीवसहिदा सव्वे समया जुगवं ण लहंति त्ति के वि पुव्वुत्तपमाणं पंचूणं करेंति। एदं पंचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरियपरंपरागयमिदि जं वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउं आइरियपरंपरा-अणागदमिदि णायव्वं।"–ध० टी० द्र० पृ० ९२। पञ्चसं० श्लो० ६८। २ द्विगुणा सं–आ०, ब०, द०, व०। "चउण्हं खवा अजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया ? पवेसेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठोत्तरसदं।"–षट्खं० द्र० ११। ३ वावत्त–आ०, ब०। ४ उद्धृतेयम्–ध० टी० द्र० पृ० ९३। गो० जी० गा० ६२७। द्वात्रिंशत् अष्टचत्वारिंशत् षष्टिः द्वासप्ततिश्च चतुरशीतिः। षण्णवतिरष्टोत्तराष्टोत्तरशतं च बोद्धव्याः ॥ ५ इत्याद्युक्त्वष्टाष्टसमय–ता०। ६ "एत्थ दस अवणिदे दक्खिणपडिवत्ती हवदि।"–ध० टी० द्र० ९४। ७ क्षीणकषायाणां पुनः त्रीणि सहस्राणि दशोनानि भणितानि। ८ "सजोगिकेवली दव्वपमाणेण केवडिया; पवेसणेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कस्सेण अट्ठुत्तरसयं।"–षट्खं० द्र० १२। ९ चत्वारो इत्याद्युत्कृष्टसंख्यायावत् आ०, ब०, द०। १० उद्धृतेयम्–ध० टी० द्र० पृ० ९६। गो० जी० गा० ६२८।

"अट्ठेव सयसहस्सा अट्ठाणउदी य तह सहस्साइं ।
संखा जाव जिणाणं पंचेव सया बिउत्तरा होंति[1] ॥" [ ]

सर्वेऽप्येते प्रमत्ताद्ययोगकेवल्यन्ताः समुदिता उत्कर्षेण यदि कदाचिदेकस्मिन् समये भवन्ति तदा त्रिहीननवकोटिसंख्या एव भवन्ति ॥ ८९९९९९९७ ॥ [2]उक्तञ्च—

"सत्ताइं अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे ।
अंजुलिमउलियहत्थो[3] तियरणसुद्धो णमंसामि[4] ॥" [ ]

इति सामान्यसंख्या समाप्ता ।

अथ विशेषसंख्या [5]प्रोच्यते–विशेषेण गत्यनुवादेन[6] नरकगतौ प्रथमनरकभूमौ नारका मिथ्यादृष्टयोऽसंख्याताः श्रेणयः । कोऽर्थः ? प्रतरासंख्येयभागप्रमिता इत्यर्थः । अथ केयं[7] श्रेणिरिति चेत् ? उच्यते—सप्तरज्जुकमयी मुक्ताफलमालावत् आकाशप्रदेशपङ्क्तिः श्रेणिरुच्यते । मानविशेष इत्यर्थः । प्रतरासंख्येयभागप्रमिता इति यदुक्तं स प्रतरः कियान् भवति ? श्रेणिगुणिता श्रेणिः प्रतर उच्यते । प्रतरासंख्यातभागप्रमितानामसंख्यातानां श्रेणीनां यावन्तः प्रदेशाः तावन्तस्तत्र नारका इत्यर्थः । [8]द्वितीयनरकभूम्यादिषु सप्तमीभूमिर्यावत् मिथ्यादृष्टयो नारकाः श्रेण्यसंख्येयभागप्रमिताः । स चासंख्येयभागः असंख्येययोजनकोटिकोटयः । सर्वासु नरकभूमिषु सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः असयंतसम्यग्दृष्टयश्च पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमिताः सन्ति । अथ सासादनादयः पुनरुच्यन्ते । तथा हि—देशविरतानां त्रयोदशकोटयः । सासादनानां द्विपञ्चाशत्कोटयः । मिश्राणां चतुरधिककोटिशतम् । असंयतसम्यग्दृष्टीनां कोटिशतानि सप्त । उक्तञ्च—

"[9]तेरसकोटी देसे बावण्णं सासणे मुणेयव्वा ॥
तद्दूणा मिस्सगुणे असंजदा सत्तकोडिसया ॥" [ ]

अत्र बालावबोधनार्थत्वात् पुनरुक्तदोषो न ग्राह्यः ।

अथ [10]तिर्यग्गतिजीवसंख्या कथ्यते । तत्र मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः,[11] सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयो देशसंयताः पल्यासंख्येयभागमिताः ।

मनुष्यगतौ[12] मिथ्यादृष्टयः श्रेण्यसंख्येयभागमिताः । स त्वसंख्येयभागः असंख्ये[13]ययोजनकोटिकोटयः । सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः असंयतसम्यग्दृष्टयो

---

१ अष्टैव शतसहस्राणि अष्टनवतिश्च तथा सहस्राणि । संख्या यावत् जिनानां पञ्चैव शतं द्वयुत्तरं भवति ॥ २ गो॰ जी॰ गा॰ ६३२ । ३–हत्थे तियरणसुद्धे आ॰, द॰, ब॰ । ४ सप्तादि अष्टान्ताः षट्नवमध्याश्च संयताः सर्वे । अञ्जलिमुकुलितहस्तः त्रिकरणशुद्धः नमस्करोमि ॥ ५ प्रारभ्यते आ॰, ब॰, द॰ । ६ षट्खं॰ द्र॰ १७, १९ । ७ "का सेढी सत्तरज्जूमेत्तायामो ।"–ध॰ टी॰ द्र॰ पृ॰ ३३ । ८ षट्खं॰ द्र॰ २२ । ९ तेरहको–आ॰, ब॰, व॰, द॰ । गो॰ जी॰ गा॰ ६४१ । १० षट्खं॰ द्र॰ २४–३९ । ११–योऽनन्ताः आ॰, ब॰, द॰ । १२ षट्खं॰ द्र॰ ४०–४२ । १३–ख्येया यो–आ॰, ब॰, द॰ ।

देशसंयताः संख्येयाः । प्रमत्तसंयतादीनां सामान्योक्ता संख्या ।

देवगतौ[1] मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टयः पल्यासंख्येयभागप्रमिताः ।

इन्द्रियानुवादेन[2] एकेन्द्रिया[3] मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । द्वित्रिचतुरिन्द्रिया असंख्येयाः श्रेणयः, प्रतराऽसंख्येभागप्रमिताः । पञ्चेन्द्रियेषु प्रथमगुणस्थाना असंख्येयाः श्रेणयः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । पञ्चेन्द्रियेषु सासादनसम्यग्दृष्ट्यादयस्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनः सामान्योक्तसंख्याः ।

कायानुवादेन[5] पृथिव्यप्तेजोवायुकायिका असंख्येया लोकाः । अथ कोऽयं लोको नाम ? मानविशेषः, प्रतरश्रेणिगुणितो लोको भवति । वनस्पतिकायिका अनन्तानन्ताः । त्रसकायिकसंख्या पञ्चेन्द्रियवत् ।

योगानुवादेन[6] मनोयोगिनो वाग्योगिनश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । काययोगिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्ताऽनन्ताः । त्रियोगवतां मध्ये सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयो देशसंयताः पल्यासंख्येयभागप्रमिताः । प्रमत्ताद्यष्टगुणस्थानवर्तिनः संख्येयाः । अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः ।

वेदानुवादेन[8] स्त्रीवेदाः पुंवेदाश्च मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । नपुंसकवेदा मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । स्त्रीवेदा नपुंसकवेदाश्च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनः सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादयश्चतुर्गुणस्थानवर्तिनः संख्येयाः । पुंवेदाः सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनः[10] सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनः संख्येयाः सामान्योक्तसंख्याः । अवेदा अनिवृत्तिबादरादयः षड्गुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः ।

कषायानुवादेन[11] क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्टि-ससादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्टि[12]-असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयताः सामान्योक्तसंख्याः । प्रमत्तसंयतादयश्चत्वारः संख्येयाः । लोभकषायाणामपि उक्त एव क्रमोऽस्ति, परन्तु अयं विशेषो यत् सूक्ष्मसाम्परायसंयताः सामान्योक्तसंख्याः । अकषाया उपाशान्तकषायादयश्चत्वारः सामान्योक्तसंख्याः ।

ज्ञानानुवादेन[13] मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयः सामान्योक्तसंख्याः । कदवधयो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयप्रमिताः । सासादनसम्यग्दृष्टयो विभङ्गज्ञानिनः पल्योयमासंख्येयभागप्रमिताः । मतिश्रुतज्ञानिनोऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यादयो नवगुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः । तृतीयज्ञानिनः चतुर्थपञ्चमगुणस्था-

---

१-षट्खं० द्र० ५३-७३ । २ षट्खं० द्र० ७४-८६ । ३-न्द्रियमि-आ०, ब०, ब०, द० । ४-दयोदश-आ०, ब०, द० । ५ षट्खं० द्र० ८७-१०२ । ६ षट्खं० द्र० १०३-१२३ । ७-गुणवर्तिनः आ०, ब०, द० । ८ षट्खं० द्र० १२४-१३४ । ९ सामान्योक्तसंख्या आ०, ब०, द० । १०-नः संख्येयाः सा-आ०, ब०, द० । ११ षट्खं० द्र० १३५-१४० । १२-ष्टिसंय-ता० । १३ षट्खं० द्र० १४१-१४७ ।

नाः सामान्योक्तसंख्याः। प्रमत्तसंयतादयः सप्तगुणस्थानाः संख्येयाः। चतुर्थज्ञानाः प्रमत्तसंयतादयः[1] सप्तगुणस्थानाः संख्येयाः। पञ्चमज्ञानाः[2] सयोगा अयोगाश्च सामान्योक्तसंख्याः।

संयमानुवादेन[3] सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयताः प्रमत्तसंयतादयश्चतुर्गुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः। परिहारशुद्धिसंयताः प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसंयताश्च संख्येयाः। सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयता यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता देशसंयता असंयताश्च सामान्योक्तसंख्याः।

दर्शनानुवादेन[4] चक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः, प्रतरासंख्येयभागप्रमिताश्च। अचक्षुर्दर्शनिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः। चक्षुर्दर्शनिनोऽचक्षुर्दर्शनिनश्च सासादनसम्यग्दृष्ट्यादय एकादशगुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः। अवधिदर्शनिनस्तृतीयज्ञानिवत्। केवलदर्शनिनः केवलज्ञानिवत्।

लेश्यानुवादेन[5] कृष्णनीलकापोतलेश्यासु आदितश्चतुर्गुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः। तेजःपद्मलेश्ययोरादितः पञ्चगुणस्थानाः स्त्रीवेदवद् वेदितव्याः—मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः, सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयताः सामान्योक्तसंख्या वेदितव्या इत्यर्थः। तेजःपद्मलेश्ययोः प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। शुक्ललेश्यायामादितः पञ्चगुणस्थानाः पल्योपमासंख्येयभागप्रमिताः[6]। शुक्ललेश्यायां प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयता संख्येयाः। शुक्ललेश्यायामपूर्वकरणादिसप्तगुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः।

भव्यानुवादेन[7] भव्येषु [8]चतुर्दशसु गुणस्थानेषु सामान्योक्तसंख्याः। अभव्या अनन्तानन्ताः।

सम्यक्त्वानुवादेन[9] क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टयः पल्यासंख्येयभागप्रमिताः। क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु देशसंयतादयः सप्तगुणस्थानाः संख्येयाः। अपूर्वकरणक्षपका अनिवृत्तिकरणक्षपका सूक्ष्मसाम्परायक्षपकाः क्षीणकषायाश्चेति चत्वारः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च सामान्योक्तसंख्याः।

[10]वेदकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्ट्यादयश्चतुर्गुणस्थानाः[11] सामान्योक्तसंख्याः। औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टयो[12] देशसंयताश्च पल्यासंख्येयभागप्रमिताः[13]। औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः। अपूर्वकरणौपशमिका अनिवृत्तिकरणौपशमिकाः सूक्ष्मसाम्परायौपशमिका उपशान्तकषायाश्च सामान्योक्तसंख्याः। सासादनसम्यग्दृष्टयः सम्यग्मिथ्यादृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च सामान्योक्तसंख्याः।

१–यः क्षीणकषायान्ताः सं–द०। २ पञ्चम ज्ञानिनः द०। ३ षट्खं० द्र० १४८–१५४। ४ षट्खं० द्र० १५५–१६१। ५ षट्खं० द्र० १६२–१७१। ६–पमाः असंख्येय–आ०, ब०, द०। ७ षट्खं० द्र० १७२–१७३। ८ चतुर्दशगु–आ०, ब०, द०। ९ षट्खं० द्र० १७४–१८४। १० क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु द०। ११–दयः अप्रमत्तान्ताः सा–द०। १२–दृष्टि संयतासंयताः प–द०। १३–ताः प्रमत्ताप्रमत्तसंयताः संख्येयाः चत्वारः उपशमकाः सामान्योक्तसंख्याः संज्ञानुवादेन द०।

संज्ञानुवादेन[1] संज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्यादयो द्वादशगुणस्थानाः चक्षुर्दर्शनिवत् । तथाहि—मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयाः श्रेणयः प्रतरासंख्येयभागप्रमिताः । अन्ये एकादश सामान्योक्तसंख्याः । असंज्ञिनो मिथ्यादृष्टयोऽनन्तानन्ताः । न संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनः [2]ये ते सामान्योक्तसंख्याः ।

आहारानुवादेन[3] आहारकेषु आदितस्त्रयोदशगुणस्थानाः सामान्योक्तसंख्याः । अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टयः सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयश्च सामान्योक्तसंख्याः । मिश्रास्तु अनाहारका न भवन्ति मृतेरभावात् । तथा[4] चोक्तम्—

"मिश्रे क्षीणकषाये च मरणं नास्ति देहिनाम् ।
शेषेष्वेकादशस्वस्ति मृतिरित्यूचिरे विदः ॥" [ ]

अनाहारकेषु सयोगकेवलिनः संख्येयाः, यतः केषुचित् सयोगकेवलिषु समुद्घातो वर्तते केषुचित् समुद्घातो नास्ति । ये समुद्घाताः ते अनाहारकाः । अनाहारकेषु अयोगकेवलिनः सामान्योक्तसंख्याः । इति संख्यानुयोगः समाप्तः ।

अथेदानीं क्षेत्रप्ररूपणा कथ्यते । सामान्यविशेषभेदात् क्षेत्रं द्विप्रकारम् । तत्र[5] तावत् सामान्येन[6] मिथ्यादृष्टीनां क्षेत्रं सर्वलोकः । सासादनसम्यग्दृष्टीनां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्टीनां संयतासंयतानां प्रमत्तसंयतानामप्रमत्तसंयतानामपूर्वकरणानामनिवृत्तिबादरसाम्परायाणां सूक्ष्मसाम्परायाणामुपशान्तकषायाणां क्षीणकषायाणामयोगकेवलिनां क्षेत्रं लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः लोकस्यासंख्येयभागा वा सर्वलोको वा । स तु लोकस्याऽसंख्येयभागो दण्डकपाटापेक्षया ज्ञातव्यम् । तत्कथम् ? दण्डसमुद्घातं कायोत्सर्गेण [10]स्थितश्चेत् द्वादशाङ्गुलप्रमाणसमवृत्तं मूलशरीरप्रमाणसमवृत्तं वा । उपविष्टश्चेत्, शरीरत्रिगुणबाहुल्यं वायूनलोकोदयं वा प्रथमसमये करोति । कपाटसमुद्घातं धनुःप्रमाणबाहुल्योदयं[11] पूर्वाभिमुखश्चेत् दक्षिणोत्तरतः करोति । उत्तराभिमुखश्चेत् पूर्वापरत आत्मप्रसर्पणं द्वितीयसमये करोति । एष विचारः[12] संस्कृतमहापुराणपञ्जिकायामस्ति । प्रतरावस्थापेक्षया असंख्येया भागा ज्ञातव्याः । प्रतरावस्थायां सयोगकेवली वातवलयत्रयादर्वागेव आत्मप्रदेशैर्निरन्तरं लोकं व्याप्नोति । लोकपूरणावस्थायां वातवलयत्रयमपि व्याप्नोति । तेन सर्वलोकः क्षेत्रम् ।

विशेषेण तु गत्यनुवादेन[13] नरकगतौ नारकाणां चतुर्षु गुणस्थानेषु सर्वासु पृथिवीषु लोकस्यासंख्येयभागः । तिर्यग्गतौ तिरश्चामादितः पञ्चगुणस्थानानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्[14] ।

---

१ षट्खं० द्र० १८५–१८१ । २ एते आ०, ब०, व०, द० । ३ षट्खं० द्र० १९०–१९२ । ४ तथाहि चोक्तम् आ०, ब०, द० । ५ तत्र सा–आ०, ब०, द० । ६ षट्खं० खे० २–४ । ७ 'सम्यग्मिथ्यादृष्टीनाम्' नास्ति ता० । ८–मयोगिके–ब०, ता० । ९ द्रष्टव्यम्–षट्खं० ध० टी० खे० पृ० ४८ । १० स्थितश्चेति द्वा–आ०, ब०, द० । ११–दयः पू–आ०, ब०, द० । १२ द्रष्टव्यम्–षट्खं० ध० टी० खे० पृ० ४९–५६ । १३ षट्खं० खे० ५–१६ । १४ क्षेत्रम् ता०, ब० पुस्तकयोः नास्ति ।

कोऽर्थः ? मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः । सासादनादीनां संयतासंयतान्तानां[1] लोकस्यासंख्येयभागः । मनुष्यगतौ मनुष्याणां सयोगकेवलिवर्जानां सर्वगुणस्थानानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनां तु सामान्योक्तं क्षेत्रमसंख्येयभागोऽसंख्येया[2] भागा वा सर्वलोको वा इत्यर्थः । देवगतौ देवानां [3]चतुर्षु गुणस्थानेषु सर्वेषां लोकस्यासंख्येयभागः ।

इन्द्रियानुवादेन[4] एकेन्द्रियाणां [5]सर्वत्र संभवात् सर्वो लोकः क्षेत्रम् । विकलेन्द्रियाणां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्, देवनारकमनुष्यवत् तेषां नियतोत्पादस्थानत्वात् । विकला हि अर्धतृतीये द्वीपे लवणोदकालोदसमुद्रद्वये स्वयम्भूरमणद्वीपार्धपरभागे स्वयम्भूरमणसमुद्रे चोत्पद्यन्ते न पुनरसंख्यद्वीपसमुद्रेषु न च नरकस्वर्गभोगभूम्यादिषु । पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्यवन्नियतं क्षेत्रम् । तथाहि "प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः" [त० सू० ३।३५] इति वक्ष्यमाणसूत्रबलेन यथा मनुष्याणां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रं नियतं वर्तते तथा पञ्चेन्द्रियाणां नरके तिर्यग्लोके देवलोके च त्रसनाडीमध्ये नियतेष्वेव [6]स्थानेषु उत्पादो वर्तते तेन लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रं पञ्चेन्द्रियाणां ज्ञातव्यम् ।

[7]कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायानां सर्वलोकः क्षेत्रम् । त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवल्लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम् ।

[8]योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनामादितः सयोगकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम् । काययोगानामादितः त्रयोदशगुणस्थानानामयोगकेवलिनाञ्च सामान्योक्तं क्षेत्रम् । मिथ्यादृष्टीनां सर्वलोकः । सासादनादीनामयोगिकेवल्यन्तानां लोकस्यासंख्येयभागः । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागोऽसंख्येया[9] भागा [10]वा सर्वलोको वा इत्यर्थः ।

[11]वेदानुवादेन स्त्रीपुंसवेदानां मिथ्यादृष्ट्यादिनवमगुणस्थानान्तानां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम् । नपुंसकवेदानां मिथ्यादृष्ट्यादिनवमगुणस्थानान्तानामवेदानाञ्च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

[12]कषायानुवादेन क्रोधमानमायाकषायाणां[13] लोभकषायाणाञ्च मिथ्यादृष्ट्यादिनवमगुणस्थानान्तानां दशमगुणस्थानान्तानां व्यपगतकषायाणाञ्च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

ज्ञानानुवादेन[14] कुमतिकुश्रुत्यज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । [15]कदवध्यज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम् । मतिश्रुतावधिज्ञानिनामसंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनां मनःपर्ययज्ञानिनां[16] षष्ठगुणस्थानादिद्वादशगुणस्थानान्तानां केवलज्ञानिनां सयोगानामयोगानाञ्च सामान्योक्तं क्षेत्रम् ।

---

१ सयतानां द०, आ०, ब०, व० । २–संख्येयभा–आ०, ब०, व०, ज० । ३ चतुर्गुण– आ०, ब०, द० । ४ षट्खं० क्षे० १७–२१ । ५ सर्वसं–द०, आ०, ब० । ६ स्थानकेषु ता०, व० । ७ षट्खं० क्षे० २२–२८ । ८ षट्खं० क्षे० २९–४२ । ९–संख्येयभा–आ०, ब०, द० । १० वा सर्वलोका वा इत्यर्थः व० । ११ षट्खं० क्षे० ४३–४६ । १२ षट्खं० क्षे० ४७–५० । १३–मायानां आ०, द०, ब० । १४ षट्खं० क्षे० ५१-५७ । १५ कुदवध्य–आ०, ब०, व० । कुवध्य–द० । १६–नां च षष्टमगुणस्थानादीनां द० । च षट् गुणस्थानानि ब० ।

[1]संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतानां प्रमत्ताप्रमत्ताऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसाम्परायाणां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। परिहारविशुद्धिसंयतानां [2]प्रमत्ताप्रमत्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतानां यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतानामुपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिनां चतुर्णां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । देशसंयतानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। असंयतानाञ्च मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां चतुर्णां सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

[3]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनामादितो द्वादशगुणस्थानानां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्। अचक्षुर्दर्शनिनामादितो द्वादशगुणस्थानान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानिवत् सामान्योक्तं क्षेत्रम्। केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत् सयोगानां त्रिविधम्। अयोगानां लोकस्यासंख्येयभाग इत्यर्थः।

[4]लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानामादितश्चतुर्गुणस्थानानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। तेजःपद्मलेश्यानामादितः षड्गुणस्थानानां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्। शुक्ललेश्यानामादितो द्वादशगुणस्थानानां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्। सयोगकेवलिनामलेश्यानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

[5]भव्यानुवादेन भव्यानां चतुर्दशगुणस्थानानां सामान्योक्तं क्षेत्रम् । अभव्यानां सर्वलोकः क्षेत्रम्।

[6]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां [7]चतुर्थगुणस्थानादारभ्य [8]अयोगकेवलिगुणस्थानान्तेषु सामान्योक्तं क्षेत्रम्। वेदकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमगुणस्थानेषु सामान्योक्तं क्षेत्रम्। औपशमिकसम्यग्दृष्टीनां चतुर्थगुणस्थानादारभ्य एकादशगुणस्थानं यावत् सामान्योक्तं क्षेत्रम्। सासादनसम्यग्दृष्टीनां मिश्राणां मिथ्यादृष्टीनां[9]ञ्च सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

[10]संज्ञ्यनुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत् आदितो द्वादशान्तेषु गुणस्थानेषु लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रमित्यर्थः। असंज्ञिनां सर्वलोकः क्षेत्रम्। ये न संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनस्तेषां सामान्योक्तं क्षेत्रम्।

[11]आहारानुवादेन आदितो द्वादशगुणस्थानेषु सामान्योक्तं क्षेत्रम्। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः क्षेत्रम्, समुद्घातरहितत्वादित्यर्थः। अनाहारकाणां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्ययोगकेवलिनां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा असमुद्घातसमुद्घातापेक्षया सिद्धम्।

[12]अथ स्पर्शनं कथ्यते । सामान्यविशेषभेदात् तत् [13]द्विप्रकारम्। तत्र तावत्

१ षट्खं० खे० ५८–६६। २ प्रमत्तानां सा–ब०। प्रमत्तानां च सा–ब०। अप्रमत्तानां सा–आ०। ३ षट्खं० खे० ६७–७१। ४ षट्खं० खे० ७२–७६। ५ षट्खं० खे० ७७–७८। ६ षट्खं० खे० ७९–८५। ७ चतुर्गुणस्थाना–आ०, ब०। ८ सयोग–आ०, ब०। ९–नां सा–आ०, द०, ब०। १० षट्खं० खे० ८६–८७। ११ षट्खं० खे० ८८–९२। १२ अथ तत्स्य–द०, आ०, ब०। १३ द्विप्रकारः ता०।

[1]सामान्येन मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। अथ कोऽसौ लोक इति चेत्? उच्यते— असंख्यातयोजनकोट्याकाशप्रदेशपरि[2]माणा रज्जुस्तावदुच्यते। तल्ल[3]क्षणसमचतुरस्ररज्जुत्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयपरिमाणो लोक उच्यते। स लोको मिथ्यादृष्टिभिः सर्वः स्पृष्ट इति। उक्तलक्षणे लोके स्वस्थानविहारः परस्थानविहारः मारणान्तिकमुत्पादश्च प्राणिभिर्विधीयते। तत्र स्वस्थानविहारापेक्षया सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। एवमग्रेऽपि[4] सर्वत्र स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागो ज्ञातव्यः। परस्थानविहारापेक्षया तु सासादनदेवानां प्रथमपृथिवीत्रये विहारात् रज्जुद्वयम्। अच्युतान्तोपरिविहारात् षड् रज्जव इत्यष्टौ द्वादश वा चतुर्दशभागा देशोनाः स्पृष्टाः। द्वादशभागाः कथं स्पृष्टा इति चेत्? उच्यते— सप्तमपृथिव्यां परित्यक्तसासादनादिगुणस्थान एव मारणान्तिकं विदधातीति नियमात् षष्ठीतो मध्यलोके पञ्च रज्जवः सासादनो मारणान्तिकं करोति। मध्यलोकाच्च लोकाग्रे बादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवनस्पति[5]कायिकेषु [6]उत्पद्यते इति सप्त रज्जवः। एवं द्वादश रज्जवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टिर्हि वायुकायिकेषु तेजःकायिकेषु नरकेषु सर्वसूक्ष्मकायिकेषु च [7]चतुर्षु स्थानकेषु नोत्पद्यत इति नियमः। तथा चोक्तम्—

"वज्जिअ ठाणचउक्कं तेऊ वाऊ य णरयसुहुमं च।
अण्णत्थ सव्वठाणे उववज्जदि सासणो [8]जीवो॥" [ ]

देशोना इति कथम्? केचित् प्रदेशाः सासादनसम्यग्दर्शनयोग्या न भवन्तीति देशोनाः। एवमुत्तरत्र[9] सर्वत्रापि [10]अस्पर्शनयोग्यापेक्षया देशोनत्वं वेदितव्यम्। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्य असंख्येयभागः, अष्टौ वा चतुर्दशभागा देशोनाः स्पृष्टाः। तत्कथम्? सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्देवैः परस्थानविहारापेक्षया अष्टौ रज्जवः स्पृष्टाः। संयतासंयतैः लोकस्य असंख्येयभागः, षट् चतुर्दशभागा[11] वा देशोनाः। तत्कथम्? संयतासंयतैः स्वयम्भूरमणतिर्यग्भिरुच्चतो मारणान्तिकापेक्षया षट् रज्जवः स्पृष्टाः। प्रमत्तसंयताद्ययोगिकेवल्यन्तानां स्पर्शनं क्षेत्रवत्। तत्कथम्? प्रमत्तादीनां नियतक्षेत्रत्वात् भवान्तरे नियतोत्पादस्थानत्वाच्च समचतुरस्ररज्जुप्रदेशव्याप्त्यभावात् लोकस्यासंख्येयभागः। सयोगकेवलिनां क्षेत्रवत् लोकस्यासंख्येयभागः लोकस्यासंख्येयभागा वा सर्वलोको वा स्पर्शनम्। इति सामान्येन स्पर्शनमुक्तम्।

अथ विशेषेण स्पर्शनमुच्यते। [12]गत्यनुवादेन नरकगतौ प्रथमपृथिव्यां नारकैश्चतुर्गुणस्थानैर्लोकस्य असंख्येयभागः स्पृष्टः। तत्कथम्? सर्वेषां नारकाणां नियमेन संज्ञिपर्याप्तकपञ्चेन्द्रियेषु तिर्यक्षु मनुष्येषु प्रादुर्भावः। तत्र प्रथमपृथिव्याः सन्निहितत्वेन अर्द्धरज्जु-

---

१ षट्खं० फो० १–१०। २–माणरज्जुः आ०, द०, ब०। ३ तल्लक्षणम–ब०। तल्लक्षम–ता०। ४–पि स्व–आ०, द०, ब०। ५ कायेषु द०। ६ उत्पद्यन्ते आ०, द०, ब०। ७ चतुर्थस्थानकेषु आ०, ब०। चतुर्थस्थानेषु द०। ८ "ण हि सासणो अपुण्णे साहारणसुहुमगे य तेउदुगे।" –गो० क० गा० ११५। ९–रमत्र ब०। १० स्पर्शन–ब०। ११ भागा दे–आ०, ब०, व०, द०। १२ षट्खं० फो० ११–५६।

परिमाणाभावात्, [1]तत्रत्यनारकैश्चतुर्गुणस्थानैः लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठभूमीनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एको द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। तत्कथम्? द्वितीयपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधः रज्जुपरिमाणत्वात् एको भागः। तृतीयपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधः द्विरज्जुपरिमाणत्वात् द्वौ भागौ। चतुर्थपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधः त्रिरज्जुपरिमाणत्वात् त्रयो भागाः। पञ्चमपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधः चतूरज्जुपरिमाणत्वात् चत्वारो भागाः। षष्ठपृथिव्यास्तिर्यग्लोकादधः पञ्चरज्जुपरिमाणत्वात् पञ्च भागाः। तत्रत्यमिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्यथासंख्यमेते भागाः स्पृष्टाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां मारणान्तिकोत्पादायुर्बन्धकाले नियमेन तद्गुणस्थानत्यागात् स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः। तेषां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां नियमेन मनुष्येष्वेवोत्पादान्मनुष्याणामल्पक्षेत्रत्वात् सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः, स्वक्षेत्रविहारापेक्षया इत्यर्थः। सप्तम्यां पृथिव्यां मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः षट्चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। असंख्येयभागः स्वस्थानविहारापेक्षया। षट् रज्जवो मारणान्तिकापेक्षया स्पृष्टा इत्यर्थः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिः सप्तमपृथिव्या नारकैः स्वस्थानविहारापेक्षया लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। मारणान्तिकापेक्षयापि एषां स्पर्शनं कस्मान्न प्रतिपादितमिति चेत्? सप्तमपृथिवीनारकाणां मारणान्तिकोत्पादायुर्बन्धकाले नियमेन सासादनादिगुणस्थानत्रयत्यागात् सासादनोऽधो गच्छतीति नियमात्। तिर्यग्गतौ, तिरश्चां मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। तत्कथम्? तिर्यक्सासादनस्य लोकाग्रे बादरपृथिव्यब्वनस्पतिषु मारणान्तिकापेक्षयापि सप्त रज्जवः। सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः। असंयतसम्यग्दृष्टिभिः संयतासंयतैः लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। मनुष्यगतौ मनुष्यैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा स्पृष्टः। तत्कथम्? मारणान्तिकापेक्षया पृथिवीकायिकादिस्तत्रोत्पादापेक्षया वा। यो हि यत्रोत्पद्यते तस्योत्पादावस्थायां तद्व्यपदेशो भवति। सर्वलोकस्पर्शनं च अग्रे सर्वत्रेत्थं द्रष्टव्यम्। सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः सप्त चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगिकेवल्यन्तानां स्पर्शनं क्षेत्रवद्वेदितव्यम्।

देवगतौ देवैर्मिथ्यादृष्टिभिः सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्याऽसंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। तत्कथम्? मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिदेवानां कृततृतीयनरकभूमिविहृतीनां लोकाग्रे बादरपृथिव्यब्वनस्पतिमारणान्तिकापेक्षया नव रज्जवः स्पर्शनम्। एवमुत्तरत्रापि नवरज्जुप्रक्रिर्वेदितव्या। सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः। तत्कथम्? सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्य-

---

१ तत्र ना–आ०, द०, ब०। २ बन्धनका–आ०। ३ मानुष्याणां ता०। ४ सप्तपृ–आ०, द०, ब०। ५-ष्टाः ति–द०, आ०, ब०। ६ विकृतीनाम् आ०, ब०, द०। ७ रज्जवः स–आ०, ब०, द०। रज्जुपृष्ध्विर्वे–ब०।

ग्दृष्टीनाम् एकेन्द्रियेषूत्पादाभावात् परक्षेत्रविहारापेक्षया अष्टरज्जुस्पर्शनं वेदितव्यम् ।

[१]इन्द्रियानुवादेन, एकेन्द्रियैः सर्वलोकः स्पृष्टः । विकलेन्द्रियैर्लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा । तन्मारणान्तिकापेक्षया ज्ञातव्यम् । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्वक्षेत्रविहारापेक्षया स्पृष्टः । परक्षेत्रविहारापेक्षया अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः । मारणान्तिकोत्पादापेक्षया सर्वलोको वा । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादित्रयोदशगुणस्थानानां पञ्चेन्द्रियाणां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[२]कायानुवादेन स्थावरकायिकैः सर्वलोकः स्पृष्टः । त्रसकायिकानां स्पर्शनं पञ्चेन्द्रियवत् ।

[३]योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां [४]मिथ्यादृष्टीनां लोकस्याऽसंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा स्पर्शनम् । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । तत्कथम् ? सयोगकेवलिनां दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणावस्थायां वाङ्मनसवर्गणामवलम्ब्य आत्मप्रदेशपरिस्पन्दाभावात् लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनं वेदितव्यम् । काययोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादित्रयोदशगुणस्थानानामयोगकेवलिनाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[५]वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदैर्मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा । तन्मा[६]रणान्तिकोत्पादापेक्षया ज्ञातव्यम् । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः स्त्रीपुंवेदैः लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । ते तु नवभागास्तृतीयभूमिलोकाग्रोत्पादापेक्षया वेदितव्याः । सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यनिवृत्तिबादरान्तानां स्त्रीपुंवेदैः सामान्योक्तं स्पर्शनं कृतम् । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टीनां सासादनसम्यग्दृष्टीनाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् । सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिर्नपुंसकवेदैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासयतैर्नपुंसकवेदैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । प्रमत्ताद्यनिवृत्तिबादरान्तानामवेदानाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[७]कषायानुवादेन चतुःकषायाणामे[८]ककषायाणामकषायाणाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[९]ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिनां श्रुताज्ञानिनां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनाञ्च[१०] सामान्योक्तं स्पर्शनम् । विभङ्गज्ञानिनां मिथ्यादृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः सर्वलोको वा तन्मारणान्तिकोत्पादापेक्षया । सासादनसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । आभिनिबोधिकादिपञ्चज्ञानिनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[११]संयमानुवादेन पञ्चप्रकारसंयतानां देशसंयतानामसंयतानाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

---

१ षट्खं० फो० ५७–६५ । २ षट्खं० फो० ६६–७३ । ३ षट्खं० फो० ७४–१०१ । ४ मिथ्यादृष्टिभिः ता०, व० । ५ षट्खं फो० १०२–११९ । ६–मारणान्तिकापेक्षया आ०, द०, व० । ७ षट्खं० फो० १२०–१२२ । ८–मेककषायाणां च सा–आ०, द०, ब० । ९ षट्खं० फो० १२३–१३१ । १०–नां सा–ता०, व० । ११ षट्खं० फो० १३२–१३९ ।

[1]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनामादितो द्वादशगुणस्थानानां पञ्चेन्द्रियवत् । तत्कथम् ? पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः [2]स्वक्षेत्रविहारापेक्षया । अष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः परक्षेत्रविहारापेक्षया । सर्वलोको वा मारणान्तिकोत्पादापेक्षया । शेषाणां सामान्योक्तमिति पञ्चेन्द्रियवत् । अचक्षुर्दर्शनिनामादितो द्वादशगुणस्थानानाम[3]वधिकेवलदर्शनिनाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[4]लेश्यानुवादेन सप्तनरकेषु तावत् प्रथमे नरके कापोती लेश्या । द्वितीये च नरके कापोती लेश्या । तृतीये नरके उपरि कापोती, अधो नीला । चतुर्थे नरके नीलैव लेश्या । पञ्चमे नरके उपरि नीला, अधः कृष्णा । षष्ठे नरके कृष्णलेश्या । सप्तमे नरके परमकृष्णलेश्या । तथा चोक्तम्—

"[5]काऊ काऊ य तहा णीला णीला य णीलकिण्हा य ।
किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पढमादिपुढवीसु ॥"

[गो० जी० गा० ५२८]

इति सप्तनरकेषु लेश्याप्रदानम् । तत्र लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिः कृष्णनीलकापोतलेश्यैर्लोकस्यासंख्येयभा[6]गः पञ्च चत्वारो द्वौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः । तत्कथम् ? षष्ठ्यां पृथिव्यां कृ[7]ष्णलेश्यैः सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्मारणान्तिकोत्पादापेक्षया पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः । पञ्चमपृथिव्यां कृष्णलेश्याया अ[8]विवक्षया नीललेश्यैश्चतस्रो रज्जवः स्पृष्टाः । तृतीय-पृथिव्यां नीललेश्याया अविवक्षया कापोतलेश्यैः द्वे रज्जू स्पृष्टे । सप्तमपृथिव्यां यद्यपि कृष्णलेश्या वर्तते तथापि मारणान्तिकावस्थायां सासादनस्य नियमेन मिथ्यात्वग्रहणादिति[9] नोदाहृता । अत्र पञ्च चत्वारो द्वौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः ।

सासादनसम्यग्दृष्टीनामादित्रिलेश्यानां[10] दत्ता द्वादश भागाः कस्मान्न लभ्यन्त इति चेत् ? 'षष्ठीतो मध्यलोकं यावत् पञ्च लोकाग्रं यावत्सप्त इति द्वादशभागाः कुतो न दत्ताः' इति चेत् पृच्छसि ? तत्र षष्ठनरके अवस्थितलेश्यापेक्षया पञ्चैव रज्जवः स्पृष्टा भवन्ति, यतो मध्यलोकादुपरि कृष्णलेश्या नास्ति । "पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु" [त० सू० ४।२२] इति वचनात् । अथवा येषां मते सासादनसम्यग्दृष्टिरेकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादशभागा न दत्ता ।

सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिः कृष्णनीलकापोतलेश्यैर्लोकस्यासंख्येयभागः

---

१ षट्खं० फो० १४०-१४५ । २ स्वक्षेत्रव्यवहा–द० । ३–मवधिदर्शनके–ता०,ब० । ४ षट्खं० फो० १४६–१६४ । ५ कापोती कापोती च तथा नीला नीला च नीलकृष्णा च । कृष्णा च परमकृष्णालेश्या प्रथमादिपृथिवीषु ॥ ६ भागाः आ० । ७ कृष्णनीलैः सा–द० । कृष्णलेश्या सा–आ० । ८ अविवक्षितत्वात् आ०, द०, ब० । ९–दिति कारणात् नो–आ०, ब०, द० । १०–मादितो लेश्यानाम् आ०, ब०, द० ।

स्पृष्टः । तेजोलेश्यैर्मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागोऽष्टौ[1] नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः । तेजोलेश्यैः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागोऽष्टौ[2] नव चतुर्दशभागा वा[3] स्पृष्टाः । तेजोलेश्यैः संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः अष्टौ नव चतुर्दशभागा वा देशोनाः । संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागो [4]अध्यर्धचतुर्दशभागो वा देशोनाः । अस्यायमर्थः–तेजोलेश्यैः संयतासंयतैः प्रथमस्वर्गे[5] मारणान्तिकोत्पादापेक्षया अध्यर्धचतुर्दशभागः [6]सार्धरज्जुः स्पृष्टा । तेजोलेश्यैः प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः[7] । [8]पद्मलेश्यैरादितश्चतुर्गुणस्थानैर्लोकस्यासंख्येयभागोऽष्टौ चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः । पद्मलेश्यैः संयतासंयतैर्लोकस्यासंख्येयभागः पञ्च चतुर्दशभागा वा देशोनाः । तत्कथम् ? पद्मलेश्यैः संयतासंयतैः सहस्रारे मारणान्तिकादिविधानात् पञ्च रज्जवः स्पृष्टाः । पद्मलेश्यैः प्रमत्ताप्रमत्तैर्लोकस्यासंख्येयभागः स्पृष्टः । शुक्ललेश्यैरादितः पञ्चगुणस्थानैर्लोकस्यासंख्येयभागः षट् चतुर्दशभागा वा देशोनाः । तत्कथम् ? शुक्ललेश्यैर्मिथ्यादृष्ट्यादि[9]संयतासंयतान्तैर्मारणान्तिकाद्यपेक्षया । सम्यग्मिथ्यादृष्टिभिस्तु मारणान्तिके तद्गुणस्थानत्यागात् विहारापेक्षया षट् रज्जवः स्पृष्टाः । अष्टावपि कस्मान्न स्पृष्टा इति नाशङ्कनीयम् ? शुक्ललेश्यानामधो विहाराभावात् । तदपि कस्मात् ? यथा कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयापेक्षया अवस्थितलेश्या नारका वर्तन्ते [10]तथा तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रयापेक्षया देवा अपि अवस्थितलेश्या वर्तन्ते ।

"[11]तेऊ तेऊ य तहा तेऊ पउमा य पउमसुक्का य ।
सुक्का य परमसुक्का लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥१॥"

[गो० जी० गा० ५३४]

[12]अस्यायमर्थः—भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु जघन्या तेजोलेश्या । सौधर्मैशानयोः मध्यमा तेजोलेश्या । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कृष्टा तेजोलेश्या ? जघन्यपद्मलेश्याया अविवक्षया । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रेषु[13] मध्यमा पद्मलेश्या जघन्यशुक्लेश्याया अविवक्षया । शतारसहस्रारयोर्जघन्या शुक्लेश्या उत्कृष्टपद्मलेश्याया अविवक्षितत्वात् । आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकेषु मध्यमा शुक्लेश्या । नवानुदिशपञ्चानुत्तरेषु उत्कृष्टा शुक्लेश्या । तथा चोक्तम्—

१–ष्टौ च–आ०, द०, व०, ज० । २–ष्टौ च–आ०, द०, व० । ३ वा देशोनाः व० । ४ "दिवड्ढ चोद्दसभागा वा देसूणा"–षट्खं० फो० १५५ । ५–स्वर्गमा–आ०, व०, द० । स्वर्गः व० । ६ सा अर्ध–आ०, द०, व० । ७ भागः स्पृष्टः । ८ पद्मलेश्यैः मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तैः लोक–द० । ९–दिसंयतान्तैः द०, व०, आ०, व० । १० तथा पद्म–आ०, व० । तथा पीतपद्म–द० । ११ "तेऊ तेऊ तेऊ पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य । सुक्का य परमसुक्का भवणतिया पुण्णगे असुहा ।"–गो० जी० गा० ५३४ । तेजस्तेजश्च तथा तेजः पद्मा च पद्मशुक्ला च । शुक्ला च परमशुक्ला लेश्या भवनादिदेवानाम् ॥ १२ अस्य गाथासूत्रस्य अयमर्थः । अयमर्थः ज० । १३–कापिष्ठशुक्रमहाशुक्रेषु–व०, द० ।

"[1]तिण्हं दोण्हं दुण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च ।
एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥ १ ॥"

[गो० जी० गा० ५३३]

ततोऽन्यत्र तिर्य्यङ्मनुष्येषु लेश्यानियमाभावः ।

प्रमत्तादिसयोगकेवल्यन्तानामलेश्यानाञ्च सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[2]भव्यानुवादेन भव्यानां सर्वगुणस्थानानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । अभव्यैः सर्वलोकः स्पृष्टः ।

[3]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकस[4]द्दृष्टीनामेकादशगुणस्थानानां सामान्योक्तं स्पर्शनमेव वर्तते, किन्तु देशसंयतानां क्षायिकसद्दृष्टीनां लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनम् । क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तानां देशसंयतानां षडपि रज्जवः कुतो नेति नाशङ्कनीयम्? तेषां नियतक्षेत्रत्वात् । कर्म्मभूमिजो हि मनुष्यः सप्तप्रकृतिक्षयप्रारम्भको भवति । क्षायिकसम्यक्त्वलाभात् पूर्वमेव तिर्यक्षु बद्धायुष्कस्तु संयतासंयतत्वं न लभते ।

"अणुव्वयमहव्वयाइं ण [5]लभइ देवाउगं मोत्तुं"

[गो० कर्म० गा० ३३४]

इत्यभिधानात् तिर्यगल्पतरस्थितिं परिहर्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । वेदकसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । औपशमिकयुक्तानामसंयतसम्यग्दृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । देशसंयतादीनामौपशमिकसम्यक्त्वयुक्तानां लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनम् । औपशमिकसम्यक्त्वयुक्तानां देशसंयतानां कुतो लोकस्यासंख्येयभाग इति[6] यदि पृच्छसि? [7]मनुजेष्वेतत्सम्भवात् । वेदकपूर्वकौपशमिकयुक्तो हि श्रेण्यारोहणं विधाय मारणान्तिकं करोति, मिथ्यात्वपूर्वकौपशमिकयुक्तानां मारणान्तिकासम्भवात् लोकस्यासंख्येयभागः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[8]संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत् । असंज्ञिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । ये तु न संज्ञिनः नाप्यसंज्ञिनस्तेषां सामान्योक्तं स्पर्शनम् ।

[9]आहारानुवादेन आहारकाणामादितो द्वादशगुणस्थानानां सामान्योक्तं स्पर्शनम् । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः । तत्कथम्? आहारकावस्थायां समचतुरस्ररज्ज्वादिव्याप्तेरभावात् । दण्डकपाटावस्थायां कपाटप्रतरावस्थायाञ्च सयोगकेवली औदारिकौदारिकमिश्रशरीरयोग्यपुद्गलादानादाहारकः । तथा चोक्तम्—

१ त्रयाणां द्वयोः द्वयोः षण्णां द्वयोः त्रयोदशानाञ्च । एतस्माच्चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानाम् ॥ २ षट्खं० फो० १६५, १६६ । ३ षट्खं० फो० १६७–१७६ । ४–सम्यग्दृष्टीनाम् द०, ब० । ५ लहइ आ०, ब०, द०, ब० । अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुर्मुक्त्वा । ६–ति चेत् पृ–आ०, ब०, द०, ज० । ७ मनुष्येष्वे–आ०, ब०, द०, ज० । ८ षट्खं० फो० १७७-१८० । ९ षट्खं० फो० १८१-१८५ ।

"दंडजुगे ओरालं कवाटजुगले य पंदर[1]संवरणे ।
मिस्सोरालं भणियं सेसतिए जाण कम्मइयम् ॥ १ ॥"

[पञ्चसं० १।१९९]

दण्डकपाटयोश्च पिण्डिते अल्पक्षेत्रतया समचतुरस्ररज्ज्वादिव्याप्तेरभावात् सिद्धो लोकस्यासंख्येयभागः । अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिभिः सर्वलोकः स्पृष्टः । सासादनसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः एकादश चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः । तत्कथम् ? अनाहारकेषु सासादनस्य षष्ठपृथिवीतो निःसृत्य तिर्यग्लोके प्रादुर्भावात् पञ्च रज्जवः, अच्युतादागत्य तिर्यग्लोके प्रादुर्भावात् षडित्येकादश । ननु पूर्वं द्वादशोक्ता इदानीं त्वेकादशेति पूर्वापरविरोध इति चेत् ; न; मारणान्तिकापेक्षया पूर्वं तथाभिधानात् । न च मारणान्तिकावस्थायामनाहारकत्वं किन्तूत्पादावस्थायाम् । सासादनश्च मारणान्तिकमेवैकेन्द्रियेषु करोति नोत्पादम्, उत्पादावस्थायां सासादनत्वत्यागात् । अनाहारकेषु असंयतसम्यग्दृष्टिभिर्लोकस्यासंख्येयभागः षट्चतुर्दशभागा वा देशोनाः स्पृष्टाः । सयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः सर्वलोको वा । अयोगकेवलिनां लोकस्यासंख्येयभागः स्पर्शनम् । इति स्पर्शनव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ कालस्वरूपं निरूप्यते[2] । स काल[3]ः सामान्यविशेषभेदात् द्विप्रकारः । सामान्यतस्तावत् मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवापेक्षया त्रयो भङ्गा[4]ः । ते के ? अनाद्यनन्तः [5]कस्यचित्, [6]कस्यचिदनादिसान्तः, [7]कस्यचित्सादिसान्तः । स तु सादिसान्तो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । अन्तर्मुहूर्त्त इति कोऽर्थः ? त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि त्र्यधिकसप्ततिरुच्छ्वासाः मुहूर्त्तः कथ्यते ॥ ३७७३ ॥ तस्यान्तरन्तर्मुहूर्त्तः । [8]समयाधिकामावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्त्तं यावत् । स च अन्तर्मुहूर्त्त इत्थमसंख्यातभेदो भवति । तथा चोक्तम्–

"तिण्णि सहस्सा सत्त य सदाणि तेहत्तरिं च उस्सासा ।
[9]एसो भवदि मुहुत्तो सव्वेसिं चेव मणुयाणं[10] ॥ १ ॥" [ ]

उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तो[11] देशोनः ।

सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण पल्योपमाऽसंख्येयभागः । [12]एकजीवं प्रति जघन्येनैकः[13] समयः । उत्कर्षेण [14]षडावलिकाः । आवलिका च असंख्यातसमयलक्षणा भवति । तथा चोक्तम्—[15]

---

१ परदसं–ता० । पयरसं०–व० । दण्डयुगे औदारिकं कपाटयुगले च प्रतरसंवरणे । मिश्रौदारं भणितं शेषत्रये जानीहि कार्मणम् ॥ २–ते कालः आ०, ब०, द०, ज० । ३ षट्खं० का० १–३२ । ४ भागाः ज० । ५ अभव्यस्य । ६ भव्यस्य । ७ सादिमिथ्यादृष्टेः पुनरुत्पन्नसम्यग्दर्शनस्य । ८ समयाधिकानामावलि–आ०, द०, ब० । ९ एसे ता० । १० मणुयाणां ता० । त्रीणि सहस्राणि सप्त च शतानि त्रिसप्ततिश्च उच्छ्वासाः । एतत् भवति मुहूर्त्तं सर्वेषाञ्चैव मनुजानाम् ॥ ११–वर्तो सा–द०, ब० । १२ एकं जीवं आ०, ब०, ज० । १३–नैकस–आ०, ब०, द०, व०, ज० १४ साधिकषडावलिकालशेषे सासादनगुणस्थानप्राप्त्यभावनियमात् । द्रष्टव्यम्–ध० टी० का० पृ० ३४२ । १५ गो० जीव० गा० ५७३-५७४ ।

"आवलि असंखसमया [1]संखेज्जावलिसमूह उस्सासो ।
सत्तुस्सासो थोओ सत्तत्थोवो लवो भणिओ ॥ १ ॥
अट्ठत्तीसद्धलवा नाली दोनालिया मुहुत्तं तु ।
समऊणं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥"

[जम्बू० प० १३।५, ६]

सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण पल्योपमासङ्ख्येयभागः । एकं जीवं प्रति जघन्योत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तकालः । अस्यायमर्थः– सम्यग्मिथ्यादृष्ट्येकजीवं प्रति [2]जघन्येन [3]जघन्यान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण च [4]उत्कृष्टोऽन्तर्मुहूर्तः ।

असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया [5]सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि सातिरेकाणि । [6]तत्कथम् ? कश्चिज्जीवः पूर्वकोट्यायुरुत्पन्नः सान्तर्मुहूर्ताष्टवर्षानन्तरं सम्यक्त्वमादाय तपोविशेषं विधाय सर्वार्थसिद्धावुत्पद्यते । ततश्च्युत्वा पूर्वकोट्यायुरुत्पन्नोऽष्टवर्षानन्तरं संयमम[7]ादाय निर्वाणं गच्छति ।

देशसंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना[9] ।

प्रमत्ताप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । तत्कथम् ? सर्वो जीवः परिणामविशेषवशात् प्रथमतोऽप्रमत्तगुणस्थानं प्रतिपद्यते, पश्चात् तत्प्रतिपक्षभूतप्रमत्तगुणस्थानान्तरस्थितो निजायुःसमयशेषेऽप्रमत्तगुणं[10] प्रतिपद्य म्रियते इति

---

१ असंखे–ज० । आवलिः असंख्यसमया संख्यातावलिसमूह उच्छ्वासः । सप्तोश्वासाः स्तोकः, सप्तस्तोकाः लवो भणितः ॥ अष्टत्रिंशदर्धलवाः नाली द्वे नालिके मुहूर्त्तं तु । समयोनं तत् भिन्नमन्तर्मुहूर्त्तमनेकविधम् ॥ २ प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः द० । प्रति जघन्येन जघन्यमु–ज० । ३ जघन्योऽन्त–ब० । ४ उत्कृष्टान्त–ब०, ता० । ५ सर्वका–आ०, ब०, व०, ज० । ६ "तं कधं ? एक्को पमत्तो अप्पमत्तो वा चदुण्हमुवसामगाणमेक्कदरो वा समऊणतेत्तीससागरोवमाउट्ठिदिएसु अणुत्तरविमाणवासियदेवेसु उववण्णो । सा संजमसम्मत्तस्स आदी जादो । तदो चुदो पुव्वकोडाउएसु मणुसेसु उववण्णो । तत्थ असंजदसम्मादिट्ठी होदूण तावट्ठिदो जाव अंतोमुहुत्तमेत्ताउअं सेसं ति । तदो अप्पमत्तभावेण संजमं वडिवण्णो । (१) तदो पमत्तापमत्तपरावत्तसहस्सं कादूण (२)खवगसेढिपाओग्गविसोहीए विसुद्धो अप्पमत्तो जादो । (३) अपुव्वखवगो (४) अणियट्टिखवगो (५) सुहुमखवगो (६) खीणकसाओ (७) सजोगी (८) अजोगी (९) होदूण सिद्धो जादो । एदेहि णवहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणपुव्वकोडीए अदिरित्ताणि समऊणतेत्तीससागरोवमाणि असंजदसम्मादिट्ठिस्स उक्कस्सकालो होदि ।" –ध० टी० का० पृ० ३४७ । ७–माददाति ता० । ८–र्वः काल उ–आ० । ९ "एवमादिल्लेहिं तीहिं अंतोमुहुत्तेहिं ऊणा पुव्वकोडी संजमासंजमकालो होदि ।" –ध० टी० का० पृ० ३५० । १० गुणस्थानं प्र–ज० ।

अप्रमत्तैकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। तथा अप्रमत्तस्थाने स्थितो निजायुःकालान्तसमये प्रमत्तगुणस्थानं प्रतिपद्य म्रियते इति प्रमत्तैकजीवं प्रत्यपि जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः।

चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया[1] च जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। तत्कथम्? चतुर्णामुपशमकानां चतुःपञ्चाशत् यावत् यथासम्भवं भवन्तो [2]युगपदपि प्रवेशे मरणासम्भवात् नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकसमयः। नन्वेवं मिथ्यादृष्टेरप्येकसमयः कस्मान्न सम्भवतीत्यनुपपन्नम्; कोऽर्थः? मिथ्यादृष्टेरेकसमयः कालो न घटते इत्यर्थः। कस्मात्? प्रतिपन्नमिथ्यात्वस्य अन्तर्मुहूर्तमध्ये मरणासम्भवात्। तदुक्तम्–

"मिथ्यात्वं दर्शनात् प्राप्ते[3] नास्त्यनन्तानुबन्धिनाम्।
यावदावलिकां पाकान्तर्मुहूर्ते मृतिर्न च ॥ १ ॥" [ ]

सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परिमरणकाले तद्गुणस्थानत्यागान्नैकः समयः सम्भवति इति प्रतिपन्नासंयतसंयतासंयतगुणोऽपि अन्तर्मुहूर्तमध्ये न म्रियते। अतोऽसंयतसंयतासंयतयोरपि एकः समयो न भवति।

चतुर्णां क्षपकाणामयोगकेवलिनाञ्च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्च उत्कृष्टश्च कालोऽन्तर्मुहूर्तः। तत् कथम्? चतुर्णां क्षपकाणामपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायाणामयोगकेवलिनाञ्च मोक्षगामित्वेन[4] अन्तरे मरणासम्भवात् नानैकजीवापेक्षया जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः[5] कालः।

सयोगिकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः, एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः[6]। कुतः? सयोगिकेवलिगुणस्थानानन्तरमन्तर्मुहूर्तमध्ये अयोगिकेवलिगुणस्थानप्राप्तेः उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना[7]। कुतः? अष्टवर्षानन्तरं तपो गृहीत्वा केवलमुत्पादयतीति कियद्वर्षहीनत्वात् पूर्वकोटी वेदितव्या।

विशेषेण [8]गत्यनुवादेन नरकगतौ [9]नारकेषु सप्तसु[10] भूमिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः कालः, पश्चात् मिथ्यादृष्टिगुणस्थानत्याग[11]सम्भवात्। उत्कर्षेण प्रथमभूम्यादिषु यथासङ्ख्यमेकः सागरः, त्रयः सागराः, सप्त सागराः, दश सागराः, सप्तदश सागराः, द्वाविंशति सागराः त्रयस्त्रिंशत्सागराश्चेति। सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एक-

---

१–या ज–द०, आ०, ज०। २ युगपदेकस्मिन्नपि प्रदेशे आ०, ब०, व०, ज०, द०। ३ प्राप्तेर्ना–व०। ४–न च अ–आ०, ब०, व०, ज०, द०। ५–र्तका–आ०, ब०, व०, द०, ज०। ६ र्तः कालः कु–आ०। ७ 'अट्ठहि वस्सेहि अट्ठहि अंतोमुहुत्तेहि य ऊणपुव्वकोडी सजोगकेवलिकालो होदि।"–ध० टी० का० पृ० ३५७। ८ षट्खं० का० २३–१०६। ९ नरकेषु आ०, द०, ब०, ज०। १० सप्तभू–आ०। ११–न त्यागासं–ब०। –नर्योगसं–ता०।

जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कृष्टो देशोनः [1]अन्तर्मुहूर्तः (?)। कस्मात्? देशोनादन्तर्मुहूर्तात् परं तद्गुणस्थानत्यागात्।

तिर्य्यग्गतौ तिरश्चां मिथ्यादृष्टीनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण [2]अनन्तः कालः। असङ्ख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः[3]। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासयतानां सामान्योक्तः कालः। असंयतसम्यग्दृष्टेस्तिरश्चः नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवं तिर्य्यञ्चं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि। कथमिति चेत्? उच्यते–तिर्य्यगसंयतसम्यग्दृष्ट्येकजीवं प्रति उत्कर्षेण दर्शनमोहक्षपकवेदकापेक्षया [4]त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकानि, सप्तचत्वारिंशत्पूर्वकोटिभिरभ्यधिकानीत्यर्थः। तथा हि–पुंनपुंसकस्त्रीवेदेन अष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषा [5]उत्पद्य अवान्तरे अपर्याप्तमनुष्यक्षुद्रभवेन अष्टौ वारान् उत्पद्यते। पुनरपि [6]नपुंसकस्त्रीवेदेन अष्टावष्टौ पुंवेदेन सप्तेति। ततो भोगभूमौ त्रिपल्योपमायुषि भोगभूमिजानां नियमेन देवेषु उत्पादात् पश्चात् गत्यतिक्रमः[7]। पूर्वकोटिपृथक्त्वाधिक्यं देवगतिग्रहणेन[8] पूर्यत इति वेदितव्यम्।

मनुष्यगतौ मनुष्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः। एकं जीवं प्रति जघन्येनैकः समयः, उत्कर्षेण षडावलिकाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्यश्चोत्कृष्टश्च कालोऽन्तर्मुहूर्तः। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि सातिरेकाणि। तत्कथम्? कर्म्मभूमिजो हि मनुष्यः क्षायिकसम्यक्त्वयुक्तो दर्शनमोहक्षपकवेदकयुक्तो[9] वा भोगभूमिजमनुष्येषूत्पद्यते इति [ततः] मनुष्यगतिपरित्यागात् [10]सातिरेकाणि पश्चाद्गत्यतिक्रमः। देशसंयतादीनां दशानां गुणस्थानानां सामान्योक्तः कालः।

---

१ नारकेषु सम्यग्दृष्टेरयं कालः चिन्त्यः। यतः षट्खण्डागमादिषु तस्येत्थं निरूपणम्—"उक्कस्सं सागरोपमं तिण्णि सत्त दस सत्तारस बावीस तेत्तीसं सागरोवमाणि देसूणाणि।" ४६।......"एवं तीहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणा अप्पप्पणो उक्कस्साउट्ठिदी असंजदसम्मादिट्ठिउक्कस्सकालो होदि। णवरि सत्तमाए छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणा उक्कस्सट्ठिदित्ति वत्तव्वं।" –षट्खं०, ध० टी० का० पृ० ३६२। "उत्कर्षेण उक्त एवोत्कृष्टो देशोनः।"–स० सि० पृ० २२। २ अनन्तकालः आ०, द०, ब०, ब०। ३ परावर्ताः ज०। ४ अयं कालः त्रिविधपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चमिथ्यादृष्टेर्भाति। यथा–"उक्कस्सं तिण्णि पलिदोवमाणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि।" –षट्खं० का० ५९। ५ उत्पद्यते आ०। ६ नपुंसकस्त्रीवेदे आ०, द०, ब०। नपुंसकवेदे ज०। ७–विक्रमः आ०, द०, ब०, ज०। ८ ग्रहणेन वेदि–आ०, द०, ब०, ज०। ग्रहणेन पूर्वतः वेदि–ब०। ९ क्षपकयुक्तः आ०, द०, ब०, ज०। १० "तिण्णि पलिदोवमाणमुवरि देसूणपुव्वकोडितिभागुवलंभा।"–ध० टी० का० पृ० ३७८।

देवगतौ देवेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्पन्नमात्रापेक्षया, अन्तर्मुहूर्तानन्तरं सद्दृष्टिर्भवति यतः । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमानि [2]नवमग्रैवेयकेऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति यतः । सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च[3] सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि ।

[4]इन्द्रियानुवादेन, एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । तत्कीदृशमिति चेत् ? उक्तलक्षणमुहूर्त्तमध्ये तावदेकेन्द्रियो भूत्वा कश्चिज्जीवः षट्षष्टिसहस्रद्वात्रिंशदधिकशतपरिमाणानि ६६१३२ जन्ममरणानि अनुभवति, तथा स एव जीवः तस्यैव मुहूर्तस्य मध्ये द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियो भूत्वा यथासंख्यमशीति-षष्टि-चत्वारिंशत्-चतुर्विंशतिजन्ममरणान्यनुभवति । सर्वेऽप्येते समुदिताः क्षुद्रभवा एतावन्त एव भवन्ति-६६३३६ । उक्तञ्च-

"[5]तिण्णि सया छत्तीसा छावट्ठि सहस्स जम्ममरणानि ।
एवदिया खुद्दभवा हवंति अंतोमुहुत्तस्स ॥ १ ॥
वियलिंदिएसु सीदिं सट्ठिं चालीसमेव जाणाहि ।
पंचेंदियचउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २ ॥" [ ]

यदा चैवान्तर्मुहूर्तस्य[6] मध्ये एतावन्ति जन्ममरणानि भवन्ति तदैकस्मिन्नुच्छ्वासे अष्टादश जन्ममरणानि लभ्यन्ते । तत्रैकस्य क्षुद्रभवसंज्ञा । उत्कर्षेण अनन्तकालोऽसङ्ख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः । तत्कथम् ? उत्कर्षेण अनन्तकालः असंख्यातपुद्गलपरिवर्तनलक्षणो निरन्तरमेकेन्द्रियत्वेनैव [7]मृत्वा मृत्वा पुनर्भवनात्, ततो विकलेन्द्रियः पञ्चेन्द्रियो वा भवति । विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि । पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम् । तत्कथम् ? पञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टयेकजीवं प्रति उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैः षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिकमित्यर्थः । तथा हि- नपुंसकस्त्रीपुंवेदे हि संज्ञित्वेन अष्टावष्टौ वारान् पूर्वकोट्यायुषा समुत्पद्यते । [8]तथैव [9]चासञ्ज्ञिकत्वे एवमष्टचत्वारिंशद्वाराः । अवान्तरे अन्तर्मुहूर्त-

---

१ सम्यग्दृष्टिर्भ-आ०, ब०, द०, ज० । २ नवग्रैवेयकेषु क-आ०, द०, ब०, ज० । ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्च आ०, ज० । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः द०, ब०, व० । ४ षट्खं० का० १०७-१३८ । ५ गो० जी० गा- १२२-१२३ । कल्याणा० गा० ५, ६ । त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् षट्षष्टिसहस्रजन्ममरणानि । एतावन्तः क्षुद्रभवा भवन्ति अन्तर्मुहूर्त्तस्य ॥ विकलेन्द्रियेष्वशीतिं षष्टिं चत्वारिंशदेव जानीहि । पञ्चेन्द्रियचतुर्विंशतिं क्षुद्रभवानन्तर्मुहूर्त्तस्य ॥ ६ चैव आ०, ब०, द०, ज० । चैवं मुहू-ता० । ७ मृत्वा पुनर्भवात् आ०, द०, ब०, ज० । ८ यथैव आ०, ब०, ज० । ९ चासंज्ञित्वे ब० । च संज्ञिकत्वे ज० ।

मध्ये पञ्चेन्द्रिये क्षुद्रभवेन अष्टौ वारान्, पुनरपि द्वितीयवारं नपुंसकस्त्रीपुंवेदे[1] सञ्ज्ञित्वा-सञ्ज्ञित्वाभ्यामष्टचत्वारिंशत् पूर्वकोटयो भवन्ति। एवं षण्णवति कोटयः। पञ्चेन्द्रियसासादनादीनां सामान्योक्तः कालो वेदितव्यः।

[2]कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण [3]असङ्ख्येया लोकाः। वनस्पतिकायिकानाम् एकेन्द्रियवत्॥ ६६१३२॥ त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः, उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिके। सासादनादीनां पञ्चेन्द्रियवत् कालो वेदितव्यः।

[4]योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। तत्कथम्? वाङ्मनसयोगिषु मिथ्यादृष्ट्यादीनां षण्णां [6]योगपरावर्त्तगुणस्थानपरावर्त्तापेक्षया जघन्येनैकसमयः। तथा हि–अविवक्षितत्वादिगुणस्थानकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसङ्क्रमणं योगपरावर्त्तः। गुणान्तरयुक्तवाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये मिथ्यात्वादिगुणसङ्क्रमो गुणपरावर्त्तः। तदपेक्षया वा एकः समयः। उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्त्तः। तत्कथम्? योगकालं यावदित्यर्थः, पश्चात्तेषां योगान्तरसङ्क्रमः। सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः।

सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। तत्कथम्? सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया योगगुणपरावर्तनमपेक्ष्य जघन्येनैकसमयः। तथा हि–केषाञ्चित् गुणान्तरयुक्तवाङ्मनसान्यतरयोगकालान्त्यसमये यदा सम्यग्मिथ्यात्वसङ्क्रमणं तदैव अन्येषां योगान्तरानुभूतम्, सम्यग्मिथ्यात्वकालान्त्यसमये वाङ्मनसान्यतरयोगसङ्क्रम इति कारणादेकः समयः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया उत्कर्षेण पल्योपमासङ्ख्येयभागः। एकं जीवं प्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्जघन्येनोत्कर्षेण[7] च अन्तर्मुहूर्त्तः।

चतुर्णामुपशमकानां क्षपकाणाञ्च नानाजीवापक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकसमयः योगगुणपरावर्त्तनापेक्षया पूर्ववत्। उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः। काययोगिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां जघन्योत्कृष्टः कालो मनोयोगिवत्। अयोगानां सामान्यवत्।

वेदानुवादेन[8] स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति

---

१ वेदसंज्ञित्वाभ्याम् आ०, द०, ब०, ज०। २ षट्खं० का० १३९–१६१। ३ असङ्ख्येयकालः ब०। असङ्ख्येयलोकः आ०, ब०, ज०, द०। ४ षट्खं० का० १६२–२२६। ५–दृष्ट्यसंयतासंयत-आ०। –दृष्टिसंयतासंयत–ज०। ६ "एत्थ ताव जोगपरावत्ति-गुणपरावत्ति-मरणवाघादेहि मिच्छत्तगुणट्ठाणस्स एगसमओ परूविज्जदे।"–ध० टी० का० पृ० ४०९। ७ "एगजीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं।" –षट्खं० का० १६८,१६९। स० सि० पृ० २४। ८ षट्खं० का० २२७–२४९।

जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। तत्कथम्? एकजीवस्य मिथ्यात्वयुक्तः स्त्रीवेदकालः जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः, ततो गुणान्तरसङ्क्रम इत्यर्थः। उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम्। तत्कथम्? स्त्रीवेदयुक्तो मिथ्यादृष्टिर्देवेष्वायुर्बध्नाति, ततस्तिर्यङ्मनुष्येषु नारकसम्मूर्च्छनवर्जं तावत् पल्योपमशतपृथक्त्वम्, ततो वेदपरित्यागः। सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः, किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः, उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि देशोनानि। देशोनानि कथमिति चेत्? स्त्रीवेदासंयतैकजीवं प्रति उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि, गृहीतसम्यक्त्वस्य [1]स्त्रीवेदेनोत्पादाभावात्, पर्याप्तः सन् सम्यक्त्वं गृहीष्यतीति पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्त्तहीनत्वात् देशोनानि तानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि स्त्रीवेदे षोडशे[2] स्वर्गे सम्भवन्तीति वेदितव्यम्। पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम्। सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्योक्तः कालः। नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेणानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः। सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानां सामान्यवत्। किन्त्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि देशोनानि। तत्कथम्? कश्चिज्जीवः सप्तमनरके पतितः, तत्र नपुंसकः सन्नुत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुरुत्पद्यते, स पर्याप्तः सन् सम्यक्त्वं गृहीष्यतीति कियत्कालं विश्रम्य विशुद्धो भूत्वा सम्यक्त्वं गृह्णाति, अन्ते त्यजति चेति देशोनानि[3]। अपगतवेदानां सामान्यवत्।

कषायानुवादेन[4] चतुष्कषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां मनोयोगिवत् जघन्येनैकसमयः, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्त्त इत्यर्थः। स तु कालः एकं जीवं प्रति काषायगुणपरावर्त्तापेक्षया ज्ञातव्यः। द्वयोरुपशमकयोर्द्वयोः क्षपकयोः केवललोभस्य वाऽकषायाणाञ्च सामान्योक्तः कालः।

[5]ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानिषु मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्ट्योः सामान्यवत् कालः। [6]विभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः, उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि [7]देशोनानि। देशोनानीति कथम्? विभङ्गज्ञानिमिथ्यादृष्ट्येकजीवं प्रति उत्कर्षेण नारकापेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि, पर्याप्तश्च विभङ्गज्ञानं प्रतिपद्यत इति पर्य्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्त्तहीनत्वात् देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टेः सामान्योक्तः कालः। आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्य्ययज्ञानिनां केवलज्ञानिनाञ्च सामान्योक्तः कालः।

---

१ स्त्रीवेदोत्पा–आ०, द०, ब०, ज०। २ षोडशस्व–आ०, ब०, द०, व०, ज०। ३ "छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणतेत्तीससागरोवलंभा।" –ध० टी० का० पृ० ४४३। ४ षट्खं० का० २५०–२५९। ५ षट्खं० का० २६०–२६८। ६ विभंगाज्ञा–ता०, आ०, ब०, व०, ज०। ७ "एवमंतोमुहुत्तूण तेत्तीससागरोवमाणि विभंगणाणस्स उक्कस्सकालो होदि।" –ध० टी० का० पृ० ४५०।

[1]संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापना[2]परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परराययथाख्यातसंयतानां संयतासंयतानामसंयतानाञ्च चतुर्णां सामान्योक्तः कालः ।

[3]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः, एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामेकादशानां सामान्योक्तः कालः । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादीनां द्वादशानां सामान्योक्तः कालः । अवधिकेवलिदर्शनिनोरवधिज्ञानिकेवलज्ञानिवत् ।

लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यासु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः[4] । स तु कालः तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया तेषामेव लेश्यापरावर्तसम्भवात् । एवं सर्वत्र च लेश्यायुक्तस्यान्तर्मुहूर्तस्तिर्यग्मनुष्यापेक्षया वेदितव्यः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि सप्तदशसागरोपमानि सप्तसागरोपमानि [5]सातिरेकाणि । तत्कथम् ? नारकापेक्षया यथासङ्ख्यं सप्तपञ्चमतृतीयपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमानि । देवनारकाणामवस्थितलेश्यत्वात् व्रजन् नियमेन तल्लेश्यायुक्तो व्रजति आगच्छतो नियमो नास्तीति सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमानि [6]देशोनानि । तत्कथम् ? उक्तलेश्यायुक्ताऽसंयतसम्यग्दृष्टयेकजीवं प्रति उत्कर्षेण नारकापेक्षया उक्तान्येव सागरोपमानि, पर्याप्तिसमापकान्तर्मुहूर्ते सप्तम्यां मारणान्तिके च सम्यक्त्वाभावात् देशोनानि । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश[7] च सागरोपमानि [8]सातिरेकाणि । कथमेतत् ? तेजःपद्म-

---

१ षट्खं० का० २६९–२७५ । २–स्थापन–ता०, व०, द० । षट्खं० का० २७६–२८२ । ३ षट्खं० का० २८३–३०८ । ४–र्मुहूर्तः कालः स तु ति–आ० । ५ "एवं दोहि अंतोमुहुत्तेहि सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि किण्हलेस्साए उक्कस्सकालो होदि । एवं दोहि अंतोमुहुत्तेहि सादिरेयाणि सत्तारस सागरोवमाणि णीललेस्साए उक्कस्सकालो होदि । ...... एवं दोहि अंतोमुहुत्तेहि सादिरेयाणि सत्त सागरोवमाणि काउलेस्साए उक्कस्सकालो होदि ।" –ध० टी० का० पृ० ४५७, ४५८ । ६ "एवं छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि किण्हलेस्साए उक्कस्सकालो होदि । ......पच्छिल्लमंतोमुहुत्तं पुव्विल्लतिसु अंतोमुहुत्तेसु सोहिय सुद्धसेसेण ऊणाणि सत्तारस सागरोवमाणि असंजदसम्मादिट्ठिस्स णीललेस्साए उक्कस्सकालो होदि । ......पच्छिल्लं अंतोमुहुत्तं पुव्विल्लतिसु अंतोमुहुत्तेसु सोहिय सुद्धसेसेण ऊणाणि सत्तसागरोवमाणि काउलेस्साए उक्कस्सकालो होदि ।" –ध० टी० का० पृ० ४६०–४६२ । ७–श सा–आ०, द०, व०, ज० । ८ "लद्धा सगट्ठिदी पुव्विल्लंतो मुहुत्तेण अब्भहिया ।...... लद्धाणि अंतोमुहुत्तूणअड्ढाइज्ज सागरोवमाणि संपुण्णानि ।......तत्थ अट्ठारह सागरोवमाणि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेणब्भहियाणि जीविदूण चुदस्स णट्ठा पम्मलेस्सा । ......लद्धाणि अंतोमुहुत्तूणद्धसागरोवमेण अहियाणि अट्ठारस सागरोवमाणि ।" –ध० टी० का० पृ० ४६३–४६५ ।

लेश्यामिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्येकजीवं प्रति उत्कर्षेण प्रथमस्वर्गपटलापेक्षया द्वे सागरोपमे । द्वादशस्वर्गपटलापेक्षया अष्टादशसागरोपमानि च, तल्लेश्यायुक्तानां मारणान्तिकोत्पादसम्भवात् सातिरेकतत्सागरोपमयुक्तत्वाच्च सातिरेकाणि किञ्चिदधिकानीत्यर्थः । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योः सामान्योक्तः कालः । संयताऽसंयतप्रमत्ताप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तः । शुक्ललेश्यानां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमानि सातिरेकाणि । तत्कथम् ? शुक्ललेश्यमिथ्यादृष्ट्येकजीवं प्रति उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमानि, ग्रैवेयकदेवापेक्षया तेषां मारणान्तिकोत्पादावस्थायामपि शुक्ललेश्यासम्भवात् [1]सातिरेकाणि । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तानामलेश्यानाञ्च सामान्योक्तः कालः । किन्तु संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः । कथमेतत् ? संयतासंयतशुक्ललेश्यैकजीवं प्रति गुणलेश्यापरावर्त्तापेक्षेतराभ्यां जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः ।

[2]भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वकालः । एकजीवापेक्षया द्वौ भङ्गौ अनादिः सपर्य्यवसानः, सादिपर्य्यवसानश्च । तत्र [3]सादिपर्य्यवसानः जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण अर्धपुद्गलपरिवर्त्तो [4]देशोनः । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः कालः । अभव्यानामनादिरपर्यवसानः । अयं तु तृतीयो भङ्गः ।

[5]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्योक्तः । क्षयोपशमसम्यग्दृष्टीनां चतुर्णां सामान्योक्तः कालः । के ते चत्वारः ? असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसंयताश्चेति । औपशमिकसम्यक्त्वेषु असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमासङ्ख्येयभागः । एकं जीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । प्रमत्ताप्रमत्तयोश्चतुर्णामुपशमकानाञ्च नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तः । सासादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिमिथ्यादृष्टीनाञ्च सामान्योक्तः कालः ।

[6]सञ्ज्ञ्यनुवादेन सञ्ज्ञिषु मिथ्यादृष्ट्यादिनवगुणस्थानानां पुंवेदवत् । शेषाणां सामान्योक्तः कालः । असञ्ज्ञिनां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम् । उत्कर्षेण अनन्तः कालः, असङ्ख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः । ये तु न सञ्ज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनस्तेषां सामान्योक्तः कालः ।

[7]आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति

---

१ "एवं पढमिल्लंतोमुहुत्तेण सादिरेगएक्कत्तीस सागरोवममेत्तोच्चि मिच्छत्तसहिदसुक्कलेस्सुक्कस्सकालो होदि ।" -ध० टी० का० पृ० ४७२ । २ षट्खं० का० ३०९–३१६ । ३ सादिः स–ता०, व० । ४ "जादं देसूणमद्धपोग्गलपरियट्टं ।" –ध० टी० का० पृ० ४८० । ५ षट्खं० का० ३१७–३२९ । ६ षट्खं० का० ३३०–३३६ । संज्ञानु–आ०, द०, ब०, व०, ज० । ७ षट्खं० का० ३३७–३४२ ।

जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । [1]वक्रेण गतः क्षुद्रभवेषु पुनरपि वक्रेण गतः । उत्कर्षेण अङ्गुल्यसंख्येयभागः संख्येयाऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । अस्यायमर्थः–उत्कर्षेण सङ्ख्याताऽसङ्ख्यातमानावच्छिन्नोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणाङ्गुल्यसंख्येयभागः शश्वदृजुगतिमत्त्वात् । शेषाणां सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां त्रयोदशगुणस्थानानां सामान्योक्तः कालः । अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सर्वः कालः । एकजीवं प्रति जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण त्रयः समयाः, **"एकं द्वौ त्रीन् वाऽनाहारकः ।"** [त० सू० २।३०] इति वक्ष्यमाणत्वात् । सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण आवलिकाया असंख्येयभागः । तच्चावलिकाया असंख्येयभागः समयमानलक्षणत्वात् एकसमय एव स्यात्, आवल्या असंख्यातसमयलक्षणत्वादिति । एकजीवं प्रति जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण द्वौ समयौ । सयोगकेवलिनो नानाजीवापेक्षया जघन्येन त्रयः समयाः समये समये दण्डादिप्रारम्भकत्वात् । उत्कर्षेण सङ्ख्येयाः समयाः जघन्योत्कृष्टसङ्ख्यातमानावच्छिन्नाः निरन्तरं विषमसमये दण्डादिप्रारम्भकत्वात् । एकं जीवं प्रति जघन्यश्चोत्कृष्टश्च कालस्त्रयः समयाः प्रतरद्वयलोकपूरणलक्षणाः । अयोगकेवलिनां सामान्योक्तः कालः । [2]इति कालवर्णनं सम्पूर्णम् ।

अथ अनन्तरमन्तरं निरूप्यते । विवक्षितस्य गुणस्थानस्य गुणस्थानान्तरसङ्क्रमे सति पुनरपि तद्गुणस्थानप्राप्तिः यावन्न भवति तावान् कालोऽन्तरमुच्यते । तदन्तरं सामान्यविशेषभेदात् द्विप्रकारं भवति । [3]सामान्येन तावदन्तरमुच्यते–मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया अन्तरं नास्ति । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण द्वे षट्षष्टी [4]देशोने सागरोपमानाम् । तत्कथम्? वेदकसम्यक्त्वेन युक्तः एकां षट्षष्टिं तिष्ठति । वेदकसम्यक्त्वस्य उत्कर्षेण एता[5]वन्मात्रकालत्वात् । पुनरवान्तरे अन्तर्मुहूर्त्तं यावत् सम्यग्मिथ्यात्वं गतस्य पुनरौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणयोग्यता पल्योपमासङ्ख्येयभागे गते सति । एतावदन्तरे तत्र वेदकसम्यक्त्वग्रहणयोग्यता, ग्रहणे योग्यताया एवं सम्भवात् । सासादनसम्यग्दृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण पल्योपमासङ्ख्येयभागः । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागः । उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तो [6]देशोनः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेरन्तरं नानाजीवापेक्षया सासादनवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तो [7]देशोनः ।

---

१ "जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं तिसमयूणं । २११ । तिण्णि विग्गहे काऊण सुहुमेइंदिए सुप्पज्जिय चउत्थसमए आहारी होदूण भुंजमाणाउअं कदलीघादेण घादिय अवसाणे विग्गहं करिय णिग्गयस्स तिसमऊणखुद्दाभवग्गहणमेत्ताहारकालुवलंभादो ।"–षट्खं० खु० पृ० १८४ । २ इति कालव्यावर्णना समाप्ता आ० । इति कालव्यावर्णनं समाप्तम् ब० । ३ षट्खं अ० २–२० । ४ "लद्धमंतरं अंतोमुहुत्तूणं वेछावट्ठिसागरोवमाणि ।" –ध० टी० अ० पृ० ७ । ५–मानका–आ०, ब०, ब०, ज० । ६ "एवं समयाहियचोद्दसअंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टं सासणसम्मादिट्ठिस्स उक्कस्संतरं होदि ।" –ध० टी० अ० पृ० १२ । ७ "एदेहि चोद्दसअंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टं सम्मामिच्छत्तुक्कस्संतरं होदि ।" –ध० टी० अ० पृ० १३ ।

असंयतसम्यग्दृष्टिसंयताऽसंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया अन्तरं नास्ति। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तो [2]देशोनः। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनै[3]कसमयः। उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम्। त्रिभ्य उपरि नवभ्योऽधः पृथक्त्वसञ्ज्ञा आगमस्य। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण अर्द्धपुद्गलपरिवर्त्तो [4]देशोनः। चतुर्णां क्षपकाणामयोगिकेवलिनाञ्च नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेण षण्मासाः। एकं जीवं प्रत्यन्तरं नास्ति। सयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया[5] एकजीवापेक्षया चान्तरं नास्ति।

विशेषेण [6]गत्यनुवादेन नरकगतौ नारकाणां सप्तसु नरकभूमिषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि [7]देशोनानि। [8]सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेण पल्योपमासङ्ख्येयभागः। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागः अन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि [9]देशोनानि।

तिर्यग्गतौ, तिरश्चां मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि [10]देशोनानि। अधिकमपि कस्मान्नेति चेत्?

१–संयतानां नाना–आ०, द०, ब०, ज०। २ "एवमेक्कारसेहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टमसंजदसम्मादिट्ठीणमुक्कस्संतरं होदि।......एवमेक्कारसेहि अन्तोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टमुक्कस्संतरं संजदासंजदस्स होदि......एवं दसहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टं पमत्तस्सुक्कस्संतरं होदि।......एवं दसहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टं अप्पमत्तस्सुक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० १५–१७। ३–कः सम–ब०। ४ "एवमट्ठावीसेहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टमपुव्वकरणस्सुक्कस्संतरं होदि। एवं तिण्हमुवसामगाणं। णवरि परिवाडीए छव्वीसं चउवीसं बावीसं अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टं तिण्हमुक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० २०। ५–पेक्षया नास्त्यन्तरं विशे–आ०, द०, ब०, ज०। ६ षट्खं० अ० २१–१००। ७ "उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि देसूणाणि।२३। एवं छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि मिच्छत्तुक्कस्संतरं होदि।......एवं छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि असंजदसम्मादिट्ठि-उक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० २३। ८ सासादनसम्यग्मिथ्या –आ०, द०, ब०, ज०। ९ "एवं समयाहियचदुहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाओ सगसगुक्कस्सट्ठिदीओ सासणाणुक्कस्संतरं होदि।......छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाओ सगसगुक्कस्सट्ठिदीओ सम्मामिच्छत्तुक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० ३०–३१। १० "आदिल्लेहि मुहुत्तपुधत्तब्भहिय-वेमासेहि अवसाणे उवलद्ध वे अंतोमुहुत्तेहि य ऊणाणि तिण्णि पलिदोवमाणि मिच्छत्तुक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० ३२।

क्षपणारम्भकवेदकयुक्तस्य तिर्यक्षूत्पादाभावात्, तद्युक्तो हि देवेष्वेवोत्पद्यते। अतो मिथ्यात्वयुक्तस्त्रिपल्योपमायुष्को भोगभूमिषु उत्पद्यते। तत्र चोत्पन्नानां तिर्य्यम्मनुष्याणां किञ्चिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनेषु सम्यक्त्वग्रहणयोग्यता [1]भवति, नियमादेतावद्दिनेषु[2] मिथ्यात्वपरित्यागात् सम्यक्त्वं गृह्णाति। त्रिपल्योपमायुःशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते इति [3]गर्भकालेन किञ्चिदधिकाष्टचत्वारिंशद्दिनैः अवसानकालशेषेण च हीनत्वात् देशोनानि ज्ञातव्यानि। सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनां चतुर्णां सामान्योक्तमन्तरम्।

मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्टेस्तिर्य्यग्वत्। यतो मनुष्या अपि भोगभूमौ तथाविधा भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यमिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कर्षेण त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकानि। संयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः उत्कर्षेण पूर्वकोटिपृथक्त्वानि। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवदन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटिपृथक्त्वानि। शेषाणां क्षीणकषायादीनां सामान्यवत्।

देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमानि देशोनानि[4]। तत्कथम्? मिथ्यात्वयुक्तो अग्रग्रैवेयकेषु उत्पद्यते, पश्चात्सम्यक्त्वमादाय एकत्रिंशत्सागरोपमानि तिष्ठति। अवसानकालशेषे पुनर्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते। अन्यथा गत्यनुक्रमः[5] स्यादिति[6] देशोनानि। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमसंख्येयभागः अन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमानि [7]देशोनानि।

[8]इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिके षण्णवतिपूर्वकोटिभिरभ्यधिके इत्यर्थः। विकलेन्द्रियाणां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्, उत्कर्षेण अनन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः। एकमिन्द्रियं

---

१ भवति एता–द०, ब०, ज०। २–दिनेषु सम्यक्त्वमिथ्या –आ०, द०, ब०, ज०। ३ गर्भकाले कि –आ०, द०, ब०, ज०। ४ "चदुहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि एक्कत्तीसं सागरोवमाणि उक्कस्संतरं होदि। ......पंचहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि एक्कत्तीसं सागरोवमाणि असंजदसम्मादिट्ठिस्स उक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० ५८। ५–नुगमः ज०। ६ इति शेषोनादे –आ०। ७ "तिहि समएहि ऊणाणि एक्कत्तीसं सागरोवमाणि सासणुक्कस्संतरं होदि। ......छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि एक्कत्तीसं सागरोवमाणि सम्मामिच्छत्तस्सुक्कस्संतरं होदि।" –ध० टी० अ० पृ० ६०। ८ षट्खं० अं० १०१–१२९।

प्रति अन्तरमुक्तम्। गुणं प्रति उभयतोऽपि नास्त्यन्तरम्। उभयत इति कोऽर्थः ? एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतोऽपि, यतस्ते एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया मिथ्यादृष्टय एव। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां चतुर्णां गुणस्थानान्तरासम्भवात्। पञ्चेन्द्रियाणां तु तत्सम्भवात् मिथ्यात्वादेः सम्यक्त्वादिना अन्तरं द्रष्टव्यम्। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तानां चतुर्णां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण सागरोपमसहस्रं पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिकम्। शेषाणां चतुर्णां क्षपकाणां सयोग्ययोगिकेवलिनाञ्च सामान्योक्तमन्तरम्।

[3]कायानुवादेन पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण अनन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः। वनस्पतिकायिकानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्, एकजीवापेक्षया जघन्येन क्षुद्रभवग्रहणम्। उत्कर्षेण असंख्येया लोकाः। तत्कथम् ? पृथिव्यादिकायानां वनस्पतिकायिकैरन्तरमुत्कर्षेणासंख्येयाः पुद्गलपरिवर्त्ताः। तेषां नैरन्तरमुत्कर्षेण असंख्येया लोकाः वनस्पतिकायिकेभ्यः अन्येषामल्पकालत्वात्। एवं कायं प्रत्यन्तरमुक्तम्। गुणस्थानं प्रति पृथिव्यादिचतुर्णां वनस्पतिकायिकानाञ्च अन्तरं नास्ति, यतः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकास्तथा वनस्पतिकायिकाश्च उभयेऽपि मिथ्यादृष्टयो वर्त्तन्ते। त्रसकायिकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिके। असंयतसम्यग्दृष्ट्यादीनां चतुर्णां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिके। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे पूर्वकोटिपृथक्त्वैरभ्यधिके। चतुर्णां क्षपकाणां सयोग्ययोगिनाञ्च[4] पञ्चेन्द्रियवत्।

[5]योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसयोगकेवलिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्याद्युक्तषड्गुणस्थानानां नानैकजीवापेक्षया[6] अन्तरं कथं नास्तीति चेत् ? [7]कायादियोगिनोऽन्तर्मुहूर्त्तकालत्वात्, कायादियोगे स्थितस्यात्मनो मिथ्यात्वादिगुणस्य गुणा-

---

१ चतुर्गु–ता०। २–सहस्रे पू –आ०, द०, ब०, ज०। ३ षट्खं० अं० १३०–१५२। ४–गिनां पञ्चे–आ०, द०, ब०, ज०। ५ षट्खं० अ० १५३–१७७। ६–पेक्षया कथमन्तरम् आ०, द०, ब०, ज०। ७ काययोगेनान्त –ता०। काययोगिनान्त –ब०।

न्तरेणान्तरं पुनस्तत्प्राप्तिश्च न सम्भवतीति कारणात् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । [1]एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । सासादनसम्यग्दृष्ट्यादीनामप्येकजीवापेक्षया अत एव पुनस्तत्प्राप्त्यसंभवकारणात् नास्त्यन्तरम् । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणाम[2]योगकेवलिनाञ्च सामान्यवत् ।

[3]वेदानुवादेन स्त्रीवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि [4]देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन[5] पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरु[6]पशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । ननु उपशमकाश्चत्वारो वर्तन्ते द्वयोरिति कस्मात् ? सत्यम्; अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणाभ्यामुपरि वेदाऽसम्भवात् । एवं द्वयोः क्षपकयोरपि चर्चनीयम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पल्योपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । पुंवेदेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासङ्ख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । असंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम् । द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः, अष्टादश मासा इत्यर्थः । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । नपुंसकवेदेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । [7]एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि देशोनानि[8] । सासादनसम्यग्दृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमकान्तानां सामान्योक्तम् । अनिवृत्ति च तदुपशमकश्च तद्गुणस्थानमन्ते येषामिति ग्राह्यम् । नवमगुणस्थानस्य नवभागीकृतस्य तृतीये भागे नपुंसकवेदो निवर्त्तते, चतुर्थे भागे स्त्रीवेदो निवर्त्तते, षष्ठे भागे पुंवेदो [9]निवर्त्तते यतः । द्वयोः क्षपकयोः स्त्रीवेदवत् । तत्कथम् ? नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । [10]उत्कर्षेण अष्टादश मासाः । एकं

१ एकं प्रति आ० । २–मयोगिके –ता०, व०, ब०, द०, ज० । ३ षट्खं० अ० १७८–२२२ । ४ "पंचहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि पणवण्णपलिदोवमाणि उक्कस्संतरं होदि ।"– ध० टी० अ० पृ० ९५ । ५ पल्योपमानि सं–ज० । ६–रुपशमयोः आ०, द०, ब०, ज० । ७ एकं प्रति आ० । ८ "एवं छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि उक्कस्संतरं होदि ।" ध० टी० अ० पृ० १०७ । ९ विद्यते ता०, ब० । वर्तते आ०, ब०, द० । १० "उक्कस्सेण वासपुधत्तं" –षट्खं० अ० २१२ ।

जीवं प्रति नास्त्यन्तरमित्यर्थः। वेदरहितेषु अनिवृत्तिबादरोपशमकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम्। एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टञ्च अन्तर्मुहूर्त्तः। उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। तस्याधो गुणस्थाने सवेदत्वात्। क्षीणकषायादीनामवेदानां सामान्यवत्।

[1]कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्त्युपशमकानां मनोयोगिवत्। द्वयोः क्षपकयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण संवत्सरः सातिरेकः। केवललोभस्य सूक्ष्मसाम्परायोपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। केवललोभस्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपकस्य सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। अकषायेषूपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। क्षीणकषायसयोगाऽयोगकेवलिनां सामान्यवत्।

[2]ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानिषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्, जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभाग[3] इत्यर्थः। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। यतो ज्ञानत्रययुक्तैकजीवेऽपि मिथ्यात्वस्यान्तरं नास्ति, गुणान्तरे ज्ञानत्रयव्यभिचारात्। सासादने अस्तीति [4]चेत्; न; तस्य सम्यक्त्वग्रहणपूर्वत्वात्, सम्यग्दृष्टेश्च मिथ्याज्ञानविरोधात्। आभिनिबोधिकश्रुतावधिज्ञानिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण पूर्वकोटी [5]देशोना। तत्कथम्? देशविरतादिगुणस्थाने अन्तरम्, अवसानकालशेषे[6] पुनरसंयतत्वं प्रतिपद्यत इति देशोना। सयताऽसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमानि सातिरेकाणि[7]। षट्षष्टिसागरोपमानन्तरं पुनः संयतासंयतो भवति यतः। तत्कथम्? असंयतप्रमत्तादिगुणस्थानेन अन्तरं पूर्वकोटिचतुष्टयाष्टवर्षैः सातिरेकाणि, मनुष्येषु उत्पन्नो हि अष्टवर्षानन्तरं संयतासंयतत्वं प्रतिपद्यत इति। प्रमत्ताऽप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि [8]सातिरे-

---

१ षट्खं० अ० २२३-२२८। २ षट्खं० अ० २२९-२५७। ३-भागः एकं आ०, द०, ब०, ज०। ४ चेत् तस्य आ०। ५ "लद्धं चदुहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया पुव्वकोडी अंतरं। ओहिणाणिअसंजदसम्मादिट्ठिस्स पंचहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया पुव्वकोडी लद्धमन्तरं।" -ध० टी० अ० पृ० ११५, ११६। ६ शेषेसु पु -आ०, द०, ब०। ७ "एवमट्ठवस्सेहि एक्कारस अंतोमुहुत्तेहि य ऊणियाहि तीहि पुव्वकोडीहि सादिरेयाणि छावट्ठिसागरोवमाणि उक्कस्संतरं।...... णवरि आभिणिबोहियणाणस्स आदीदो अंतोमुहुत्तेण आदिकादूण अंतराविय बारसअंतोमुहुत्तेहि समहिय अट्ठवस्सूण तीहि पुव्वकोडीहि सादिरेयाणि छावट्ठिसागरोवमाणि त्ति वत्तव्वं।" -ध० टी० अ० पृ० ११७। ८ "तेत्तीसं सागरोवमाणि एगेणंतोमुहुत्तेण अब्भहिय पुव्वकोडीए सादिरेयाणि उक्कस्संतरं।......अवसिट्ठेहि अद्धछट्ठंतोमुहुत्तेहि ऊणपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि उक्कस्संतरं होदि।" -ध० टी० अ० पृ० १२१, १२२।

काणि । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमानि [1]सातिरेकाणि । चतुर्ण्णां क्षपकाणां सामान्यवत् । किन्तु अवधिज्ञानिनो नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् ।

मनःपर्ययज्ञानिषु प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । अधिकमपि कस्मान्नेति चेत् ? अधोगुणस्थानेषु वर्तमानानां मनःपर्य्ययासंभवात्, तेषु वर्तमानानाञ्च अधिकमन्तरं सम्भवतीति । चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी [2]देशोना । तत्कथम् ? उपशमश्रेणीतो हि पतितास्ते मनःपर्य्ययज्ञानमपरित्यजन्तः प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थाने वर्तन्ते यावत्पूर्वकोटिकालशेषः, पुनस्तदारोहणं कुर्वन्तीति देशोना । चतुर्णां क्षपकाणामवधिज्ञानिवत् नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरमित्यर्थः । [3]सयोगायोगकेवलिज्ञानिनोः सामान्यवत् ।

[4]संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्च अन्तर्मुहूर्त्तः । द्वयोरुपशमकयोर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी [5]देशोना । तत्कथम् ? अष्टवर्षानन्तरं तपो गृहीत्वा उपशमश्रेणिमारुह्य पतितः प्रमत्ताऽप्रमत्तयोः पूर्वकोटिकालशेषं यावत् वर्त्तित्वा पुनस्तदारोहणं करोतीति देशोना । द्वयोः क्षपकयोः सामान्यवत् । [6]परिहारशुद्धिसंयतेषु प्रमत्ताऽप्रमत्तयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयमे उपशमकस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । कस्मात् ? गुणान्तरे सूक्ष्मसाम्परायसंयमाभावात् । सूक्ष्मसाम्परायक्षपकस्य सामान्यवत् । [7]यथाख्याते अकषायवत् । संयताऽसंयतस्य नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । असंयतेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि [8]देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां सामान्यवत् ।

---

१ "अट्ठहि वस्सेहि छव्वीसंतोमुहुत्तेहि य ऊणा तीहि पुव्वकोडीहि सादिरेयाणि छावट्ठिसागरोवमाणि उक्कस्संतरं होदि ।......णवरि चदुवीसबावीसवीसं अंतोमुहुत्ता ऊणा कादव्वा ।" –ध० टी० अ० पृ० १२३, १२४ । २ "अट्ठवस्सेहि बारसअंतोमुहुत्तेहि य ऊणिया पुव्वकोडी उक्कस्संतरं । एवं तिण्हमुवसामगाणं । णवरि जहकमेण दसणवअट्ठअंतोमुहुत्ता समओ य पुव्वकोडीदो ऊणा त्ति वत्तव्वं ।" –ध० टी० अ० पृ० १२६ । ३ सयोग्ययोगिके–आ०, द०, ब०, ज० । ४ षट्खं० अ० २५८–२८१ । ५ "अट्ठहि वस्सेहि एक्कारसअंतोमुहुत्तेहिय ऊणिया पुव्वकोडी अंतरं । एवमणियट्टिस्स वि णवरि समयाहिय णव अंतोमुहुत्ता ऊणा कादव्वा ।" –ध० टी० अ० पृ० १३० । ६ परिहारसंयतेषु आ०, द०, ब०, ज० । ७ तथाख्याते ता० । ८ 'छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि मिच्छत्तुक्कस्संतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १३४ ।

[1]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत् । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः अन्तर्मुहूर्त्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे [2]देशोने । असंयतसम्यग्दृष्टिसंयताऽसंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे [3]देशोने । चतुर्णामुशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्योक्तम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमसहस्रे [4]देशोने । चतुर्णां क्षपकाणां क्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तम् । अचक्षुर्दर्शनिषु मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां सामान्योक्तमन्तरम् । अवधिदर्शनिनोऽवधिज्ञानिवत् । केवलदर्शनिनः केवलज्ञानिवत् ।

[5]लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्येषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण [6]त्रयस्त्रिंशत्सप्तदशसप्तसागरोपमानि[7] देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्–सप्तदश–सप्तसागरोपमाणि [8]देशोनानि । तेजःपद्मलेश्ययोर्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश च[9] सागरोपमानि[10] । सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजी-

---

१ षट्खं० अ० २८२–२९५ । २ "एवं णवहि अंतोमुहुत्तेहि आवलियाए असंखेज्जदिभागेण य ऊणिया चक्खुदंसणट्ठिदी सासणुक्कस्संतरं ।…… एवं बारसअंतोमुहुत्तेहि ऊणिया चक्खुदंसणट्ठिदी उक्कस्सन्तरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १३७ । ३ "दसहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया सगट्ठिदी असंजदसम्मादिट्ठीणमुक्कस्संतरं । …… एवमडदालीसदिवसेहि बारसअंतोमुहुत्तेहिय ऊणा सगट्ठिदी संजदासंजदुक्कस्संतरं । ……एवमट्ठवस्सेहि दसअंतोमुहुत्तेहि ऊणिया सगट्ठिदी पमत्तस्सुक्कस्संतरं । ……एवमट्ठवस्सेहि दस अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया चक्खुदंसणिट्ठिदी अप्पमत्तुक्कस्संतरं होदि ।" –ध० टी० अ० पृ० १४०–१४१ । ४ "एवमट्ठवस्सेहि एगूणत्तीस अंतोमुहुत्तेहिय ऊणिया सगट्ठिदी अपुव्वकरणुक्कस्संतरं । एवं तिण्हमुवसामगाणं । णवरि सत्तावीसपंचवीसतेवीसअंतोमुहुत्ता ऊणा कायव्वा ।" –ध० टी० अ० पृ० १४२ । ५ षट्खं–अं० २९६–३२७ । ६ एकत्रिंशत् द० । त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि आ०, ब० । ७ "एवं छ-चदुचदुअंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीस-सत्तारस-सत्तसागरोवमाणि किण्ह-णील-काउलेस्सियमिच्छादिट्ठिउक्कस्संतरं होदि । एवमसंजदसम्मादिट्ठिस्स वि वत्तव्वं । णवरि अट्ठ-पंच-पंच अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीस-सत्तारस-सत्तसागरोवमाणि उक्कस्संतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १४४ । ८ "एवं पंच-चदु-चदु अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीस-सत्तारस-सत्तसागरोवमाणि किण्ह-णीलकाउलेस्सियसासणुक्कस्संतरं होदि । एवं सम्मामिच्छादिट्ठिस्सवि । णवरि छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि तेत्तीस-सत्तारस-सत्त सागरोवमाणि किण्ह-णील-काउलेस्सियसम्मामिच्छादिट्ठि उक्कस्संतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १४६ । ९–दश सागरो–आ०, द०, ब०, व०, ज० । १०–रोपमाः आ०, द०, ब०, ज० ।

वापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण द्वे सागरोपमे अष्टादश[1] च सागरोपमाणि [2]सातिरेकाणि । संयतासंयतप्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । [3]कस्मात् ? परावर्तमानलेश्यत्वात् । शुक्ललेश्येषु मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि [4]देशोनानि । सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्तश्च । उत्कर्षेण एकत्रिंशत्सागरोपमाणि[5] [6]देशोनानि । संयताऽसंयतप्रमत्तसंयतयोस्तेजोलेश्यावत् शुक्ललेश्यायाः अन्तरम् । अप्रमत्तसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । शुक्ललेश्येषु अप्रमत्तादीनामुपशमश्रेण्यारोहणाभिमुख्यारोहणसद्भावाभ्यां लेश्यान्तरपरावर्ताभावात् । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशमकानां त्रयाणां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्य-मुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । कस्मात् ? उपशान्तकषायस्य पतितस्य प्रमत्ते लेश्यान्तरम् [8]असंस्पृश्य श्रेण्यारोहणात् एकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनामलेश्यानाञ्च सामान्यवत् ।

[9]भव्यानुवादेन भव्येषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगिकेवल्यन्तानां सामान्यवत् । अभव्यानां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् ।

[10]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी [11]देशोना । कस्मात् ? गुणपरावर्तात् । संयताऽसंयतप्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि [12]सातिरेकाणि । कस्मात् ? गुण-

---

१–दशसागरो–आ०, द०, ब०, ज० । २ "एवं सादिरेय-वेअट्ठारस-सागरोवमाणि दुसमऊणाणि सासणुक्कस्संतरं होदि । एवं सम्मामिच्छादिट्ठिस्स वि । णवरि छहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणियाओ उत्तट्ठीदीओ अंतरं ।"–ध० टी० अं० पृ० १४८ । ३ "कुदो एगजीवस्सवि लेस्सद्धादो गुणद्धाए बहुत्तुवदेसा ।"–ध० टी० अं० पृ० १४९ । ४ "चदुपंचअंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि एक्कत्तीसं सागरोवमाणि मिच्छादिट्ठि-असंजदसम्मादिट्ठीणमुक्कस्सन्तरं ।"–ध० टी० अं० पृ० १५० । ५–माणि संय–आ०, द०, ब०, ज० । ६ "उक्कस्सेण एक्कत्तीसं सागरोवमाणि देसूणाणि ।"–षट्खं० अं० ३१४ । ७–लेश्या–आ० । ८ असंस्पृशन् ज० । संस्पृश्य ता० । ९ षट्खं० अं० ३२८–३३० । १० षट्खं० अं० ३३१–३७८ । ११ "अट्ठवस्सेहि वि अंतोमुहुत्तेहि य ऊणिया पुव्वकोडी अंतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १५७ । १२ "अट्ठवस्सेहिं चोद्दस-अंतोमुहुत्तेहि य ऊणदोपुव्वकोडीहिं सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि उक्कस्संतरं संजदासंजदस्स । ......अंतरस्स वाहिरा अट्ठ अंतोमुहुत्ता अंतरस्स अब्भंतरिया वि णव, तेणेगंतोमुहुत्तब्भहियपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि उक्कस्संतरं । अथवा अवसेसा अद्धट्ठा अंतोमुहुत्ता । तेहि ऊणियाए पुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि पमत्तस्सुक्कस्संतरं । ...... अवसेसाए अद्धछट्ठअंतोमुहुत्ता । एदेहि ऊणपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि अप्पमत्तुक्कस्संतर ।"–ध० टी० अं० पृ० १५८–१६० ।

प्रावर्त्तापेक्षया । तथैव चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि । शेषाणां सामान्यवत् । [2]क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण पूर्वकोटी देशोना[3] । संयताऽसंयतस्य नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण षट्षष्टिसागरोपमाणि [5]देशोनानि । प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम् । एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः । उत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि [6]सातिरेकाणि । औपशमिकसम्यग्दृष्टिष्वसंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण सप्तरात्रिन्दिनानि[7] । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । संयतासंयतस्य नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण चतुर्दश रात्रिन्दिनानि । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । प्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतयोर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः । उत्कर्षेण पञ्चदश रात्रिन्दिनानि । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । [8]एतत्कथम् ? औपशमिकाऽसंयतस्य सम्यग्दृष्टीनां सान्तरत्वात् । नानाजीवापेक्षया सप्त रात्रिन्दिनानि । औपशमिकसम्यक्त्वं हि यदि कश्चिदपि न गृह्णाति तदा सप्त रात्रिन्दिनान्येव । संयतासंयतस्य चतुर्दश रात्रिन्दिनानि । प्रमत्ताऽप्रमत्तयोः पञ्चदश रात्रिन्दिनानि । एकं जीवं प्रति जघन्येनोत्कर्षेण[9] चान्तर्मुहूर्त्तोन्तरम् । तथा चोक्तम्—

"सम्मत्ते सत्तदिणा विरदाविरदेसु चउदसा होंति ।
विरदेसु दोसु पणरस विरहणकालो य बोद्धव्वो[10] ॥ १ ॥" [पञ्चसं० १–२०५]

त्रयाणामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम् । एकं जीवं प्रति जघन्यमुत्कृष्टश्चान्तर्मुहूर्त्तः । उपशान्तकषायस्य नानाजीवापेक्षया सामान्यवत् । एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । तत्कथम् ? उपशान्तकषायैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम् । वेदकपूर्वकौपशमिकेन हि श्रेण्यारोहणभाग् भवति, तस्याः पतितो न तेनैव श्रेण्यारोहणं करोति,

---

१ "एवमट्ठवस्सेहि सत्तावीसअंतोमुहुत्तेहि ऊणदोपुव्वकोडीहि सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि अंतरं । एवं चेव तिण्हमुवसामगाणं । णवरि पंचवीस तेवीस एक्कवीस मुहुत्ता ऊणा कादव्वा ।" –ध० टी० अ० पृ० १६१ । २ "वेदकसम्मादिट्ठीसु असंजदसम्मादिट्ठीणं सम्मादिट्ठिभंगो ।"–षट्खं० अ० ३४९ । पृ० १६२ । ३ "एवं चदुहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणिया पुव्वकोडी उक्कस्संतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १५५ । ४–माणि सातिरेकाणि आ०, द०, ब०, ब०, ज० । ५ "उक्कस्सेण छावट्ठिसागरोवमाणि देसूणाणि ।"–षट्खं० अ० ३५२ । पृ० १६२ । "एदेहि तीहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणाणि छावट्ठिसागरोवमाणि संजदासंजदुक्कस्संतरं ।" –ध० टी० अ० पृ० १६३ । ६ "अवसेसा सत्त अंतोमुहुत्ता । एदेहि ऊणपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि पमत्तसंजदुक्कस्संतरं । ··· अवसेसा अट्ठ । एदेहि ऊणपुव्वकोडीए सादिरेयाणि तेत्तीसं सागरोवमाणि अप्पमत्तुक्कस्संतरं ।" ध० टी० अ० पृ० १६४–१६५ । ७ "किमत्थो सत्तरादिंदियविरहणियमो ? सभावदो ।" –ध० टी० अ० पृ० १६५ । ८ तत्कथम् आ० । ९–न्येन चोत्कर्षेण आ० । १० सम्यक्त्वे सप्तदिनानि विरताविरतेषु चतुर्दश भवन्ति । विरतयोर्द्वयोः पञ्चदश विरहकालश्च बोद्धव्यः ॥

सम्यक्त्वान्तरं मिथ्यात्वं वा गत्वा पश्चात् [1]तदादाय करोतीत्यतो नास्ति तस्यान्तरम्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकसमयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टित्वयुक्तैकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्[2]। तत् कथमिति चेद् ? गुणे गुणान्तरविरोधतः सासादनादिगुणे स्थितस्य मिथ्यात्वादिना अन्तराऽसम्भवात्। मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्।

[3]संज्ञ्यनुवादेन संज्ञिषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागः अन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम्। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयताऽसंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया अन्तरं नास्ति। एकं जीवं प्रति जघन्यतयाऽन्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम्। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण सागरोपमशतपृथक्त्वम्। चतुर्णां क्षपकाणां सामान्यवत्। असंज्ञिनां नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। तत्कथम् ? एकगुणस्थानवर्त्तित्वेन तेषां [4]सासादनादिना अन्तराऽसम्भवात्। ये न संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनस्तेषां सामान्यवत्।

[5]आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्टेः सामान्यवत्। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्योर्नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येन पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तर्मुहूर्त्तश्च। उत्कर्षेण घनाङ्गुलासंख्येयभागः। घनाङ्गुलासंख्येयभाग इति कोऽर्थः ? असंख्येयाः संख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः। असंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ता[6]प्रमत्तसंयतानां नानाजीवापेक्षया नास्त्यन्तरम्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण अङ्गुल्यसंख्येयभागः, असंख्येयाः संख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः। चतुर्णामुपशमकानां नानाजीवापेक्षया सामान्यवत्। एकं जीवं प्रति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तः। उत्कर्षेण अङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयाः[7] संख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्यः। चतुर्णां क्षपकाणां सयोगकेवलिनाञ्च सामान्यवत्। अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टेर्नानाजीवापेक्षया एकजीवापेक्षया च नास्त्यन्तरम्। कथमेतत् ? अनाहारकेषु मिथ्यादृष्ट्येकजीवं प्रति नास्त्यन्तरम्, अनाहारकत्वस्य एकद्वित्रिसमयत्वात् गुणस्थानस्य च ततो बहुकालत्वात्, तत्र तस्य गुणान्तरेण अन्तरासम्भवादिति। सासादनसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण पल्योपमासंख्येयभागः। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। असंयतसम्यग्दृष्टेर्नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण[8] मासपृथक्त्वम्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। सयोगकेवलिनो नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण वर्षपृथक्त्वम्। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। अयोगिनां

१ तद्यत्क-आ०, ब०, द०। २-रम् कथ-आ०, द०, ब०, ज०। ३ षट्खं० अ० ३७९-३८३। ४ सासादनादीनां ब०, ज०। ५ षट्खं० अ० ३८४-३९७। ६ प्रमत्तसंयतानां आ०, द०, ब०, ज०। प्रमत्तसंप्रमत्त ब०। ७ असंख्येया उत्सर्पि-आ०, द०, ब०, ज०। ८-ण वर्षपृथक्त्वम् आ०, द०, ब०, ज०।

नानाजीवापेक्षया जघन्येनैकः समयः। उत्कर्षेण षण्मासाः। एकं जीवं प्रति नास्त्यन्तरम्। अन्तरं विज्ञातं समाप्तमित्यर्थः।

अथ भावस्वरूपं निरूप्यते। सामान्यविशेष[1]भेदात् स भावो द्विप्रकारः। [2]सामान्येन तावत् मिथ्यादृष्टिरिति औदयिको भावः। कस्मात्? मिथ्यात्वप्रकृत्युदयप्रादुर्भावात्। सासादनसम्यग्दृष्टिरिति पारिणामिको भावः। ननु अनन्तानुबन्धिक्रोधाद्युदये अस्य प्रादुर्भावादौदयिकत्वं कस्मान्नोच्यत इति चेत्? अविवक्षितत्वात्। दर्शनमोहापेक्षया हि मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानचतुष्टये भावो निरूपयितुमभिप्रेतोऽतः सासादने सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयलक्षणस्य त्रिविधस्यापि दर्शनमोहस्य उदयक्षयक्षयोपशमाभावात् पारिणामिकत्वम्। सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति क्षायोपशमिको भावः। तथा चोक्तम्–

"मिच्छे खलु ओदइओ विदिए खलु परिणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव[3]॥" [गो० जी० गा० ११]

ननु सर्वघातिनामुदयाभावे देशघातिनाञ्चोदये य उत्पद्यते भावः स क्षायोपशमिकः। न च सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतेर्देशघातित्वं सम्भवति, सर्वघातित्वेन आगमे [4]तस्याः प्रतिपादितत्वात्। सत्यम्; उपचारतस्तस्या देशघातित्वस्यापि सम्भवात्। उपचारनिमित्तञ्च देशतः सम्यक्त्वव्याघातित्वम्। न हि मिथ्यात्वप्रकृतिवत् सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृत्या सर्वस्य सम्यक्त्वस्वरूपस्य घातः सम्भवति, सर्वज्ञोपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यन्तरस्यापि सम्भवात्। तदुपदिष्टतत्त्वेषु रुच्यरुच्यात्मको हि परिणामः सम्यग्मिथ्यात्वमित्यर्थः। असंयतसम्यग्दृष्टिरिति औपशमिको वा क्षायिको वा क्षायोपशमिको वा भावः। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन। संयतासंयतः प्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तसंयत इति च क्षायोपशमिको भावः। चतुर्णामुपशमकानामिति औपशमिको भावः। चतुर्षु क्षपकेषु सयोग्ययोगिकेवलिनोश्च क्षायिको भावः।

विशेषेण [5]गत्यनुवादेन नरकगतौ [6]प्रथमायां पृथिव्यां नारकाणां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत्। द्वितीयादिष्वासप्तम्याः मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टीनां सामान्यवत्। असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको वा क्षायोपशमिको वा भावः। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन। तिर्यग्गतौ तिरश्चां [7]मिथ्यादृष्ट्यादिसंयतासंयतान्तानां सामान्यवत्। मनुष्यगतौ मनुष्याणां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यमेव। देवगतौ देवानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानां सामान्यवत्।

[8]इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामौदयिको भावः। पञ्चेन्द्रियेषु मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत्।

[9]कायानुवादेन स्थावरकायिकानामौदयिको भावः। त्रसकायिकानां सामान्यमेव।

१–प्रभावात् आ०। २ षट्खं० भा० २–९। ३ मिथ्यात्वे खल्वौदयिकः द्वितीये पुनः पारिणामिको भावः। मिश्रे क्षायोपशमिकः अविरतसम्यक्त्वे त्रीण्येव॥ ४ अस्याः आ०, ब०, द०, ज०। ५ षट्खं० भा० १०–२९। ६ प्रथमा पृथिव्याम् आ०, ब०, द०, ज०। ७ मिथ्यादृष्ट्याद्यसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तानाम् आ०, द०, ब०, ज०। ८ षट्खं० भा० ३०। ९ षट्खं० भा० ३१।

[1]योगानुवादेन कायवाङ्मनसयोगिनां मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगिकेवल्यन्तानामयोगिकेवलिनाञ्च सामान्यवत्।

[2]वेदानुवादेन स्त्रीपुंनपुंसकवेदानामवेदानाञ्च सामान्यवत्।

[3]कषायानुवादेन क्रोधमानमायालोभकषायाणामकषायाणाञ्च सामान्यवत्।

[4]ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानिनां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनाञ्च सामान्यवत्।

[5]संयमानुवादेन[6] सर्वेषां [7]संयतानां संयतासंयतानाञ्च सामान्यवत्।

[8]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनिनाञ्च सामान्यवत्।

[9]लेश्यानुवादेन षट्लेश्यानामलेश्यानाञ्च सामान्यवत्।

[10]भव्यानुवादेन भव्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्ययोगकेवल्यन्तानां सामान्यवत्। अभव्यानां पारिणामिको भावः।

[11]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायिको भावः क्षायिकसम्यक्त्वम्। असंयतत्वं पुनरौदयिकेन भावेन। संयताऽसंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः, क्षायिकं सम्यक्त्वम्। चतुर्णामुपशमकानामौदयिको भावः, क्षायिकं सम्यक्त्वम्। शेषाणां सामान्यवत्। क्षयोपशमसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेः क्षायोपशमिको भावः, क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन। संयताऽसंयतप्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतानां क्षायोपशमिको भावः, क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्। औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु असंयतसम्यग्दृष्टेरौपशमिको भावः, औपशमिकं सम्यक्त्वम्। असंयतः पुनरौदयिकेन भावेन। संयताऽसंयतप्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतानामौपशमिको भावः, औपशमिकं सम्यक्त्वम्। चतुर्णामुपशमकानाम् औपशमिको भावः, औपशमिकं सम्यक्त्वम्। सासादनसम्यग्दृष्टेः पारिणामिको भावः। सम्यग्मिथ्यादृष्टेः [12]क्षायोपशमिको भावः। मिथ्यादृष्टेरौदयिको भावः।

[13]संज्ञ्यनुवादेन संज्ञिनां सामान्यवत्। असंज्ञिनामौदयिको भावः। ये न संज्ञिनो नाप्यसंज्ञिनस्तेषां सामान्यवत्।

[14]आहारानुवादेन आहारकाणामनाहारकाणां च सामान्यवत्। इति भावो विभावितः।

अथ [15]अल्पबहुत्वं[16] परिवर्ण्यते—तद् द्विप्रकारम्—सामान्यविशेषभेदात्। [17]सामान्येन तावत् सर्वतः स्तोकाः त्रय उपशमकाः, अष्टसु समयेषु क्रमात् [18]प्रवेशे एको वा द्वौ वा त्रयो वा इत्यादि जघन्याः। उत्कृष्टास्तु १६।२४।३०।३६।४२।४८।५४।५४। स्वगुणस्थानकालेषु

---

१ षट्खं० भा० ३२–४०। २ षट्खं० भा० ४१, ४२। ३ षट्खं० भा० ४३, ४४। ४ षट्खं० भा० ४५–४८। ५ संयता—ता०। ६ षट्खं० भा० ४९–५५। ७ संयतानां च आ०, ब०, ज०। ८ षट्खं० भा० ५६–५८। ९ षट्खं० भा० ५९–६१। १० षट्खं० भा० ६२–६३। ११ षट्खं० भा० ६४–८८। १२ क्षायिको भावः आ०, ब०, ज०। १३ षट्खं० भा० ८९, ९०। १४ षट्खं० भा० ९१–९३। १५ अल्पं ता०। १६–बहुत्वञ्च प– ब०। १७ षट्खं० अ० २–२६। १८ प्रवेशको आ०। प्रवेशेको ब०। प्रवेशैको द०। प्रवेशो एको ता०।

प्रवेशेन तुल्यसंख्याः। उपशान्तकषायास्तावन्त एव संख्याकथनावसरे प्रोक्ताः। उपशमकानां इतरगुणस्थानवर्त्तिभ्योऽल्पत्वात् प्रथमतः कथनम्। तत्रापि त्रय उपशमकाः सकषायत्वात् उपशान्तकषायेभ्यो भेदेन निर्दिष्टाः प्रवेशेन तुल्यसंख्याः। सर्वेऽप्येते षोडशादिसंख्याः। त्रयः क्षपकाः संख्येयगुणाः। कोऽर्थः? उपशमकेभ्यो द्विगुणाः इत्येवमादिसंख्याविचारे विचारितमिह द्रष्टव्यम्। सूक्ष्मसाम्परायसंयता विशेषाधिकाः। तत्संयमयुक्तानामुपशमकानामिव क्षपकानामपि ग्रहणात्। क्षीणकषायवीतरागच्छ[1]द्मस्थास्तावन्त एव। सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्च प्रवेशेन तुल्यसंख्याः। सयोगकेवलिनः स्वकाले समुदिताः संख्येयगुणाः ८९८५०२। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः। संयतासंयताः संख्येयगुणाः। संयताऽसंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वमेकगुणस्थानवर्त्तित्वात्, [2]संयतानामिव गुणस्थानभेदाऽसम्भवात् १३०००००० । सासादनसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः ५२०००००० । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः १०४००००००० । असंयतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः ७०००००००००। मिथ्यादृष्टय अनन्तगुणाः।

विशेषेण [3]गत्यनुवादेन नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयः असंख्येयगुणाः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः। तिर्य्यग्गतौ तिरश्चां सर्वतः स्तोकाः संयताऽसंयताः। इतरेषां सामान्यवत्। मनुष्यगतौ मनुष्याणामुपशमकादिप्रमत्ताऽप्रमत्तसंयतान्तानां सामान्यवत्। ततः संख्येयगुणाः संयताऽसंयताः। सासादनसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः। सम्यग्मिथ्यादृष्टयः संख्येयगुणाः। असंयतसम्यग्दृष्टयः संख्येयगुणाः। [4]मिथ्यादृष्टयः [अ] संख्येयगुणाः। देवगतौ देवानां नारकवत्।

[5]इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रियविकलेन्द्रियेषु गुणस्थानभेदो नास्तीति अल्पबहुत्वाऽभावः। इन्द्रियं प्रत्युच्यते पञ्चेन्द्रियेभ्यः चतुरिन्द्रियाः बहवः। चतुरिन्द्रियेभ्यस्त्रीन्द्रिया बहवः। त्रीन्द्रियेभ्यो द्वीन्द्रिया बहवः। तेभ्य एकेन्द्रिया बहवः। पञ्चेन्द्रियाणां सामान्यवत्। अयं तु विशेषः। मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः।

[6]कायानुवादेन स्थावरकायेषु गुणस्थानभेदाभावात् अल्पबहुत्वाभावः। कायं प्रत्युच्यते सर्वेभ्यः तेजःकायिका [7]अल्पे। तेभ्यः पृथिवीकायिका बहवः। तेभ्योऽप्कायिका बहवः। तेभ्यो वायुकायिका बहवः। सर्वेभ्यो वनस्पतयोऽनन्तगुणाः। त्रसकायिकानां पञ्चेन्द्रियवत्।

[8]योगानुवादेन वाङ्मनसयोगिनां पञ्चेन्द्रियवत्। काययोगिनां सामान्यवत्।

[9]वेदानुवादेन स्त्रीपुंवेदानां पञ्चेन्द्रियवत्। नपुंसकवेदानामवेदानाञ्च च सामान्यवत्।

१–छद्मस्थावस्थावन्तः ता–आ०, द०, ब०, ज०। २ संयतासंयतानामिव आ०, ब०, द०, ज०। ३ षट्खं० अ० २७–१०२। ४ संख्येय–आ०, ब०, द०, ज०। ५ ''मिच्छादिट्ठी असंखेज्जगुणा, मिच्छादिट्ठीसु संखेज्जगुणा।''–षट्खं० अ० ६५। सर्वार्थ० पृ० ३७। ६ षट्खं० अ० १०३। ७ षट्खं० अ० १०४। ८ अल्पा–ब०। बहवः आ०, द०, ब०, ज०। ९ षट्खं० अ० १०५–१४३। षट्खं० अ० १४४–१९६।

[1]कषायानुवादेन [2]क्रोधमानमायाकषायाणां पुंवेदवत् । अयं तु विशेषः । मिथ्यादृष्ट्योऽनन्तगुणाः । लोभकषायाणां द्वयोरुपशमकयोस्तुल्यसंख्याः । ततो द्वयोः बहवः । क्षपकाः संख्येयगुणाः सूक्ष्मसाम्परायेषु[3] ह्यु पशमकसंयता [4]विशेषाधिकाः । सूक्ष्मसाम्परायक्षपकाः संख्येयगुणाः । शेषाणां सामान्यवत् ।

[5]ज्ञानानुवादेन मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । विभङ्गज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । मिथ्यादृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः मतिश्रुतावधिज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाश्चत्वारः क्षपकाः सङ्ख्येयगुणाः । अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । संयतासंयता असङ्ख्येयगुणाः, तिर्य्यगपेक्षयेत्यर्थः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः, देवनारकतिर्य्यग्मनुष्यापेक्षया । मनःपर्य्ययज्ञानिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । चत्वारः क्षपकाः सङ्ख्येयगुणाः । अप्रमत्ताः संख्येयगुणाः । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः । केवलज्ञानिषु [6]अयोगकेवलिभ्यः सयोगकेवलिनः सङ्ख्येयगुणाः । तत्कथम् ? अयोगकेवलिनः एको वा द्वौ वा त्रयो वा उत्कर्षेण अष्टोत्तरशतसङ्ख्याः । स्वकालेन [7]समुदिताः सङ्ख्येयाः । तेभ्यः सङ्ख्येयाः सयोगकेवलिनः ८९८५०२ ।

[8]संयमानुवादेन सामायिकच्छेदोपस्थापनशुद्धिसंयतेषु द्वयोरुपशमकयोस्तुल्यसङ्ख्याः । ततः सङ्ख्येयगुणाः क्षपकाः । अप्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । परिहारशुद्धिसंयतेषु अप्रमत्तेभ्यः प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयतेषु उपशमकेभ्यः क्षपकाः सङ्ख्येयगुणाः । यथाख्यातविहारशुद्धिसंयतेषु उपशान्तकषायेभ्यः क्षीणकषायाः सङ्ख्येयगुणाः । अयोगकेवलिनस्तावन्त एव, उपशान्तकषायेभ्यः सङ्ख्येयगुणा इत्यर्थः । सयोगकेवलिनः सङ्ख्येयगुणाः । संयताऽसंयतानां नास्त्यल्पबहुत्वम् । असंयतेषु सर्वतः स्तोकाः सासादनसम्यग्दृष्टयः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयः सङ्ख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः, देवाद्यपेक्षया इत्यर्थः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः ।

[9]दर्शनानुवादेन चक्षुर्दर्शनिनां काययोगिवत्, सामान्यवदित्यर्थः । अवधिदर्शनिनामवधिज्ञानवत् । केवलदर्शनिनां केवलज्ञानिवत् ।

[10]लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानामसंयतवत् । तेजःपद्मलेश्यानां सर्वतः स्तोकाः अप्रमत्ताः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः । संयताऽसंयतसासादनसम्यग्दृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टीनां पञ्चेन्द्रियवत् । शुक्ललेश्यानां सर्वतः स्तोकाः [11]उपशमकाः [12]११९६। क्षपकाः

१ षट्खं० अ० १९७–२१५ । २ क्रोधमानकषायाणाम् आ० । क्रोधमानमायालोभ– ब० । ३ येषु उप–आ०, ज० । ४ विशेषाधिकारः आ०, द०, ब०, । ५ षट्खं० अ० २१६–२४३ । ६ अयोगकेवलिनः संख्ये–आ०, द०, ब० । –अयोगतत् कथम् ज० । ७ समुदिताः तेभ्यः आ०, द०, ब०, व०, ज० । ८ षट्खं० अ० २४४–२८५ । ९ षट्खं० अ० २८६–२८९ । १० षट्खं० अ० २९०–३२७ । ११ 'उपशमकाः' आ०, द०, ब०, ज० पुस्तकेषु नास्ति । १२ २२९६ आ०, ब०, द०, ज० ।

संख्येयगुणाः [1]२९९०। सयोगिकेवलिनः संख्येयगुणाः ८९८५०२। अप्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः २९६९९१०३ । प्रमत्तसंयताः संख्येयगुणाः ५९३९८२०६ । संयताऽसंयताः संख्येयगुणाः, तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसंख्येयगुणाः ।

[2]भव्यानुवादेन भव्यानां सामान्यवत् । अभव्यानामल्पबहुत्वं नास्ति ।

[3]सम्यक्त्वानुवादेन क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोकाश्चत्वारः उपशमकाः । इतरेषां [4]प्रमत्तान्तानां सामान्यवत् । ततः संयताऽसंयताः संख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः । [5]क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिषु सर्वतः स्तोकाः अप्रमत्ताः । प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । संयताऽसंयता असङ्ख्येयगुणाः, तिर्यगपेक्षया । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः । औपशमिकसम्यग्दृष्टीनां सर्वतः स्तोकाश्चत्वार उपशमकाः । अप्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । प्रमत्ताः सङ्ख्येयगुणाः । संयताऽसंयताः असङ्ख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः । शेषाणां मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टीनां नास्त्यल्पबहुत्वम् , विपक्षे एकैकगुणस्थानग्रहणात् । कोऽर्थः ? मिथ्यादृष्टिः सासादनो न भवति, सासादनसम्यग्दृष्टिस्तु मिथ्यादृष्टिर्न भवति यतः ।

[6]संज्ञानुवादेन संज्ञिनां चक्षुर्दर्शनिवत्[7] । चक्षुर्दर्शनिनां काययोगिवत् । काययोगिनां सामान्यवदित्यर्थः । असंज्ञिनां नास्त्यल्पबहुत्वम् । ये न संज्ञिनो नाऽप्यसंज्ञिनस्तेषां केवलज्ञानिवत् ।

[8]आहारानुवादेन आहारकाणां काययोगिवत् । अनाहारकाणां सर्वतः स्तोकाः सयोगकेवलिनः अयोगकेवलिनः[9] सङ्ख्येयगुणाः । सासादनसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः । असंयतसम्यग्दृष्टयोऽसङ्ख्येयगुणाः । मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः । एवं गुणस्थानानां गत्यादिषु मार्गणाऽन्वेषणा कृता । सामान्येन तत्र सूक्ष्मभेदः आगमविरोधेनानुसर्तव्यः[10] ।

एवं सम्यग्दर्शनस्य प्रथमत उद्दिष्टस्य "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इत्यनेन[11] सूत्रेण तस्य–सम्यग्दर्शनस्य लक्षणोत्पत्तिस्वामिविषयन्यासाधिगमोपाया निर्दिष्टाः । "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इति लक्षणम् । "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" [12]इत्यनेनोत्पत्तिः । सम्यग्दर्शनस्वामिनो जीवाऽजीवादिपदार्थाः सम्यग्दर्शनस्य विषयः । "नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः" "प्रमाणनयैरधिगमः" "निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः" इत्यनेन [13]सूत्रेण अधिगमस्योपायः सम्यक्त्वप्राप्त्युपायः । तथा "सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च" इति [14]सम्यक्त्वस्याधिगमोपायः । तत्सम्बन्धेन च सम्यग्दर्शनसम्बन्धेन जीवादीनां संज्ञापरिणामादि निर्दिष्टम् । "जीवाऽजीवास्रव-

---

१ ३१३६ ता० । २ षट्खं० अ० ३२८–३२९ । ३ षट्खं० अ० ३३०–३५४ । ४ प्रमत्तानाम् आ० । ५ क्षायोपशमिकाः सम्य–आ०, द०, ब०, ज० । ६ षट्खं० अ० ३५५–३५७ । ७ -दर्शनवत् आ० । ८ षट्खं० अ०३५८–३८२ । ९–केवलिनश्च आ०, द०, ब०,ज० । १० अनुकर्तव्यः ब० । ११ त०सू० १।२ । १२ त० सू० १।३ । १३ त० ०सू १।५–७ । १४ त० सू० १।८ ।

बन्धसंवरनिर्जरमोक्षास्तत्त्वम्" इति [१]संज्ञा। अस्यैव सूत्रस्य वृत्तौ जीवादीनां निरुक्तिद्वारेण परिणामादि वेदितव्यम्।

अथ सम्यग्ज्ञानं विचार्यते—

मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

इन्द्रियैर्मनसा च यथायथमर्थान् मन्यते मतिः। मनुतेऽनया वा मतिः। मननं वा मतिः। श्रुतज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाणं श्रूयते यत्तत् श्रुतम्। शृणोत्यनेन तदिति वा श्रुतम्। श्रवणं वा श्रुतम्। [२]अवाग्धानं अवधिः। कोऽर्थः? अधस्ताद् बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते। देवाः खलु अवधिज्ञानेन सप्तमनरकपर्य्यन्तं पश्यन्ति, उपरि स्तोकं पश्यन्ति, निजविमानध्वजदण्डपर्यन्तमित्यर्थः। अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा अवधिः। कोऽर्थः? रूपिलक्षणविवक्षितविषयत्वाद्वा अवधिः। परकीयमनसि स्थितोऽर्थः [३]साहचर्यात् मन इत्युच्यते। तस्य पर्ययणं [४]परिगमनं परिज्ञानं मनःपर्य्ययः। ननु तन्मतिज्ञानमेव; तन्न; अपेक्षामात्रत्वात्, क्षयोपमशक्तिमात्रविजृम्भितं तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदिश्यते, यथा अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति, तथा मनसि मनःपर्य्ययः, अभ्रं व्यापि [५]मनोव्यापि। यन्निमित्तं बाह्येन अभ्यन्तरेण च तपसा मुनयो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत् केवलम्। असहायत्वाद्वा केवलम्।

प्रान्ते लभ्यते यतस्तदर्थं केवलस्य अन्ते ग्रहणम्। मनःपर्य्ययस्य समीपे केवलज्ञानं प्राप्यते तेन मनःपर्य्ययस्य समीपे केवलस्य ग्रहणम्। अनयोः प्रत्यासत्तिः कस्मात्? संयमैकाधिकरणत्वात्। यथाख्यातचारित्रत्वादित्यर्थः। केवलज्ञानस्य अवधिर्दूरतरवर्त्ती कृतः। तत्किमर्थम्? [६]दूरतरान्तरत्वात्। अवधिमनःपर्य्ययकेवलज्ञानत्रयात् परोक्षज्ञानं मतिश्रुतद्वयं पूर्वं किमर्थमुक्तम्? तस्य द्वयस्य [७]सुप्रापत्वात्। मतिश्रुतानुपरिपाटी हि[८] श्रुतपरिचिताऽनुभूता वर्त्तते, सर्वेण प्राणिगणेन तद्द्वयं प्रायेण प्राप्यते। मतिश्रुतपद्धतेः वचनेन श्रुतायाः सकृत्स्वरूपसंवेदनमात्रं परिचितत्वमुच्यते। अशेषविशेषतः पुनः पुनश्चेतसि तत्स्वरूपपरिभावनमनुभूतत्वं कथ्यते। मतिश्च श्रुतञ्च अवधिश्च मनःपर्य्ययश्च केवलञ्च मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानि। एतानि पञ्च ज्ञानं[९] भवतीति वेदितव्यम्। एतेषां भेदा अग्रे वक्ष्यन्ते।

अथ "**प्रमाणनयैरधिगमः**" इति सूत्रं यत्पूर्वमुक्तं[१०] तत्र प्रमाणं ज्ञानमिति केचन[११] मन्यन्ते। केचित्तु[१२] सन्निकर्षः प्रमाणमिति मन्यन्ते। सन्निकर्ष इति कोऽर्थः? [१३]इन्द्रियं विषयश्च तयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। तदुभयमपि निराकर्त्तुम् अधिकृतानामेव मत्यादीनां प्रमाणत्वसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुः[१४]—

---

१ त० सू० १।४। २ अवधानम् आ०, द०, ब०, ज०। ३ साहचर्यान्मन्यते मनः आ०, द०, ब०, व०, ज०। ४ परिणमनम् आ०, ब०, द०, ज०। ५ मनोऽपि व्यापि ता०। ६ दूरतरत्वात् आ०, द०, ब०, ज०। ७ सुप्राप्यत्वात् आ०, ब०, द०, ज०,। ८—पाटी श्रुत—आ०, द०, ब०, व०, ज०। ९ ज्ञानानि भवन्तीति आ०, द०, ब०, ज०। १० पृ० ८। ११ बौद्धादयः। १२ नैयायिकादयः। १३ इन्द्रियविषयः तदु—ता०। १४ —दं प्राहुः आ०, ब०, द०, ज०।

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

तत् मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवललक्षणं पञ्चविधं ज्ञानं द्वे प्रमाणे भवतः न सन्निकर्षः प्रमाणम्, नाऽपीन्द्रियं प्रमाणमित्यर्थः। [1]यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्; तर्हि सूक्ष्माणां व्यवहितानां विप्रकृष्टानाञ्चार्थानां ग्रहणाप्रसङ्गः स्यात्। ते सूक्ष्मा व्यवहिता विप्रकृष्टाश्चाऽर्था इन्द्रियैः सन्निकृष्टुं न शक्यन्ते। तेन तु सर्वज्ञत्वस्याभावः[2] स्यात्। तत्कथम्? [3]यदिन्द्रियैर्न सन्निकृष्यते तन्न ज्ञायते, तेन सर्वज्ञाभावो भवेत्। इन्द्रियमपि प्रमाणं न [4]भवति, उक्तदोषत्वादित्यर्थः। चक्षुरादीनां विषयो हि अल्पः, ज्ञेयं तु अनन्तत्वादपरिमाणं यतः। सर्वेषामिन्द्रियाणां सन्निकर्षाभावश्च वर्त्तते। कस्मात्? चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात्। "न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्" [त० सू० १।१९] इति वचनाच्च।

यदि ज्ञानं प्रमाणं तर्हि फलाभावः। अधिगमो हीष्टं फलं वर्तते, न भावान्तरम्[5]। स चेत् अधिगमः प्रमाणम्; न तस्याधिगमस्यान्यत्फलं भवितुमर्हति। प्रमाणेन च फलवता भवितव्यम्। सन्निकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमोऽर्थान्तरभूतः फलं युज्यते; तन्न युक्तम्; यदि सन्निकर्षः प्रमाणमर्थाधिगमः फलं तस्य[6] प्रमाणस्य दुष्ट (द्विष्ठ) त्वात् तत्फलभूतेन अधिगमेनाऽपि दुष्टेन (द्विष्ठेन) भवितव्यम्। कथं द्विष्ठोऽधिगमः? अर्थाधीनो यतः। आत्मनश्चेतनत्वात् तत्रैव आत्मनि समवाय इति चेत्; न; ज्ञस्वभावा[7]भावे ज्ञायकस्वभावाभावे सर्वेषामर्थानामचेतनत्वात्। ज्ञस्वभावाभ्यु[8]पगमो वा आत्मनो भवतु; तर्हि प्रतिज्ञाहानिस्तव भवति, तेषामचेतनत्वात्। ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति यदार्हतेनोक्तं तन्नैष दोषः; अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्म्ममलीमसस्य [9]करणालम्बनात् अर्थनिश्चये सति प्रीतिरुपजायते। सा प्रीतिः फलमुच्यते। अथवा उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्। का उपेक्षा? रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा। अन्धकारसदृशाज्ञानाभावः, अज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते।

प्रमिणोतीति प्रमाणम्। "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च" [कात० ४।५।९२] इति कर्तरि युट्। प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्। "करणाधिकरणयोश्च" [कात० ४।५।९५] इति करणे युट्। प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। भावे युट्। इति व्युत्पत्तौ परवाद्याह–किमनेन प्रमीयते? जैनः प्राह–जीवाद्यर्थः। यदि जीवादेरधिगमे प्रमाणं वर्तते तर्हि प्रमाणाधिगमे अन्यत्प्रमाणं परिकल्प्यताम्। तथा सति अनवस्था भवति। जैनः प्राह–नात्रानवस्था वर्तते। किंवत्? प्रदीपवत्। यथा घटपटलकुटस्तम्भादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुर्भवति तथा स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव प्रदीपः हेतुर्भवति, न प्रदीपस्य प्रकाशने प्रकाशान्तरं विलोक्यते। एवं प्रमाणमपि स्वपर-

---

१ द्रष्टव्यम्–स० सि० १।१०। २–भावात् ज०, आ०, द०, ब०। ३ यतः आ०, द०, ब०, ज०। ४ भवेत् आ०, द०, ब०, ज०। ५–रम् चेत् आ०, द०, ब०, ज०। ६ "तस्य द्विष्ठत्वात् तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्ठेन भवितव्यमिति अर्थादीनामधिगमः प्राप्नोति।" –स० सि० १।१०। ७–भावाभावे सर्वे–आ०, द०, ब०, ज०। ८–भ्युपगमे आ०, द०, ब०, ज०। ९ कारणा–आ०, द०, ब०।

प्रकाशकमित्यवगन्तव्यम्। अवश्यमेव चेदमङ्गीकर्तव्यम्। किंवत्? प्रमेयवत्। यथा प्रमेयं वर्तते तथा प्रमाणमस्ति। यदि प्रमाणस्य प्रमाणान्तरं परिकल्प्यते तर्हि स्वाधिगमस्याभावो भवति, प्रमाणं निजस्वरूपं न जानाति। तथा सति [1]स्मृतेरभावः स्यात्, स्मृतेरभावात् व्यवहारविच्छेदो भवेत्।

'आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्' इति वक्ष्यमाणभेदापेक्षया द्विवचननिर्देशो वेदितव्यः। स च द्विवचननिर्देशोऽपरप्रमाणसंख्याविच्छेदार्थः।

"प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शाब्दञ्चोपमया सह।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः॥१॥" [षड्द० समु० श्लो० ७०]

इति श्लोकोक्तोपमानार्थापत्तिप्रभृतीनां प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणद्वयेऽन्तर्भावात्।

अथ प्रागुक्तपञ्चविधज्ञानस्य प्रमाणद्वयान्तःपतितस्य अनुमानादिप्रमाणकल्पनानिरासार्थं प्रमाणयोर्भेदमाह–

आद्ये परोक्षम्॥ ११॥

आदौ भवमाद्यम्। आद्यञ्च आद्यञ्च आद्ये। मतिज्ञानश्रुतज्ञाने द्वे परोक्षं प्रमाणं भवति। 'आद्ये' इत्युक्ते प्रथमे। मतिश्रुतयोः प्रथमत्वं कथम्? सत्यम्; प्रथमं मतिज्ञानं तन्मुख्यम्, तस्य समीपवर्त्तित्वादुपचारेण श्रुतमपि प्रथममुच्यते। द्विवचननिर्देशसामर्थ्यात् गौणस्यापि श्रुतज्ञानस्य आद्यत्वेन ग्रहणं वेदितव्यम्। एतत् ज्ञानद्वयं परोक्षं प्रमाणं कस्मादुच्यते? इन्द्रियानिन्द्रियाणि पराणि प्रकाशादिकं च, आदिशब्दाद् गुरूपदेशादिकञ्च परम्, मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमश्च परमुच्यते, तत्परं बाह्यनिमित्तमपेक्ष्य अक्षस्यात्मनः उत्पद्यते यत् ज्ञानद्वयं तत्परोक्षमित्युच्यते, "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्" [त० सू० १।१४] "श्रुतमनिन्द्रियस्य" [त० सू० २।२१] इति वचनात्। उपमानमागमादिकं च प्रमाणं परोक्ष एव प्रमाणेऽन्तर्भूतं ज्ञातव्यमिति।

अथ किं प्रत्यक्षं प्रमाणमिति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते–

प्रत्यक्षमन्यत्॥ १२॥

अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति वेत्तीत्यक्ष आत्मा तमक्षमात्मानमवधिमनःपर्य्ययापेक्षया परिप्राप्तक्षयोपशमं केवलापेक्षया प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रतिनिश्चितं प्रत्यक्षम्। अन्यत् अवधिमनःपर्य्ययकेवलज्ञानत्रयं प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति।

अत्राह कश्चित्–अवधिदर्शनं केवलदर्शनमपि अक्षमेव आत्मानमेव प्रतिनियतं वर्तते, तेन कारणेन तदपि प्रत्यक्षं वक्तव्यम्; सत्यम्; ज्ञानमित्यनुवर्त्तते। [2]कस्मिन् प्रस्तावे ज्ञानमित्यनुवर्तते? "मतिश्रुतावधिमनःपर्य्ययकेवलानि ज्ञानम्" [त० सू० १।९] इत्यत्र सूत्रे ज्ञानस्य ग्रहणं वर्त्तते, तेन कारणेन दर्शनस्य व्युदासः। दर्शनं न प्रत्यक्षं प्रमाणमित्यर्थः।

---

१ स्मृतेन भावः ता०। २ कस्मिंश्चित् आ०, द०, ब०, ज०।

[1]तस्मिन्नपि प्रमाणे सति विभङ्गज्ञानमपि अक्षमेव आत्मानमेव प्रतिनियतम्, तेन कारणेन विभङ्गज्ञानस्यापि प्रमाणत्वेन ग्रहणं प्राप्नोति; तदपि न प्रमाणम्; सम्यगित्यधिकारात्। क्वासौ सम्यगधिकारो वर्त्तते? "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इत्यत्र सूत्रे सम्यक्शब्दस्य ग्रहणमस्ति, तेन कारणेन विभङ्गज्ञानस्य प्रमाणत्वे(त्व)प्रतिषेधः। तेन सम्यक्शब्देन विशेषणभूतेन ज्ञानं विशिष्यते, तेन कारणेन विभङ्गज्ञानस्य निषेधः कृतो भवति, न प्रमाणमित्यर्थः। विभङ्गज्ञानं हि मिथ्यादर्शनोदयाद्विपरीतार्थगोचरम्, तेन कारणेन तन्न सम्यग्विशेषेण विशिष्टम्। [2]अथैवं त्वं मन्यसे 'इन्द्रियव्यापारजनितं ज्ञानं खलु प्रत्यक्षम्, प्रतीन्द्रियव्यापारं ज्ञानं परोक्षमेतत्' एतत्प्रत्यक्षपरोक्षयोर्लक्षणमक्षुण्णं वेदितव्यमिति; तन्न संगच्छते; तथा सति सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावो भवति। यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षं त्वया मन्यते तथा [3]सति सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षज्ञानमेव न स्यात्। न हि सर्वज्ञस्य इन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमो भवति। अथ सर्वज्ञस्य करणपूर्वकमेव ज्ञानं त्वया कल्प्यते; तर्हि सर्वज्ञस्य असर्वज्ञत्वं भवेत्। अथ सर्वज्ञस्य मानसं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति त्वं मन्यसे मनःप्रणिधानपूर्वकत्वात्; तर्हि ज्ञानस्य सर्वज्ञत्वाभावो भवति। आगमात् सर्वज्ञस्य सिद्धिरिति चेत्; तदपि न; आगमस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात्। योगिप्रत्यक्षमपरमेव दिव्यज्ञानमस्तीति चेत् त्वं मन्यसे; तदपि न घटते; योगिनः प्रत्यक्षत्वमिन्द्रियनिमित्ताभावाद्भवति 'अक्षमक्षं प्रति यद्वर्त्तते तत्प्रत्यक्षम्' इत्यभ्युपगमात्। [4]किञ्च सर्वज्ञत्वाभावः प्रतिज्ञाहानिर्वा तव भवति। अलमतिप्रसङ्गेन।

अथेदानीं परोक्षज्ञानस्य विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः[5]—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

मननं मतिः। स्मरणं स्मृतिः। संज्ञानं संज्ञा। चिन्तनं चिन्ता। अभिनिबोधनं अभिनिबोधः। इति एवंप्रकारा मतिज्ञानस्य पर्य्यायशब्दा वेदितव्याः। एते शब्दाः प्रकृत्या भेदेऽपि सति रूढिबलान्नार्थान्तरम्, मतिज्ञानार्थ एवेत्यर्थः। यथा 'इन्दतीति इन्द्रः, शक्नोतीति शक्रः, पुरं दारयतीति पुरन्दरः' इत्यादीन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शचीपतिरेवोच्यते तथा समभिरूढनयापेक्षया, अर्थान्तरे [6]सत्यपि मतिर्मतिज्ञानमेवोच्यते, मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे अन्तरङ्गनिमित्ते सति जनितोपयोगविषयत्वात्। एतेषां मतिज्ञानभेदानां[7] श्रुतादिष्वप्रवृत्तिर्वर्तते। मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं नातिक्रामन्ति। मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधादि[8]भिर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एवेत्यर्थः। तथापि भेद उच्यते। बहिरङ्गमन्तरङ्गञ्चार्थं परिस्फुटं [9]य आत्मा मन्यते सा अवग्रहेहाऽवायधारणात्मिका मतिरुच्यते। स्वसंवेदनमिन्द्रियज्ञानञ्च सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। 'तत्' इति अतीतार्थग्राहिणी प्रतीतिः स्मृतिरुच्यते। तदेवेदं, तत्सद-

---

१ ज्ञानेऽपि। २ अर्थैकत्वम् आ०, ब०, ज०। आत्मैकत्वम् द०। ३ तथा सर्व–आ०, द०, ब०, ज०। ४ तुलना–स० सि० १।१२। ५–दं प्राहुः आ०, ब०, द०, ज०। ६ सत्यपि मतिज्ञान–आ०, द०, ब०, ज०। ७–भेदेन आ० द०, ब०, ज०। ८–बोधास्तैर्योऽर्थो–आ०, द०, ब०, ज०। ९ यथा आ०, ब०, द०, ज०।

शश्च इति प्रत्यभिज्ञानं संज्ञा कथ्यते। यथा अग्निं विना धूमो न स्यात् तथा आत्मानं विना शरीरव्यापारवचनादिकं न स्यादिति वितर्कणमूहनं चिन्ता अभिधीयते। धूमादिदर्शनादग्न्यादिप्रतीतिरनुमानमभिनिबोध अभिधीयते। इतिशब्दात् प्रतिभाबुद्धिमेधाप्रभृतयो मतिज्ञानप्रकारा वेदितव्याः। रात्रौ दिवा वाऽकस्माद्बाह्यकारणं विना 'व्युष्टे[1] ममेष्टः समेष्यति' इत्येवंरूपं यद्विज्ञानमुत्पद्यते सा प्रतिभा अभिधीयते। अर्थग्रहणशक्तिर्बुद्धिः [2]कथ्यते। पाठग्रहणशक्तिर्मेधा अभिधीयते। उक्तञ्च–

"मतिरागमिका ज्ञेया बुद्धिस्तत्कालदर्शिनी।
प्रज्ञा चातीतकालज्ञा मेधा कालत्रयात्मिका"[3] ॥ [ ]

अथ मतिज्ञानस्य आत्मलाभे किं निमित्तमिति प्रश्ने सूत्रं [4]सूचयन्ति–

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

तन्मतिज्ञानम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। इन्दति परमैश्वर्यं प्राप्नोतीति इन्द्रः। आत्मतत्त्वस्यात्मनः ज्ञायकैकस्वभावस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियमुच्यते। अथवा, लीनमर्थं गमयति ज्ञापयतीति लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते। आत्मनः सूक्ष्मस्य अस्तित्वाधिगमकारकं लिङ्गमिन्द्रियमित्यर्थः। अग्नेर्धूमवत्। इत्थमिदं स्पर्शनादिकरणम् आत्मनो लिङ्गं वेदितव्यम्। आत्मानं विना लिङ्गमिन्द्रियं न भवतीति ज्ञातुः कर्तुरात्मनोऽस्तित्वमिन्द्रियैर्गम्यते। अथवा नामकर्मण इन्द्र इति संज्ञा। इन्द्रेण नामकर्म्मणा [5]स्पृष्टं (सृष्टं) इन्द्रियमित्युच्यते। तदिन्द्रियं स्पर्शनादिकम्। तदिन्द्रियं पञ्चप्रकारम्– "स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि" [त० सू० २।१९] इति वक्ष्यमाणसूत्रेण वक्ष्यते। [6]अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमिति पर्य्याय[7]शब्दाः। ननु न इन्द्रियमनिन्द्रियमिति इन्द्रियप्रतिषेधेन मनसि इन्द्रियलिङ्गे सत्यपि अनिन्द्रियशब्दस्य प्रवृत्तिः कथम्? सत्यम्; नञ्शब्द ईषदर्थे वर्त्तते। न इति कोऽर्थः? ईषत्। न इन्द्रियमनिन्द्रियम्, ईषदिन्द्रियमित्यर्थः, यथा अनुदरा कन्या। यदि कन्या सर्वथा उदररहिता भवति तथा सा कथं जीवति? तेन ज्ञायते अनुदरा ईषदुदरा कन्येति। ननु मन ईषदिन्द्रियं कथम्? सत्यम्; यथा इन्द्रियाणि प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरस्थायीनि च वर्त्तन्ते मनस्तादृशं कथम्न? अन्तःकरणञ्च कथमुच्यते? गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारेषु मन इन्द्रियाणि नापेक्ष्यते यतः, चक्षुरादिवत् बाह्यैः पुरुषैः यतो[8]नानु (नो) पलभ्यते तेनान्तर्गतं करणमन्तःकरणमित्युच्यते। इन्द्रियाणि चानिन्द्रियञ्च इन्द्रियानिन्द्रियाणि। तानि निमित्तानि यस्य मतिज्ञानस्य तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।

---

१ प्रभाते। २–द्धिरुच्यते आ०, ब०, द०, ज०। ३ तुलना–"स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा। बुद्धिस्तात्कालिकी प्रोक्ता प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥ प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः।"–काव्यद० पृ० ७। काव्यमी० १।४। ४ रचयति ब०। ५ "इन्द्र इति नामकर्मोच्यते तेन सृष्टमिन्द्रियमिति।" –स० सि० १।१४। ६ तदिन्द्रियम् आ०, द०, ब०, ज०। ७–शब्दः आ०, ब०, द०, ज०। ८ ना इत्युपल–आ०, ब०, द०, ज०।

ननु "अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा" [पा० महा० १।२।४७] इति परिभाषासूत्रबलादिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति सूत्रेणैव मतिज्ञानं लभ्यते, किमर्थं 'तत्'शब्दग्रहणम्? [1]तच्छब्द इहार्थमुत्तरसूत्रार्थञ्च गृह्यते। यन्मतिः (ति) स्मृतिः (ति) संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोधबुद्धिप्रज्ञामेधादिपर्यायशब्दवाच्यं ज्ञानं तद् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। तदेव अवग्रहेहावायधारणा अपि मतिज्ञानं भवति। अन्यथा प्रथमं ज्ञानं मतिस्मृत्यादिशब्दवाच्यं इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तं[2] श्रुतम्, अवग्रहेहावायधारणा अपि श्रुतमित्यनिष्टोऽर्थ उत्पद्यते। ततः कारणात् अवग्रहादि इन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तं स्मृत्यादि अनिन्द्रियनिमित्तमिति वेदितव्यम्।

अथ मतिज्ञानस्योत्पत्तिनिमित्तं ज्ञातम्। मतिज्ञानस्य भेदपरिज्ञानार्थं[3] सूत्रमिदं[4]माहुः—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रहणमवग्रहः। ईहनमीहा अवायनमवायः। धारणं धारणा। अवग्रहश्च ईहा च अवायश्च धारणा च अवग्रहेहावायधारणाः। एते चत्वारो भेदाः मतिज्ञानस्य भवन्ति। अवग्रहादीनां स्वरूपं निरूप्यते। अवग्रहस्य प्राक्सन्निपातमात्रदर्शनम्। अवग्रहस्तु मतिज्ञानस्य भेदः सन्निपातलक्षणदर्शनानन्तरमाद्यं[5]ग्रहणमवग्रह उच्यते। सन्निपातलक्षणं दर्शनं किम्? विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति। तत्पश्चादर्थस्य ग्रहणमवग्रह उच्यते, यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः। अवग्रहेण गृहीतो योऽर्थस्तस्य विशेषपरिज्ञानाकाङ्क्षणमीहा कथ्यते, यथा यच्छुक्लं रूपं मया दृष्टं तत्किं बलाका—बकभार्या[6] आहोस्वित् पताका—ध्वजा वर्तते? इति विशेषाकाङ्क्षणमीहा। तदनन्तरमेषा उत्पतति निपतति पक्षि (क्ष)विक्षेपादिकं करोति, तेन ज्ञायते—इयं बलाकैव भवति, पताका न भवति। एवं याथात्म्यावगमनं वस्तुस्वरूपनिर्धारणमवाय उच्यते। अवेतस्य सम्यक्परिज्ञातस्य यत्कालान्तरेऽविस्मरणकारणं ज्ञानं सा धारणेत्युच्यते। यथा या बलाका पूर्वाह्णे मया दृष्टा सैवेयं बलाका वर्तते। एवंविधं धारणालक्षणम्। अवग्रहेहावायधारणानामुपन्यासक्रमो विहितः। कोऽर्थः? उत्पत्ति[7]क्रमः कृत इत्यर्थः।

अथ अवग्रहादीनां चतुर्णां मतिज्ञानभेदानां प्रभेदपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अवग्रहेहावायधारणाः क्रियाविशेषाः क्रियाभेदाः प्रकृताः प्रस्तुताः। [8]तदपेक्षोऽयं कर्मनिर्देशो विषयनिर्देशः। अवग्रहादयः बह्वादीनां सेतराणां विषये भवन्तीत्यर्थः। बहुशब्दोऽत्र संख्यावाची वैपुल्यवाची च वेदितव्यः। संख्यावाची यथा एको द्वौ बहवः। वैपुल्यवाची यथा बहुः कूरः[9], बहुः सूपः। बहुश्च बहुविधश्च बहुप्रकारः, क्षिप्रं च अचिरम्, अनिःसृतश्च असकलपुद्गलः, अनुक्तश्च अभिप्राये स्थितम्, ध्रुवश्च निरन्तरं यथार्थग्रहणम्, बहुबहुविध-

---

१ तच्छब्दग्रहणार्थम्—आ०, ज०। तच्छब्दग्रह इहार्थमु—द०, ब०। २ —त्तम् अवग्र— आ०, ब०, द०, ज०। ३—ज्ञापना—ज०। ४—दं प्राहुः आ०, ब०, द०, ज०। ५—माद्यं ग्रहणम् आ०, ब०, द० ज०, ब०। ६ बलाभार्या ब०। ७—क्रम इत्यर्थ आ०, द०, ब०, ज०। ८ तदपेक्षया आ०, ब०, द०, ज०। ९ ओदनः।

क्षिप्राऽनिःसृतानुक्तध्रुवाणि, तेषां बहुबहुविधक्षिप्राऽनिःसृतानुक्तध्रुवाणाम्। कथम्भूतानाम्? सेतराणां प्रतिपक्षसहितानाम्। तेनायमर्थः—बहूनामवग्रहः तदितरस्याल्पस्यावग्रहः। बहुविधस्यावग्रहः तत्प्रतिपक्षभूतस्य एकविधस्यावग्रहः। क्षिप्रेणावग्रहः तदितरेण चिरेणावग्रहः। अनिःसृतस्यावग्रहः तदितरस्य निःसृतस्यावग्रहः। अनुक्तस्यावग्रहः तदितरस्योक्तस्यावग्रहः। ध्रुवस्यावग्रहः तदितरस्य अध्रुवस्यावग्रहः। एवमवग्रहो द्वादशप्रकारः। तथा ईहाऽपि द्वादशप्रकारा। तथा अवायोऽपि द्वादशप्रकारः। तथा धारणाऽपि द्वादशप्रकारा। एवं द्वादशचतुष्के अष्टचत्वारिंशत् भेदा भवन्ति। साष्टचत्वारिंशत् षड्भिरीन्द्रियैर्गुणिता अष्टाशीत्यधिका द्विशती भवति। तत्र बह्ववग्रहादयः षट्प्रकाराः। षण्णां प्रभेदाश्च ज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाद् भवन्ति। अल्पैकविधचिरनिःसृतोक्ताध्रुवाः षडितरे प्रकाराः ज्ञानावरणक्षयोपशमस्याप्रकर्षात् क्षयोपशममात्राद् भवन्ति। अत एव कारणात् बह्वादीनामर्चितत्वादादौ ग्रहणम्। **"यच्चार्चितं द्वयोः"** [कात० २।५।१३] इति वचनात्।

ननु बहुषु बहुत्वं वर्त्तते, बहुविधेष्वपि बहुत्वमस्ति कस्तयोर्विशेषः[१]? सत्यम्; एकप्रकारनानाप्रकारविहितोऽस्ति भेदः। ननु सकलपुद्गलनिःसरणान्निःसृतम्, उक्तश्चाप्येवंविधमेव, अनयोरपि निःसृतोक्तयोः कः प्रतिविशेषो वर्तते? सत्यम्; अन्योपदेशपूर्वकं यद् ग्रहणं तदुक्तमुच्यते। स्वयमेव परोपदेशमन्तरेणैव कश्चित् प्रतिपद्यते तद्ग्रहणं निःसृतमुच्यते। केचित्[२] क्षिप्रनिःसृत इति पठन्ति। त एवं [३]व्याख्यान्ति—श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य कुररस्य [४]वेति कश्चित् प्रतिपद्यते। अपरस्तु स्वरूपमेव प्रतिपद्यते। मयूरस्यैवायं [५]शब्दः अथवा कुररस्यैवायं शब्द इति [६]निर्द्धारयति स निःसृत उच्यते।

ननु ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च को विशेषः? कर्मणः क्षयोपशमलब्धिकाले निर्मलपरिणामसन्तानेन यः क्षयोपशमः प्राप्तस्तेन [७]प्रथमसमये यादृशोऽवग्रहः सञ्जातः तादृश एव द्वितीयतृतीयादिष्वपि समयेष्ववग्रहो भवति, तस्मादवग्रहान्न्यूनाधिको न भवति स ध्रुवाऽवग्रहः कथ्यते। यदा काले तु विशुद्धसंक्लिष्टपरिणामानां मिश्रणं भवति तस्मिन् काले यः कर्मणः क्षयोपशमो लब्धस्तस्मात् क्षयोपशमात् संजायमानोऽवग्रहः कदाचित् बहूनां भवति, कदाचिदल्पस्य भवति, कदाचिद् बहुविधस्यावग्रहो भवति कदाचिदेकविधस्यावग्रहो वा भवति, एवं न्यूनाधिकोऽवग्रहो अध्रुव उच्यते। धारणा तु अवगृहीतार्थानामविस्मरणकारणमिति ध्रुवाऽवग्रहधारणयोर्महान् भेदो वर्त्तते।

अथ यद्यवग्रहादयो बह्वादीनां विषयाणां स्वीकर्त्तारो भवन्ति तर्हि बह्वादीनि विशेषणानि कस्य भवन्तीति प्रश्ने उत्तरमाह—

अर्थस्य ॥ १७ ॥

१—शेषः एक-**आ०**, **ज०**। २—तुलना—**स० सि०** १।१६। ३ व्याख्यास्यन्ति। **आ०**। ४ वेति प्रति—**आ०**। ५ शब्द इति **द०**, **ब०**, **व०**, **ज०**, **ता०**। ६ निधारयति **ता०**। ७ प्रथमे सम—**आ०**, **ज०**, **द०**, **ब०**।

स्थिरः स्थूलरूपः चक्षुरादीन्द्रियाणां ग्राह्यो विषयो गोचरो गम्य इति यावत् वस्तुरूपोऽर्थ उच्यते। द्रव्यं वाऽर्थ उच्यते। तस्यार्थस्य बह्वादिविशेषणविशिष्टस्य अवग्रहेहावायधारणा भवन्तीति सम्बन्धः। किमर्थमिदं सूत्रमुच्यते यतः बह्वादिरर्थ एवास्ति ? सत्यम्; मिथ्यावादिकल्पनानिषेधार्थं सूत्रमिदमुच्यते। [1]केचिन्मिथ्यावादिन एवं मन्यन्ते। एवं किम् ? यद् रूपरसगन्धवर्णशब्दाः पञ्च गुणाः इन्द्रियैः किल [2]सन्निकृष्यन्ते, तेषां गुणानामवग्रहणमिति। तन्न सङ्गच्छते; रूपादयो गुणा अमूर्त्ताः, ते इन्द्रियसन्निकर्षं न प्राप्नुवन्ति[3]। यदि न प्राप्नुवन्ति तर्हि 'मया रूपं दृष्टम्, गन्धो मया आघ्रातः' इति न घटते; इयर्त्ति पर्यायान् अर्थः, अर्य्यते वा पर्यायैः यः सोऽर्थः द्रव्यम्, तस्मिन् द्रव्ये इन्द्रियैः सन्निकृष्यमाणे तस्मात् [4]द्रव्यात् रूपादीनामव्यतिरेके अपृथक्त्वे रूपादिष्वपि संव्यवहारो युज्यते। न च तथा सति सन्निकर्षः।

अथ [5]अव्यक्तस्य वस्तुनोऽवग्रह एव स्यान्न च ईहादय इत्यर्थप्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

व्यञ्जनस्य [6]अव्यक्तस्य शब्दादिसमूहस्य अवग्रह एव भवति। स बह्वादिरूपो द्वादशविधः। चक्षुर्मनोरहितान्यचतुर्भिरिन्द्रियैः प्रादुर्भाविताऽष्टचत्वारिंशत्प्रकारो भवति। पूर्वोक्ताऽष्टाशीत्यधिकद्विशतमेलितः षट्त्रिंशदधिकत्रिंशतप्रकारो मतिज्ञानभेदसमूहो भवति। किमर्थमिदं सूत्रम् ? नियमार्थमिदं सूत्रम्—व्यञ्जनस्य अवग्रह एव न ईहादयः। यथा नवशरावः [7]द्वित्रिजलकणैः सिक्तः सन् नार्द्रीभवति, स एव शरावः पुनः पुनः सिच्यमानः शनैः [8]शनैरार्द्रीभवति क्लिद्यति, तथा श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः शब्दादिपरिणताः पुद्गलाः [9]द्वि[त्रा]दिषु क्षणेषु गृह्यमाणाः न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति तु व्यक्तीभवन्ति। अतः कारणात् यावद् व्यक्तोऽवग्रहो न भवति तावद् व्यञ्जनावग्रह एव। उत्तरकाले तु व्यक्तस्य अवग्रहेहावायधारणा अपि भवन्ति। तर्हि [10]सूत्रे एवकारो गृहीतव्यः। कथम् ? 'व्यञ्जनस्य अवग्रह एव' इति सूत्रं विधीयताम्। सत्यम्; [11]सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थ एव। **"सिद्धे सति आरम्भो नियमाय" [ ] इति वचनात्।**

अथ सर्वेन्द्रियेषु व्यञ्जनाऽवग्रहे प्रसक्ते इन्द्रियद्वयनिषेधार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

चक्षुश्च अनिन्द्रियं च चक्षुरनिन्द्रिये, ताभ्यां चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। चक्षुषा अनिन्द्रियेण च मनसा व्यञ्जनावग्रहो न भवति। यतः कारणादप्राप्तमर्थं अविदिक्कं युक्तं सन्निकर्षविषयेऽवस्थितं बाह्यप्रकाशाभिव्यक्तं चक्षुरुपलभते। मनश्च अप्राप्तमुपलभते इति कारणात् चक्षु-

---

१ वैशेषिकाः। २ संकृष्यन्ते आ०, द०, ब०, ज०। ३–वन्ति तर्हि ता०। ४ द्रव्यात् इन्द्रियाणाम–ता०, ब०। ५–क्तवस्तु–आ०, ब०, द०, ज०। ६ अव्यक्तशब्दसमूहस्य आ०, द०, ब०, ज०। ७ द्विजल–आ०, द०, ब०, ज०। ८ सार्द्रीभवति ज०। सन्नार्द्रीभवति आ०, द०, ब०। –रार्द्रभ–ता०। ९ द्व्यादि–ता०। १० सूत्रेण आ०। ११ विधेरा–आ०, ब०, ज०।

मनसोः व्यञ्जनावग्रहो न भवति। चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं कथमवसीयते ? आगमाद्युक्तितश्च। कोऽसावागमः ?

> "पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं।
> गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं वियाणाहि[1] ॥" [ ]

कासौ युक्तिः ? चक्षुरप्राप्यकारि । कुतः ? स्पृष्टानवग्रहात् । यत् चक्षुषा स्पृष्टं तन्नावगृह्णातीत्यर्थः। यदि चक्षुः प्राप्यकारि स्यात् तर्हि स्पृष्टमञ्जनं त्वगिन्द्रियवत् तदवगृह्णीयात्। न चावगृह्णाति। चक्षुः स्पृष्टं वस्तु नेक्षत इत्यर्थः। ततः कारणात् मनोवत् चक्षुरप्राप्यकारीति वेदितव्यम्। तेन कारणेन चक्षुर्मनसी द्वे वर्जयित्वा स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियाणां चतुर्णामपि व्यञ्जनाऽवग्रहो भवत्येव। तत इत्यायातम्—इन्द्रियाणामनिन्द्रियस्य च अर्थाऽवग्रहः सिद्धः।

अथ लक्षणतो भेदतश्च मतिज्ञानं ज्ञातम्। श्रुतज्ञानस्य लक्षणं भेदप्रभेदाश्च वक्तव्या इति प्रश्ने सूत्रमित्यूचुः–

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रवणं श्रुतं ज्ञानविशेष इत्यर्थः, न तु श्रवणमात्रम्। यथा कुशं लुनातीति कुशलं रूढिवशात् पर्य्यवदानं क्षेम इत्यर्थः, न तु कुशस्य लवनम्। तथा श्रवणं श्रुतमित्युक्ते श्रवणमात्रं न भवति, किन्तु ज्ञानविशेषः। कोऽसौ ज्ञानविशेषः ? मतिपूर्वम्, मतिः पूर्वं निमित्तं कारणं यस्य तन्मतिपूर्वम्। पूरयति प्रमाणत्वमिति पूर्वमिति व्युत्पत्तेः। अथवा मतिः पूर्वोक्तलक्षणा पूर्वा[2] यस्य तन्मतिपूर्वं मतिकारणमित्यर्थः। ननु कारणसदृशं कार्यं भवतीति कारणात् श्रुतमपि मतिरेव; तदैकान्तिकं न भवति; चक्रचीवरदवरदण्डादिकारणो घटः न चक्रचीवरदवरदण्डात्मको भवति, चक्रादौ सत्यपि घटाभावात्। सत्यपि मतिज्ञाने [3]चक्षुरादिके बलवच्छ्रुतावरणकर्मादययुतस्य जीवस्य श्रुतज्ञानाभावात्। श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षे सति श्रुतज्ञानमुत्पद्यते। तेन कारणेन मतिज्ञानं श्रुतज्ञानस्य निमित्तमात्रं वर्त्तते, न तु श्रुतज्ञानं मत्यात्मकं वर्तत इति वेदितव्यम्।

अत्राह कश्चित्–श्रुतज्ञानं किलानादिनिधनं भवद्भिरुच्यते, तत्तु मतिपूर्वम्। मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य श्रुताऽभावः प्राप्नोति, यदादिमत् तदन्तवत्, तेन कारणेन पुरुषप्रारब्धत्वात् श्रुतज्ञानस्य न प्रामाण्यम्; सत्यम्; द्रव्यक्षेत्रकालादौ समर्प्पणे श्रुतज्ञानमनादिनिधनं वर्तते, चतुर्थकालादौ पूर्वविदेहादौ कल्पादिषु च श्रुतस्य सर्वसामान्यापेक्षणात्। न हि केनचित् पुरुषेण क्वचित् क्षेत्रे कदाचित् काले केनचित् प्रकारेण श्रुतज्ञानं कृतं वर्तते। द्रव्यादीनामेव विशेषापेक्षया श्रुतज्ञानस्य आदिरन्तश्च घटते। यतो [4]वृषभसेनादयो द्रव्यभूताः, तैः श्रुतज्ञानस्य आदिः कृतः। [5]वीराङ्गजान्तविशेषापेक्षया श्रुतस्यान्तः सङ्गच्छते। तेन श्रुतं

---

१ आव० नि० गा० ५। पञ्चसं० २।६८। "स्पृष्टं शृणोति शब्दमस्पृष्टं पुनरपि पश्यति रूपम्। गन्धं रसञ्च स्पर्शं बद्धं स्पृष्टं विजानाति ॥" २ पूर्वम् ज०। ३ चक्षुरादिजन्ये। ४ गणधराः। ५ वीरांगजानवि–आ०।

मतिपूर्वमित्युच्यते। यथा अङ्कुरः खलु बीजपूर्वको भवति। स चाङ्कुरः सन्तानापेक्षया अपरबीजापेक्षया अनादिनिधनः कथ्यते।

वेदाभिप्रायं जैनः खण्डयति। अपौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणं न भवति[1]। यतः अपौरुषेयः शब्दोऽपि नास्ति। येन पुरुषेण वेदाः कृताः स पुमान् भवद्भिर्न स्मर्यते। यदि वेदकृत्पुमान् भवद्भिर्न स्मर्य्यते तर्हि वेदाः [2]किमकृता भवन्ति ? तत्र दृष्टान्तः, यदि चौर्यपरदाराद्युपदे[3]शस्य कर्त्ता न स्मर्यते तर्हि तदुपदेशोऽपि अपौरुषेयः, तस्यापि [4]प्रामाण्यप्रसङ्गो भवति। न च वेदोऽकृत्रिमः। तथा चोक्तम्—

"वेदे हेतुं तु काणादा वदन्ति चतुराननम्।
जैनाः कालासुरं बौद्धाश्चाष्टकान् सकलाः सदा ॥ १ ॥" [ ]

पौरुषेयस्य श्रुतस्यानादिनिधनस्य च प्रत्यक्षादेः प्रामाण्ये सति को विरोधो वर्त्तते, न कश्चित् विरोध इत्यर्थः।

अत्राह कश्चित्—प्रथमसम्यक्त्वोत्पत्तिकाले मतिश्रुतयोर्युगपदुत्पत्तिर्भवति कथं मतिपूर्वं श्रुतमिति ? सत्यम्; सम्यक्त्वस्य समीचीनत्वस्य ज्ञाने तदपेक्षत्वात् सम्यक्त्वापेक्षत्वात्, श्रुतस्य [5]आत्मलाभः—उत्पादः क्रमवान् [6]इति कारणान्मतिपूर्वकत्वव्याघाताभावः। तथा चोक्तम्—

"कारणकज्जविहाणं दीवपयासाण जुगवजम्मे वि।
जुगवं जम्मेवि तहा हेऊ णाणस्स सम्मत्तं[7] ॥" [आरा० सा० गा० १३]

[8]यत्सम्यक्त्वं तन्मतिज्ञानं वेदितव्यम्, मानसव्यापारादिति।

ननु मतिपूर्वं श्रुतमिति श्रुतलक्षणं न घटते। कस्मात् ? यतः श्रुतपूर्वमपि[9] श्रुतं भवति। तद्यथा शब्दपरिणतपुद्गलस्कन्धात् स्थापितवर्णपदवाक्यादिभावात् चक्षुरादिगोचराच्च आद्यं श्रुतविषयभावमापन्नात्[10] अव्यभिचारिणः श्रुतात् श्रुतप्रतिपत्तिरिति। यथा विहितसङ्केतो जनः घटात् जलधारणादिकार्य्यं सम्बन्ध्यन्तरं प्रतिपद्यते धूमादेरग्न्यादिद्रव्यवत्। अस्यायमर्थः—घट इत्युक्ते घकारटकारविसर्गात्मकं शब्दं मतिज्ञानेन प्रतिपद्यते। तदनन्तरं घटात्—घटशब्दात् घटार्थं श्रुतज्ञानेन प्रतिपद्यते। तस्मादपि घटार्थात् जलधारणादिकार्यं श्रुतज्ञानेन प्रतिपद्यते। तथा चक्षुरादिविषयाद् धूमादेस्तत्रापि धूमदर्शनं मतिज्ञानम्। तस्मादग्निविषयज्ञानं श्रुतज्ञानम्।

१–ति अ–आ०। २ किं न कृता आ०। ३–देशकर्ता ज०। ४ "चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसङ्गात्।"–स० सि० पृ० ४८। "तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योऽप्यनराश्रयः। म्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्यवचसामपि ॥ अनादित्वाद् भवेदेवं पूर्वसंस्कारसन्ततेः। तादृशेऽपौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि गुणो भवेत् ॥"–प्रमाणवा० ३।२४५–४६। अष्टश०, अष्टस० पृ० २३८। सिद्धिवि० पृ० ४०८। ५ आत्मनो लाभः आ०, द०, ब०, ज०। ६ क्रमवान् मति–आ०, द०, ब०, ज०। ७ कारणकार्यविधानं दीपप्रकाशयोर्युगपज्जन्मन्यपि। युगपज्जन्मन्यपि तथा हेतुर्ज्ञानस्य सम्यक्त्वम् ॥ ८ तत् सम्य–आ०, द०, ब०, ज०। ९ श्रुतपूर्वमित्यपि श्रुतं आ०। १०–भावापन्नात् आ०।

तस्मादपि दाहपाकादिकार्य्यं श्रुतमिति। एवं श्रुतात् श्रुतं भवति, कथं मतिपूर्वं श्रुतमिति घटते ? सत्यम् ; श्रुतपूर्वस्य श्रुतस्यापि मतिपूर्वकत्वमुपचर्य्यते । यस्माच्छ्रुतात् श्रुतमुत्पन्नं-तच्छ्रुतमपि क्वचित् प्रघट्टके मतिरित्युपचर्य्यते–व्यवह्रियते, तेन कारणेन मतिपूर्वं श्रुतमिति क्वापि न व्यभिचरति ।

पुनरपि कथम्भूतं श्रुतम् ? द्व्यनेकद्वादशभेदम्। द्वौ भेदौ यस्य तद् द्विभेदम्। अनेके भेदाः यस्य तत् अनेकभेदम्। द्विभेदञ्च तत् अनेकभेदञ्च द्व्यनेकभेदम्। द्वादश भेदाः यस्य तत् द्वादशभेदम्। द्व्यनेकभेदञ्च तत् द्वादशभेदञ्च द्व्यनेकद्वादशभेदम्। अनया रीत्या एकत्र गृहीतोऽपि भेदशब्दः त्रिषु स्थानेषु प्रयुज्यते । अस्यायमर्थः–श्रुतं पूर्वोक्तमतिपूर्ववि[1]-शेषणविशिष्टं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदञ्च भवति। तत्र अङ्गबाह्याङ्गप्रविष्टभेदात् द्विभेदम्। तयोर्द्वयोर्भेदयोर्मध्ये यदङ्गबाह्यं श्रुतं तदनेकभेदम्, मुख्यवृत्त्या चतुर्दशभेदं प्रकीर्णकाभिधान-मित्यर्थः। यदङ्गप्रविष्टं तत् द्वादशभेदम्।

ते के [2]अङ्गबाह्यश्रुतस्य भेदा इति चेत् ? उच्यते[3]। सामायिकं सामायिकविस्तरकथकं शास्त्रम्। १। चतुर्विंशतितीर्थङ्करस्तुतिरूपः स्तवः। २। एकतीर्थङ्करस्तवनरूपा वन्दना। ३। कृतदोषनिराकरणहेतुभूतं [4]प्रतिक्रमणम्। ४। चतुर्विधविनयप्रकाशकं वैनयिकम्। ५। दीक्षाशिक्षादिसत्कर्म्मप्रकाशकं कृतिकर्म्म। ६। [6]वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथकं यतीनामाचारकथकञ्च दशवैकालिकम्। ७। भिक्षूणामुपसर्गसहनफलनिरूपकमुत्तराध्यय-नम्। ८। यतीनां योग्यसेवनसूचकमयोग्यसेवने प्रायश्चित्तकथकं कल्पव्यवहारम्। ९। कालमाश्रित्य यतिश्रावकाणां योग्यायोग्यनिरूपकं कल्पाकल्पम्। १०। यतिदीक्षाशिक्षा-भावनात्मसंस्कारोत्तमार्थगणपोषणादिप्रकटकं महाकल्पम्। ११। देवपदप्राप्तिपुण्यनिरूपकं पुण्डरीकम्। १२। देवाङ्गनापदप्राप्तिहेतुपुण्यप्रकाशकं महापुण्डरीकम्। १३। प्रायश्चित्त-निरूपिका [7]अशीतिका चेति। १४।

चतुर्दश प्रकीर्णकानि आरातीयैराचार्य्यैः कालदोषात् संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्योपकारार्थ-मुपनिबद्धानि। अर्थतः तीर्थकरपरमदेवप्रोक्तं सामान्यकेवलिप्रोक्तञ्च[8] श्रुतं श्रुत्वा गणधरदेवा-दिभिः श्रुतकेवलिभी रचितमङ्गप्रविष्टशास्त्रार्थं गृहीत्वा आधुनिकैर्यतिभी रचितमपि तदेवेदमिति ज्ञात्वा प्रकीर्णकलक्षणं शास्त्रं प्रमाणम्, क्षीरसागरतोयं [9]नीपगृहीतमिव । चतुर्दशप्रकीर्णक-

---

१–विशेषेण विशिष्टभेदम् आ०, द०, ब०, ज०। २ अङ्गबाह्यश्रुतभेदानां निरूपणाय द्रष्ट-व्यम्–जयध० पृ० ९७–१२१। ३ उच्यन्ते आ०, द०, ज०। ४–विषयकम् ब०। ५ प्रतिक्रमणं चतुर्विधम्। आ०, द०, ब०, ज०। ६ "विकाले अपराह्ने स्थापितानि न्यस्तानि द्रुमपुष्पकादीन्य-ध्ययनानि यतः तस्मात् दशकालिकं नाम।"–दश० नि० हरि० गा० १५, २०–३०। जयध० पृ० १२ टि० २। द्रुमपुष्पकादीनाम् अध्ययननाम्नां स्थाने वृक्षकुसुमादिशब्दः प्रयुक्तः इति भाति। ७ आशीतिका आ०, ब०, ज०। ८ प्रोक्तञ्च श्रुत्वा आ०, द०, ब०, ज०। ९ निरुपगृहीत–आ०, निपगृहीत ज०। नीपो घटः।

शास्त्रग्रन्थप्रमाणं पञ्चविंशतिलक्षाणि त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शतानि अशीत्यधिकानि श्लोकानां भवन्ति, [1]पञ्चदशाक्षराणि च २५०३३८० श्लोकाः अक्षराणि १५।

अङ्गप्रविष्टं शास्त्रं द्वादशप्रकारम्। यत्याचारसूचकमष्टादशसहस्रपदप्रमाणमाचाराङ्गम्।१। ज्ञानविनयच्छेदोपस्थापनाक्रियाप्रतिपादकं षट्त्रिंशत्सहस्रपदप्रमाणं सूत्रकृताङ्गम्।२। षट्द्रव्यैकाद्युत्तरस्थानव्याख्यानकारकं द्वाचत्वारिंशत्पदसहस्रप्रमाणं स्थानाङ्गम्।३। धर्माऽधर्मलोकाकाशैकजीवसप्तनरकमध्यबिलजम्बूद्वीपसर्वार्थसिद्धिविमाननन्दीश्वरद्वीपवापिकातुल्यैकलक्षयोजनप्रमाण[2]निरूपकं भवभावकथकं चतुःषष्टिपदसहस्राधिकलक्षपदप्रमाणं समवायाङ्गम्।४। जीवः किमस्ति नास्ति वा इत्यादिगणधरकृतप्रश्नषष्टिसहस्रप्रतिपादकमष्टाविंशतिसहस्राधिकद्विलक्षपदप्रमाणा व्याख्याप्रज्ञप्तिः।५। तीर्थङ्करगणधरकथाकथिका षट्पञ्चाशत्सहस्राधिकपञ्चलक्षपदप्रमाणा ज्ञातृकथा।६। श्रावकाचारप्रकाशकं सप्ततिसहस्राधिकैकादशलक्षपदप्रमाणमुपासकाध्ययनम्।७। तीर्थङ्कराणां [3]प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति ते तु उपसर्गान् सोढ्वा मोक्षं यान्ति, तत्कथानिरूपकमष्टाविंशतिसहस्राधिकत्रयोविंशतिलक्षपदप्रमाणमन्तकृद्दशम्।८। तीर्थङ्कराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति ते तु उपसर्गं सोढ्वा पञ्चानुत्तरपदं प्राप्नुवन्ति, तत्कथानिरूपकं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राधिकद्विनवतिलक्षपदप्रमाणमनुत्तरौपपादिक[4]दशम्।९। नष्टमुष्ट्यादिकप्रश्नानामुत्तरप्रदायकं षोडशसहस्राधिकत्रिनवतिलक्षपदप्रमाणं प्रश्नव्याकरणम्।१०। कर्मणामुदयोदीरणासत्ताकथकं चतुरशीतिलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं विपाकसूत्रम्[5]।११।

[6]दृष्टिवादनामधेयं द्वादशमङ्गं तत्पञ्चप्रकारं भवति। परिकर्म (१) सूत्र (२) प्रथमानुयोग (३) पूर्वगत (४) चूलिका (५) भेदात्। तेषु [7]पञ्चसु विधेषु प्रथमं परिकर्म। तदपि पञ्चप्रकारम्—चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्य्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-द्वीपसागरप्रज्ञप्ति-व्याख्याप्रज्ञप्तिभेदात्। तत्र पञ्चसु प्रज्ञप्तिषु मध्ये पञ्चसहस्राधिकषट्त्रिंशल्लक्षपदप्रमाणा चन्द्रायुर्गतिविभवप्ररूपिका चन्द्रप्रज्ञप्तिः।१। तथा सूर्य्यायुर्गतिविभवनिरूपिका त्रिसहस्राधिकपञ्चलक्षपदप्रमाणा सूर्य्यप्रज्ञप्तिः।२। जम्बूद्वीपवर्णनाकथिका पञ्चविंशतिसहस्राधिकत्रिलक्षपदप्रमाणा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिः।३। सर्वद्वीपसागरस्वरूपनिरूपिका षट्त्रिंशत्सहस्राधिकद्वापञ्चाशल्लक्षपदप्रमाणा द्वीपसागरप्रज्ञप्तिः।४। रूप्यरूप्यादिषट्द्रव्यस्वरूपनिरूपिका षट्त्रिंशत्सहस्राधिकचतुरशीतिलक्षपदप्रमाणा व्याख्याप्रज्ञप्तिः।५। एवं परिकर्म पञ्चप्रकारम्।

जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्थापकं भूतचतुष्टयादिभव[8]स्योद्भापकमष्टाशीतिलक्षपद-

---

१ द्रष्टव्यम्—जयध० पृ० ९३ टि० २। २—माणभवभाव—आ०, ब०, द०, ज०। ३ प्रतिदश मुनयो भवन्ति आ०, ब०, ज०। ४—दशाङ्गम् ब०। ५ एतेषां लक्षणानां पदसंख्यायाश्च विशेषतुलनार्थं द्रष्टव्यम्—ध० टी० सं० पृ० ९९–१०७। जयध० प्र० पृ० ९३–९४–१२२–१३२। ६ दृष्टिवादस्य विशेषस्वरूपपरिज्ञानाय द्रष्टव्यम्—ध० टी० सं० पृ० १०८–१२२। जयध० प्र० पृ० ९४–९६, १३२–१४८। ७ पञ्चवि—आ०, ब०, द०, ज०। ८—स्योत्थापक—आ०, ब०, ज०, ता०। उच्छेदकमित्यर्थः।

प्रमाणं सूत्रम्। त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषचरित्रकथकः [1]पञ्चसहस्रपदप्रमाणः प्रथमानुयोगः।

चतुर्दशपूर्वस्वरूपं पूर्वगतम्। तत्र वस्तूनामुत्पादव्ययध्रौव्यादिकथकं कोटिपदप्रमाणमुत्पादपूर्वम् ।१। अङ्गानामग्रभूतार्थनिरूपकं षण्णवतिलक्षपदप्रमाणमग्रायणीयपूर्वम् ।२। [2]बलदेववासुदेवचक्रवर्त्तिशक्रतीर्थङ्करादिबलवर्णकं सप्ततिलक्षपदप्रमाणं वीर्यानुप्रवादपूर्वम्।३। जीवादिवस्त्वस्ति नास्ति चेति प्रकथकं षष्टिलक्षपदप्रमाणमस्तिनास्तिप्रवादपूर्वम्।४। अष्टज्ञानतदुत्पत्तिकारणतदाधारपुरुषप्ररूपकमेकोनकोटिपदप्रमाणं ज्ञानप्रवादपूर्वम्।५। वर्णस्थानतदाधारद्वीन्द्रियादिजन्तुवचनगुप्तिसंस्कारप्ररूपकं षडधिककोटिपदप्रमाणं सत्यप्रवादपूर्वम्।६। ज्ञानाद्यात्मककर्तृत्वादियुतात्मस्वरूपनिरूपकं षड्विंशतिकोटिपदप्रमाणमात्मप्रवादपूर्वम् ।७। कर्म्मबन्धोदयोपशमोदीरणानिर्जराकथकमशीतिलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं कर्म्मप्रवादपूर्वम्।८। द्रव्यपर्य्यायरूपप्रत्याख्याननिश्चलनकथकं चतुरशीतिलक्षपदप्रमाणं प्रत्याख्यानपूर्वम्।९। पञ्चशतमहाविद्याः सप्तशतक्षुद्रविद्या अष्टाङ्गमहानिमित्तानि[3] प्ररूपयत् दशलक्षाधिककोटिपदप्रमाणं विद्यानुप्रवादपूर्वम्।१०। तीर्थङ्करचक्रवर्त्तिबलभद्रवासुदेवेन्द्रादीनां पुण्यव्यावर्णकं षड्विंशतिकोटिपदप्रमाणं कल्याणपूर्वम् ।११। [4]अष्टाङ्गवैद्यविद्यागारुडविद्यामन्त्रतन्त्रादिनिरूपकं त्रयोदशकोटिपदप्रमाणं प्राणावायपूर्वम्।१२। छन्दोऽलङ्कारव्याकरणकलानिरूपकं नवकोटिपदप्रमाणं क्रियाविशालपूर्वम्।१३। [5]निर्वाणपदसुखहेतुभूतं सार्धद्वादशकोटिपदप्रमाणं लोकबिन्दुसारपूर्वम्।१४। इति चतुर्दश पूर्वाणि।

प्रथमपूर्वे दश वस्तूनि। द्वितीयपूर्वे चतुर्दश वस्तूनि। तृतीयपूर्वे अष्टौ वस्तूनि। चतुर्थपूर्वेऽष्टादश वस्तूनि। पञ्चमपूर्वे द्वादश वस्तूनि। षष्ठपूर्वेऽपि द्वादश वस्तूनि। सप्तमपूर्वे षोडश वस्तूनि। अष्टमपूर्वे विंशतिवस्तूनि। नवमपूर्वे त्रिंशद्वस्तूनि। दशमपूर्वे पञ्चदश वस्तूनि। एकादशे पूर्वे दश वस्तूनि। द्वादशे पूर्वेऽपि दश वस्तूनि। त्रयोदशे पूर्वेऽपि दश वस्तूनि। चतुर्दशे पूर्वेऽपि दश वस्तूनि। एवं सर्वाणि वस्तूनि पञ्चनवत्युत्तरशतं [6]भवन्ति। एकैकस्मिन् वस्तुनि विंशति विंशति प्राभृतानि भवन्ति। एवं प्राभृतानां नवशताधिकानि त्रीणि सहस्राणि वेदितव्यानि।३९००।

द्वितीयस्मिन् पूर्वे यानि चतुर्दश वस्तूनि कथितानि तेषामिमानि नामानि [7]वेदितव्यानि–

१–सहस्रप्रमाणः ता०। २ बलदेवचक्रवर्तितीर्थ –आ०, द०, ब०, ज०। बलदेववासुदेवचक्रवर्तितीर्थ–ब०। ३ "अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।" –त० राज० १।२०। ४ "शल्यं शालाक्यं कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्यमगदतन्त्रं रसायनतन्त्रम् वाजीकरणतन्त्रमिति।" –सुश्रुत० पृ० १। ५ निर्वाणसुख –आ०, द०, ब०, ज०। ६ भवति आ०, ब०, ज०। ७ "पुव्वंते अवरंते धुवे अद्धुवे चयणलद्धी अद्धुवमं पणिधिकप्पे अट्ठे भोम्मावयादीए सवट्ठे कप्पणिज्जाणे तीदे अणागय-काले सिज्झये बज्झये त्ति चोद्दस वत्थूणि।"–ध० टी० सं० पृ० १२३। "पूर्वान्तं ह्यपरान्तं ध्रुवमध्रुवच्यवनलब्धिनामानि। अध्रुवं सप्रणिधिं चाप्यर्थं भौमावयाद्यं च॥ सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानमतीतं त्वनागतं कालं। सिद्धिमुपाध्यं च तथा चतुर्दश वस्तूनि द्वितीयस्य॥" –श्रुतभ० पृ० ८–९।

पूर्वान्तः परान्तः ध्रुवम् अध्रुवम् च्यवनलब्धिः अध्रुवसम्प्रणिधिः अर्थः भौमावयाद्यं सर्वार्थकल्पनीयं ज्ञानम् अतीतकालः अनागतकालः सिद्धिःउपाध्यश्चेति (?) । च्यवनलब्धिनाम्नि वस्तुनि यानि विंशतिप्राभृतकानि वर्तन्ते तेषु यच्चतुर्थं प्राभृतं तस्य ये चतुर्विंशतिरनुयोगास्तेषामिमानि नामानि[1]–कृतिः वेदना स्पर्शनं कर्म्म प्रकृतिः बन्धनं निबन्धनं प्रक्रमः अनुपक्रमः अभ्युदयः मोक्षः सङ्क्रमः लेश्या लेश्याकर्म्म लेश्यापरिणामः सातमसातं दीर्घं ह्रस्वं भवधारणीयं पुद्गलात्मा निधत्तमनिधत्तम् सनिकाचितमनिकाचितं कर्म्मस्थितिकं पश्चिमस्कन्धः । अत्राल्पबहुत्वं पञ्चविंशतितमोऽधिकारः चतुर्विंशत्यनुयोगानां साधारणः । तेन सोऽपि चतुर्विंशतितम एव कथ्यते इति चतुर्दशपूर्वाधिकारः समाप्तः । एवं द्वादशे अङ्गे चत्वारोऽधिकारा गताः ।

इदानीं पञ्चमोऽधिकारः[2] प्रोच्यते । सोऽपि पञ्चप्रकारः–जलगताचूलिका-स्थलगताचूलिका-मायागताचूलिका-आकाशगताचूलिका-रूपगताचूलिकाभेदात् । तत्र जलस्तम्भनजलवर्षणादिहेतुभूतमन्त्रतन्त्रादिप्रतिपादिका [3]द्विशताधिकनवाशीतिसहस्रनवलक्षाधिकद्विकोटिपदप्रमाणा जलगता चूलिका ।१। तथा स्तोककालेन बहुयोजनगमनादिहेतुभूतमन्त्रतन्त्रादिनिरूपिका पूर्वोक्तपदप्रमाणा स्थलगता चूलिका ।२। इन्द्रजालादिमायोत्पादकमन्त्रतन्त्रादिनिरूपिका[4] पूर्वोक्तपदप्रमाणा मायागता चूलिका ।३। गगनगमनादिहेतुभूतमन्त्रतन्त्रादिप्रकाशिका पूर्वोक्तपदप्रमाणा आकाशगता चूलिका ।४। सिंहव्याघ्रगजतुरगनरसुरवरादिरूपविधायकमन्त्रतन्त्राद्युपदेशिका पूर्वोक्तपदप्रमाणा रूपगता चूलिका चेति ।५। एवं पञ्चविधा चूलिका समाप्ता । द्वादशस्याङ्गस्य दृष्टिवादनामधेयस्य परिकर्म्म-सूत्र-प्रथमानुयोग-पूर्वगत-चूलिकाभिधानाः पञ्च महाधिकाराः समाप्ताः ।

अत्र या पदैः सङ्ख्या कृता तस्य पदस्य ग्रन्थसङ्ख्या कथ्यते–एकपञ्चाशत्कोटयो अष्टलक्षाश्चतुरशीतिसहस्राणि षट्शतानि सार्धैकविंशत्यधिकानि अनुष्टुप्[5]गुणितानि एकस्मिन् पदे भवन्तीति वेदितव्यम् । इत्येकपदग्रन्थसङ्ख्या ५१०८८४६२१ । इति पदग्रन्थः, तथाक्षर(राणि) १६ । ईदृग्विधानि पदानि अङ्गपूर्वस्य श्रुतस्य कियन्ति भवन्ति ? [6]कोटीनां शतं द्वादशकोट्यश्च[7] त्र्यशीतिलक्षाणि अष्टपञ्चाशत्सहस्राणि पदानां पञ्चपदाधिकानि भवन्ति ।

अथ प्रत्यक्षं प्रमाणं त्रिविधम् । तत्र देशप्रत्यक्षं प्रमाणम् अवधिर्मनःपर्य्ययश्च । सर्वप्रत्यक्षं केवलज्ञानम् । तत्रावधिर्द्विविधः–भवप्रत्यय-क्षयोपशमनिमित्तभेदात् । तत्र भवप्रत्ययोऽवधिरुच्यते–

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

---

१ द्रष्टव्यम्–ध० टी० सं० पृ० १२५ । दशभ० पृ० ९ । २ कथ्यते आ०, ब०, द०, ज० । ३–धिककोटि –आ०, द०, ब०, ज० । ४–प्रतिरूपिका आ० । ५–गुणतानि आ०, ब० । गनितानि ज० । ६ "बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तह य होंति लक्खाणं । अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ॥" –गो० जी० गा० ३४९ । ७–श्च अशीति–ता० । ८–प्रत्ययावधिः आ० ।

[1]आयुःकर्म्म–नामकर्म्मोदयनिमित्तको जीवस्य पर्यायः भव उच्यते । ईदृग्विधो भवः[2] प्रत्ययः कारणं हेतुर्निमित्तं यस्यावधेः स भवप्रत्ययः । ईदृग्विधोऽवधिर्देवनारकाणां देवानां नारकाणाम् । ननु एवंविधस्यावधेः[3] यदि भवः कारणमुक्तं [4]तर्हि कर्मक्षयोपशमः कारणं न भवति; सत्यम्; भवः[5] प्रधानकारणं भवति यथा पक्षिणामाकाशगमनं भवकारणम्, न तु शिक्षा-गुणविशेष आकाशगमनकारणं भवति । तथैव देवानां नारकाणां च व्रतनियमादीनामभावेऽपि अवधिर्भवति, तेन कारणेन मुख्यतया भव एवाऽवधेः कारणमुच्यते । क्षयोपशमस्त्ववधेः साधा-रणं कारणम्, तत्तु गौणम्, तेन तन्नोच्यते । अन्यथा भवः साधारणो वर्तते, स तु एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामपि विद्यत एव तेषामप्यविशेषादवधेः प्रसङ्गः स्यात् । तथा च देवनारकेषु [7]प्रकर्षाऽप्रकर्षवृत्तिरवधिर्भवति । देवनारकाणामिति अविशेषोक्तावपि सम्यग्दृष्टीनामेव अवधि-र्भवति मिथ्यादृष्टीनां देवनारकाणामन्येषाञ्च विभङ्गः कथ्यते । [8]अथ कोऽसौ [9]प्रकर्षाऽप्रकर्ष-वृत्तिरवधिरिति चेत् ? उच्यते–[10]सौधर्म्मैशानेन्द्रौ प्रथमनरकपर्य्यन्तं पश्यतः । सनत्कुमारमा-हेन्द्रौ द्वितीयनरकान्तमीक्षेते । ब्रह्मलान्तवेन्द्रौ तृतीयनरकपर्य्यन्तमीक्षेते । शुक्रसहस्रारेन्द्रौ चतुर्थनरकपर्य्यन्तं विलोकेते । आनतप्राणतेन्द्रौ पञ्चमपृथिवीपर्य्यन्तं निभालयतः । आरणा-च्युतेन्द्रौ षष्ठनरकपर्य्यन्तं विलोकयतः । नवग्रैवेयकोद्भवाः सप्तमनरकपर्य्यन्तं निरीक्षन्ते । अनुदिशानुत्तराः सर्वलोकं पश्यन्ति । तथा [11]प्रथमनरकनारका योजनप्रमाणं पश्यन्ति । द्वितीय-नरकनारका अर्धगव्यूतिहीनं योजनं यावत्पश्यन्ति । तृतीयनरकनारका गव्यूतित्रयं पश्यन्ति । चतुर्थनरकनारकाः सार्द्धद्विगव्यूतिपर्य्यन्तं पश्यन्ति । पञ्चमनरकनारका द्विगव्यूतिपर्य्यन्तं पश्यन्ति । षष्ठनरकनारकाः सार्द्धगव्यूतिपर्य्यन्तं पश्यन्ति । सप्तमनरकनारका गव्यूति-पर्य्यन्तं पश्यन्तीति वेदितव्यम् ।

अथ क्षयोपशमनिमित्तोऽवधिः कथ्यते—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

कर्म्मपुद्गलशक्तीनां क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च स्पर्धकं तावदुच्यते । अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्द्धकानामुदये सति, सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयाभावः क्षय उच्यते, तेषामेव सर्वघाति-स्पर्द्धकानामनुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशम उच्यते, क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, तौ निमित्तं कारणं यस्याऽवधेः स क्षयोपशमनिमित्तः । कतिभेदः ? षड्विकल्पः । एवंविधोऽवधिः शेषाणां मनुष्याणां तिरश्चाञ्च भवतीति वेदितव्यम् । स चावधिः संज्ञिनां पर्याप्तकानाञ्च भवति न त्वसंज्ञिनां नाप्यपर्याप्तकानां भवति सामर्थ्याभावात् । तेषामपि सोऽवधिः सर्वेषां न

---

१ आयुष्कर्म आ०, ब०, द० । २ भवप्रत्ययः ता० । ३–वधेयादिभ–ता० । ४ तर्हि क्षयो–आ०, ब०, व०, द०, ज० । ५ भवः प्रधानं भ–आ०, ब०, ज० । ६–गमनस्य प्रधानकारणं न तु आ०, ब०, द०, ज० । ७ प्रकर्षप्रवृत्तिर–आ०, ब०, द०, ज० । ८ अत्र को–ब० । अथ काऽसौ द० । ९ प्रकर्षप्रवृत्तिः आ०, ब०, द०, ज० । १० महाबंध० गा० ११-१३ । ११ प्रथमनारका नर-कयोः–आ०, ब० । –गो० जी० गा० ४२३ । १२ स्य देशघातिस्पर्धकानामुदयाभावः आ०, ब०, ज० ।

भवति किन्तु यथोक्तसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोलक्षणकारणसन्निधाने सति उपशान्त[1]क्षीणकर्म्मणामवधेरुपलब्धिर्भवति । तदुपलब्धौ सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे सत्यपि यत् क्षयोपशमग्रहणं सूत्रे कृतं तन्नियमार्थं ज्ञातव्यम् । कोऽसौ नियमः ? क्षयोपशम[2] एव निमित्तं वर्तते न[3] तु शेषाणां भवो निमित्तमस्ति ।

ते के षड्विकल्पा इति चेद् ? [4]उच्यते–अनुगाम्यननुगामी वर्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थितश्चेति । कश्चित् अवधिर्गच्छन्तं भवान्तरं [5]प्राप्नुवन्तमनुगच्छति पृष्ठतो याति, सवितुः प्रकाशवत् । १ । कश्चिदवधिर्नैवानुगच्छति, तत्रैवातिपतति, विवेकपराङ्मुखस्य प्रश्ने सत्यादेष्टृपुरुषवचनं यथा तत्रैवातिपतति, न तेनाग्रे [6]प्रवर्त्त्यते । २ । कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिपरिणामसन्निधाने सति यावत्परिमाण उत्पन्नः तस्मा[7]दधिकाधिको वर्द्धते असङ्ख्येयलोकपर्यन्तम्, अरणिकाष्ठनिर्मथनोद्भूतशुष्कपर्णोपवर्धमानेन्धनराशिप्रज्वलितहिरण्यरेतोवत् । ३ । कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणहान्याऽऽर्त्तरौद्रपरिणामवृद्धिसंयोगात् यावत्परिमाण उत्पन्नस्तस्माद् हीयते अङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागो यावत्, नियतेन्धनसन्ततिसंलग्न[8]वह्निज्वालावत् । ४ । कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थितेः यावत्परिमाण उत्पन्नस्तावत्परिमाण एव तिष्ठति हानिं वृद्धिञ्च न प्राप्नोति भवक्षयपर्यन्तं केवलज्ञानोत्पादपर्यन्तं वा, लाञ्छनवत् । ५ । कश्चिदवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानिकारणात् यावत्परिमाण उत्पन्नस्तस्मात् वर्धते हीयते च, यावद्वर्द्धितव्यम् यावद् हातव्यं च, प्रभञ्जनरयचोदितकमलकल्लोलवत् । ६ । एवं[9]भेदा अवधेः देशावधेरेव वेदितव्याः । परमावधिसर्वावधी विशिष्टसंयमोत्पन्नौ हानिवृद्धिरहितौ ज्ञातव्यौ । तौ तु चरमशरीरस्यैव भवतः । गृहस्थावस्थायां तीर्थङ्करस्य देवनारकाणाञ्च देशावधिरेव वेदितव्यः ।

अथ मनःपर्य्ययज्ञानस्य प्रकारपूर्वकं लक्षणमालक्षयति—

ऋजुविपुलमती मनःपर्य्ययः ॥ २३ ॥

वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात् निर्वर्तिता पश्चाद्वालिता[10] व्याघोटिता ऋज्वी मतिरुच्यते, सरला च मतिः ऋज्वी कथ्यते । वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानादनिर्वर्त्तिता न पश्चाद्वालिता न व्याघोटिता तत्रैव स्थिरीकृता मतिर्विपुला प्रतिपद्यते । कुटिला च मतिः विपुला कथ्यते । ऋज्वी मतिर्विज्ञानं यस्य मनःपर्य्ययस्य स ऋजुमतिः । विपुला मतिर्यस्य मनःपर्य्ययस्य स विपुलमतिः । तौ ऋजुविपुलमती **"पुंवद्भाषितपुंस्कानूङ् पूरण्यादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे ।"** [का० सू० २.५।१८] । एकस्य मतिशब्दस्य विज्ञातार्थत्वादप्रयोगः रूपे रूपं प्रविष्टम् । **"सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"** [पा० सू० १।२।६४] ।

१–न्तकर्म–आ०, ब०, द०, ज० । २–मनि–आ०, ब०, द०, ज० । ३ ननु आ०, ब०, ज० । ४ उच्यन्ते आ०, ब०, द०, ज० । ५ प्राप्नुवन्ति आ०, ब०, द०, ज० । ६ प्रवर्तते आ०, द०, ब०, व०, ज० । ७–दधिको व–आ०, द०, ब०, ज० । ८ अग्नि । ९ पञ्चमे–आ०, द०, ब०, ता० । १०–द्वारिता ता० ।

अथवा ऋजुश्च विपुला च ऋजुविपुले तादृशे मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती । अमुना प्रकारेण मनःपर्य्ययो द्विप्रकारो भवति–ऋजुमतिः विपुलमतिश्चेति । मनःपर्य्ययस्य भेदः प्रोक्तः ।

इदानीं लक्षणमुच्यते–वीर्यान्तराय-मनःपर्य्ययज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भात् आत्मनः परकीयमनोलब्धवृत्तिरुपयोगो मनःपर्यय उच्यते । श्रुतज्ञानव्याख्यानावसरे यथा श्रुतस्य मत्यात्मकत्वं निषिद्धं तथा मनःपर्ययज्ञानस्यापि मत्यात्मकत्वं नाशङ्कनीयमिति ।

ऋजुमतिर्मनःपर्य्ययः कालापेक्षया जघन्यतया जीवानां स्वस्य च द्वे त्रीणि वा भवग्रहणानि गत्यागत्यादिभिर्निरूपयति । उत्कर्षेण सप्तभवग्रहणान्यष्ट वा गत्यागत्यादिभिः प्रकाशयति । क्षेत्रतो जघन्यतया गव्यूतिपृथक्त्वम् । उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्य आभ्यन्तरं प्ररूपयति न बहिः प्ररूपयति । विपुलमतिर्मनःपर्य्ययः कालापेक्षया जघन्यतया सप्ताष्टानि (ष्ट) भवग्रहणानि प्ररूपयति । उत्कर्षेणासङ्ख्येयानि गत्यागत्यादिभिर्निरूपयति । क्षेत्रापेक्षया जघन्यतया योजनपृथक्त्वम् । उत्कर्षेण मानुषोत्तरपर्वताभ्यन्तरं प्ररूपयति, तद्बहिर्न जानाति ।

अथ मनःपर्य्ययज्ञानभेदयोर्भूयोऽपि विशेषज्ञानपरिज्ञापनार्थं प्राहुः—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

मनःपर्य्ययज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमादात्मनः प्रसन्नता विशुद्धिरुच्यते । संयमात्प्रच्यवनं प्रतिपातः, न प्रतिपातः अप्रतिपातः । विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम् । विशुद्ध्या अप्रतिपातेन च विशुद्धेरप्रतिपाताद्वा तद्विशेषः–ऋजुमतिविपुलमत्योर्विशेषो भवति । तत्र उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहाधिक्यात् संयमशिखरात् पतितस्य प्रतिपातो भवति । क्षीणकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकाभावादप्रतिपातः स्यात् । ऋजुमतेः सकाशाद्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरो भवति । कथमिति चेत् ? उच्यते– यः सर्वावधिज्ञानेन कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः प्रबुद्धः सोऽन्त्यभागः पुनरपि अनन्तभागीक्रियते, तेष्वप्यनन्तभागेषु योऽन्त्यो भागो वर्त्तते स ऋजुमतिना गम्यते, ऋजुमतेर्विषयो भवति । यः ऋजुमतेः विषयो भवति सोऽपि भागोऽनन्तभागीक्रियते, तेष्वप्यनन्तभागेषु योऽन्त्यो भागः स विपुलमतेर्विषयो भवति । एवंविधसूक्ष्मद्रव्यपरिज्ञायकत्वात् विपुलमतेर्द्रव्यक्षेत्रकालतो विशुद्धिरुत्कृष्टा भवति । भावतो विशुद्धिस्तु सूक्ष्मतरद्रव्यगोचरत्वादेव ज्ञातव्या । भावशुद्धिरपि कस्मात् ? प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धियोगात् । तथा अप्रतिपातादपि विपुलमतिर्विशिष्टो भवति, विपुलमतिमनःपर्य्ययस्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात् । ऋजुमतिस्तु प्रतिपाती भवति । कस्मात् ? ऋजुमतिमनःपर्य्ययज्ञानस्वामिनां कषायोद्रेकहीयमानचारित्रोदयत्वात्[१] ।

अथाऽवधिमनःपर्य्यययोर्विशेषप्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमुच्यते[२]—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्य्यययोः ॥२५॥

विशुद्धिश्च प्रसादः, क्षेत्रञ्च भावप्रतिपत्तिस्थानम्, स्वामी च प्रयोजकः स्वरूपकथकः, विषयश्च ज्ञेयवस्तु, विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयाः, तेभ्यो विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः । अवधिश्च मनःपर्ययश्च अवधिमनःपर्ययौ, तयोरवधिमनःपर्य्यययोः । अवधिज्ञानस्य मनः-

१ –चारित्रोदयात् आ०, द०, ब० । २ –ते श्रीमदुमास्वामिना आ०, ब०, द०, ज० ।

पर्य्ययज्ञानस्य च विशेषो विशुद्ध्यादिभिश्चतुर्भिर्वेदितव्यः। तत्र अवधिज्ञानात् मनःपर्य्ययज्ञानं विशुद्धतरं भवति सूक्ष्मवस्तुगोचरत्वात्। क्षेत्रमवधेर्मनःपर्य्ययज्ञानाद् बहुतरम्, त्रिभुवनस्थितपुद्गलपर्य्यायतत्सम्बन्धिजीवपर्य्यायज्ञायकत्वात्। मनःपर्ययस्य क्षेत्रमल्पम्, उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलाभ्यन्तरवर्त्तित्वात्। अवधिज्ञानस्य [२]विषयं **"रूपिष्ववधेः"** [त०सू० १।२७] इत्यनेन वक्ष्यति। मनःपर्ययज्ञानस्य विषयं **"तदनन्तभागे मनःपर्य्ययस्य"** [त० सू० १।२८] इत्यनेन सूत्रेण वक्ष्यति।

स्वामित्वमुच्यते– मनःपर्य्ययो मनुष्येषूत्पद्यते न देवनारकतिर्यक्षु। मनुष्येष्वपि गर्भजेषूत्पद्यते न सम्मूर्छनजेषु। गर्भजेष्वपि कर्म्मभूमिजेषूत्पद्यते न त्वकर्म्मभूमिजेषु। कर्मभूमिजेष्वपि पर्याप्तकेषूत्पद्यते, न त्वपर्याप्तकेषु। पर्याप्तकेष्वपि सम्यग्दृष्टिषूत्पद्यते, न मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्टिषु। सम्यग्दृष्टिष्वपि संयतेषूत्पद्यते, न त्वसंयतसम्यग्दृष्टिसंयताऽसंयतेषु। संयतेष्वपि प्रमत्ता[३]दिषु क्षीणकषायान्तेषूत्पद्यते, न सयोगकेवल्ययोगकेवलिषु। प्रमत्तादिष्वपि[४] प्रवर्द्धमानचारित्रेषूत्पद्यते, न हीयमानचारित्रेषु। प्रवर्द्धमानचारित्रेष्वपि सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूत्पद्यते, [५]नानृद्धिप्राप्तेषु। ऋद्धिप्राप्तेष्वपि केषुचिदुत्पद्यते न सर्वेषु। तेन कारणेन विशिष्टसंयमवन्तो मनःपर्य्ययस्य स्वामिनो भवन्ति। अवधिस्तु चातुर्गतिकेषु भवति। इति स्वामिभेदाद् विशेषः।

मनःपर्य्ययज्ञानादनन्तरं केवलज्ञानलक्षणमभिधातुमुचितम्। तदुल्लङ्घ्य ज्ञानानां विषयनिबन्धपरीक्षणं क्रियते। केवलज्ञानस्य तु लक्षणं **"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्"** [त० सू० १० । १] इति वक्ष्यति। तत्र ज्ञानविषयनिबन्धपरीक्षणे मतिश्रुतज्ञानयोर्विषयनिबन्ध उच्यते—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

मतिश्च श्रुतञ्च मतिश्रुते तयोर्मतिश्रुतयोः। निबन्धनं निबन्धः विषयनियन्त्रणा विषयनियमो विषयनिर्द्धारणम्। द्रव्येषु जीवधर्म्माऽधर्मकालाकाशपुद्गलेषु। कथम्भूतेषु? असर्वपर्यायेषु अल्पपर्यायसहितेषु मतिश्रुतविषययोग्यस्तोकपर्यायसहितेषु। **"विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्य्ययोः"** [त० सू० १।२५] इत्यतो विषयशब्दस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम्। तत्र पञ्चमी अत्र तु षष्ठी तत्कथं सम्बन्धः? **"अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः"** [ ] इति वचनात् पञ्चम्याः षष्ठीत्वेन परिणमनम्।

ननु धर्म्माऽधर्म्मकालाकाशा अतीन्द्रियाः, तेषु द्रव्येषु मतिज्ञानं कथं प्रवर्त्तते मतिज्ञानस्य इन्द्रियजनितत्वात्? सत्यम्; अनिन्द्रियाख्यं करणं वर्तते, तेन नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमबलात् तद्ग्रहणमवग्रहादिरूपं न विरुध्यते। तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु नोइन्द्रियविषयद्रव्येषु स्वयोग्येषु प्रवर्त्तत इति।

---

१ –यज्ञेयज्ञा– आ०, ब०, द०, ब०, ज०। २ विषयः रू–आ०, ब०, द०, ज०। ३ –दिक्षी– आ०, द०, ब०, ज०। ४–पि व–आ०, ब०, द०, ज०। ५ नानर्धिप्रा– ब०, द०।

अथाऽवधिविषयनिबन्ध उच्यते—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

नियमसूत्रमिदम्। अस्यायमर्थः—रूपिषु पुद्गलेषु पुद्गलसम्बन्धिजीवेषु च अवधेर्विषयनिबन्धो भवति। 'असर्वपर्यायेषु' इत्यप्यत्र सम्बन्धनीयम्, तेन स्वयोग्यपर्यायेषु अल्पेषु पर्यायेषु न त्वनन्तेषु पर्यायेष्ववधिः प्रवर्त्तते।

अथ मनःपर्ययस्य विषयनिबन्ध उच्यते—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

तस्य सर्वावधिज्ञानगम्यस्य रूपिद्रव्यस्य यः पर्यायस्तस्याऽनन्तभागस्तदनन्तभागः तस्मिन् तदनन्तभागे, मनःपर्य्ययस्य विषयनिबन्धो भवति सूक्ष्मविषयत्वात्। अन्यत्र च मनःपर्ययः प्रवर्त्तते, अपरेषु भागेषु प्रवर्तत इत्यर्थः।

अथ केवलज्ञानस्य विषयनिबन्ध उच्यते—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः, सर्वे च ते द्रव्यपर्यायाः सर्वद्रव्यपर्यायाः, तेषु सर्वद्रव्यपर्यायेषु। सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेषु च केवलस्य केवलज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति। जीवद्रव्याणि अनन्तानन्तानि ततोऽ[१]प्येनन्तानन्तानि पुद्गलद्रव्याणि अणुस्कन्धभेदयुक्तानि, धर्म्माऽधर्म्माकाशानि, कालश्चासङ्ख्येयः, चतुर्णां त्रिकालसम्बन्धिनः पर्यायाः पृथगनन्ताऽनन्ताः। तेषु सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु अनन्तमहिमकेवलज्ञानं प्रवर्त्तत इति।

अथ पञ्चज्ञानेषु कति ज्ञानानि एकस्मिन्नात्मनि युगपद्भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एकोऽद्वितीय आदिरवयवो येषां तानि एकादीनि एकप्रभृतीनि ज्ञानानि। भाज्यानि योजनीयानि। युगपत् समकालम्। एकस्मिन्नात्मनि आचतुर्भ्यः चत्वारि ज्ञानानि यावत्। एकस्मिन् जीवे पञ्च ज्ञानानि युगपन्न भवन्ति। एकं ज्ञानं यदा भवति तदा केवलज्ञानमेव, केवलज्ञानेन क्षायिकेन सह अपराणि चत्वारि ज्ञानानि क्षायोपशमिकानि युगपन्न भवन्ति। यदा द्वे ज्ञाने युगपद् भवतस्तदा मतिश्रुते। त्रीणि ज्ञानानि यदा युगपद् भवन्ति तदा मतिश्रुताऽवधिज्ञानानि भवन्ति, अथवा मतिश्रुतमनःपर्य्ययज्ञानानि भवन्ति। यदा चत्वारि युगपद् भवन्ति तदा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि भवन्ति।

अथ मत्यादीनि ज्ञानान्येव भवन्ति आहोस्विदन्यथापि भवन्ति इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मतिश्च श्रुतञ्च अवधिश्च मतिश्रुताऽवधयः। एते त्रयस्त्रीणि ज्ञानानि विपर्ययश्च मिथ्यारूपाणि भवन्ति। चकारात् सम्यग्ज्ञानरूपाणि च भवन्ति। सम्यक्शब्द आदावेवोक्तः

---

१ -प्यनन्तानि आ०, द०, ब०, ज०।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" [त० सू० १।१] इत्यत्र। तस्माद् गृहीतः सम्यक्शब्दः मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् सम्यग्ज्ञानं भवन्ती (ती) ति सम्बन्धनीयः। तस्मात्सम्यग्ज्ञानाद् वैपरीत्यं विपर्ययो भवति–मिथ्यारूपाण्यज्ञानानि भवन्ति। किंवत्? सरजः[1]कटुकतुम्बिकाफलधृतक्षीरवत्। अत्र शुष्कतुम्बिकामध्यगतनिर्गतबीजाऽवशिष्टबुक्किका रज उच्यते, तस्मिन् सति यदि दुग्धं ध्रियते तदा कटुकं भवति, तुम्बिकेऽतिशोधिते[2] धृतं पयः कटुकं न भवति। तथा मिथ्यादर्शने विनष्टे सति जीवे मत्यादिज्ञाने स्थिते मिथ्याज्ञानं न भवति।

ननु मणिकनकादयो विष्ठागृहे पतिता अपि न दुष्यन्ति तथा मत्यादयोऽपि; सत्यम्; मणिकनकादयोऽपि विपारिणा[3]मकद्रव्ययोगे दुष्यन्त एव, तथा मत्यादयोऽपि मिथ्यादर्शनयोगे दुष्यन्ति।

'नन्वाधारदोषात् क्षीरस्य विपर्यासो भवति, मत्यज्ञानादीनां स्वविषयग्रहणे विपर्यासो न भवति, यथा सम्यग्दृष्टिः पुमान् चक्षुरादिभिर्वर्णादिविषयान्[4] प्राप्नोति तथा मिथ्यादृष्टिरपि चक्षुरादिभी रूपादीन् विषयानुपलभते। यथा सम्यग्दृष्टिः श्रुतज्ञानेन रूपादीन् विषयान् जानाति परान्[5] प्रति प्ररूपयति च तथा मिथ्यादृष्टिरपि श्रुतज्ञानेन रूपादीन् जानाति परान् प्रति निरूपयति च। यथा सम्यग्दृष्टिः पुमान् अवधिज्ञानेन रूपिणः पदार्थानवैति तथा मिथ्यादृष्टिरपि विभङ्गज्ञानेन रूपिणोऽर्थानवगच्छति' इति केनचिदुपन्यासे कृते तन्मतनिरासार्थं भगवद्भिः सूत्रमुच्यते—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

सच्च प्रशस्तं तत्त्वज्ञानम्, असच्च अप्रशस्तं मिथ्याज्ञानम् सदसती, अथवा सत् विद्यमानम् असत् अविद्यमानम् सदसती तयोः सदसतोः। न विशेषः अविशेषस्तस्माद्विशेषात्। यदृच्छया स्वेच्छया उपलब्धिरुपलम्भनं ग्रहणं यदृच्छोपलब्धिस्तस्या यदृच्छोपलब्धेः। उन्मत्त इव उन्मत्तवत्। मतिश्रुतावधीनां विपर्ययः कस्माद्भवति? सदसतोः सम्बन्धित्वेनाविशेषात्, अविशेषेण यदृच्छोपलब्धेर्विपर्ययो भवति। अत्रायमर्थः—मिथ्यादर्शनोदयात् जीवः कदाचित् सदपि रूपादिकमसदित्यङ्गीकरोति, कर्हिचिदसदपि रूपादिकं सदित्यध्यवस्यति। अन्यदा सद् रूपादिकं सदेव मनुते, असद् रूपादिकमसदेव अवैति। किंवत्? उन्मत्तवत्, पित्तोदयाकुलितबुद्धिवत्। यथा पित्तोदयाकुलितमतिः पुमान् निजमातरं निजभार्यां मन्यते भार्याञ्च मातरं यदृच्छया मन्यते। कदाचिन्मातरं मातरमेव मन्यते भार्यां भार्यामेव जानाति। तथा अश्वं गां मन्यते, गामश्वं मन्यते। अश्वमश्वं गां गाञ्च मन्यते। तथाऽपि तत्सम्यग्ज्ञानं न भवति। एवमाभिनिबोधिकश्रुतावधीनामपि रूपादिषु विपर्ययो भवति। तद्यथा कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मनि स्थितः सन् मत्यादिभी रूपादिग्रहणे सत्यपि कारणविपर्ययं भेदाभेदविपर्ययं स्वरूपविपर्ययञ्चोत्पादयति।

---

१ सरजःक– ब०। २ –तेऽतिधृतं आ०, ब०, द०। ३ –णामिक– आ०, ब०, द०, ज०।
४ –भिः रूपादीन् आ०, ब०, द०, ज०, व०। ५ –न् प्ररू– आ०, द०, ज०।

कारणविपर्ययस्तावद्वर्ण्यते—रूपादीनां कारणं [1]केचिदेकममूर्त्तं ब्रह्मलक्षणं कल्पयन्ति। केचित्तु[2] नित्यं प्रकृतिलक्षणं कल्पयन्ति। अन्ये[3] पृथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवः चतुर्गुणास्त्रिगुणा द्विगुणा एकगुणाः सदृशजातीयानां कार्याणां कारणं भवन्त्या(न्त्या-)रम्भकाः सञ्जायन्त इति। अपरे त्वेवं कथयन्ति[4] यत् पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारि भूतानि वर्णगन्धरसस्पर्शाश्चत्वारो भौतिकधर्माः, एतेषामष्टानां पृथिव्यप्तेजोवायुवर्णगन्धरसस्पर्शानां समुदयो परमाणुरष्टको भवति। वैभाषिकमते हि पृथिव्यादिमहाभूतैश्चतुर्भिः रूपादिगुणैश्चतुर्भिश्च एको रूपपरमाणुरुत्पद्यते। स रूपपरमाणुरष्टक उच्यते। अपरे[5] त्वेवं वदन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायवः कार्कश्यादि-द्रवत्वादि-उष्णत्वादिगमनादिगुणाः परमाणवो जातिभिन्नाः कार्यस्यारम्भका भवन्ति—कारणं सञ्जायत[6] इत्यादिकः कारणविपर्य्ययः।

भेदाभेदविपर्ययस्तु नैयायिकमते—कारणात्[7] कार्यमर्थान्तरभूतमेव। अनर्थान्तरभूतमेव इति च परिकल्पना वर्त्तते।

स्वरूपविपर्ययस्तु मीमांसकमते साङ्ख्यमते वा। रूपादयो निर्विकल्पाः। कोऽर्थः सन्ति न सन्त्येव वा ? किं तर्हि ? तदाकारपरिणतं विज्ञानमात्रमेव वर्त्तते, न तु विज्ञानमात्रस्यावलम्बनं बाह्यं वस्तु वर्त्तते। एवमपरेऽपि परिकल्पनाभेदा दृष्टेष्टविरुद्धाः प्रत्यक्षपरोक्षविरुद्धा मिथ्यादर्शनोदयात् सञ्जायन्ते। तान् सञ्जायमानान् प्रवादिनः कल्पयन्ति। तेषु च प्रवादिनः श्रद्धानं जनयन्ति। तेन कारणेन तन्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं च स्यात्। सम्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति। तेन सम्यग्दर्शनपूर्वकं यद् भवति तन्मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं च संबोभवीति।

अथ द्विप्रकारप्रमाणैकदेशा नया उच्यन्ते—

नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

नैकं गच्छतीति निगमो विकल्पः, निगमे भवो नैगमः। अभेदतया वस्तुसमूहं गृह्णातीति सङ्ग्रहः। सङ्ग्रहेण गृहीतस्यार्थस्य भेदरूपतया वस्तु व्यवह्रियतेऽनेनेति व्यवहारः। ऋजु प्राञ्जलं सरलतया सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। शब्दाद् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः। परस्परेणाभिरूढः समभिरूढः। एवं क्रियाप्रधानत्वेन भूयते एवम्भूतः। नैगमश्च सङ्ग्रहश्च व्यवहारश्च ऋजुसूत्रश्च शब्दश्च समभिरूढश्च एवम्भूतश्च नैगम-सङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः[8]। एते सप्त नयाः। नयन्ति प्रापयन्ति प्रमाणैकदेशानिति नयाः। तेषां[9] सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणञ्च वक्तव्यम्।

तत्र तावत्सामान्यलक्षणमुच्यते—जीवादावनेकान्तात्मनि अनेकरूपिणि वस्तुन्यविरोधेन

---

१ वेदान्तिनः। २ सांख्याः। ३ नैयायिकाः। ४ "कामेऽष्टद्रव्यकः··· अष्टौ द्रव्याणि चत्वारि महाभूतानि (पृथिवी+जल+तेजः+वात) चत्वारि भौतिकानि (गन्ध + रस + रूप + स्पर्श) च।" –**अभिधर्म० टी०** २।२२। ५ वैशेषिकाः। ६ संजायन्ते **ता०**। संज्ञायते **व०**। ७ कारणत्वार्थमर्था– **ता०, व०**। ८ –ते रू– **आ०, ब०, द०, ज०**। ९ –र्थभेद– **ता०**।

प्रतीत्यनतिक्रमेण हेत्वर्पणात् द्रव्यपर्यायाद्यर्पणात् साध्यविशेषयाथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नय उच्यते । अस्यायमर्थः—साध्यविशेषस्य नित्यत्वाऽनित्यत्वादेः याथात्म्यप्रापणप्रवणप्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थव्यापारो नय उच्यते । ज्ञातुरभिप्राय इत्यर्थः । स नयो द्विप्रकारः—द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकभेदात् । द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरिति यावत्, [1]द्रव्यमर्थो विषयो यस्य स द्रव्यार्थिकः । पर्यायो विशेषः अपवादो व्यावृत्तिरिति यावत्, प[2]र्यायोऽर्थो विषयो यस्य स पर्यायार्थिकः । तयोर्विकल्पा नैगमादयः । नैगमसङ्ग्रहव्यवहारास्त्रयो नया द्रव्यार्थिका वेदितव्याः । ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूताश्चत्वारो नयाः पर्यायार्थिका ज्ञानीयाः ।

इदानीं नयानां विशेषलक्षणमुच्यते । अनभिनिवृत्तार्थः—अनिष्पन्नार्थः, सङ्कल्पमात्रग्राही नैगम उच्यते । तथा चोदाहरणम्—कश्चित्पुमान् करकृतकुठारो वनं गच्छति, तं निरीक्ष्य कोऽपि पृच्छति—त्वं किमर्थं व्रजसि ? स प्रोवाच—अहं प्रस्थमानेतुं गच्छामि । इत्युक्ते तस्मिन् काले प्रस्थपर्य्यायः सन्निहितो न वर्त्तते, प्रस्थो घटयित्वा धृतो न वर्त्तते । किं तर्हि तदभिनिवृत्तये—प्रस्थनिष्पत्तये संकल्पमात्रे दार्वानयने प्रस्थव्यवहारो भवति । एवमिन्धनजलानलाद्यानयने कश्चित् पुमान् व्याप्रियमाणो वर्त्तते, स केनचिदनुयुक्तः—किं करोषि त्वमिति । तेनोच्यते—अहमोदनं पचामि । न च तस्मिन् प्रस्तावे ओदनपर्य्यायः सन्निहितोऽस्ति । किं तर्हि ? ओदनपचनार्थं व्यापारोऽपि ओदनपचनमुच्यते । एवंविधो लोकव्यवहारोऽनभिनिवृत्तार्थः—अनिष्पन्नार्थः सङ्कल्पमात्रविषयो नैगमनयस्य गोचरो भवति । १ ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्र उपनीय पर्यायान् आक्रान्तभेदान् विशेषमकृत्वा सकलग्रहणं सङ्ग्रह उच्यते । यथा सदिति प्रोक्ते वाग्विज्ञानप्रवृत्तिलिङ्गानुमितसत्ताधारभूतानां विश्वेषां विशेषमकृत्वा सत्सङ्ग्रहः । एवं द्रव्यमित्युक्ते द्रवति गच्छति तांस्तान् केवलिप्रसिद्धपर्यायानिति द्रव्यम्, जीवाऽजीवतद्भेदप्रभेदानां सङ्ग्रहो भवति । एवं घट इत्युक्ते घटबुद्ध्यभिधानानुगमलिङ्गानुमितसकलार्थसङ्ग्रहो भवति । एवंविधोऽपरोऽपि सङ्ग्रहनयस्य गोचरो वेदितव्यः । २ ।

सङ्ग्रहनयविषयीकृतानां सङ्ग्रहनयगृहीतानां सङ्ग्रहनयक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः । कोऽसौ विधिः ? सङ्ग्रहनयेन यो गृहीतोऽर्थः स विधिरुच्यते, यतः सङ्ग्रहपूर्वेणैव व्यवहारः प्रवर्त्तते । तथा हि—सर्वसङ्ग्रहेण यद्वस्तु सङ्गृहीतं तद्वस्तु विशेषं नाऽपेक्षते, तेन कारणेन तद्वस्तु संव्यवहाराय समर्थं न भवतीति कारणात् व्यवहारनयः समाश्रीयते । 'यत्सद्वर्त्तते तत्किं द्रव्यं गुणो वा, यद्द्रव्यं तज्जीवोऽजीवो वा' इति संव्यवहारो न कर्त्तुं शक्यः । जीवद्रव्यमित्युक्ते अजीवद्रव्यमिति चोक्ते व्यवहार आश्रिते ते अपि द्वे द्रव्ये सङ्ग्रहनयगृहीते संव्यवहाराय न समर्थे भवतः, तदर्थं देवनारकादिव्यवहार आश्रीयते, घटादिश्च व्यवहारेण आश्रीयते । एवं व्यवहारनयस्तावत्पर्यन्तं प्रवर्त्तते यावत्पुनर्विभागो न भवति । ३ ।

पूर्वान् व्यवहारनयगृहीतान् अपरांश्च विषयान् त्रिकालगोचरानतिक्रम्य वर्त्तमानकाल-

---

१ द्रव्यं वि– ता० । २ –यो वि– ता० । ३ –वग्रहणं व्य– आ०, द०, ब० ।

गोचरं गृह्णाति ऋजुसूत्रः । अतीतस्य विनष्टत्वे अनागतस्यासञ्जातत्वे व्यवहारस्याभावाद् वर्त्तमानसमयमात्रविषयपर्य्यायमात्रग्राही ऋजुसूत्र इत्यर्थः । नन्वेवं सति संव्यवहारलोपः स्यात् ; सत्यम् ; अस्य ऋजुसूत्रनयस्य विषयमात्र(त्र-)प्रदर्शनं विधीयते । लोकसंव्यवहारस्तु सर्वनयसमूहसाध्यो भवति । तेन ऋजुसूत्राश्रयणे संव्यवहारलोपो न भवति । यथा कश्चिन्मृतः, तं दृष्ट्वा 'संसारोऽयमनित्यः' इति कश्चिद् ब्रवीति, न च सर्वः संसारोऽनित्यो वर्त्तत इति । एते चत्वारो नया अर्थनया वेदितव्याः । अन्ये वक्ष्यमाणास्त्रयो नयाः शब्दनया इति । ४ ।

लिङ्गसङ्ख्यासाधनादीनां व्यभिचारस्य निषेधपरः, लिङ्गादीनां व्यभिचारे[1] दोषो नास्तीत्यभिप्रायपरः शब्दनय उच्यते । लिङ्गव्यभिचारो यथा—पुष्यः नक्षत्रं तारका चेति । सङ्ख्याव्यभिचारो यथा—आपः तोयम्, वर्षाः ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणा नगरम् । साधनव्यभिचारः कारकव्यभिचारो यथा—सेना पर्वतमधिवसति, पर्वते तिष्ठतीत्यर्थः "अधिशीङ्स्थासां कर्म्म" [पा० सू० १।४।४६] पुरुषव्यभिचारो यथा— एहि मन्ये रथेन यास्यसि ? न यास्यसि, यातस्ते पितेति । अस्यायमर्थः—एहि त्वमागच्छ । त्वमेवं मन्यसे—अहं रथेन यास्यामि, एतावता त्वं रथेन न यास्यसि । ते तव पिता अग्रे रथेन यातः ? न यात इत्यर्थः । अत्र मध्यमपुरुषस्थाने उत्तमपुरुषः, उत्तमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषः, तदर्थं सूत्रमिदम्—"प्रहासे मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवचनं च उत्तमे मध्यमस्य ।" [ ] कालव्यभिचारो यथा—विश्वदृश्वा अस्य पुत्रो जनिता । भविष्यत्कार्यमासीदिति[2] । अत्र भविष्यत्काले[3] अतीतकालविभक्तिः । उपग्रहव्यभिचारो यथा—ष्ठा गतिनिवृत्तौ । अत्र परस्मैपदोपग्रहः । तत्र सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते । अत्र सूत्रम्— "समवप्रविभ्यः" [का० सू० ३।२।४२ दौ० वृ० १४] । रमु क्रीडायामित्यत्र आत्मनेपदोपग्रहः विरमत्यारमति परिरमति । "व्याङ् परिभ्यो रमः" [पा० सू० १।३।८३] । इति व्यभिचारसूत्रम् । देवदत्तमुपरमति । "उपात्सकर्मकात्" [ ] इति च व्यभिचारसूत्रम् । एवंविधं व्यवहारनयमनुपपन्नमन्याय्यं कश्चित्पुमान् मन्यते । कस्मादन्याय्यं मन्यते ? अन्यार्थस्य अन्यार्थेन वर्त्तनेन सम्बन्धाभावात् । तत्र शब्दनयापेक्षया दोषो नास्ति । तर्हि लोकसमयविरोधो भविष्यति ; भवतु नाम विरोधः । तत्त्वं परीक्ष्यते, किं तेन विरोधेन भविष्यति ? किमौषधं रोगीच्छानुवर्त्ति वर्त्तते ? । ५ ।

एकमप्यर्थं शब्दभेदेन भिन्नं जानाति यः स समभिरूढो नयः । यथा एकोऽपि पुलोमजाप्राणवल्लभः परमैश्वर्य्ययुक्त इन्द्र उच्यते, स अन्यः, शकनात् शक्रः, सोऽप्यन्यः, पुरदारणात् पुरन्दरः, सोऽप्यन्यः । इत्यादिशब्दभेदात् एकस्याप्यर्थस्यानेकत्वं मन्यते तत् समभिरूढनयस्य[4] लक्षणम् । ६ ।

यस्मिन्नेव काले ऐश्वर्य्यं प्राप्नोति तदैवेन्द्र उच्यते, न चाभिषेककाले न पूजनकाले इन्द्र उच्यते । यस्मिन्नेव काले गमनपरिणतो[5] भवति तदैव गौरुच्यते न स्थितिकाले, न

१ -चारो दो- आ०, ब०, ज० । २ -सीदति- आ०, ब० । ३ -ष्यति का- आ०, ब० । ४ -नयल- आ०, द०, ब०, ज० । ५ -परिणता भ- आ०, द०, ब० ।

शयनकाले । अथवा इन्द्रज्ञानपरिणत आत्मा इन्द्र उच्यते, अग्निज्ञानपरिणत आत्मा अग्निश्चेति एवम्भूतनयलक्षणम् । ७ ।

एते नया उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयाः । कथमिति चेत् ? नैगमात् खलु सङ्ग्रहोऽल्पविषयः सन्मात्रग्राहित्वात्, नगमस्तु भावाऽभावविषयत्वाद् बहुविषयः, यथैव हि भावे सङ्कल्पः तथाऽभावे नैगमस्य सङ्कल्पः । एवमुत्तरत्राऽपि योज्यम् । तथा पूर्व-पूर्वहेतुका एते नयाः । कथमिति चेत् ? नैगमः सङ्ग्रहस्य हेतुः । सङ्ग्रहो व्यवहारस्य हेतुः । व्यवहारः ऋजुसूत्रस्य हेतुः । ऋजुसूत्रः शब्दस्य हेतुः । शब्दः समभिरूढस्य हेतुः । समभिरूढ एवम्भूतस्य हेतुरिति ।

एते नया गौणतया प्रधानतया च अन्योन्याधीनाः सन्तः सम्यग्दर्शनस्य कारणं भवति[1] तन्त्वादिवत् । यथा तन्त्वादयः उपायेन विनिवेशिताः पटादिसंज्ञा भवन्ति तथा परस्पराधीना[2] नयाः पुरुषार्थक्रियासाधनसमर्था भवन्ति । परस्परानपेक्षा नयाः पुरुषार्थक्रियासाधनसमर्था न भवन्ति केवलतन्तुवत् । ननु विषमोऽयं दृष्टान्तः । कस्माद्विषमः ? यतस्तन्त्वादयो निरपेक्षा अपि सन्तः प्रयोजनलेशमुत्पादयन्ति, यतः कश्चित्तन्तुः प्रत्येकं त्वग्रक्षणे समर्थो भवति, केवलः पलाशादेर्वल्कलश्च बन्धने समर्थो भवति, नयास्तु निरपेक्षाः सन्तः सम्यग्दर्शनलेशमपि नोत्पादयन्ति तेन विषयोऽयमुपन्यासः-अघटमानोऽयं दृष्टान्तः । सत्यम् । उक्तमर्थं भवन्तो न जानन्ति । अस्माभिरेतदुक्तम्–निरपेक्षैः तन्त्वादिभिः वस्त्रादिकार्यं न भवति । यद् भवद्भिरुक्तं कार्य्यं तन्न पटादिकार्य्यम्, किन्तु केवलं तन्त्वादिकार्यं भवद्भिरुक्तम् । अथवा केवलस्तन्तुः यद्भवदुक्तं कार्य्यं साधयति तस्मिन्नपि तन्तौ परस्परापेक्षा[3] अवयवाः सन्ति । तेनाऽपि अस्मन्मतसिद्धिः । अथ त्वमेवं वक्षि, तन्त्वादिषु वसनादिकार्यं शक्त्यपेक्षया वर्तत एव, तर्हि अस्मन्मते निरपेक्षेषु नयेष्वपि बुद्धिकथनस्वरूपेषु हेतुवशात् सम्यग्दर्शनहेतुपरिणामो विद्यत एव । तेन कारणेन तूपन्यासस्य[4] तुल्यतासिद्धिरस्ति । तेन सापेक्षैरेव नयैः सम्यग्दर्शनसिद्धिरिति सिद्धम् । अस्मिन्नध्याये ज्ञानदर्शनस्वरूपमुक्तं नयलक्षणं च प्रतिपादितम् ज्ञानं च प्रमाणमिति वेदितव्यम् । ३३ ।

इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसंमाजरत्नराजमति-[5]
सागरयतिराजराजितार्थनसमर्थनसमर्थेन[6] तर्कव्याकरणच्छन्दोलङ्कारसाहित्या-
दिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्त्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण
च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संच्छ-
र्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रीश्रुतसागरसूरिणा विरचितायां
श्लोकवार्त्तिकराजवार्त्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदच-
न्द्रोदय(न्द्र)प्रमेयकमलमार्त्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्री-
प्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिवि-
राजितायां तत्त्वार्थटीकायां प्रथ-
मोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

---

१ भवन्ति ता०, व० । २ –धीनतया पु– आ०, ब०, द०, ज० । ३ –क्षया अ– आ०, ब०, द०, ज० । ४ –सतु– आ०, द०, ब० । ५ –भाजितर– ब० । ६ –समर्थनसमर्थतर्क– ता० ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथ सम्यग्दर्शनविषयेषु सप्तसु तत्त्वेषु मध्ये जीवतत्त्वस्य किं स्वरूपमिति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः [1]श्रीमदुमास्वामिनः—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

कर्मणोऽनुदय[2]रूप उपशमः कथ्यते। यथा कतकादिद्रव्यसम्बन्धात् पङ्के [3]अधोगते सति जलस्य स्वच्छता भवति तथा कर्मणोऽनुदये सति जीवस्य स्वच्छता भवति स उपशमः प्रयोजनं यस्य भावस्य स औपशमिकः। कर्मणः क्षयणं क्षयः। यथा पङ्कात् पृथग्भूतस्य शुचिभाजनान्तरसङ्क्रान्तस्य अम्बुनोऽत्यन्तस्वच्छता भवति तथा जीवस्य कर्मणः आत्यन्तिकी निवृत्तिः क्षयः कथ्यते। क्षयः प्रयोजनं यस्य भावस्य स क्षायिकः। औपशमिकश्च क्षायिकश्च औपशमिकक्षायिकौ। एतौ द्वौ भावौ—द्वौ परिणामौ जीवस्य आत्मनः स्वतत्त्वं स्वरूपं भवतः। न केवलमौपशमिकक्षायिकौ द्वौ भावौ जीवस्य स्वतत्त्वं भवतः किन्तु मिश्रश्च। मिश्रो भावश्च जीवस्य स्वतत्त्वं भवति निजस्वरूपं स्यात्। यथा जलस्य अर्द्धस्वच्छता तथा जीवस्य क्षयोपशमरूपो मिश्रो भावो भवति। अथवा यथा कोद्रवद्रव्यस्य क्षालनविशेषात् क्षीणाऽक्षीणमदशक्तिर्भवति। तथा कर्मणः क्षयोपशमे सति जीवस्योपजायमानो भावः मिश्रः कथ्यते। नरकादौ कर्मण उदये सति जीवस्य संजायमानो भाव औदयिको भण्यते। कर्मोपशमादिनिरपेक्षश्चेतनत्वादि(दिः) जीवस्य स्वाभाविको भावः पारिणामिको निगद्यते। स तु पारिणामिको भावः संसारिमुक्तजीवानां साधारणो भवति। न केवलमेते त्रयो भावाः किन्तु औदयिकपारिणामिकौ च द्वौ भावौ जीवस्य स्वरूपं भवतः। एते पञ्च भावाः जीवस्य स्वरूपं [4]भवन्तीत्यर्थः। भव्यस्य औपशमिक-क्षायिकौ द्वौ भावौ भवतः। मिश्रस्तु अभव्यस्यापि भवति। औदयिकपारिणामिकौ च अभव्यस्यापि भवतः। १।

अथौपशमिकादीनां पञ्चानां भावानामन्तर्भेदसंख्यानिरूपणपरं सूत्रमिदमूचुः—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः। त एव भेदा येषामौपशमिकादिभावानां ते द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः। अथवा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयश्च ते भेदा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रममनुक्रमेण ज्ञातव्याः। २।

---

१ 'श्रीमदुमास्वामिनः' इति नास्ति ब०, द०। २ –यस्वरू– आ०, ब०, द०, ज०। ३ अधोगतिगते स– आ०। ४ भवती– ता०, ज०।

अथौपशमिकस्य भावस्य भेदद्वयसूचनपरं सूत्रमाहुः—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

सम्यक्त्वं च चारित्रं च सम्यक्त्वचारित्रे, औपशमिको भावो द्विभेदो भवति। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः, सम्यक्त्वम्, मिथ्यात्वम्, सम्यग्मिथ्यात्वञ्च, एतासां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वमुत्पद्यते।

अनादिकालमिथ्यादृष्टिभव्यजीवस्य कर्मोदयोत्पादितकलुषतायां सत्यां कस्मादुपशमो भवतीति चेत्? काललब्ध्यादिकारणादिति ब्रूमः। कासौ काललब्धिः? कर्मवेष्टितो भव्यजीवोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल उद्धरिते सत्यौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणोचितो भवति। अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनादधिके काले सति प्रथमसम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थः। एका काललब्धिरियमुच्यते। द्वितीया काललब्धिः– यदा कर्मणामुत्कृष्टा स्थितिरात्मनि भवति जघन्या वा कर्मणां स्थितिरात्मनि भवति तदौपशमिकसम्यक्त्वं नोत्पद्यते। तर्हि औपशमिकसम्यक्त्वं कदोपद्यते? यदा अन्तःकोटीकोटिसागरोपमस्थितिकानि कर्माणि बन्धं प्राप्नुवन्ति भवन्ति। निर्मलपरिणामकारणात् सत्कर्माणि तेभ्यः कर्मभ्यः संख्येयसागरोपमसहस्रहीनानि अन्तःकोटीकोटिसागरोपमस्थितिकानि भवन्ति तदौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणयोग्य आत्मा भवति। इयं द्वितीया काललब्धिः। तृतीया काललब्धिः कथ्यते—सा काललब्धिर्भावमपेक्षते। कथम्? भव्यजीवः पञ्चेन्द्रियः, समनस्कः, पर्याप्तिपरिपूर्णः, सर्वविशुद्धः औपशमिकसम्यक्त्वमुत्पादयति। आदिशब्दाज्जातिस्मरणजिनमहिमादिदर्शनादौपशमिकं सम्यक्त्वमुत्पादयति। षोडशकषायाणां नवनोकषायाणां चोपशमादौपशमिकं चारित्रमुत्पद्यते। ३।

अथ क्षायिकभावस्य नवभेदप्रतिपादनपरं सूत्रमुच्यते—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञानञ्च दर्शनञ्च दानञ्च लाभश्च भोगश्च उपभोगश्च वीर्यञ्च ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि सप्त, चकारात् सम्यक्त्वचारित्रे च द्वे, इति नवविधः क्षायिको भावः। केवलज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकं केवलज्ञानम्। १। केवलदर्शनावरणक्षयात् क्षायिकं केवलदर्शनम्। २। दानान्तरायक्षयात् क्षायिकमनन्तप्राणिगणानुग्रहकरमभयदानम्। ३। लाभान्तरायक्षयात् क्षायिको लाभः? कोऽसौ क्षायिको लाभः? यस्य लाभस्य बलात् कवलाहाररहितानां केवलिनां शरीरबलाधानहेतवोऽनन्यसाधारणाः[1] परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः पुद्गला समयं समयं प्रति सम्बन्धमायान्ति। ४। भोगान्तरायस्य क्षयात् क्षायिकोऽनन्तो भोगः। कोऽसौ क्षायिको भोगः? सकृद् भुज्यते भोगः, पुष्पवृष्टिगन्धोदकवृष्ट्यादिकः। ५। उपभोगान्तरायक्षयात् क्षायिकोऽनन्त उपभोगः। कोऽसौ क्षायिक उपभोगः? सिंहासनचामरछत्रत्रयादिकः। ६। वीर्यान्तरायक्षयात् क्षायिकमनन्तवीर्यम्। किं तत् क्षायिकं वीर्यम्? यद्बलात् केवलज्ञानेन केवलदर्शनेन च कृत्वा सर्वद्रव्याणि सर्वपर्यायांश्च ज्ञातुं द्रष्टुं च

१ –बलादानहे– ब०। बलादाने हे– आ०, द०, ब०, ज०।

केवली शक्नोति । ७ । अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभसम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वलक्षणसप्तप्रकृतिक्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम् । ८ । षोडशकषायनवनोकषायक्षयात् क्षायिकं चारित्रम् । ९ ।

अत्राह कश्चित्-क्षायिकमभयदानलाभभोगोपभोगादिकं मुक्तेष्वपि प्रसज्यते ; तन्न; शरीरनामतीर्थङ्करनामकर्मोदयात् तत्प्रसङ्गः, न सिद्धानां शरीरनामतीर्थङ्करनामकर्मोदयोऽस्ति येन तत्प्रसङ्गः स्यात् । तर्हि सिद्धेषु तेषां वृत्तिः कथम् ? अनन्तवीर्याव्याबाधसुखरूपेणैव तेषां तत्र प्रवृत्तिः, केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यप्रवृत्तिवत् । उक्तं च—

> "आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता ।
> एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्त्तितः ॥१॥" [यश० उ० पृ० २७३]

अथ मिश्रो भावोऽष्टादशभेदः कथमिति निरूपयन्ति—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

ज्ञानानि चाज्ञानानि च दर्शनानि च लब्धयश्च ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः । कथम्भूता ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः ? चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च, ते भेदा यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः । सम्यक्त्वञ्च चारित्रञ्च संयमासंयमश्च सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाः । अस्यायमर्थः-चत्वारि ज्ञानानि त्रीणि अज्ञानानि त्रीणि दर्शनानि पञ्च लब्धयः यथाक्रमं भवन्ति । सर्वस्य ज्ञानस्य घातकवीर्यान्तरायादिकर्मोदयस्य क्षये सति तस्यैव सर्वस्य ज्ञानस्यैव घातिनः कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तेरप्रादुर्भूतनिजशक्तिप्रवृत्तिनः सदवस्थारूपोपशमे[1] सति विद्यमानावस्थास्वरूपप्रशमे सति देशघातिकर्मोदये च सति मतिश्रुतावधिमनःपर्ययाश्चत्वारो मिश्रभावा भवन्ति, क्षायोपशमिका भवन्तीत्यर्थः । मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गावधिश्च, एतानि त्रीणि सत्यासत्यरूपत्वादज्ञानानि भवन्ति । तेष्वपि मिश्रो भावो ज्ञातव्यः । तद्वच्चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनञ्च । एष्वपि दर्शनेषु मिश्रो भावो भवति । तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायसर्वघात्युदयस्य क्षये सति सदवस्थालक्षणोपशमे सति देशघात्युदये च सति दानलाभभोगोपभोगवीर्यलक्षणा लब्धयः पञ्च[2] मिश्रभावा भवन्ति, क्षायोपशमिका भवन्ति । अनन्तानुबन्धिचतुष्कमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वानां षण्णामुदयक्षयात् सद्रूपोपशमात् सम्यक्त्वनाममिथ्यात्वस्य देशघातिनो न तु सर्वघातिन उदयात् मिश्रं सम्यक्त्वं भवति, क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं स्यात् । तद्वेदकमित्युच्यते । तस्यापि मिश्रो भावो भवति । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानलक्षणानां द्वादशानां कषायाणामुदयस्य क्षये सति विद्यमानलक्षणोपशमे सति सञ्ज्वलनचतुष्काऽन्यतमस्य देशघातिनश्चोदये[3] च सति हास्य-

१ -स्थारूप- आ०, ब०, द०, ज० । २ मिश्रलक्षणभा- आ०, द०, ब०, ज० ।
३ -ये स- आ०, ब०, ज०, द० ।

रत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदलक्षणानां नवानां नोकषायाणां यथासम्भवमुदये च सति मिश्रं चारित्रं भवति। अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकस्य उदयस्य क्षये सति तत्सत्तोपलक्षणोपशमे सति प्रत्याख्यानसञ्ज्वलनाष्टकस्योदये सति नोकषायनवकस्य यथासम्भवोदये च सति संयमासंयमः संजायते। सोऽपि मिश्रो भावः [1]कथ्यते। चकारात् संज्ञित्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च मिश्रौ भावौ ज्ञातव्यौ।

अथैकविंशतिभेदा औदयिकभावस्योच्यन्ते—

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

गतिश्च कषायश्च लिङ्गञ्च मिथ्यादर्शनञ्च अज्ञानञ्च असंयतश्च असिद्धश्च लेश्या च गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याः। चत्वारश्च चत्वारश्च त्रयश्च एकश्च एकश्च एकश्च एकश्च षट् च चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषट्, ते भेदा यासां गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्यानां ताः चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। **"द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम्"** [त० सू० २।२] इत्यतो यथाक्रममिति ग्राह्यम्। तेनायमर्थः—गतिश्चतुर्भेदा। कषायश्चतुर्भेदः। लिङ्गं त्रिभेदम्। मिथ्यादर्शनमेकभेदम्। अज्ञानमेकभेदम्। असंयत एकभेदः। असिद्ध एकभेदः। लेश्याः षड्भेदाः। एत एकविंशतिर्भेदा औदयिकभावा भवन्ति। तत्र नरकगतिनामकर्मोदयान्नारकत्वं भवतीति नरकगतिरौदयिकी। तथा तिर्यग्गतिनामकर्मोदयात् तिर्यग्गतिरौदयिकी। तथा मनुष्यगतिनामकर्मोदयान्मनुष्यगतिरौदयिकी। देवगतिनामकर्मोदयाद् देवगतिरौदयिकी। क्रोधोत्पादकमोहकर्मोदयात् क्रोध औदयिकः। मानोत्पादकमोहकर्मोदयान्मान औदयिकः। मायोत्पादकमोहकर्मोदयान्माया औदयिकी। लोभोत्पादकमोहकर्मोदयाल्लोभ औदयिकः। स्त्रीवेदजनकनोकषायमोहकर्मोदयात् स्त्रीवेद औदयिकः। पुंवेदजनकनोकषायमोहकर्मोदयात् पुंवेद औदयिकः। नपुंसकवेदजनकनोकषायमोहकर्मोदयान्नपुंसकवेद औदयिकः। तत्त्वार्थानामश्रद्धानलक्षणपरिणामनिर्वर्त्तकमिथ्यात्वमोहकर्मोदयात् मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। ज्ञानावरणकर्मोदयात् पदार्थाऽपरिज्ञानमज्ञानमौदयिकम्। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्द्धकस्य उदयादसंयतो भवति, स औदयिको भावः। कर्मोदयसाधारणापेक्ष[3] असिद्धः, सोऽपि औदयिकभाव एव। लेश्या षड्विधापि द्विविधा—द्रव्यलेश्या-भावलेश्याभेदात्। तत्र जीवभावाधिकारे द्रव्यलेश्या नाद्रियते। भावलेश्या तु आद्रियते। कषायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्भावलेश्या। साप्यौदयिकीति कथ्यते। सा षड्विधा कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। तदुदाहरणार्थमियं गाथा। तथा हि—

---

१ भण्यते आ०, द०, ज०, ब०। २ –तिभे– ब०, आ०, द०। ३ –क्षयाऽसि– आ०, द०, ब०, ज०।

"उम्मूलखंधसाहा[1] गुंच्छा चुणिऊण तहय पडिदाओ ।
जह एदेसिं भावा तहविह लेस्सा मुणेयव्वा ॥" [पंचसं० १ । १९२]

अत्राह कश्चित्–उपशान्तकषायक्षीणकषाययोः सयोगकेवलिनि[2] च शुक्ललेश्या वर्त्तत इति सिद्धान्तवचनमस्ति, तेषां कषायानुरञ्जनभावाभावसद्भावादौदयिको भावः कथं घटते ? सत्यम्; पूर्वभावप्रज्ञापनापेक्षया कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिः सैवेत्युच्यते । कस्मात् ? भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः[3] इति परिभाषणात् । योगाभावादयोगकेवली अलेश्य इति निर्णीयते । ६ ।

अथ पारिणामिकभावस्य भेदत्रयमुच्यते—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

जीवत्वं च चेतनत्वम्, भव्यत्वं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण भविष्यत्त्वम्, अभव्यत्वं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण अभविष्यत्त्वम्, जीवभव्याभव्यत्वानीति । एते त्रयो भावा अपरद्रव्याऽसमानाः पारिणामिका जीवस्य ज्ञातव्याः । कर्मोपशमक्षयोपशमक्षयानपेक्षत्वात् पारिणामिका इत्युच्यन्ते । चकारादस्तित्वं वस्तुत्वं द्रव्यत्वं प्रमेयत्वमगुरुलघुत्वं नित्यप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं चेतनत्वमचेतनत्वञ्च । एतेऽपि दश भावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यसाधारणा वेदितव्याः । कथं[4] पुद्गलस्य चेतनत्वं जीवस्याचेतनत्वमिति चेत् ? उच्यते–यथा दीपकलिकया[5] गृहीतः स्नेहो दीपशिखा भवति, तथा जीवेन शरीररूपतया गृहीतः पुद्गलोऽपि उपचारात् जीव इत्युच्यते, तेन पुद्गलस्यापि चेतनत्वं भण्यते । तथा जीवोऽपि आत्मविवेकपराङ्मुख उपचरिताऽसद्भूतव्यवहारनयापेक्षया अचेतन इत्युपचर्यते । एवं मूर्तत्वमपि उपचारेण जीवस्य ज्ञातव्यम् । पुद्गलस्य तूपचारेणापि अमूर्तत्वं नास्ति ।

अत्राह कश्चित्–[6]मूर्त्तकर्मैकत्वे आत्मनोऽपि मूर्त्तत्वे जीवस्य को विशेषः ? सत्यम्, मूर्तेन कर्मणा सहैकत्वेऽपि लक्षणभेदात् जीवस्य नानात्वं प्रतीयते । तदाह[7]–

"बन्धं प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वम् ।
तस्मादमूर्तभावो नैकान्तो भवति जीवस्य ॥" [ ]

यदि लक्षणेन आत्मनो भेदः, 'किं तल्लक्षणं जीवस्य' इति प्रश्ने जीवलक्षणस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुरुमास्वामिनः—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

---

१ उम्मलखं– ता० । उन्मूलस्कन्धशाखागुच्छानि चित्वा तथा च पतितानि । यथा एतेषां भावाः तथाविधलेश्या मन्तव्याः ॥ २ –लिनश्च आ०, द०, ज० । –लिनाञ्च व० । ३ भूतपूर्वस्त– आ०, द०, ब०, ज० । ४ कथं जीवस्याचेतनत्वं पुद्गलस्य चेतनत्वमिति आ०, ब०, द०, ज० । ५ दीपकविधया आ०, द०, ब०, ज० । ६ मूर्त्तैकत्वे आ०, ब०, द०, ज० । ७ "उक्तञ्च–बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं । तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होई जीवस्स ।" –स० सि० २।७ ।

उपयुज्यते वस्तु प्रति प्रेर्यते यः वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थम् इत्युपयोगः । "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" [पा० सू० ३।३।१८] घञ् । अथवा आत्मन उप समीपे योजनं उपयोगः "भावे" [पा० सू० ३।३।१८] घञ् । उपयोगः सामान्येन ज्ञानं दर्शनञ्चोच्यते । स जीवस्य लक्षणं भवति । कर्म-कर्मक्षयोभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम इत्यर्थः । तेन उपयोगेन लक्षणभूतेन कर्मबन्धबद्धोऽप्यात्मा लक्ष्यते दुर्वर्णसुवर्णयोर्बन्धं प्रत्येकत्वेऽपि वर्णादिभेदवत् । एवं सति कश्चिदाह–लक्षणेन आत्मा लक्ष्यते । तच्च लक्षणमात्मनः स्वरूपं स्वतत्त्वमेव । स्वतत्त्व-लक्षणयोः को भेदो वर्त्तते ? सत्यम् ; स्वतत्त्वं लक्ष्यं भवेत् , लक्षणं तु लक्ष्यं न भवेदिति स्वतत्त्वलक्षणयोर्महान् भेदः । ७ ।

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

द्वौ विधौ प्रकारौ यस्य स द्विविधः । अष्ट च चत्वारश्च अष्टचत्वारः, ते भेदा यस्य उपयोगस्य स अष्टचतुर्भेदः । स उपयोगः संक्षेपेण द्विविधो भवति ज्ञानदर्शनभेदात् । विस्तरेण तु ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः । दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः । के ते ज्ञानोपयोगस्य अष्ट भेदाः, के वा दर्शनोपयोगस्य चत्वारो भेदाः इति चेत् ? उच्यते–मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति ज्ञानोपयोगस्य अष्ट भेदाः । चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति दर्शनोपयोगस्य चत्वारो भेदाः । साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शनम् । कोऽर्थः ? वस्तुनो विशेषपरिज्ञानं ज्ञानम् । विशेषमकृत्वा सत्तावलोकनमात्रं दर्शनम् । तच्च ज्ञानं दर्शनं च । छद्मस्थानां पूर्वं दर्शनं भवति पश्चात् ज्ञानमुत्पद्यते । निरावरणानां तु अर्हत्सिद्धसयोगकेवलिनां दर्शनं ज्ञानञ्च युगपद्भवति । यदि दर्शनं पूर्वं भवति ज्ञानं पश्चात् भवति तर्हि ज्ञानस्य[1] ग्रहणं पूर्वं किं क्रियते ? इत्याह–सत्यम् । "अल्पस्वरतरं तत्र पूर्वम् , यच्चार्चितं द्वयोः" [कात० २।५।१२, १३] इत्युभयप्रकारेणापि ज्ञानस्य पूर्वनिपातः । सम्यग्ज्ञानस्याधिकारे पूर्वं ज्ञानं पञ्चविधमुक्तम् । इह तु उपयोगनिरूपणे मत्यादिविपर्ययोऽपि ज्ञानमुच्यते । इत्यष्टविधो ज्ञानोपयोगः कथ्यते । तथा चोक्तं ज्ञानदर्शनयोर्लक्षणम्–

"सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं
साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
[2]तेनैते क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः
स्फूर्जन्ती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमङ्गातिगाः[3] ॥ १ ॥" [प्रतिष्ठा० २।९०]

एवंविध उपयोगो विद्यते येषां त उपयोगिनः ।

ते च कति प्रकारा भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

---

१ ज्ञानग्र– आ०, द०, ज० । २ तें नेत्रे क्र– ता०, ज०, आ० । तेनेति क्र– व० ।
३ –मङ्गान्तिकाः आ० ।

संसरणं संसारः पञ्चप्रकारपरिवर्तनमित्यर्थः। संसारो विद्यते येषां ते संसारिणः। पञ्चप्रकारात् परिवर्तनान्मुच्यन्ते स्म मुक्ताः, संसारान्निवृत्ता इत्यर्थः। चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते। संसारिणश्च जीवा भवन्ति, मुक्ताश्च जीवा भवन्तीति समुच्चयस्यार्थः। ननु मुक्ताः पूज्याः संसारिणस्तु तादृक्पूज्या न भवन्ति[1]। तर्हि संसारिणां ग्रहणं प्राक् किमित्युपन्यस्तम्? सत्यम्; पूर्वं संसारिणो भवन्ति पश्चान्मुक्ता भवन्तीति व्यवहारसंसूचनार्थं संसारिणां ग्रहणं पूर्वं कृतं स्वामिना उमास्वामिना। स्वामीति संज्ञा कथम्? उक्तं हि आचार्यादीनां लक्षणम्–

"पञ्चाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणीः।
चतुर्वर्णस्य संघस्य यः स आचार्य इष्यते ॥ १ ॥
अनेकनयसङ्कीर्णशास्त्रार्थव्याकृतिक्षमः।
पञ्चाचाररतो ज्ञेय उपाध्यायः समाहितैः[2] ॥ २ ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादिषु कर्मसु।
विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ॥ ३ ॥
सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः।
महातपःप्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥ ४ ॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्याता स्वामीति [3]परिपठ्यते।
अथ क्रियाकलापस्य कर्त्ता वा मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥"

[नीतिसार श्लो० १५–१९]

अथ किं तत्पञ्चप्रकारं परिवर्तनमिति चेत्? उच्यते–द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्त्तनभेदात् परिवर्त्तनं पञ्चविधम्। तत्र द्रव्यपरिवर्त्तनं द्विप्रकारम्–नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन-द्रव्यकर्मपरिवर्त्तनभेदात्। तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमुच्यते–औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयस्य पर्याप्तिषट्कस्य च ये योग्यपुद्गला एकेन जीवेन एकस्मिन्समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादि[5]भिस्तीव्रमन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिताः द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, अगृहीतान् अनन्तवारान् अतीत्य मिश्रितांश्च अनन्तवारान् अतीत्य मध्यमगृहीतांश्च अनन्तवारान् अतीत्य, त एव पुद्गलाः तेनैव स्निग्धादिभावेन तेनैव तीव्रादिभावेन च तथावस्थितप्रकारेण च तस्यैव जीवस्य नोकर्मभावमापद्यन्ते यावत् तावत् समुदितं सर्वं त्रैलोक्यस्थितं पुद्गलद्रव्यं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं[6] कथ्यते।

अथ कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनमुच्यते–एकस्मिन् समये एकेन[7] जीवेन अष्टप्रकारकर्मत्वेन ये

१ –न्तीति ब०। २ –हितः आ०, ब०, ज०, द०, व०। ३ परिपद्यते आ०। ४ –कका-मांणशा– ता०। ५ –दितो– आ०, द०, ब०, ज०। ६ –नमुच्यते– आ०, ब०, द०, ज०, व०। ७ एकेन भावेन आ०, ब०, द०, ज०।

पुद्गला गृहीताः समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः प्रागुक्तेन क्रमेण त एव पुद्गलास्तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मत्वमायान्ति समुदितं यावत्तावत् कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनं कथ्यते । तथा चोक्तम्—

"सव्वे[1] वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण ।
असइअणंतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥" [बारसअणु० २५]

तथा चेष्टोपदेशः–

"भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥" [इष्टोप० श्लो० ३०]

इति नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनं द्रव्यकर्मपरिवर्त्तनं च द्विविधं द्रव्यसंसारं ज्ञात्वा तद्धेतुभूतं मोहकर्म न कर्त्तव्यमिति भावः ।

अथ क्षेत्रपरिवर्त्तनं निरूप्यते । तथा हि–सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरो लोकस्य अष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्ये कृत्वा उत्पन्नः, क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः, स एव जीवः पुनस्तेनैव अवगाहेन[2] द्वौ वारावुत्पन्नस्त्रीन् वारानुत्पन्नश्चतुर्वारानुत्पन्न इत्येवं यावदङ्गुलस्य असंख्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावतो वारान् तत्रैवोत्पद्य[3] पुनः एकैकप्रदेशाधिक्येन सर्वलोको निजजन्मक्षेत्रत्वमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तनं कथ्यते । तथा चोक्तम्–

"सव्वं[4] हि लोगखेत्तं कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं ।
ओगाहणाए बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥" [बारसअणु० २६]

तथा च परमात्मप्रकाशः–

"सो[5] णत्थि को पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
जिणधम्मं अलहन्तो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीओ ॥" [परमात्म० १।६५]

इति क्षेत्रपरिवर्त्तनमनन्तवारान् जीवश्चकार । तथा ज्ञात्वा जिनधर्मे मतिः कार्येति भावः ।

कालपरिवर्त्तनं कथ्यते—उत्सर्पिणीकालप्रथमसमये कोऽपि जीव उत्पन्नो निजायुःसमाप्तौ मृतः, स एव जीवो द्वितीयोत्सर्पिणीकालद्वितीयसमये पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः, तृतीयोत्सर्पिणीकालतृतीयसमये[6] पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः, चतुर्थो-

---

१ सर्वेऽपि पुद्गलाः खलु क्रमशो भुक्तोज्झिताश्च जीवेन । असकृदनन्तकृत्वः पुद्गलपरिवर्तसंसारे ॥ २ अवगाहनेन द० । ३ –द्यते पु –आ०, द०, ब०, ज० । ४ सर्वं हि लोकक्षेत्रं क्रमशस्तन्नास्ति यत्र नोत्पन्नम् । अवगाहनया बहुशः परिभ्रमन् क्षेत्रसंसारे ॥ ५ सो नास्ति कः प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये । जिनधर्ममलभन् यत्र न परिभ्रमितो जीवो ॥ ६ –येषु पु– आ०, ब०, द०, ज० ।

त्सर्पिणीकालचतुर्थसमये पुनरुत्पन्नो निजायुर्भुक्त्वा पुनर्मृतः। एवं सर्वोत्सर्पिणीसमयेषु [1]जन्म गृह्णाति तथा सर्वोत्सर्पिणीसमयेषु मरणमपि गृह्णाति। यथा सर्वेषूत्सर्पिणीसमयेषु जन्ममरणानि गृह्णाति तथा सर्वेष्ववसर्पिणीसमयेषु जन्मानि मरणानि च गृह्णाति। एतावता कालेन एकं कालपरिवर्त्तनं भवति। एवमनन्तानि [3]कालपरिवर्त्तनानि जीवेन कृतानि। तथा चोक्तम्–

"ओसप्पिणि-अवसप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मरिदो बहुसो भमणेण दु कालसंसारे[4] ॥१॥" [बारस अणु० २९]

एवंविधकालपरिवर्तनमपि जिनस्वामिसम्यक्त्वरहितेन जीवेन क्रियते। यदा तु जिनस्वामिसम्यक्त्वं जीवो गृह्णाति तदा सर्वसामग्रीं प्राप्य मुक्तो भवति। तेन कारणेन जिनस्वामिसम्यक्त्वमुपादेयमिति भावार्थः। तथा चोक्तम्—

"[5]कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणंतु।
जीवें बिण्णि ण पत्ताइं जिणुसामिउ सम्मत्तु॥१॥" [परमात्मप्र० २।१४३]

इदानीं भवपरिवर्तनोत्कीर्तनं क्रियते। भवपरिवर्त्तनं चतुर्गतिपरिभ्रमणम्। तत्र तावन्नरकगतिपरिवर्तनमुच्यते। नरकगतौ दशवर्षसहस्राणि जघन्यमायुः। केनचित् प्राणिना दशवर्षसहस्रप्रमितमायुः प्रथमनरके भुक्तम्। पुनर्भ्रमणं कृत्वा तादृशमायुस्तत्रैव नरके भुक्तम् एवं पुनर्भ्रान्त्वा तृतीयवारेऽपि तादृशमायुर्भुक्तम्, एवं चतुर्थादिवारेषु तादृशमायुर्दशवर्षसहस्राणां यावन्तः समयास्तावतो वारान् स एव जीवस्तादृशमायुर्भुङ्क्ते। पश्चादेकैकसमयाधिकमायुः पुनः पुनर्भ्रान्त्वा भुङ्क्ते यावत्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि परिपूर्णानि भवन्ति। समयाधिकतया यदि परिपूर्णान्यायूंषि भवन्ति तदा गणनीयानि भवन्ति, अधिकतया तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यपि न गणनीयानि भवन्ति। इदानीं तिर्यग्भवः सम्भाव्यते। स एव जीवस्तिर्यक्त्वेऽन्तर्मुहूर्त्तायुषा उत्पन्नः पुनर्भ्रान्त्वा अन्तर्मुहूर्त्तायुरुत्पद्यते। एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमादिवारान् तिर्यक्त्वेऽन्तर्मुहूर्तायुरुत्पद्यते यावदन्तर्मुहूर्तायुषः समयाः परिपूर्णा भवन्ति। तत्पश्चात् एकैकसमयाधिकायुरुत्पद्यते। यावत्त्रीणि पल्यानि परिपूर्णानि भवन्ति तावत्तिर्यग्भवपरिवर्त्तनं परिपूर्णं भवति। तत्रापि समयाधिकतया यो भवो गृहीतः स गण्यते, अन्यथागृहीतो भवो न गण्यत इत्यर्थः। यथा तिर्यग्भवपरिवर्त्तनं सूचितं तथा मनुष्यभवपरिवर्त्तनं ज्ञातव्यम्। देवगतिपरिवर्त्तनं तु नरकगतिपरिवर्त्तनवत् बोद्धव्यम्। अत्रायं विशेषः–देवगतौ उपरिमग्रैवेयकसम्बन्ध्येकत्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तसमयाधिकतया परिवर्तनं ज्ञातव्यम्। तथा चोक्तम्—

---

१ जन्ममरणं गृ– आ०, ब०, द०, ज०,। २ एवं आ०, ब०, द०, ज० ता०। ३ कालः परिवर्तति ब०। ४ उत्सर्पिण्यवसर्पिणिसमयावलिकासु निरवशेषासु। जातो मृतो बहुशो भ्रमणेन तु कालसंसारे॥ ५ कालोऽनादिः अनादिर्जीवः भवसागरोऽप्यनन्तः। जीवेन द्वे न प्राप्ते जिनः स्वामी सम्यक्त्वम्॥

"[1]णिरयादिजहण्णादिसु जावदि उवरिल्लिया दु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदा ॥" [बारस अणु० २८]

एवं भवपरिवर्त्तनं मिथ्यात्वमूलकारणं विज्ञाय परमानन्दपदं [2]यियासुना मिथ्यात्वं परिहृत्य अनन्तसौख्यकारणमोक्षपदप्रदायकसम्यक्त्वादिकमाराधनीयम् । भवमध्ये तु किमप्यपूर्वं नास्तीति भावार्थः । उक्तञ्च—

"अत्रास्ति जीव न च किञ्चिदभुक्तमुक्तं स्थानं त्वया निखिलतः परिशीलनेन ।
तत्केवलं विगलिताखिलकर्मजालं स्पृष्टं कुतूहलधिया न हि जातु धाम ॥"
[यश० पू० पृ० २७१]

इदं सुभाषितं क्षेत्रपरिवर्त्तनेऽपि योजनीयम् ।

इदानीं भावपरिवर्त्तनं कथ्यते—पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तकुदृष्टेर्जीवस्य सर्वजघन्यां स्वयोग्यां ज्ञानावरणप्रकृतेः स्थितिमन्तःकोटीकोटिसंज्ञां स्वीकुर्वतः कषायाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि संख्यातासंख्यातानन्तभागवृद्धि-संख्यातासंख्यातानन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानपतितानि तत्स्थितियोग्यानि भवन्ति । तत्रान्तःकोटिकोटिस्थितौ सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाननिमित्तानि, अनुभागाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति । प्रकृतिस्थितिबन्धानुभागप्रदेशस्वरूपनिरूपणपरेयं गाथा—

"[3]पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥१॥" [मूलाचा०गा० १२२१]

तथा चोक्तम्—

"प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशः प्रचयात्मकः ॥ २ ॥" [ ]

एवमन्तःकोटीकोटिसंज्ञां सर्वजघन्यां स्थितिं स्वीकुर्वतः सर्वजघन्यं च कषायाध्यवसायस्थानं स्वीकुर्वतः सर्वजघन्यमेव अनुभागस्थानमनुभवस्थानं कर्मरसास्वादनस्थानञ्च स्वीकुर्वतो मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य तद्योग्यं ज्ञानावरणस्थित्यनुभागोचितं सर्वजघन्ययोगस्थानं भवति । तेषामेव स्थितिरसकषायानुभागस्थानानां द्वितीयमसंख्येयभागवृद्धिसहितं योगस्थानं भवति । एवञ्च तृतीयादिषु अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि चतुःस्थानपतितानि श्रेण्यसंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति । तथा तामेव स्थितिं तदेव कषायाध्यवसायस्थानञ्च स्वीकुर्वतः द्वितीयमनु[4]भवाध्यवसायस्थानं भवति । तस्य च द्वितीयानुभागाध्यवसायस्थानस्य योगस्थानानि पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयाद्यनुभवाध्यवसायस्थानेष्वपि आ असंख्ये-

---

१ नरकादिजघन्यादिषु यावत् उपरिमग्रैवेयकानि । मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशोऽपि भवस्थितिः भ्रमिता ॥ २ पिपासतां मि- आ०, ब०, द०, ज०, । ३ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्तु चतुर्विधो बन्धः । योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवन्ति ॥ ४ -मनुभावा- ता० ।

यलोकपरिसमाप्तेर्योगस्थानानि भवन्ति । एवं तामेव स्थितिमापद्यमानस्य द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति । तस्यापि द्वितीयस्यापि कषायाध्यवसायस्थानस्यापि अनुभवाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च पूर्ववद्वेदितव्यानि । एवं तृतीयादिष्वपि कषायाध्यवसायस्थानेष्वपि अ(आऽ)संख्येयलोकपरिसमाप्तिवृद्धिक्रमो वेदितव्यः । उक्ताया जघन्यायाः स्थितेः समयाधिकायाः कषायादिस्थानानि पूर्ववत् एकसमयाधिकक्रमेण आ उत्कृष्टस्थितेस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटिपरिमितायाः कषायादिस्थानानि वेदितव्यानि । अनन्तभागवृद्धिः, असंख्येयभागवृद्धिः, संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः अनन्तगुणवृद्धिः, इमानि षट्स्थानानि वृद्धिः(द्धेः) । हानि(ने)रपि तथैव अनन्तभागवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरहितानि चत्वारि स्थानानि ज्ञातव्यानि । एवं यथा ज्ञानावरणकर्मपरिवर्तनमुक्तं तथाऽन्येषामपि सप्तानां कर्मणां मूलप्रकृतीनां परिवर्तनं ज्ञातव्यम् । उत्तरप्रकृतीनामपि परिवर्त्तनक्रमो ज्ञातव्यः । तदेतत्सर्वं[1] समुदितं भावपरिवर्त्तनं भवति । तथा चोक्तम्—

"सव्वा पयडिट्ठिदिओ अणुभागपदेसबंधठाणाणि ।
मि[2]च्छत्तसंसिदेण य भमिदो पुण भावसंसारे[3] ॥" [बारस० गा० २९]

एवं भावसंसारः सर्वोऽपि मिथ्यात्वमूलः सूरिभिः सूचितो भवति । तदेवं ज्ञायते मिथ्यात्वसदृशमन्यत्पापं नास्ति । उक्तञ्च समन्तभद्रस्वामिना—

"न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥" [रत्नक० श्लो० ३४]

एवंविधात् पञ्चप्रकारात् संसारपरिवर्तनाद्ये मुक्तास्ते सिद्धाः प्रोच्यन्ते । अत्र कर्मसामर्थ्यसूचनार्थं दोहकमिदमुच्यते—

"क[4]म्मइं दिढघणचिक्कणइं गरुयइं वज्जसमाइं ।
णाणवियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताइं ॥" [परमात्मप्र० १।७८]

तदपि नैकान्तेन वर्तते ।

"क[5]त्थवि बलिओ जीवो कत्थवि बलियाइं होंति कम्माइं ।
जीवस्स य कमस्स य पुव्वणिबद्धाइं वैराइं ॥" [ ]

अथ ये संसारिणो जीवाः प्रोक्तास्ते कति प्रकारा भवन्तीति प्रश्ने द्विप्रकारा भवन्तीति द्विप्रकारसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

---

१ सर्वमुदितं भा– आ०, ब०, ज,० द० । २ "जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ।" बारस० । ३ सर्वाः प्रकृतिस्थितयः अनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि । मिथ्यात्वसंश्रितेन च भ्रमितः पुनः भावसंसारे ॥ ४ कर्माणि दृढघनचिक्कणानि गुरुकाणि वज्रसमानि । ज्ञानविचक्षणं जीवमुत्पथे पातयन्ति तानि ॥ ५ कुत्रापि बलवान् जीवो कुत्रापि बलवन्ति भवन्ति कर्माणि । जीवस्य च कर्मणश्च पूर्वनिबद्धानि वैराणि ॥

मनश्चित्तं तद् द्विप्रकारम्-द्रव्यभावमनोभेदात्। पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः। वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः। ईदृग्विधेन मनसा वर्तन्ते ये ते समनस्काः। न विद्यते पूर्वोक्तं द्विप्रकारं मनो येषां ते अमनस्काः। समनस्काश्च अमनस्काश्च समनस्काऽमनस्का द्विप्रकाराः संसारिणो जीवा भवन्ति। अत्र द्वन्द्वसमासे गुणदोषविचारकत्वात् समनस्कशब्दस्य अर्चितत्वम्, गुणदोषविचारकत्वाभावात् अमनस्कशब्दस्य अनर्चितत्वम्। **"यच्चार्चितं द्वयोः"** [कात० २।५।१३] इति वचनात् समनस्कशब्दस्य पूर्वनिपातः।

भूयोऽपि संसारिजीवप्रकारपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाचक्षते आचार्याः—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारो विद्यते येषां ते संसारिणः। त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः, न पुनः त्रस्यन्तीति त्रसाः मारुतादीनां त्रसत्वप्रसक्तेः गर्भादिषु स्थावरत्वप्रसक्तेश्च। स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः, न पुनः तिष्ठन्तीत्येवं शीलाः स्थावराः, [2]तथा सति मारुतादीनामपि त्रसत्वप्रसक्तिः। **"कसिपिसिभासीशस्थाप्रमदाश्च"** [कात० ४।४।४७] इत्यनेन वरप्रत्ययेन रूपमेवं सिद्धम्। त्रसाश्च स्थावराश्च त्रसस्थावराः संसारिणो जीवा भवन्ति।

ननु 'संसारिणो मुक्ताश्च' इत्यत्र संसारिग्रहणं वर्त्तत एव पुनः संसारिग्रहणमनर्थकम्; इत्याह—सत्यम्। तेनैव पूर्वोक्तसंसारिग्रहणेनैव यदि संसारिग्रहणं सिद्धं तर्हि 'समनस्काऽमनस्काः' अस्मिन्सूत्रे यथासंख्यत्वात् संसारिणः समनस्का भवन्ति मुक्ता अमनस्का भवन्ति इत्येवमर्थः सञ्जायते। तत्वार्थसम्भावनमनुपपन्नम्। तस्मात् समनस्कामनस्काश्च ये संसारिणो वर्त्तन्ते तदपेक्षया पुनः संसारिग्रहणम्, अन्यथा संसारिशब्दग्रहणमन्तरेण 'त्रसस्थावराः' इति यदि सूत्रं क्रियते तथापि संसारिणस्त्रसाः मुक्ताः स्थावरा इत्यपि अनुपपन्नोऽर्थः समुत्पद्यते। तेन कारणेन 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इति सूत्रं कृतम्। ते संसारिणो द्विप्रकारा भवन्ति त्रसाः स्थावराश्च। द्वीन्द्रियादारभ्य अयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रसाः। तस्मात्कारणात् चलनाऽचलनापेक्षं[3] त्रसस्थावरत्वं न भवति। किं तर्हि? कर्मोदयापेक्षं त्रसस्थावरत्वं भवति। तेन कारणेन त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः, स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनः स्थावरा इत्युच्यन्ते। त्रसाणामल्पस्वरत्वात् सर्वोपयोगसम्भवेन अर्चितत्वाच्च पूर्वनिपातः।

त्रसस्थावरेषु त्रसानां [4]पूर्वं ग्रहणम्, स्थावराणां पश्चाद्ग्रहणम् इत्यनुक्रममुल्लङ्घ्य एकेन्द्रियाणामतिबहुवक्तव्यस्याभावात् स्थावरभेदात् (न) पूर्वमेवाहुः—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी च आपश्च तेजश्च वायुश्च वनस्पतिश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः। तिष्ठन्ति इत्येवं शीलाः स्थावराः। एते पृथिव्यादय एकेन्द्रियजीवविशेषाः स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावराः

---

१ कर्मोदयोत्पादित– आ०, ब०, द०, ज०। २ तथा मा– आ०, ब०, द०, ज०। ३ –पेक्षत्वं त्र– आ०, ब०, द०, ज०। ४ पूर्वग्र– आ०, ब०, द०, ता०, ब०।

कथ्यन्ते । ते तु प्रत्येकं चतुर्विधाः–पृथिवी, पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीवः । आपः, अप्कायः, अप्कायिकः, अप्जीवः । तेजः, तेजःकायः, तेजःकायिकः, तेजोजीवः । वायुः, वायुकायः, वायुकायिकः, वायुजीवः । वनस्पतिः, वनस्पतिकायः, वनस्पतिकायिकः, वनस्पतिजीव इति । तत्र अध्वादिस्थिता धूलिः पृथिवी । इष्टकादिः पृथिवीकायः । पृथिवीकायिकजीवपरिहृतत्वात् इष्टकादिः पृथिवीकायः कथ्यते मृतमनुष्यादिकायवत् । तत्र स्थावरकायनामकर्मोदयो नास्ति, तेन तद्विराधनायामपि दोषो न भवति । पृथिवीकायो विद्यते यस्य स पृथिवीकायिकः । इन् विषये इको वाच्यः । तद्विराधनायां दोष उत्पद्यते । विग्रहगतौ प्रवृत्तो यो जीवोऽद्यापि पृथिवीमध्ये नोत्पन्नः समयेन समयद्वयेन समयत्रयेण वा यावदनाहारकः पृथिवीं कायत्वेन यो गृहीष्यति प्राप्तपृथिवीनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थः स पृथिवीजीवः कथ्यते । षट्त्रिंशत् पृथिवीभेदाः । तथाहि—

“मृत्तिका वालिका चैव शर्करा चोपलः शिला ।
लवणायस्तथा ताम्रं त्रपु सीसकमेव च ॥ १ ॥
रूप्यं सुवर्णं वज्रश्च हरितालं च हिङ्गुलम् ।
मनःशिला तथा तुत्थमञ्जनं च प्रवालकम् ॥ २ ॥
झीरोलकाभ्रकं चैव मणिभेदाश्च बादराः ।
गोमेदो रुजकोऽङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभः ॥ ३ ॥
वैडूर्यो चन्द्रकान्तश्च जलकान्तो रविप्रभः ।
गैरिकश्चन्दनश्चैव वर्वरो बक एव च ॥ ४ ॥
मोचो मसारगल्पश्च सर्वं एते प्रदर्शिताः ।
संरक्ष्याः पृथिवीजीवाः मुनिभिः ज्ञानपूर्वकम्[2] ॥५॥” [ ]

वालिका रूक्ष्णाङ्गा[3] नद्युद्भवा । शर्करा परुषरूपा, त्र्यस्रचतुरस्रादिरूपा । उपलो वृत्त[4]पाषाणः। शिला बृहत्पाषाणः । त्रपु वङ्गम् । अञ्जनं सौवीराञ्जनम् । [5]झीरोलका अभ्रवालुका चिक्यचिक्यरूपा । गोमेदः कर्केतनमणिः गोरोचनावर्णः । रुजको राजवर्त[6]मणिरतसीपुष्पवर्णः । [7]अङ्कः

१ इक आदेशः । २ “पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे । अय तंब तउय सीसग, रुप्प सुवन्ने य वेरे य ॥ हरियाले हिंगुलए, मणोसिला सीसगंऽजण पवाले । अब्भपडलऽब्भवालुय, वायरकाए मणिविहाणा ॥ गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य । मरगय मसारगल्ले, भुयमायेण इंदनीले य ॥ चंदप्पभवेरुलिए, जलकंते चेव सूरकंते य । एए खरपुढवीए नामं छत्तीसयं होंति ॥” –आचा० नि० गा० ७३–७६ । “मृत्तिका वालुका चैव……”– तत्त्वार्थसा० श्लो० ५८–६२ । ३ –क्ष्णागंगानद्यु– आ०, द०, ज०, ब० । –क्ष्णाङ्गाद्यु– ता० । ४ छन्नपा– ज० । ५ डीरो– ज०, द० । क्रिरो– त०, सा० । ६ –वर्त्तो म– आ०, द०, ज० । –वर्त्तिम– ब० । ७ अंजकः आ०, ब०, द०, ज० ।

पुलकमणिः प्रवालवर्णः । स्फटिकमणिः स्वच्छरूपः । रोहितप्रभः पद्मरागः । वैडूर्यं मयूरकण्ठवर्णम् । जलकान्त उदकवर्णः । रविप्रभः सूर्यकान्तः । गैरिको [1]रुधिराख्यमणिः गैरिकवर्णः । चन्दनः श्रीखण्डसमगन्धवर्णो मणिः । वर्वरो मरकतमणिः । बकः पुष्परागमणिः बकवर्णः । मोचो नीलमणिः कदलीपत्रवर्णः । मसारग[2]ल्पो मसृणपाषाणमणिः, विद्रुममणिवर्णः । शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिताः शुद्धपृथिवीविकाराः । शेषाः खरपृथिवीविकाराः । एतेष्वेव च पृथिव्यष्टकमन्तर्भवति । तत्किम् ? [3]मेर्वादिशैलाः, द्वीपाः, विमानानि, भवनानि, वेदिकाः, प्रतिमाः, तोरणस्तूपचैत्यवृक्षजम्बूशाल्मलिधातक्यः, रत्नाकरादयश्च ।

एवं विलोडितं यत्र तत्र विक्षिप्तं वस्त्रादिगालितं जलमाप उच्यते । अप्कायिकजीवपरिहृतमुष्णं च जलम् अप्कायः प्रोच्यते । अप्कायो विद्यते यस्य स अप्कायिकः । अपः कायत्वेन यो गृहीष्यति विग्रहगतिप्राप्तो जीवः स अप्जीवः कथ्यते ।

इतस्ततो विक्षिप्तं जलादिसिक्तं वा प्रचुरभस्मप्राप्तं वा मनाक्तेजोमात्रं तेजः कथ्यते । भस्मादिकं तेजसा परित्यक्तं शरीरं तेजस्कायो निरूप्यते । तद्विराधने दोषो नास्ति, स्थावरकायनामक[4]र्मोदयरहितत्वात् । तेजः कायत्वेन गृहीतं येन सः तेजस्कायिकः । विग्रहगतौ प्राप्तो जीवस्तेजोमध्येऽवतरिष्यन् तेजोजीवः प्रतिपाद्यते ।

वायुकायिकजीवसन्मूर्च्छनोचितो वायुर्वायुमात्रं वायुरुच्यते । वायुकायिकजीवपरिहृतः सदा विलोडितो वायुर्वायुकायः कथ्यते । वायुः कायत्वेन गृहीतो येन स वायुकायिकः कथ्यते । वायुं कायत्वेन गृहीतुं प्रस्थितो जीवो वायुजीव उच्यते ।

सार्द्रः छिन्नो भिन्नो मर्दितो वा लतादिर्वनस्पतिरुच्यते । शुष्कादिर्वनस्पतिर्वनस्पतिकायः । जीवसहितो वृक्षादिर्वनस्पतिकायिकः । विग्रहगतौ [5]सत्यां वनस्पतिर्जीवः वनस्पतिजीवो भण्यते ।

प्रत्येकं चतुर्षु भेदेषु मध्ये पृथिव्यादिकं कायत्वेन गृहीतवन्तो जीवा विग्रहगतिं प्राप्ताश्च प्राणिनः स्थावरा ज्ञातव्याः, तेषामेव पृथिव्यादिस्थावरकायनामकर्मोदयसद्भावात्, न तु पृथिव्यादयः पृथिवीकायादयश्च स्थावराः कथ्यन्ते, अजीवत्वात् कर्मोदय[6]भावाभावाच्च ।

एतेषां कति प्राणाः ? स्पर्शनेन्द्रियप्राणः, कायबलप्राणः, उच्छ्वास-निश्वासप्राणः, आयुःप्राणश्च, चत्वारः प्राणाः सन्ति । तेनैते पञ्चतयेऽपि स्थाव[7]राः प्राणिन उच्यन्ते ।

यद्येते स्थावराः, तर्हि त्रसा उच्यन्ताम् । ते के इति प्रश्ने सूत्रमिदमुमास्वामिनः प्राहुः—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

---

१ रुधिराकारम– आ०, ब०, द०, ज० । २ –गल्लो म– ज० । ३ मेरुपर्वतादि आ०, ज०, द०, ब० । ४ –कर्मरहि– ता०, ब० । ५ सत्यां वनस्पतिजीवो भ– ता०, ब० । ६ –दयाभावाच्च आ०, ब०, द०, ज० । ७ –वरप्रा– आ०, ब०, द०, ता०, ब० ।

द्वे इन्द्रिये स्पर्शनरसनलक्षणे यस्य स द्वीन्द्रियः । द्वीन्द्रिय आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादयः । त्रस्यन्तीति त्रसाः । द्वीन्द्रियादयः पञ्चेन्द्रियपर्यन्तास्त्रसाः कथ्यन्ते । स्पर्शनरसनयुक्ता द्वीन्द्रियाः–कुक्षिक्रमयः । शङ्खा वादनहेतवः । क्षुल्लकाः क्षुल्लकशङ्खाः । वराटकाः कपर्दकाः । अक्षा महाकपर्दकाः । अरिष्टबालकाः शरीरसमुद्भवतन्त्वाकारवालकाः । गण्डुवालकाः किञ्चुलकाः । महालवा अलसका इति यावत् । शम्बूकाः सामान्यजलशुक्तयः । लघुशङ्खा इति प्रभाचन्द्रः । शुक्तयो मुक्ताफलहेतवः, अन्याश्च शुक्तयः । पुलविका रक्तपा जलौकस इति यावत् । आदिशब्दात् व्रणकृमयः गुंवडकृमयो नखादयो ज्ञातव्याः । त्रीन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणसहिताः—कुन्थवः उद्देहिकाः । वृश्चिका गोभिकाः । खर्जूरकाः कर्णशलाकाः, शतपद्यपरनाम्नी(म्न्यः) । इन्द्रगोपकाः रक्तकीटाः, इन्द्रवधूटिकाऽपरनाम्ना (मानः) । यूका लिक्षाः । मत्कुणाः पिपीलिकाः[1] मुंग्यपरनामिकाः । चतुरिन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःसहिताः–दंशा वनमक्षिकाऽपरनामानः । मशका मशकेतराश्च मक्षिकाः प्रसिद्धाः । पतङ्गाश्च प्रसिद्धाः । कीटा गोवरकीटाः रुधिरकीटादयश्च । भ्रमराः षट्पदाः । मधुकर्यो मधुमक्षिकाः । गोमक्षिकाः वगायिकाः विश्वम्भराः । लूताः कोलिका इति यावत् ।

पञ्चेन्द्रियाः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रसहिताः—अण्डायिकाः सर्पगृहकोकिलाः ब्राह्मण्यादयः । पोतायिकाः[2]–मार्जारादिगर्भविशेषः पोतः, तत्र कर्मवशादुत्पत्त्यर्थमाय आगमनं पोतायः, पोतायो विद्यते येषां ते पोतायिकाः, अस्त्यर्थ इको वाच्यः । श्वमार्जारसिंहव्याघ्रचित्रकादयोऽनावरणजन्मानः । जरायिकाः–जालवत्प्राणिपरिवरणं विततमांसरुधिरं जरायुः कथ्यते, तत्र कर्मवशादुत्पत्त्यर्थमाय आगमनं जरायः, जरायुरेव जरः, तत्र आयः जरायः, जरायो विद्यते येषान्ते जरायिकाः, पृषोदरादित्वात् युलोपः । गोमहिषीमनुष्यादयः सावरणजन्मानः । रसायिकाः रसो घृतादिस्तत्र चर्मादियोगे आय आगमनं विद्यते येषां ते रसायिकाः । [3]प्रथमधातूद्भवा वा रसायिकाः ।

"रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।" [अष्टाङ्गहृ० १ । १३]

इति वचनात् रसः प्रथमो धातुः । ते[4] सूक्ष्मत्वात् वक्तुं न शक्यन्ते । संस्वेदः प्रस्वेदः, तत्र भवाः संस्वेदिमाः "एवमादित्वात्" [ ] भावार्थे इमप्रत्ययः । चक्रवर्त्तिकक्षाद्युत्पन्नास्तेऽपि सूक्ष्मत्वाद् वक्तुं न शक्यन्ते । सम्मूर्च्छिमाः, समन्तात् पुद्गलानां मूर्च्छनं संघातीभवनं संमूर्च्छः तत्र भवाः सम्मूर्च्छिमाः । इमप्रत्ययः पूर्ववत् । सर्पोन्दुरगोर्खुरमनुष्यादयोऽपि सम्मूर्च्छनादुत्पद्यन्ते । उक्तञ्च—

"शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेशेषु सद्यः सम्मूर्च्छना भवेत् ॥" [ ]

---

१ –काः कर्णशलाकामु– आ०, ब०, द०, ज० । २ –काश्च मा– आ०, ब०, द०, ज० । ३ –मदालूद्भ– ता० । ४ तेन सू– आ०, ब०, द०, ज० । ५ –न्दुरदुरगो– ता० । ६ –गोखु– द० । ७ –देहेषु आ०, ब०, द०, ज० । ८ –नोभ– आ०, ब०, द०, ज० ।

उद्भेदिमाः–उद्भेदनमुद्भेदः, भूमिकाष्ठपाषाणादिकं भित्त्वा ऊर्ध्वं निस्सरणमुद्भेदः, उद्भेदो विद्यते येषान्ते उद्भेदिमाः, अत्रास्त्यर्थे इमप्रत्ययः[1]। यथा [2]रत्नानि भङ्क्त्वा केनचिद् [3]दुर्दुरो निष्कासितः। उपपादिमाः–उपेत्य गत्वा पद्यते जायते यस्मिन्नित्युपपादः, देवनारकाणां जन्मस्थानम्, तत्र भवा उपपादिमाः। प्रमादिनां दुष्परिणामवशात् तेषामनपवर्त्यायुषामपि हिंसोत्पद्यते, न तु ते म्रियन्ते। तथा चोक्तम्–

"स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा कषायवान्।
पूर्वं [4]प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः[5]॥" [ ]

अन्यथा सालिसिक्थो मत्स्यः कथं सप्तमं नरकं गतः? "प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।" [त० सू० ७।१३] इति च वक्ष्यति। एते त्रसाश्चतुर्विधा भवन्ति।

एतेषां कति प्राणा भवन्ति? द्वीन्द्रियस्य द्वे इन्द्रिये, आयुः, उच्छ्वासनिश्वासः कायबलं वाग्बलमेते षट्प्राणाः भवन्ति। त्रीन्द्रियस्य षट् पूर्वोक्ताः घ्राणेन्द्रियाधिकाः सप्तप्राणा भवन्ति। चतुरिन्द्रियस्य सप्त पूर्वोक्ताश्चक्षुरिन्द्रियाधिकाः अष्टप्राणा भवन्ति। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनोऽष्टौ पूर्वोक्ताः श्रोत्रेन्द्रियाधिका नवप्राणा भवन्ति। पञ्चेन्द्रियसंज्ञितिर्यङ्मनुष्यदेवनारकाणां नव पूर्वोक्ता मनोबलाधिका दशप्राणा भवन्ति।

अथ "द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः" इति सूत्रे इन्द्रियसंख्या न कथिता, तानि कति भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुराचार्याः–

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

कर्मसहितस्य जीवस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमशक्तस्य अर्थग्रहणव्यापारे सहकारीणि इन्द्रियाणि भवन्ति। तानि तु इन्द्रियाणि पञ्चैव भवन्ति नाधिकानि, न च न्यूनानीति। परिभाषासूत्रमिदम्। [6]पायूपस्थवचःपाणिपादाख्यानि पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यप्यत्रो[7]च्यन्ताम्? इत्याह– सत्यम्। उपयोगप्रकरणे उपयोग[8]साधनानां स्पर्शनादीनामेव पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणामेवात्र ग्रहणम्, न क्रियासाधनानां पाय्वादीनां ग्रहणमत्र वर्त्तते, कर्मेन्द्रियाणां पञ्चेति नियमाभावात्। अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिष्पादितानां सर्वेषामपि क्रियासाधनत्वं वर्त्तत एव, तेन कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव न भवन्ति किन्तु बहून्यपि वर्त्तन्ते, तेनानवस्थानं पञ्चसङ्ख्यायाः।

स्पर्शनादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणामन्तर्भेदप्रकटनार्थं सूत्रमिदमाचक्षते विचक्षणाः–

द्विविधानि ॥ १६ ॥

द्वौ विधौ प्रकारौ येषामिन्द्रियाणां तानि द्विविधानि द्विप्रकाराणीत्यर्थः। कौ तौ द्वौ प्रकारौ द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियञ्चेति।

---

१ –यः उपया– ता०। २ रत्नं भ– ब०। ३ दर्दुरको नि– ब०। ४ प्राणान्त– आ०, ब०, ज०, ता०, व०। ५ उद्धृतोऽयं स० सि० ७।१३। ६ सांख्यः प्राह। "वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।" –सांख्यका० २६। ७ –त्रोच्यताम् ब०, ज०। ८ –साधकाना– आ०, द०, ब०, ज०।

तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदं भणन्त्याचार्याः–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

[1]निर्वर्त्यते निष्पाद्यते कर्मणा या सा निर्वृत्तिः। बाह्याभ्यन्तरभेदात् सापि द्विविधा। तत्र बाह्या निर्वृत्तिरुच्यते–चक्षुरादिषु मसूरिकादिसंस्थानरूप आत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षुषः प्रतिनियतसंस्थाननामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो यः सा बाह्या निर्वृत्तिरुच्यते। मसूरिकादिसंस्थानात् परतः उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामावरणक्षयोपशमविशिष्टानां सूक्ष्मपुद्गलप्रदेशसंश्लिष्टानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनाऽवस्थितानामात्मप्रदेशानां[2] वृत्तिरभ्यन्तरनिर्वृत्तिः कथ्यते। तथा उपक्रियते निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते, येन तदुपकरणम्। तदपि द्विविधम्–बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र बाह्यमुपकरणं शुक्लकृष्णगोलकादीन्द्रियोपकारकं पक्ष्मपटलकर्णपालिकादिरूपं बाह्यमुपकरणम्। शुक्लकृष्णादिरूपपरिणतपुद्गलमण्डलमभ्यन्तरमुपकरणम्। एवं बाह्याभ्यन्तरा च निर्वृत्तिः, बाह्यमभ्यन्तरं चोपकरणं द्रव्येन्द्रियमुच्यते।

इदानीं भावेन्द्रियस्वरूपं निरूपयन्ति—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लम्भनं[3] लब्धिः, लब्धिश्च उपयोगश्च लब्ध्युपयोगौ, एतौ द्वौ भावेन्द्रियं भवतः। इन्द्रशब्देन आत्मा उच्यते तस्य लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते। ज्ञानावरणक्षयोपशमे सत्यात्मनोऽर्थग्रहणे शक्तिः लब्धिरुच्यते। आत्मनोऽर्थग्रहण उद्यमोऽर्थग्रहणे प्रवर्त्तनमर्थग्रहणे व्यापरणमुपयोग उच्यते। ननु इन्द्रियफलमुपयोगः, तस्य इन्द्रियफलभूतस्य उपयोगस्य इन्द्रियत्वं कथम्? इत्याह–सत्यम्। कार्यस्य कारणोपचारात्। यथा घटपटाद्याकारपरिणतं विज्ञानमपि घटपटादिरुच्यते तथा इन्द्रियार्थग्राहक उपयोगोऽपि इन्द्रियमुच्यते।

अथ इन्द्रियाणां संज्ञाप्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

आत्मना कर्तृभूतेन स्पृश्यतेऽर्थः कर्मतापन्नोऽनेन करणभूतेन स्पर्शनेन तत्स्पर्शनम्। अथवा स्पृशतीति स्पर्शनम्। "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि" [का० सू० ४।५।९२] इति कर्त्तरि युट्। एवं रस्यत आस्वाद्यतेऽर्थोऽनेनेति रसनम्। रसयत्यर्थमिति वा रसनम्। घ्रायते गन्ध उपादीयते आत्मना अनेनेति घ्राणम्। जिघ्रति गन्धमिति वा घ्राणम्। चष्टे पश्यत्यर्थान् आत्मा अनेनेति चक्षुः। चष्टे इति वा चक्षुः। श्रूयते आत्मना शब्दो गृह्यते अनेनेति श्रोत्रम्। शृणोतीति वा श्रोत्रम्। स्पर्शनञ्च रसनञ्च घ्राणञ्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। एतानि इन्द्रियाणि पञ्च स्पर्शनादिसंज्ञानि भवन्ति।

---

१ निर्वृत्यते ता०। २ –नां प्रवृ– आ०, ज०, द०, ब०। ३ लभनं ता०, ब०, आ०, द०, ब०।

अथेदानीं पञ्चानामिन्द्रियाणामनुक्रमेण विषयप्रदर्शनार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्त्याचार्याः—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पृश्यत इति स्पर्शः, स्पर्शयुक्तोऽर्थः। रस्यते रसः, रसयुक्तोऽर्थः। गन्ध्यते गन्धः, गन्धयुक्तोऽर्थः। वर्ण्यते वर्णः, वर्णयुक्तोऽर्थः। शब्द्यते इति शब्दः, शब्दपरिणतपुद्गलः। अथवा स्पर्शनं स्पर्शः, रसनं रसः, गन्धनं गन्धः, वर्णनं वर्णः, शब्दनं शब्दः इति भावमात्रेऽपि। स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः। एते पञ्च तदर्थाः तेषां स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणामर्थास्तदर्था इन्द्रियविषया इत्यर्थः।

अथ ईषदिन्द्रियग्राह्यं विषयमुपदिशन्ति—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

[1]अस्पष्टावबोधनं श्रुतमुच्यते। तत् श्रुतमस्पष्टज्ञानम्। अनिन्द्रियस्य ईषदिन्द्रियस्य नोइन्द्रियाऽपरनाम्नश्चित्तस्य अर्थो विषयो भवति। यस्येन्द्रियस्य योऽर्थो ग्राह्यो भवति स विषय उच्यते। समनस्कस्य आत्मनो मनस्तत्र प्रवर्तते। अथवा श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतमुच्यते। तत् श्रुतमनिन्द्रियस्य चेतसो विषयो भवति। अनिन्द्रियस्य स विषयः कस्माद् भवति? श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमात् मनोऽवलम्बनज्ञानप्रवर्तनाच्च। अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतमुच्यते। तत् श्रुतमनिन्द्रियस्य अर्थः प्रयोजनं भवति। तेन कारणेनेदं प्रयोजनं मनसः स्वतन्त्रतया साध्यमित्यर्थः।

अथेदानीं स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां स्वामिन उच्यन्ते—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

वनस्पतिरन्ते येषां पृथिव्यप्तेजोवायूनां ते वनस्पत्यन्ताः, तेषां वनस्पत्यन्तानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां पञ्चानां स्थावराणामेकं स्पर्शनेन्द्रियं भवति। कस्मात्? वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्द्धकोदयात् शरीरनामकर्मलाभावष्टम्भादेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवशाच्च।

अथेदानीं रसनादीनामिन्द्रियाणां स्वामिन उच्यन्ते—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

आदिशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेनायमर्थः—कृमिरादिर्येषां शङ्खशुक्तिनखादीनां ते कृम्यादयः। पिपीलिका मुंगी[3] आदिर्येषां यूकालिक्षावृश्चिकगोभ्यादीनां ते पिपीलिकादयः। भ्रमर आदिर्येषां दंशमशककीटपतङ्गादीनां ते भ्रमरादयः। मनुष्य आदिर्येषां गोमहिषमृगसिंहव्याघ्रमत्स्यसर्पश्येनादीनां ते मनुष्यादयः। कृम्यादयश्च पिपीलिकादयश्च भ्रमरादयश्च मनुष्यादयश्च कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादयः। तेषामेकैकवृद्धानि, एकेन एकेन वृद्धानि अधिकानि एकैकवृद्धानि। "वीप्सायां पदस्य" [शा० व्या० २।३।८]

---

१ अस्पृष्टाव– आ०, ब०, द०। २ –नामला– ता०। ३ मुनी आ– ता०। ४ –श्येनकादी– द०। –श्येनकाकादी– आ०, ज०।

इति द्विर्वचनम्। कृम्यादीनां स्पर्शनं भवत्येव रसनमधिकं भवति। पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने भवत एव घ्राणमधिकं भवति। भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि भवन्त्येव चक्षुरधिकं भवति। मनुष्यादीनां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि भवन्त्येव श्रोत्रमधिकं भवति।

तत्र स्थावरभेदात् द्विविधेषु इन्द्रियभेदात् पञ्चविधेषु च संसारिजीवेषु ये पञ्चेन्द्रिया अनुक्तभेदाः तद्भेदसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

सह मनसा वर्त्तन्ते ये ते समनस्काः। सञ्ज्ञानं सञ्ज्ञा। संज्ञा विद्यते येषां ते संज्ञिनः। ये समनस्कास्ते संज्ञिन उच्यन्ते। ते तु पञ्चेन्द्रिया एव। अर्थादेकेन्द्रियादयश्चतुरिन्द्रियपर्यन्ताः संमूर्च्छनोत्पन्नाः पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञिनो भवन्ति। संज्ञिनां शिक्षालापग्रहणादिलक्षणा क्रिया भवति। [1]असंज्ञिनां शिक्षालापग्रहणादिकं न भवति। असंज्ञिनामपि अनादिकालविषयानुभवनाभ्यासदार्ढ्यादाहार[2]भयमैथुनपरिग्रह[3]लक्षणोपलक्षिताश्चतस्रः संज्ञाः अभिलाषप्रवृत्त्यादिकञ्च संगच्छत एव, किन्तु शिक्षालापग्रहणादिकं न घटते।

'अथ संसारिणां [4]सर्वा गतिः शरीरसम्बन्धाद्[5] भवति। शरीरे च मुक्ते सति मृतौ प्राप्तायामुत्तरशरीरार्थंगमनं जीवस्य न सङ्गच्छते शरीराभावात् सिद्धवत्' इत्यारेकायां सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

विग्रहः शरीरम्, तदर्थं गतिर्विग्रहगतिः, तस्यां विग्रहगतौ। कर्मभिर्योगः कर्मयोगः। यदा आत्मा एकं शरीरं परित्यज्य उत्तरशरीरं प्रति गच्छति तदा कार्मणशरीरेण सह योगः सङ्गतिर्वर्त्तते। तेनायमर्थः—कार्मणशरीराधारेण जीवो गत्यन्तरं गच्छति। अथवा विरुद्धो ग्रहो ग्रहणं विग्रहः, कर्मशरीरग्रहणेऽपि नोकर्मलक्षणशरीरपरित्याग इत्यर्थः। विग्रहेण गतिः विग्रहगतिः। एकस्य परिहारेण द्वितीयस्य ग्रहणेन गतिर्विग्रहगतिः, तस्यां विग्रहगतौ। तर्हि कर्मयोगः क इति चेत्? उच्यते—निखिलशरीराङ्कुरबीजभूतं कार्मणं वपुः कर्म इति कथ्यते। तर्हि योगः कः? वाङ्मनसकायवर्गणाकारणभूतं जीवप्रदेशपरिस्पन्दनं योगः कथ्यते। कर्मणा विहितो योगः कर्मयोगः स कर्मयोगो विग्रहग[6]तावुत्तरशरीरग्रहणे भवति। तेन कर्मयोगेन कर्मकृतात्मप्रदेशस्पन्दनेन कृत्वा कर्मादानं देशान्तरसंक्रमणञ्च भवतीति स्पष्टार्थः।

अत्राह कश्चित्-जीवपुद्गलानां गतिं कुर्वतां देशान्तरसङ्क्रमणं किमाकाशप्रदेशक्रमवृत्त्या भवति, आहोस्विदविशेषेण [7]अक्रमेणापि भवति इत्याशङ्कायां सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

---

१ अन्येषामपि सं- आ०, ब०, ज०, द०। २ -रनिद्राभ- आ०, ब०, ज०, द०। ३ -हणल- आ०, ब०, ज०, द०। ४ सर्वगतिः- आ०, ब०, द०, ज०। ५ -न्धाम- ता०। ६ -गतौ भ- ता०। ७ अनुक्रमे- आ०,ब०, द०, ज०।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकस्य मध्यप्रदेशादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक्च व्योमप्रदेशानामनुक्रमेण संस्थितानामावलिः श्रेणिर्भण्यते। अनु श्रेणेरनतिक्रमेण अनुश्रेणि। अत्र अव्ययीभावः समासः। उक्तञ्च "पूर्वं वाच्यं भवेद्यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते।" [कात० २।५।१४] जीवानां पुद्गलानाञ्च गतिर्गमनं भवति। कथं गतिर्भवति? अनुश्रेणि श्रेण्यनतिक्रमेण इत्यर्थः। ननु पुद्गलानामत्राधिकारोऽपि[1] नास्ति जीवाधिकारे पुद्गलस्य गतिः कथमत्र लभ्यते? सत्यम्। गत्यधिकारेऽपि पुनर्गतिग्रहणं पुद्गलस्यापि गतिग्रहणार्थम्। कोऽसौ गत्यधिकारः? "विग्रहगतौ कर्मयोगः" [त० सू० २।२५] इत्यत्र गतेर्ग्रहणं वर्तते। तथा च आगामिनि सूत्रे जीवग्रहणादत्र पुद्गलग्रहणं लभ्यते। किं तदागामिसूत्रम्? "अविग्रहा जीवस्य" [त० सू० २।२७] इति। तर्हि चन्द्रसूर्यादीनां ज्योतिष्काणां मेरुप्रदक्षिणावसरे श्रेणिरहिता गतिर्दृश्यते। तथा देवविद्याधरचारणादीनां च विश्रेणिगतिर्दृश्यते—श्रेणिं विनापि गतिर्विलोक्यते, किमर्थमुच्यते श्रीमद्भिर्गतिरनुश्रेणि भवतीति? सत्यम्; कालनियमेन देशनियमेन चात्र गतिर्वेदितव्या। कोऽसौ कालनियमः, को वा देशनियम इति चेत्? उच्यते—प्राणिनां मरणकाले भवान्तरग्रहणार्थं या गतिर्भवति सिद्धानाञ्चोर्ध्वगमनकाले या गतिर्भवति सा गतिरनुश्रेण्येव भवति। देशनियमस्तु—ऊर्ध्वलोकाद्या अधोगतिर्भवति, अधोलोकाद्या ऊर्ध्वगतिर्भवति तिर्यग्लोकाद्या अधोगतिर्भवति। तिर्यग्लोकाद्या ऊर्ध्वगतिश्च भवति सा अनुश्रेण्येव भवति। पुद्गलानाञ्च या लोकान्तप्रापिका गतिर्भवति सापि निश्चयादनुश्रेण्येव भवति। इतरा तु गतिर्यथायोग्यं भजनीया।

अथ पुनरपि गतिप्रकारपरिज्ञानार्थं श्रीमदुमास्वामिनः सूत्रमिदमाचक्षते—

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

विग्रहो व्याघातः, वक्रता इत्यर्थः। न विद्यते विग्रहः कुटिलता यस्यां गतौ साऽविग्रहा, सरलगतिरित्यर्थः। ईदृग्विधा सरला गतिः कस्य भवति? जीवस्य। जीवशब्दोऽत्र सामान्यार्थः। यद्यपि जीवशब्देन संसारिणो मुक्ताश्च जीवा लभ्यन्ते तथाप्यत्र जीवशब्देन मुक्तात्मा जीवोऽत्र ज्ञायते। कुत इति चेत्? आगामिसूत्रे संसारिजीवग्रहणात्। किं तदागामिसूत्रम्? "विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः" [त० सू० २।२८] इति। ननु 'अनुश्रेणि गतिः' इत्यनेनैव सूत्रेण श्रेण्यश्रेण्यन्तरसङ्क्रमणभावाभावसद्भावः कथितः, किमनेन 'अविग्रहा जीवस्य' इति सूत्रेण प्रयोजनम्? इत्याह कश्चित्, सत्यम्, पूर्वसूत्रे विश्रेणिगतिरपि कच्चिद् भवतीति ज्ञापनार्थमिदं सूत्रं कृतम्।

अथ यदि मुक्तात्मनोऽविग्रहगतिर्भवतीति प्रतिज्ञा क्रियते भवद्भिस्तर्हि सशरीरस्य जीवस्य किं मुक्तात्मवदप्रतिबन्धिनी गतिर्भवति, आहोस्वित् सप्रतिबन्धापि भवतीत्याशङ्कायां सूत्रं प्रतिपादयन्त्युमास्वामिनः—

---

१ –रो ना– आ०, ब०, द०, ज०।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

विग्रहवती वक्रा गतिः। चकारादवक्रा च। संसारिणः संसारिणो जीवस्य द्वे गती भवतः। अविग्रहा या अवक्रा गतिः, सा एकसमयपर्यन्तं भवति, ऐकसमयिकी भवति **"एकसमयाऽविग्रहा"** [त० सू० २।२०] इति वचनात्।

सा अवक्रा गतिर्यदा संसारिणो भवति [1]तदाप्यैकसमयिक्येव यदा तु [2]सिद्धगतां भवति तदाप्यैकसमयिक्येव। सा अवक्रा गतिरिषुगतिनाम्नी भवति। यथा इषोर्बाणस्य गतिर्गमनं वेध्यपर्यन्तं ऋज्वी भवति तथा सिद्धानां संसारिणाञ्च अविग्रहा गतिरैकसमयिकी समानैव। विग्रहवती वक्रा गतिः संसारिणामेव भवति। तस्यास्त्रयः प्रकारा भवन्ति—पाणिमुक्ता-लाङ्गलिका-गोमूत्रिकाभेदात्। पाणिमुक्ता यथा—पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकवक्रा, तथा संसारिणः पाणिमुक्तागतिरेकवक्रा, द्वैसमयिकी भवति। लाङ्गलिका गतिर्द्विवक्रा यथा लाङ्गलं हलं द्विवक्रं भवति तथा संसारिणां द्विवक्रा लाङ्गलिका गतिर्भवति। सा त्रैसमयिकी। गोमूत्रिका बहुवक्रा त्रिवक्रा गतिर्भवति। सा गोमूत्रिका गतिः संसारिणां चातुःसमयिकी भवति। अत एव आह—प्राक्चतुर्भ्यः। सा विग्रहवती गतिश्चतुर्भ्यः समयेभ्य प्राक् पूर्वं भवति। चतुर्थसमयस्य मध्ये अन्ते वा वक्रा गतिर्न भवति, गोमूत्रिकापेक्षया मध्ये अन्ते वा वक्रागतिर्न भवतीति ज्ञातव्यम्। सा चतुर्थसमये प्राञ्जलं सरलं गत्वोत्पत्तिक्षेत्रे प्रविशति। समयस्य ग्रहणमत्र सूत्रे नास्ति, कस्मात् समयग्रहणं क्रियते ? सत्यम्; **'एकसमयाऽविग्रहा'** इत्युत्तरसूत्रे समयग्रहणं वर्त्तते, तद्बलादत्रापि समयग्रहणं क्रियते इति। यथा षष्टिका व्रीहिविशेषाः षष्ट्या दिनैर्निष्पद्यन्ते तथा सर्वोत्कृष्टा वक्रा गतिः निष्कुटक्षेत्रे चातुःसमयिक्येव गतिर्भवति न अधिकसमया, स्वभावात् त्रिवक्रा गतिश्चतुःसमया एव।

अथेदानीं ऋजुगतेः कालविशेषं दर्शयन्त्याचार्याः—

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

एकः समयो यस्याः सा एकसमया। न विद्यते विग्रहो वक्रता यस्याः सा अविग्रहा। अविग्रहा अवक्रगतिरेकसमया भवति। गतिं कुर्वतां जीवानां पुद्गलानाञ्च व्याघातरहितत्वेन अविग्रहा गतिर्लोकपर्यन्तमप्यैकसमयिकी भवति।

अथेदानीमनादिकाले कर्मबन्धस्य सन्तत्यां सत्यां मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणोपलक्षितप्रत्ययवशात् कर्माणि स्वीकुर्वाणोऽयमात्मा सर्वदा आहारको भवति, तर्हि विग्रहगतावप्याहारको भवतीत्याशङ्कायां तन्निश्चयार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

एकं समयं द्वौ वा समयौ त्रीन्वा समयान् प्राप्य अयं जीवो विग्रहगतावनाहारको

---

१ तदा एक- आ०, ब०, द०, ज०। २ सिद्धानां आ०, ब०, द०, ज०। ३ प्रक्षिप्तद्रव्यस्यग- द० प्रक्षिप्तद्रव्यग- आ०। प्रक्षिप्तद्रव्यग- ज०। प्रक्षिप्तस्य द्रव्यग- ता०। ४ -गतिका- द०, ज०। ५ -हुः ता०, ब०।

भवति[1]। को नाम आहारः ? त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गलास्तेषां ग्रहणं स्वीकार आहार उच्यते। एवंविधस्य आहारस्य अभावो यस्य स भवत्यनाहारकः। कर्मस्वीकारो हि जीवस्य निरन्तरं वर्त्तते। तेन कार्मणशरीरसद्भावे विद्यमाने सति उपपादक्षेत्रं प्रति अविग्रहायां [2]गतौ ऋज्व्यां गतावाहारकः, इतरेषु त्रिषु समयेषु वक्रगतित्वादनाहारक एव। तथा हि पाणिमुक्तायामेकवक्रायां गतौ प्रथमसमयेऽनाहारकः, द्वितीयसमये त्वाहारक एव। लाङ्गलिकायां द्विवक्रायां गतौ प्रथमसमये द्वितीयसमये चानाहारकः तृतीयसमये ऋज्व्यां गतावाहारक एव। गोमूत्रिकायां त्रिवक्रायां गतौ प्रथमसमये द्वितीयसमये तृतीयसमये च अनाहारकः, चतुर्थसमये ऋज्व्यां गतावाहारक एव। इषुगतौ त्वेकसमयिक्यामाहारक एव। तथा च ऋद्धिप्राप्तस्य यतेराहारकं शरीरमाहारकमिति।

अथेदानीं शरीरान्तरप्रादुर्भावलक्षणं जन्म उच्यते। तस्य जन्मनः प्रकारान् प्रतिपादयन्ति भगवन्तः—

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

त्रैलोक्यमध्ये ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक् च शरीरस्य समन्तान्मूर्च्छनमवयवप्रकल्पनं सम्मूर्च्छनमुच्यते। मातुरुदरे रेतःशोणितयोर्गरणं मिश्रणं जीवसंक्रमणं गर्भ उच्यते। अथवा मात्रा गृहीतस्य आहारस्य यत्र ग्रहणं भवति स गर्भ उच्यते। [3]उपेत्य पद्यते सम्पूर्णाङ्ग उत्पद्यते यस्मिन् स उपपादः, देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेष इत्यर्थः। सम्मूर्च्छनश्च गर्भश्च उपपादश्च सम्मूर्च्छनगर्भोपपादाः। एते त्रयः संसारिजीवानां जन्म कथ्यते। पुण्यपापपरिणामकारणकर्मप्रकारविपाकोत्पन्ना एते त्रयः पदार्था जन्मप्रकारा भवन्ति।

अथेदानीं संसारिणां जन्माधारभूतो योनिभेदो वक्तव्य इति प्रश्ने सूत्रमिदं ब्रुवन्त्याचार्याः—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

जीवस्य चेतनाप्रकारः परिणामश्चित्तमुच्यते। चित्तेन सह वर्त्तते सचित्तः। शीतः स्पर्शविशेषः। तेन युक्तं यद्द्रव्यं तदपि शीतमुच्यते। सम्यक्प्रकारेण वृतः प्रदेशः संवृतो [4]दुरुपलक्ष्य इत्यर्थः। सचित्तश्च शीतश्च संवृतश्च सचित्तशीतसंवृताः। अथवा बहुवचनान्तविग्रहे सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीतसंवृताः। इतरैरचित्तोष्णविवृतैः सह वर्तन्ते ये योनयस्ते सेतराः। उभयात्मका योनयो मिश्रा उच्यन्ते। के ते मिश्राः ? सचित्ताऽचित्तशीतोष्णसंवृतविवृता इति। चकार उक्तसमुच्चयार्थः। तेनायमर्थो लभ्यते–सचित्ताश्च मिश्रा भवन्ति अचित्ताश्च मिश्रा भवन्ति, शीताश्च मिश्रा भवन्ति, उष्णाश्च मिश्रा भवन्ति। संवृताश्च मिश्रा भवन्ति, विवृताश्च मिश्रा भवन्ति, मिश्रा अप्यन्यैः सह मिश्रा भवन्ति। एकमेकं जन्म प्रति एकशः तद्योनयस्तेषां सम्मूर्च्छनगर्भोपपादलक्षणानां जन्मनां योनयस्त-

---

१ –ति तर्हि विग्रहगतौ को आ०, ब०, द०, ज०। २ गंतावा– आ०, ता०। ३ उपेत्यते ता०। ४ दुरुपेक्ष्य आ०, ब०, ज०।

द्योनयः। अनेन सूत्रेणोक्ता एते नव योनयो ज्ञातव्याः। ननु योनिजन्मनोः को भेदः ? आधाराधेयभेदाद् भेदः। कोऽसावाधारः, को वाधेयः ? योनय आधाराः, जन्मविशेषा आधेयाः। यस्मात्कारणात् सचित्तादिप्रदेशे स्थित्वा जीवः सम्मूर्च्छनादिना जन्मना निज-शरीराहारेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनोयोग्यान् पुद्गलान् गृह्णाति।

अथेदानीं सचित्तादियोनीनां स्वामिन उच्यन्ते—सचित्तयोनयः साधारणशरीरा वनस्पतिकायिकाः। कस्मात् ? अन्योन्याश्रयत्वात्। अचित्तयोनयो देवा नारकाश्च। देवनारकाणामुपपादः प्रदेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तो वर्तते यस्मात्। सचित्ताचित्तयोनयो गर्भजा भवन्ति, मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तं वर्तते, आत्मा सचित्तस्तेन मिश्रत्वात्। अथवा शुक्रशोणितं यत्र मातुरुदरे पतितं वर्त्तते तदुदरं सचित्तं वर्तते, तेन गर्भजाः सचित्ताचित्तलक्षणमिश्रयोनयः। वनस्पतेरितरे सम्मूर्च्छनजाः पृथिव्यादयोऽचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च। देवनारकाः शीतोष्णयोनयः यत उपपादस्थानानि कानिचिदुष्णानि वर्तन्ते, कानिचिच्छीतानि वर्तन्ते। तेजस्कायिका उष्णयोनयः। अपरे पृथिव्यादयः केचिच्छीतयोनयः[1] केचिदुष्णयोनयः केचिच्छीतोष्णमिश्रयोनयः। संवृतयोनयो देवा नारकाश्च पृथिव्यादयः पञ्च च। विवृतयोनयः द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः। संवृतविवृतमिश्रयोनयो गर्भजा भवन्ति। एता मूलभूता नव योनयो भवन्ति। तदन्तर्भेदाश्चतुरशीतिलक्षा भवन्ति। तदुक्तम्—

"णिचिदरधादुसत्त य तरुदह वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरिय चदुरो चउदस मणुये सदसहस्सा॥"[2]

[बारस० अणु० गा० ३५]

अस्यायमर्थः—नित्यनिगोदा इतरनिगोदाश्च पृथिव्यप्तेजोवायवश्च प्रत्येकं सप्तलक्षयोनयः। वनस्पतिकायिका दशलक्षयोनयः। द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाश्च प्रत्येकं द्विलक्षयोनयः। सुरा नारकास्तिर्यञ्चश्च पृथक् चतुर्लक्षयोनयः। मनुष्याश्च चतुर्दशलक्षयोनयः।

अथेदानीं पूर्वोक्तयोनीनां प्राणिनां केषां कीदृशं जन्म भवति ? इत्याशङ्कायां प्रथमतस्तावद् गर्भलक्षणजन्मभेदं दर्शयन्त्याचार्याः।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

यत्प्राणिनामानायवज्जालवदावरणं प्रविततं पिशितरुधिरं तद्वस्तु वस्त्राकारं जरायुरित्युच्यते। [3]कललमित्यपरपर्यायः। यच्छुक्रलोहितपरिवरणं परिमण्डलमुपात्तकाठिन्यं नखच्छल्लीसदृशं नखत्वचा सदृक्षं तदण्डमित्युच्यते। यद् योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः परिपूर्णप्रतीक आवरणरहितः स पोत इत्युच्यते। जरायौ जाता जरायुजाः। अण्डे जायन्ते स्म अण्डजाः। जरायुजाश्च अण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोताः, तेषां जरायुजाण्डजपोतानाम्। एतेषां त्रयाणां गर्भो भवति। एते त्रयो गर्भयोनयो भवन्ति इत्यर्थः।

---

१ –यः केचिच्छीतोष्ण– ता०, ब०। २ नित्येतरधातुषु दश त्रसदश विकलेन्द्रियेषु षट्चैव। सुरनरकतिर्यक्षु चत्वारः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राणि॥ ३ कलिल– आ०, ब०, द०, ज०।

तत्र जरायुजा मनुष्यादयः। अण्डजाः सर्पशकुन्तादयः। पोताः प्रकटयोनयश्च मार्जारादयः।

यद्येतेषां गर्भलक्षणं जन्मोच्यते तह्यु॑पपादः केषां सञ्जायत इति[1] प्रश्नतः सूत्रं प्राहुराचार्य्याः—

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देवानां भवनवासिनां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां कल्पोपपन्नकल्पनातीतानाञ्च चतुर्णिकायानां जन्म उपपादो भवति। पल्यङ्कोपरि हंसतूलद्वयमध्ये सञ्जायते इत्यर्थः। तथा नारकाणाञ्च जन्म उपपादो भवति। कण्डरकच्छत्रकच्छिंद्रसदृशस्थानेषु तेषामधोमुखानामुपरि पादानामुत्पत्तिर्भवति, ततस्तेऽधः पतन्ति। तत्स्वरूपमग्रे [3]वक्ष्यते।

अथापरेषां प्राणिनां किं जन्म भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः सूरयः—

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

गर्भजेभ्य औपपादिकेभ्यश्च ये अन्ये त एकेन्द्रियविकलेन्द्रिया जरायुजादिवर्जितास्तिर्यङ्मनुष्याश्च शेषा इत्युच्यन्ते। तेषां सम्मूर्च्छनमेव जन्म भवति। एतानि त्रीण्यपि सूत्राणि उभयतो निर्णयकराणि ज्ञातव्यानि। कोऽसावुभयतो निर्णयः? जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भो भवति, गर्भ एव च जरायुजाण्डजपोतानां भवतीति प्रथमयोगनिर्णयः। देवनारकाणामेवोपपादो भवति, उपपाद एव च देवनारकाणामेव भवतीति द्वितीययोगनिर्णयः। शेषाणामेव सम्मूर्च्छनं भवति, सम्मूर्च्छनमेव शेषाणां भवतीति तृतीयसूत्रनिश्चयः।

अथ तेषां त्रिविधजन्मनां संसारिणां सङ्गृहीतबहुभेदनवयोनिविकल्पानां शुभनामकर्मोदयनिष्पादितानि कर्मबन्धफलमुक्त्यधिकरणानि शरीराणि कानि भवन्तीति प्रश्ने योगोऽयमुच्यते भगवद्भिः—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

औदारिकनामकर्मोदयनिमित्तमौदारिकम्। चक्षुरादिग्रहणोचितं स्थूलं शरीरमौदारिकशरीरमित्युच्यते। उदारं स्थूलमिति पर्यायः। उदरे भवं वा औदारिकम्। उदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। विविधं करणं विक्रिया। विक्रिया प्रयोजनं यस्य तद् वैक्रियिकम्। वैक्रियिकनामकर्मोदयनिमित्तम् [6]अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकाऽनेकस्थूलसूक्ष्मशरीरकरणसमर्थमित्यर्थः। मूलशरीरं जिनजन्मादिकालेऽपि देवानां न क्वापि गच्छति। उत्तरशरीरं त्वनेकमेकं वा जिनोत्सवादौ सर्वत्र गच्छति। आहारकनामकर्मोदयनिमित्तमाहारकम्। तस्येदं स्वरूपम्— सूक्ष्मपदार्थपरिज्ञानार्थमसंयमपरिहारार्थं वा प्रमत्तसंयतेन आह्रियते उत्पाद्यते निष्पाद्यते निर्वर्त्यते यत् तदाहारकम्। आहारकशरीरं किल प्रमत्तसंयतेनैव निष्पाद्यते। प्रमत्तसंयतस्य यदा सूक्ष्मपदार्थे सन्देह उत्पद्यते संयमविचारे वा

---

१ इत्यतः प्रा– ता०। २ –छिद्रसहितेषु स्था– आ०, ब०, द०, ज०। –छित्रस– व०। ३ वक्ष्यति आ०, ब०, द०, ज०, व०। ४ –काणां भ– आ०, ब०, द०, ज०। ५ –निर्णयः आ०, ब०, द०, ज०। ६ अणिमामहिमादयोऽष्टौ गुणाः।

सन्देह उत्पद्यते तदा स चिन्तयति—'तीर्थङ्करपरमदेवदर्शनं विनाऽयं सन्देहो न विनश्यति। स भगवान् अत्र क्षेत्रे नास्ति। किं क्रियतेऽस्माभिः' इति चिन्तां कुर्वाणे प्रमत्तसंयते मुनौ सति तस्य तालुप्रदेशे रोमाग्रस्य अष्टमो भागश्छिद्रं वर्त्तते, तस्मात् हस्तप्रमाणं घनघटितस्फटिकबिम्बाकारं पुत्तलकं निर्गच्छति। तत्पुत्तलकं यत्र कुत्रापि क्षेत्रे तीर्थङ्करपरमदेवो गृहस्थो दीक्षितः छद्मस्थः केवली वा यत्र वर्त्तते तत्र गच्छति। तच्छरीरं स्पृष्ट्वा पश्चादायाति। तेनैव तालुछिद्रेण तस्मिन्मुनौ प्रविशति। तदा तस्य मुनेः सन्देहो विनश्यति, सुखी च भवति। इत्याहारकशरीरस्वरूपम्। तैजसनामकर्मोदयनिमित्तं वपुस्तेजःसम्पादकं यत्तत् तैजसम्। तेजसि वा भवं तैजसम्, सर्वप्राणिषु वर्त्तते एव। कार्मणनामकर्मोदयनिमित्तं कार्मणम्, कर्मणां कार्यं वा कार्मणम्। कर्मणां समूहो वा कार्मणम्। सर्वेषां शरीराणां कर्मैव निमित्तं वर्त्तते यद्यपि तथापि प्रसिद्धिवशात् विशिष्टविषये वृत्तिर्ज्ञातव्या। कर्मणोऽपि निमित्तं कर्म इत्यर्थः।

अथौदारिकं शरीरं चक्षुरादिभिरिन्द्रियैरुपलभ्यते उदारत्वात्तथेतरेषां शरीराणां कस्मात्तैर्लब्धिर्न भवतीति स्फुटं पृष्टा इव स्वामिनः प्राहुः—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

औदारिकात् स्थूलरूपात् परं वैक्रियिकं सूक्ष्मं भवति। वैक्रियिकात् परमाहारकं सूक्ष्मं भवति। आहारकात् परं तैजसं सूक्ष्मं भवति। तैजसात् परं कार्मणं शरीरं सूक्ष्मं भवति।

'यदि परं परं सूक्ष्मं तर्हि परं परं प्रदेशैरपि हीनं भविष्यति' इत्याशङ्कायां सूत्रमिदमाहुरुमास्वामिनः—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः परमाणुभ्यः, परं परमसङ्ख्यातगुणं[1] भवति। कथं प्राक्, कस्मात् प्राक्? तैजसात् तैजसशरीरात्। औदारिकाद् असङ्ख्येयगुणपरमाणुकं वैक्रियिकं भवति। वैक्रियिकादाहारकमसङ्ख्येयगुणपरमाणुकं भवति। कोऽसौ गुणकारः? पल्योपमासङ्ख्येयभागेन श्रेण्यसंख्येयेभागेन वा गुणकारो ज्ञातव्यः। उत्तरोत्तरस्य बहुप्रदेशत्वेऽपि सूक्ष्मत्वं लोहपिण्डवत् ज्ञातव्यम्। पूर्वपूर्वस्य अल्पप्रदेशत्वेऽपि स्थूलत्वं तूल[2]निचयवद् बोद्धव्यम्।

तर्हि तैजसकार्मणयोः शरीरयोः प्रदेशाः किं समा वर्त्तन्ते, आहोस्वित् कश्चिद् विशेषोऽस्ति? इति प्रश्ने योगमेतं प्रतिपादयन्ति—

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

परे तैजसकार्मणे द्वे शरीरे अनन्तगुणे भवतः। आहारकशरीरात्तैजसं शरीरं प्रदेशैरनन्तगुणं भवति। तैजसाच्छरीरात्कार्मणं शरीरं प्रदेशैरनन्तगुणं जागर्ति। कोऽसौ

१ –मसंख्यातगु– आ०, ब०, व०, द०, ज०। २ तूलवत् द०, ब०, ज०।

गुणकारः ? अभव्यानामनन्तगुणं तैजसम् सिद्धानामनन्तभागं तैजसम्। तैजसाच्च अनन्तगुणं कार्मणमेवं ज्ञातव्यम्।

'यदि तैजसकार्मणयोः शरीरयोरनन्ताः प्रदेशाः सन्ति तर्हि तैजसकार्मणशरीरसहितो जीवो यदा विग्रहगतिं करोति तदाऽपरेण रूपादिमता पदार्थान्तरेण जीवस्य गतिप्रतिबन्धो भविष्यति, गच्छतः कुम्भस्य कुड्यादिनाऽवरोधवत्' इत्यारेकायां योगममुमाचक्षते—

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

तैजसकार्मणे द्वे शरीरे वं[2]श्रपटलादिना अप्रतिघाते प्रतिस्खलनरहिते भवतः मूर्तिमता पदार्थेन व्याघातरहिते भवतः इत्यर्थः। ननु वैक्रियिकाहारकयोरपि शरीरयोः प्रतिघातो न वर्तते किमुच्यते तैजसकार्मणयोरेव प्रतीघातरहितत्वम्? इत्याह—सत्यम्; यथा तैजसकार्मणयोः शरीरयोरालोकान्तादपि सर्वत्र प्रतीघातो न वर्तते, तथा वैक्रियिकाहारकयोरपि प्रतीघाताभावः सर्वत्र नास्तीति।

अथ तैजसकार्मणयोः शरीरयोरेतावानेव विशेषो वर्तते, आहोस्वित् कश्चिदन्योऽपि विशेषो वर्तते ? इत्यतः प्राहुराचार्याः—

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

[3]अनादावनादिकाले जीवेन सह सम्बन्धः संयोगो ययोस्तैजसकार्मणयोस्ते द्वे अनादिसम्बन्धे। चकारात् पूर्वपूर्वतैजसकार्मणयोः शरीरयोर्विनाशादुत्तरोत्तरयोस्तैजसकार्मणयोः शरीरयोरुत्पादाच्च वृक्षाद् बीजवत् वीजा[4]द् वृक्षवच्च कार्यकारणसद्भावः। सन्तत्या अनादिसम्बन्धे विशेषापेक्षया सादिसम्बन्धे चेत्यर्थः। यथा हि—औदारिकवैक्रियिकाहारकाणि त्रीणि शरीराणि जीवस्य कादाचित्कानि भवन्ति, कदाचित् भवानि कादाचित्कानि, तथा तैजसकार्मणे द्वे शरीरे जीवस्य कादाचित्के न भवतः। किं तर्हि ? ते द्वे नित्यं भवत इत्यर्थः। कियत्कालपर्यन्तं नित्यं भवतः ? यावत् संसारो न क्षीयते तावत्पर्यन्तं भवत इत्यर्थः। यथा जीवस्य कार्मणशरीरं नित्यं वर्तते तथा तैजसमपि शरीरं नित्यं वर्तत इति तात्पर्यम्।

[5]तर्हि ते तैजसकार्मणे द्वे शरीरे किं कस्यचित् भवतः, किं कस्यचि[6]न्न भवतः, आहोस्विदविशेषेण सर्वस्यापि प्राणिवर्गस्य भवत इत्यारेकायां सूत्रमिदमाहुः—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सर्वस्य निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्य तैजसकार्मणे द्वे अपि शरीरे भवत इत्यर्थः।

अथ संसारिजीवस्य सर्वशरीरसम्प्राप्तिसद्भावे विशेषोऽयमुच्यते भगवद्भिः—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

---

१ भव्यानामन– आ०, ब०, द०, ज०। २ पर्जन्यपटला– आ०, ब०, द०, ज०। ३ अनादौ जीवेन ता०। अनादौ अनादिकालेन जी– ब०। ४ बीजवृक्ष– आ०, द०, ब०, ज०। ५ तर्हि तैज– आ०, ब०, ब०, ज०, द०। ६ –कस्मिन्नाच– आ०।

ते तैजसकार्मणे द्वे शरीरे आदिर्येषां तानि तदादीनि। भाज्यानि विकल्पनीयानि पृथक् कर्त्तव्यानि। युगपत् समकालम्। एकस्य जीवस्य। कियत् पर्यन्तम्? आ चतुर्भ्यः चत्वारि शरीराणि यावत्। कस्यचिज्जीवस्य विग्रहगत्यवसरे तैजसकार्मणे द्वे शरीरे भवतः। कस्यचिज्जीवस्य तैजसकार्मणौदारिकाणि त्रीणि भवन्ति। कस्यचिज्जीवस्य तैजसकार्मण-वैक्रियिकाणि त्रीणि शरीराणि भवन्ति। कस्यचिज्जीवस्य तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि चत्वारि शरीराणि भवन्ति। एकस्य युगपत् पञ्च न भवन्तीत्यर्थः। यस्य आहारकं शरीरं भवति तस्य वैक्रियिकं न भवति, यस्य वैक्रियिकं भवति तस्याहारकं न भवतीति विशेषो ज्ञेयः।

अथ पुनरपि शरीरविशेषपरिज्ञानार्थं वचनमिदमुच्यते—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

इन्द्रियद्वारेण शब्दादिविषयाणामुपलब्धिरुपभोगः। उपभोगान्निष्क्रान्तं निरुपभोगम्। अन्ते भवमन्त्यम्, कार्मणशरीरमित्यर्थः। विग्रहगतावपि कार्मणं शरीरं सत्तारूपेण आत्मनि तिष्ठति, न तु शब्दादिविषयं गृह्णाति, द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्त्यभावात्। ननु तैजसशरीरमपि निरुप-भोगं वर्तते, किमुच्यते कार्मणं शरीरं निरुपभोगम्? इत्याह—सत्यम्। तैजसं शरीरं योगनि-मित्तमपि न भवति कथमुपभोगनिमित्तं भविष्यतीत्यलमेतद्विचारेण।

अथोक्तलक्षणेषु जन्मसु अमूनि पञ्च शरीराणि प्रादुर्भवन्ति, तर्हि किमविशेषेण प्रादु-र्भवन्ति आहोस्विदस्ति कश्चिद्विशेषः? इति प्रश्ने वचनमिदमूचुरुमास्वामिनः[1]—

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भे जातं गर्भजम्। सम्मूर्छनाज्जातं[2] सम्मूर्छनजम्। गर्भजञ्च सम्मूर्छनजञ्च गर्भसम्मू-र्छनजम्, समाहारे द्वन्द्वः[3]। यद् गर्भजं शरीरं यच्च सम्मूर्छनजं शरीरं तत्सर्वमाद्यमौदारिकं ज्ञातव्यम्। अथवा, गर्भश्च सम्मूर्छनञ्च गर्भसम्मूर्छने, ताभ्यां जातं गर्भसम्मूर्छनजम्।

तर्ह्यौपपादिकं कीदृशं भवतीत्याशङ्कायामाह—

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपादे भवमौपपादिकं देवनारकशरीरम्, तत्सर्वं शरीरं वैक्रियिकं ज्ञातव्यम्।

यद्यौपपादिकं वैक्रियिकं तर्ह्यनौपपादिकं शरीरं किं सर्वथा वैक्रियिकं न भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति सूरयः—

लब्धिप्रत्ययञ्च ॥ ४७ ॥

तपोविशेषात्सञ्जाता ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरुच्यते। लब्धिः प्रत्ययः कारणं यस्य शरीरस्य तल्लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकं शरीरं भवति। न केवलमौपपादिकं शरीरं वैक्रियिकं भवति, किन्तु लब्धिप्रत्ययं लब्धिकारणोत्पन्नं शरीरं वैक्रियिकं कस्यचित् षष्ठगुणस्थानवर्त्तिनो मुने-र्भवतीति वेदितव्यम्। उत्तरवैक्रियिकशरीरस्य कालः स्थितिर्जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तो

---

१ –मूचुः– ता०, ब०। २ गर्भाज्जातं द०, ज०। ३ समाहारद्वन्द्वसमासः ज०।

भवति। तर्हि तीर्थङ्करजन्मादौ नन्दीश्वरचैत्यालयादिगमने बह्वीं वेलां विना तत्सम्बन्धि कर्म कथं कर्तुं लभ्यत इत्याह—सत्यम्; घटिकाद्वयादुपर्युपरि अन्यदन्यच्छरीरं वैक्रियिका उत्पादयन्ति, छिन्नपद्मिनीकन्दोभयपार्श्वलग्नतन्तुन्यायेनोत्तरशरीरेष्वात्मप्रदेशानन्तर्मुहूर्ते-ऽन्तर्मुहूर्ते पूरयन्ति, तेनोत्तरशरीरं यथेष्टकालं तिष्ठति। तर्ह्युत्तरशरीरे क्रियमाणे देवानां किमपि कष्टं भविष्यति? न भविष्यति, प्रत्युत सुखं भवति। उक्तञ्च—

"स्वर्भोगवर्गप्रसिताक्षवर्गोऽप्युदीच्यदेहाक्षसुखैः प्रसक्तः।
अर्हत्प्रभौ व्यक्तविचित्रभावो भजत्विमां प्राणतजिष्णुरिज्याम्॥" [प्रति.सा.२।१२१]

किमेतद्वैक्रियिकमेव लब्ध्यपेक्षं भवति आहोस्विदन्यदपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

तैजसमपि॥ ४८॥

तैजसमपि शरीरं लब्धिप्रत्ययं भवति, लब्धिनिमित्तं स्यात्। तत्तैजसं शरीरं द्विप्रकारं भवति—निःसरणात्मकम्, अनिःसरणात्मकञ्च। तत्र निःसरणात्मकस्य तैजस-शरीरस्य स्वरूपं निरूप्यते—कश्चित् यतिरुग्रचारित्रो वर्तते। स तु केनचित् विराधितः सन् यदाऽतिक्रुद्धो भवति तदा वामस्कन्धाज्जीवप्रदेशसहितं तैजसं शरीरं बहिर्निर्गच्छति। तद् द्वादशयोजनदीर्घं नवयोजनविस्तीर्णं काहलाकारं जाज्वल्यमानाग्निपुञ्जसदृशं दाह्यं वस्तु परिवेष्ट्यावतिष्ठते। यदा तत्र चिरं तिष्ठति तदा दाह्यं वस्तु भस्मसात्करोति। व्याघुट्य यति-शरीरे प्रविशत् सत् तं यतिमपि विनाशयति। एतत्तैजसं शरीरं निःसरणात्मकमुच्यते। अनिः-सरणात्मकं त्वौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराभ्यन्तरवर्त्ति तेषां त्रयाणामपि दीप्तिहेतुकं भवति।

अथेदानीमाहारकशरीरस्वरूपनिर्णयार्थं तत्स्वामिनिरूपणार्थं सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव॥ ४९॥

आहरति गृह्णाति स्वीकरोति तत्त्वज्ञानमित्याहारकम्। आहारकं शरीरं शुभेन ऋद्धि-[1]शेषेणोत्पद्यते [2]इति कारणात् मनःप्रीतिकरं शुभमित्युच्यते। शुभकर्मण आहारककाययोगस्य हेतुत्वाद्वा शुभमित्युच्यते। विशुद्धस्य पुण्यकर्मणः सन्दिग्धार्थनिर्णयस्य अमिश्रस्य निरवद्यस्य [3]कार्यस्य वा करणात् संक्लेशरहितं विशुद्धमिति कथ्यते, तन्तूनां कार्पासव्यपदेशवत्। उभयतो हि प्राणिबाधालक्षणव्याघाताभावादव्याघातीति भण्यते। आहारकशरीरेण अन्यस्य व्याघातो न क्रियते, अन्येन शरीरेण च आहारकशरीरस्य च व्याघातो न विधीयत इत्यर्थः। चकार उक्तसमुच्चयार्थः। तेनायमर्थः—कदाचित् संयमपरिपालनार्थम्, कदाचित्सूक्ष्मपदार्थ-निर्णयार्थम्, कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थमाहारकशरीरं भवति। ईदृग्विधमाहारक-शरीरं कस्य भवति? प्रमत्तसंयतस्यैव, षष्ठगुणस्थानवर्तिनो मुनेः। एवशब्दोऽवधारणार्थो

१ –विस्तारं ता०, ब०। २ अतः का– आ०, ब०, द०, ज०। ३ कार्यस्य कारणात् आ०, ब०, द०, ज०।

वर्तते । प्रमत्तसंयतस्यवाहारकं शरीरं भवति, नान्यस्य । प्रमत्तसंयतस्य आहारकशरीरमेव भवति इति न मन्तव्यम् ; तथा सति औदारिकादिशरीरप्रतिषेध उत्पद्यते । अथ किन्नामाहारकशरीरमिति चेत्? भरतैरावतस्थितस्य कस्यचिन्मुनेः केवलज्ञानाभावे यदा सन्देह उत्पद्यते— तदा तत्त्वनिश्चयार्थं पञ्चमहाविदेहान्यतमविदेहकेवलिसमीपमौदारिकशरीरेण गच्छतो मुनेरसंयमो भवति इति विचिन्त्य आहारकशरीरमेकहस्तप्रमाणं रोमाग्राष्टमभागप्रमाणशिरोदशमद्वारच्छिद्रादाहारकं पुत्तलकं निर्गच्छति । तन्निर्गमनादेव स मुनिः प्रमत्तसंयतो भवति । तच्छरीरं तीर्थङ्करशरीरं स्पृष्ट्वा पश्चादायाति । तस्मिन्नागते सति मुने[1]स्तत्त्वसन्देहो विनश्यति ।

'ईदृग्विधानि शरीराणि धारयतां संसारिणां प्राणिनां गतिं प्रति त्रीणि लिङ्गानि भवन्ति, आहोस्विदस्ति कश्चिद् विशेषः' इति प्रश्ने सति लिङ्गनिर्णयार्थं सूत्रत्रयं भण्यते भगवद्भिः—

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

वक्ष्यमाणलक्षणोपलक्षितेषु नरकेषु भवा नारकाः, सम्मूर्छनं सम्मूर्च्छः, सम्मूर्छो विद्यते येषां ते सम्मूर्च्छिनः, नारकाश्च सम्मूर्च्छिनश्च नारकसम्मूर्च्छिनः । एते नपुंसकानि भवन्ति । चारित्रमोहविशेषकषायविशेषस्य नपुंसकवेदस्य अशुभनामकर्मप्रकृतेरुदयाच्च न स्त्रियो न पुमांसः नपुंसकानीत्युच्यन्ते । सप्त[2]नरकोद्भवा नारकाः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः सर्वेऽपि सम्मूर्च्छिनः, पञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसकानि[3] भवन्ति इति निश्चयः । तेषु खलु स्त्रीपुंससम्बन्धिनी मनोहा[4]रिशब्दगन्धवर्णरसस्पर्शनिमित्ता ह्यल्पापि सुखमात्रा न विद्यते ।

'यद्ये[5]वं निर्धार्यते तर्ह्यर्थापत्तेरन्येषां संसारिणां त्रिलिङ्गी घटत इति सन्देहे यत्र नपुंसकलिङ्गस्याऽत्यन्ताभावस्तत्स्वरूपनिरूपणार्थं वचनमिदमुच्यते—

न देवाः ॥ ५१ ॥

भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पोपपन्न(न्नाः)कल्पातीताश्च नपुंसकानि न भवन्ति । किन्त्वच्युतपर्यन्तं स्त्रीत्वं पुंस्त्वञ्च शुभगतिनामकर्मोदयजनितं स्त्रीपुंस्त्वनिरतिश[6]यसुखं निर्विशन्ति । मानुषसुखादप्यतिशयस्त्रीपुंस्त्वसुखं देवा भुञ्जते ।

'अथेतरेषां कियन्ति लिङ्गानि भवन्ति' इति प्रश्ने योगोऽयमुच्यते—

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

शेषा गर्भजास्त्रिवेदा भवन्ति । त्रयो वेदा लिङ्गानि येषां ते त्रिवेदाः । तल्लिङ्गं द्विप्रकारं भवति । नामकर्मोदयात् स्मरमन्दिरमेहनादिकं द्र[7]व्यलिङ्गं भवति, नोकषायमोहकर्मोदयाद् भावलिङ्गं स्यात् । कथम्? स्त्रीवेदोदयात् स्त्री भवति, पुंवेदोदयात् पुमान् भवति, नपुंसकवेदोदयात् नपुंसको भवतीति तात्पर्यम् ।

---

१ मुनेः स– आ०, ब०, द०, ज० । २ सप्तमनर– आ०, ब०, द०, ज० । ३ –कानि इ– आ०, ब०, द०, ज० । ४–रिरवगन्ध– आ०, ब०, द०, ज०, ता० । ५ –वं धा– आ०, ब०, द०, ज० । ६ –शयं नि– आ०, ब०, द०, ज० । ७ द्रव्यलिङ्गानि भवन्ति आ०, ब०, द०, ज० ।

अथ देवमानवतिर्यग्नारका अनेकविधपुण्यपापकर्मोदयायत्ताश्चतुर्गतिषु शरीराणि धारयन्ति, ते सम्पूर्णमायुर्भुक्त्वा शरीरान्तराण्याश्रयन्ति आहोस्विदसम्पूर्णमप्यायुर्भुक्त्वा गत्यन्तरं यान्तीति प्रश्ने सूत्रं सूचयन्ति सूरयः—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

उपपादे भवा औपपादिका देवनारकाः। चरमोऽन्त्य उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः तज्जन्मनिर्वाणयोग्यास्तीर्थङ्करपरमदेवा ज्ञातव्याः। गुरुदत्तपाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्नास्त्यनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदयचन्द्रोदये (चन्द्रे) प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति[2]। तथा चोत्तमदेवत्वेऽपि सुभौमब्रह्मदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात्, कृष्णस्य च जरत्कुमारबाणेनापमृत्युदर्शनात् सकलार्धचक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राजवार्तिकालङ्कारे प्रोक्तमस्ति[3]। असंख्येयवर्षाणि उपमानेन कल्पोपमादिना गणितानि वर्षाणि आयुर्येषां भोगभूमिजतिर्यङ्मानवकुभोगभूमिजानां ते असंख्येयवर्षायुषः। औपपादिकाश्च चरमोत्तमदेहाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च औपपादिकचरमोत्तदेहासंख्येयवर्षायुषः। एते अनपवर्त्यायुषः। न अपवर्त्यं विषशस्त्राग्निप्रभृतिसन्निधाने ह्रस्वमायुर्येषां ते अनपवर्त्यायुषः। यद्येतेषामपवर्त्यं ह्रस्वमायुर्न भवति तर्हि अर्थादन्येषां विषशस्त्रादिभिरायुरुदीरणाम्रफलादिवद् भवतीति तात्पर्य्यार्थः। अन्यथा दयाधर्मोपदेशचिकित्साशास्त्रं च व्यर्थं स्यात्। चरमोत्तमदेह इत्यस्मिन्स्थाने चरमदेह इति केचित्पठन्तीति ; तन्न युक्तम् ; तथा सति संजयन्तादिमृत्यूपसर्गमुक्तिर्न संगच्छत इति भद्रम्।

[4]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ द्वितीयः पादः समाप्तः।

---

१ –कर्मायत्ताश्च– आ०, ब०, व०, द०, ज०। २ मुद्रिते न्यायकुमुदचन्द्रे नेदमुपलभ्यते। ३ "अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः। उत्तमदेहाश्चक्रधरादयोऽनपवर्त्यायुष इत्येतत् लक्षणमव्यापि। कुतः? अन्तस्य चक्रधरस्य ब्रह्मदत्तस्य वासुदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषाञ्च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादायुरपवर्तदर्शनात्।" –राजवा० २।५३। ४ इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिश्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रीश्रुतसागरसूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः। आ०, ब०, द०, ज०।

तृतीयोऽध्यायः

अथ "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्" इत्यादिषु नारकशब्द आकर्णितः। 'के ते नारकाः' इति प्रश्ने नारकस्वरूपनिरूपणार्थं नारकाणामधिकरणभूताः सप्त भूमय उच्यन्ते—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

सप्तभूमयः सप्तनरकभूमयोऽधोऽधो भवन्ति, नीचैर्नीचैर्भवन्ति। कथम्भूताः सप्तभूमयः? रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाः। प्रभाशब्दः प्रत्येकं[1] प्रयुज्यते। तेनायमर्थः—रत्नप्रभा च शर्कराप्रभा च वालुकाप्रभा च पङ्कप्रभा च धूमप्रभा च तमःप्रभा च महातमःप्रभा च। रत्नप्रभासहिता भूमी रत्नप्रभा, [2]मन्दान्धकारा। शर्कराप्रभासहिता भूमिः शर्कराप्रभा, [3]अतीषत्तेजस्का। वालुकाप्रभासहिता भूमिर्वालुकाप्रभा अन्धकारप्राया अतिमनाक्तेजस्का। पङ्कः कर्दमः, पङ्कप्रभासहिता भूमिः पङ्कप्रभा, पङ्केऽपि मलिना प्रभा वर्त्तते। धूमप्रभासहिता भूमिर्धूमप्रभा। धूमेऽपि पङ्कादपि मलिनतरा प्रभा वर्तते। तमःप्रभासहिता भूमिस्तमःप्रभा। तमसोऽपि स्वकीया प्रभा वर्त्तते। महातमःप्रभासहिता भूमिः महातमःप्रभा, महान्धकारसहिता भूमिः। तमस्तमःप्रभाऽपरनाम्नी। अत्र वालुकास्थाने वालिका इति च पाठो दृश्यते। तथा सति वालुकाया वालिकेत्यभिधा ज्ञातव्या। पुनरपि कथम्भूता भूमयः? घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः। घनश्च अम्बु च वातश्च आकाशश्च घनाम्बुवाताकाशाः, घनाम्बुवाताकाशाः प्रतिष्ठा आधारो यासां भूमीनां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः। घनवातः घनोदधिवाताऽपरनामको वातः। अम्बुवातः घनवाताऽपरनामको वातः। वातस्तनुवाताऽपरनामको वातः। अस्यायमर्थः—सर्वाः [4]सप्तापि भूमयो घनवातप्रतिष्ठा वर्तन्ते। स च घनवातः अम्बुवातप्रतिष्ठोऽस्ति। स चाम्बुवातस्तनुवातप्रतिष्ठो वर्तते। स च तनुवात आकाशप्रतिष्ठो भवति। आकाशस्यालम्बनं किमपि नास्ति। सप्त भूमय इत्युक्ते अधिकोनसंख्यानिषेधः प्रतिपादितः। अधोऽधः इत्युक्ते तिर्यग् न वर्त्तन्ते, उपर्युपरि च न वर्तन्ते, रज्जुरज्जुप्रमाणाकाशान्तरे वर्तन्ते इत्यर्थः। यथैते त्रयो वाताः भूमीनां पर्यन्तेषु वर्तन्ते तथा सप्तानां भूमीनामधस्तलेषु च त्रयो वाताः प्रत्येकं वर्तन्त इति च ज्ञातव्यम्। अत्र प्रस्तावागतत्रैलोक्यवेष्टनवातस्वरूपनिरूपणार्थं श्लोकत्रयोदशकमुच्यते। तथा हि—

---

१ –कं यु– आ०, ब०, द०, ज०। २ महान्धकारा आ०, ब०, द०, ज०। ३ अतीव तेज– व०। अतीव तेज– ब०। अतीवत्तेज– आ०, ब०, द०। ४ सप्तभू– आ०, ब०, द०, ज०।

"घनोदधिजगत्प्राणः पूर्वो लोकस्य वेष्टनम् ।
घनः प्रभञ्जनो नाम द्वितीयस्तदनन्तरम् ॥ १ ॥
तनुवातस्तुपर्यस्य त्रैलोक्याधारशक्तिमत् ।
वाता एते, स्थितिस्तेषां कथ्यमाना निशम्यताम् ॥ २ ॥
घनोदधिमरुत्तस्य वर्णो गोमूत्रसन्निभः ।
घनाशुगस्य वर्णोऽस्ति मुद्‌गवर्णनिभः स च ॥ ३ ॥
तनुर्गन्धवहो नानावर्णवान् परिकीर्तितः ।
एते त्रयोऽपि वृक्षस्य त्वग्वा लोकोपरि स्थिताः ॥ ४ ॥
लोकमूले च पार्श्वेषु यावद्रज्जु मरुत्त्रये ।
विंशतिश्च सहस्राणि, बाहल्यं योजनैः पृथक् ॥ ५ ॥
सहस्राणि तु सप्तैव पञ्च चत्वारि च क्रमात् ।
बाहल्यं गन्धवाहानां प्रणिधौ सप्तमक्षितेः ॥ ६ ॥
नभस्वतां [2]क्रमाद्धीयमानानां बाहलं मतम् ।
तिर्यग्लोके [3]व्रताब्ध्यग्निसहस्रैर्योजनैः पृथक् ॥ ७ ॥
वर्धन्ते मातरिश्वानः क्रमाद् ब्रह्मसमाश्रयाः ।
बाहलाः सप्त पञ्चात्र तानि चत्वारि च स्मृताः ॥ ८ ॥
सदागतित्रयं तस्माद्धीयमानं क्रमागतम् ।
पञ्च चत्वारि च त्रीणि तान्यूर्ध्वे बहलाश्रितम् ॥ ९ ॥
स्पर्शनो लोकशिखरे, द्विक्रोशः स्याद् घनोदधिः ।
क्रोशैकबहलो विद्धिः घनश्वसन उच्यते ॥ १० ॥
चतुश्चापशतैश्चापि सपादैरून इष्यते ।
क्रोशैकस्तनुवातस्य बाहल्यं शल्यहृन्मते ॥ ११ ॥
तस्योपरितने भागे सिद्धा जन्मादिवर्जिताः ।
तिष्ठन्ति ते निजं स्थानं क्वचिद्यच्छन्तु मेऽर्चिताः ॥ १२ ॥

---

१ बाहुल्यैर्यो– आ०, ब०, द० । बाहल्यैर्यो– आ०, ज०, ब० । २ क्रमात्त्रये मानानां आ०, ब०, द०, ज० । ३ व्रतानि पञ्च, अब्ध्यश्चत्वारः, अग्नयस्त्रयः ।

स्वरूपमेतत्पवमानगोचरं विचारितं [1]चारुचरित्रतेजसाम् ।
विचिन्त्य सिद्धान्प्रणमन्ति येऽनिशं व्रजन्ति ते शं श्रुतसागरेडितम् ॥१३॥"

अथ सप्तानां नारकाणां भूमिबाहल्यमुच्यते । तथा हि—

"लक्षमेकमशीतिश्च सहस्राण्यादिमेदिनी ।
बाहल्यं योजनानान्तु भागास्तत्र त्रयः स्मृताः ॥
तत्षोडशसहस्राणि खरक्ष्माभाग उन्नतः ।
जम्बालबहुलो भागोऽप्यशीति[2]श्चतुरुत्तरम् ॥
अशीतितत्सहस्राणि भागोऽम्बुबहुलाभिधः ।
त्रिष्वधश्चोपरि त्याज्यं तत्सहस्रं च पञ्चसु ॥
रक्षोऽसुरा द्वितीये स्युराद्ये स्युर्भौमभावनाः ।
इतरे तु तृतीये तु नारकाः प्रथमे मताः ॥
[3]द्वात्रिंशत्तत्सहस्राणि वंशा भूरुन्नता मता ।
शैलाष्टाविंशतिं ह्यच्चाश्चतुर्विंशतिम[4]ञ्जना ॥
अरिष्टा विंश[5]तिं तानि मघवी षोडश स्मृता ।
माघव्यष्टोन्नता वातैस्त्रिभिः प्रत्येकमावृताः ॥
[6]कण्डरादिकजन्तूनां छत्रकच्छिद्रसन्निभाः ।
नारकोत्पादभूदेशाः पतन्तीतो ह्यधोमुखाः ॥" [ ]

अथ सप्तनरकप्रस्तारनामानि कथ्यन्ते—तत्र तावत्प्रथमनरकप्रस्तारास्त्रयोदश—प्रथमः सीमन्तकः प्रस्तारः । द्वितीयो नरकनामा प्रस्तारः । तृतीयो रौरुकः प्रस्तारः । चतुर्थो भ्रान्तः । पञ्चम उद्भ्रान्तः । षष्ठः सम्भ्रान्तः । सप्तमोऽसम्भ्रान्तः । अष्टमो विभ्रान्तः । नवमस्त्रस्तः । दशमस्त्रसितः । एकादशः वक्रान्तः । द्वादशोऽवक्रान्तः । त्रयोदशो विक्रान्तः । द्वितीयनरकप्रस्तारा एकादश—प्रथमः[7] स्तवकः । द्वितीयः [8]स्तनकः । तृतीयो [9]मनकः । चतुर्थोऽमनकः । पञ्चमो घाटः । षष्ठोऽसंघाटः । सप्तमो जिह्वः । अष्टमो जिह्वकः । नवमो लोलः । दशमो लोलुकः[10] । एकादशः स्तनलोलुकः[11] । [12]तृतीये नरके नव प्रस्ताराः—प्रथमस्तप्तः । द्वितीयस्तपितः । तृतीयस्तपनः । चतुर्थस्तापनः । पञ्चमो निदाघः । षष्ठः प्रज्वलितः । सप्तम

१ –तं वासचरि– आ०, ब०, द०, ज० । २ –तिचतुरुत्तरः ज० । –तिश्चतुरुत्तराः ब० । ३ द्वात्रिंशच्च स– आ० । ४ –मञ्जसा आ०, द०, ब०, ज० । ५ –शतिस्तानि आ० । ६ कञ्जरा– ता० । ७ –मः सूरकः ता०,व० । ८ संस्तपनः ज० । संस्तनः आ०, द० । ९ वनकः आ०, द०, ज० । १० लोलुपः ता०, ब० । ११ –लोलुपः ता०, ब० । १२ तृतीयनर –आ०, द०, ब०, ब०, ज० ।

उज्ज्वलितः। अष्टमः संज्वलितः। नवमः सम्प्रज्वलितः। चतुर्थनरके सप्त प्रस्ताराः—प्रथम आरः। द्वितीयस्तारः। तृतीयो मारः। चतुर्थो [1]वर्चस्कः। पञ्चमस्तमकः। षष्ठः खडः। सप्तमः खडखडः। पञ्चमनरके पञ्च प्रस्ताराः—प्रथमस्तमः। द्वितीयो भ्रमः। तृतीयो झषः। चतुर्थोऽन्धः। पञ्चमस्तमिस्रः। षष्ठनरके त्रयः प्रस्ताराः—प्रथमो हिमः। द्वितीयो वर्दलः। तृतीयो लल्लकः। सप्तमनरके एकः प्रस्तारः—अप्रतिष्ठानः। इत्येकोनपञ्चाशत् प्रस्ताराः सप्तनरकाणां भवन्ति। एषां सप्तानाञ्च नरकाणां [2]नामान्तराणि च भवन्ति। प्रथमा भूमिः घर्मा। द्वितीया वंशा। तृतीया शैला शिला वा। चतुर्थी अञ्जना। पञ्चमी अरिष्टा। षष्ठी मघवी। सप्तमी माघवी।

अथ रत्नप्रभादिषु नरकेषु ये स्थिताः प्रस्तारास्तेषु त्रयोदशादिसप्तसु स्थानेषु यानि बिलानि वर्तन्ते तेषां प्रतिनरकं संख्या कथ्यते—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्॥ २॥

तासु रत्नप्रभादिषु सप्तसु भूमिषु यथाक्रमं यथासंख्यं त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रि-पञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि भवन्ति। [3]पञ्च चैव भवन्ति। नरकशतसहस्रशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते, तेनायमर्थः—त्रिंशच्च पञ्चविंशतिश्च पञ्चदश च दश च त्रीणि च पञ्चभिरूनमेकं च त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकानि, तानि च तानि नरकाणां बिलानां शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथोक्तानि। तथा हि—त्रिंशन्नरकशतसहस्राणि त्रिंशल्लक्षनरकाणि रत्नप्रभायां प्रथमभूमौ भवन्ति। पञ्चविंशतिनरकशतसहस्राणि पञ्चविंशतिलक्षबिलानि शर्कराप्रभायां द्वितीयभूमौ भवन्ति। पञ्चदशशतसहस्राणि पञ्चदशलक्षबिलानि वालुकाप्रभायां तृतीयभूमौ भवन्ति। दशनरकशतसहस्राणि दशलक्षबिलानि पङ्कप्रभायां चतुर्थभूमौ भवन्ति। त्रीणि नरकशतसहस्राणि त्रिलक्षबिलानि धूमप्रभायां पञ्चमभूमौ भवन्ति। पञ्चोनमेकं नरकशतसहस्रं पञ्चहीनैकबिललक्षं तमःप्रभायां भूमौ भवन्ति। [4]पञ्चैव च बिलानि महातमःप्रभायां तमस्तमःप्रभायां सप्तमभूमौ भवन्ति। एवमेकत्र चतुरशीतिलक्षाणि भवन्ति[5]। भवति चात्र श्लोकः—

"त्रिंशच्चैव तु पञ्चविंशतिरतः पञ्चाधिका स्युर्दश
स्युस्तुर्ये दश पञ्चमे निरयके तिस्रश्च लक्षाः मताः।

---

[1] चर्चस्कः आ०,द०,ब०,ज०। [2] "घम्मावंसामेघाअंजणारिट्ठाणउब्भमघवीओ। माघविया इय ताणं पुढवीणं गोत्तणामाणि॥" —तिलोय० १।१५३। "घर्मा वंशा शिलाख्या च अञ्जनारिष्टका तथा। मघवी माघवी चेति यथाख्यातमुदाहृताः॥" —वराङ्ग० ११।२। [3] पञ्चैव आ०, द०, ब०, ज०, व०। [4] पञ्चैव बि— आ०, द०, ब०, ज०। [5] —न्ति त्रिंश— आ०, ब०, द०, ज०।

षष्ठे पञ्चसमुज्झिता खलु भवेल्लक्षयेव पञ्चान्तिमे
सप्तस्वेवमशीतिरास्पदभुवां लक्षाश्चतुर्भिर्युताः ॥" [ ]

अथ सप्तसु नरकभूमिषु नारकाणां प्रतिविशेषं दर्शयन्ति—

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

नारका नरकसत्त्वाः। कथम्भूताः ? नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। लेश्याश्च कापोतनीलकृष्णाः, परिणामाश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः, देहाश्च शरीराणि, वेदनाश्च शीतोष्णजनिततीव्रबाधाः, विक्रियाश्च शरीरविकृतयः, लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। नित्यमनवरतम्, अशुभतरा अतिशयेन अशुभाः लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया येषां नारकाणां ते नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः। प्रथमभूमौ द्वितीयभूमौ च [1]कापोती लेश्या वर्तते। तृतीयभूमावुपरिष्टात् कापोती, अधो नीला लेश्या भवति। चतुर्थ्यां भूमौ नीलैव लेश्या भवति। पञ्चम्यां क्षितावुपरिष्टान्नीला लेश्या अधस्तात् कृष्णा। षष्ठ्यां धरायां कृष्णैव। सप्तम्यां क्ष्मायां परमकृष्णा लेश्या भवति। सप्तसु भूमिषु क्षेत्रकारणवशात्तीव्राऽसातहेतवोऽशुभतराः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः परिणामाः भवन्ति। अशुभनामकर्मोदयात् सप्तस्वपि भूमिषु विकृतिप्राप्ताः कुत्सितरूपा हुण्डकसंस्थाना अशुभतर[2]काया भवन्ति। तत्र प्रथमभूमौ प्रथमपटले हस्तत्रयोन्नता देहा भवन्ति। ततः क्रमेण वर्द्धमानास्त्रयोदशे पटले सप्त चापानि त्रयो हस्ताः षडङ्गुलयोऽशुभतर[3]ा देहा भवन्ति। एवं द्वितीयभूमौ क्रमवृद्धया एकादशे पटले पञ्चदश चापानि अर्धतृतीयौ[4] करौ भवतः। तृतीयभूमौ नवमे पटले एकत्रिंशच्चापान्येकहस्ताधिकानि भवन्ति। चतुर्थभूमौ सप्तमे पटले द्विषष्टिचापानि द्विहस्ताधिकानि भवन्ति। पञ्चम्यां भूमौ पञ्चमे पटले पञ्चविंशत्यधिकं शतं चापानां भवति। षष्ठ्यां भूमौ तृतीये पटले सार्द्धे द्वे शते धनुषां भवतः। सप्तम्यां क्ष्मायां पञ्चशतचापोत्सेधानि शरीराणि नारकाणां भवन्ति।

अभ्यन्तराऽसद्वेद्योदये सति चतसृषु भूमिषु नारकाणां बाह्ये उष्णे सति तीव्रा वेदना भवति। पञ्चम्यां[5] भूमौ उपरि द्विलक्षबिलेषु उष्णवेदना भवति। अध एकलक्षबिलेषु तीव्रा शीतवेदना भवति। अत्र तु पञ्चम्यां भूमौ [6]मतान्तरमस्ति। उपरि पञ्चविंशत्यधिकद्विलक्ष[7]बिलेषूष्णवेदना, एकलक्षबिलेषु पञ्चविंशतिहीनेषु[8] शीतवेदना भवति। षष्ठ्यां सप्तम्यां च भूमौ तीव्रा शीतैव वेदना वर्तते।

---

१ कापोतले- आ०, ब०, द०, ज०। २ -भतरा का- आ०, ब०, द०, ज०। ३ -तरदे- आ०, ब०, द०, ज०। ४-तृतीयकरो ता०। ५ पंचमभू- आ०, ज०। ६ "···पंचमपुढवीए तिचउक्कभागंतं। अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा॥" -तिलोयप० २।२९। ७ अत्र 'पञ्चविंशतिसहस्राधिकद्विलक्षबिलेषु' इति पाठेन भाव्यम्। ८ अत्र 'पञ्चविंशतिसहस्रहीनेषु' इति पाठः समुचितः।

'वयं शुभं करिष्यामः' इति उद्यमेऽप्यशुभैव विक्रियोत्पद्यते । 'वयं सुखहेतूनुत्पादयामः' इत्युद्यमेऽपि सति दुःखहेतुमेवोत्पादयन्ति । एवमशुभतरा विक्रिया नारकेषु ज्ञातव्या । भवन्ति चात्र श्लोकाः—

"कापोती तु द्वयोर्लेश्या तृतीये सा च नीलिका ।
नीला तुरीये नीला च कृष्णा च परतः स्मृता ॥ १ ॥
कृष्णा षष्ठे, महाकृष्णा सप्तमे नरके मता ।
धनुः कराङ्गुलीरुचाः सप्तत्रिषडपि क्रमात् ॥ २ ॥
द्विर्द्विस्ततश्चतुर्ष्वस्ति तेषूष्णा तीव्रवेदना ।
पञ्चमे पञ्चविंशत्याऽधिकयोर्लक्षयोर्द्वयोः ॥ ३ ॥
बिलानां वेदनोष्णैव ततोऽन्यत्र च शीतला ।
षष्ठे च सप्तमे श्वभ्रे शीतैव खलु वेदना ॥४॥" [ ]

अथैतेषां नारकाणां शीतोष्णोत्पादितैव वेदना वर्त्तते, आहोस्विदन्यदपि दुःखं तेषां वर्त्तते न वेति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

परस्परस्य अन्योन्यस्य उदीरितमुत्पादितं दुःखं यैस्ते परस्परोदीरितदुःखा नारका भवन्तीति सूत्रार्थः । केन प्रकारेण नारकाणां परस्परं दुःखोत्पादनमिति[1] चेत् ? उच्यते— भवप्रत्ययेन अवधिज्ञानेन सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादर्शनोदयात् विभङ्गनाम्ना अवधिना विप्रकर्षादेव दुःखहेतुपरिज्ञानाद् दुःखमुत्पद्यते । समीपागमने[2] चान्योन्यविलोकनात् प्रकोपाग्निर्जाज्वल्यते । पूर्वजन्मानुस्मरणाच्च अतितीव्रानुबद्धवैराश्च भवन्ति । कुक्कुरगोमायुप्रभृतिवत् [3]स्वाभिघाते प्रवर्तन्ते । निजविक्रियाविहितलोहघनकुन्ततोमरशक्तिभिण्डिमालपरशुवासीखड्गहलमुसलत्रिशूलशूलछुरिकाकट्टारिकातरवारिखड्गषकुठारभुसुण्डिशङ्कुनाराचप्रभृतिभिरायुधैः निजपाणिपाददन्तैश्च छेदनभेदनतक्षणकरटनैश्च अन्योन्यस्य अतितीव्रमसातमुत्पादयन्ति । क्रकचविदारणशूलारोपणभ्राष्ट्रक्षेपणयन्त्रपीलनवैतरणीनिमज्जनादिभिश्च दुःखयन्ति । कृत्तिमुत्पाद्य परिधानं ददति । कूटशाल्मलितरौ रोहावरोहणेन घट्टयन्ति । अङ्गारशय्यायां शाययन्ति । तत्पलमुत्पाद्य तमेव खादयन्ति । ताम्रत्रपुसीसकादि उत्काल्य मुखे पादिकां दत्वा पाययन्ति । सन्दंशैर्लुञ्चन्ति । एवं महादुःखं जनयन्ति ।

अथ किमेतावदेव दुःखोत्पादनमाहोस्विदन्योऽपि कोऽपि दुःखप्रकारस्तेषामस्तीति प्रश्ने योगोऽयमुच्यते—

---

१ –मित्युच्य– आ०, ब०, द०, ज० । २ –नेऽन्यो– आ०, ब०, द०, ज० । ३ स्वामिघाते ता०, व० ।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

प्राग्भवसंभाविताततितीव्रसंक्लेशपरिणामोपार्जितपापकर्मोदयात् सम् सम्यक् सन्ततं वा क्लिश्यन्ते स्म आर्तरौद्रध्यानसंप्राप्ता ये ते संक्लिष्टाः। असुरत्वप्रापकदेवगतिनामकर्मप्रकारकर्मोदयादस्यन्ति क्षिपन्ति प्रेरयन्ति परानित्यसुराः। संक्लिष्टाश्च ते असुराश्च संक्लिष्टाऽसुराः। संक्लिष्टासुरैरुदीरितमुत्पादितं दुःखमसातं येषां ते संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः। प्राक् पूर्वमेव चतुर्थ्याः। पङ्कप्रभाभूमेः पूर्वमेव रत्नशर्करावालुकाप्रभास्वेव तिसृषु नरकभूमिष्वसुरोदीरितं दुःखं भवतीति ज्ञातव्यम्। न त्वधश्चतसृषु[1] असुरोदीरितं दुःखमस्तीति ज्ञातव्यम्। तत्रापि ये केचनासुरा अम्बाम्बरीपादयः संक्लिष्टा असुरा वर्तन्ते त एव नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। न तु सर्वेऽप्यसुरा नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति। अम्बाम्बरीपादय एव केचित्पूर्ववैरादिकं स्मारयित्वा तिसृषु भूमिषु यात्वा नारकान् योधयन्ति। तेषां युद्धं दृष्ट्वा तेषां सुखमुत्पद्यते। अन्येषु प्रीतिहेतुभूतेषु विनोदेषु सत्स्वपि युद्धं कारयतां पश्यतां च सुखमुत्पद्यते। तादृशः संक्लेशपरिणामः तैरुपार्जितः पूर्वजन्मनीति भावः। भवति चात्र श्लोकः—

"अम्बाम्बरीषप्रमुखाः पूर्ववैरस्मृतिप्रदाः।
योधयन्त्यसुरा भूषु तिसृषु क्लिष्टचेतसः॥ १ ॥" [ ]

तिलतिलप्रमाणशरीरखण्डनेऽपि तेषामपमृत्युर्न वर्तते। शरीरं पारदवत्[2] पुनर्मिलति अनपवर्त्यायुष्ट्वात्[3]। चकारः पूर्वोक्तदुःखसमुच्चयार्थः। तेन तप्तलोहपुत्तलिकालिङ्गनतप्ततैलसेचनाऽयःकुम्भीपचनादिकं दुःखमुत्पादयन्ति ते असुरा इति तात्पर्यम्।

अथैतेषां किलायुरकाले न त्रुट्यति इत्युक्ते कियत्कियत्परिमाणं तदायुर्वर्तते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः॥ ६ ॥

यथाक्रममिति पूर्वोक्तमत्र ग्राह्यं "तासु त्रिंशत्" इत्यादि सूत्रे प्रोक्तम्। तेनायमर्थः—तेषु नरकेषु सप्तभूम्यनुक्रमेण सत्त्वानां नारकाणां परा उत्कृष्टा स्थितिर्वेदितव्या। सत्त्वानामित्युक्ते भूमीनां स्थितिरिति न ग्राह्यम्, भूमीनां शाश्वतत्वात्। कथम्भूता स्थितिः? एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा। सागरशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेनायमर्थः—एकसागरः [4]त्रिसागराः सप्तसागराः दशसागराः सप्तदश सागराः द्वाविंश[5]तिसागराः त्रयस्त्रिंशत्सागराः उपमा यस्याः स्थितेः सा तथोक्ता। अस्यायमर्थः—रत्नप्रभायां परा उत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा। शर्कराप्रभायां त्रिसागरोपमा परा स्थितिः।

---

१ ततश्चतसृषु असुरोदीरितं दुःखं नास्तीति ज०। २ सूतवत् ता०। ३ –युष्कात् आ०, द०, ज०, व०। ४ त्रयः सा– ता०, व०। ५ –तिः सा– ता०, व०

वालुकाप्रभायां सप्तसागरोपमा परा स्थितिः । पङ्कप्रभायां दशसागरोपमा परा स्थितिः । धूमप्रभायां सप्तदशसागरोपमा परा स्थितिः । तमःप्रभायां द्वाविंशतिसागरोपमा परा स्थितिः । महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा परा स्थितिरिति ।

अथ विस्तरेण स्थितिस्वरूपं निरूप्यते–रत्नप्रभायां सीमन्तकनाम्नि प्रथमपटले नवतिवर्षसहस्राणि परा स्थितिर्वर्त्तते । नरकनाम्नि द्वितीयपटले नवतिलक्षवर्षाणि परा स्थितिरस्ति । रोरुकनाम्नि तृतीयपटले असंख्यातपूर्वकोटयः परा स्थितिर्भवति । भ्रान्तनाम्नि चतुर्थपटले एकसागरस्य दशमो भागः परा स्थितिश्चकास्ति । एका कोटीकोटिपल्योपमा इत्यर्थः । उद्भ्रान्तनाम्नि [1]पञ्चमे पटले एक सागरस्य पञ्चमो भागो द्वे कोटीकोट्यौ पल्योपमे इत्यर्थः । सम्भ्रान्तनाम्नि षष्ठे पटले सागरदशभागानां त्रयो भागाः परा स्थितिर्जागर्ति । असम्भ्रान्तनाम्नि सप्तमे पटले सागरदशभागानां चत्वारो भागाः परा स्थितिरुदेति । विभ्रान्तनाम्नि अष्टमे पटले सागरार्द्धं परा स्थितिः प्रवर्त्तते । त्रस्तनाम्नि नवमे पटले सागरदशभागानां षड्भागाः परा [2]स्थितिर्जायते । त्रसितनाम्नि दशमे पटले सागरदशभागानां सप्त भागाः परा स्थितिः सिध्यति । वक्रान्तनाम्नि एकादशे पटले सागरदशभागानामष्ट भागाः परा स्थितिरुत्पद्यते । अवक्रान्तनाम्नि द्वादशे पटले सागरदशभागानां नव भागाः परा स्थितिः सम्पद्यते । विक्रान्तनाम्नि त्रयोदशे पटले एकसागरः परा स्थितिः फलति ।

द्वितीयपृथिव्यां सूरकनाम्नि प्रथमपटले सागरैकः सागरैकादशभागानां द्वौ भागौ च परा स्थितिः फलति । स्तनकनाम्नि द्वितीयपटले सागरैकः सागरैकादशभागानां चत्वारो भागाश्च परा स्थितिरास्ते । मनकनाम्नि तृतीयपटले सागरैकः सागरैकादशभागानां षड् भागाश्च परा स्थितिर्विद्यते । अमनकनाम्नि चतुर्थपटले सागरैकः सागरैकादशभागानामष्टौ भागाश्च परा स्थितिर्ध्रियते । घाटनाम्नि पञ्चमपटले सागरैकः सागरैकादशभागानां दश भागाश्च परा स्थितिः[3] प्रभवति । असङ्घाटनाम्नि षष्ठे पटले सागरौ द्वौ सागरैकादशभागानामेको भागश्च परा स्थितिः प्रोदेति । जिह्वनाम्नि सप्तमे पटले सागरौ द्वौ सागरैकादशभागानां त्रयो भागाश्च परा स्थितिः प्रवर्तते । जिह्विकनाम्न्यष्टमे पटले द्वौ सागरौ सागरैकादशभागानां पञ्च भागाश्च परा स्थितिः [4]प्रजायते । लोलनाम्नि नवमे पटले द्वौ सागरौ सागरैकादशभागानां सप्त भागाश्च परा स्थितिः [5]प्रसिध्यति । लोलुपनाम्नि दशमे पटले द्वौ सागरौ सागरैकादशभागानां नव भागाश्च परा स्थितिः प्रोत्पद्यते[6] । स्तनलोलुपनाम्नि एकादशे पटले त्रयः सागराः परा स्थितिः प्रफलति ।

तृतीयपृथिव्यां तप्तनाम्नि प्रथमपटले त्रयः सागराः सागरनवभागानां चत्वारश्च परा स्थितिः सम्भवति । द्वितीये तपितनाम्नि पटले त्रयः सागराः सागरनवभागाना-

---

१ पञ्चमप– आ०, ब०, द०, ज० । २ –तिर्भव– आ०, ब०, द०, ज० । ३ –तिर्भ– आ०, ब०, द०, ज० । ४ प्रसिध्यति ज० । ५ प्रजायते ज० । ६ प्रतिपद्यते आ०, द० । प्रपद्यते ज० । प्रसिध्यति ब० ।

मष्ट भागाश्च परा स्थितिः समुदेति। तपननाम्नि तृतीयपटले चत्वारः सागराः सागरनवभागानां त्रयो भागाश्च परा स्थितिः सम्प्रवर्तते। तपननाम्नि चतुर्थपटले सागराश्चत्वारः सागरनवभागानां सप्त भागाश्च परा स्थितिः सम्प्रजायते। निदाघनाम्नि पञ्चमे पटले सागराः पञ्च सागरनवभागानां द्वौ भागौ च परा स्थितिः सम्प्रसिध्यति। प्रज्वलितनाम्नि षष्ठे पटले पञ्च सागराः सागरनवभागानां षट् भागाश्च परा स्थितिः समुत्पद्यते। उज्ज्वलितनाम्नि सप्तमे पटले षट्सागराः सागरनवभागानामेकोभागश्च परा स्थितिः [1]सम्पद्यते। संज्वलितनाम्नि अष्टमे पटले षट्सागराः सागरनवभागानां पञ्च भागाश्च परा स्थितिः सन्निष्पद्यते। संप्रज्वलितनाम्नि नवमे पटले सागराः सप्त परा स्थितिः संप्रफलति।

चतुर्थपृथिव्याम् आरनाम्नि प्रथमपटले सप्त सागराः सागरसप्तभागानां त्रयो भागाश्च परा स्थितिः समस्ति। तारनाम्नि द्वितीयपटले सागराः सप्त सागरसप्तभागानां षड्भागाश्च परा स्थितिः समास्ते। मारनाम्नि तृतीये पटले सागरा अष्ट सागरसप्तभागानां द्वौ भागौ च परा स्थितिः संजागर्ति। वर्चस्कनाम्नि चतुर्थपटले सागरा अष्ट सागरसप्तभागानां पञ्चभागाश्च परा स्थितिः संविद्यते। तमकनाम्नि पञ्चमपटले सागरा नव सागरसप्तभागानामेको भागश्च परा स्थितिः सन्ध्रियते। खडनाम्नि षष्ठपटले सागरा नव सागरसप्तभागानां चत्वारो भागाश्च परा स्थितिः समुद्भवति। खडखडनाम्नि सप्तमे पटले दशसागराः परा स्थितिरुज्जायते।

पञ्चमपृथिव्यां तमोनाम्नि प्रथमपटले एकादश सागराः सागरपञ्चभागानां द्वौ भागौ च परा स्थितिः परिसिध्यति। भ्रमनाम्नि द्वितीयपटले सागरा द्वादश सागरपञ्चभागानां चत्वारो भागाश्च परा स्थितिः पर्युदेति। झषनाम्नि तृतीयपटले चतुर्दश सागराः सागरपञ्चभागानामेको भागश्च परा स्थितिः पर्युत्पद्यते। अन्धनाम्नि चतुर्थपटले पञ्चदश सागराः सागरपञ्चभागानां त्रयो भागाश्च परा स्थितिः परिसम्पद्यते। तमिस्रनाम्नि पञ्चमपटले सागराः सप्तदश परा स्थितिः परिनिष्पद्यते।

षष्ठपृथिव्यां हिमनाम्नि प्रथमपटलेऽष्टादश सागराः सागरत्रिभागानां द्वौ भागौ च परा स्थितिः परिफलति। वर्दलनाम्नि द्वितीयपटले विंशतिसागराः सागरत्रयभागानामेको भागश्च परा स्थितिः परिजागर्ति। लल्लकनाम्नि तृतीयपटले द्वाविंशतिसागराः परा स्थितिः परिविद्यते।

सप्तमपृथिव्यामप्रतिष्ठाननाम्नि पटले सागरास्त्रयस्त्रिंशत् परा स्थितिर्बोद्धव्या। भवन्त्यत्रार्याः—

> "प्रथमभूप्रथमपटले वर्षसहस्राणि नवतिरुत्कृष्टा।
> स्थितिरेतावन्त्येवं[2] द्वितीयके भवति लक्षाणि॥ १॥

---

१ समुत्पद्- आ०, ब०, द०, ज०। सम्प्रपद्यते व०। २ -तावत्येव आ०, द०, ब०, ज०।

पूर्वाणां खलु कोट्योऽसंख्याताः स्युस्तृतीयके ।
तुर्ये सागरदशमो भागः पञ्चमके पञ्चमश्चैव ॥ २ ॥
सागरदशभागानां त्रयस्तु भागा भवन्ति खलु षष्ठे ।
सप्तमके चत्वारो भागा अभ्यर्धमष्टमके ॥ ३ ॥
नवमे दशभागानां षड्भागा दशमके तु सप्तैव ।
एकादशेऽष्ट नव तु द्वादशकेऽब्धिस्त्रयोदशके ॥ ४ ॥
अथ कथयामि मुनीनां द्वितीयभूप्रथमपटलकेऽब्धिश्च ।
एकादशभागानां द्वौ भागौ सागरस्यैव ॥ ५ ॥
पटले द्वितीयकेऽब्धिर्भागाश्चत्वार एव च तृतीये ।
अब्धिः षड्भागयुतश्चतुर्थकेऽब्धिः कलाश्चाष्ट ॥ ६ ॥
पञ्चमकेऽब्धिर्दशके (?) षष्ठेऽब्धिरेक एव भागश्च ।
सप्तमके द्वावब्धी त्रयश्च भागा भवन्त्येव ॥ ७ ॥
द्वावब्धी अष्टमके भागाः पञ्चैव सागरौ नवमे ।
भागाः सप्त च दशमे नव भागाः सागरावपि च ॥ ८ ॥
उदधय एकादशके त्रयस्तृतीयक्ष्माप्रथमपटले ।
अब्धित्रयमपि भागा नवभागानां च चत्वारः ॥ ९ ॥
अब्धित्रयाष्टभागा द्वितीयके सिन्धवस्तृतीये तु ।
चत्वारोंऽशत्रितयं तुर्ये ते चैव सप्त कलाः ॥ १० ॥
पञ्चमके द्व्यंशयुताः शशध्वजाः पञ्च षष्ठके पञ्च ।
भागाः षट् सप्तमके षडब्धयोंऽशस्तथा चैकः ॥ ११ ॥
अथ वीचिमालिनः स्युः षडष्टमे भागपञ्चकेन युताः ।
नवमे महार्णवानां सप्तकमिति साधुभिः कथितम् ॥ १२ ॥
तुर्यभूप्रथमपटले शशध्वजाः सप्त सप्तभागानाम् ।
भागास्त्रयो द्वितीये सप्ताम्बुधयश्च षड्भागाः ॥ १३ ॥
अष्ट तृतीयेऽम्बुधयो भागौ द्वौ तुर्यकेऽष्टपञ्चकलाः ।
नव पञ्चमे च षष्ठे चतुरंशा दश तु सप्तमगाः ॥ १४ ॥

पञ्चमभूप्रथमेऽस्मिन्नेकादश पञ्चभागभागयुगम् ।
द्वादशचतुरंशयुताः द्वितीयकेऽतश्चतुर्दशांशश्च ॥ १५ ॥
तुर्ये पञ्चदशांशास्त्रयः परं पञ्चमे तु सप्तदश ।
षष्ठभूप्रथमपटलेऽष्टादशभागत्रयद्व्यंशौ ॥ १६ ॥
अम्बुधिविंशतिरंशो द्वितीयके विंशतिस्तृतीये तु ।
अर्णवयुगेन सप्तमभुवि त्रयस्त्रिंशदम्बुधयः ॥ १७ ॥" [ ]

प्रथमे पटले जघन्यमायुर्दशवर्षसहस्राणि भवन्ति । उत्कृष्टं तु [1]पूर्वमेवोक्तम् । यत्प्रथमपटले उत्कृष्टमायुस्तद्द्वितीयपटले जघन्यं ज्ञातव्यम् । एवं सप्तस्वपि नरकेष्वेकोनपञ्चाशत्पटलेष्वायुरनुक्रमो ज्ञातव्यो यावत् सप्तमे नरके एकोनपञ्चाशत्तमे पटले द्वाविंशतिसागरोपमा जघन्या स्थितिरवगन्तव्या ।

तेषु नरकेषु मद्यपायिनो मांसभक्षका मखादौ प्राणिघातका असत्यवादिनः परद्रव्यापहारकाः परस्त्रीलम्पटा महालोभाभिभूताः रात्रिभोजिनः स्त्री-बाल-वृद्ध-ऋषिविश्वासघातका जिनधर्मनिन्दका रौद्रध्यानाविष्टा इत्यादिपापकर्मानुष्ठातारः[2] समुत्पद्यन्ते । उपरिपादा [3]अधोमस्तकाः सर्वेऽपि समुत्पद्य अधः पतन्ति । दीर्घकालं दुःखान्यनुभवन्ति । मेरुमात्रं भोजनं भोक्तुमिच्छन्ति, आसुरीमात्रमपि न प्राप्नुवन्ति । समुद्रजलं पिपासन्ति, जलबिन्दुमात्रमपि न प्राप्नुवन्ति । सदा सुखं वाञ्छन्ति, चक्षुरुन्मेषमात्रमपि कालं सुखं न लभन्ते । तथा चोक्तम्—

"[4]अच्छिणिमीलणमित्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।
णिरये णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥१॥" [तिलोयसा० गा० २०७]

अन्यच्च—

"[5]असण्णि-सरिसव-पक्खी-भुजगा-सिंहि-त्थि-मच्छ-मणुया य ।
पढमादिसु उप्पत्ती अडवारा दोण्णि वारुत्ति ॥" [ ]

अस्यायमर्थः—असञ्ज्ञिनः प्रथमनरकमेव गच्छन्ति । सरीसृपा द्वितीयमेव नरकं गच्छन्ति । पक्षिणस्तृतीयमेव[6] नरकं व्रजन्ति । भुजगाश्चतुर्थमेव नरकं यान्ति । सिंहाः पञ्चममेव नरकं [7]जिहते । स्त्रियः षष्ठमेव । मत्स्याः मनुष्याश्च सप्तममेव नरकमियून्ति[8] ।

---

१ पूर्वोक्तम् आ०, द०, ब०, ज० । २ –नुष्ठानारकाः स– ज० । ३ अधोमुखाः आ०, द०, ज०, ब० । ४ अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुक्खमेव अनुबद्धम् । नरके नारकाणामहर्निशं पच्यमानानाम् ॥ ५ असंज्ञिसरीसृपपक्षिभुजगसिंहस्त्रीमत्स्यमनुजाश्च । प्रथमादिषु उत्पत्तिरष्टवारान् द्विवारं यावत् ॥ ६ –यमेव व्र– ता०, ब० । ७ विरहन्ति आ०, ब०, द०, ज० । ८ –मियन्ति आ०, ब०, द०, ज० ।

यदि प्रथमनरकं कश्चिदवच्छिन्नतया निरन्तरं गच्छति तर्हि अष्टवारान्। यदि द्वितीयं नरकं निरन्तरं गच्छति तर्हि सप्तवारान् व्रजति । तृतीयं षड्वारान् व्रजति । चतुर्थं पञ्चवारान्। पञ्चमं चतुर्वारान्। षष्ठं त्रीन् वारान्। सप्तमं द्वौ वाराविति। सप्तमान्नरकान्निर्गतस्तिर्यगेव भवति, पुनश्च नरकं गच्छति। षष्ठान्निर्गतो नरत्वं यदि प्राप्नोति तर्हि देशव्रतित्वं न प्राप्नोति, सम्यक्त्वं तु न निषिध्यते। पञ्चमान्निर्गतः देशव्रतित्वं लभते, न महाव्रतित्वम्। चतुर्थान्निर्गतः कोऽपि निर्वाणमपि गच्छति। तृतीयाद् द्वितीयात्प्रथमाच्च विनिर्गतः कश्चित्तीर्थङ्करोऽपि भवति।

अथेदानीं तिर्यग्लोकस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

जम्बूद्वीपश्च जम्बूनामद्वीपः, लवणवत् क्षारमुदकं[1] जलं यस्य स लवणोदः, जम्बूद्वीपश्च लवणोदश्च जम्बूद्वीपलवणोदौ, तावादी येषां द्वीपसमुद्राणां ते जम्बूद्वीपलवणोदादयः। जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयः समुद्राः द्वीपसमुद्राः। कथम्भूताः ? शुभनामानः शुभानि मनोज्ञानि यानि नामानि लोके[2] वर्तन्ते तानि शुभानि नामानि येषां द्वीपसमुद्राणां ते शुभनामानः। तथा हि—जम्बूद्वीपनामा प्रथमो द्वीपः। लवणोदनामा प्रथमः समुद्रः। आदिशब्दात् धातकीखण्डनामा द्वितीयो द्वीपः। कालोदनामा द्वितीयः समुद्रः। पुष्करवरनामा तृतीयो द्वीपः। पुष्करवरनामा तृतीयः समुद्रः। वारुणीवरनामा चतुर्थो द्वीपः। वारुणीवरनामा चतुर्थः समुद्रः। क्षीरवरनामा पञ्चमो द्वीपः। क्षीरवरनामा पञ्चमः समुद्रः। घृतवरनामा षष्ठो द्वीपः। घृतवरनामा षष्ठः समुद्रः। इक्षुवरनामा सप्तमो द्वीपः। इक्षुवरनामा सप्तमः समुद्रः। नन्दीश्वर[3]नामा अष्टमः समुद्रः, नन्दीश्वर[4]नामा अष्टमो द्वीपः। अरुणवरनामा नवमो द्वीपः। अरुणवरनामा नवमः समुद्रः। एवं स्वयम्भूरमणद्वीपपर्यन्ता असंख्येया[6] द्वीपाः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता असंख्येयाः समुद्रा ज्ञातव्याः। असंख्येया इत्युक्ते कियन्तो द्वीपसमुद्राः ? पञ्चविंशत्युद्धारपल्यकोटीनां यावन्ति रोमखण्डानि भवन्ति तावन्तो द्वीपसमुद्रा ज्ञातव्याः।

मेरोरुत्तरस्यां दिशि उत्तरकुरुनामोत्तमभोगभूमिमध्ये जम्बूवृक्षो वर्तते। स सदा शाश्वतो नानारत्नमयो मरकतमणिमयस्कन्धशाखः स्फटिकमणिमयपुष्पमञ्जरीक इन्द्रनीलमणिमयफलः कृष्णफल इत्यर्थः, हरितमणिमयपत्रः। जम्बूदेवोषितप्राक्शाखः तद्वृक्षस्य चतुर्दिक्षु चत्वारः परिवारवृक्षाः। तथा लक्षैक(कम्)चत्वारिंशत्सहस्राणि एकं शतं पञ्चदश[7] च परिवारवृक्षा वर्त्तन्ते। एवं सर्वेऽपि जम्बूवृक्षा मिलित्वा वृक्षाणामेकं लक्षं चत्वारिंशत्सहस्राणि एकं शतं एकोनविंशतिश्च, मूलवृक्षेण सह विंशतिश्च वृक्षा भवन्ति। १४०१२०।

१ –रमुदं ज– द०, ज०, ता०। २ –के प्रव– आ०, ब०, द०, ज०। ३–श्वरवरना– ता०। ४ –श्वरवरना– ता०, ब०। ५ –णप– आ०, ब०, ज०, ब०। ६ –यद्वी– ता०, ब०, ज०। ७ –श प– ता०, आ०, ज०।

तथा चोक्तम्—

"चत्वारिंशत्सहस्राणि लक्षं चैकोनविंशतिः ।
शतं तदर्धोत्सेधाः स्युः जम्बोर्जम्बुतरोरिमाः ॥" [ ]

पंञ्चशतयोजनोत्सेधो मूलवृक्षः । एतेन जम्बूवृक्षेणोपलक्षितत्वाज्जम्बूद्वीप इत्युच्यते । यादृशो जम्बूवृक्षः तादृशो देवकुरुमध्ये शाल्मलिवृक्षोऽपि वर्तते । यावन्तो वृक्षास्तावन्तो रत्नमया जिनप्रासादा ज्ञातव्याः । एवं धातकीवृक्षोपलक्षितो धातकीद्वीपः । पुष्करवृक्षोपलक्षितः पुष्करद्वीपः ।

अथैतेषामसंख्येयद्वीपसमुद्राणां विस्तारसूचनार्थं सन्निवेशकथनार्थं संस्थानविशेषनिरूपणार्थञ्च सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाऽऽकृतयः ॥ ८ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भो द्विगुणद्विगुणविस्तारो येषां द्वीपसमुद्राणां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भा जातिक्रियाद्रव्यगुणैर्युगपत् [4]प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा वीप्सा वीप्सार्थे "पदस्य" [शाकटा० १।२।९२]। इति सूत्रेण द्विःसह द्विर्वचनम् । अत्र विष्कम्भस्य द्विगुणत्वव्याप्त्यर्थे वीप्सा वर्त्तते । तेन विष्कम्भस्य गुणवचनत्वात् एषा गुणवीप्सा वर्तते । उक्तञ्च जात्यादिशब्दानां लक्षणम्—

"द्व्यक्रियाजातिगुणप्रभेदैर्डवित्थकर्त्तृद्विजपाटलादौ ।
शब्दप्रवृत्तिं मुनयो वदन्ति चतुष्टयीं शब्दविदः पुराणाः ॥१॥" [ ]

कया रीत्या द्विगुणद्विगुणविष्कम्भो द्वीपसमुद्राणां भवति ? इत्याह—एकलक्षयोजनविस्तारो जम्बूद्वीपः । तद्द्विगुणविस्तारः द्विलक्षयोजनविस्तारो लवणोदसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणविस्तारश्चतुर्लक्षयोजनविस्तारो धातकीद्वीपः । तस्माद् द्विगुणोऽष्टलक्षयोजनविस्तारः कालोदसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणः षोडशलक्षयोजनविस्तारः पुष्करवरद्वीपः । तस्माद् द्विगुणो द्वात्रिंशल्लक्षयोजनविस्तारः पुष्करवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणः चतुःषष्टिलक्षयोजनविस्तारो वारुणीवरद्वीपः । तस्माद् द्विगुण एककोट्यष्टाविंशतिलक्षयोजनविस्तारो वारुणीवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणो द्विकोटिषट्पञ्चाशल्लक्षयोजनविस्तारः क्षीरवरद्वीपः । तस्मात् द्विगुणः पञ्चकोटिद्वादशलक्षयोजनविस्तारः क्षीरवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणो दशकोटिचतुर्विंशतिलक्षयोजनविस्तारो घृतवरद्वीपः । तस्माद् द्विगुणो विंशतिकोट्यष्टचत्वारिंशल्लक्षयोजनविस्तारो घृतवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणश्चत्वारिंशत्कोटिषण्णवतिलक्षयोजनविस्तार इक्षुवरद्वीपः । तस्माद् द्विगुण एकाशीतिकोटिद्विनवतिलक्षयोजनविस्तार इक्षुवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुण एकशतत्रिषष्टिकोटिचतुरशीतिलक्षयोजनविस्तारो नन्दीश्वरवरद्वीपः । तस्माद्

१ लक्षा चै– आ०, ब०, द०, ज०, ता० । २ पंचविंशतियां– आ०, ब०, द०, ज० । ३ –ताऽय पु– आ०, ब०, द०, ज० । ४ –योक्तव्यामिच्छा आ०, ब०, द०, ज० । ५ –णीस– आ०, ब०, द०, ज० ।

द्विगुणः सप्तविंशतिकोट्यधिकत्रिशतकोटि-अष्टषष्टिलक्षयोजनविस्तारो नन्दीश्वरवरसमुद्रः । तस्माद् द्विगुणः षट्त्रिंशल्लक्षाधिकाः पञ्चपञ्चाशत्कोटयः षट्शतकोटयः एतावद्योजनविस्तारः अरुणवरद्वीपः । तस्माद् द्विगुणो द्वासप्ततिलक्षाधिकाः दशकोटयस्त्रयोदशशतकोटयः एतावद्योजनविस्तारोऽरुणवरसमुद्रः **'पर्यन्तं गहनं गणितशास्त्रम्'** [ ] इति वचनात् कियत्पर्यन्तं गण्यते ? *अनया रीत्या* स्वयम्भूरमणपर्यन्तं द्विगुणविष्कम्भाः द्वीपसमुद्राः असंख्येया ज्ञातव्याः । अत्रायं विशेषः—यथा जम्बूद्वीपलवणसमुद्रविस्तारो द्वयसमुदायात् त्रिलक्षयोजनप्रमिताद् धातकीखण्डद्वीपः एकलक्षेणाधिकस्तथा असंख्येयद्वीपसमुद्रविस्तारेभ्यः स्वयम्भूरमणसमुद्रविस्तार एकलक्षेणाधिको ज्ञातव्यः ।

पुनरपि कथम्भूता द्वीपसमुद्राः ? पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः । पूर्वं पूर्वं प्रथमं प्रथमं परिक्षिपन्ति समन्तात् वेष्टयन्तीत्येवंशीलाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः । जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण वेष्टितः । लवणसमुद्रः धातकीखण्डद्वीपेन वेष्टितः । धातकीखण्डद्वीपः कालोदसमुद्रेण वेष्टितः । कालोदसमुद्रः पुष्करवरद्वीपेन वेष्टितः । पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरसमुद्रेण वेष्टितः । *अनया रीत्या* पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः, न तु नगरग्रामपत्तनादिवत् यत्र तत्र स्थिताः । पुनरपि कथम्भूता द्वीपसमुद्राः ? वलयाकृतयः । गजदन्तकाचादिकृतानि कङ्कणानि स्त्रीकरभूषणानि वलया[2]न्युच्यन्ते । तद्वत्सर्वेऽपि द्वीपसमुद्रा वर्तुलाकारा वर्तन्ते, न त्र्यस्राः [3]न च चतुरस्राः न पञ्चकोणाः, न षट्कोणाः इत्याद्याकाररहिताः, किन्तु वृत्ताकारा एव ।

अथ जम्बूद्वीपाद् द्विगुणद्विगुणविस्ताराः [4]किल लवणसमुद्रादयो वर्तन्ते स जम्बूद्वीप एव [5]कियद्विस्तारो भवति, यद्विस्तारादन्यविस्तारो विज्ञायते ? इत्युक्ते तत्स्वरूपमाहुः—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्यस्तन्मध्यः तस्मिन् तन्मध्ये सर्वद्वीपसमुद्राणां मध्यप्रदेशे जम्बूद्वीपो वर्तत इत्यर्थः । कथम्भूतो जम्बूद्वीपः ? मेरुनाभिः, मेरुः सुदर्शननामा कनकपर्वतः एकसहस्रयोजनभूमिमध्ये स्थितः नवनवतिसहस्रयोजनबहिरुन्नतः । श्रीभद्रशालवनादुपरि पञ्चशतयोजनलभ्यनन्दनवनः, नन्दनवनात्त्रिषष्टियोजनसहस्रं सम्प्राप्य सौमनसवनः । सौमनसवनात् सार्द्धपञ्चत्रिंशत्सहस्रयोजनगम्यपाण्डुकवनः । चत्वारिंशद्योजनोन्नतचूलिकः, सा चूलिका सार्द्धपञ्चत्रिंशत्सहस्रयोजनमध्य एव गणनीया । स एवंविधो मेरुनाभिर्मध्यप्रदेशो यस्य जम्बूद्वीपस्य मेरुनाभिः । पुनरपि कथम्भूतो जम्बूद्वीपः ? वृत्तः वर्तुलः । आदित्यविम्बवद्वर्तुलाकार इत्यर्थः । [6]पुनरपि कथम्भूतो जम्बूद्वीपः ? योजनशतसहस्रविष्कम्भः । शतानां सहस्रं शतसहस्रम्, योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रम्, योजन-

---

१ पर्यन्तग– द०, ज० ब० । २ –यानि कथ्यन्ते आ०, द०, ब०, ज० । ३ न चतु– आ० ब०, द०, ज० । ४ किं ल– आ०, ब०, द०, ज० । ५ कियान् वि– आ०, ब०, द०, ज० । ६ पुनः किं विशिष्टो ज– आ०, ब०, द०, ज० ।

शतसहस्रं विष्कम्भो विस्तारो यस्य जम्बूद्वीपस्य स भवति योजनशतसहस्रविष्कम्भः, एकलक्षयोजनविस्तार इत्यर्थः । उपरिस्थितवेदिकेन सालेन सह लक्षयोजनविष्कम्भः इति भावः । स जम्बूद्वीपसालः अष्टयोजनोच्चः, मूले द्वादशयोजनविस्तारः, मध्येऽष्टयोजनविस्तारः, उपरि चाष्टयोजनविस्तारः । तत्सालोपरि रत्नसुवर्णमयी वेदिका चोभयपार्श्वे वर्तते । सा वेदिका क्रोशद्वयोन्नता वर्त्तते । तस्या वेदिकाया विस्तारो योजनमेकं क्रोशश्चैकः धनुषां सहस्रं सप्तशतानि पञ्चाशद्युतानि च । तद्वेदिकाद्वयमध्ये सालस्योपरि महोरगदेवप्रासादाः सन्ति । ते प्रासादाः रत्नमया वनवृक्षवापीतडागजिनभवनमण्डिता अनादिनिधनास्तिष्ठन्ति । तस्य दुर्गस्य पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरेषु चत्वारि द्वाराणि वर्त्तन्ते । तन्नामानि—विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानि क्रमाद्विज्ञेयानि । तद्द्वारोच्चत्वमष्टयोजनानि, विस्तारश्चतुर्योजनानि, चतुर्द्वाराग्रे जिनप्रतिमा अष्टप्रातिहार्यसंयुक्ता वर्तन्ते । तस्य जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपस्त्रीणि योजनलक्षाणि सप्तविंशत्यग्रे द्वे शते च योजनानां त्रयः क्रोशा अष्टाविंशत्यग्रं धनुःशतं च अङ्गुलयस्त्रयोदश च किञ्चिदधिकमर्द्धाङ्गुलं च ।

तस्मिन् जम्बूद्वीपे षट्कुलपर्वतैः कृतानि यानि सप्त क्षेत्राणि वर्तन्ते, तन्नामानि भगवान् प्राह[1]—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

भरतश्च हैमवतश्च हरिश्च विदेहश्च रम्यकश्च हैरण्यवतश्च ऐरावतश्च भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावताः । ते च ते वर्षा भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः । क्षेत्राणि क्षियन्ति अधिवसन्ति प्राणिन एष्विति क्षेत्राणि । तथा हि—

भरतवर्षो भरतक्षेत्रं प्रथमं क्षेत्रम् । हिमवतो मध्ये भवो हैमवतवर्षो द्वितीयं क्षेत्रम् । हरति जघन्यभोगभूमितयाऽऽर्याणां दुःखमिति हरिवर्षस्तृतीयं क्षेत्रम् । विगतदेहा मोक्षगामिनः प्रायेण मुनयो यत्र स विदेहवर्षश्चतुर्थं क्षेत्रम् । रम्यं मनोहरं मध्यमभोगभूमितयाऽऽर्याणां कं सुखं यस्मिन्निति रम्यकवर्षः पञ्चमं क्षेत्रम् । हिरण्यवान् सुवर्णमयत्वाच्छिखरी पर्वतस्तस्य दक्षिणतो भवो हैरण्यवतवर्षो जघन्यभोगभूमिरूपं षष्ठं क्षेत्रम् । इरावान् समुद्रस्तस्य दक्षिणतो भव ऐरावतवर्षः सप्तमं क्षेत्रम् । एतान्यनादिसिद्धनामानि सप्त क्षेत्राणि भवन्ति । तथा हि—

हिमवत्पर्वतपूर्वसमुद्रदक्षिणसमुद्रपश्चिमसमुद्राणां चतुर्णां मध्ये गङ्गासिन्धुनदीद्वयेन विजयार्द्धपर्वतेन च षट्खण्डीकृतः चटापितचापाकारो भरतवर्षः कथ्यते । तस्य भरतवर्षस्य मध्ये पञ्चाशद्योजनविस्तारः पञ्चविंशतियोजनोत्सेधः क्रोशैकाधिकषट्योजनभूमिमध्यगतो रजतमयो विजयार्धपर्वतोऽस्ति । तत्र विजयार्धपर्वते भरतक्षेत्रसम्बन्धिम्लेच्छखण्डेषु च चतुर्थकालस्याद्यन्तसदृशकालो वर्तते । तेन तत्र उत्कर्षेण पञ्चशतधनुरुत्सेधमङ्गं भवति ।

---

१ –इ सूत्रमिदम् ब० ।

जघन्येन तु सप्तहस्तप्रमाणं शरीरं भवति। उत्कर्षेण कोटिपूर्वमायुर्भवति। जघन्येन[1] विंशत्यग्रं शतं वर्षाणामायुर्भवति। उक्तञ्च—

"भरते म्लेच्छखण्डेषु विजयार्द्धनगेषु च।
चतुर्थसमयाद्यन्ततुल्यकालो[2]ऽस्ति नापरः॥" [ ]

विजयार्द्धपर्वताद्दक्षिणस्यां दिशि गङ्गासिन्धुमहानदीद्वयमध्येऽयोध्या नगरी वर्तते। विजयार्द्धपर्वतादुत्तरस्यां दिशि क्षुद्रहिमवत्पर्वताद्दक्षिणस्यां दिशि गङ्गासिन्धुमहानदीद्वयमध्ये म्लेच्छखण्डमध्यवर्ती वृषभनामा गिरिः पर्वतोऽस्ति। स एकयोजनशतोन्नतः पञ्चाशद्योजनविष्कम्भायामः सुवर्णरत्नमयो वनवेदिकातोरणसंयुक्तो जैनचैत्यसहितश्च। तत्र पर्वते चक्रवर्ती निजप्रसिद्धिं लिखति। क्षुद्रहिमवत्पर्वतमहाहिमवत्पर्वतयोर्मध्ये पूर्वपश्चिमसमुद्रयोश्च मध्ये हैमवतं नाम क्षेत्रं वर्तते। तत्क्षेत्रं जघन्या भोगभूमिर्वर्तते। हैमवतक्षेत्रमध्यप्रदेशे शब्दवान् नाम पर्वतो वर्तते। स पर्वतः पटहाकारो वर्तुलाकारः एकसहस्रयोजनोन्नतः सार्द्धद्विशतयोजनभूमिमध्यगतः, उपरि मूले चैकयोजनसहस्रविष्कम्भायामः किञ्चिदधिकयोजनत्रिसहस्रपरिक्षेपः[3]। तत्र गव्यूत्युत्सेधमङ्गम्[4]। पल्यमेकमायुः। प्रियङ्गुश्यामं शरीरम्। एकान्तरेणामलकप्रमाणं[5] भोजनम्। अन्त्यनवमासेषु गर्भ उत्पद्यते। स्त्रीपुरुषयुगलं जायते। पूर्वयुगलं[6] क्षुतेन जृम्भया च म्रियते। विद्युदिव तच्छरीरं विघटते। नवीनं युगलं सप्तदिवसान्निजाङ्गुष्ठपानेनोत्तानशयं तिष्ठति। तदनन्तरं सप्तदिवसान् भूमौ[7] रिङ्गति। तृतीयसप्ताहेन मधुरभाषी स्खलद्भिः पादैर्गच्छति। चतुर्थसप्ताहेन स्थिरपादैर्व्रजति। पञ्चमसप्ताहेन कलागुणान् धरति। षष्ठसप्ताहेन निर्विकल्पं[8] तारुण्यं प्राप्य भोगान् भुङ्क्ते। सप्तमसप्ताहेन सम्यक्त्वग्रहणयोग्यं भवति। तथा चोक्तम्—

"सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान् स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः
कौ रिङ्गन्ति ततः पदैः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः।
स्थेयोभिश्च ततः कलागुणभृतस्तारुण्यभोगोद्गताः
सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः॥ १॥" [सागारध० २।६८]

एवं सर्वाणि युगलानि दशगव्यूत्युन्नतदशविधकल्पवृक्षोत्पन्नभोगान् भुञ्जते। पुरुषः स्त्रियमार्येति वक्ति। स्त्री पुरुषमार्य्य इत्युक्त्वा आह्वयति। तेन कारणेन ते भोगभूम्युद्भवाः मनुष्या आर्याः कथ्यन्ते।

अथ के ते दशप्रकाराः कल्पवृक्षाः? प्रथमे मद्याङ्गाः कल्पवृक्षाः ते मद्यं स्रवन्ति। मद्यं

---

१ –न पञ्चविंशत्यग्रशतव– आ०, द०, ब०, ज०। २ –कालो न चापरः आ०, द०, ब०, ज०। ३ परिधिक्षेत्रः ज०। ४ –मङ्गं कल्पमे– आ०, द०, ज०। ५ –णभो– ता०, व०। ६ –युगलेषु तेन आ०, द०, ज०, ब०। ७ रङ्गति ता०, ब०। ८ –स्पन्ना– ब०।

नाम [1]मद्यं न भवति । किं तर्हि ? क्षीरदधिसर्पिरादिसुगन्धसलिलपानकं भवति । कामशक्तिजनकत्वान्मद्यमित्युपचर्यते । द्वितीयाः कल्पवृक्षा वादित्राङ्गा भवन्ति । ते मृदङ्गपटहझल्लरीभेरीभम्भातालकंसतालघण्टावेणुवीणास्वरमण्डलादीनि वादित्राणि फलन्ति । तृतीयाः कल्पवृक्षाः भूषणाङ्गनामानः कटककटिसूत्रहारनूपुरमुकुटकुण्डलाङ्गुलीयकादीनि भूषणानि फलन्ति । चतुर्थाः कल्पवृक्षा माल्याङ्गनामानः अशोकचम्पकपारिजातशतपत्रकुमुदनीलोत्पलसौगन्धिकजातीकेतकीकुब्जकनवमालिकावकुलादिमालाः फलन्ति । ज्योतिरङ्गकल्पद्रुमा निजोद्योतेन सूर्यादीनामपि तेजो निस्तेजयन्ति । ज्योतिरङ्गद्योतेन भोगभूमिजाश्चन्द्रसूर्यादीन् तु पश्यन्ति । दीपाङ्गकल्पवृक्षाः प्रवालकुसुमसदृशान् प्रदीपान् फलन्ति । तेभ्यो दीपान् गृहीत्वा भोगभूमिजा निजगृहमध्येषु सान्धकारप्रदेशेषु प्रविशन्ति । गृहाङ्गकल्पवृक्षाः प्राकारगोपुरसंयुक्तसप्तभूमरत्नमयप्रासादरूपेण परिणमन्ति । भोजनाङ्गकल्पवृक्षाः षड्रससंयुक्तममृतमयं दिव्यमाहारं फलन्ति । भाजनाङ्गकल्पवृक्षा मणिसुवर्णमयभृङ्गारस्थालवर्तुलककरककुम्भादिकानि भाजनानि फलन्ति । वस्त्राङ्गकल्पवृक्षा चीनाम्बरपट्टकूलनेत्रसूत्रमयकाञ्चीदेशाद्युद्भवसदृशानि वस्त्राणि फलन्ति ।

तत्र अमृतर[2]सायनस्वादूनि चतुरङ्गुलप्रमाणानि बाष्पच्छेद्यान्यतिकोमलानि तृणानि भवन्ति । तानि पञ्चवर्णगावश्चरन्ति । तत्र भूमिः पञ्चरत्नमयी उद्वर्तितदर्पणसदृशी वर्त्तते । विद्रुममणिसुवर्णमयाः क्वचित्क्वचित् क्रीडापर्वता अपि सन्ति । वापीतडागनद्यो रत्नमयसोपानाः सन्ति । नदीतटेषु रत्नमयचूर्णवालुका वर्त्तते । तत्र पञ्चेन्द्रियास्तिर्यञ्चोऽविरोधिनोऽमांसाशिनोऽसर्पादिकाः सन्ति । विकलत्रयं न वर्त्तते । तत्र मृदुहृदया अकुटिलपरिणामा मन्दकषायाः सुविनीताः शीलादिसंयुक्ताः मनुष्या ऋष्याहारदानेन तिर्यञ्चोऽपि तदनुमोदनेन चोत्पद्यन्ते । तत्रत्याः सद्दृष्टयो मृताः सन्तः सौधर्मैशानयोः कल्पयोरुत्पद्यन्ते । वापीपुष्करणीसरोवरप्रभृतिषु जलचराः न सन्ति ।

महाहिमवत्पर्वतनिषधपर्वतयोर्मध्ये पूर्वापरसमुद्रयोश्चान्तराले हरिर्नाम वर्षः क्षेत्रं वर्तते । तन्मध्ये [3]शब्दवद्वेदाढ्यसदृशो विकृतवान् नाम वेदाढ्यो वर्तते । सोऽपि पर्वतः पटहाकारवृत्तो ज्ञातव्यः । हरिक्षेत्रं मध्यमा भोगभूमिः । तत्र भोगभूमिजा मनुष्या गव्यूतिद्वयोन्नताः पल्यद्वयजीवितव्याः पूर्णिमाचन्द्रवर्णतेजस्का दिनद्वयान्तरितविभीतकफलप्रमाणभोजनाः । तत्र विंशतिगव्यूत्युन्नताः कल्पवृक्षाः । अन्या वर्णनाः पूर्ववद् वेदितव्याः ।

निषधपर्वतनीलपर्वतयोर्मध्ये पूर्वापरसमुद्रयोश्च मध्ये विदेहो नाम वर्षः क्षेत्रं वर्तते । तत्क्षेत्रं चतुःप्रकारम्—मेरोः सकाशात्पूर्वं क्षेत्रं पूर्वविदेहः । मेरोः सकाशात् पश्चिमायां दिश्यपरविदेहः । मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि देवकुरवः । मेरोरुत्तरस्यां दिश्युत्तरकुरव इति । तत्र जिनधर्मविनाशाभावात् सदाधर्मप्रवर्तनात् विगतदेहा मनुष्याः प्रायेण सिद्धा भवन्ति ।

---

१ ज्ञागी । २ –तरसमयानि स्वा– आ०, द०, ब० । –तमयानि स्वा– ज० । ३ शब्दवद्वेलाढ्य– द०, ज० ।

तेनायं वर्षो विदेह इत्युच्यते। विदेहक्षेत्रेषु तीर्थङ्कराणां चतुर्विंशतिरिति नियमो न वर्तते। विदेहमुनियोगाद् वर्षोऽपि विदेहः, आधाराधेययोरैक्योपचारात् कृष्णकज्जलयोगात्कृष्णचक्षुर्वत्, श्वेतद्रव्ययोगात् श्वेतप्रासादवत्। देवकुरूत्तरकुरुपूर्वविदेहाऽपरविदेहानां चतुर्षु कोणेषु चत्वारः पर्वता गजदन्तनामानः। तेषां दैर्ध्यं त्रिंशत्सहस्रयोजनानि द्वे योजनशते नवोत्तरे च। तेषामुन्नतिश्चत्वारि योजनशतानि। तेषां विस्तारः पञ्चयोजनशतानि। तेषां शिखराणि प्रत्येकं चत्वारि ते गजदन्ता दिग्दन्तापरनामानो मेरोः समीपान्निर्गता द्वौ निषधं प्रति गतौ द्वौ नीलं प्रति गतौ। दक्षिणदिग्वर्तिनोर्गजदन्तयोरन्तराले [1]देवकुरवो नामोत्तमा भोगभूमिर्वर्तते। तन्मध्ये शाल्मलीवृक्षो वर्तते। तद्वर्णना स्वकीयस्वरूपसहिता परिवारवृक्षादिका जम्बूवृक्षवद्वेदितव्या। उत्तरदिग्वर्तिनोर्गजदन्तयोरन्तराले उत्तरकुरवो नामोत्तमा भोगभूमिर्वर्तते। तत्रत्या आर्याः पल्यत्रयजीविनो गव्यूतित्रयोन्नता दिनत्रयान्तरितबदरीफलप्रमाणकल्पवृक्षोत्पन्नदिव्यभोजनाः, बालभास्करसमानवर्णाः, तत्र त्रिंशत्गव्यूत्युन्नताः कल्पवृक्षाः सन्ति। अन्या वर्णना पूर्ववद्वेदितव्या।

मेरोश्चतुर्दिक्षु श्रीभद्रशालनामधेयं वनमस्ति। तस्य वनस्य पूर्वदिश्यपरदिशि च पर्यन्तयोर्द्वे वेदिके वेदितव्ये। ते द्वे[2] निषधनीलपर्वतयोर्लग्ने। पूर्वविदेहमध्ये सीतानदी समागता। तया पूर्वविदेहो द्विभागः कृतः। तत्र एक उत्तरो भागो द्वितीयो दक्षिणो भागश्च। उत्तरभागमध्ये अष्टक्षेत्राणि सञ्जातानि। कथम्? पूर्वं वेदी पश्चात् वक्षारनामा पर्वतः। वेदीपर्वतयोर्मध्ये एकं क्षेत्रं वर्तते। वक्षारपर्वतविभङ्गनदीद्वयमध्ये द्वितीयं क्षेत्रम्। विभङ्गनदीवक्षारपर्वतयोर्मध्ये तृतीयं क्षेत्रम्। वक्षारपर्वतविभङ्गनदीद्वयमध्ये चतुर्थं क्षेत्रम्। विभङ्गनदीवक्षारपर्वतयोर्मध्ये पञ्चमं क्षेत्रम्। वक्षारपर्वतविभङ्गनदीद्वयान्तराले षष्ठं क्षेत्रम्। विभङ्गनदीवक्षारपर्वतयोर्मध्ये सप्तमं क्षेत्रम्। वक्षारपर्वतवनवेदिकामध्ये अष्टमं क्षेत्रम्। तदनन्तरं देवारण्यं वनं समुद्रवेदिकापर्यन्तम्। एवं चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिर्द्वाभ्यां वेदिकाभ्याञ्च नवभिः[3] खण्डैरष्टक्षेत्राणि सञ्जातानि। तेषामष्टानां क्षेत्राणां पश्चिमतः प्रारभ्य पूर्वपर्यन्तं [4]नामान्युच्यन्ते।

"कच्छा सुकच्छा महाकच्छा चतुर्थी कच्छकावती।
आवर्त्ता लाङ्गलावर्त्ता पुष्कला पुष्कलावती॥ १॥" [हरि० ५।२४५]

तेषां क्षेत्राणां मध्येऽनुक्रमेणाष्टौ मूलपत्तनानि। तेषां नामानि–क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मञ्जूषा, ओषधी, पुण्डरीकिणी। एकैकस्य क्षेत्रस्य मध्ये नीलपर्वतान्निर्गते सीतानदीमध्ये प्रविष्टे उत्तरदक्षिणायामे गङ्गासिन्धुनामानौ (म्न्यौ) द्वे द्वे नद्यौ वर्त्तेते। एकैकस्य क्षेत्रस्य मध्ये एकैको विजयार्धपर्वतः पूर्वापरायामः। तथा एकैकस्य क्षेत्रस्य मध्ये विजयार्द्धपर्वतादुत्तरस्यां दिशि नीलपर्वताद् दक्षिणस्यां दिशि वृषभगिरिर्नाम पर्वतो वर्त्तते।

---

१ देवकुरुनाम्नोत्तमभो– आ०, द०, ब०, ज०। २ द्वे वेदिकानि– आ०, द०, ब०, ज०।
३ नवभिः रथ्ये अष्ट– ता०। ४– नि कथ्यन्ते आ०, ब०, द०, ज०।

स पर्वतो वृत्तवेदाढ्यसदृशः म्लेच्छखण्डमध्ये स्थितः। तत्र पर्वते चक्रवर्ती स्वप्रसिद्धिं लिखति। एवमष्टसु क्षेत्रेषु मध्ये अष्टवृषभगिरयो भवन्ति। एवमष्टावपि क्षेत्राणि षड्भिः षड्भिः खण्डैर्युक्तानि भवन्ति। तत्र तत्र यो यश्चक्रवर्त्ती समुत्पद्यते तस्य तस्य एकैकमार्यखण्डं पञ्च पञ्च म्लेच्छखण्डानि भोग्यानि भवन्ति। अष्टस्वपि आर्यखण्डमध्येष्वेकैक उपसमुद्रो भवति। स उपसमुद्रः सीतानदीसमीपेऽर्द्धचन्द्राकारो भवति। तस्य तस्य क्षेत्रस्य सम्बन्धिनश्चक्रवर्त्तिसाध्याः सीतानद्यन्तर्वासिनो मागधवरतनुप्रभासनामानो व्यन्तरदेवा भवन्ति।

अथेदानीं सीताया दक्षिणस्यां दिशि यान्यष्टौ क्षेत्राणि वर्त्तन्ते तन्नामपूर्वकं तत्स्वरूपं निरूप्यते। तथा हि—पूर्वदिशं प्रारभ्य पूर्वं वनवेदी पश्चाद् वक्षारपर्वतः। तृतीयस्थाने विभङ्गा नदी। चतुर्थस्थाने वक्षारपर्वतः। पञ्चमस्थाने विभङ्गा नदी। षष्ठस्थाने वक्षारपर्वतः। सप्तमस्थाने विभङ्गा नदी। अष्टमस्थाने वक्षारपर्वतः। नवमस्थाने [२]वनवेदिका चेति नवभिर्भित्तिभिर्दक्षिणोत्तराया (य) ताभिरष्ट क्षेत्राणि कृतानि। तेषां नामानि—

"वत्सा सुवत्सा महावत्सा चतुर्थी वत्सकावती।
रम्या च रम्यका चैव रमणीया मङ्गलावती॥ १॥" [हरि० ५।२४७]

[३]तेषामष्टानां क्षेत्राणां मध्येषु अष्टौ मूलपत्तनानि। तेषां नामानि पूर्वतः प्रारभ्य [४]पश्चिमदिग्(शं) यावत्सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभङ्करी, अङ्कवती, पद्मावती, शुभा, रत्नसञ्चया चेति। तेषामष्टानां क्षेत्राणां मध्येषु पूर्वापरायता अष्टौ विजयार्द्धपर्वता वर्त्तन्ते। तेषामष्टानां क्षेत्राणां मध्येषु द्वे द्वे गङ्गासिन्धुनामिके नद्यौ वर्तेते। ते च नद्यौ निषधपर्वतान्निर्गत्य विजयार्द्धान् विभिद्य सीतां नदीं प्रविष्टे। या अष्टौ नगर्यः कथितास्ता विजयार्द्धेभ्य उत्तरासु दिक्षु सीताया दक्षिणासु दिक्षु गङ्गासिन्ध्वोश्च मध्येषु वर्त्तन्ते। तथा नगरीभ्य उत्तरतः सीताया दक्षिणपार्श्वेषु अष्टौ उपसमुद्राः वर्त्तन्ते। निषधपर्वतादुत्तरासु दिक्षु विजयार्द्धेभ्यो दक्षिणासु दिक्ष्वष्टौ वृषभगिरयः सन्ति। तत्र तत्र चक्रवर्तिनो [५]निजप्रसिद्धीर्लिखन्ति। गङ्गासिन्धुनामानः षोडशनद्यस्तिस्रो विभङ्गनद्यश्च, एकोनविंशतिनद्यो निषधादुत्तीर्य विजयार्द्धान् विभिद्य सीतायां प्रविष्टाः। एवं षड्भिः षड्भिः खण्डैर्मण्डितान्यष्टौ क्षेत्राणि ज्ञातव्यानि। अष्टानां क्षेत्राणां सम्बन्धिनः सीतानिवासिनो मागधवरतनुप्रभासाश्च ज्ञातव्याः।

एवं सीतोदा नदी अपरविदेहं विभिद्य पश्चिमसमुद्रं प्राप्ता। तया द्वौ विदेहौ कृतौ— दक्षिण उत्तरश्च। तयोर्वर्णना पूर्वविदेहवद्वेदितव्या। अयन्तु विशेषः—सीतोदादक्षिणतटेषु यानि क्षेत्राणि वर्त्तन्ते तेषां नामानि पूर्वतः पश्चिमं यावत्—

"पद्मा सुपद्मा महापद्मा चतुर्थी पद्मकावती।
शङ्खा च नलिना चैव कुमुदा सरितेति च॥ १॥" [हरि० ५।२४९]

---

१ –न्तर्वर्त्तिनः ज०। २ –विवरे– ता०। ३ तेष्वष्टा– ता०। ४ पश्चिमदिक् या– द०। ५ निजनिजप्र– आ०, ब०, द०, ज०।

तेषां क्षेत्राणां मध्येषु[1] मूलनगरीणां नामानि अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयापुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका चेति। सीतोदोत्तरतटे यान्यष्टौ क्षेत्राणि वर्त्तन्ते तेषां नामानि पश्चिमतः पूर्वं यावत्—

"वप्रा सुवप्रा महावप्रा चतुर्थी वप्रकावती[2]।
गन्धा चैव सुगन्धा च गन्धिला गन्धमादिनी ॥१॥" [हरि० ५।२५१]

मूलपुरीणां नामानि—

"विजया वैजयन्ती च जयन्ती चापराजिता।
चक्रा खड्गा अयोध्या च अवध्या चेति ताः क्रमात् ॥" [हरि० ५।२६३]

अत्र भूतारण्यं वनं क्षेत्रपश्चिमसमुद्रवेदिकयोर्मध्ये ज्ञातव्यम्।

एवं महाविदेहवर्णनां कृत्वा पञ्चमो रम्यकवर्ष उच्यते। तद् रम्यकक्षेत्रं नीलपर्वतरुक्मिपर्वतयोर्मध्ये पूर्वाऽपरसमुद्रयोश्च मध्ये ज्ञातव्यम्। तत्क्षेत्रं [3]मध्यमा भोगभूमिः हरिक्षेत्रकथितस्वरूपा ज्ञातव्या। तस्य क्षेत्रस्य मध्ये गन्धवान् नाम वृत्तवेदाढ्यः पर्वतो भवति। स विकृतवेदाढ्यवद् बोद्धव्यः। अथ रुक्मिपर्वतशिखरिपर्वतयोरन्तराले पूर्वापरसमुद्रयोश्च मध्ये हैरण्यवतो नाम षष्ठो वर्षो वर्त्तते। तद्धैरण्यवतं[4] षष्ठं क्षेत्रं जघन्या भोगभूमिर्हैमवतक्षेत्रवर्णितस्वरूपा ज्ञातव्या। हैरण्यवतक्षेत्रमध्ये माल्यवान् नाम वृत्तवेदाढ्यः पर्वतो वर्तते। स हैमवतक्षेत्रमध्यस्थितशब्दवद्वेदाढ्यसदृशः। अथ शिखरिपर्वतपूर्वापरोत्तराणां त्रयाणां समुद्राणां च मध्ये ऐरावतो नाम वर्षश्चकास्ति। तस्मिन्नैरावतक्षेत्रे भरतक्षेत्रविजयार्द्धतुल्यो विजयार्द्धपर्वतोऽस्ति। तद्दक्षिणदिशि वृषभगिरिरस्ति। तस्य विजयार्द्धस्योत्तरदिशि अयोध्या नाम मूलनगर्यस्ति। एवं पञ्चमेरूणां सम्बन्धीनि पञ्चभरतानि पञ्चैरावतानि पञ्चमहाविदेहक्षेत्राणि[5] च पञ्चोत्तरकुरवः पञ्चदेवकुरवश्च त्रिंशद्भोगभूमयः जघन्यमध्यमोत्तमोत्तममध्यमजघन्यविभागैर्ज्ञातव्याः। विकलत्रयजीवाः कर्मभूमिष्वेव भवन्ति, तत्रापि समवसरणेषु न भवन्ति। पाताले [6]स्वर्गे चान्यत्र मर्त्यलोके च द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणिनो न वर्त्तन्ते।

अथेदानीं षट्कुलपर्वतानां नामान्यवस्थितिश्चोच्यते—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

तानि भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतसञ्ज्ञानि क्षेत्राणि विभजन्ति विभागं प्रापयन्ति विभागहेतुत्वं गच्छन्तीत्येवंशीलास्तद्विभाजिनः "**नाम्न्यजातौ णिनिस्ता-**

१ -ध्ये मू- आ०, ब०, द०, ज०। २ -काशनी द०, ज०। ३ मध्यमभो- आ०, ब०, द०, ज०। ४ -तं क्षे- आ०, द०, ब०, ज०। -तं षष्ठः क्षे- ता०। ५ -णि प- आ०। ६ स्वर्गेणान्यत्र मर्त्यलो- आ०, द०, ब०, ज०। स्वर्गो वान्यत्र मृत्युलो- ब०।

च्छील्ये" [कात० ३।७६] ताच्छील्यं फलनिरपेक्षम् । अनादिकाले निजनिजस्थाने स्थिताः हेतुनिरपेक्षनामानः पूर्वकोट्यपरकोटीभ्यां [1]लवणोदसमुद्रस्पर्शित्वात् पूर्वापरायता इत्युच्यन्ते । के ईदृग्विधाः ? वर्षधरपर्वताः । वर्षाणां भरतादीनां सप्तानां क्षेत्राणां विभागप्रत्ययत्वाद् वर्षधराः । वर्षधराश्च ते पर्वताश्च वर्षधरपर्वताः । किन्नामानस्ते वर्षधरपर्वताः ? हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः । हिमवांश्च महाहिमवांश्च निषधश्च नीलश्च रुक्मी च शिखरी च ते हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः । इतरेतरद्वन्द्वः । तत्र भरतस्य हैमवतस्य च क्षेत्रस्य सीम्नि क्षुद्रहिमवान् स्थितो वर्तते । स क्षुद्रहिमवान् एकशतयोजनोन्नतः पञ्चविंशतियोजनभूमिमध्यस्थितः । हैमवतक्षेत्रस्य हरिक्षेत्रस्य च सीम्नि महाहिमवानवस्थितो वर्तते । स द्विशतयोजनोन्नतः पञ्चाशद्योजनभूमिमध्यगतः । हरिक्षेत्रस्य विदेहक्षेत्रस्य च सीम्नि निषधनामा गिरिरवस्थितो वर्त्तते । स चतुःशतयोजनोन्नतः एकशतयोजनभूमिमध्यगतः । विदेहक्षेत्रस्य रम्यकक्षेत्रस्य च सीम्नि नीलपर्वतोऽवस्थितो वर्त्तते । स चतुःशतयोजनोन्नत[2] एकशतयोजनभूमिमध्यगतः । रम्यकक्षेत्रहैरण्यवतक्षेत्रयोर्मध्ये रुक्मी नाम भूधरोऽवस्थितो वर्तते । स द्विशतयोजनोन्नतः पञ्चाशद्योजनभूमिमध्यगतः । हैरण्यवतक्षेत्रैरावतक्षेत्रयोः सीम्नि शिखरी नाम शिलोच्चयो जागर्ति ।

अथेदानीं षण्णां कुलशिखरिणां वर्णविशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः[3]—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

हेम च अर्जुनं च तपनीयं च वैडूर्यं च रजतं च हेम च हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेमानि, तैर्निर्वृत्ता हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः । "[4]प्रकृतेर्विकारेऽवयवे वाऽभक्ष्याछादनयोः" [का० सू० दौ० वृ० २।६।४०] च मयडिति साधु । क्षुद्रहिमवान् हेममयः, चीनपट्टवर्णः, पीतवर्ण इत्यर्थः । महाहिमवान् अर्जुनमयः रूप्यमयः, शुक्लवर्ण इत्यर्थः । निषधस्तपनीयमयस्तरुणादित्यवर्णः, तप्तकनकवर्ण इत्यर्थः । नीलो वैडूर्यमयः, मयूरग्रीवाभः । रुक्मी रजतमयः, शुक्लवर्ण इत्यर्थः । शिखरी हेममयः, भर्मनिर्माणः, चीनपट्टवर्ण इत्यर्थः ।

अथेदानीं भूयोऽपि तद्विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमूचुः—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

मणिभिः पञ्चविधरत्नैर्महातेजस्कैर्विचित्राणि कर्बुराणि देवविद्याधरचारणर्षीणामपि चित्तचमत्कारकारीणि पार्श्वानि तटानि येषां कुलपर्वतानां ते मणिविचित्रपार्श्वाः । पुनरपि कथम्भूतास्ते कुलपर्वताः ? उपरि मस्तके मूले [5]बुध्नभागे चकारात् मध्ये च, तुल्यविस्ताराः तुल्यो विस्तारो येषां ते तुल्यविस्ताराः, अनिष्टसंस्थानरहिताः समानविस्तारा इत्यर्थः ।

---

१ लवणादस्प– आ०, ब०, द०, ज० । २ –तः शत– ता० । ३ –मिदमूचुः ब० । ४ प्रकृतेर्विकारोऽवयवो वा आ०, ब०, द०, ज० । "वाऽभक्ष्याच्छादने मयट् ।" –शाकटा० २।४।१६२ । ५ बुध्ने भागे आ०, ब०, द०, ज० ।

तेषां कुलपर्वतानामुपरितनमध्यभागे ये ह्रदा वर्तन्ते तान्प्रतिपादयन्ति भगवन्तः—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥

पद्मश्च महापद्मश्च तिगिञ्छश्च केसरी च महापुण्डरीकश्च पुण्डरीकश्च पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकाः । तेषां हिमवदादिकुलपर्वतानामुपरि मस्तके ह्रदा बहुजलपरिपूर्णसरोवराणि वरीवृत्यन्ते ।

अथेदानीं प्रथमस्य [1]ह्रदस्य संस्थानं निरूपयन्त्याचार्याः—

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

प्रथमो हिमवत्पर्वतोपरिस्थितः पद्मो नाम यो ह्रदः सरोवरं वर्त्तते । स कथम्भूतः? योजनसहस्रायामः, एकसहस्रयोजनदीर्घः । पुनरपि कथम्भूतः? तदर्धविष्कम्भः, तस्य एकयोजनसहस्रस्य अर्धं पञ्चशतयोजनानि विष्कम्भो विस्तारो यस्य स तदर्धविष्कम्भः । वज्रमयतलो नानारत्नकनकविचित्रतटः पूर्वापरेण दीर्घः दक्षिणोत्तरविस्तार इत्यर्थः ।

अथ तस्यैव हिमवत्पर्वतोपरि स्थितस्यैव पद्मस्य ह्रदस्य अवगाहसूचनार्थं सूत्रमाहुः—

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

दशयोजनान्यवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता गाम्भीर्यं यस्य स दशयोजनावगाहः ।

अथ पद्मह्रदस्य मध्ये यद्वज्रमयं कमलं वर्त्तते तत्प्रमाणपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुचुः—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

तस्य पद्मह्रदस्य मध्ये योजनमेकयोजनप्रमाणं पद्मं पुष्करं वर्त्तते । तस्य एकक्रोशायतानि दलानि पत्राणि वर्त्तन्ते । क्रोशद्वयविस्तारा कर्णिका मध्ये अस्ति । कर्णिकामध्ये क्रोशैकप्रमाणः श्रीदेव्याः प्रासादो वर्त्तते वर्तुलाकारः । तत्कमलं क्रोशद्वयं जलं परित्यज्य उपरि वर्त्तते । एवं पत्रकर्णिकासमुदायेन योजनप्रमाणं वेदितव्यम् ।

अथेदानीमन्येषां ह्रदानां पुष्कराणाञ्च आयामविस्तारावगाहादिनिरूपणार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्ति—

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

ताभ्यां पद्मह्रदपुष्कराभ्यां द्विगुणद्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणा विस्तारायामावगाहा ह्रदाः सरोवराणि भवन्ति । पुष्कराणि च पद्मानि च द्विगुणद्विगुणविस्तारायामानि ज्ञातव्यानि । [2]अत्र चशब्दः उक्तसमुच्चयार्थः । तेनायमर्थः—यथा पद्मान्महापद्मो द्विगुणो विंशतियोजनावगाहः द्विसहस्रयोजनायामः सहस्रयोजनविस्तारः, द्वियोजनं तत्र पुष्करं वर्त्तते, तथा महापुण्डरीको ह्रदस्तत्पुष्करञ्च तादृशञ्च ज्ञातव्यम् । यथा च महापद्माद् द्विगुणस्तिगिञ्छो ह्रदश्चत्वारिंशद्योजनावगाहः चतुःसहस्रयोजनायामो द्विसहस्रयोजनविस्तारश्चतुर्योजनं तत्पु-

---

१ –स्य ह्रस्वस्य ह्र– आ० । २ तत्र च– आ०, ब०, द०, ज० ।

ष्करं वर्तते, तथा केसरीनामा ह्रदः तत्पुष्करञ्च तत्सदृशं[1] ज्ञातव्यम् "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" [त० सू० ३।२६] इति वचनात्। तेन पद्मतत्पुष्करसदृशे पुण्डरीकतत्पुष्करे। महापद्मतत्पुष्करसमाने महापुण्डरीकतत्पुष्करे। तिगिञ्छतत्पुष्करसमे केसरितत्पुष्करे इत्यर्थः। तथा महापद्मपुष्करं जलाच्चतुःक्रोशोन्नतं वर्त्तते। तिगिञ्छपुष्करं जलादष्टक्रोशोन्नतं वर्त्तते। केसरिपुष्करं जलादष्टक्रोशोन्नतम्। महापुण्डरीकपुष्करं जलाच्चतुःक्रोशोन्नतम्। पुण्डरीकपुष्करं जलाद् द्विक्रोशोन्नतमिति।

अथेदानीं तेषु पुष्करेषु या देव्यो वर्तन्ते तासां सञ्ज्ञास्तज्जीवितप्रमाणञ्च तत्परिवारसूचनार्थञ्च सूत्रमिदं सूचयन्ति—

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्त्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

तेषु पुष्करेषु निवसन्तीत्येवंशीलास्तन्निवासिन्यो देव्यो भवन्ति। किन्नामानो देव्यः ? श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः। श्रीश्च ह्रीश्च धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिश्च लक्ष्मीश्च श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः। कथम्भूता देव्यः ? पल्योपमस्थितयः। [3]पल्येनोपमा यस्याः स्थितेः सा पल्योपमा। पल्योपमा एकपल्योपमा स्थितिर्जीवितकालो यासां ताः पल्योपमस्थितयः। पुनरपि कथम्भूता देव्यः ? ससामानिकपरिषत्काः। समाने स्थाने भवाः सामानिकाः पितृमहत्तरोपाध्यायसदृशाः। परिषदश्च वयस्यादितुल्याः। सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः। सामानिकपरिषद्भिः सह वर्तन्ते या देव्यस्ताः ससामानिकपरिषत्काः। षण्णां पुष्कराणां कर्णिकाणां मध्यप्रदेशेषु किल प्रासादा वर्तन्ते। ते तु प्रासादाः पूर्णनिर्मलशारदेन्दुप्रभातिरस्कारिण एकक्रोशायामाः क्रोशार्द्धविस्ताराः किञ्चिदूनैकक्रोशसमुच्छ्रिताः। ईदृशेषु प्रासादेषु श्रीप्रभृतयो देव्यो वसन्ति। पद्मह्रदपुष्करप्रासादे श्रीर्वसति। महापद्मह्रदपुष्करप्रासादे ह्रीर्वसति। तिगिञ्छह्रदपुष्करप्रासादे धृतिर्वसति। केसरिह्रदपुष्करप्रासादे कीर्तिर्वसति। महापुण्डरीकह्रदप्रासादे बुद्धिर्वसति। पुण्डरीकह्रदप्रासादे लक्ष्मीर्वसति। तेषां पुष्कराणां परिवारपुष्करप्रासादेषु सामानिकाः परिषदश्च वसन्ति। तत्र श्रीह्रीधृतयस्तिस्रो देव्यो निजनिजपरिवारसहिताः सौधर्मेन्द्रस्य सम्बद्धाः सौधर्मेन्द्रसेवापरा वर्त्तन्ते। कीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यस्तिस्रः सपरिवारा ईशानेन्द्रस्य सम्बद्धा वर्त्तन्ते। एवं पञ्चस्वपि मेरुषु ये षट्षट्कुलपर्वता वर्त्तन्ते तेषु तेषु षट्षड्देव्यो ज्ञातव्याः।

अथेदानीं याभिर्नदीभिः क्षेत्राणि विभक्तानि ता उच्यन्ते—

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

तेषां सप्तानां क्षेत्राणां मध्ये गच्छन्ति वहन्तीति तन्मध्यगाः, न तु सर्वा अपि सामीप्यसीमानः। एकैकस्मिन् क्षेत्रे द्वे द्वे नद्यौ वहत इत्यर्थः। तन्मध्यगाः काः ? सरितश्चतुर्दश-

---

१ –शञ्च ज्ञा– आ०, द०, ब०, ज०। २ –र्थं सू– आ०, ब०। ३ पल्योपमा स्थि– ता०।

महानद्यः, न तु वापिका इत्यर्थः । किन्नामानः सरितः ? गङ्गेत्यादि । गङ्गा च सिन्धुश्च रोहिच्च रोहितास्या च हरिच्च हरिकान्ता च सीता च सीतोदा च नारी च नरकान्ता च सुवर्णकूला च रूप्यकूला च रक्ता च रक्तोदा च तास्तथोक्ताः । इतरेतरद्वन्द्वः ।

अथ पृथक् पृथक् क्षेत्रे द्वे द्वे नद्यौ भवत इति सूचनार्थमेकस्मिन् क्षेत्रे सर्वा नद्यो न भवन्तीति च प्रकटनार्थं कां दिशं का नदी गच्छतीति च निरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

द्वयोर्द्वयोर्गङ्गासिन्ध्वोर्मध्ये गङ्गा पूर्वगा पूर्वसमुद्रगामिनी । रोहिद्रोहितास्ययोर्मध्ये रोहित् पूर्वगा । हरिद्धरिकान्तयोर्मध्ये हरित् पूर्वगा । सीतासीतोदयोर्मध्ये सीता पूर्वगा । नारीनरकान्तयोर्मध्ये नारी पूर्वगा । सुवर्णकूलारूप्यकूलयोर्मध्ये सुवर्णकूला पूर्वगा । रक्तारक्तोदयोर्मध्ये रक्ता पूर्वगा पूर्वसमुद्रगामिनी । एताः सप्त नद्यः पूर्वसमुद्रं गच्छन्ति । "**शेषास्त्वपरगाः**" इति वचनात् सिन्धुः पश्चिमसमुद्रगामिनी । रोहितास्या पश्चिमाब्धिं गच्छति । हरिकान्ता परोदधिं याति । सीतोदा प्रत्यक्समुद्रं व्रजति । नरकान्ताऽपरार्णवं जिहीते । रूप्यकूला पश्चिमसरस्वन्तं व्रजति । रक्तोदा पश्चिमशशध्वजं समेति ।

अथ एता यस्मान्निर्गता यत्र क्षेत्रे वहन्ति तदुच्यते—

हिमवत्पर्वते पद्महृदो यो वर्तते तस्मात् पूर्वतोरणद्वारेण निर्गत्य गङ्गा म्लेच्छखण्डं पतित्वा विजयार्द्धं भित्वा पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा । हिमवत्पर्वते यः प्रोक्तः पद्महृदस्तस्य पश्चिमतोरणद्वारेण निर्गत्य म्लेच्छखण्डे पतित्वा विजयार्द्धं भित्वा [1]सिन्धुः पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टा । एते द्वे नद्यौ भरतक्षेत्रे वहतः । हिमवत्पर्वते यः पद्महृदस्तस्योत्तरतोरणद्वारेण निर्गत्य जघन्यभोगभूमौ पतित्वा रोहितास्या पश्चिमसमुद्रं प्रविष्टा । महाहिमवत्पर्वतोपरिस्थितो योऽसौ महापद्महृदस्तस्य दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गत्य जघन्यभोगभूमौ पतित्वा रोहित् पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा । एते द्वे रोहिद्रोहितास्ये नद्यौ हैमवतक्षेत्रे वर्त्तेते । अथ महाहिमवत्पर्वतोपरि स्थितो योऽसौ महापद्महृदस्तस्योत्तरतोरणद्वारेण निर्गत्य मध्यमभोगभूमौ पतित्वा हरिकान्ता पश्चिमसमुद्रं गच्छतिस्म । निषधकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ तिगिञ्छहृदस्तस्य दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गत्य मध्यमभोगभूमौ पतित्वा हरित् पूर्वसमुद्रं गता । एते द्वे हरिद्धरिकान्ते नद्यौ हरिक्षेत्रमध्ये वर्त्तेते । निषधपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ तिगिञ्छहृदस्तस्योत्तरतोरणद्वारेण निर्गत्य उत्तमभोगभूमौ पतित्वा सीतोदा नदी अपरविदेहमध्ये गत्वा पश्चिमसमुद्रं गता । अथ नीलकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ केसरिहृदस्तस्य दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गत्य उत्तमभोगभूमौ पतित्वा पूर्वविदेहमध्ये गत्वा सीतानदी पूर्वसमुद्रं प्रविष्टा । एते द्वे सीतासीतोदे नद्यौ विदेहक्षेत्रमध्ये वर्त्तेते । नीलकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ केसरिहृदस्तस्योत्तरतोरणद्वारेण निर्गत्य मध्यमभोगभूमौ पतित्वा नरकान्ता पश्चिमसमुद्रं[2] ययौ । रुक्मिकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ महापुण्डरीकहृदस्तस्य दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गत्य मध्यमभोगभूमौ पतित्वा नारीनामा

---

१ सिन्धुनदी आ०, ब०, ज० । २ –द्रं प्रविष्टा आ०, द०, ज० ।

नदी पूर्वसमुद्रं गता । एते द्वे नारीनरकान्ते नद्यौ रम्यकक्षेत्रे वर्त्तेते । रुक्मिपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ महापुण्डरीकह्रदस्तस्योत्तरतोरणद्वारेण निर्गत्य जघन्यभोगभूमौ पतित्वा रूप्यकूलानाम निम्नगा पश्चिमसमुद्रं ढौकते स्म । शिखरिकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ पुण्डरीकनामा ह्रदस्तस्य दक्षिणतोरणद्वारेण निर्गत्य जघन्यभोगभूमौ पतित्वा सुवर्णकूलानाम्नी कूलङ्कषा पूर्वसमुद्रं प्राप्ता । एते द्वे सुवर्णकूलारूप्यकूले नद्यौ हैरण्यवतक्षेत्रमध्ये वर्त्तेते । शिखरिकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ पुण्डरीकह्रदस्तस्य पश्चिमद्वारेण निर्गत्य म्लेच्छखण्डमध्ये पतित्वा विजयार्द्धं भित्वा रक्तोदानाम[1]द्वीपवती पश्चिमसमुद्रं प्राप्नोति स्म । शिखरिकुलपर्वतोपरि स्थितो योऽसौ [2]पुण्डरीकह्रदः तस्य पूर्वद्वारेण निर्गत्य म्लेच्छखण्डमध्ये पतित्वा विजयार्द्धं भित्वा रक्तानाम्नी निम्नगा पूर्वसमुद्रं जिहीतेस्म । एते द्वे [3]रक्तारक्तोदानाम नद्यौ ऐरावतक्षेत्रमध्ये वर्त्तेते ।

अथ सीतोदा नदी यत्र देवकुरुमध्ये वहति तत्र पूर्वापरायता पञ्च ह्रदा वर्त्तन्ते । एकैकस्य ह्रदस्य समीपे पूर्वापरतटेषु पञ्च पञ्च क्षुद्रपर्वताः सन्ति । एवं पञ्चह्रदसम्बन्धिनः पञ्चाशत्क्षुद्रपर्वता सन्ति ते सिद्धकूटनामानः प्रत्येकं पञ्चाशद्योजनायताः पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः सप्तत्रिंशद्योजनोन्नताः मणितोरणद्वारवेदिकासहिताः घण्टाभृङ्गारकलशलवङ्गकुसुममालादिसंयुक्तचतुर्दिक्चतुस्तोरणद्वारसहिताः । तेषां पर्वतानामुपरितनप्रदेशे अष्टप्रातिहार्यसंयुक्ताः रत्नसुवर्णरूप्यनिर्माणाः पल्यङ्कासनस्थिताः पूर्वाभिमुखाः एकैका जिनप्रतिमा [5]वर्तन्ते । ततोऽग्रे गत्वा गव्यूतिद्वयं मेरुपर्वतमस्पृष्ट्वा सीतोदानदी अपरविदेहं[6] चलिता यावदपरविदेहं न प्राप्नोति तावदपरविदेहवेदिकायाः पूर्वदिशि सीतोदानदीसम्बन्धिनः दक्षिणोत्तरायता अपरे पञ्च ह्रदाः वर्तन्ते । तेषां दक्षिणोत्तरतटेषु पञ्च पञ्च पूर्ववत् सिद्धकूटानि सन्ति । एवं तत्रापि पञ्चाशत्सिद्धकूटानि ज्ञातव्यानि । एवं नीलपर्वताद्दक्षिणस्यां दिशि पतिता[7] या सीता नदी तस्या अपि सम्बन्धिन उत्तरकुरुमध्ये पञ्च ह्रदाः पूर्वापरायताः सन्ति । तेषामपि पूर्वापरतटेषु पञ्चाशत्सिद्धकूटानि पूर्ववत् ज्ञातव्यानि । ततः गव्यूतिद्वयं मेरुपर्वतं परिहृत्य सीतानदी पूर्वविदेहं प्रति पूर्वविदेहवेदिकायाः पश्चिमदिशि सीतानदीसम्बन्धिनः दक्षिणोत्तरायताः पञ्च ह्रदाः सन्ति । तेषामपि दक्षिणोत्त·तटेषु पञ्चाशत्सिद्धकूटानि ज्ञातव्यानि । एवमेकत्र सिद्धकूटानां द्विशती जम्बूद्वीपमेरुसम्बन्धिनी भवति । तथा पञ्चानामपि मेरूणां सम्बन्धिनां सिद्धकूटानामेकसहस्रं भवति ।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अस्य सूत्रस्य व्याख्या पूर्वमेव निरूपिता ।

---

१ –नामनदी आ०, ब०, द०, ज० । २ पद्मह्र– ता० । ३ –क्तादे नाम– ता०, ब० । ४ –कलशध्वजकुसुममालिकासंयुक्तचतुर्दिक्चतुस्तोरणद्वारेण स– आ०, ब०, द०, ज० । ५ वर्तते आ०, द०, ज०, ता० ब० । ६ –विदेहे च– आ०, द०, ज०, ब० । ७ पतित्वा या आ०, द०, ब०, ज० ।

अथेदानीं गङ्गादिनदीनां परिवारनदीपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

नदीनां सहस्राणि नदीसहस्राणि चतुर्दश च तानि नदीसहस्राणि तैः परिवृता वेष्टिताः चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः। गङ्गा च सिन्धुश्च गङ्गासिन्धू गङ्गासिन्धू आदिर्यासां रोहिद्रोहितास्यादीनां ताः गङ्गासिन्ध्वादयः। नदन्ति शब्दं कुर्वन्ति इति नद्यः। ननु [1]एतस्मात्सूत्रात् पूर्वं चतुर्थं सूत्रं यदुक्तमस्ति तस्मिन्सूत्रे 'सरितस्तन्मध्यगाः' इत्यनेनैव वाक्येन सरिच्छब्देन नद्यः प्रकृता वर्तन्ते अधिकृताः सन्ति, तेनैव सरिच्छब्देन नद्यो लब्धाः पुनः 'नद्यः' इति [2]ग्रहणं किमर्थम्? 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयः' इतीदृशं सूत्रं क्रियतां किं पुनर्नदीशब्दग्रहणेन? सत्यम्; नदीग्रहणं 'द्विगुणद्विगुणाः'[3] इति सम्बन्धार्थम्। तर्हि गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणं किमर्थम्? पूर्वोक्ता एव गङ्गासिन्ध्वादयो ज्ञास्यन्ते, तेन गङ्गासिन्ध्वादयः इति पदं व्यर्थम्, 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः नद्यः' इत्येव[4] सूत्रं क्रियताम्; सत्यम्; **"अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा"** [पात० १।२।४७] इति व्याकरणपरिभाषासूत्र बलेन अपरगानामेव नदीनां ग्रहणं भवेत्, न तु पूर्वगानाम्। तर्हि 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गादयो नद्यः' इत्येवं सूत्रं क्रियतां किं सिन्धुशब्दग्रहणेन? सत्यम्; एवं सति पूर्वगानामेव नदीनां ग्रहणं भवेत्। अतः कारणादुभयीनां नदीनां ग्रहणार्थं गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणं साधु।

अस्य सूत्रस्यायमर्थः—भरतक्षेत्रमध्ये ये गङ्गासिन्धू द्वे नद्यौ वर्तेते ते[5] प्रत्येकं द्वे अपि चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते स्तः। हैमवतनामजघन्यभोगभूमिक्षेत्रमध्ये द्वे रोहिद्रोहितास्याभिधे नद्यौ वर्तेते ते प्रत्येकं अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवृते भवतः। ये हरिक्षेत्रमध्यमभोगभूमिमध्ये हरिद्धरिकान्ताख्ये वर्तेते ते द्वे अपि प्रत्येकं षट्पञ्चाशन्नदीसहस्रपरिवृते स्याताम्। ये विदेहमध्ये सीतासीतोदाह्वये द्वे नद्यौ वर्तेते ते प्रत्येकं द्वे अपि द्वादशसहस्राधिकेन नदीलक्षेण परिवृते चकास्तः। ये रम्यकनाममध्यमभोगभूमिक्षेत्रमध्ये नारीनरकान्ताभिधाने नद्यौ वर्तेते ते प्रत्येकं द्वे अपि षट्पञ्चाशन्नदीसहस्रसंयुक्ते जाग्रतः। ये हैरण्यवतनामजघन्यभोगभूमिक्षेत्रमध्ये सुवर्णकूलारूप्यकूलासञ्ज्ञके वर्तेते, ते प्रत्येकं द्वे अपि अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवृते स्याताम्। ये ऐरावतक्षेत्रमध्ये रक्तारक्तोदानामिके द्वे नद्यौ वर्त्तेते ते प्रत्येकं द्वे अपि चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृते भवतः इति तात्पर्यम्। भोगभूमिवर्त्तिन्यो नद्यस्त्रसजीवरहिताः सन्ति। जम्बूद्वीपसम्बन्धिन्यो मूलनद्योऽष्टसप्ततिर्भवन्ति। तासां परिवारनदीनां द्वादशसहस्राधिकानि पञ्चदशलक्षाणि ज्ञातव्यानि। जम्बूद्वीपविभङ्गनद्यो द्वादश वर्त्तन्ते। तासां परिवारनद्यः परमागमाद् बोद्धव्याः। एवं पञ्चमेरुसम्बन्धिनीनां मूलनदीनां नवत्यधिकत्रिशतप्रमाणानां परिवारनदीनां षष्टिसहस्राधिकानि पञ्चसप्ततिलक्षाणि ज्ञातव्यानि। षष्टिविभङ्गनद्यश्च ज्ञातव्याः।

---

१ –तस्मात्पू– आ०, द०, ब०, ज०। २ नदीग्रहणं आ०, द०, ब०, ज०। ३ द्विगुणा इति आ०, द०, ब०, ज०। ४ –वं सू– आ० द० ब० ज०। ५ ते द्वे अपि प्रत्येकं च– द०। ६ –मिम– ब०, द०। ७ –स्राण्यधि– आ०, ज०।

अथेदानीं भरतक्षेत्रस्य प्रमाणनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

भरतः [1]षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशति-भागा योजनस्य ॥ २४ ॥

षड्भिरधिका विंशतिः षड्विंशतिः । षड्विंशतिरधिका येषु पञ्चयोजनशतेषु तानि षड्विंशानि, योजनानां शतानि योजनशतानि, पञ्च च तानि योजनशतानि पञ्चयोजनशतानि, षड्विंशानि च तानि पञ्चयोजनशतानि षड्विंशपञ्चयोजनशतानि । "**संख्यया अजहोरन्त्यस्वरादिलोपश्च** ।" [ ] इत्यनेन अत्प्रत्ययः "**तेविंशतेरपि**" [का० सू० २।६।४३] इति अपिशब्दस्य बहुलार्थत्वात् तिं लुप्त्वा पश्चादन्त्यस्वरादिलोपे कृते सति षड्विंश इति निष्पद्यते । षड्विंशपञ्चयोजनशतानि विस्तारो यस्य भरतस्य स षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः । न केवलं षड्विंशत्यधिकपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतवर्षो वर्तते, किन्तु एकोनविंशतिभागाः । एकोनविंशतिभागाः योजनस्य क्रियन्ते, तन्मध्ये षट् च भागाः गृह्यन्ते । तावत्प्रमाणविस्तारं[2] भरतक्षेत्रं वर्तते इत्यर्थः ।

यदि षड्विंशत्यधिकपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्कलाविस्तारस्य(श्च) भरतो वर्तते, तर्हि 'हिमवदादयः पर्वताः हैमवतादयो वर्षाश्च कियद्विस्तारा वर्तन्ते' इति प्रश्नसद्भावे सूत्रमिदमाहुः—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा: वर्षधरवर्षा विदेहान्ता ॥ २५ ॥

तस्माद् [3]भरतविस्ताराद् द्विगुणद्विगुणविस्ताराः तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः । के ते ? वर्षधरवर्षाः । वर्षधराः हिमवदादयः कुलपर्वताः वर्षाः हैमवतादीनि क्षेत्राणि, वर्षधराश्च वर्षाश्च वर्षधरवर्षाः । कथम्भूताः वर्षधरवर्षाः ? विदेहान्ताः विदेहोऽन्ते येषां ते विदेहान्ताः विदेहपर्यन्तं द्विगुणा द्विगुणा गण्यन्ते, न तु परतः । विदेहात् परतः अर्द्धार्द्धविस्तारा इत्यर्थः । तेनायमर्थः—भरतविस्ताराद् द्विगुणविस्तारो हिमवान् हिमवद्विस्ताराद् द्विगुणविस्तारो हैमवतवर्षः । हैमवतवर्षविस्ताराद् द्विगुणविस्तारो महाहिमवान् वर्षधरः । महाहिमवत्पर्वतविस्ताराद् द्विगुणविस्तारो हरिवर्षः । हरिवर्षविस्ताराद् द्विगुणविस्तारो निषधपर्वतः । निषधपर्वताद् द्विगुणविस्तारो विदेहः । विदेहविस्तारादर्द्धविस्तारो नीलपर्वतः । नीलपर्वतादर्द्धविस्तारो रम्यकवर्षः । रम्यकवर्षविस्तारादर्द्धविस्तारो रुक्मिपर्वतः । रुक्मिपर्वतविस्तारादर्द्धविस्तारो हैरण्यवतवर्षः । हैरण्यवतवर्षविस्तारादर्द्धविस्तारः शिखरिपर्वतः । शिखरिपर्वतविस्तारादर्द्धविस्तार ऐरावतवर्षः । भरतक्षेत्रादारभ्य ऐरावतक्षेत्रपर्यन्तम् एकयोजनलक्षं जम्बूद्वीपप्रमाणं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

उत्तरा ऐरावतादयो वर्षवर्षधरा नीलपर्वतान्ता दक्षिणतुल्या दक्षिणैर्भरतादिभिर्वर्ष-

---

१ षड्विंशतिप– आ०, द०, ज०, ब०, व० । २ –विस्तारो भरतक्षेत्रस्य व– आ०, द०, ज० । ३ भरतात् आ०, ब०, ज० ।

धरैः तुल्याः सदृशा भवन्ति। अस्यायमर्थः—भरतक्षेत्रस्य यावान् विस्तारः तावान् ऐरावतक्षेत्रविस्तारः। हिमवत्पर्वतस्य यावान् विस्तारस्तावान् शिखरिपर्वतविस्तारः। हैमवतक्षेत्रस्य यावान् विस्तारः तावान् हैरण्यवतक्षेत्रविस्तारः। महाहिमवत्पर्वतस्य यावान् विस्तारः तावान् रुक्मिपर्वतविस्तारः। हरिक्षेत्रस्य यावान्विस्तारस्तावान् रम्यकक्षेत्रविस्तारः। निषधपर्वतस्य यावान्विस्तारस्तावान् नीलपर्वतविस्तारः। एवम् ऐरावतादिस्थितं ह्रदपुष्करादिकं भरतादिसदृशं ज्ञातव्यम्। भरतयोजन ५२६ कला ६। हिमवत्पर्वतयोजन १०५२ कला १२। हैमवतक्षेत्रयोजन २१०४ कला २४। महाहिमवत्पर्वतयोजन ४२०८ कला ४८। हरिक्षेत्रयोजन ८४१६ कला ९६। निषधपर्वतयोजन १६८३२ कला १९२। विदेहयोजन ३३६६४ कला ३८४। नीलयोजन १६८३२ कला १९२। रम्यकक्षेत्रयोजन ८४१६ कला ९६। रुक्मिपर्वतयोजन ४२०८ कला ४८। हैरण्यवतक्षेत्रयोजन २१०४ कला २४। शिखरिपर्वतयोजन १०५२ कला १२। ऐरावतक्षेत्रयोजन ५२६ कला ६। एवमेकत्र योजनैकलक्षम्।

अथेदानीं भरतादिक्षेत्रमनुष्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमाहुः—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिणीभ्याम् ॥२७॥

भरतश्च ऐरावतश्च भरतैरावतौ तयोः भरतैरावतयोः। सम्बन्धे षष्ठी। तत्रायमर्थः—भरतस्य ऐरावतस्य च सम्बन्धिनां मनुष्याणां भोगोपभोगसम्पदायुःपरिमाणाङ्गोन्नतिप्रभृतिभिः वृद्धिह्रासौ भवतः। वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ, [1]उत्सर्पणावसर्पणे भोगादीनां भवतः न तु भरतक्षेत्रस्य वृद्धिह्रासौ भवतः, क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासयोरसंगच्छमानत्वात्, तेन तत्रस्थितमनुष्याणां भोगोपभोगादिषु वृद्धिह्रानी स्याताम्। 'भरतैरावतयोः' इत्यत्र यत्प्रोक्तं षष्ठीद्विवचनं तत्केचिदाचार्याः [2]नोररीकुर्वते। किं तर्हि उररीकुर्वन्ति? [3]सप्तमीद्विवचनमुररीकुर्वन्ति। तेनायमर्थः—भरते ऐरावते च क्षेत्रे मानवानामित्यध्याहारात् वृद्धिह्रासौ भवतः, अनुभवायुःप्रमाणानां वृद्धिह्रानी स्यातामित्यर्थः। कोऽसौ अनुभवः किं वा आयुः किं वा प्रमाणमिति चेत्? उच्यते—अनुभवः सुखदुःखयोरुपयोगः, आयुः जीवित[4]कालप्रमाणम्, प्रमाणं तु कायोत्सेधः, इत्येतेषां त्रयाणामपि वृद्धिह्रासौ पञ्चजनानां भवतः। काभ्यां हेतुभ्यां नृणां भोगोपभोगादीनां वृद्धिह्रासौ भवतः इत्युक्ते उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां द्वाभ्यां कालाभ्यां वृद्धिह्रासौ भवतः। उत्सर्पयति वृद्धिं नयति भोगादीन् इत्येवंशीला उत्सर्पिणी, अवसर्पयति हानिं नयति भोगादीन् इत्येवंशीला अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी च अवसर्पिणी च उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ ताभ्याम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्। कथम्भूताभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्? षट्समयाभ्यां षट् षट् समयाः कालविशेषाः विद्यन्ते ययोस्ते षट्समये ताभ्यां षट्समयाभ्याम्। तत्र तावत् अवसर्पिणीका-

---

१ उत्सर्पिण्या अवसर्पिण्या भो– आ०, द०, ज०। उत्सर्पेणावसर्पेणभो– ब०। २ नोररीकुर्वन्ति स– आ०, ब०, द०, ज०। ३ "अथवा अधिकरणनिर्देशः, भरते ऐरावते च मनुष्याणां वृद्धिह्रासाविति।" –स० सि०, राजवा० ३।२७। ४ –कालपरिमा– आ०, ब०, द०, ज०।

लस्य सम्बन्धिनः षट्समया उच्यन्ते सुषमसुषमा प्रथमकालः। सुषमा द्वितीयकालः। सुषमदुःषमा तृतीयकालः। दुःषमसुषमा चतुर्थकालः। दुःषमा पञ्चमकालः। अतिदुःषमा षष्ठकालः। अथ उत्सर्पिण्याः सम्बन्धिनः षट्समया निर्दिश्यन्ते—अतिदुःषमा प्रथमकालः। दुःषमा द्वितीयकालः। दुःषमसुषमा तृतीयकालः। सुषमदुःषमा चतुर्थकालः। सुषमा पञ्चमकालः। सुषमसुषमा षष्ठकालः। अथ किमर्थं सूत्रे उत्सर्पिण्याः पूर्वं ग्रहणम्, इदानीमवसर्पिण्या वर्तमानत्वात्; सत्यम्; **"अल्पस्वरतरं तत्र पूर्वम्"** [कात० २।५।११२] इति वचनात् यदल्पस्वरं पदं भवति तत्पूर्वं निपततीति कारणात्। तत्रावसर्प्पिणीकालस्य यः प्रथमः कालः सुषमसुषमानामकः स चतुःसागरकोटीकोटिप्रमाणः। यस्तु सुषमानामको द्वितीयः कालः स त्रिसागरकोटीकोटिप्रमितः। यः सुषमदुःषमा नामकस्तृतीयः कालः स द्विसागरकोटीकोटिसम्मितः। यो दुःषमसुषमानामकश्चतुर्थः कालः स एकसागरोपम[3]कोटीकोटिप्रमाणः परं द्वाचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोनः। यस्तु दुःषमानामकः पञ्चमः कालः स एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः। यस्तु अतिदुःषमानामकः षष्ठः कालः सोऽप्येकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः। अथ योऽसौ उत्सर्पिणीकालसम्बन्धी अतिदुःषमानामकः प्रथमः कालः स एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः। यस्तु दुःषमानामको द्वितीयः कालः सोऽप्येकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः। यस्तु दुःषमसुषमानामकस्तृतीयः कालः स एकसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः परं द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्रहीनः। यस्तु सुषमदुःषमानामकश्चतुर्थः कालः स द्विसागरोपमकोटीकोटिप्रमितः। यस्तु सुषमानामकः पञ्चमः कालः स त्रिसागरोपमकोटीकोटिसम्मितः। यस्तु सुषमसुषमानामकः षष्ठः कालः स चतुःसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः। अवसर्पिण्या सम्बन्धिनि प्रथमकाले आदौ पूर्वोक्तोत्तमभोगभूमिचिह्नानि ज्ञातव्यानि। द्वितीयकाले आदौ पूर्वोक्तमध्यमभोगभूमिचिह्नानि वेदितव्यानि। तृतीयकाले आदौ पूर्वोक्तजघन्यभोगभूमिलक्षणानि लक्षितव्यानि। हानिरपि क्रमेण ज्ञातव्या।

तृतीयकाले पल्यस्याऽष्टमे भागे स्थिते सति षोडश कुलकरा उत्पद्यन्ते। तत्र षोडशकुलकरेषु मध्ये पञ्चदशकुलकराणामष्टम एव भागे विपत्तिर्भवति। षोडशस्तु कुलकरः उत्पद्यते अष्टम एव भागे विनाशस्तु तस्य चतुर्थकाले भवति। तत्र प्रथमकुलकर एकपल्यस्य दशमभागायुः ज्योतिरङ्गकल्पवृक्षमन्दज्योतिस्त्वेन चन्द्रसूर्यदर्शनोत्पन्नं भयं युगलानां निवारयति। द्वितीयः कुलकरः पल्यशतभागैक [भाग] जीवितो ज्योतिरङ्गकल्पवृक्षातिमन्दज्योतिस्त्वेन तारकादिदर्शनोत्पन्नयुगलभयनिवारकः। तृतीयः कुलकरः पल्यसहस्रभागैकभागजीवितो विकृतिगतसिंहव्याघ्रादिक्रूरमृगपरिहारकारकः। चतुर्थः कुलकरः पल्यदशसहस्रभागैकभागजीवितः अतिविकृतिगतसिंहव्याघ्रादिक्रूरमृगरक्षानिमित्तलकुटादिस्वीकारकारकः। पञ्चमकुलकरः पल्यलक्षभागैकभागजीवितो विरलकल्पवृक्षत्वे अल्पफलत्वे च वाचा कल्पवृक्ष-

---

१ —ण्या तत्र व— ज०। २ यः सुषमानाम— ता०। ३ —मकोटाको— ज०। ४ —मका— आ०, द०, ज०, ब०। ५ —निशात— आ०, ब०, द०, ज०। ६ —त्पन्नभ— आ०, ब०, द०, ज०। ७ —कजी— आ०, द०, ब०, ज०। ८ —स्वीकारकः आ०, ब०, द०, ब०।

सीमाकारकः। षष्ठकुलकरः पल्यदशलक्षभागैकभागजीवितः अतिविरलकल्पवृक्षत्वे अत्यल्पफलत्वे च गुल्मादिचिह्नैः कल्पवृक्षसीमाकारकः। सप्तमकुलकरः पल्यकोटिभागैकभागजीवितः शौर्याद्युपकरणोपदेशगजाद्यारोहणकारकः। अष्टमकुलकरः पल्यदशकोटिभागैकभागजीवितः अपत्यमुखदर्शनमात्रोत्पन्नभयविनाशकः। नवमकुलकरः पल्यशतकोटिभागैकभागजीवितः अपत्याशीर्वाददायकः। दशमकुलकरः पल्यसहस्रकोटिभागैकभागजीवितः अपत्यानां रोदने सति चन्द्रादिदर्शनक्रीडनोपायदर्शकः। एकादशकुलकरः पल्यसहस्रकोटिभागैकभागजीवितः, तस्य काले युगलानि अपत्यैः सह कतिचिद्दिनानि जीवन्ति। द्वादशकुलकरः पल्यलक्षकोटिभा[3]गैकभागजीवितः, तस्य काले युगलानि अपत्यैः सह बहुकालं जीवन्ति, स युगलानां जलतरणोपायप्रवहणादिरचनाकारकः, तथा पर्वताद्यारोहणाऽवरोहणोपायसोपानादिकारकः। तस्य काले अत्यल्पमेघा अत्यल्पवृष्टिं कुर्वन्ति। तेनैव कारणेन कुनद्यः कुपर्वताश्चोत्पद्यन्ते। त्रयोदशकुलकरः पल्यदशलक्षकोटिभागैकभागजीवितः, स कुलकरः अदृष्टपूर्वजरायुःप्रभृतिमलं निराकारयति। चतुर्दशकुलकरः पूर्वकोटिवर्षजीवितः, सोऽपत्यानामदृष्टपूर्वं नाभिनालं भीतिजनकं कर्त्तयति। तस्य काले प्रचुरमेघाः प्रचुरवृष्टिं कुर्वन्ति, अकृष्टपच्यानि सस्यादीनि चोत्पद्यन्ते। तद्भक्षणोपायमजानानां युगलानां तद्भक्षणोपायं दर्शयति। अभक्ष्याणामौषधीनामभक्ष्यवृक्षाणाञ्च परिहारञ्च कारयति। कल्पवृक्षविनाशे क्षुधितानां युगलानां सस्यादिभक्षणोपायं दर्शयति। पञ्चदशकुलकरस्तीर्थङ्करः। तत्पुत्रः षोडशकुलकरश्चक्रवर्ती भवति। तौ द्वावपि चतुरशीतिलक्षपूर्वजीवितौ। तच्चरित्रं महापुराणप्रसिद्धं ज्ञातव्यम्।

दुःषमसुषमानामकः चतुर्थः कालः स एकसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोनः, तस्यादौ मानवा विदेहमानवसदृशाः पञ्चशतधनुरुन्नताः। तत्र त्रयोविंशतिस्तीर्थङ्करा उत्पद्यन्ते [5]निर्वान्ति च। एकादश चक्रवर्तिनः नव बलभद्राः नव वासुदेवाः नव प्रतिवासुदेवा उत्पद्यन्ते, एकादश रुद्राश्च। तदुक्तम्—

"दोरिसहअजियकाले सत्तंता पुप्फयंतआईहिं।
उप्पण्णा अट्ठहरा एक्को चिय वीरकालम्मि॥" [ ]

नव नारदाश्चोत्पद्यन्ते। तदुक्तम्—

"कलहपिया कयाचिय धम्मरया वासुएवसमकालाः।

---

१ –कारः आ०, ज०। २ –दशमकु– आ०। ३ –भागजी– आ०, ज०। –भागैकजी– द०। ४ –डशः कु– ता०, ब०। ५ निर्वाणं यान्ति आ०, ब०, द०, ज०, ब०। ६ –द्राः त– ता०। ७ –हरणा ए– आ०। ८ तुलना—"उसहदुकाले पढमदु सत्तण्णेसत्तसुविहिपहुदीसु। पीढो संतिजिणिंदे वीरे सच्चइसुद्दो जादो॥" –तिलोयसा० गा० ८३७। द्वौ ऋषभाजितकाले समान्ताः पुष्पदन्तादिभिः। उत्पन्नाः अष्टधरा एकश्च वीरकाले। ९ कलहप्रियाः कदाचिद्धर्मरता वासुदेवसमकालाः। भव्या अपि च नरकगतिं हिंसादोषेण गच्छन्ति॥

भव्वा वि य णिरयगइं हिंसादोसेण गच्छंति ॥"

[तिलोयसा० गा० ८३५]

तस्य चतुर्थकालस्यान्ते विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्याः सप्तहस्तोन्नताश्च ।

दुःषमानामकः पञ्चमः[1] काल एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः, तदादौ विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्याः सप्तहस्तोन्नताः तदन्ते विंशतिवर्षायुषो मनुष्याः सार्द्धत्रयहस्तोन्नताश्च । ततोऽतिदुःषमानामकः षष्ठः कालः स एकविंशतिवर्षसहस्राणि प्रवर्त्तते । तदादौ विंशतिवर्षायुषो मनुष्याः, तदन्ते षोडशवर्षायुषो मनुष्या एकहस्तोन्नताश्च । तस्यान्ते प्रलयकालो भवति । तदुक्तम्—

"सरसं विरसं तीक्ष्णं रूक्षमुष्णविषं विषम् ।
क्षारमेघाः क्षरिष्यन्ति सप्तसप्तदिनान्यलम् ॥" [ ]

सर्वस्मिन्नार्यखण्डे प्रलयं गते सति द्वासप्ततिकुलमनुष्ययुगलानि उद्ध्रियन्ते । चित्राभूमिः समा प्रादुर्भवति । अत्रावसर्पिणी समाप्ता दशकोटीकोटिसागरोपमप्रमाणा । तदनन्तरं दशकोटीकोटिसागरोपमप्रमाण उत्सर्पिणीकालः प्रवर्त्तते । तस्यादौ अतिदुःषमासंज्ञकः प्रथमः कालः प्रवर्तते । तस्यादौ एकोनपञ्चाशद्दिनपर्यन्तं क्षीरमेघा अहर्निशं वर्षन्ति । तदनन्तरं तावद्दिनपर्यन्तममृतमेघा वर्षन्ति । पृथिवी रूक्षतां मुञ्चति । तन्मेघमाहात्म्येन [3]वर्णादिगुणो भवति, औषधितरुगुल्मतृणादीनि सरसानि भवन्ति, पूर्वोक्तानि युगलानि बिलादिभ्यो निर्गत्य औषध्यादिसस्यादीनि सरसान्युपजीव्य सहर्षाणि जीवन्ति । स कालः एकविंशतिवर्षसहस्राणि प्रवर्तते । तदादौ षोडशवर्षायुषो मनुष्या एकहस्तोत्सेधाश्च । तस्य कालस्यान्ते विंशतिवर्षायुषो मनुष्याः सार्द्धहस्तत्रयोन्नताश्च । तदनन्तरं दुःषमानामको द्वितीयः कालः । स एकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणः । तदादौ विंशतिवर्षायुषो मनुष्याः सार्द्धहस्तत्रयोत्सेधाः । तस्य द्वितीयकालस्यान्ते वर्षसहस्रावशेषे स्थिते सति चतुर्दशकुलकरा उत्पद्यन्ते । ते अवसर्पिणीपञ्चमकालनृपसदृशाः । तद्वर्षसहस्रमध्ये त्रयोदशानां नृपाणां विनाशो भवति । [5]चतुर्दशस्तु कुलकर[6] उत्पद्यते तद्वर्षसहस्रमध्ये, विपद्यते तु तृतीयकालमध्ये । तस्य चतुर्दशस्य कुलकरस्य पुत्रस्तीर्थङ्करो भवति । तस्य तीर्थङ्करस्य पुत्रश्चक्रवर्त्ती भवति । तद्द्वयस्याप्युत्पत्तिर्दुःषमसुषमानाम्नि तृतीयकाले भवति, विनाशस्तु त्रयाणामपि भवति । तस्यादौ विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति, सप्तहस्तोत्सेधाः भवन्ति । स काल एककोटीकोटिसागरोपमप्रमाणः प्रवर्त्तते, [7]परं द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोनः । तन्मध्ये शलाकापुरुषा उत्पद्यन्ते । तस्य कालस्यान्ते कोटिपूर्ववर्षायुषो मनुष्याः सपादपञ्चशतधनुरुत्सेधाः । तदनन्तरं सुषम-

---

१ –मका– आ०, ब०, द०, ज० । २ –नामा प– आ०, ब०, द०, ज० । ३ वर्षादि– आ०, द०, ज० । ४ –धास्त– ता० । ५ चतुर्दशकु– आ०, ब०, द०, ज० । ६ –करा उत्पद्यन्ते आ०, द० । –कर उत्पद्यन्ते ज०, ब० । ७ वाक्यमेतन्नास्ति आ०, ब०, ज०, व० ता० ।

दुःषमानामकश्चतुर्थः कालः। स द्विकोटीकोटिसागरोपमप्रमाणः जघन्यभोगभूमिस्वभावः। तथा सुषमानामकः पञ्चमः कालः त्रिसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः। तत्र मध्यमभोगभूमिस्वभावः। तथा सुषमसुषमानामकः षष्ठः कालः चतुःसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः। तत्रोत्तमभोगभूमिस्वभावः। एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठकालेषु ईतिरेकापि [1]न भवति। अहोरात्रिविभागोऽपि नास्ति। ज्योतिरङ्गकल्पवृक्षोद्योतेन[2] सदैव दिवसः। मेघवृष्टिर्नास्ति। शीतबाधापि न वर्तते। आतपकष्टं कदाचिदपि [3]न वर्तते। क्रूरमृगबाधा नास्त्येव। अत्र दशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाण उत्सर्पिणीकालः समाप्तः। तदनन्तरमवसर्पिणीकालः प्रवर्त्तते। स पूर्वोक्तलक्षणो ज्ञातव्यः। एवमष्टादशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणः कालः भोगभूमिमयो[4] ज्ञातव्यः। उत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामकाभ्यां द्वाभ्यां कालाभ्यां कल्पः कथ्यते। भोगभूमिजा मनुष्याः स्वभावेन मधुरभाषिणो भवन्ति। [5]सर्वकलाकुशलाः सर्वेऽपि समभोगा अरजोऽम्बरा निःस्वेदा ईर्ष्यामात्सर्यादिरहिता बलित्वाबलित्वमुक्ता अनाचारकार्पण्यकोपाद्यरुचिग्लानिभयविषादकामज्वरोन्मादविरहलालाशरीरमलनिद्रात्यु (क्षु) न्मेषनिमेषदैन्यचिन्ताऽनिष्टयोगेष्टवियोगातङ्कजरारहिताः। [6]छुन्मात्रेण स्त्रियो म्रियन्ते। जृम्भितमात्रेण पुरुषाः पञ्चत्वमा[7]प्नुवन्ति। तत्र नपुंसकः कोऽपि नास्ति। मृगाः सर्वेऽपि विशिष्टतृणचारिणः समानायुषश्च भवन्तीति विशेषः।

अथ भरतैरावतमनुष्यस्वरूपनिरूपणानन्तरं हैमवतहरिवर्षदेवकुरुक्षेत्रत्रयस्वभावोद्भावनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

ताभ्यां भरतैरावताभ्यां क्षेत्राभ्याम् अपरा अन्या भूमयः हैमवतक्षेत्रहरिक्षेत्रदेवकुरुनामिकास्तिस्रो भूमयोऽवस्थिताः सर्वदैव एकः कश्चित्कालस्तासु वर्तते। हैमवतक्षेत्रे सदैव तृतीयः कालोऽस्ति, हरिक्षेत्रे द्वितीयः, देवकुरुषु प्रथमः[8] कालः। अवसर्पिण्याः कालेन सदृश इत्यर्थः। परं त्वत्र[9] उत्सर्पिण्यसर्पिण्यौ कालौ न वर्तेते।

'तर्हि त्रिष्वपि क्षेत्रेषु मनुष्या आयुषा सदृशाः सन्ति, अथवा अस्ति कश्चिद्विशेषः' इत्युक्ते त्रयाणामपि क्षेत्राणां मनुष्याणामायुर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमाचष्टे—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

एकश्च द्वौ च त्रयश्च एकद्वित्रयः ते च ते पल्योपमा एकद्वित्रिपल्योपमाः कालविशेषाः, ते स्थितयः आयूंषि येषां ते एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः। ईदृशाः के? हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः। हैमवतक्षेत्रे भवा हैमवतकाः। हरिवर्षक्षेत्रे भवा हारिवर्षकाः। देवकुरुक्षेत्रे

---

१ नास्ति आ०, द०, ज०। २ –वृक्षघातेन ता०। ३ नास्ति आ०, द०, ज०, ब०। ४ –भूमयो ज्ञा– आ०। –भूमिजो ज्ञा– ज०। ५ –कलासु कु– ता०, ब०। ६ छिक्कामात्रेण। ७ –त्वं प्राप्नु– आ०, ज०। ८ प्रथमका– आ०, ज०, ब०। ९ तत्र ता०, आ०, द०, ज०।

भवा देवकुरवकाः। हैमवतकाश्च [1]हारिवर्षकाश्च देवकुरवकाश्च हैमवतकहारिवर्षकदेवकुरवकाः। अस्यामर्थः—पञ्चमेरुसम्बन्धिनां पञ्चानां हैमवतक्षेत्राणां सम्बन्धिनां मनुष्याणां सदा सुषमदुःषमाकालानुभवनम्, आयुःस्थितिरेकपल्योपमा द्विधनुःसहस्रोन्नतिः, एकान्तरेण भुक्तिश्च इन्दीवरवर्णवर्णश्च। पञ्चानां हरिवर्षक्षेत्राणां सम्बन्धिनां मनुष्याणां सदा सुषमाकालानुभवनम्, आयुःस्थितिः द्विपल्योपमा, चतुश्चापसहस्रोन्नतिश्च द्विदिनान्तरेण भुक्तिश्च, कुन्दावदातानि शरीराणि। पञ्चानां देवकुरूणां सम्बन्धिनां मनुष्याणां सदा सुषमसुषमाकालानु[2]भवनम्, आयुःस्थितिः त्रिपल्योपमा, षट्धनुःसहस्रोन्नतिश्च, त्रिदिनान्तरेण भुक्तिः, काञ्चनवर्णानि शरीराणि।

तर्हि हैरण्यवतरम्यकोत्तरकुरूणां मनुष्याः कीदृशाः सन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमाचष्टे—

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

तथा तेनैव हैमवतादिक्षेत्रत्रयमनुष्यप्रकारेण उत्तराः हैरण्यवतरम्यकोत्तरकुरूणां मनुष्या ज्ञातव्याः। अस्यायमर्थः—हैमवतक्षेत्रमनुष्यसदृशा हैरण्यवतक्षेत्रमनुष्याः। हरिवर्षक्षेत्रमनुष्यसदृशा रम्यकक्षेत्रमनुष्याः। देवकुरुक्षेत्रमनुष्यसदृशा उत्तरकुरुक्षेत्रमनुष्याः।

तर्हि पूर्वविदेहाऽपरविदेहमनुष्याणां स्थितिः कीदृशी वर्तते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाचष्टे—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

विगतो विनष्टो देहः शरीरं मुनीनां येषु ते विदेहाः प्रायेण मुक्तिपदप्राप्तिहेतुत्वात्, तेषु विदेहेषु पञ्चानां मेरूणां सम्बन्धिनः पञ्चपूर्वविदेहाः पञ्चापरविदेहाः उभये मिलित्वा पञ्चमहाविदेहाः कथ्यन्ते। तेषु मनुष्याः संख्येयकालाः, संख्यायते गणयितुं शक्यते, संख्येयः, उत्कर्षेण पूर्वकोटिलक्षणः जघन्येनान्तमुहूर्तलक्षणः संख्येयः कालो जीवितं येषां ते संख्येयकालाः। अस्यायमर्थः—सर्वेषु पञ्चसु महाविदेहेषु सदा सुषमदुःषमाकालान्तकालसदृशो दुःषमसुषमानामकः सदा निश्चलः कालो वर्तते। तत्र पञ्चजनाः पञ्चचापशतोन्नता भवन्ति, नित्यभोजनाश्च वर्तन्ते। किं तत् पूर्वं येन गणितं तेषामायुः[3] ? तथा चोक्तम्—

"[4]पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोधव्वा वासकोडीणं॥"

[जम्बू० प० १३।१२]

अस्यायमर्थः—सप्ततिलक्षकोटिवर्षाणि षट्पञ्चाशत्सहस्रकोटिवर्षाणि यदा भवन्ति तदा एकं पूर्वमुच्यते। तस्य पूर्वस्य अङ्कक्रमो यथा—दशशून्यानि तदुपरि षट्पञ्चाशत् तदुपरि सप्ततिः—७०५६०००००००००००। ईदृग्विधानि पूर्वाणि शतलक्षाणि तेषां मनुष्याणामायुर्भवति।

अथेदानीं पुनरपि भरतक्षेत्रस्य प्रमाणं प्रकारान्तरेण निरूपयन्त्याचार्याः—

---

१ हारिवर्षाश्च आ०, ज०। २ –भावनामा– ता०, व०। ३ –युः पु– ता०। ४ पूर्वस्य तु परिमाणं सप्ततिः खलुकोटिशतसहस्राणि। षट्पञ्चाशत् च सहस्राणि बोद्धव्यानि वर्षकोटीनाम्॥

विभक्तः। तत्रापि पूर्वमेरुरपरमेरुश्च द्वौ मेरू वर्त्तेते। तेन धातकीखण्डद्वीपवदत्रापि द्वौ पूर्वापरौ भरतौ, क्षुद्रहिमवन्तौ द्वौ, द्वे च हैमवतक्षेत्रे, द्वौ महाहिमवन्तौ वर्षधरौ, द्वे हरिक्षेत्रे, द्वौ निषधौ पर्वतौ, द्वौ महाविदेहौ, द्वौ नीलौ, द्वे रम्यकक्षेत्रे, द्वौ रुक्मिणौ पर्वतौ, द्वे हैरण्यवतक्षेत्रे, द्वौ शिखरिणौ पर्वतौ, द्वे ऐरावतक्षेत्रे, भरतैरावतापेक्षया चत्वारो विजयार्धाश्च, विदेहापेक्षया अष्टषष्टिर्विजयार्द्धाः। एवं धातकीद्वीपविजयार्द्धाश्च वेदितव्याः। अयं तु विशेषः—यथा धातकीखण्डद्वीपे हिमवदादीनां वर्षधराणां विस्तारो जम्बूद्वीपहिमवदादिभ्यो द्विगुणः प्रोक्तः तथा पुष्करार्धहिमवदादीनां पर्वतानां धातकीखण्डहिमवदादिभ्यो वर्षधरेभ्यो द्विगुणो विस्तारो वेदितव्यः।

अथ पुष्करार्धसंज्ञा इति कथम्? [2]अत्रोच्यते—मानुषोत्तरपर्वतेन वलयाकारेण विभक्तार्द्धत्वात् पुष्करार्ध इति संज्ञा।

'अथ पुष्करार्धद्वीपे [3]अर्धः पुष्करार्धः [4]किमिति वर्णितः कस्माच्चा[5]र्द्धः पुष्करार्द्धस्त्यक्तः' इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

मानुषोत्तरात्पर्वतात् पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागवर्तिनः सकाशात् वलयाकारात् प्राक् [6]अर्वाक् मनुष्याः मानवा वर्त्तन्ते, तेन कारणेन अर्ध एव वर्णितः। मानुषोत्तराद्बहिरर्धे मानवा न सन्ति। बहिर्भागे भरतक्षेत्रादिहिमवत्पर्वतादिविभागोऽपि नास्ति। मानुषोत्तराद्बहिर्विद्याधरा न गच्छन्ति, ऋद्धिप्राप्ता मुनयोऽपि न यान्ति, नद्योऽपि बहिर्न गच्छन्ति किन्तु मानुषोत्त[7]रं पर्वतमाश्रित्य तिष्ठन्ति। मानवक्षेत्रत्रसाश्च बहिर्न व्रजन्ति। यदा मानुषोत्तरपर्वताद्बहिर्भागे मृतो जीवः [8]तिर्यङ् देवो वा मानुषक्षेत्रमागच्छति तदा मानवविग्रहगत्यानुपूर्व्येण समागच्छन् मानुषोत्तराद्बहिर्भागेऽपि मनुष्य इत्युपचर्यते। तथा दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणलक्षणसमुद्घातकाले मानुषोत्तरबहिर्भागे च [9]मनुष्यो भवतीति लभ्यते।

अथ प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः प्रोक्ताः, ते[10] तु मनुष्याः कतिप्रकारा भवन्ति इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

आर्यन्ते सेव्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिर्वा इत्यार्याः। म्लेच्छन्ति निर्लज्जतया व्यक्तं ब्रुवन्ति इति म्लेच्छाः। चकारः [11]परस्परसमुच्चये वर्तते। तेनायमर्थः—आर्या म्लेच्छाश्चोभयेऽपि मनुष्याः कथ्यन्ते। तत्रार्याः द्विप्रकारा भवन्ति। कौ तौ द्वौ प्रकारौ? एके ऋद्धिप्राप्ता आर्याः, [12]अन्ये ऋद्धिरहिताश्च। [13]ऋद्धिप्राप्ता आर्या अष्टविधाः। के ते अष्टौ

---

१ –रुः प– ता०, आ०। २ अथोच्यते आ०, द०, ज०। ३ अर्धपु– आ०, द०, ज०, ब०। ४ किमतः ब०। किमितः ता०। ५ –र्धपु– आ०, द०, ज०, ब०। ६ अवाक् ता०। ७ –त्तरप– आ०, द०, ज०, ब०। ८ तिर्यङ्देवोपि वा आ०। ९ मनुष्या भवन्तीति आ०, द०, ज०। १० ते म– आ०, द०, ज०। ११ परस्परे आ०। १२ अन्ये च ऋ– द०। १३ ऋद्धिप्राप्तार्याः ता०, ब०।

विधाः ? बुद्धिः क्रिया विक्रिया तपो बलमौषधं रसः क्षेत्रं चेति ।

तत्र बुद्धि-ऋद्धिप्राप्ता अष्टादशभेदाः[1]—अवधिज्ञानिनः, मनःपर्ययज्ञानिनः, केवलज्ञानिनः, [2]बीजबुद्धयः, कोष्ठबुद्धयः, सम्भिन्नश्रोत्रिणः, पदानुसारिणः, दूरस्पर्शनसमर्थाः, दूररसनसमर्थाः, दूरघ्राणसमर्थाः, दूरश्रवणसमर्थाः, दूरावलोकनसमर्थाः, अभिन्नदशपूर्विणः, चतुर्दशपूर्विणः, अष्टाङ्गमहानिमित्तज्ञाः[3], प्रत्येकबुद्धाः, वादिनः, प्रज्ञाश्रमणाश्चेति ।

बीजबुद्धिरिति कोऽर्थः ? एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्रज्ञानं बीजबुद्धिः । कोष्ठबुद्धिरितिकोऽर्थः ? [4]कोष्ठागारे संगृहीतविविधाकारधान्यवत् यस्यां बुद्धौ वर्णादीनि श्रुतानि बहुकालेऽपि न विनश्यन्ति सा कोष्ठबुद्धिः ।

क्रिया-ऋद्धि[5]र्द्विप्रकारा—जङ्घादिचारणत्वम्, आकाशगामित्वञ्चेति । तत्र जङ्घाचारणत्वं भूम्युपरि चतुरङ्गुलान्तरिक्षगमनं [6]जङ्घाचारणत्वम् । श्रेणिचारणत्वं विद्याधरश्रेणिपर्यन्ता[7]काशगमनम् । [8]अग्निज्वालोपरि गमनम् अग्निशिखाचारणत्वम् । [9]जलमस्पृश्य जलोपरि गमनं जलचारणत्वम् । पत्रमस्पृश्य पत्रोपरि गमनं पत्रचारणत्वम् । फलमस्पृश्य फलोपरि गमनं फलचारणत्वम् । पुष्पमस्पृश्य पुष्पोपरि गमनं पुष्पचारणत्वम् । बीजमस्पृश्य बीजोपरि गमनं बीजचारणत्वम् । तन्तुमस्पृश्य तन्तूपरि गमनं तन्तुचारणत्वञ्चेति जङ्घादिचारणत्वं नवविधम् ।

[10]आकाशगामित्वं किम् ? पर्यङ्कासनेनोपविष्टः सन् आकाशे गच्छति । ऊर्ध्वस्थितो वा आकाशे गच्छति । सामान्यतयोपविष्टो वा आकाशे गच्छति । पादनिक्षेपोत्क्षेपणं विना आकाशे गच्छति आकाशगामित्वम् । इति क्रियाऋद्धिर्द्विप्रकारा ।

विक्रियर्द्धिः अणिमादिभेदैरनेकप्रकारा । सूक्ष्मशरीरविधानम् अणिमा । अथवा [11]विशच्छिद्रेऽपि प्रविश्य चक्रवर्तिपरिवारविभूतिसर्जनमणिमोच्यते । महाशरीरविधानं महिमा । लघुशरीरविधानं लघिमा । गुरुशरीरविधानं गरिमा । भूमिस्थितोऽप्य[12] (तस्याप्य) ङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरचन्द्रसूर्यादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिरुच्यते । जले भूमाविव गमनं भूमौ जल इव मज्जनोन्मज्जनविधानं प्राकाम्यम् । अथवा जातिक्रियागुणद्रव्य[13]सैन्यादिकरणञ्च प्राकाम्यम् । त्रिभुवनप्रभुत्वमीशित्वम् । सर्वप्राणिगणवशीकरणशक्तिर्वशित्वम् । पर्वतमध्येऽपि आकाश इव

---

१ –भेदाः केवलिनः अवधिज्ञानिनः मनःपर्ययज्ञानिनः बीज– ता०, ब० । २ जीवबुद्धयः ब० । ३ निमित्ताः आ०, द०, ज०, ब० । ४ गोष्ठागा– आ०, द०, ब०, ज० । ५ क्रियर्द्धिर्द्वि– आ०, द०, ज० । ६ एतत्पदं पुनरुक्तमस्ति । ७ –पर्यन्तमाका– ज० । पर्यन्तगताकाश– आ० । ८ अग्निचारणम् अग्निज्वालोपरिगमनम् आ०, द०, ज०, ब० । ९ जलचारणत्वं जलोपरिगमनम् आ०, द०, ज०, ब० । १० आकाशगामित्वमिति सामान्यतयोपविष्टो आकाशे गच्छति पादनिक्षेपोत्क्षेपणं विना आकाशगामित्वमिति आ०, द०, ज० । ११ वंशच्छिद्रेण प्रवि– ब० । विशस्तन्तुनालः । १२ –स्थितोऽङ्गु– आ०, द०, ज०, ब० । १३ –द्रव्यं सै– ता० ब० ।

गमनम् अप्रतीघातः । [1]अनेकरूपकरणं [2]मूर्तामूर्ताकारकरणं वा कामरूपित्वम् । अदृष्टरूपताऽन्तर्द्धानम् । इत्यादि विक्रियर्द्धिः ।

घोरतपो महातप उग्रतपो दीप्ततपस्तप्ततपो घोरगुणब्रह्मचरिता घोरपराक्रमता चेति तपऋद्धिः सप्तधा । तत्र—घोरतपः–सिंहव्याघ्र[3]र्क्षचित्रकतर[4]क्षुप्रभृतिक्रूरश्वापदाकुलेषु गिरिकन्दरादिषु स्थानेषु भयानकश्मशानेषु च प्रचुरतरशीतवातातपादियुक्तेषु स्थानेषु स्थित्वा दुर्द्धरोपसर्गसहनपरा ये मुनयस्ते घोरतपसः । पक्षमासषण्मासवर्षोपवासविधातारो ये मुनयस्ते महातपसः । [5]वर्षोपवासे सति पारणा भवति, केवलज्ञानं [6]वोत्पद्यते, अतः परम् उपवासो न भवतीति निश्चयः । उग्रतपः–पञ्चम्यामष्टम्यां चतुर्दश्याञ्च गृहीतोपवास[7]व्रता अलाभद्वये अलाभत्रये वा त्रिभिरुपवासैश्चतुर्भिरुपवासैः पञ्चभिर्वोपवासैः कालं निर्गमयन्ति इत्येवं प्रकारा उग्रतपसः । शरीरदीप्त्या द्वादशार्कतेजस्का दीप्ततपसः । तप्तायसपिण्डपतितजलबिन्दुवत् गृहीताहारशोषणपरा नीहाररहिता ये ते तप्ततपसः । सिंहव्याघ्रादिसेवितपादपद्मा घोरगुणब्रह्मचारिणः । भूतप्रेतवेतालराक्षसशाकिनीप्रभृतयो[8] यान् दृष्ट्वा बिभ्यति ते घोरपराक्रमाः ।

बलर्द्धिस्त्रिप्रकारा । अन्तर्मुहूर्त्तेन निखिलश्रुतचिन्तनसमर्था ये ते मनोबलिनः । अन्तर्मुहूर्त्तेनाखिलश्रुतपाठशक्तयो ये ते वचोबलिनः । मासचतुर्मासषण्मासवर्षपर्यन्तकायोत्सर्गकरणसमर्था अङ्गुल्यग्रेणापि त्रिभुवनमप्युद्धृत्य अन्यत्र स्थापनसमर्था ये ते कायबलिनः ।

औषधर्द्धिरष्टप्रकारा— [9]विड्विलेपनेन, एकदेशमलस्पर्शनेन, अपक्वाहारस्पर्शनेन, सर्वाङ्गमलस्पर्शनेन, निष्ठीवनस्पर्शनेन, दन्तकेशनखमूत्रपुरीषादिसर्वेण (दिस्पर्शनेन), कृपादृष्ट्यवलोकनेन, कृपादन्तपीडनेन येषां मुनीनां प्राणिरोगाः नश्यन्ति ते अष्टप्रकारा औषधर्द्धयः ।

रसऋद्धिः षट्प्रकारा । तपोबला मुनयो यमक्षिगतं प्राणिनं म्रियस्वेति वदन्ति सोऽक्षिगतः प्राणी तत्क्षणादेव महाविषपरीतो म्रियते एवंविधं सामर्थ्यं येषां ते आस्यविषाः वाग्विषा अपरनामानः कथ्यन्ते । तपोबला मुनयः क्रुद्धाः सन्तो यमक्षिगतमीक्षन्ते स पुमान् तत्क्षणादेव [10]तीव्ररसपरीतः पञ्चत्वं प्राप्नोति एवंविधं सामर्थ्यं येषां ते दृष्टिविषा इत्युच्यन्ते । येषां पाणिपात्रगतं भोजनं नीरसमपि क्षीरपरिणामि भवति, वचनानि वा क्षीरवत् क्षीणसन्तर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरस्राविण उच्यन्ते[11] । येषां पाणिपात्रगतमशनं नीरसमपि [12]मधुरसपरिणामि भवति, वचनानि वा श्रोतॄणां [13]मधुस्वादं जनयन्ति ते [14]मध्वास्राविणः प्रोच्यन्ते । [15]येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि घृतरसपरिणामि भवति, वचनानि वा श्रोतॄणां घृतपानस्वादं जनयन्ति ते [16]सर्पिरास्राविणः । येषां पाणिपात्रगतमन्नं वचनञ्चामृतवद्भवति ते [17]अमृतास्राविणः ।

---

१ अनेकोप आ० । २ मूर्ताकारक– आ०, द० । ३ –व्याघ्रयक्षचि– ब० । ४ –तरक्षुभल्लकप्र– ज० । –तरक्षुभल्लकप्र– आ०, द० । ५ सर्वोपवासे आ०, द०, ज० । ६ नोत्प– आ०, द०, ज० ब० । ७ –संवृता ज० । –वासा अ– द० । ८ –यस्तान् दृष्ट्वा येन विभ्यन्ति आ०, द०, ज० । ९ विड्लेप– आ०, द०, ज० । १० तीव्रविषव्याप्तः । ११ उच्यन्ते आ०, द०, ब० । १२ मधुररस– आ०, द०, ज० । १३ मधुरस्वा– आ०, द०, ज० । १४ मद्यस्रा– ता० । १५ आ०, द०, ज० प्रतिषु अमृतास्राविलक्षणं प्रथममस्ति । १६ घृतस्रावि– आ०, द०, ज० । १७ अमृतस्रा– आ०, द०, ज० ।

क्षेत्रर्द्धिर्द्विप्रकारा—अक्षीणमहानसर्द्धिः अक्षीणालयर्द्धिश्च । तत्राक्षीणमहानसर्द्धिः यस्मिन्नमत्रे[1] अक्षीणमहानसैर्मुनिभिर्भुक्तं तस्मिन्नमत्रे[2] चक्रवर्त्तिपरिजनभोजनेऽपि तद्दिने अन्नं न क्षीयते ते मुनयः अक्षीणमहानसाः कथ्यन्ते । अक्षीणमहालयास्तु मुनयो यस्मिन् [3]चतुःशयेऽपि मन्दिरे निवसन्ति तस्मिन् मन्दिरे सर्वे देवाः सर्वे मनुष्याः सर्वे तिर्यञ्चोऽपि यदि निवसन्ति तदा तेऽखिला अपि अन्योन्यं बाधारहितं सुखेन तिष्ठन्ति इति अक्षीणालयाः । ईदृशा मनुष्या ऋद्धिप्राप्ता भवन्ति ।

ऋद्धिरहिता[4] आर्यास्तु पञ्चप्रकारा भवन्ति । के ते पञ्चप्रकाराः ? सम्यक्त्वार्याः, चारित्रार्याः, कर्मार्याः, जात्यार्याः, क्षेत्रार्याश्चेति । तत्र सम्यक्त्वार्याः सम्यग्दृष्टयो व्रतरहिता इत्यर्थः । चारित्रार्याश्चारित्रप्रतिपालका यतयः । कर्मार्यास्त्रिप्रकाराः—सावद्यकर्मार्याः, अल्पसावद्यकर्मार्याः, असावद्यकर्मार्याश्चेति । तत्र सावद्यकर्मार्या व्रतरहिताः षट्प्रकाराः असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्यकर्मार्यभेदात् । तत्र असितरवारिवसुनन्दकधनुर्बाणछुरिकाकट्टारककुन्तपट्टिशहलमुशलगदाभिन्दिमालालोहघनशक्तिचक्राद्यायुधचञ्चवः असिकर्मार्या उच्यन्ते । [5]आयव्ययादिलेखनवित्ता मषिकर्मार्याः कथ्यन्ते । हलेन भूमिकर्षणनिपुणाः कृषिकर्मार्या भण्यन्ते । गणितादिद्विसप्ततिकलाप्रवीणा विद्याकर्मार्या [6]उच्यन्ते । [7]निर्णेजकदिवाकीर्त्यादयः शिल्पकर्मार्या ध्वन्यन्ते । धान्यक(का)र्पासचन्दनसुवर्णरजतमणिमाणिक्यघृतादिरसांशुकादिसंग्रहकारिणो वाणिज्यकर्मावदाता वणिक्कर्मार्या शब्द्यन्ते । एते षट्प्रकारा अपि सावद्यकर्मार्या भवन्ति । अल्पसावद्यकर्मार्यास्तु श्रावकप्रभृतयः । असावद्यकर्मार्यास्तु यतयः ।

जात्यार्यास्तु इक्ष्वाकुवंशाद्युद्भवाः । अस्यामवसर्पिण्यामिक्ष्वाकुवंशः स्वयं श्रीवृषभेश्वरः, तस्य कुले भवा इक्ष्वाकुवंशाः । भरतसुतार्ककीर्त्तिकुले सञ्जाताः सूर्यवंशाः । बाहुबलिसुतसोमयशोवंशे भवाः सोमवंशाः । सोमप्रभश्रेयांसकुले समुत्पन्नाः कुरुवंशाः । अकम्पनमहाराजकुले समुद्भवा नाथवंशाः । हरिकान्तनृपान्वये सम्भूता हरिवंशाः । हरिवंशेऽपि यदुनृपकुलजाता यादवाः । काश्यपनृपकुले सम्भवा उग्रवंशा इति । एवंविधा जात्यार्याः कथ्यन्ते ।

कौशल-काश्यवन्ति-अङ्ग-वङ्ग-तिलङ्ग-कलिङ्ग-लाट-कर्णाट-भोट-गौड-गुर्ज्जर-सौराष्ट्र-मरु-वाग्ज[8]ड-मलय-मालव-कुङ्कणाभीर-सौर[9]मस-काश्मीर-जालंधरादिदेशोद्भवाः क्षेत्रार्या[10] इत्युच्यंते ।

म्लेच्छास्तु द्विप्रकाराः—अन्तरद्वीपोद्भवाः कर्मभूम्युद्भवाश्चेति । तत्र अन्तरद्वीपोद्भवा म्लेच्छाः कथ्यन्ते—लवणोदसमुद्रे अष्टसु दिशासु अष्टौ द्वीपाः, तदन्तरालेषु चाष्टौ द्वीपाः, हिमवत उभयपार्श्वयोर्द्वौ द्वीपौ, शिखरिण उभयपार्श्वयोश्च द्वौ द्वीपौ, विजयार्द्धयोरुभययोः

---

१ पात्रे । –स्मिन्नन्ने आ०, द०, ज०, व० । २ –न्नन्ने च– आ०, द०, ज०, व० । ३ चतुष्टये– आ०, द०, ज० । ४ –तार्या– व० । ५ –यावव्य– ता० । ६ उच्यन्ते व० । उत्पद्यन्ते आ०, द०, ज० । ७ रजकनापितादयः । ८ –शादुद्भ– आ०, ज० । ९ –स्यपकु– आ०, द०, ज० । १० –जडवल– आ०, द०, ज० । ११ –रमस– आ० । १२ –र्यार्या उ– आ०, द०, ज० ।

पार्श्वेषु चत्वारो द्वीपाः। एवं लवणोदसमुद्रमध्ये अर्वाक् पार्श्वे चतुर्विंशतिद्वीपा भवन्ति। ते द्वीपाः कुत्सितभोगभूमयः कथ्यन्ते। तत्र चतुर्विंशतिद्वीपेषु चतुर्दिक्षु ये चत्वारो द्वीपा वर्तन्ते ते समुद्रवेदिकायाः सकाशात् पञ्चशतयोजनानि गत्वा लभ्यन्ते। ये तु [1]चतसृषु प्रदिक्षु चत्वारो[2] द्वीपाः सन्ति अन्तरालेषु चाष्टौ द्वीपा वर्तन्ते ते द्वादशापि द्वीपाः पञ्चशतयोजनानि पञ्चाशद्योजनाधिकानि तद्वद्गत्वा लभ्यन्ते। ये तु पर्वतान्तेषु अष्टौ द्वीपा वर्तन्ते ते षट्शतयोजनानि गत्वा प्राप्यन्ते। चतुर्दिग्द्वीपाः शतयोजनविस्ताराः। चतुर्विदिग्द्वीपा अष्टान्तरालद्वीपाश्च, एते द्वादशद्वीपाः पञ्चाशद्योजनविस्तारा वर्त्तन्ते। पर्वतान्तेषु येऽष्टद्वीपाः सन्ति ते पञ्चविंशतियोजनविष्कम्भा भवन्ति। तत्र पूर्वस्यां दिशि यो द्वीपो वर्तते तस्मिन् द्वीपे एकोरुका म्लेच्छा भवन्ति। दक्षिणा[3]यां दिशि शृङ्गिणो मनुष्या भवन्ति। पश्चिमायां दिशि पुच्छसहिता म्लेच्छाः [4]सन्ति। उत्तरायां दिशि मूका वर्त्तन्ते। चतुर्विदिक्षु अग्निकोणे शशकर्णाः, नैऋत्यकोणे शष्कुलीकर्णाः, वायुकोणे कर्णप्रावरणाः, ईशानकोणे लम्बकर्णाः। पूर्वाग्न्यन्तराले अश्वमुखाः। अग्निदक्षिणान्तराले सिंहमुखाः। दक्षिणनैऋत्यान्तराले[5] भषणमुखाः, नैऋत्यपश्चिमान्तराले[6] गर्वरमुखाः। पश्चिमवातान्तराले शूकरमुखाः। वातोत्तरान्तराले व्याघ्रमुखाः। उत्तरेशानान्तराले [7]काकवदनाः। ईशानपूर्वान्तराले [8]कपिलवदनाः। हिमवत्पूर्वपार्श्वे मत्स्यमुखाः। हिमवत्पश्चिमपार्श्वे कृष्णवदनाः। शिखरिणः पूर्वपार्श्वे मेघमुखाः। शिखरिणः पश्चिमपार्श्वे तडिद्वदनाः। दक्षिणविजयार्द्धपूर्वपार्श्वे गोमुखाः। दक्षिणविजयार्द्धपश्चिमपार्श्वे उरभ्रवदनाः। उत्तरविजयार्द्धपूर्वपार्श्वे गजाननाः। उत्तरविजयार्द्धपश्चिमपार्श्वे दर्पणास्याश्चेति। तत्र एकोरुकाः मृत्तिकाहारा गुहानिवासिनः। अन्ये सर्वेऽपि वृक्षतलनिवासाः फलपुष्पभक्षिणः। विश्वेऽपि पल्योपमजीविताः द्विसहस्रधनुरुन्नतशरीराः। एवं लवणोदसमुद्रपरतीरेऽपि चतुर्विंशतिद्वीपा ज्ञातव्याः। तथा कालोदसमुद्रेऽपि अष्टचत्वारिंशद्द्वीपा भवन्ति। एवं षण्णवतिम्लेच्छद्वीपाः। ते सर्वेऽपि द्वीपा जलाद् योजनोन्नता बोद्धव्याः। एते सर्वेऽपि अन्तर्द्वीपोद्भवा म्लेच्छा भवन्ति। कर्मभूम्युद्भवाश्च म्लेच्छा पुलिन्दशबरयवनशकखसबर्बरादयो ज्ञातव्याः।

अथ कास्ताः कर्मभूमयः ?

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

भरताश्च पञ्च ऐरावताश्च पञ्च विदेहाश्च पञ्च भरतैरावतविदेहाः, एते पञ्चदशप्रदेशाः कर्मभूमयः कथ्यन्ते। तर्हि पञ्चसु विदेहेषु मध्ये पञ्चदेवकुरवः पञ्चोत्तरकुरवः सन्ति, तेऽपि किं कर्मभूमयः ? नैवम्; देवकुरूत्तरकुरुभ्यः अन्यत्र, देवकुरून् उत्तरकुरून् वर्जयित्वा इत्यर्थः। विदेहेषु स्थिता अपि देवकुरव उत्तरकुरवश्च कर्मभूमयो न भवन्ति किन्तु उत्तमभोगभूमयो भव-

१ चतसृषु दिक्षु द०। २ –रोऽपि द्वी– ज०। ३ –णस्यां आ०, द०, ज०। ४ भवन्ति आ०, ज०। ५ –ले षण्मु– आ०। ६ –ले गोमु– ज०। –ले गर्गमु– द०। ७ काकमुखाः आ०, द०, ज०। ८ कपिलवदना व०। ९ –स्वसवरा– आ०, द०, ज०।

न्तीत्यर्थः। [1]अत्र अन्यत्रशब्दो वर्जनार्थे ज्ञातव्यः। तेन "दिगितरर्तेऽन्यैश्च" [का०सू० २।४। २१] इत्यनेन सूत्रेण लिङ्गात् पञ्चमी सञ्जाता। यद्येते पञ्चदशप्रदेशाः कर्मभूमय इति व्यपदिश्यन्ते कर्मभूमयः कथ्यन्ते तर्हि देवकुरूत्तरकुरुहैमवतहरिवर्षरम्यकहैरण्यवतषण्णवत्यन्तरद्वीपाश्च भोगभूमय इत्युच्यन्ते। तत्रायं तु विशेषः—ये अन्तरद्वीपजास्ते कल्पवृक्षकल्पितभोगा न भवन्ति। तथा सर्वे भोगभूमिजा मृताः सन्तः देवत्वमेव प्राप्नुवन्ति। 'पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरेषु ये अन्तरद्वीपास्तत्रत्याः शुभकर्मभूमिसमीपवर्तित्वात् चातुर्गतिका भवन्ति' इति केचिदाहुः। मानुषोत्तरात्परतः स्वयम्भूरमणद्वीपमध्यस्थितस्वयम्प्रभपर्वतं यावत् एकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियास्पदा एव द्वीपा कुत्सितभोगभूमयः[2] उच्यन्ते। तत्र पञ्चेन्द्रियाः तिर्यञ्च एव न तु मनुष्याः, असंख्येयवर्षायुषो गव्यूत्युन्नतशरीराः। तेषां चत्वारि गुणस्थानानि सम्भवन्ति।

अथ मानुषोत्तर इति यः पर्वतः श्रुतः स कीदृशः? एकविंशत्यधिकयोजनसप्तदशशतोन्नतः, त्रिंशदधिकयोजनचतुःशतभूमिमध्यगतः, द्वाविंशत्यधिकयोजनसहस्रबुध्नविस्तारः, त्रयस्त्रिंशदधिकयोजनसप्तशतमध्यविस्तारः, चतुर्विंशत्यधिकयोजनचतुःशतोपरिविस्तारः। तदुपरि चतुर्दिक्षु चत्वारश्चैत्यालया नन्दीश्वरद्वीपचैत्यालयसदृशा ज्ञातव्याः।

अथ कैः कर्मभिः कर्मभूमिरुच्यते इति चेत्? उच्यते—शुभं कर्म सर्वार्थसिद्ध्यादिनिमित्तम्, अशुभञ्च कर्म [3]सप्तमनरकादिहेतुभूतम्, असिमषिकृषि[4]विद्याशिल्पवाणिज्यलक्षणं षड्विधं कर्म जनजीवनोपायभूतम्, पात्रदानदेवपूजनादिकञ्च कर्म, तैः कर्मभिरुपलक्षिताः कर्मभूमय इत्युच्यन्ते। [6]ननु सर्वं जगत् कर्माधिष्ठानमेव, कथमेता एव कर्मभूमयः? इत्याह—सत्यम्; उत्कर्षेण शुभाशुभकर्माधिष्ठानात् कर्मभूमय इति।

स्वयम्प्रभपर्वतान्मानुषोत्तराकारात्परत आलोकान्तं ये तिर्यञ्चः सन्ति तेषु पञ्च गुणस्थानानि सम्भवन्ति। ते च पूर्वकोट्यायुषः। तत्रत्या मत्स्याः सप्तमनरकहेतुकं पापमुपार्जयन्ति। स्थलचराश्च केचित् स्वर्गादिहेतुपुण्यम[7]प्युपार्जयन्ति। तेन अर्द्धो द्वीपः सर्वः समुद्रश्च समुद्राद्बहिश्चत्वारः कोणाश्च कर्मभूमिरित्युच्यते इति विशेषः।

अथ उक्तासु भूमिषु नराणामायुःपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते भगवद्भिरुमास्वामिभिः—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

स्थितिश्च स्थितिश्च स्थिती, नृणां नृणां वा स्थिती नृस्थिती द्वौ आयुःकालौ इत्यर्थः। कथम्भूते द्वे नृस्थिती? परावरे परा उत्कृष्टा अवरा च निकृष्टा जघन्येति यावत् परावरे। पुनरपि कथम्भूते नृस्थिती? त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते। त्रीणि पल्योपमानि यस्याः परायाः उत्कृष्टायाः स्थितेः सा त्रिपल्योपमा, अन्तर्गतोऽपरिपूर्णो मुहूर्त्तो घटिका[8]द्वयं यस्या अवराया जघन्यायाः साऽन्तर्मुहूर्ता, त्रिपल्योपमा चान्तर्मुहूर्ता च त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते। अस्यायमर्थः—

---

[1] अथात्र आ०। [2] -य कथ्यन्ते आ०, ब०, द०, ज०। [3] सप्तनरका- आ०, द०, ब०, व०, ज०। [4] -षिवाणिज्यविद्याशिल्प- आ०, द०, ज०। [5] -पूजादिकं क- आ०, द०, ज०। [6] न तु सर्वे ता०, आ०। [7] -प्यमुपा- द०, ज०। [8] -द्वयमस्या आ०, द०, ज०।

यथासंख्यत्वेन मानवानाम् उत्कृष्टा स्थितिः त्रिपल्योपमा, जघन्येन मानवानां स्थितिः अन्तर्मुहूर्त्ता, मध्यस्थितिरनेकप्रकारा ।

किं तत्पल्योपममिति चेत् ? उच्यते—

"[1]ववहारुद्धारद्धा-पल्ला तिण्णेव होंति बोधव्वा ।
संखा दीवसमुद्दा कम्मट्ठिदि वण्णिदा जेहिं ॥" [त्रिलोक० गा० ९३]

अस्यायमर्थः—व्यवहारश्च उद्धारश्च अद्धा च व्यवहारोद्धाराद्धाः पल्यानि कुशूलाः त्रीण्येव भवन्तीति बोद्धव्यानि । जेहिं यैस्त्रिभिः पल्यैः वण्णिदा वर्णिता कथिता । का वर्णिता ? संखा संख्यामात्रम् । व्यवहारपल्येन उद्धारपल्याद्धापल्ययोः संख्या ज्ञायते । तेन व्यवहारपल्येन संख्या वर्णिता । उद्धारपल्येन तु द्वीपसमुद्रा वर्णिताः । [2]अद्धापल्येन कर्मस्थितिर्वर्णिता । यथाक्रमं पल्यत्रयकार्यं ज्ञातव्यमिति संग्रहगाथार्थः । तेन व्यवहारपल्यम् उद्धारपल्यम् अद्धापल्यञ्चेति पल्यं त्रिप्रकारम् । तत्र व्यवहारपल्यस्वरूपं निरूप्यते—प्रमाणाङ्गुलपरिमितं योजनमेकम् । किं तत् प्रमाणाङ्गुलम् ? अवसर्पिण्याः सम्बन्धी प्रथमचक्रवर्ती, तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा उत्सर्पिण्याः सम्बन्धी चरमचक्रवर्ती तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम् । तेन प्रमाणाङ्गुलेन मितः चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्तः । तैश्चतुर्भिः हस्तैर्मपित एको दण्डः । तैर्द्विसहस्रदण्डैर्मपिता एका प्रमाणगव्यूतिः ताभिश्चतुर्गव्यूतिभिर्मपितम् एकं प्रमाणयोजनम् । मानवानां पञ्चशतयोजनैरेकं प्रमाणयोजनमित्यर्थः । किं तन्मानवयोजनं येन प्रमाणयोजनं दिव्ययोजनं ज्ञायते ? अष्टभिः परमाणुभिः एकत्रसरेणुः । अष्टभिः त्रसरेणुभिः पिण्डितैरेक[3]त्रीकृतैरेका रथरेणुरुच्यते । अष्टभी रथरेणुभिः पिण्डिताभिरेकं चिकुराग्रमुच्यते । अष्टभिश्चिकुराग्रैः पिण्डितैरेका लिक्षा भण्यते । अष्टभिः लिक्षाभिः पिण्डिताभिरेकः श्वेतसिद्धार्थ उच्यते । अष्टभिः सिद्धार्थैः पिण्डितैः एको यव उच्यते । अष्टभिर्यवैः अङ्गुलमुच्यते । षड्भिरङ्गुलैः पाद उच्यते । द्वाभ्यां पादाभ्यां वितस्तिः कथ्यते । द्वाभ्यां वितस्तिभ्यां रत्निरुच्यते । चतुर्भी रत्निभिः दण्डः कथ्यते । द्विसहस्रदण्डैः गव्यूतिरुच्यते । चतुर्गव्यूतिभिर्मानवयोजनं भवति । पञ्चशतमानवयोजनैरेकं महायोजनं प्रमाणयोजनं दिव्ययोजनं भवति । तद्योजनप्रमाणा खनिः क्रियते । मूले मध्ये उपरि च समाना वर्तुलाकारा सातिरेकत्रिगुण[4]परिधिः । सा खनिः एकादिसप्तान्ताहोरात्र[5]जाताऽविरोमाग्राणि गृहीत्वा खण्डितानि क्रियन्ते । तादृशानि खण्डानि क्रियन्ते यादृशानि खण्डानि पुनः कर्त्तर्या खण्डयितुं न शक्यन्ते । तैः सूक्ष्मै रोमखण्डैः महायोजनप्रमाणा खनिः पूर्यते । कुट्टयित्वा निबिडीक्रियते । सा खनिः व्यवहारपल्यमिति कथ्यते । तदनन्तरमब्दशतैरब्दशतैरेकैकं रोमखण्डमपकृष्यते । एवं सर्वेषु रोमेष्वपकृष्टेषु यावत्कालेन सा खनिः रिक्ता भवति तावत्कालो व्यवहारपल्योपम इत्युच्यते । तेन व्यवहारपल्योपमेन न किमपि गण्यते । तान्येव

---

१ व्यवहारोद्धाराद्धाः पल्यानि त्रीण्येव भवन्ति बोद्धव्यानि । संख्या द्वीपसमुद्राः कर्मस्थितिः वर्णिता यैः ॥ २ अद्धारप– आ०, द०, ज० । ३ –कत्रकृ– आ०, द०, ज० । ४ –णा परि– आ०, द०, ज० । ५ –जन्यावि– ता० ।

रोमखण्डानि प्रत्येकम् असंख्येयकोटिवर्षसमयमात्रगुणितानि गृहीत्वा द्वितीया महाखनिस्तैः पूर्यते। सा खनिः उद्धारपल्यमित्युच्यते। तदनन्तरं समये समये एकैकं रोमखण्डं निष्कास्यते, यावत्कालेन सा महाखनिः रिक्ता जायते [1]तावान् काल उद्धारपल्योपमाह्वयः संसूच्यते। उद्धारपल्यानां दशकोटिकोट्य एकम् उद्धारसागरोपममभिधीयते। अर्द्ध तृतीयोद्धारसागरोपमाणां पञ्चविंशतिकोटिकोट्युद्धारपल्योपमानां यावन्ति रोमखण्डानि भवन्ति तावन्तो द्वीपसमुद्रा ज्ञातव्याः। तदनन्तरम् उद्धारपल्यरोमखण्डानि वर्षशतसमयमात्रगुणितानि गृहीत्वा ततोऽपि महती खनिः पूर्यते। सा खनिः अद्धापल्यमित्युच्यते। तदनन्तरं समये समये एकैकं रोमखण्डं निष्कास्यते। यावत्कालेन सा महती खनिः रिक्ता सञ्जायते तावत्कालः अद्धापल्योपम[2]सञ्ज्ञः समुच्यते। अद्धापल्योपमदशकोटिकोट्यः अद्धासागरोपम उच्यते। दशकोटिकोट्योऽद्धासागरोपमाणामेकाऽवसर्पिणी कालो भवति, तावती उत्सर्पिणी च। द्वाभ्यां कल्प उच्यते। अद्धापल्योपमेन नारकाणां तिरश्चां देवानां मनुष्याणाञ्च कर्मस्थितिरायुस्थितिः कायस्थितिः भवस्थितिश्च गण्यते।

अथ यदि ईदृग्विधेन अद्धापल्योपमेन मानवानामुत्कृष्टस्थितिर्वर्णिता त्रिपल्योपमेति जघन्याऽन्तर्मुहूर्तेति च, तर्हि तिरश्चां स्थितिः कीदृशी भवतीति प्रश्ने भगवान् उमास्वाम्याह—

तिर्यग्योनिजानाञ्च ॥ ३९ ॥

तिरश्चां योनिः तिर्यग्योनिः तस्यां जातास्तिर्यग्योनिजाः तेषां तिर्यग्योनिजानाम्, उत्कृष्टा भवस्थितिः त्रिपल्योपमा भवति, जघन्या च अन्तर्मुहूर्ता वेदितव्या। चकारः परस्परसमुच्च[3]यं वर्तते। अस्मिन्नध्याये सप्तनरका द्वीपसमुद्राः कुलपर्वताः पद्मादयो ह्रदा गङ्गादयो नद्यः मनुष्याणां भेदः नृपशूनामायुः स्थितिश्च वर्णिता इति प्रसिद्धं ज्ञातव्यम्।

[4]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ तृतीयः पादः समाप्तः।

---

१ तावत्कालः आ०, द०, ब०, ब०, ज०। २ –मसंज्ञकः समु– आ०, द०, ज०। ३ –च्चयार्थे व– आ०, द०, ज०। ४ इत्यनवद्यपद्यगद्यविद्याविनोदोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजनरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रीश्रुतसागरसूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः। आ०, द०, ब०, ब०। इति श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकशिष्यस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य शिष्येण श्रीश्रुतसागरसूरिणा विरचितायां तत्त्वार्थटीकायां तृतीयोऽध्यायः समाप्तः। ज०।

चतुर्थोऽध्यायः

अथ "भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम्" [त० सू० १।२१] इति प्रभृतिषु देवशब्दः श्रुतः। तत्र के देवाः कतिप्रकारा वा ? तत्स्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदं श्रीमदुमास्वामिनः प्राहुः—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवगतिनामकर्मप्रकृत्युदयेऽभ्यन्तरे प्रत्यये कारणे हेतौ सति बाह्येष्टवनितादिसामग्रीसहिता द्वीपाब्धिपर्वतनद्यादिषु प्रदेशेषु यदृच्छया दीव्यन्ति क्रीडन्ति ये ते देवाः। चतुर्णिकायाः चत्वारो निकायाः समूहाः भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकलक्षणाः सङ्घाता येषां ते चतुर्णिकायाः। जात्यपेक्षया 'देवश्चतुर्णिकायः' इति सूत्रे सिद्धे सति बहुवचननिर्देशः तदभ्यन्तरप्राप्तानेकभेदसूचनार्थमित्यर्थः। अतिशयेन चीयन्ते पुष्टिं नीयन्ते इति निकायाः। "सङ्घे चानौत्तराधर्ये" [का० सू० ४।५।३६] इत्यनेन सूत्रेण घञ्प्रत्ययः। चकारस्य ककारादेशः "चेस्तु हस्तादाने" [का० सू० ४।५।३४] इत्यतः [2]चिर्वर्तते। "शरीरनिवासयोः कश्चादेः" [का० सू० ४।५।३५] इत्यतः कादेशश्च। शूकरनिचय इत्यत्र घञ् कादेशश्च न भवति शूकरेषु उच्चावचत्वं वर्तते तेन औत्तराधर्यं तत्रास्ति, चतुर्षु निजनिजनिकायेषु अणिमादीनां समानत्वादौत्तराधर्य्यं नास्ति।

अथेदानीं देवनिकायानां लेश्याविशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते सूरिभिः—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥

आदितस्त्रिषु भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्केषु त्रिषु देवनिकायेषु पीता तेजोलेश्या अन्ते यासां लेश्यानां ताः पीतान्ताः कृष्णनीलकापोततेजोलेश्या इत्यर्थः, पीतान्ताश्च ता लेश्याः पीतान्तलेश्याः। कर्मधारयसंज्ञे तु पुंवद्भावो विधीयते। अथवा त्रिषु आदितस्त्रिषु देवनिकायेषु देवाः कथम्भूताः ? पीतान्तलेश्याः। पीतान्ता लेश्या येषान्ते पीतान्तलेश्याः। एवं सति "पुंवद्भाषितपुंस्कानूङ्पूरणादिषु स्त्रियां तुल्याधिकरणे" [का० सू० २।५।१८] इत्यनेन पुंवद्भावः। षण्णां लेश्यानां मध्ये चतस्रो लेश्या आदितः आद्यास्त्रिषु देवनिकायेषु भवन्ति। आदित इति विशेषणं त्रिषु इत्यस्य पदस्य विशेषणं लेश्यानां वा विशेषणम्।

अथ चतुर्णां देवनिकायानामन्तर्भेदसूचनार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्ति—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

दश च अष्ट च पञ्च च द्वादश च दशाष्टपञ्चद्वादश ते विकल्पाः प्रकाराः येषां देवानां

---

१ –नामप्र– आ०, द०, ज०। २ विवर्तते आ०, द०, ज०। विर्वर्तते ब०।

ते दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः। पुनरपि कथम्भूताः ? कल्पोपपन्नपर्यन्ताः कल्पेषु षोडशस्वर्गेषु उपपन्नाः उत्पन्नाः कल्पोपपन्नाः। कल्पोपपन्ना वैमानिकाः पर्यन्ताः येषान्ते कल्पोपपन्नपर्यन्ताः। अस्यायमर्थः—दशविकल्पा भवनवासिनः, अष्टविकल्पा व्यन्तरदेवाः, पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः, द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नाः। ग्रैवेयकादिषु अहमिन्द्रत्वं विना कोऽपि विकल्पो नास्तीत्यर्थः।

अथ भूयोऽपि तेषां विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते स्वामिभिः—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

इन्दन्ति परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति अपरामरासमानाऽणिमादिगुणयोगादिति इन्द्राः ।१। आज्ञाम् ऐश्वर्यञ्च विहाय भोगोपभोगपरिवारवीर्यायुरास्पदप्रभृतिकं यद् वर्तते तत् समानमित्युच्यते। समाने भवाः सामानिकाः महत्तरपितृगुरूपाध्यायसदृशाः ।२। त्रयस्त्रिंशदेव संख्या येषां ते त्रायस्त्रिंशाः मन्त्रिपुरोहितसमानाः ।३। परिषदि सभायां भवाः पारिषदाः पीठमर्दमित्रतुल्याः ।४। आत्मन इन्द्रस्य रक्षा येभ्यस्ते आत्मरक्षा अङ्गरक्षशिरोरक्षसदृशाः ।५। लोकं पालयन्तीति लोकपाला आरक्षिकार्थचरकोट्टपालसमानाः। आरक्षिका ग्रामादौ नियुक्ततलवराः। अर्थेषु चरन्ति पर्यटन्ति अर्थचराः कार्यनियुक्ताः कनकाध्यक्षादिसदृशाः। कोट्टपाला पत्तनरक्षका महातलवराः दुर्गपालापरनामानः तत्समाना लोकपाला इत्यर्थः ।६। अनीकाः हस्त्यश्वरथपादातवृषभगन्धर्वनर्तकीलक्षणोपलक्षितसप्तसैन्यानि ।७। प्रकीर्णकाः पौरजनपदसमानाः ।८। अभियोगे कर्मणि भवा आभियोग्या दासकर्म्मकरकल्पाः ।९। किल्विषं पापं विद्यते येषान्ते किल्विषिकाः "इनुत्रिषये इको वाच्यः" [का० सू० २।६।१५, दौ० वृ० १६ श्लो०] इति व्युत्पत्तेः। किल्विषिका इति कोऽर्थः वाहनादिकर्मसु नियुक्ताः दिवाकीर्तिसदृशा इत्यर्थः। इन्द्राश्च सामानिकाश्च त्रायस्त्रिंशाश्च पारिषदाश्च लोकपालाश्च अनीकानि च प्रकीर्णकाश्च आभियोग्याश्च किल्विषिकाश्च ते तथोक्ताः। एकशः एकैकस्य देवनिकायस्य एकशः एते इन्द्रादयो दश भेदाः चतुर्षु निकायेषु प्रत्येकं भवन्तीति उत्सर्गव्याख्यानं ज्ञातव्यम्। अथापवादव्याख्यानसूत्रं सूत्रयन्ति सूत्रकाराः—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जा व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

त्रयस्त्रिंशद्देवाः त्रायस्त्रिंशाः वयस्यपीठमर्दनतुल्याः, लोकं पालयन्तीति लोकपालाः अर्थचरारक्षिकतुल्याः, त्रायस्त्रिंशाश्च लोकपालाश्च त्रायस्त्रिंशलोकपालाः तान् वर्जयन्तीति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जाः। विविधमन्तरमेषां व्यन्तराः, ज्योतिःस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः, व्यन्तराश्च ज्योतिष्काश्च व्यन्तरज्योतिष्काः। अस्यायमर्थः—व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशा लोकपालाश्च न वर्तन्ते इतरे अष्टाविन्द्रादयो भेदाः सन्त्येव। इन्द्रादयो दशाऽपि भेदा

---

१ –ज्ञापना– आ०, द०, ज०। २ –मर्दनमि– आ०, द०, ज०, ब०। ३ –लसदृशाः आ०। ४ –पदातिवृ– आ०, द०, ज०। ५ नापित-चाण्डालसमाना इत्यर्थः। ६ –कारकाः आ०, ब०, द०। ७ वर्ज्याः आ०।

भवनवासिषु कल्पवासिषु च वर्तन्ते ।

अथेदानीं चतुर्षु निकायेषु शक्राः किमेकैक एव वर्तते अथान्योऽपि कश्चित् प्रतिनियमोऽस्ति इति प्रश्ने सूत्रमिदमाचक्षते भगवन्तः—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वयोर्भवनवासिव्यन्तराणां निकाययोर्देवा द्वीन्द्राः द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषान्ते द्वीन्द्राः, अन्तर्गर्भितवीप्सार्थमिदं पदम् अष्टापदसप्तपर्णादिवत् । यथा पङ्क्तौ पङ्क्तावष्टावष्टौ पदानि स्थानानि यस्यासावष्टापदः सारिफलकः चतुरङ्गद्यूतफलकः, तथा पर्वणि पर्वणि सप्त सप्त पर्णानि यस्यासौ सप्तपर्णो वृक्षविशेषः । कौ कौ भवनवासिनां तावत् द्वौ द्वाविन्द्रौ इति चेत् ? उच्यते—असुरकुमाराणां द्वावाखण्डलौ चमरो वैरोचनश्च । नागकुमाराणां द्वौ ऋभुक्षाणौ धरणो भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां द्वौ दुश्च्यवनौ हरिसिंहो हरिकान्तश्च । सुपर्णकुमाराणां द्वौ सुरपती [1]वेणुदेवो वेणुताली च । अग्निकुमाराणां द्वौ वृषाणौ अग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमाराणां द्वौ गोत्रभिदौ वेलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां द्वौ सूत्रामाणौ सुघोषो महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां द्वौ दिवस्पती जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां द्वौ शतमन्यू पूर्णोऽवशिष्टश्च । दिक्कुमाराणां द्वौ लेखर्षभौ अमितगतिरमितवाहनश्च ।

अथ व्यन्तराणां द्वौ द्वाविन्द्रावुच्येते—किन्नराणां द्वौ जिष्णू किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां द्वौ पुरन्दरौ सत्पुरुषो महापुरुषश्च । महोरगाणां द्वौ पुरुहूतौ अतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां द्वौ शुनासीरौ गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां द्वौ पाकशासनौ पूर्णभद्रो माणिभद्रश्च । राक्षसानां द्वौ विडौजसौ भीमो महाभीमश्च । भूतानां द्वौ मघवानौ प्रतिरूपोऽप्रतिरूपश्च । पिशाचानां द्वौ मरुद्वन्तौ कालो महाकालश्च ।

अथेदानीं देवानां सौख्यं कीदृशं वर्तते इति प्रश्ने सुखपरिज्ञानसूचनार्थं सूत्रमिदं कथ्यते सूरिभिः—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

कायेन प्रवीचारो मैथुनव्यवहारः सुरतोपसेवनं येषां ते कायप्रवीचाराः । ऐशानात् स्वर्गान् आ अभिविधेः अभिव्याप्तेः देवा वर्तन्ते इति शेषः । अस्यायमर्थः—भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्म्मैशानस्वर्गयोश्च देवाः सङ्क्लिष्टकर्म्मत्वात् मनुष्यादिवत् संवेशसुखमनुभवन्तीत्यर्थः[3] ।

अत्र 'आ ऐशानात्' इत्यत्र आङुपसर्गस्य ऐशब्देन सह सन्धिः किमिति न कृतः ? यतः कारणादाकारो द्विविधो वर्तते—एकस्तावदाङ् ङकारानुबन्धः द्वितीयस्तु आकारमात्रो निरनुबन्धः । तत्र द्वयोर्मध्ये यः सानुबन्धो ङकारानुबन्ध स मर्यादायाम् अभिविधौ क्रियायोगे ईषदर्थे च वर्तते । यस्तु वाक्ये स्मरणार्थे च वर्तते स निरनुबन्धः स्वरे परे सन्धिं न

---

१ वेणुदण्डो वे– **आ०, द०, ज०** । २ –पवेशनं **आ०, द०, ज०** । ३ "किञ्च दाद्दुविधीपातादो वेरेदस्सय णं ण होदि देवाणं । संकप्पसुहं जायदि वेदस्सुदीरणाविगमे ॥" **–सा० टि०** ।

प्राप्नोति । यस्तु मर्यादादिषु चतुर्ष्वेष्वर्थेषु वर्तते स स्वरे परे साऽनुबन्धत्वात् सन्धि प्राप्नोत्येव । [1]अस्मिन्नर्थे इदं सूत्रं वर्तते—इदं किम् ? “नाजोदन्तोऽनाङ् निःप्लुश्च ।” अस्यायमर्थः—‘न’ इति सन्धिं न प्राप्नोति । कोऽसौ ? अच् स्वरमात्रः [2]यथा अ अर्हन् प्रसीद, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ । ओदन्त ओकारान्तो निपातः सन्धिं न प्राप्नोति यथा अहो अर्हन्तं पश्य । तथा अनाङ् आङ्वर्जितः निः निपातः सन्धिं न प्राप्नोति यथा आ एवं किल स्वरूपमस्य इति वाक्ये आकारमात्रः स्मरणे [3]तथा आ एवं तन्मया कृतम् । आङ् पुनः सन्धिं प्राप्नोत्येव यथा आ आत्मज्ञानं मर्यादीकृत्य आत्मज्ञानात् ; आ एकदेशम् अभिव्याप्य ऐकदेशात् , क्रियायोगे यथा आ समन्तात् आलोकि आलोकि समन्तात् दृष्टो जिन इत्यर्थः । ईषदर्थे यथा आ ईषत् उपरतैः औपरतैः । प्लुतश्च सन्धिं न प्राप्नोति यथा आगच्छ भो जिनदत्त [4]अत्र । उक्तञ्च—

“मर्यादायामभिविधौ क्रियायोगेषदर्थयोः ।
य आकारः स ङित् प्रोक्तो वाक्यस्मरणयोरङित् ।।” [ ]

तदुदाहरणेषु श्लोकोऽयम्—

“आत्मज्ञानादैकदेशादालोक्यो(क्यौ)परतैर्जिनः ।
आ एवं तत्त्वमस्यार्थः आ एवं तत्कृतं मया ।।” [ ]

इति युक्त्या आङ् सन्धिं प्राप्नोत्येव कथमुमास्वामिभिर्भगवद्भिः ‘आ ऐशानात्’ इत्यत्र सन्धिकार्यं न कृतम् ? सत्यमुक्तं [5]भवता; असंहिततया सूत्रे निर्देशः असन्देहार्थ इति ।

अथ यद्यैशानपर्यन्ता देवाः कायप्रवीचारसुखसहिता वर्तन्ते तर्हि सनत्कुमारादारभ्य अच्युतपर्यन्ताः [6]कीदृशसुखा वर्तन्ते इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ।। ८ ।।

शिष्यन्तेऽवशिष्यन्त इति शेषाः । स्पर्शश्च रूपञ्च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि तैस्तेषु वा प्रवीचारः सुरतसौख्यानुभवनं येषां ते स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः । ईशा (ऐशा) नान्तान् देवान् परिहृत्य सानत्कुमारादयोऽच्युतस्वर्गपर्यन्ता अमराः शेषा इत्युच्यन्ते । अस्यायमर्थः—सानत्कुमारमाहेन्द्रत्रिविष्टपोत्पन्ना दिवौकसः शरीरसंस्पर्शमात्रेणैव स्त्रियः पुरुषाश्च मैथुनसुखमनुभवन्ति परां प्रीतिमाप्नुवन्ति, आलिङ्गनस्तनजघनमुखचुम्बनादिक्रियया प्रकृष्टां मुदं भजन्ते । तथा ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टचतुःसुरलोकसम्भवा वृन्दारका रूपेण[7] दिव्याङ्गनामनोहरवेषविलासचातुर्यशृङ्गाराकारावलोकनमात्रेणैव परमानन्दमाप्नुवन्ति । तथा शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारसञ्जातत्रिदशालया दिव्याङ्गनानां भूषणक्वणनमुखकमलललितभाषणमृदुहसनमधुरसंगानाकर्णनमात्रेणैव परां प्रीतिं संजिहते । तथा आनतप्राणतारणाच्युतत्रिदिव-

---

१ –न्नर्थे सूत्रमिदं व– आ०, द०, ज० । २ यथार्हन् ब० । यथा आ अर्हन् आ०, द०, ज० । ३ यथा आ०, द०, ज०, ब० । ४ अत्रात्र उ– आ० । ५ भगवता आ० । ६ कीदृशं सुखमनुवर्तन्ते आ०, द०, ज० । ७ –ण दिव्यं दि– आ०, द०, ज० । ८ –ररूपाव– आ०, द०, ज० ।

लब्धजनयः सुपर्व्वाणो निजाङ्गनाचित्तसङ्कल्पमात्रेणैव परमप्रीतिलक्षणं संसुखमास्कन्दन्ति । इत्यार्षशास्त्राविरोधेन ज्ञातव्यं व्याख्यानम् ।

अथ यद्येवं तर्हि ग्रैवेयकादिसम्भवानामृभुक्षाणां कीदृग्विधं सुखं वर्तते ? इति प्रश्ने अहमिन्द्रसुखनिर्णयनिमित्तं सूत्रमिदमाहुः उमास्वामिनः—

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

परे नवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरसञ्जाताः सुमनसस्ते अप्रवीचाराः मनसापि मैथुनसुखानुभवनरहिता भवन्तीति भावः । तेषां कल्पवासिभ्योऽपि परमप्रकर्षहर्षलक्षणं सुखमुत्कृष्टं वर्तते, यतः प्रवीचारो हि कामसम्भववेदनाप्रतीकारः, स तु कामसम्भवस्तेषां कदाचिदपि न वर्तते तेनाहमिन्द्राणामनवच्छिन्नं सुखमेव सम्भवतीत्यायातम् ।

अथ ये दशप्रकाराः प्रथमनिकायविबुधाः तेषामुत्सर्गोऽपवादसंज्ञाप्रज्ञापननिमित्तं सूत्र[3]मिदं ब्रुवते—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनेषु वसन्तीत्येवं स्वभावा भवनवासिनः असुरादयो दशप्रकारा अपि सुरा भवनवासिन इत्युच्यन्ते इत्युत्सर्गेण सामान्येन संज्ञा वर्तते । अथापवादेन विशेषतया तेषां निर्जराणां संज्ञा संज्ञाप्यते । तथा हि—असून् प्राणान् रान्ति गृह्णन्ति परस्परयोधनेन नारकाणां दुःखमुत्पादयन्तीत्यसुराः न सुरा वा असुराः प्रायेण सङ्क्लिष्टपरिणामत्वात् । नगेषु पर्वतेषु चन्दनादिषु वृक्षेषु वा भवा नागाः । विद्योतन्ते इति विद्युतः । सुष्ठु शोभनानि पर्णानि पक्षा येषान्ते सुपर्णाः । अङ्गन्ति पातालं विहाय क्रीडार्थमूर्द्ध्वमागच्छन्तीति अग्नयः । वान्ति तीर्थकरविहारमार्गं शोधयन्ति ते वाताः । स्तनन्ति शब्दं कुर्वन्ति, स्तनः शब्दः सञ्जातो वा येषां ते स्तनिताः । उदानि उदकानि धीयन्ते येषु ते उदधयः, उदधिक्रीडायोगात्त्रिदशा अपि उदधयः । द्वीपक्रीडायोगात् [4]दिविषदोऽपि द्वीपाः । [5]दिशन्ति अतिसर्जयन्ति अवकाशमिति दिशः, दिक्क्रीडायोगादमृतान्धसोऽपि दिशः । असुराश्च नागाश्च विद्युतश्च सुपर्णाश्च अग्नयश्च वाताश्च स्तनिताश्च उदधयश्च द्वीपाश्च दिशश्च असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिशः, ते च ते कुमारास्ते तथोक्ताः । अस्यायमर्थः—विशिष्टनामकर्म्मोदयजनितदेवत्वस्वभावेऽपि वाहनायुधभूषावेषादिक्रीडारता नृपकुमारवत्प्रतिभासन्ते ये ते असुरकुमारादयो रूढिं गताः । असुरकुमाराणां पङ्कबहुलभागे भवनानि वर्तन्ते । शेषाणां नवानां खरबहुलभागे भवनानि सन्ति । खरबहुल-पङ्कबहुल-अब्बहुलभागत्रयव्यवस्थितिस्तु पूर्वमेव वर्णितेति ज्ञातव्यम् ।

---

१ –कादीनां सम्भवानां देवानां कीदृ– आ०, द०, ज० । २ –णां सञ्ज्ञाप्रज्ञातनिमित्तमव– आ० । ३ –मिदमाहुः ब० । ४ दिविषादोऽपि आ०, द०, ज० । ५ दिश्यन्ति ता०, ब० ।

अथेदानीं द्वितीयस्य निकायस्य उत्सर्गापवादसंज्ञाविज्ञापनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

व्यन्तराः विविधदेशान्तराणि निवासा येषां ते व्यन्तराः, इयं सामान्यसंज्ञा अन्वर्था वर्तते सत्यार्था वर्तते । कानि देशान्तराणि तेषां निवास इति चेत् ? निरूपयामि[1]—एतस्माज्जम्बूद्वीपात् असङ्ख्येयद्वीपसमुद्रात् व्यतिक्रम्य स्थिते खरपृथ्वीभागे किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचानां सप्तप्रकाराणां व्यन्तराणां निवासाः सन्ति राक्षसानान्तु निवासाः तद्भागसमे खरभागसमपङ्कबहुलभागे वर्तन्ते । किन्नराश्च किम्पुरुषाश्च महोरगाश्च गन्धर्वाश्च यक्षाश्च राक्षसाश्च भूताश्च पिशाचाश्चेति द्वन्द्वः ते तथोक्ताः । एते अष्टप्रकारा व्यन्तरा विशेषसंज्ञा ज्ञातव्याः, देवगतिविशिष्टनामकर्मोदयसमुत्पन्ना इत्यर्थः ।

अथ तृतीयनिकायस्य सामान्यविशेषसंज्ञासंज्ञापनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

ज्योतिःस्वभावत्वात् ज्योतिष्काः । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ[2] "देवताद्वन्द्वे" इति सूत्रेण [3]पूर्वपदस्याकारः । ग्रहाश्च नक्षत्राणि च प्रकीर्णकतारकाश्च ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः । चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते । तेनायमर्थः—न केवलं सूर्याचन्द्रमसौ ज्योतिष्कौ[5] किन्तु ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ज्योतिष्का वर्तन्ते । सूर्याचन्द्रमसोः पृथगुपादानं प्रभादिकृतप्राधान्यनिमित्तम् । एषां स्थितिसूचनार्थमियं गाथा वर्तते—

"नवदुत्तरसत्तसया दससीदीचउदुगं तु तिचउक्कम् ।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवअङ्गिरारसणी[6] ॥१॥" [जम्बू० प० १२।९३]

अस्यायमर्थः—नवत्युत्तरसप्तशतानि योजनानि समभूमिभागादूर्द्ध्वं गत्वा पुष्पवत् प्रकीर्णाः तारका लभ्यन्ते । तास्तु तारकाः सर्वेषां ज्योतिष्काणामधोभागविन्यस्ताश्चरन्ति । तारकाभ्य उपरि दश योजनानि गत्वा सूर्याश्चरन्ति । सूर्येभ्य उपरि अशीतियोजनानि गत्वा चन्द्रमसश्चरन्ति । चन्द्रमोभ्यः उपरि चत्वारि योजनानि गत्वा अश्विनीप्रभृतीनि नक्षत्राणि भ्रमन्ति । नक्षत्रेभ्य उपरि चत्वारि योजनानि गत्वा बुधा लभ्यन्ते । बुधेभ्य उपरि त्रीणि योजनानि गत्वा भार्गवाः शुक्राः सन्ति । शुक्रेभ्य उपरि त्रीणि योजनानि गत्वा अङ्गिरसो बृहस्पतयः सन्ति । अङ्गिरेभ्य उपरि त्रीणि योजनानि गत्वा आरा मङ्गला वर्तन्ते । आरेभ्य उपरि त्रीणि योजनानि गत्वा शनयो जाग्रति । सूर्यादधः मनागूनयोजने केतुर्वर्तते । चन्द्रादधो भागे ईषदूनयोजने च राहुरस्ति । एषां विमानाकारप्रतिपत्त्यर्थमियं गाथा—

---

१ निरूपयति आ०, द०, ज० । २ –सौ ग्रहा– ता० । ३ –पूर्वपदस्य दीर्घः ब० । ४ –स्परं स– आ०, द०, ज०, ता० । ५ –तिष्काः कि– आ०, द०, ज० । ६ नवत्युत्तरसप्तशतानि दश अशीतिश्चतुर्द्विकं तु त्रिचतुष्कम् । तारारविशशिऋक्षा बुधभार्गवाङ्गिरारशनयः ॥

"उत्ताणट्ठियगोलगदलसण्णिहसव्वजोइसविमाणा ।
चंदत्तिय वज्जिता सेसा हु चरंति एक्कवहे[1] ॥" [तिलोय० ७।३७]

उत्तानस्थिताद्धगोलकाकाराः सर्व्वेषां ज्योतिष्काणां विमाना वर्तन्ते । चन्द्रसूर्यग्रहान् वर्जयित्वा शेषाः नक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च एकस्मिन् निजनिजमार्गे व्रजन्ति ।

अथेदानीं ज्योतिष्कगतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमुच्यते–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

मेरोः प्रदक्षिणा मेरुप्रदक्षिणाः । नित्या अनवरता गतिर्गमनं येषां ज्योतिष्काणां ते नित्यगतयः । नृणां लोकः नृलोकस्तस्मिन् नृलोके । अस्यायमर्थः–सर्वे ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणेन [2]कृत्वा भ्रमन्ति न तु वामगत्या भ्रमन्ति । नित्यगतयः क्षणमपि ज्योतिष्काणां गतिः केनापि भङ्क्तुं न शक्यते । ते तु मनुष्यलोकोपरि स्थिता ज्योतिष्का सदागतयो भवन्ति । आधाराधेययोरैक्योपचारात् ज्योतिष्कैरारूढा विमाना भ्रमन्ति । अर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोरुपरि नित्यगतयो वर्तन्ते मानुषोत्तरपर्वताद्बहिः ज्योतिष्का न भ्रमन्तीत्यर्थः । अचेतना विमानाः कथं भ्रमन्ति ? सत्यम् ; प्रदक्षिणागत्यविरतैराभियोग्यदेवैः प्रेरिता विमाना गतिं कुर्वन्ति कर्मोदयस्य [3]वैचित्र्यवशात् । आभियोग्यानां देवानां विमानप्रेरणकर्म्मणैव कर्म विपच्यते । ते तु ज्योतिष्का एकविंशत्यधिकैकादशयोजनशतैर्मेरुं परिहृत्य प्रदक्षिणाः सन्तश्चरन्ति । उक्तञ्च–

"इगवीसेकारसयं विहाय मेरुं चरंति जोदिगणा ।
चंदत्तिय वज्जिता सेसा हु चरंति एक्कवहे[4] ॥"

[त्रिलोकसा० ३४४। जम्बू० प० १२।१०१]

अथ विशेषः–जम्बूद्वीपोपरि द्वौ सूर्यौ वर्तेते । षट्पञ्चाशन्नक्षत्राणि सन्ति । षट्सप्तत्यधिकमेकं शतं ग्रहाणाञ्च वर्तते । लवणोदसमुद्रोपरि दिनमणयश्चत्वारः सन्ति । द्वादशाधिकं शतमुडूनाञ्च वर्तते । द्वापञ्चाशदधिकं[5] शतत्रयं ग्रहाणाञ्च वर्तते । धातकीखण्डोपरि प्रद्योतना द्वादश वर्तन्ते । षट्त्रिंशदधिकं शतत्रयमृक्षाणां च वर्तते । षट्पञ्चाशदधिकं सहस्रं ग्रहाणामस्ति । कालोदसमुद्रोपरि त्रयीतनवो द्वाचत्वारिंशत् सन्ति । षट्सप्तत्यधिकानि एकादशशतानि[6] नक्षत्राणां[7] वर्तन्ते । षण्णवत्यधिकानि षट्त्रिंशच्छतानि ग्रहाणां सन्ति । पुष्करार्धद्वीपोपरि द्वासप्ततिरंशुमालिनो वर्तन्ते । षोडशाधिकं सहस्रद्वयं नक्षत्राणाञ्च वर्तते । षट्त्रिंशदधिकानि त्रिषष्टिशतानि ग्रहाणां वर्तन्ते । मानुषोत्तराद्बहिः पुष्करार्धे पुष्करसमुद्रे

---

१ उत्तानस्थितगोलकदलसन्निभसर्वज्योतिष्कविमानाः । चन्द्रत्रयं वर्जयित्वा शेषा हि चरन्ति एकपथे ॥ २ गत्वा आ०, द०, ज० । ३ वैचित्रिव– आ०, ज०, ब०, ता० । ४ एकविंशत्येकादशशतं विहाय मेरुं चरन्ति ज्योतिर्गणाः । चन्द्रत्रयं वर्जयित्वा शेषा हि चरन्ति एकपथे ॥ ५ –कश– आ०, द०, ज० । ६ –नि च नक्षत्राणि वर्तते द० । ७ –णाञ्च वर्तते ज०, आ० ।

च सूर्यादीनां संख्या परमागमाद् वेदितव्या[1]। यत्र यावन्तः सूर्यास्तत्र तावन्तश्चन्द्रमसोऽपि वेदितव्याः। बहुविधगणनानि[2] नक्षत्राणि च ज्ञातव्यानि। अथवा सर्वत्र एकैकस्य कुमुदबान्धवस्य सम्बन्धिनो ग्रहा अष्टाशीतिरष्टाशीतिर्भवन्ति। एकैकस्य जैवातृकस्य अष्टाविंशतिरष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि भवन्ति। मानुषोत्तराऽभ्यन्तरेऽयं निर्णयः।

अथेदानीं गतिमतां ज्योतिष्काणां सम्बन्धेन व्यवहारकालः प्रवर्तते इति सूचयत्सूत्रमिदमाहुः—

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

तज्ज्योतिष्कैर्ज्योतिष्कगत्या च कृतः तत्कृतः तत्क्रियाविशेषपरिच्छिन्नः[3] अन्यजातादेरपरिच्छिन्नस्य कालनैयत्येनानवधारितस्य परिज्ञानहेतुरित्यर्थः। कालस्य समयावलिकादिव्यवहारकालस्य विभागः कालविभागः। कालो द्विप्रकारः—मुख्यो व्यावहारिकश्च। मुख्यः कालः परमाणुरूपो निश्चलो व्यवहारकालहेतुभूतः सम्भृतत्रिभुवनो वर्तते। मुख्यात्सञ्जातो व्यावहारिकश्च[4] समयावलिनाडिकादिलक्षणः। मुख्यस्य कालस्य च लक्षणं पञ्चमाध्याये विस्तरेण सूचयिष्यन्त्याचार्याः।

अथेदानीं मानुषोत्तराद् बहिर्ये वर्तन्ते ज्योतिष्काः तेषां निश्चलत्वप्रतिपादकं सूत्रमुच्यते—

बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

मनुष्यलोकाद्बहिः "सर्वे[5] ज्योतिष्का अवस्थिता निश्चला[6] एव वर्तन्ते। तदुक्तम्—

"दो दोवग्गं बारस बादालबहत्तरिं विउण (रिंदुइण) संखा।
पुक्खरदलोत्ति परदो अवट्ठिदा सव्वजोदिगणा[7] ॥" [   ]

चन्द्रसूर्यविमानविस्तारसूचनार्थमियं[8] गाथा—

"जोयणमेगट्ठिकए छप्पणअडदालचंदसूराणं।
सुक्कगुरिदरतियाणं कोसं किंचूणकोस कोसद्धं[9]" ॥ [त्रिलोकसा० गा० ३३७]

अस्यायमर्थः—एकस्य प्रमाणयोजनस्य एकषष्टिर्भागाः क्रियन्ते तन्मध्ये षट्पञ्चाशद् भागाः चन्द्रविमानस्य उपरितनविस्तारो वर्तते। सूर्यविमानस्य तूपरितनभागोऽष्टचत्वारिंशद्भागमात्रो वर्तते। शुक्रविमानविस्तारस्तु क्रोशमात्रः। बृहस्पतेस्तु किञ्चिदूनक्रोशः। मङ्गलबुधशनीनान्तु अर्द्धक्रोशमात्र इत्यर्थः।

१ *त्रिलोकसा० गा० ३५०। मानुषोत्तरशैलाद्बहिः पुष्करार्धे चत्वारिंशदधिकशतं सूर्याणां भवति। अग्रे द्विगुणा द्विगुणा वेदितव्याः।* २ –गणानि आ०, द०, ज०। ३ –न्नः अन्यजातादेरपरिच्छिन्नः अन्यजा– आ०, द०, ज०। ४ –कः स– आ०, द०, ज०, ता०। ५ सर्वज्यो– आ०, द०, ज०। ६ –ला व– आ०, द०, ज०। ७ द्वौ द्विवर्गं द्वादश द्वाचत्वारिंशत् द्वासप्ततिरिन्द्विनसंख्याः। पुष्करदलान्तं परतः अवस्थिताः सर्वज्योतिर्गणाः ॥ ८ –नार्था इयं ता०, ब०। ९ *योजनमेकषष्टिकृते षट्पञ्चाशत् अष्टचत्वारिंशत् चन्द्रसूर्याणाम्। शुक्रगुर्वितरत्रयाणां क्रोशः किञ्चिदूनक्रोशः क्रोशार्धम्* ॥

अथेदानीं चतुर्थस्य निकायस्य सामान्येन संज्ञां निरूपयन्ति—

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

विशेषेण आत्मस्थान् पुण्यवतो जीवान् मानयन्ति यानि तानि विमानानि। विमानेषु भवा ये ते वैमानिकाः। अत ऊद्र्ध्वं ये वर्णयिष्यन्ते ते देवा वैमानिकसंज्ञा भवन्ति इत्यधिकारसूत्रमिदं ज्ञातव्यम्। तानि विमानानि त्रिप्रकाराणि भवन्ति-इन्द्रकविमानानि श्रेणिविमानानि प्रकीर्णकविमानानि चेति। यानि इन्द्रवत् मध्यस्थितानि तानि इन्द्रकविमानानि। आकाशप्रदेशश्रेणिवत् यानि विमानानि चतुर्दिक्षु स्थितानि तानि श्रेणिविमानानि। प्रकीर्णकुसुमवत् यत्र तत्र विक्षिप्तपुष्पाणीव यानि विमानानि प्रदिक्षु स्थितानि तानि पुष्पप्रकीर्णकानि। अत्र विशेषः-जैनचैत्यालया ये शाश्वता वर्तन्ते विमानेषु च ये देवप्रासादाः[3] सन्ति ते सर्वेऽपि यद्यप्यकृत्रिमा वर्तन्ते तथापि तेषां मानं मानवयोजनक्रोशादिकृतं ज्ञातव्यम्। अन्यानि शाश्वतस्थानानि प्रमाणयोजनादिभिर्मातव्यानि इति परिभाषेयम्। परिभाषेति कोऽर्थः? अनियमे नियमकारिणी परिभाषा।

अथेदानीं वैमानिकानां द्वैविध्यसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्य्याः—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

कल्पेषु [5]षोडशसु स्वर्गेषु उपपन्नाः सम्बद्धाः कल्पोपपन्नाः कल्पेभ्योऽतीता अतिक्रान्ता उपरितनक्षेत्रवर्तिनो नवग्रैवेयकदेवा नवानुदिशामृताशनाश्च पञ्चानुत्तरनिवासिनो निर्जराश्च त्रिप्रकारा अपि अहमिन्द्राः कल्पातीताः कथ्यन्ते। ननु भवनवासिषु व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च इन्द्रादीनां कल्पनं वर्तते तेऽपि कल्पोपपन्नाः कथन्नोच्यन्ते? इत्याह—सत्यम्; यद्यपि तेषु इन्द्रादिकल्पो वर्तते तथापि वैमानिका एव कल्पोपपन्ना इति रूढिं गताः, यथा गच्छतीति गौः धेनुर्वृषभ एव गौरुच्यते गमनक्रियापरिणतोऽपि अश्वादिर्न गौरुच्यत इति।

अथेदानीं वैमानिकानाम् अवस्थितिविशेषविज्ञापनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च वैमानिकाः उपर्युपरि ऊर्ध्वमूर्ध्वं वर्तन्ते। तेषां विमानानि च पटलापेक्षया उपर्युपरि ऊद्र्ध्वे ऊद्र्ध्वे सन्ति, ज्योतिष्कवत्तिर्य्यगवस्थिता न वर्तन्ते, व्यन्तरवदसमव्यवस्थितयश्च न सन्ति, इतस्ततो यत्र तत्र च न वर्तन्ते किन्तु उपर्युपरि वर्तन्ते। अथवा 'उपर्युपरि' इत्ययं शब्दः समीपवाची वर्तते। तत्रैवमर्थघटना कर्तव्या-यस्मिन् पटले सौधर्म्मस्वर्गो दक्षिणदिशि वर्तते तस्मिन्नेव पटले उत्तरदिशि समीपवर्ती ईशानस्वर्गोऽस्ति। एवं प्रतिपटलं यथासम्भवं द्विद्विस्वर्गविचारः अच्युतान्ते कर्तव्यः।

अथ कियत्सु कल्पविमानेषु देवा भवन्तीति प्रश्ने [6]सूत्रमिदमाहुः—

---

१ –पयति आ०, ज०। २ –र्णवि– ता०, आ०, द०, ज०। ३ –दा वर्तन्ते ते आ०, द०, ज०। ४ –भिर्ज्ञात–आ०, द०, ज०, व०। ५ षोडशस्व– व०। ६ –माहुः भगवन्तः आ०, द०, ज०।

सौधर्म्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सुधर्मा नाम्नी देवसभा वर्तते सा विद्यते यस्मिन्नसौ[1] सौधर्म्मः स्वर्गः। तत्स्वर्गसाहचर्यात् इन्द्रोऽपि सौधर्म्मः। ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावात्, ईशानस्य निवासः स्वर्ग ऐशानः। ऐशानस्वर्गसाहचर्यात् शक्रोऽप्यैशानः। सनत्कुमारो नाम जिष्णुः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः सानत्कुमारः। सानत्कुमारस्वर्गसाहचर्यात् मरुत्वानपि सानत्कुमारः। महेन्द्रो नाम मघवान् स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गो माहेन्द्रः। माहेन्द्रस्वर्गसाहचर्यात् बिडौजा अपि माहेन्द्रः। ब्रह्म नाम आखण्डलः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गोऽपि [2]ब्रह्मा। ब्रह्म[3]स्वर्गसाहचर्यात् पाकशासनोऽपि ब्रह्मा। ब्रह्मोत्तरनामा ऋभुक्षा[4] स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गो ब्रह्मोत्तरः। ब्रह्मोत्तरस्वर्गसाहचर्यात् सहस्राक्षोऽपि ब्रह्मोत्तरः। लान्तवो नाम मेघवाहनः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः लान्तवः। लान्तवस्वर्गसाहचर्यात् तुरापाडपि लान्तवः। कापिष्टो नाम दुश्च्यवनः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः कापिष्टः। कापिष्टस्वर्गसाहचर्यात् सङ्क्रन्दनोऽपि कापिष्टः। शुक्रो नाम नमुचिसूदनः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः शुक्रः। शुक्रस्वर्गसाहचर्यात् स्वाराडपि शुक्रः। महाशुक्रनामा हरिहयः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः महाशुक्रः। महाशुक्रस्वर्गसाहचर्यात् जम्भभेदपि महाशुक्रः। शतारनामा शचीपतिः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः शतारः। शतारस्वर्गसाहचर्यात् बलारातिरपि शतारः। सहस्रारनामा सुरपतिः स्वभावात्, तस्य निवासः [5]स्वर्गोऽपि सहस्रारः। सहस्रारस्वर्गसाहचर्यात् वास्तोःपतिरपि सहस्रारः। आ समन्तात् सर्वज्ञच[6]रणकमलेषु नतः आनतो वृषा स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः आनतः। आनतस्वर्गसाहचर्यात् वासवोऽपि आनतः। प्रकर्षेण आ समन्तात् सर्वज्ञचरणकमलेषु नतः प्राणतः वज्री स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः प्राणतः। प्राणतस्वर्गसाहचर्यात् गोत्रभिदपि प्राणतः। गोत्राणि जिनसहस्रनामानि भिनत्ति अर्थपूर्वं जानातीति गोत्रभित्, न तु पर्वतपक्षच्छेदकत्वात् पर्वतानां पक्षसद्भावाभावप्रतीतेः। आ समन्तात् रणः शब्दो यस्य स आरणः प्रसिद्धनामकः, आरणस्य निवासः स्वर्गोऽपि आरणः। आरणस्वर्गसाहचर्यात् सुत्रामाऽपि आरणः। न धर्म्माच्च्युतः अच्युतः शतमन्युः स्वभावात्, तस्य निवासः स्वर्गः अच्युतः। अच्युतस्वर्गसाहचर्यात् दुश्च्यवनोऽपि अच्युतः।

उपर्युपरि इति वचनात् सिद्धान्ताऽपेक्षया व्यवस्था भवति। कासौ व्यवस्था? पूर्वौ सौधर्म्मैशानकल्पौ, तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रौ, तयोरुपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरौ, तयोरुपरि लान्तवकापिष्टौ, तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रौ, तयोरुपरि शतारसहस्रारौ, तयोरुपरि आनतप्राणतौ,

---

१ –न् सः सौ– आ०, द०, ज०। २ ब्रह्म आ०, द०, ज०, व०। ३ ब्रह्मनाम आखण्डलः आ०, द०, ज०। ४ –क्षा च स्व– आ०। –क्षा तस्य ता०। ५ स्वर्गः स– ता०, व०। ६ –चरणेषु आ०, द०, ज०, व०।

तयोरुपरि आरणाच्युतौ। तथा नवसु ग्रैवेयकेषु वैमानिका देवा भवन्ति। 'नवसु' इति पृथग्विभक्तिकरणात् नवग्रैवेयकानन्तरं नवानुदिशवैमानिका भवन्तीति ज्ञातव्यम्। तदनन्तरं विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धिपञ्चानुत्तरवैमानिका भवन्ति। सर्वार्थसिद्धिशब्दस्य पृथक् विभक्तिदानं [1]सर्वनामोत्तमत्वसूचनार्थं नामप्रकृतिषु तीर्थकरत्वञ्चेति यथा।

अथ विस्तारः—योजनलक्षोन्नतः किल मेरुपर्वतः। तन्मध्ये एकं योजनानां सहस्रं भूमिमध्ये वर्तते। नवनवतियोजनसहस्राणि बहिःस्थितोऽस्ति। तन्मध्ये चत्वारिंशद्योजनान्युन्नता तच्चूलिका वर्तते। सा चूलिका [2]ऋतुविमानं वालान्तरमात्रमप्राप्य स्थिता। मेरोरधस्तात् अधोलोकः। मेरुप्रमाणबाहुल्यः तिर्यक्लोकः। मेरोरुपरि सर्वोऽपि ऊर्ध्वलोकः।

सौधर्मैशा[3]नयोः सम्बन्धीनि एकत्रिंशत् पटलानि। तन्मध्ये प्रथमम् [4]ऋतुपटलम्। ऋतुपटलस्योपरि मध्यप्रदेशे ऋतुविमानं नाम इन्द्रकं वर्तते। इन्द्रकमिति कोऽर्थः? मध्यविमानम्। तत्प्रथममिन्द्रकं पञ्चचत्वारिंशल्लक्ष[5]योजनविस्तृतं तस्मादिन्द्रकाच्चतुर्दिक्षु चतस्रो विमानश्रेणयो निर्गताः प्रत्येकं द्विषष्टिविमानसङ्ख्याः। चतुर्विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णविमानानि वर्तन्ते। एतस्मात् ऋतुपटलादुपरि एकैकस्य पटलस्य एकैकस्यां श्रेणौ एकैकं विमानं हीनं भवति यावत् प्रभानामकमन्त्यमेकत्रिंशं पटलं वर्तते। प्रभापटलस्योपरि मध्यभागे प्रभासंज्ञं यदिन्द्रकविमानं वर्तते तस्य इन्द्रकस्य चतुर्दिक्षु चतस्रो विमानश्रेणयः सन्ति, ताः प्रत्येकं द्वात्रिंशद्विमानसङ्ख्या वर्तन्ते। तासां चतसृणां विमानश्रेणीनां मध्ये या विमानश्रेणिः दक्षिणां दिशं गता तस्यां श्रेणौ यदष्टादशं विमानं वर्तते तद्विमानं सौधर्मेन्द्राधिष्ठानम्। उत्तरश्रेणौ तु यदष्टादशं विमानमस्ति तस्मिन् विमाने ऐशानेन्द्रो वसति। द्वयोरपि विमानयोः प्रत्येकं त्रयः प्राकाराः। तेषु प्राकारेषु मध्ये बाह्यप्राकाराभ्यन्तरे अनीकानि पारिषदाश्च देवा वसन्ति[6]। मध्यप्राकाराभ्यन्तरे सचिवदेवा वसन्ति। आभ्यन्तरप्राकाराभ्यन्तरे इन्द्रो वसति। एवं सर्वत्र इन्द्रादीनां स्थितियुक्तिर्ज्ञातव्या। पूर्वदक्षिणपश्चिमतिस्रः (मास्तिस्रः) श्रेणयः अग्निकोणनैर्ऋत्यकोणयोः पुष्पप्रकीर्णकानि सौधर्मस्वर्ग उच्यते। उत्तरश्रेणिरेका वायुकोणेशानकोणयोः पुष्पप्रकीर्णविमानानि ऐशानस्वर्ग उच्यते। एवम् एकत्रिंशत्पटलेष्वपि विभजनीयम्।

ततः परं [7]सानत्कुमारमाहेन्द्रनामानौ स्वर्गौ वर्तेते। तयोः पटलानि सप्त भवन्ति। तत्र प्रथमं पटलमञ्जनं नाम। तस्य पटलस्य मध्यप्रदेशे अञ्जनं नाम इन्द्रकविमानं वर्तते। तच्चतुर्दिक्षु चतस्रो विमानश्रेणयो निर्गताः प्रत्येकम् एकत्रिंशद्विमानाः। प्रदिक्षु च चतसृष्वपि पुष्पप्रकीर्णकविमानानि वर्तन्ते। ततः परम् एकैकस्य पटलस्यैकैकस्यां श्रेणावेकैकं विमानं हीनं भवति। तेन सप्तमपटले इन्द्रकविमानात् चतुर्दिक्षु चतस्रो विमानश्रेणयः पञ्चविंशतिविमानाः प्रत्येकं भवन्ति। तन्मध्ये दक्षिणश्रेणौ पञ्चदशं स्वर्गविमानं सानत्कुमारेन्द्रो भुनक्ति। उत्तरदिशि तु पञ्चदशं कल्पविमानं माहेन्द्रः प्रतिपालयति।

---

१ सर्वमानोत्तम– ता०। २ ऋजुवि– आ०, ब०, द०, ज०। ३ –शानस– आ०, द०, ज०। ४ ऋत्तप– ता०। ऋजुप– आ०, द०, ज०। ५ –क्षवि– ता०, व०। ६ –न्ति स्म म– आ०, द०, ब०। ७ सनत्कु– आ०, द०, ब०, व०, ज०।

तत उपरि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरस्वर्गौ वर्तेते । तयोश्चत्वारि पटलानि । तत्र प्रथमं पटलमरिष्टं नाम । तन्मध्यप्रदेशे अरिष्टनामकमिन्द्र[1]कविमानं वर्तते । तस्माद्विमानाच्चतुर्दिक्षु चतस्रः श्रेणयः प्रत्येकं चतुर्विंशतिविमानाः । विदिक्षु पुष्पप्रकीर्णकानि । प्रतिपटलं श्रेणौ श्रेणौ एकैकं विमानं हीनं भवति । तेन चतुर्थे पटले ब्रह्मोत्तरनाम्नि श्रेणिविमानानि [2]प्रत्येकमेकविंशतिर्भवन्ति[3] । तत्र [4]चतुर्थे पटले दक्षिणश्रेणौ द्वादशस्य[5] विमानस्य स्वामी ब्रह्मो नाम देवेन्द्रो वर्तते । उत्तरश्रेणौ तु द्वादशस्य कल्पविमानस्य स्वामी ब्रह्मोत्तर इति । इत उत्तरं लान्तवकापिष्टसंज्ञकौ द्वौ[6] स्वर्गौ वर्तेते । तयोर्द्वे पटले ब्रह्महृदयलान्तवनामके । तत्र लान्तवपटले मध्यप्रदेशे लान्तवं नामेन्द्रकविमानमस्ति । तस्य विमानस्य चतुर्दिक्षु चतस्रः श्रेणयः प्रत्येकमेकोनविंशतिविमानाः । तत्र दक्षिणश्रेणौ नवमं विमानं लान्तवेन्द्रो भुनक्ति । उत्तरश्रेणौ तु नवमं विमानं कापिष्टः प्रतिपालयति ।

तत उपरि शुक्रमहाशुक्रनामानौ द्वौ स्वर्गौ वर्तेते । तयोर्द्वयोरपि स्वर्गयोरेकमेव पटलं वर्तते तस्य नाम महाशुक्रं भवति । तस्य पटलस्य मध्यप्रदेशे [7]महाशुक्रं नाम इन्द्रकविमानं वर्तते । तस्य विमानस्य चतुर्दिक्षु चतस्रः श्रेणयः सन्ति प्रत्येकमष्टादशविमानाः । तत्र दक्षिणश्रेणौ द्वादशं विमानं शुक्रेन्द्रो भुनक्ति । उत्तरश्रेणिगं[8] द्वादशं कल्पविमानं महाशुक्रः शास्ति । तदुपरि शतारसहस्रारनामानौ स्वर्गौ वर्तेते । तयोर्द्वयोरपि एकमेव पटलं वर्तते सहस्रारनामकम् । तस्य मध्यप्रदेशे सहस्रारं [9]नामेन्द्रकविमानम् । तस्माच्चतुर्दिक्षु चतस्रः श्रेणयो निर्गताः प्रत्येकं सप्तदशविमानाः । तत्र दक्षिणश्रेणौ नवमं विमानं शतारेन्द्रस्य, तथोत्तरश्रेणौ नवमं विमानं सहस्रारेन्द्रस्य । ते द्वे अपि विमाने क्रमात् शतारसहस्रारनामके । एवं सर्वत्र इन्द्रनाम्ना विमाननाम ज्ञातव्यम्, विभजनन्तु पूर्ववद् वेदितव्यम् ।

ततः परम् आनतप्राणतारणाच्युतनामानश्चत्वारः स्वर्गा वर्तन्ते । तेषां चतुर्णामपि स्वर्गाणां पटलानि षट् भवन्तीति सिद्धान्तवचनम्[10] । तेषु षट्सु पटलेषु चतुर्दिक्षु श्रेणिविमानानि प्रदिक्षु च प्रकीर्णकविमानानि । तत्र अन्त्यपटलमच्युतनामकम् । तस्य मध्यप्रदेशे अच्युतं[11] नामेन्द्रकविमानं भवति । तस्माच्चतुर्दिक्षु चतस्रः श्रेणयो निर्गताः प्रत्येकमेकादशविमानाः । तत्र दक्षिणश्रेणौ षष्ठं विमानं यद् वर्तते तस्य स्वामी आरणेन्द्रः । तथोत्तरश्रेणौ षष्ठं विमानमच्युतेन्द्रः पाति । किं क्रियते लोकानुयोगनाम्नि[12] सिद्धान्त आनतप्राणतेन्द्रौ नोक्तौ तन्मतानुसारेण इन्द्राश्चतुर्दश भवन्ति । मया तु द्वादशोच्यन्ते, यस्मात् ब्रह्मेन्द्रानुवर्ती ब्रह्मोत्तरेन्द्रः, लान्तवेन्द्रानुवर्ती कापिष्टेन्द्रः, शुक्रेन्द्रानुवर्ती महाशुक्रेन्द्रः, शतारेन्द्रानुवर्ती सहस्रारेन्द्रः ।

---

१ -न्द्रवि- आ०, द०, ज० । २ प्रत्येकं वि- व० । ३ -भवति आ०, द०, ज० । ४ चतुर्थप- आ०, द०, ज० । ५ -स्य वि- आ०, द०, ज० । ६ -कौ स्व- आ०, द०, ज० । ७ महाशुक्रशुक्रं ता० । ८ -कं द्वा- व० । ९ नवमकमिन्द्र- आ०, ज०, द० । १० द्रष्टव्यम्- त्रिलोकसा० गा० ४६८ । ११ -तनामे- व० । १२ "सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबम्हुलंतवया । तह सुक्कसहस्सारा आणदपाणद य आरणच्चुदया ॥ एवं बारसकप्पा" "सोहम्मो ईसाणो" "इय सोलसकप्पाणिं भणंते केइ आइरिया" पाटान्तरम् -त्रिलोक प्रज्ञ० वैमानिक० ।

सौधर्म्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रेषु चत्वार इन्द्राः आनतप्राणतारणाच्युतेषु चत्वार इन्द्राः । तेन कल्पवासीन्द्रा द्वादश भवन्ति ।

सौधर्मस्वर्गस्य सम्बन्धीनि विमानानि द्वात्रिंशल्लक्षाणि भवन्ति । ऐशानस्वर्गस्याष्टाविंशतिलक्षाणि । सानत्कुमारस्य द्वादश लक्षाणि । माहेन्द्रस्य अष्टौ लक्षाणि । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः समुच्चयेन चत्वारिंशल्लक्षाणि कथ्यन्ते । लान्तवकापिष्टयोः समुदायेन पञ्चाशत्सहस्राणि भवन्ति । शुक्रमहाशुक्रयोः समुदितानि चत्वारिंशत् सहस्राणि स्युः । शतारसहस्रारयोरेकत्र षट् सहस्राणि वर्तन्ते । आनतप्राणतारणाच्युतानां चतुर्णामपि सप्तशतानि तिष्ठन्ति । प्रथमग्रैवेयकत्रिके श्रेणिबद्धपुष्पप्रकीर्णकाश्च विमानाः समुदिताः तेषामेकादशोत्तरं शतं भवति। मध्यग्रैवेयकत्रयस्य सप्तोत्तरं शतं स्यात् । [1]उपरिग्रैवेयकत्रयस्य विमानानि एकाधिका नवतिर्भवन्ति । नवानुदिशपटलमध्ये इन्द्रकमष्टासु दिक्षु अष्टौ विमानानि [2]समुदायेन नव भवन्ति । सर्वार्थसिद्धिपटले पञ्च विमानानि सन्ति । तत्र मध्यविमानः सर्वार्थसिद्धिनामकः, पूर्वस्यां दिशि विजयः, दक्षिणस्यां दिशि वैजयन्तः, पश्चिमायां दिशि जयन्तः, उत्तरस्यां दिशि अपराजितः ।

सौधर्म्मैशानयोः विमानानि श्वेतपीतहरितारुणकृष्णवर्णानि । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः श्वेतपीतहरितारुणानि । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु श्वेतपीतरक्तानि । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतेषु विमानानि श्वेतपीतानि । नवग्रैवेयकनवानुदिशानुत्तरेषु श्वेतान्येव । तत्र सर्वार्थसिद्धिविमानं परमशुक्लं जम्बूद्वीपप्रमाणञ्च वर्तते, अन्यानि तु चत्वारि विमानानि असङ्ख्येयकोटियोजनप्रमाणानि वर्तन्ते । एवं त्रिषष्टेः पटलानां परस्परमन्तरमसङ्ख्येययोजनं ज्ञातव्यम् ।

सौधर्म्मैशानयोरुच्चत्वं सार्द्धैका रज्जुः मेरुबुध्नाद् बोद्धव्या । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरपि सार्द्धैका रज्जुरस्ति । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतेषु द्वयोर्द्वयोः स्वर्गयोरुच्चता अर्द्धार्द्धा रज्जुः । तेन द्वादशानां स्वर्गाणां समुदितास्तिस्रो रज्जवः । ग्रैवेयकादिमुक्तिपर्यन्तमेका रज्जुरुच्चतरेति । अत्र यावन्ति विमानानि ऊर्ध्वलोकेऽपि तावन्ति जिनमन्दिराणि भवन्ति, तेषां नमस्कारवन्दनाऽस्तु ।

अथेदानीं सर्वेषां वैमानिकानामन्योन्यविशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते भगवद्भिः–

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि–
विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

निजायुरुदयात् तद्भवे कायेन सार्द्धमवस्थानं स्थितिरुच्यते । निग्रहानुग्रहसामर्थ्यं प्रभावः । इन्द्रियविषयानुभवनं सुखम् । शरीरवस्त्राभरणादीनां द्युतिर्दीप्तिः । कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या । लेश्यायाः विशुद्धिर्निर्मलता लेश्याविशुद्धिः । इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि, अवधिश्च तृतीयो बोधः, इन्द्रियावधयः । इन्द्रियावधीनां विषयः गोचरः गम्यः पदार्थः इन्द्रिया-

१ उपरिमग्रै– द०, ब०, ज०, ता० । २ समुच्चयेन भ– आ०, द०, ज० । समुदाये नव ब० ।

वधिविषयः । स्थितिश्च प्रभावश्च सुखं च द्युतिश्च लेश्याविशुद्धिश्च इन्द्रियावधिविषयश्च स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयाः, तेभ्यस्तैर्वा ततः वैमानिका अधिका भवन्ति । कुत्र ? उपर्युपरि, प्रतिस्वर्गं प्रतिपटलञ्च ।

अथ यदि स्थित्यादिभिरुपर्युपरि अधिका वैमानिका भवन्ति तर्हि गतिशरीरपरिग्रहाऽभिमानैरप्यधिका भविष्यन्तीत्यारेकायां योगोऽयमुच्यते--

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

देशाद् देशान्तरप्राप्तिहेतुर्गतिः । विक्रियाहेतुभूतं वैक्रियिकं शरीरम् । लोभकषायस्योदयेन विषयेष्वासङ्गः परिग्रहः । मानकषायस्योदयात् प्रादुर्भूतोऽहङ्कारोऽभिमानः । गतिश्च शरीरञ्च परिग्रहश्च अभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाऽभिमानाः तेभ्यः तैर्वा ततः, वैमानिका उपर्युपरि प्रतिस्वर्गं प्रतिपटलं च हीनाः तुच्छाः भवन्ति । तथा हि—देशान्तरेषु विषयक्रीडारतिप्रकृष्टताऽभावात्[1] उपर्युपरि गतिहीना भवन्ति । तथा उपर्युपरि वैमानिकाः शरीरेणापि हीना भवन्ति । तत्कथम् ? सौधर्म्मैशानयोः वैमानिकानामरत्निसप्तकप्रमाणं शरीरम् । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोररत्निषट्कप्रमाणमङ्गं भवति । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु अरत्निपञ्चकप्रमाणं वर्ष्म स्यात् । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वरत्निचतुष्कप्रमाणः[2] कायो भवति । आनतप्राणतयोररत्निसार्द्धत्रितयप्रमाणो [3]देहो भवति । आरणाच्युतयोररत्नित्रयप्रमाणो विग्रहो भवति । प्रथमग्रैवेयकत्रिके अरत्निसार्द्धद्वयप्रमाणं गात्रं भवति । द्वितीयग्रैवेयकत्रिके अरत्निद्वयप्रमाणा तनूर्भवति । तृतीयग्रैवेयकत्रिके नवानुदिशविमानेषु सार्द्धैकारत्निप्रमाणा मूर्तिर्भवति । पञ्चाऽनुत्तरविमानेषु एकारत्निप्रमाणं वपुर्भवति । विमानपरिवारादिपरिग्रहैरुपर्युपरि हीना भवन्ति अल्पकषायत्वात् । उपर्युपरि अभिमानेन च वैमानिका हीना भवन्ति ।

तर्हि वैमानिकेषु लेश्या कीदृशी भवतीति प्रश्ने तत्परिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्लाः । पीतपद्मशुक्ला लेश्या येषां वैमानिकानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः । अत्र ह्रस्वत्वं कथम् ? यद् उत्तरपादिकं[4] तत् ह्रस्वं भवति यथा द्रुता मध्यविलम्बिता मात्राः द्रुतमध्यविलम्बितमात्रा इति सङ्गीते ह्रस्वत्वमस्ति, तथात्रापि ह्रस्वत्वम् । अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीतपद्मशुक्लाः, पीतपद्मशुक्लवर्णसंयुक्ताः केचित् पदार्थाः कानिचिद्वस्तूनि तेषामिव लेश्या येषां वैमानिकानां ते पीतपद्मशुक्ललेश्याः । तत्र कस्य का लेश्येति चेत् ? उच्यते—द्वित्रिशेषेषु द्वे च युगले त्रीणि[5] च युगलानि शेषाणि च सर्वाणि स्थानानि द्वित्रिशेषाणि तेषु द्वित्रिशेषेषु । अस्यायमर्थः—सौधर्म्मैशानयोः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोश्च द्वयोर्युगलयोर्वैमानिकाः पीतलेश्यास्तावद् वर्तन्ते एव, परमयं तु विशेषः—सानत्कु-

१ –कृष्टानी– ब० । –कृष्टतार्द्रभा– आ०, द०, ज० । २ –णका– ब० । ३ विग्रहो आ०, द०, ज० । ५ –रपादकं आ०, द०, ज० । ५ त्रीणि यु– आ०, ज० ।

मारमाहेन्द्रयोः पीतपद्मलेश्यामिश्राः सन्ति । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रसंज्ञकेषु त्रिषु युगलेषु वैमानिकाः पद्मलेश्यास्तावद् वर्तन्त एव, परमयं तु विशेषः—शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु वैमानिकाः पद्मशुक्लमिश्रलेश्या वर्तन्ते । आनतप्राणतारणाच्युतनवग्रैवेयकनवानुदिशपञ्चानुत्तरेषु शेषशब्दलब्धेषु वैमानिकाः शुक्ललेश्यास्तावद् वर्तन्त एव, परमयं तु विशेषः—नवानुदिशपञ्चानुत्तरविमानेषु चतुर्दशसु वैमानिकाः परमशुक्ललेश्या[1] वर्तन्ते ।

अत्राह सूत्रे—मिश्रस्य ग्रहणं न कृतं वर्तते कथं भवद्भिः [2]मिश्रस्य ग्रहणं कृतम् ? सत्यम् ; साहचर्यात् लोकवत् । कोऽसौ लोकदृष्टान्तः ? यथा पताकिनो गच्छन्ति छत्रिणो गच्छन्ति इत्युक्ते पताकिभिः सह ये पताकारहिता गच्छन्ति तेऽपि पताकिन इत्युच्यन्ते ये छत्रिभिः सह छत्ररहिता गच्छन्ति तेऽपि छत्रिण उच्यन्ते । कस्मात् ? साहचर्यात् । एवं यथा अछत्रिषु छत्रिव्यवहारो लोके वर्तते तथा अत्रापि सूत्रानुक्तमपि मिश्रग्रहणं भवति । सूत्रतः कथं ज्ञायते इति चेत् ? उच्यते—तत्रैवमभिसम्बन्धः क्रियते । द्वयोः स्वर्गयुगलयोः पीतलेश्या तावद् वर्तते, सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः पीतैव । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रसंज्ञकेषु त्रिषु युगलेषु पद्मलेश्या तावदुक्तैव, शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्यायाः अविवक्षातः पद्मलेश्यैवोक्ता । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्या तावदुक्तैव शतारसहस्रारयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः शुक्लैवोक्ता । इत्यभिसम्बन्धे[3] नास्ति दोषः ।

अथ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्चेति यत्सूत्रमुक्तं तत्र न ज्ञायते के कल्पा येषु कल्पेषु ज्ञातेषु कल्पातीताः स्वयमेव ज्ञायन्ते इति सन्देहे सूत्रमिदमुच्यते—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

ग्रैवेयकेभ्यो नवग्रैवेयकेभ्यः सकाशात् प्राक् पूर्वं ये वर्तन्ते ते कल्पा भवन्ति, अच्युतान्ताः सौधर्मादय इत्यर्थः । तर्हि कल्पातीताः के वर्तन्ते ? इत्याह—परिशेषभावात् इतरे नवग्रैवेयकाः नवाऽनुदिशाः पञ्चानुत्तराश्च[4] कल्पातीता इति ज्ञातव्यम् ।

तर्हि लौकान्तिका अमरा वैमानिकाः सन्तः केषु गृह्यन्ते कल्पोपपन्नेषु कल्पातीतेषु वा ? इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

एत्य लीयन्ते तस्मिन्नित्यालयो निवासः, ब्रह्मलोकः पञ्चमः स्वर्गः तस्मिन्नालया निकाया विमानानि येषां ते ब्रह्मलोकालयाः । तर्हि ये ब्रह्मलोके वसन्ति ते सर्वेऽपि लौकान्तिका इत्युच्यन्ते ? नैवम् ; लौकान्तिक इति संज्ञा अन्वर्था वर्तते सत्यार्था वर्तते । तेनायमर्थः—लोकशब्देन ब्रह्मलोक उच्यते । **"समुदायेषु निर्वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते"** [ ] इति वचनात् लोकस्य ब्रह्मलोकस्य अन्तोऽवसानं लोकान्तः, लोकान्ते

---

१ –या तावद् व– आ०, द०, ज० । २ मिश्रग्र– ता०, व० । ३ –म्बन्धेन ना– आ०, द०, ज०, ता० । ४ –रविमानाश्च आ०, द०, ज० ।

भवा लौकान्तिकाः। न तु सर्वेऽपि लौकान्तिकाः कथ्यन्ते। तेषां विमानानि ब्रह्मलोकस्वर्गस्य अन्तेषु अवसानेषु वर्तन्ते। अथवा जन्मजरामरणव्याप्तो लोकः संसारस्तस्य अन्तः लोकान्तः, लोकान्ते परीतसंसारे[1] भवा लौकान्तिकाः। ते हि ब्रह्मलोकान्ताच्च्युत्वा[2] एकं गर्भवासं परिप्राप्य निर्वाणं गच्छन्ति तेन कारणेन लौकान्तिका उच्यन्ते।

अथ सामान्यतया लौकान्तिकाः [3]प्रोक्ताः, तेषां भेदप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमाहुः—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

सरस्वतीं चतुर्दशपूर्वलक्षणां विदन्ति जानन्ति सारस्वताः। अदितेर्देवमातुरपत्यानि आदित्याः। वह्निवद्देदीप्यमाना वह्नयः। अरुणः उद्यद्भास्करः तद्वत् तेजोविराजमाना अरुणाः। गर्दाः शब्दाः तोयवत् प्रवहन्ति [4]लहरितरङ्गवत् प्रवर्तन्ते येषु ते गर्दतोयाः। तुष्यन्ति विषयसुखपराङ्मुखा भवन्ति तुषिताः। न विद्यते विविधा कामादिजनिता आ समन्तात् बाधा दुःखं येषान्ते अव्याबाधाः। न विद्यते रिष्टमकल्याणं येषां ते अरिष्टाः। सारस्वताश्च आदित्याश्च वह्नयश्च अरुणाश्च गर्दतोयाश्च तुषिताश्च अव्याबाधाश्च अरिष्टाश्च ते तथोक्ताः। तत्र सारस्वतानां विमानमीशानकोणे वर्तते। आदित्यानां विमानं पूर्वदिशि अस्ति। वह्नीनां देवगणानां विमानम् अग्निकोणे तिष्ठति। अरुणानां विमानं दक्षिणदिश्यस्ति। गर्दतोयानां विमानं नैर्ऋत्यकोणे आस्ते। तुषितानां विमानं पश्चिमदिश्यस्ति। अव्याबाधानां विमानं वायुकोणे विद्यते। अरिष्टानां विमानम् उत्तरदिश्यस्ति। चशब्दात् सारस्वतादित्यानामन्तराले अग्न्याभसूर्याभाणां विमाने वर्तेते। आदित्यवह्नीनामन्तराले चन्द्राभसत्याभानां विमाने स्तः। वह्न्यरुणानामन्तराले श्रेयस्करक्षेमङ्कराणां विमाने तिष्ठतः। अरुणगर्दतोयानामन्तराले वृषभेष्टकामचराणां विमाने आसाते। गर्दतोयतुषितानामन्तराले निर्वाणरजोदिगन्तर[5]क्षितानां विमाने विद्येते। तुषिताव्याबाधानामन्तराले आत्मरक्षितसर्वरक्षितानां विमाने भवतः। अव्याबाधारिष्टानामन्तराले मरुद्वसूनां विमाने स्याताम्। अरिष्टसारस्वतानामन्तराले अश्वविश्वानां विमाने स्तः। सर्वेऽपि लौकान्तिकाः स्वाधीनवृत्तयो हीनाधिकत्वभावाभावात्, विषयसुखपराङ्मुखत्वाद् देवर्षयश्च कथ्यन्ते। अत एव देवानामर्चनीयाः चतुर्दशपूर्वधारिणः तीर्थङ्करपरमदेवानां निष्क्रमणकल्याणे स्वामिसम्बोधनसेवानियोगाः।

"चतुर्लक्षास्तथा सप्तसहस्राणि शताष्टकम्।
विंशतिर्मिलिता एते सर्वे लौकान्तिकाः स्मृताः ॥" [ ]

अथ यद्येते एकं भवं प्राप्य निर्वाणं गच्छन्ति तर्हि अन्येषामपि देवानामस्ति कश्चिन्निर्वाणप्राप्तिकालविभाग इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजयो विजयनामा विमानः स आदिः प्रकारो येषां ते विजयादयः विजयवैजयन्त-

---

१ –सारेण भ– आ०, द०, ज०। २ –लोकाच्च्यु– आ०, द०, ज०। ३ प्राप्ताः आ०। ४ लहरीत– आ०, द०, ज०, व०। ५ –गन्धरक्षि– आ०, द०, ज०।

जयन्तापराजितानुदिशनामानो विमानाः, तेषु विजयादिषु विमानेषु ये अहमिन्द्रदेवा वर्तन्ते ते द्विचरमाः द्वौ चरमौ अन्त्यौ मनुष्यभवौ येषां ते द्विचरमाः, उत्कर्षेण द्वौ मनुष्यभवौ सम्प्राप्य मोक्षं गच्छन्तीत्यर्थः। कथं द्विचरमाः? विजयादिषु विमानेषु उत्पद्य अपरित्यक्तसम्यक्त्वाः ततः प्रच्युत्य मनुष्यभवे समुत्पद्य संयमं समाराध्य भूयो विजयादिषु समुत्पद्यन्ते ततः प्रच्युत्य पुनरपि मनुष्यभवं प्राप्य सिद्धिं गच्छन्ति, एवं मनुष्यभवापेक्षया द्विचरमदेहत्वं तेषां भवति। सर्वार्थसिद्ध्यहमिन्द्रास्तु अन्वर्थसंज्ञत्वात् परमोत्कृष्टसुरत्वाच्च अर्थापत्तिबलादेव एकचरमा भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रस्य जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च" [त० सू० २।१] इति सूत्रविवरणे तिर्य्यग्गतिरौदयिकी प्रोक्ता, पुनरपि **"तिर्य्यग्योनिजानाञ्च"** [त० सू० ३।३९] इति सूत्रे उत्कृष्टमायुः पल्यत्रयमुक्तम्, जघन्यमन्तर्मुहूर्तमुक्तम्। तत्र च न ज्ञायते के जीवास्तिर्यग्योनयः इति सन्देहे तन्निरासार्थं तिर्य्यग्गतिः प्रतिपाद्यते—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

उपपादे भवा औपपादिकाः, [1]मनुभ्यः कुलकरेभ्यो भवा मनुष्याः। औपपादिकाश्च मनुष्याश्च औपपादिकमनुष्याः तेभ्यः औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषाः अपरे संसारिजीवाः तिर्यग्योनयः तिर्यञ्च इति वेदितव्यम्। तत्र देवा नारकाश्च औपपादिकाः—**"देवनारकाणामुपपादः"** [त० सू० २।३४] इति वचनात्। मनुष्याणामपि स्वरूपं ज्ञातमेव **"प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः"** [त० सू० ३।३५] इति वचनात्। एभ्यो ये अन्ये ते सर्वेऽपि प्राणिनः तिर्य्यञ्चो ज्ञातव्याः। तर्हि तिरश्चां क्षेत्रविभागो न प्रोक्तः? सत्यम्; सर्वस्मिन् त्रैलोक्ये तिर्यञ्चो वर्तन्त एव क क्षेत्रविभागः कथ्यते।

तर्हि नारकतिर्यग्मनुष्याणामायुष्यं प्रोक्तं देवानां नोक्तं देवानामायुः कीदृशमित्युक्ते प्रथमतस्तावत् भवनवासिनामायुरुच्यते—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

स्थितिः आयुःप्रमाणम्। केषाम्? असुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणाम्। असुराश्च नागाश्च सुपर्णाश्च द्वीपाश्च शेषाश्च असुरनागसुपर्णद्वीपशेषास्तेषामसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणाम्। कथम्भूता स्थितिः? सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता। सागरोपमा चासौ त्रिपल्योपमा च सागरोपमत्रिपल्योपमा, सा चासौ अर्द्धहीनमिता च सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः। अथवा सागरोपमञ्च त्रिपल्योपमानि च अर्द्धार्द्धपल्यहीनानि पल्यानि च सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनानि तैर्मिता मपिता सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता। अस्यायमर्थः—असुराणाम्

---

१ मनुष्येभ्यः आ०, द०, ज०, व०।

उत्कृष्टा स्थितिः एकसागरोपमा। यथाक्रमबलान्नागानां त्रीणि पल्योपमानि उत्कृष्टा स्थितिः। सुपर्णानामुत्कृष्टा स्थितिः [1]सार्द्धं पल्यद्वयम्। द्वीपानामुत्कृष्टा स्थितिः [2]अर्द्धार्द्धहीनत्वात् पल्यद्वयम्। शेषाणां विद्युत्कुमाराग्निकुमारवातकुमारस्तनितकुमारोदधिकुमारदिक्कुमारनामकानां षट्प्रकाराणां भवनवासिनां प्रत्येकं [3]सार्द्धं पल्योपममेकम् उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। जघन्यां स्थितिं तु भवनवासिनां कथयिष्यामीति ज्ञातव्यम्।

अथेदानीं व्यन्तरज्योतिष्कदेवानां स्थितिमनुक्रमप्राप्तामुल्लङ्घ्य वैमानिकानां स्थितिं सूचयन्ति। कस्माद् व्यन्तरज्योतिष्कदेवानां स्थितेरनुक्रमप्राप्तायाः उल्लङ्घनं कृतमिति चेत्? सत्यम्, लघुना सूत्रोपायेन तेषां स्थितिवचनं यथा भवति तदर्थमित्यर्थः। तत्र वैमानिकानां स्थितिनिरूपणे आद्ययोः कल्पयोः सौधर्म्मैशाननाम्नोः स्थितिनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

सौधर्म्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

सौधर्मश्च ऐशानश्च सौधर्म्मैशानौ तयोः सौधर्म्मैशानयोः सप्तमीद्विवचनमिदम् **"अधिकरणे सप्तमी"** [का० सू० २।४।११ दौर्ग० वृत्ति] इति वचनात्। सौधर्म्मैशानयोः द्वयोः कल्पयोः स्थितिः द्वे सागरोपमे भवतः। 'सागरोपमे' [4]इत्यत्र सामान्यापेक्षया नपुंसकत्वे द्विवचनं वर्तते। सागरोपमञ्च सागरोपमञ्च सागरोपमे। कथम्भूते[5] सागरोपमे? अधिके किञ्चिदधिके सातिरेके इत्यर्थः। **"द्विवचनमनौ"**[6] [का० सू० ३।२।२] [7]इत्यनेन निषेधसन्धिः। अधिके इत्ययं शब्दः सहस्रारकल्पपर्यन्तमधिकारवान् ज्ञातव्यः। तेन सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरपि सप्तसागरोपमानि सातिरेकाणि ज्ञातव्यानि। तथा ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोरपि दश सागरोपमानि सातिरेकाणि ज्ञातव्यानि। एवं द्वयोर्द्वयोः [8]कल्पयोरायुर्विशेषे सातिरेकः शब्दः प्रयोक्तव्यः। आ कुतः? आ सहस्रारात्। आनतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्चापि इत्यादिषु सातिरेकार्थो नास्ति। कस्मात्? **"त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु।"** [त० सू० ४।३१] इत्यत्र सूत्रे तुशब्दस्य ग्रहणात्।

अथ विस्तरः—सौधर्म्मैशानयोः यानि एकत्रिंशत् पटलानि वर्तन्ते तेषु प्रत्येकं स्थितिविशेषः कथ्यते। तथाहि—[9]ऋतुपटले पल्योपमकोटीनां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्योपमानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिस्तथा पल्योपमस्य कृतत्रिभागस्य भागद्वयञ्च ।१। चन्द्रनाम्नि द्वितीयपटले पल्योपमकोटीनामेका कोटी त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्योपमानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्योपमस्य भागत्रयस्य एको भागः ।२। विमलनाम्नि

---

१ सार्धप– आ०, द०, ज०, व०। २ अध्यर्धही– ता०। ३ सार्धप– आ०, द०, ज०, व०। ४ इति सा– आ०, द०, ज०, व०। ५ -ते द्वे सा–ता०, व०। ६ –मानो व०। ७ इति नि– आ०, द०, ज०। ८ –कल्पयोर्वि– आ०, द०, ज०। ९ ऋतुनाम्नि प्रथमप– व०। ऋजुप– आ०, द०, ज०।

तृतीयपटले पल्योपमकोटीनां द्वे कोट्यौ । ३ । वल्गुनाम्नि चतुर्थपटले पल्योपमकोटीनां द्वे कोट्यौ षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्योपमानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यभागत्रयस्य द्वौ भागौ । ४ । वीरनाम्नि पञ्चमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः तिस्रः त्रयस्त्रिंशत्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत्, तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यभागत्रयस्य एको भागः । ५ । [1]अरुणनाम्नि षष्ठे पटले पल्यकोटीनां कोट्यश्चतस्रः । ६ । नन्दननाम्नि सप्तमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यश्चतस्रः षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षटिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम् । ७ । [2]नलिननाम्नि अष्टमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः पञ्च त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यभागत्रयस्य एको भागः । ८ । लोहितनाम्नि नवमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः षट् । ९ । काञ्चननाम्नि दशमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः षट् षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रस्य भागद्वयम् । १० । चञ्चनाम्नि एकादशे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः सप्त त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत्, पल्यभागत्रयस्यैको भागः । ११ । मारुतनाम्नि द्वादशे पटले पल्यकोटीनां कोट्योऽष्ट । १२ । ऋद्धिनाम्नि त्रयोदशे पटले पल्यकोटीनां कोट्योऽष्ट षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम् । १३ । [3]ईशानाम्नि चतुर्दशे पटले पल्यकोटीनां कोट्यो नव त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत्, तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः । १४ । वैडूर्यनाम्नि पञ्चदशे पटले सागर एकः ।१५। रुचकनाम्नि षोडशे पटले सागरैकः पल्यकोटीनां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम् । १६ । रुचिरनाम्नि सप्तदशे पटले सागर एकः पल्यकोटीनामेका कोटी त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः । १७ । [4]अङ्कनाम्नि अष्टादशे पटले पल्यकोटीनां कोट्यो द्वादश । १८ । स्फटिकनाम्नि एकोनविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यो द्वादश षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः

---

१ आरण– आ० । आरुण– द० । २ प्रललितना– आ०, द०, ज० । ३ ईशानाना– आ० । ईशानना– द० । ४ अकना– आ० । अकंना– ता० ।

तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिस्तथा भागत्रयस्य भागद्वयम्। १९। तपनीयनाम्नि विंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः त्रयोदश, त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि। त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः। २०। मेघनाम्नि एकविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यश्चतुर्दश। २१। भद्रनाम्नि द्वाविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यश्चतुर्दश षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम्। २२। [1]हारिद्रनाम्नि त्रयोविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः पञ्चदश त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः। २३। पद्मनाम्नि चतुर्विंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः षोडश। २४। लोहितनाम्नि पञ्चविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः षोडश षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम्। २५। वज्रनाम्नि षड्विंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्यः सप्तदश, त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः। २६। [2]नन्द्यावर्तनाम्नि सप्तविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्योऽष्टादश। २७। प्रभङ्करनाम्नि अष्टाविंशतितमे पटले पल्यकोटीनां कोट्योऽष्टादश षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः तथा पल्यानां षट्षष्टिलक्षाणि षट्षष्टिसहस्राणि षट्शतानि षट्षष्टिः पल्यभागत्रयस्य भागद्वयम्। २८। [3]पिष्टकनाम्नि एकोनत्रिंशत्तमे पटले पल्यकोटीनां कोट्य एकोनविंशतिः त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शातानि त्रयस्त्रिंशत् तथा पल्यानां त्रयस्त्रिंशल्लक्षाणि त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिंशत् पल्यभागत्रयस्य भागैकः। २९। गजमस्तकनाम्नि त्रिंशत्तमे पटले पल्यकोटिकोट्यः विंशतिः। ३०। प्रभानाम्नि एकत्रिंशत्तमे पटले साधिकौ सागरौ द्वौ। ३१। इति सौधर्मैशानयोरेकत्रिंशत्प्रस्ताराणाम् उत्कृष्टा स्थितिर्ज्ञातव्या।

अथ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोरुत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमाहुः—

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानत्कुमारमाहेन्द्रौ तयोः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः। अनयोर्द्वयोः कल्पयोः अमराणां सप्तसागरोपमानि साधिकानि उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। तयोः सम्बन्धीनि पटलानि सप्त भवन्ति। तत्र अञ्जननाम्नि प्रथमपटले द्वौ सागरौ सागरसप्तभागानां पञ्च भागाश्च। १। वनमालनाम्नि द्वितीयपटले सागरास्त्रयः सागरसप्तभागानां त्रयो भागाश्च। २। नागनाम्नि तृतीयपटले चत्वारः सागराः सागरसप्तभागानामेको

१ हरिद्राना– आ०, द०, ज०। २ नद्यवर्तिना आ०, द०, ज०। ३ विष्टक– ता०।

भागश्च । ३ । गरुडनाम्नि चतुर्थपटले चत्वारः सागराः सागरसप्तभागानां षड् भागाश्च ।४। लाङ्गलनाम्नि पञ्चमे पटले सागराः पञ्च सागरसप्तभागानां चत्वारो भागाश्च । ५ । बलभद्रनाम्नि षष्ठे पटले सागराः षट् सागरसप्तभागानां द्वौ भागौ च । ६ । चक्रनाम्नि सप्तमे पटले साधिका अर्णवाः सप्त । इति सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तप्रस्ताराणामुत्कृष्टा स्थितिर्ज्ञातव्या ।

अथ ब्रह्मलोकादिषु अच्युतपर्यन्तेषु कल्पेषु स्थितिविशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

त्रयश्च सप्त च नव च एकादश च त्रयोदश च पञ्चदश च त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदश तैस्तथोक्तैः अधिकानि । कानि अधिकानि ? पूर्वसूत्रोक्तानि सप्तसागरोपमानि । अस्यायमर्थः—ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः सप्तसागरोपमानि त्रिभिः सागरोपमैः अधिकानि दश सागरोपमानीत्यर्थः। लान्तवकापिष्टयोः सप्तसागरोपमानि सप्तभिः सागरोपमैरधिकानि चतुर्दश सागरोपमानीत्यर्थः । शुक्रमहाशुक्रयोः सप्तसागरोपमानि नवसागरोपमैरधिकानि षोडशसागरोपमानीत्यर्थः । शतारसहस्रारयोः सप्तसागरोपमानि एकादशसागरोपमैरधिकानि अष्टादश सागरोपमानीत्यर्थः । आनतप्राणतयोः सप्तसागरोपमानि त्रयोदशसागरोपमैरधिकानि विंशतिसागरोपमानीत्यर्थः । आरणाच्युतयोः सप्तसागरोपमानि पञ्चदशसागरोपमैरधिकानि द्वाविंशतिसागरोपमानीत्यर्थः । तुशब्दो विशेषणार्थः । कोऽसौ विशेषः ? 'सौधर्म्मैशानयोः सागरोपमे अधिके' इत्यत्र अधिकशब्दाधिकारः ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारपर्यन्तेषु चतुर्षु युगलेषु प्रवर्तते न त्वानतादिषु वर्तते इत्यर्थं विशेषयति । तेन यत्र यत्र यावन्ति सागरोपमानि उक्तानि तत्र तत्र साधिकानि वक्तव्यानि । आनतप्राणतयोः सागरोपमानि विंशतिरेव आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरेव न साधिकानि ।

अथ विस्तरः—ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्यानि चत्वारि पटलानि वर्तन्ते तेषां मध्ये अरिष्टनाम्नि प्रथमपटले पादहीनाः सरस्वन्तोऽष्टौ । देवसमितनाम्नि द्वितीयपटले जलधयः सार्धोऽष्ट ।२। ब्रह्मनाम्नि तृतीयपटले पादाधिका उदधयो नव ।३। ब्रह्मोत्तरनाम्नि चतुर्थपटले शशध्वजा दश । लान्तवकापिष्टयोर्द्वे पटले वर्तेते । तत्र ब्रह्महृदयनाम्नि प्रथमपटले अपाम्पतयो द्वादश । लान्तवनाम्नि द्वितीयपटले नदीपतयश्चतुर्दश साधिकाः । शुक्रमहाशुक्रयोरेकमेव पटलम् । तत्र शुक्रनाम्नि पटले जलनिधयः साधिकाः षोडश । शतारसहस्रारयोरेकमेव पटलं तत्र शतारनाम्नि पटले रत्नाकराः साधिका अष्टादश । आनतप्राणतारणाच्युतेषु षट् पटलानि । तत्र आनतनाम्नि प्रथमपटले उदन्वन्त एकोनविंशतिः सागरस्य तृतीयो भागः किञ्चिदधिकस्तत्र हीनो भवति । प्राणतनाम्नि द्वितीयपटले सिन्धवो विंशतिः । पुष्पकनाम्नि तृतीयपटले आकूपाराः विंशतिः सागरभागत्रयस्य द्वौ भागौ च । शातकनाम्नि चतुर्थपटले पारावारा एकविंशतिरेव । आरणनाम्नि पञ्चमपटले सरित्पतयः एकविंशतिः सागरत्रिभागैकभागश्च । अच्युतनाम्नि षष्ठे पटले समुद्रा द्वाविंशतिरेव ।

[1]अथ ग्रैवेयकादीनां पटलेषु आयुर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदं प्रतिपादयन्ति—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरणश्च अच्युतश्च आरणाच्युतं तस्मादारणाच्युतात्। आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिसागरोपमा उत्कृष्टा स्थितिरुक्ता तत ऊर्ध्वम् उपरि नवसु ग्रैवेयकेषु एकैकेन सागरोपमेन अधिका स्थितिर्देवानां वेदितव्या। तेन अधोग्रैवेयकेषु [2]प्रथमे ग्रैवेयके सुदर्शननाम्नि त्रयोविंशतिसागरा भवन्ति। [3]द्वितीये ग्रैवेयके अमोघनाम्नि चतुर्विंशतिरब्धयः स्युः। [4]तृतीये ग्रैवेयके सुप्रबुद्धनाम्नि पञ्चविंशतिर्वार्धयो भवन्ति। [5]मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमग्रैवेयके यशोधरनाम्नि षड्विंशतिर्वारिधयो भवन्ति। द्वितीये ग्रैवेयके सुभद्रनाम्नि सप्तविंशतिः पयोधयो भवन्ति। तृतीये ग्रैवेयके सुविशालनाम्नि अष्टाविंशतिरम्भोधयो भवन्ति। उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे ग्रैवेयके सुमनसनाम्नि एकोनत्रिंशदम्बुधयो भवन्ति। द्वितीये ग्रैवेयके सौमनसनाम्नि त्रिंशत् पाथोधयो भवन्ति। तृतीये ग्रैवेयके प्रीतिङ्करनाम्नि एकत्रिंशदर्णोधयो भवन्ति। 'नवसु ग्रैवेयकेषु' इत्यत्र नवशब्दग्रहणं प्रत्येकम् एकैकसागरवृद्ध्यर्थम्, अन्यथा ग्रैवेयकमात्रग्रहणे सर्वेषु ग्रैवेयकेषु एक एव सागरो वर्द्धते तन्मा भूदिति। न केवलं नवसु ग्रैवेयकेषु एकैकेन सागरोपमेन एकैकं सागरोपममधिकं स्यात् किन्तु विजयादिषु विजयप्रकारेषु च। तेनायमर्थः—नवानुदिशेषु द्वात्रिंशत्सागरोपमानि भवन्ति। विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु चतुर्षु विमानेषु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। 'सर्वार्थसिद्धौ च' इति पृथक्पदकरणं जघन्यस्थितिप्रतिषेधार्थम्। सर्वार्थसिद्धिं गतो जीवः परिपूर्णानि त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमानि भुङ्क्ते। विजयादिषु तु जघन्यस्थितिर्द्वात्रिंशत् सागरोपमानि।

[7]अथोक्तोत्कृष्टायुष्केषु कल्पवासिषु निकृष्टस्थितिपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अपरा जघन्या स्थितिः एकं पल्योपमं किञ्चिदधिकं भवति। तत्तु सौधर्मैशानप्रथमप्रस्तारे एव ज्ञातव्यम्। तत्कथं ज्ञायते ? उत्तरसूत्रे 'परतः परतः' इति वक्ष्यमाणत्वात्।

अथ प्रथमप्रस्तारादूर्ध्वं जघन्यस्थितिपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ३४ ॥

परतः परतः परस्मिन् परस्मिन् देशे प्रस्तारे प्रस्तारे कल्पयुग्मकल्पयुग्मादिषु या स्थितिः पूर्वा पूर्वा प्रथमा प्रथमा वर्तते सा अनन्तरा उपर्युपरितनी अपरा जघन्या स्थितिर्वेदितव्या। तत्रापि जघन्यापि साधिका वेदितव्या। तेन कारणेन स्थूलरूपतया जघन्या

---

१ अथ नवग्रै– आ०, द०, ज०। २ प्रथमग्रै– व०, आ०, द०, ज०। ३ द्वितीयग्रै– व०, आ०, द०, ज०। ४ तृतीयग्रै– व०। ५ मध्यग्रै– आ०, द०, ज०। ६– सिद्धिगतजी– आ०, द०, ज०। ७ अथोत्कृष्टस्थित्युक्तेषु आ०, द०, ज०।

स्थितिरुच्यते-सौधर्म्मैशानयोः कल्पयोः द्वे सागरोपमे साधिके उक्ते ते तु सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः जघन्या स्थितिर्भवति। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तसागरोपमानि साधिकानि कथितानि तानि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः जघन्या स्थितिः ज्ञातव्या। एवं विजयादिपर्यन्तेषु [1]वेदितव्यम्।

अथ नारकाणां पूर्वमुत्कृष्टा स्थितिः प्रतिपादिता, जघन्या तु नोक्ता तत्परिज्ञानार्थं लघूपायेन अनधिकृतमपि सूत्रमधिक्रियते। कोऽसौ लघूपायः? 'अपरा' इत्यक्षरत्रयं वारद्वयं मा भूदिति।

नारकाणाञ्च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

नरके भवाः नारकास्तेषां नारकाणां द्वितीयादिषु भूमिषु प्रस्तारेषु च अपरा जघन्या स्थितिः भवति। चकारात् पूर्वापूर्वाऽनन्तरा इत्यनुकृष्यते। तेनायमर्थः—स्थूलतया रत्नप्रभायां प्रथमनरकभूमौ नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरेकं[2]सागरोपमं प्रोक्तं सा शर्करप्रभायां द्वितीयनरकभूमौ जघन्या वेदितव्या। शर्कराप्रभायां त्रीणि सागरोपमानि उत्कृष्टा स्थितिः कथिता सा वालुकाप्रभायां तृतीयनरकभूमौ जघन्या स्थितिः वेदितव्या इत्यादि यावत् सप्तमनरके द्वाविंशतिसागरोपमानि जघन्या स्थितिर्भवति—

अथ द्वितीयादिषु भूमिषु जघन्या स्थितिः यदि प्रतिपादिता तर्हि प्रथमायां नरकभूमौ का जघन्या स्थितिरिति चेत्? उच्यते—

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

वर्षाणां सहस्राणि वर्षसहस्राणि, दश च तानि वर्षसहस्राणि दशवर्षसहस्राणि प्रथमायां प्रथमनरकभूमौ दशवर्षसहस्राणि अपरा जघन्या स्थितिर्ज्ञातव्या। सा तु प्रथमपटले सीमन्तकनाम्न्येव। द्वितीयपटले नवति[3]वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः। तृतीयपटले नवतिवर्षलक्षाणि इत्यादि सर्वत्र समयाधिका सती जघन्या स्थितिर्ज्ञातव्या।

अथ भवनवासिनां जघन्या स्थितिरुच्यते—

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

भवनेषु भवनवासिषु देवेषु दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिर्भवति। चकारः अपरास्थितिरित्यस्यानुकर्षणार्थः।

अथ व्यन्तराणां जघन्या स्थितिरुच्यते—

व्यन्तराणाञ्च ॥ ३८ ॥

व्यन्तराणां किन्नरादीनां दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिर्भवति। चकारः अपरास्थिति[4]रित्यस्याऽनुकर्षणार्थः।

तर्हि व्यन्तराणामुत्कृष्टा का स्थितिरिति चेत्? उच्यते—

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

परा उत्कृष्टा स्थितिर्व्यन्तराणाम् एकं पल्योपमं किञ्चिदधिकं भवति।

---

१ –न्तं वेदितव्या ब०। २ –रेकं साग– आ०, द०, ज०, ब०। ३ –तिर्वर्ष– ज०।
४ –तिर्दशवर्षसहस्राणि इत्यनु– ता०, ब०।

अथ ज्योतिष्काणामुत्कृष्टस्थितिपरिज्ञानार्थं योगोऽयमुच्यते—

ज्योतिष्काणाञ्च ॥ ४० ॥

चकारः प्रकृतसमुच्चयार्थः। तेन ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पल्योपमाधिकमिति ज्ञातव्यम्।

अथ ज्योतिष्काणां जघन्यस्थितिपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्ति स्म—

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

तस्य पल्योपमस्य अष्टसु भागेषु कृतेषु एको भागः तदष्टभागः, अपरा अनुत्कृष्टा जघन्या स्थितिर्ज्योतिष्काणां भवतीति तात्पर्यम्। अत्र विशेषः कथ्यते—चन्द्राणां पल्यमेकं वर्षलक्षाधिकम्। सूर्याणां पल्यमेकं वर्षसहस्राधिकम्। शुक्राणां वर्षशताधिकं पल्योपमम्। बृहस्पतीनां पल्योपममेकमेव। बुधानां पल्यार्द्धम्। नक्षत्राणाञ्च पल्यार्द्धम्। प्रकीर्णकतारकाणां पल्यचतुर्थभागः परा स्थितिर्वेदितव्या। प्रकीर्णकतारकाणां नक्षत्राणाञ्च जघन्या स्थितिः पल्योपमाऽष्टमो भागः। सूर्यादीनां जघन्या स्थितिः पल्योपमचतुर्थभागः[1]। तथा च विशेषः[2]—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमानि सर्वेषाम्[3] ॥ ४२ ॥

ये लौकान्तिकास्ते विश्वेऽपि शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोन्नता अष्टसागरोपमस्थितय इति।

अस्मिन् चतुर्थेऽध्याये चतुर्णिकायदेवानां स्थानभेदाः सुखादिकञ्चोत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिश्च लेश्याश्च निरूपिता इति सिद्धम्।

इति[4] सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ चतुर्थः पादः समाप्तः।

---

१ -गः लौका- आ०, द०, ज०। २ -षः ये लौकान्तिकाः ता०। ३ सूत्रमेतन्नास्ति ता० प्रतौ। ४ इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसमाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्त्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य सञ्छर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रीश्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः। आ०, द०, ज०, व०।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथेदानीं सम्यग्दर्शनविषया जीवादयः पदार्थास्तत्र जीवपदार्थः पूर्वं व्याख्यातः, अजीवपदार्थस्तु व्याख्यातुमारब्धः तस्य नामविशेषकथनार्थं श्रीमदुमास्वामिनः सूत्रमिदमाहुः—

अजीवकाया धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

न विद्यते जीव आत्मा येषां ते अजीवाः, कायवत् पुद्गलद्रव्यप्रचयात्मकशरीरवत् बहुप्रदेशा वर्तन्ते ये ते कायाः, अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः, **"विशेषणं विशेष्येण"** [पा० सू० २।१।५७] इति सूत्रेण कर्म्मधारयसमासः। अत्र अजीवा इति विशेषणं काया इति विशेष्यं तेन विशेषणं विशेष्येण सह समस्यते कर्मधारयसमासो भवति। धर्मश्च अधर्मश्च आकाशश्च पुद्गलश्च धर्माधर्म्माकाशपुद्गलाः। एते चत्वारः पदार्थाः अजीवकाया भवन्ति। ननु **"असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्"** [५।८] इत्यग्रे बहुप्रदेशत्वं ज्ञापयिष्यति किमर्थमत्र बहुप्रदेशत्वसूचनार्थं कायशब्दस्य ग्रहणम्? साधूक्तं भवता अत्र बहुप्रदेशसूचनलक्षणो विधिः कायशब्देन गृहीतः तस्यैव विधेरवधारणमग्रे करिष्यति[1]। किमवधारणं करिष्यति? असङ्ख्येयाः प्रदेशाः धर्म्माधर्म्मैकजीवानाम्। किमत्रावधारणम्[2]? एतेषां धर्मादीनां त्रयाणां प्रदेशा असङ्ख्येया भवन्ति अनन्ताः सङ्ख्येयाश्च न भवन्तीति निर्द्धारयिष्यति। तथा च कालप्रदेशाः प्रचयात्मका न भवन्तीति ज्ञापनार्थं कायशब्दग्रहणम्। यथा एकस्याणोः प्रदेशमात्रत्वात् द्वितीयादयः प्रदेशा न भवन्ति तथा कालपरमाणोरपि द्वितीयादयः प्रदेशा न भवन्ति, तेन कालोऽकाय इत्युच्यते। पुद्गलपरमाणोः यद्यपि निश्चयेन [3]अबहुप्रदेशत्वमुक्तं तथापि उपचारेण बहुप्रदेशत्वमस्त्येव, यतः पुद्गलपरमाणुः अन्यपुद्गलपरमाणुभिः सह मिलति एकत्र कायवत् पिण्डीभवति, तेनोपचारेण काय उच्यते। कालपरमाणुस्तु उपचारेणापि कालपरमाणुभिः सह न मिलति तेनोपचारेणापि काय इति नोच्यते। स तु स्वभावेन रत्नराशिवत् मुक्ताफलसमूहवत् पृथक् तिष्ठति।

धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गला अजीव इति सामान्यसंज्ञा, धर्म्मोऽधर्म आकाशः पुद्गलश्चेति विशेषसंज्ञा। ननु नीलोत्पलादिषु व्यभिचारो वर्तते '[4]उत्पलनीलम्' इत्यादि, कथं विशेषणं विशेष्येणेति घटते? सत्यम्; इहापि व्यभिचारो वर्तते—अजीवशब्दः कायरहिते कालेऽप्यस्ति, कायशब्दः जीवेऽप्यस्ति, तेन जीवकाय इत्यपि कथ्यते, नास्ति व्यभिचारस्य दोषः।

अथ **"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"** [१।२९] इत्यस्मिन् सूत्रे द्रव्यशब्दः श्रुतः। कानि तानि द्रव्याणि इत्युक्ते सूत्रमिदमाहुः—

---

१ –ति अस– आ०, ब०, द०, ज०। २ –णं ते– आ०। ३ अबहुलप्र– आ०, ब०, द०, ज०। ४ उत्पले नील– आ०, द०, ज०।

द्रव्याणि ॥ २ ॥

[1]द्रूयन्ते गम्यन्ते प्राप्यन्ते यथास्वं यथार्[2]थं यथात्मीयपर्यायैर्यानि तानि द्रव्याणि। [3]द्रवन्ति वा पर्यायैः प्रवर्तन्ते यानि तानि द्रव्याणि। 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्याणि' इति[4] कथन्न व्युत्पत्तिः ? एवं सति उभयोर्द्रव्यपर्याययोरसिद्धिः स्यात्। दण्डदण्डिनोः पृथक्सिद्धयोर्योगो भवति न तु द्रव्यपर्याययोः पृथक् सिद्धिरस्ति चेत्; अपृथक्सिद्धयोरपि द्रव्यपर्याययोर्योगो भवेत्, तर्हि आकाशकुसुमस्य [5]प्रकृतिपुरुषस्य द्वितीयशिरसश्च योगो भवेत्। यदि द्रव्यपर्याययोः पृथक् सिद्धिरङ्गीक्रियते, तर्हि द्रव्यत्वकल्पना [6]वृथैव। यदि [7]गुणसमुदायो द्रव्यमुच्यते; तत्र गुणानां समुदायस्य च भेदाभावे तद्द्रव्यव्यपदेशो नोपपद्यते। यदि भेदोऽङ्गीक्रियते; तदा स एष दोषः। स कः ? द्रव्यत्वकल्पना[8]वृथात्वलक्षणः। ननु 'गुणान् [9]द्रवन्ति गुणैर्वा द्रूयन्ते यानि तानि द्रव्याणि' इति चेत् विग्रहोऽभिधीयते तदा स एव दोषः किन्न भवति ? सत्यम्; गुणैः सह कथञ्चिद् भेदाभेदौ वर्तेते तेन अनेन विग्रहेण द्रव्यव्यपदेशो द्रव्यनामसिद्धिरस्त्येव। कथञ्चिद्भेदः कथञ्चिदभेद इति कथं ज्ञायते ? यतः कारणात् व्यतिरेकेण अनुपलब्धिरभेदः, संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदैर्भेदः। धर्म्माधर्माकाशपुद्गला इति चत्वारः पदार्था बहवः तेषां समानाधिकरणत्वं बहुत्वनिर्देशे सति सङ्ख्यानुवृत्तिवत् सर्वेषामपि पुल्लिङ्गत्वमेव द्रव्याणां प्राप्नोति, द्रव्याणीति कथम् ? तदसत्; आविष्टलिङ्गत्वात् शब्दाः कदाचिदपि लिङ्गं न [10]जहति न मुञ्चन्ति न व्यभिचरन्तीति यावत्। अतः कारणात् धर्म्माधर्माकाशपुद्गला द्रव्याणि भवन्ति इति [11]नैष नपुंसकलिङ्गत्वलक्षणो दोषः।

अथ किं चत्वार एव पदार्थाः द्रव्याणीत्युच्यन्ते उताऽन्योऽपि कश्चित् पदार्थो द्रव्यमुच्यते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीवन्ति जीविष्यन्ति जीवितपूर्वा वा जीवाः। जीवाश्च द्रव्याणि भवन्ति। चकारः द्रव्यसंज्ञानुवर्तनार्थः। बहुवचनन्तु पूर्वव्याख्यातपर्यायादिभेदपरिज्ञानार्थम्। एवं कालोऽपि द्रव्यतया वक्ष्यते, तेन सह द्रव्याणि षट् भवन्तीति ज्ञातव्यम्।

ननु "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" [५।३८] इत्यनेन वक्ष्यमाणसूत्रेण द्रव्यलक्षणकथनात्, तत्कथितलक्षणसंश्रयाच्च धर्म्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालानां द्रव्यव्यपदेशः सङ्गच्छत एव।

---

१ द्रव्यन्ते आ०, द०, ज०। २ –यथं यथात्मीयं प– ता०। –यथमात्मीयं प– द०, आ०, ब०। –यथमात्मीयप–ज०। ३ द्रव्यन्ति आ०, द०, ब०, ज०। ४ वैशेषिकमतापेक्षया। ५ प्रकृतिकुसुमस्य आ०, द०, ज०। ६ पृथगेव आ०, द०, ज०। ७ गुणसन्द्रावो ता०, ब०, द०, ब०, आ०। "अन्वर्थं खल्वपि गुणसन्द्रावो द्रव्यम्।" –पात० महा० ५।१।११९। "गुणसमुदायो द्रव्यम्" –पात० महा० ४।१।१३। ८ –नापृथक्त्व– आ०, द०, ज०। ९ द्रव्यन्ति ता०। १० जहति नव्य– आ०, द०, ज०। ११ नैव आ०, द०, ज०।

[1]अर्थपरिगणनेन परिगणनं न पूर्यते यतोऽन्यवादिभिः[2] द्रव्याणि नव परिगणितानि वर्तन्ते अत्र तु षडेव; सत्यम्; अत एव ज्ञायते पृथिव्यादीनां परवादिकल्पितानां द्रव्यत्वे नि (त्वनि)-वृत्तिः कृता भवति। तत् कथमिति चेत्? उच्यते—पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भावः। उक्तञ्च—

"पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाउग्गं।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहि ॥ १ ॥
अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धराइयं होइ छब्भेयं[3] ॥" [वसु० सा० १८, १९]

पुद्गलद्रव्ये रूपरसगन्धस्पर्शाश्च वर्तन्ते यतः तर्हि वायुमनसोर्न रूपादिगुणयोगोस्ति कथं पुद्गलद्रव्ये अन्तर्भावः? सत्यम्; वायुः स्पर्शवान् वर्तते कथन्न रूपादिमान्? घटपटादिवत् चक्षुरादिभिः ग्रहीतुं न शक्यते वायुः कथं रूपादिमान्? तन्न; एवं सति परमाण्वादीनामपि रूपादिमत्त्वाभावः प्रसज्यते। आपस्तु गन्धवत्यः स्पर्शवत्वात् पृथिवीवत् वर्तन्ते। तेजोऽपि रसयुक्तं गन्धयुक्तञ्च वर्तते तदपि रूपादिमान् (मत्) घटपटादिवत्। मनो द्विप्रकारं वर्तते—द्रव्यमनो-भावमनोभेदात्। तत्र द्रव्यमनः रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यस्यैव विकारः रूपादिमद् वर्तते, चक्षुरिन्द्रियवत् ज्ञानोपयोगकरणं वर्तते। भावमनस्तु ज्ञानम्, ज्ञानं तु जीवगुणः तस्य आत्मन्यन्तर्भावः। ननु अमूर्तोपि शब्दो ज्ञानोपयोगकारणं किन्न वर्तते यन्मूर्तस्य द्रव्यमनसः ज्ञानोपयोगकारणत्वमुच्यते भवद्भिः? सत्यम्; शब्दः पौद्गलिकः, तस्यापि मूर्तिमत्त्वमस्त्येव श्रुतिस्पर्शवत्त्वात्। यथा सर्वेषां परमाणूनां रूपादिमत्कार्यत्वदर्शनात् रूपादिमत्त्वं विद्यते न तथा वायुमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते कथं वायुमनसोः पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भावः? सत्यम्; तेषामपि—वायुमनःपुद्गलानामपि तदुपपत्तेः—दृश्यमानरूपादिमत्कार्योपपत्तेः, सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्त्वकार्यत्वप्राप्तियोग्यताऽभ्युपगमात्। न च केचित् परमाणवः पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः सन्ति किन्तु [5]जातिसङ्करेण आरम्भदर्शनं तथा वायुमनसोरपि रूपादिमत्कार्यदर्शनम्। दिशोऽपि विहायस्यन्तर्भावः, आदित्योदयापेक्षया आकाशप्रदेशपङ्क्तिषु '[6]अत इदम्' इति व्यवहारोपपत्तेः।

अथोक्तानां द्रव्याणां विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

---

१ अर्थपरिगमनं आ०, द०, ज०। २ वैशेषिकैः। "पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।" —वैशे० १।१।५। ३ पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मप्रायोग्याः। षड्विधभेदं भणितं पुद्गलद्रव्यं जिनेन्द्रैः ॥ अतिस्थूलस्थूलस्थूलानि स्थूलं सूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च। सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति षड्भेदम् ॥ ४ –कारणं आ०, द०, ज०, व०। ५ काष्ठादनलस्य चन्द्रकान्ताज्जलस्य जलान्मुक्ताफलादेः व्यजनाच्चानिलस्योत्पत्तिदर्शनात्। ६ अतः इदं पूर्वं पश्चिममित्यादि व्यवहारोपपत्तेः। इत इदं ता०, व०।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

नित्यानि ध्रुवाणि । "नैर्ध्रुवे" [जैने० वा० ३।२।८२] इति साधु । अवस्थितानि सङ्ख्यया अव्यभिचारीणि षट्त्वसङ्‍ख्याया अपरिहारीणि, यथासम्भवं निजनिजप्रदेशा[२]-नामत्यागीनि चेतनत्वाचेतनत्वादिनिजनिजस्वरूपं न कदाचिदपि त्यजन्तीति वा अवस्थितानि नित्यानि च तानि अवस्थितानि नित्यावस्थितानि । द्रव्याणां नित्यत्वमवस्थितत्वञ्च द्रव्यनया-पेक्षया ज्ञातव्यमित्यभिप्रायः । न विद्यते रूपं येषां तानि अरूपाणि रूपरसादिरहितानि अमूर्तानीत्यर्थः ।

तर्हि यदि द्रव्याणि अरूपाणि प्रोक्तानि तन्मध्ये पुद्गला अपि द्रव्यानिर्देशं प्राप्नुवन्तः अरूपा भविष्यन्तीत्युत्सर्गप्रतिषेधार्थमपवादसूत्रमाहुः—

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

रूपं रूपरसादिसंस्थानपरिणामलक्षणा[३] मूर्तिर्विद्यते येषां ते रूपिणः । अत्र नित्ययोगे इन् प्रत्ययः । तदुक्तम्—

"भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां[४] मन्त्वादयो भवन्त्यमी ॥ १ ॥"

[का० सू० २।६।१५ दौ० वृ० १]

पूरणगलनस्वभावत्वात् पुद्गलाः । अत्र बहुवचनं परमाणुस्कन्धाद्यनेकभेदपरिकल्पनार्थं विश्वरूपकार्यदर्शनाद् वेदितव्यम् । पुद्गला रूपिणो मूर्तिमन्तो भवन्तीति तात्पर्यार्थः ।

अथ यथा पुद्गलाः प्रत्येकं भिन्ना वर्तन्ते तथा धर्म्माधर्म्माकाशा अपि प्रत्येकं किं भिन्नत्वमाप्नुवन्ति उताभेदमित्यनुयोगे सूत्रमिदमाहुः—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशमभिव्याप्य आ आकाशात्, सूत्रानुक्रमेण त्रीणि द्रव्याणि धर्म्मोऽधर्मः आकाशश्च एते त्रय एकद्रव्याणि अखण्डप्रदेशा भवन्ति न तु पुद्गलवत् भिन्नप्रदेशाः स्युः । धर्म्म एकद्रव्यम् अधर्म्मोपि एकद्रव्यम् आकाशोऽपि एकद्रव्यम् । बहुवचनं तु धर्मादीनां त्रयाणामपेक्षया । एकस्यापि अनेकार्थप्रतीत्युत्पादनसामर्थ्यायोगात् बहुवचनं कृतं तर्हि 'आ आकाशादेकैकम्' इति लघुसूत्रं किमिति न कृतम् ? एवं सति सूत्रे द्रव्यग्रहणमनर्थकं किमिति कृतम् ? [७]साधूक्तं भवता; द्रव्यग्रहणं द्रव्यापेक्षया एकत्वकथनार्थं क्षेत्रभावापेक्षया असंख्येयत्वानन्तत्वविकल्पप्रकटनार्थं च द्रव्यग्रहणं कृतं यथा जीवद्रव्यं नानाजीवापेक्षया भिन्नं भिन्नं वर्तते पुद्गलद्रव्यञ्च प्रदेशस्कन्धा[८]पेक्षया भिन्नं भिन्नमस्ति तथा धर्म्मोऽधर्मश्च आकाशञ्च भिन्नं भिन्नं न वर्तते ।

---

१ –ख्यया आ०, द०, ज० । २ –शान्न त्यजन्ति चे– आ०, द०, ज० । ३ –णमू– आ०, द०, ज० । ४ –यामन्वादेयो भ– ब० । ५ –प्रत्यु– आ०, द०, ज० । ६ –र्थ्यायो– आ०, द०, ज०, ब० । ७ साधु कथितं आ०, द०, ज० । ८ –स्कन्धत्वापे– आ०, द०, ब० ।

अथाधिकृतानां धर्म्माधर्माकाशैकद्रव्याणां विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् सञ्जायमानो द्रव्यस्य पर्यायः देशान्तरप्राप्तिहेतुः[1] क्रिया कथ्यते । तस्याः क्रियाया निष्क्रान्तानि निष्क्रियाणि । चकारः समुच्चये वर्तते । तेनायमर्थः—धर्माधर्माकाशद्रव्याणि न केवलमेकद्रव्याणि अपि निष्क्रियाणि च स्वस्थानं परित्यज्य जीवपुद्गलवत् परक्षेत्रं न गच्छन्तीत्यर्थः । ननु यदि धर्माधर्माकाशानि द्रव्याणि निष्क्रियाणि वर्तन्ते चलनादिक्रियारहितानि सन्ति तर्हि तेषामुत्पादो न सङ्गच्छते । उत्पादो हि क्रियापूर्वको व्याख्यातः घटादिवत् । उत्पादाऽभावे व्ययोऽपि न स्यात् । एवञ्च सति धर्म्माधर्माकाशद्रव्याणाम् उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयकल्पना वृथा; युक्तमुक्तं भवता हास्येन कथयति—युक्तमुक्तमयुक्तमुक्तमित्यर्थः । एवं सर्वत्र [2]चालनायां ज्ञातव्यम् । चलनादिक्रियाकारणोत्पादाऽभावेऽपि[3] धर्माधर्माकाशानामपरथाप्युत्पादो वर्तते[4] एव । तत्कथमिति चेत्? उच्यते—स्वनिमित्तः परप्रत्ययश्चेदु(त्यु)त्पादो द्विविधः । तत्र स्वनिमित्तः आगमप्रमाणत्वात् अगुरुलघुगुणानाम् अनन्तानन्तानामङ्गीक्रियमाणानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या षट्स्थानपतितया हान्या च वर्तमानानामेषामुत्पादो व्ययश्च स्वभावादेव वर्तते । परनिमित्तोऽप्यस्ति [5]नरकरभादिगतिस्थित्यवगाहनिमित्तत्वात् समये समये तेषां भेदात् तद्धेतुत्वमपि भिन्नंभिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष[6] उत्पादो व्ययश्चोपचर्यते । चर्चितमप्यनुचर्च्यते—ननु धर्म्माधर्म्माकाशानि चेत्क्रियारहितानि वर्तन्ते तर्हि जीवानां पुद्गलानाञ्च गतिस्थित्यवकाशहेतवः कथं भवन्ति? यतः [7]सर्वतोमुखादीनि स्वयं क्रियावन्ति वर्तन्ते तानि [8]तिम्यादीनां गतिस्थित्यवकाशदानकारणानि सङ्गच्छन्ते न निष्क्रियाणि धर्म्माधर्म्माकाशद्रव्याणि इति; सत्यम्; यथा चक्षू रूपग्रहणे निमित्तं तथा धर्मादीनि जीवानां बलाधाननिमित्तमिति । अत्र धर्म्माधर्म्माकाशानां निष्क्रियत्वमङ्गीकृतं जीवपुद्गलानां सक्रियत्वमर्थापत्तेरेवायातम्, न तु कालस्य सक्रियत्वमस्ति जीवपुद्गलैः सह अनधिकारात् तेन कालोऽपि निष्क्रियत्वं प्राप्त इत्यर्थः । पुद्गलानां रूपित्वं धर्म्माधर्म्माकाशानामेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वञ्च त्रिभिः सूत्रैः प्रतिपादितम्, अर्थात् जीवानां यथायोग्यमरूपित्वमनेकद्रव्यत्वं सर्वक्रि(सक्रि)यत्वञ्च सिद्धमिति ।

अथ "अजीवकाया धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलाः" [५।१] इत्यत्र कायशब्दग्रहणात् प्रदेशानामस्तित्वं निश्चितम्, परं प्रदेशानामियत्ता न ज्ञायते—कस्य द्रव्यस्य कियन्तः प्रदेशा इति तत्प्रदेशपरिज्ञानार्थं योगोऽयमुच्यते—

---

१ –व्यक– द० । २ चलना– आ०, ब०, ज० । ३ –यानिमित्तोत्पा– ज० । –याकणामुत्पा– आ० । ४ –ते त– ज०, आ० । ५ नरकगर्भादि– ब० । ६ –क्षयाउ– आ०, ज०, ब० । ७ जलादीनि । ८ मत्स्यादीनाम् ।

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

सङ्ख्यायन्ते संख्येयाः न सङ्ख्येया असङ्ख्येयाः "आतृखनोरिञ्च" [का० सू० ४।२।१२] प्रदिश्यन्ते[1] प्रदेशाः। धर्मश्च अधर्मश्च एकजीवश्च धर्म्माधर्म्मैकजीवाः, तेषां धर्म्माधर्मैकजीवानाम्। धर्मादीनां त्रयाणामसङ्ख्येया सङ्ख्यामतीताः प्रदेशा भवन्ति। को नाम प्रदेशः ? यावति क्षेत्रे पुद्गलपरमाणुरवतिष्ठते तावदाकाशं प्रदेश इत्युच्यते। असङ्ख्येयस्त्रि प्रकारः—जघन्य उत्कृष्टः जघन्योत्कृष्टश्च। अत्र जघन्योत्कृष्टः असङ्ख्येयो गृह्यते। एतेषु धर्म्माधर्म्मौ निष्क्रियौ लोकाकाशं व्याप्य स्थितौ। एकजीवस्तु तत्प्रमाणप्रदेशोपि सन् संहारविसर्पस्वभावात् निजकर्मनिर्मितं सूक्ष्मं महद्वा शरीरमधितिष्ठन् तावन्मात्रमेवावगाह्य तिष्ठति अन्यत्र लोकपूरणात्। यदा जीवो दण्डकपाटप्रतरपूरणलक्षणं लोकपूरणं करोति तदा मेरोरधः चित्रवज्रपटलमध्ये अष्टौ मध्यप्रदेशान् परिहृत्य सर्वत्र तिष्ठति। लोकपूरणं चतुर्भिः समयैः करोति चतुर्भिः संहरति[2] च। एवं लोकपूरणकरणे अष्ट समया लगन्ति।

अथ आकाशस्य कियन्तः प्रदेशाः भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

आ समन्तात् लोके अलोके च [3]काशते तिष्ठति आकाशः, तस्य आकाशस्य। न विद्यते अन्तोऽवसानं येषां प्रदेशानां ते अनन्ताः। आकाशस्य नभसः अनन्ताः प्रदेशा भवन्ति।

अथ चतुर्णाममूर्तानां प्रदेशपरिमाणं ज्ञातम्, मूर्तानां पुद्गलानान्तु प्रदेशपरिमाणं वक्तव्यं तदर्थं सूत्रमिदमाहुः—

सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

सङ्ख्येयाश्च असङ्ख्येयाश्च सङ्ख्येयासङ्ख्येयाः। पुद्गलानां प्रदेशाः संख्येया असङ्ख्येयाश्च भवन्ति। चकारात् परीतानन्ताः युक्तानन्ता अनन्तानन्ताश्च त्रिविधानन्ताश्च भवन्ति। कस्यचित् पुद्गलद्रव्यस्य द्व्यणुकादेः सङ्ख्येयाः प्रदेशा भवन्ति। ते तु आगमोक्तगणितशास्त्रपर्यन्तेपि सार्द्धशताङ्कपरिमिते अणुद्व्याधिके[4] सति यावान् स्कन्ध एक उत्पद्यते तावान् स्कन्धः सङ्ख्येयप्रदेश उच्यते। कस्यचित् पुद्गलस्कन्धस्य असङ्ख्येयाः प्रदेशा भवन्ति। ते तु यावन्तो लोकाकाशप्रदेशास्तावद्भिः पुद्गलपरमाणुभिर्मिलितैर्यं एक स्कन्ध उत्पद्यते तत्परिमाणस्कन्ध असंख्येयप्रदेश उच्यते। तेन कश्चित् स्कन्ध असङ्ख्येयासङ्ख्येयप्रदेशश्च भवति, कश्चित् स्कन्धः परीतानान्तो भवति अपरः कोऽपि युक्तानन्तप्रदेशो भवति, अन्यतमः कोऽपि अनन्तानन्तप्रदेशश्च भवति। एतत् त्रिविधमप्यनन्तं चशब्देन सामान्येन गृहीतमिति ज्ञातव्यम्। ननु लोकस्तावत् असङ्ख्यातप्रदेशः, स लोक अनन्तप्रदेशस्य अनन्तानन्तप्रदेशस्य च स्कन्धस्य कथमाधार इति विरोधः, ततः पुद्गलस्य अनन्तप्रदेशता न युक्ता; सत्यम्; परमाण्वादयः सूक्ष्मत्वेन परिणता एकैकस्मिन्नपि आकाशप्रदेशे अनन्तानन्तास्तिष्ठन्ति

---

१ प्रदिश्यन्ति आ०, ज०। २ –ति ए– ज०, आ०। ३ काशते ज०, व०। ४ –के या– आ०, ज०। ५ –माणवः सू– आ०, ज०।

सम्मान्ति। कस्मात् ? सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात्। पुद्गलपरमाणूनामवगाहने या शक्तिर्वर्तते सा अव्याहता वर्तते, तां शक्तिं कोऽपि व्याहन्तुं न शक्नोति। अतः कारणात् एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अनन्तानन्तानां परमाणूनामवस्थानं न विरुद्धम्।

अथ 'सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम्' इति सूत्रे विशेषरहिताः पुद्गलाः प्रोक्ताः, तेन अविशेषवचनतया एकस्यापि परमाणोः तादृशाः [1]प्रदेशा भविष्यन्तीत्याशङ्कायां तन्निषेधार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

नाणोः ॥ ११ ॥

अणोः एकस्य परमाणोः 'प्रदेशाः न भवन्ति' इति वाक्यशेषः। कुतो न भवन्तीति चेत् ? अणोः एकप्रदेशमात्रत्वात्। यथा एकाकाशप्रदेशस्य प्रदेशभेदाभावात् अप्रदेशत्वं वर्तते, तथा एकस्य अविभागस्याणोरपि अप्रदेशत्वं ज्ञातव्यमिति। यतः एकस्य परमाणोर्भेदः कर्तुं केनापि न शक्यते।

"परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्।" [ ] इति वचनात् अणोरप्यणीयानपरो न वर्तते कथमणोः प्रदेशाः भिद्यन्ते ?

अथ धर्म्माधर्मजीवपुद्गलादीनामधिकरणपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

लोक्यन्ते विलोक्यन्ते धर्मादयः पदार्था यस्मिन्निति लोकः, लोकस्य सम्बन्धी आकाशो लोकाकाशः तस्मिन् लोकाकाशे। लोक इति **"करणाधिकरणयोश्च"** [का० त० ४।५।९५] इत्यनेन अधिकरणे घञ्। अवगाहनमवगाहः अवकाश इत्यर्थः। धर्म्माधर्म्मजीवपुद्गल-[2]कालद्रव्याणां लोकाकाशे अवगाहोऽवकाशो भवति, अलोकाकाशे धर्म्मादीनां द्रव्याणां प्रवेशो न भवतीत्यर्थः। यदि धर्म्माधर्मजीवपुद्गलकालानां लोकाकाशमधिकरणमाधारो वर्तते तर्हि आकाशस्य किमधिकरणमिति चेत् ? तन्न; आकाशस्याधिकरणमन्यन्न वर्तते, आकाशः[3] स्वप्रतिष्ठो वर्तते। यद्याकाशः स्वप्रतिष्ठोऽस्ति तर्हि धर्मादयोऽपि स्वप्रतिष्ठा एव, यदि धर्मादीना-माधारोऽन्यः प्रकल्प्यते भवद्भिः तर्हि आकाशस्याप्याधारोऽन्यः कल्प्यताम्, [4]एवञ्च सति अनवस्थाप्रसङ्गो भवतीति ; तन्न ; आकाशादधिकपरिमाणमन्यद् द्रव्यं न वर्तते यस्मिन् द्रव्ये आकाशं स्थितमिति कथ्यते। आकाशो हि सर्वतोऽनन्तः। धर्मादीनां यत्पुनराधार आकाशः कल्प्यते तद्व्यवहारनयापेक्षया। एवम्भूतनयापेक्षया तु सर्व्वाण्यपि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठानि वर्तन्ते। एवम्भू[5]त इति कोऽर्थः ? निश्चयनय इत्यर्थः। तथा चाभाणि—

"ते पुणु वंदउं सिद्धगण जे अप्पाणि वसंति।
लोयालोउवि सयलु इहु अच्छहिं विमलु णियंत ॥"[6] [परमात्मप्र० १।५]

---

१ –दृशाः भ– ता०। २ –कालद्रव्याणां लो– आ०, ज०। ३ –शस्तु स्व– आ०, ज०। ४ एवं सति अनवस्थाप्रसङ्गोपि भ– आ०, ज०। ५ –भूतमिति ता०। ६ तान् पुनर्वन्दे सिद्धगणान् ये आत्मनि वसन्ति। लोकालोकमपि सकलमिह तिष्ठन्ति विमलं पश्यन्तः।

तथा च लोके केनचित् पृष्टं क त्वं तिष्ठसि ? स चाह—अहमात्मनि तिष्ठामि । अत्र आधाराधेयकल्पनायाः प्रयोजनं किम् ? इदमेव प्रयोजनं यल्लोकाकाशाद् बहिः न किमपि द्रव्यं वर्तते अन्यत्राकाशात् । अथ कश्चिदाह लोके वस्तूनामाधाराधेयभावः पूर्वोत्तरकालभावी दृश्यते । यथा पिटकः पूर्वं स्थाप्यते पश्चात् बदरादीनि तत्राधीयन्ते, तथा पूर्वकाले आकाशः स्थाप्यते उत्तरकाले तु धर्मादीन्याधीयन्ते, तेनोपचारेणापि आधाराधेयकल्पना न वर्तते; सत्यम्; समकालभाविनामपि पदार्थानामाधाराधेयभावो दृष्ट एव घटवत्, यथा घटे रूपादयः काये करादयो युगपद् दृश्यन्ते तथा आकाशे धर्म्मादयो युगपद् भवन्तीति नास्ति दोषः ।

आकाशं द्विप्रकारम्—लोकाकाशम् अलोकाकाशं च । कस्मात् ? [1]धर्माधर्मास्तिकायभावात् । असति धर्मास्तिकाये जीवपुद्गलानां गतिहेत्वभावो भवति, असति अधर्मास्तिकाये स्थितिहेत्वभावो भवति, उभयाऽभावे गतिस्थित्यभावे लोकालोकविभागो न भवेत् । अत एव गतिस्थितिसद्भावे लोकालोकविभागः सिद्धः ।

अथ धर्म्माधर्मयोः विशेषशक्तिसूचनार्थं सूत्रमिदं प्रतिपालयन्ति—

धर्म्माधर्म्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ तयोः धर्माधर्मयोः । धर्मस्य अधर्मस्य च कृत्स्ने सर्वस्मिन् लोकाकाशे अवगाहो भवति, गृहस्थितस्य घटस्येव नियतोऽवगाहो नास्तीत्यर्थः किन्तु सर्वत्र लोकाकाश एतयोर्द्वयोरवकाशोऽस्ति तिलेषु तैलवत् । स चावगाहः अवगाहनशक्तियोगाद् भवति, परस्परप्रवेशे सति परस्प[2]रस्य व्याघातो न भवति । अत्राह कश्चित्—स्थितिदानस्वभावस्य अधर्मद्रव्यस्य लोककाशे स्थितस्य परतोऽभावात् कथमलोकाकाशः स्थितिं करोति ? तथा कालद्रव्यं विना कथमलोकाकाशो वर्तते ? सत्यम्; यथा—तप्तायःपिण्डो जलपार्श्वे स्थितः एकस्मिन् पार्श्वे जलाकर्षणं करोति तज्जलं सर्वत्र लोहपिण्डे व्याप्नोति तथा लोकस्य पार्श्वे स्थितमलोकाकाशम् अधर्मं कालद्रव्यञ्च स्पृशत् स्थितिं करोति वर्तते च ।

अतः (अथ) कारणात् विपरिणतानां मूर्तानाम्[3] एकप्रदेशसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशानामवगाहनविशेषपरिज्ञापनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

एकश्चासौ प्रदेशः एकप्रदेशः, एकप्रदेश आदिर्येषां द्वित्र्यादिप्रदेशानां ते एकप्रदेशादयः तेषु एकप्रदेशादिषु । पुद्गलानामेकप्रदेशादिषु अवगाहो भाज्यो विकल्पनीयः भाषणोय इत्यर्थः । यथा व्याकरणे अवयवेन विग्रहो भवति समुदायः समासार्थो भवति तथा एकप्रदेशोऽपि गृह्यते बहवश्च प्रदेशा गृह्यन्ते । तथाहि—एकस्मिन् विहायःप्रदेशे एकस्य परमाणोरवगाहो भवति, एकस्मिन्नाकाशे द्वयोः परमाण्वोश्चावगाहो भवति, एवमेकस्मिन्नाकाशप्रदेशे त्र्यादीनामपि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामवकाशो वेदितव्यः । तथा द्वयोराकाशप्रदेशयोः

---

१ धर्मास्तिकायभावात् ब० । धर्मास्तिकायाभावाभा– ब० । २ –परव्या– आ० । ३ –नाम प्रदेश सं– ता०, ब० । ४ –यानन्त– ज०, आ० ।

द्वौ परमाणू अबद्धौ अवकाशं प्राप्नुतः; त्रिषु च आकाशप्रदेशेषु द्वौ च परमाणू बहवश्च परमाणवो बद्धा अबद्धाश्चावगाहं लभन्ते। सोऽवगाहो लोकाकाशप्रदेशेष्वेव न परत इति प्रत्येतव्यम्। ननु धर्म्माधर्मा अमूर्तौ वर्तेते तेन कारणेन यदि एकत्र अविरोधेनावरोधं लभेते अव[2]स्थानम् अवगाहं लभेते, तत् युक्तम्, पुद्‌गलास्तु मूर्तिमन्तः ते एकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशेषु कथमेकसङ्ख्येयासङ्ख्येयप्रदेशाश्चकारादनन्तप्रदेशाश्च पुद्‌गलस्कन्धा अवस्थानं लभन्ते इति ? अत आह—सत्यम्; अवगाहनस्वभावात् सूक्ष्मपरिणामाच्च[3] तथाविधे क्षेत्रे मूर्तिमन्तोपि अवस्थानं लभमानाः पुद्‌गलस्कन्धा न विरुद्ध्यन्ते। यथा [4]एकस्मिन्नपवरके अनेके प्रदीपादिप्रकाशा अवगाहं लभन्ते तथा एकादिप्रदेशेष्वपि अनन्ताश्च पुद्‌गलस्कन्धा अवकाशं लभन्त इति वेदितव्यम्। तथा प्रमाणभूतश्चागमोऽत्र वर्तते—

"[5]ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥" [पवयणसा० २।७६]

तत्र महाकर्पासपिण्डोपि दृष्टान्तः।

अथ विज्ञातमेतत् पुद्‌गलानामवगाहनम्। जीवावगाहनं कीदृशमिति भण्यते—

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

संख्यायते संख्येयः न संख्येयः असंख्येयः, असंख्येयो भाग आदिर्येषां भागानां ते असंख्येयभागादयस्तेषु असंख्येयभागादिषु। जीवन्ति जीविष्यन्ति जीवितपूर्वा वा जीवाः, तेषां जीवानाम्, लोकाकाशे असंख्येयभागादिषु अवगाहो भवति। कोऽर्थः ? लोकाकाशस्य असंख्येया भागाः क्रियन्ते, तेषां मध्ये एको भागो गृह्यते, तस्मिन्नेकस्मिन् भागे एको जीवस्तिष्ठति। आदिशब्दात् द्वयोर्भागयोरेको जीवस्तिष्ठति, तथा त्रिषु भागेष्वेको जीवस्तिष्ठति, तथा चतुर्षु भागेष्वेको जीवस्तिष्ठति। एवं पञ्चादिष्वपि भागेषु एको जीवस्तिष्ठति तथा यावत् सर्वानपि भागान् लोकपूरणापेक्षया व्याप्नोति। नानाजीवानां त्ववगाहः सर्व एव लोको वर्तते। अत्राह कश्चित्—यद्येकस्मिन् असंख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते तर्हि एकस्मिन् भागे द्रव्यप्रमाणतोऽनन्तानन्तो जीवराशिः शरीरसंयुक्तः कथमवतिष्ठते ? सत्यम्; लोकाकाशे सूक्ष्मबादरभेदात् अवस्थितिः प्रत्येतव्या। तत्र बादराः परकृतबाधया चोपघातं लभन्ते, सूक्ष्मजीवास्तु सशरीरा अपि सूक्ष्मत्वात् एकस्मिन्निगोदजीवाऽव[6]गाढे प्रदेशेऽनन्ताऽनन्ता वसन्ति, ते सूक्ष्माः प्राणिनः परस्परेण प्रतिघातं न लभन्ते, बादरैश्च नैव प्रतिहन्तुं शक्यन्ते तेनावगाहविरोधो नास्ति।

अथ 'लोकाकाशतुल्यप्रदेशे किल एको जीवोऽवतिष्ठते इत्युक्तं भवद्भिः, तस्य [7]लोका-

१ –णवश्च ब– आ०, ज०, ब०। २ –स्थाने अवगाहनं ल– आ०, ज०, ब०। ३ –मत्वाच्च आ०, ज०। ४ एकस्मिन्नेव आकाशे अनेके आ०, ज०, ब०। ५ अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः। सूक्ष्मैः बादरैश्च अनन्तानन्तैः विविधैः ॥ ६ –वगाहे प्र– आ०, ज०, ब०। ७ लोकसंख्येय– ब०। लोकस्यासंख्येय– ज०, आ०, ब०।

संख्येयभागादिषु प्रवृत्तिः कथम् सर्वलोकव्याप्तिर्भवत्येकस्य जीवस्य' इति प्रश्ने सति लोकप्रसिद्धदृष्टान्तेन अल्पप्रदेशव्याप्तिरपि भवतीति प्रतिपादनार्थं [2]सूत्रं स्वामिनः प्राहुः—

प्रदेशसंहारविसर्प्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

प्रदिश्यन्ते प्रसार्य्यन्ते सङ्कोच्यन्ते वा प्रदेशाः, संहरणं सङ्कोचनं संहारः, विसर्पणं प्रसारणं विसर्पः, संहारश्च विसर्प्पश्च संहारविसर्पौ, प्रदेशानां संहारविसर्पौ प्रदेशसंहारविसर्पौ, ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम् । अस्यायमर्थः—लोकस्य असङ्ख्येयभागादिषु जीवस्यावगाहः प्रवृत्तिर्भवति । कस्मात् ? प्रदेशानां संहारात् सङ्कोचात् अल्पक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति, प्रदेशानां विसर्पात् प्रसरणात् जीवो बहुषु भागेषु तिष्ठति । एवं व्याख्याने सति प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यामित्यत्र पञ्चमीद्विवचनं घटते । करणापेक्षया तृतीयाद्विवचनं च घटते, तत्र प्रदेशसंहारेण प्रदेशविसर्पेण चेति व्याख्यातव्यम् । प्रदेशानां संहारः कथं विसर्प्पश्च कथं भवति ? प्रदीपवत्—यथा प्रदीपस्य प्रकाशः निरावरणाकाशप्रदेशे अनवधृतप्रकाशपरिमाणं भवति, स एव दीपः यदा वर्द्धमानेन—शरावेण आव्रियते तदा तस्य प्रदीप[3]प्रकाशस्य शरावमात्रक्षेत्रे प्रवृत्तिर्भवति । यदा तु मानिकया [4]ढक्कणिकया स्थालीपिधानेन आव्रियते तदा शरावक्षेत्रात् किञ्चित् बहुतरक्षेत्रे प्रदीपप्रकाशप्रवृत्तिः भवति । यदा तु स एवं प्रदीपः कुण्डेनाव्रियते तदा मानिकाक्षेत्रात् किञ्चिन् बहुतरक्षेत्रे प्रदीपप्रकाशप्रवृत्तिर्भवति । यदा स एव प्रदीपः अपवरकादिनाव्रियते तदा तस्मादपि अधिकप्रकाशो भवति । एवं जीवोऽपि यद्यपि अमूर्तस्वभावो वर्तते तथापि अनादिसम्बन्धैकयान कथञ्चिन् मूर्तो भवन् कार्मणशरीरवशात् अणुशरीरं महच्छरीरञ्चाधितिष्ठन् तच्छरीरवशात् प्रदेशानां संहरणं विसर्पणं च करोति । तावन्प्रमाणतायाम् [6]सत्याम् असङ्ख्येयभागादिषु प्रदेशप्रवृत्तिर्जीवस्योपपद्यते । ननु धर्म्मादीनां परस्परप्रदेशानुप्रवेशो यदा भवति तदा सङ्करः सञ्जायते व्यतिकरो भवति । कोऽर्थः ? एकत्वं प्राप्नोति ; सत्यम् ; धर्मादीनामन्योन्यमत्यन्तश्ले[8]षेऽपि सति—व्यामिश्रतायामपि सत्यां धर्म्मादीनि द्रव्याणि निजनिजस्वभावं न मुञ्चन्ति—धर्मो मिलितोऽपि गतिं ददाति, अधर्मो मिलितोऽपि स्थितिं ददाति, आकाशो मिलितोऽपि अवकाशं ददाति इत्यादि स्वभावस्यापरिहारो वेदितव्यः । तथा चाभाणि—

"अण्णोण्णं पविसंता देंता अवकासमण्णमण्णस्स ।
मिल्लंता वि य णिच्चं सगसब्भावं ण विजहंति ॥"[9]

[पंचास्ति० गा० ७]

अथ कस्तेषां स्वभाव इति प्रश्ने धर्म्माधर्मयोः स्वभावस्तावदुच्यते—

---

१ –कजी –ब० । २ सूत्रमिदं स्वा– आ०, ज०, ब० । ३ –पस्य प्र– आ०, ज०, ब० । ४ ढक्कणिकस्थालीकयावा आ– आ०, ज०, ब० । ५ एव दीपः आ०, ज०, ब० । ६ सत्यम् आ०, ब०, ज० । ८ –पे सति आ०, ज०, ब० । ९ अन्योन्यं प्रविशन्तः ददन्तोऽवकाशमन्योऽन्यस्य । मिलन्तोऽपि च नित्यं स्वकस्वभावं न विजहन्ति ॥

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

गमनं गतिः, स्थानं स्थितिः, उपगृह्यते इत्युपग्रहः। शब्दविग्रहः कृतः। इदानीं समासविग्रहः क्रियते—देशान्तरप्राप्तिकारणं गतिः, देशान्तराप्राप्तिप्रत्यया स्थितिः, गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती, ते एव उपग्रहोऽनुग्रहः[1] कारणत्वं गतिस्थित्युपग्रहः। धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ तयोः धर्माधर्मयोः। उपक्रियते इत्युपकारः। **"कर्तृकर्मणोः कृति नित्यम्"** [का० सू० २।४।४१] इति[2] वचनात्। धर्माधर्मयोरित्यत्र कर्तरि षष्ठी ज्ञातव्या। तेनायमर्थः—गत्युपग्रहो गतिकारणं धर्मेण कर्तृभूतेन जीवपुद्गलानाम् उपकारः कर्मतापन्नः क्रियते। स्थित्युपग्रहः स्थितिकारणमधर्मेण कर्तृभूतेन जीवपुद्गलानामुपकारः कर्मतापन्नः क्रियते। गतिस्थितिकारणं धर्म्माधर्मयोः उपकारः कार्यं भवतीत्यर्थः। एवं चेत् 'गत्युपग्रहः' इत्यत्र द्विवचनं घटते, उपकारशब्देपि द्विवचनं घटते; तन्नाशङ्कनीयम्; सामान्येन व्युत्पादितः शब्दः उपात्तसङ्ख्या शब्दान्तरसम्बन्धेऽपि सति तत्पूर्वोपात्तसंख्यां न मुञ्चति। धर्माधर्मयोरित्यत्र द्विवचनसहितशब्दसम्बन्धेपि सति उपग्रह उपकारश्च द्वौ शब्दौ एकवचनत्वं न मुञ्चत इत्यर्थः, यथा 'मुनेः कर्तव्यं तपःश्रुते' इति। अत्रायमर्थः—गतिपरिणामयुक्तानां जीवपुद्गलानाम् उभयेषां गतिकारणे कर्तव्ये धर्मास्तिकायः सामान्याश्रयो भवति मीनानां गमनप्रयोजने तोयवत्। एवं स्थितिपरिणामयुक्तानां जीवपुद्गलानाम् उभयेषां स्थित्युपग्रहे स्थितिकारणे उपकारे कर्तव्ये सति अधर्मास्तिकायः सामान्याश्रयो भवति अश्वादीनां स्थितिप्रयोजने सति पृथिवीधातुवत्। कोऽर्थः? दधातीति धातुराधारः, पृथिव्येव धातुः पृथिवीधातुः, भूम्याधार इवेत्यर्थः। ननु उपग्रहशब्दोऽप्रयोजनः, उपकारशब्देनैव सिद्धत्वात्, तेन ईदृशं सूत्रं क्रियताम्। ईदृशं कीदृशम्? 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः'; सत्यम्; यथासङ्ख्यं मा भूत् इत्युपग्रहशब्दग्रहणम्। एवं सूत्रे सति धर्माधर्मयोः गतिस्थित्योश्च यथासङ्ख्ये जाते सति जीवपुद्गलानामपि यथासंङ्ख्यं जायते। तथा सत्ययं दोष उत्पद्यते। कोऽसौ दोषः? धर्मस्योपकारो गतिर्जीवानां भवति, अधर्मस्योपकारः स्थितिः पुद्गलानां भवति, एवं सति महान् दोषः सम्पनीपद्यते तद्दोषनिराकरणार्थम् उपग्रहशब्दो गृह्यते। ननु धर्माधर्मयोरुपकारः गतिस्थितिलक्षण आकाशस्य सङ्गच्छते, यत आकाशे जीवाश्च पुद्गलाश्च गच्छन्ति च तिष्ठन्ति च किं धर्माधर्मद्रव्यद्वयग्रहणेन? सत्यम्; आकाशस्यापरोपकारस्य विद्यमानत्वात्। कोऽसावपरोपकारः? धर्माधर्मजीवपुद्गलकालानामवगाहनमाकाशस्य प्रयोजनम् **"आकाशस्यावगाहः"** [त० सू० ५।१८] इति वचनात्। [6]एकस्य द्रव्यस्य अनेकप्रयोजनस्थापनायां लोकालोकभेदो न स्यात्। ननु पृथिवीतोयादीन्येव तदुपकारसमर्थानि किं प्रयोजनं धर्माधर्माभ्यामिति? सत्यम्; पृथिवीजलादीनि असाधारणाश्रयः। कथमसाधारणाश्रयः? पृथिवीमाश्रित्य कश्चित् गतिं करोति कस्यचित् (कश्चित्) गतिभङ्गं

---

१ –ह्का– आ०, ज०, व०, ब०। २ –ति योगवच– आ०, ज०, व०। ३ –ग्रहः स्थित्युपग्रह इ– व०। ४ –संख्ये जा– आ०, ब०, ज०। ५ –द्गलानामव– ब०। ६ एकद्रव्य– ब०

करोति, जलमपि कस्यचित् गतिं ददाति कस्यचिद् गतेः प्रतिबन्धकं भवति, तेन पृथिवीजलादीनि विशेषोक्तानि एकस्य कार्यस्य अनेककारणसाध्यानि च तेन धर्माधर्मौ साधारणाश्रयः गतिस्थित्योरिति तावेव प्रमाणम्। ननु धर्माधर्मौ तुल्यबलौ वर्तेते तेन धर्मः स्थितिप्रतिबन्धको भविष्यति अधर्मस्तु गतिप्रबन्धको भविष्यतीति चेन्; न; तौ अप्रेरकावुक्तौ, धर्मो गतिकार्ये न प्रेरकः अधर्मश्च स्थितिकार्ये न प्रेरकः तेन न परस्परं प्रतिबन्धकाविति। ननु धर्माधर्मौ नोपलभ्येते तेन तौ न स्तः खरविषाणवदिति चेन्; न; सर्वेषां प्रवादिनामविप्रतिपत्तेः धर्म्माधर्म्मौ विद्येते एव। सर्वे हि प्रवादिनः प्रत्यक्षानप्रत्यक्षांश्च अर्थानभिवाञ्छन्ति, तेन अनुपलब्धिरिति हेतुः अस्मान् प्रति न सिद्ध्यति। यथा च निरतिशयप्रत्यक्षकेवलज्ञानलोचनेन सर्वज्ञवीतरागेण धर्मादयः पदार्थाः सर्वे उपलभ्यन्ते **"सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेषु केवलस्य"** [त० सू० १।२९] इति वचनात्, तस्य च उपदेशात् श्रुतज्ञानिभिरपि धर्म्मादय उपलभ्यन्ते।

अथात्राह कश्चित्—उपकारसम्बन्धबलेन अतीन्द्रिययोरपि धर्माधर्मयोरस्तित्वं भवद्भिरवधृतम्, ताभ्यामनन्तरं यदुक्तमाकाशं तस्य कः प्रवर्तत उपकारो येनातीन्द्रियस्यापि तस्याधिगमः सञ्जायते विदुषामिति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

आ समन्तात् काशते चमत्करोति इति आकाशः। अवगाहनमवगाहः जीवपुद्गला[1]दीनाम् अवगाहिनामवकाशदानमवगाह उच्यते। सः अवगाह आकाशस्य सम्बन्धी उपकारो भवति, जीवपुद्गलानाम् आकाशेन उपकारः क्रियते इत्यर्थः। ननु जीवपुद्गला अवगाहिनः क्रियावन्तो वर्तन्ते तेषामवकाशदानम् आकाशस्य साम्प्रतमेव यु[2]क्तमेव, घटत एव—सङ्गच्छत इति यावत्, परं निष्क्रियाणां नित्यसम्बन्धानां धर्मास्तिकायादीनामवगाहः कथं घटते? सत्यम्; निष्क्रियाणामपि धर्मादीनाम् उपचारादवगाहः सङ्गच्छते। यथा सर्वं गच्छति इति सर्वगतः, आकाशस्तु गमनाऽभावे सर्वगत इत्युच्यते। कस्मात्? [3]न्यत्यक्ततो विद्यमानत्वात्। तथा धर्म्माधर्मावपि सर्वत्र व्याप्तिदर्शनादवगाहनक्रियाऽभावेपि अवगाहिनौ इत्युप[4]चर्येते। ननु आकाशस्य अवकाशदानं श्रीमद्भिरुच्यते तर्हि कुलिशादिभिः लोष्टादीनां मृत्पिण्डादीनां व्याघातो न भविष्यति, तथा [5]एडुकादिभिरश्वादीनां च व्याघातो न भविष्यति; सत्यम्; भिदुरपाषाणादीनां स्थूलत्वं वर्तते तेन स्थूलेन स्थूलो व्याहन्यत एव। कुलिशादीनां शिलादिव्याहनने आकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यं न हीयते अवगाहिनामेव परस्परव्याघातात्। स्थूला वज्रादयोऽन्योन्यमवकाशदानं यदि न कुर्वन्ति तदा किमाकाशस्य दोषः? ये खलु सूक्ष्मपुद्गलाः तेऽपि अन्योन्यमवकाशदानं विदधति कथं सूक्ष्ममाकाशं सूक्ष्माणां धर्मादीनामवकाशं न ददाति? एवं चेत् आकाशस्यासाधारणम् अवकाशदानं लक्षणं न

---

१ –पुद्गलानां आ०, ब०, ज०। २ युक्तं घ– आ०, ब०, ज०। ३ प्रत्यक्ष– आ०, ब०, ज०। ४ –पचर्यंते आ०, ब०, ज०, व०। ५ एडका– आ०, ब०।

भवति । कस्मात् ? अन्येषामवकाशदानसम्भवात्[1]। सत्यम्; आकाशस्याधारणं लक्षणमस्त्येव । कस्मात् ? सर्वेषां पदार्थानां साधारणावगाहनकारणत्वात् । ननु अलोकाकाशस्य अवगाहनदानाभावात् स्वलक्षणप्रच्यवनात् आकाशस्याभावः; सत्यम् ; स्वभावस्य अपरित्यागात् कथमाकाशस्याऽभावः ।

अथेदानीं पुद्गलानामुपकारो निरूप्यते—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

शीर्यन्ते विघटन्ते शरीराणि, उच्यते वाक्, मन्यते मनः, प्राणिति जीवति येन जीवः स प्राणः, [2]अपअनिति हर्षेण जीवति विकृत्या वा जीवति येन जीवः सः अपानः, कोष्ठात् बहिर्निर्गच्छति यः स प्राण उच्छ्वास इत्यर्थः, बहिर्वायुरभ्यन्तरमायाति यः सः अपानः निःश्वासः, प्राणश्च अपानश्च प्राणापानौ । शरीराणि च वाक् च मनश्च प्राणापानौ च शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः । पूर्वं पूर्यन्ते पश्चाद् गलन्ति ये ते पुद्गलास्तेषां पुद्गलानाम्[3]। पुद्गलानां सम्बन्धिनः एते शरीरादयः पञ्च उपकाराः जीवानां भवन्ति ।

तत्र तावत् औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्म्मणानि शरीराणि पञ्च । तत्र पञ्चसु शरीरेषु मध्ये यानि कार्मणानि तानि सूक्ष्माणि अप्रत्यक्षाणि तैरुत्पाद्यन्ते[4] उपचयशरीराणि । उपचयशरीराण्यपि कानिचित् प्रत्यक्षाणि भवन्ति कानिचित् अप्रत्यक्षाणि भवन्ति, तेषां सर्वेषां शरीराणां कारणं [5]कर्माणीति ज्ञातव्यम् । आत्मपरिणामं निमित्तमात्रं प्राप्य पुद्गलाः कर्मतया परिणमन्ते, तैस्तु कर्मभिरौदारिकादीनि शरीराणि उत्पद्यन्ते । तेन सर्वाणि शरीराणि पौद्गलिकानि भवन्ति जीवानामुपकारेषु[6] प्रवर्तन्ते । तथा चोक्तम्—

"जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥" [पुरुषार्थसि० श्लो० १२]

ननु औदारिकादीनि शरीराणि आहारवन्ति तेषां पौद्गलिकत्वं सङ्गच्छत एव, कार्मणन्तु शरीरमनाहारकं तत्कथं पौद्गलिकमित्युच्यते ? सत्यम् ; कार्मणमपि शरीरं पौद्गलिकमेव, कर्मविपाकस्य मूर्तिमद्भिः सम्बन्धे सति उत्पत्तिनिमित्तत्वात् यथा व्रीह्यादीनां परिपाकः सलिलादिद्रव्यैः सम्बन्धे सति भवति तथा कार्मणमपि शरीरं सिताकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्यसम्बन्धे सति विपच्यते बन्धमायाति तेन कार्मणमपि शरीरं पौद्गलिकमित्युच्यते । कथमन्यथा प्राणवल्लभं पश्यन्त्याः कमनीयकामिन्याः कञ्चुकस्तुट्यति रोमाञ्चकञ्चुकवशात्[7] ।

या वाक् पौद्गलिकी सा द्विप्रकारा—द्रव्यवाक्-भाववाक्प्रभेदात् । वीर्यान्तरायक्षयोपशमे सति मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति च अङ्गोपाङ्गनामकर्मलाभे च सति भाववाक् उत्पद्यते । सापि पुद्गलाश्रयत्वात् पौद्गलिकीत्युच्यते । यदि पूर्वोक्तकर्म्मपुद्गलक्षयोपशमो

---

१ –शदानस्या– आ०, ब०, ज० । २ अपनिति आ०, ब०, ज०, व० । ३ –नां स– आ०, ब०, व०, ज० । ४ –न्ते पंचशरीराणि उप– आ०, ब०, ब० । ५ कर्मणीति ता० । कार्मणीति व० । ६ –षु व– आ०, ब० । ७ –कवत् आ०, ब०, ज० ।

न भवति अङ्गोपाङ्गनामकर्मलाभश्च न स्यात् तदा वागुच्चारण उत्साहो नोत्पद्यते तेन भाववाक् पौद्गलिकी भवति । भाववाक्सामर्थ्यसहितेन जीवेन चेष्टावता चोद्यमानाः पुद्गलाः वचनत्वेन विविधं परिणमन्ते, तेन कारणेन द्रव्यवागपि स्फुटं पौद्गलिकी भवति । सा द्रव्यवाक् शब्दग्रहेन्द्रियगोचरा भवति । ननु पौद्गलिकी वाक् कर्णेन्द्रियविषया यथा भवति तथाऽपरेन्द्रियविषया कथन्न स्यात्? सत्यम्; अपरेन्द्रियाणां वाचोयुक्तौ अनुचितत्वात् तद्विषया न स्यात्, गन्धग्राहकनासिकेन्द्रियस्य रसाद्यविषयत्ववत् ।

ननु वागमूर्ता कथं पौद्गलिकी भवद्भिरुच्यते? सत्यम्; मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिसद्भावात् वाग् मूर्तिमत्येव । अस्यायमर्थः—वाक् मूर्तिमता कर्णेन्द्रियेण यदि गृह्यते तर्हि कथममूर्त्ता? तथा, मूर्तिमता कुड्यादिना यदि अवरुध्यते प्रतिबध्यते तर्हि कथं वागमूर्ता? तथा, वाग्ग्राहकमपि श्रोत्रेन्द्रियं काहलादिशब्देनान्तरितमपरं शब्दं ग्रहीतुं न शक्नोति बधिरत्वलक्षणो व्याघातो भवति वाक् कर्णेन्द्रियमागन्तुं न शक्नोति । शब्देन व्याहन्यमाना वाक् कथममूर्ता? तथा, मूर्तियुक्तेन प्रतिकूलेन मरुता वाक् व्याहन्यते कथममूर्ता? तथाभिमतप्रदेशे गच्छतः पदार्थस्य व्यावर्तनम् अभिभव उच्यते । स कर्णेन्द्रियस्य झटिति शब्दग्रहणजननसामर्थ्यं घटादिशब्दैः खण्ड्यते तिर्यग्वातेन च शब्दोऽभिभूयते कथं वाक् अमूर्ता? तथा, पटहादिशब्दैर्मशकादिशब्दा अभिभूयन्ते । तदेतदसमीक्षाभिधानं वाचाममूर्तत्वं भवद्भिः कृतमिति ।

मनोऽपि द्रव्यभावभेदाभ्यां द्विप्रकारम् । तत्र द्रव्यमनः ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गो[1]पाङ्गनामलाभहेतवः पुद्गला जीवस्य गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्य उपकारका मनस्त्वेन परिणताः द्रव्यमनः पौद्गलिकमेव । भावमनोऽपि लब्ध्युपयोगलक्षणम् । तदपि पुद्गलावलम्बनं पौद्गलिकमेव जीवस्योपकारकं भवति । ननु मनोऽणुमात्रम्, कोऽर्थः? सूक्ष्मम्, द्रव्यान्तररूपरसादिपरिणामरहितं पौद्गलिकं कथम्? सत्यम्; मनः पौद्गलिकमेव । अणुमात्रं मनो हृषीकेणात्मना च सम्बद्धम्, असम्बद्धं वा? असम्बद्धं चेत्; तत् आत्मन उपकारकं न भवति, हृषीकस्य च सहायत्वं न विदधाति । यदि हृषीकेणात्मना च सम्बद्धं वर्तते, तर्हि एकस्मिन् प्रदेशे सम्बद्धं सत् तन्मनः अणु सूक्ष्ममपरेषु प्रदेशेष्वात्मन उपकारं नो विदध्यात्? [2]अपि तु विदध्यादेव । तेन पौद्गलिकेन इन्द्रियेण मिलितस्यात्मनः उपकारं कुर्वत् पौद्गलिकमेव । भवतु नाम उपकारकं मनः, अदृष्टवशादस्य मनसः आत्मा आलातचक्रवत् उल्मुकवक्रवत् परिभ्रमणं करोति; तन्न; परिभ्रमणसामर्थ्याभावात् । आत्मा ह्यमूर्तः निष्क्रियश्च वर्तते, तस्यात्मनः अमूर्तत्वं निष्क्रियत्वञ्च गुणोऽदृष्टो वर्तते, स आत्मा क्रियारहितः सन् मनसः क्रियारम्भं कर्तुमसमर्थः । मारुतद्रव्यविशेषस्य क्रियावतः स्पर्शवतश्च गुणो दृष्टो वर्तते स मा (म)रुतो वनस्पतेश्च परिस्पन्दहेतुर्भवति तद्युक्तमेव, आत्मा तु

१ –गलाभ– आ०, ब०, ज० । २ अथ तु ब० ।

निष्क्रियः स्पर्शरहितश्च मनसः क्रियाहेतुर्न भवति । अत्र निश्चयनयो योजनीयः । उपचारेण तु क्रियाहेतुरस्त्येव जीवः ।

अथ प्राणापानस्वरूपं निरूप्यते—वीर्यान्तरायस्य ज्ञानावरणस्य च क्षयोपशमम् अङ्गोपाङ्ग-नामकर्मोदयं चापेक्षमाणो जीवोऽयं कोष्ठवातं बहिरुदस्यति प्रेरयति स वातः प्राणः उच्छ्वासापरनामधेयः । तथा, तादृग्विधो जीवः बहिर्वातमभ्यन्तरे करोति गृह्णाति नासिकादिद्वारेण सोऽपानः निश्वासापरनामधेयः । तौ द्वावपि जीवस्य जीवितकारणत्वात् अनुग्राहिणौ उपकारकौ भवतः । ते मनःप्राणापानाः त्रयोऽपि प्रतिघातादिविलोकनात् मूर्तिमन्तो भवन्ति । मनःप्रतीघातो विद्युत्पातादिभिर्विलोक्यते, मनोऽभिभवो मद्यादिभिर्दृश्यते । प्राणापानप्रतीघातः करतलपुटादिमुखसंवरणाद् भवति, प्राणापानाभिभवः [1]सिध्मना निरीक्ष्यते । यदि मनःप्राणापाना अमूर्ता भवन्ति तर्हि मूर्तिमद्भिः अशन्यादिभिरभिघातादयो न भवन्ति, ते च दृश्यन्ते, कथममी मूर्तिमन्तो न भवन्ति ? अत एव कारणात् जीवस्यास्तित्वं सिद्धम् । यन्त्रप्रतिमाक्रिया यथा प्रयोक्तुरदृश्यमानस्याप्यस्तित्वं कथयति तथा प्राणापानादिक्रियापि जीवस्य क्रियावतोऽस्तित्वं सिद्धमाख्याति ।

अथापरोऽपि जीवस्य पुद्गलादुपकार उच्यते—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

सुखयति सुखम् , दुःखयति दुःखम् , जीवनं जीवितम् , म्रियतेऽनेनेति मरणम् , उपग्रहणानि उपग्रहाः । सुखं च दुःखं च सुखदुःखम् [2]समाहारे द्वन्द्वः, तच्च जीवितञ्च मरणञ्च सुखदुःखजीवितमरणानि, तान्येव उपग्रहाः[3] उपकाराः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाः । एते चत्वारोऽपि पुद्गलानामुपकारा जीवस्य भवन्ति । सद्वेद्यासद्वेद्ययोरुदये अन्तरङ्गहेतौ सति बहिर्द्रव्यादिपरिपाककारणवशादुत्पद्यमानः प्रीतिपरितापलक्षणः परिणामः सुखदुःखमुच्यते । भवधारणकारणस्य आयुष्कर्मण उदयात् भवस्थितिं धरतो जीवस्य प्राणापानक्रियायाः अविच्छेदो जीवितम् । प्राणापानक्रियोच्छेदो मरणमुच्यते । एतच्चतुष्टयं पुद्गलकृतोपकारो जीवस्य वेदितव्यः । स मूर्तिमत्कारणसन्निधाने समुत्पद्यते यतस्ततः पौद्गलिक एव । ननु उपग्रहशब्देनोपकार[4] इत्युच्यते । स उपकारः अधिकारादेव लभ्यते किमर्थं पुनरुपग्रहणम् ? इत्याह—सत्यम्; पुनरुपग्रहग्रहणं पुद्गलानां पुद्गलकृतोपकारसूचनार्थम् । तथाहि—ताम्रादीनामम्लादिभिरुपकारः, उदकादीनां कतकादिभिरुपकारः, लोहादीनां जलादिभिरुपकारो भवति । चकारः समुच्चये वर्तते । तेन चक्षुरादीनि इन्द्रियाण्यपि शरीरादिवत् जीवोपकारकाणि भवन्ति ।

अथ ज्ञातो धर्माधर्माकाशपुद्गलोपकारः, जीवस्य क उपकार इति प्रश्ने ग्रहणमिदमुच्यते—

---

१ रोगविशेषेण किलासनाम्ना । सिद्धानां नि– आ०, ब०, ज० । २ –हारो द्व– ता०, ३ –ग्रहाः सु– आ०, ब०, ज० । ४ –र उ– ता०, ब० ।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

परस्परः अन्योन्यसम्बन्धी, उपग्रहः कार्यम्, परस्परश्चासावुपग्रहः परस्परोपग्रहः। जीवानां प्राणिनाम् अन्योन्यस्य कार्यकरणम् उपकारो भवति। यथा [1]बापः पुत्रस्य पोषणादिकं करोति, पुत्रस्तु वप्तुरनुकूलतया देवार्चनादिकं कारयन् श्रीखण्डघर्षणादिकं करोति। तथा, यथा आचार्यः इहलोकपरलोकसौख्यदायकमुपदेशं दर्शयति तदुपदेशकृतक्रियानुष्ठानं कारयति, शिष्यस्तु [2]गुर्वानुकूल्यवृत्त्या तत्पादमर्दननमस्कारविधानगुणस्तवनाभीष्टवस्तुसमर्पणादिकमुपकारं करोति। तथा, यथा राजा किङ्करेभ्यो धनादिकं ददाति, भृत्यास्तु स्वामिने हितं प्रतिपादयन्ति अहितप्रतिषेधं च कुर्वन्ति, स्वामिनं च पृष्ठतः कृत्वा स्वयमग्रे भूत्वा स्वामिशत्रुभङ्गाय युद्ध्यन्ते। उपग्रहाधिकारे सत्यपि पुनरुपग्रहग्रहणं जीवानां परस्परं सुखदुःखजीवितमरणकरणोपकारसूचनार्थम्। तेन यथा सुखादिकं[3] चतुष्टयं पुद्गलोपकारः तथा जीवानामप्युपकारः। यो जीवो यस्य जीवस्य सुखं करोति स जीवस्तं जीवं बहुवारान् सुखयति, यो दुःखयति स तं बहुवारान् दुःखयति, यो जीवयति स तं बहुवारान् जीवयति, यो मारयति स तं बहुवारान् मारयति। तथा चाह योगीन्द्रो भगवान्—

"मारिवि चूरिवि जीवडा जं तुहुँ दुक्खु करीसि।
तं तह पासि अणंतगुण अवसें जीव लहीसि ॥ १ ॥
मारिवि जीवहँ लक्खडा जं तुहुँ पावकरीसि।
पुत्तकलत्तहँ कारणेण तं तुहुँ एक्कु सहीसि[4] ॥ २ ॥"

[परमात्मप्र० गा० १२५, १२६]

अथ यदि सत्तारूपेण वस्तुना उपकारः क्रियते इति विद्यमानस्य वस्तुनोऽनुमितिर्विधीयते भवद्भिः, तर्हि कालद्रव्यमपि सत्तारूपेण वर्तते कस्तस्योपकार [5]इत्याहुः—

वर्तना परिणाम[6]ः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना इत्येकं पदम्, परिणाम इति द्वितीयं पदम्, क्रियेति तृतीयं पदम्, परत्वापरत्वे इति चतुर्थं पदम्, च इति पञ्चमम्, कालस्येति षष्ठं पदमिति षट्पदं सूत्रमिदम्। केचित् चतुष्पदश्च दृश्यते, तदा 'वर्तनापरिणामक्रियाः' इत्येकं परत्वापरपरत्वे इति द्वितीयं पदम्, च इति तृतीयम्, कालस्येति चतुर्थम्। तदा ईदृग्विधः समासः वर्तना च परिणामश्च क्रिया च वर्तनापरिणामक्रियाः। परत्वञ्चापरत्वं च परत्वापरत्वे इतरेतरद्वन्द्वः। कल्यते ज्ञायते

---

१ पिता। २ गुरोरनुकूलत्र– आ०, ब०, ज०। गुर्वानुकूलत्र– ब०। ३ –क चतु– ता०, ज०। ४ मारयित्वा जीवयित्वा जीवान् यत्त्वं दुःखं करिष्यसि। तत्तदपेक्षया अनन्तगुणमवश्यमेव जीव लभसे ॥ मारयित्वा जीवानां लक्षाणि यत्त्वं पापं करिष्यसि। पुत्रकलत्राणां कारणेन तत्त्वमेकः सहिष्यसे ॥ ५ इत्यर्थः ब०। इत्याह ता०। ६ –मक्रि आ०, ब०। ७ सर्वार्थसिद्धितत्त्वार्थवार्तिकादौ।

निश्चीयते सङ्ख्यायते समयादिभिः पर्यायैः [1]मुख्यः कालो निर्णीयते यः सः कालः। **"अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्"** [का० सू० ४।५।४] घञ्।

[2]वर्तन्ते स्वयमेव[3] स्वपर्यायैः बाह्योपग्रहं विना पदार्थाः, तान् वर्तमानान् पदार्थान् [4]अन्यान् प्रयुङ्क्ते या सा वर्तना। वृतेरिनन्तात् कर्मणि भावे वा युट् स्त्रीलिङ्गे वर्तना इति भवति। वर्तते वर्तना इति कर्मणि विग्रहः। वर्तनं वर्तना इति भावे विग्रहः। अत्र लोकप्रसिद्धो दृष्टान्तः कथ्यते—यथा तण्डुलानां विक्लेदनं पचनं पाक उच्यते ते तु तण्डुलाः पच्यमानाः शनैः शनैः ओदनत्वेन परिणमन्ति तण्डुलानां स्थूलत्वदर्शनात् समयं समयं प्रति सूक्ष्मः पाको भवतीति निश्चीयते। यदि प्रतिक्षणं तण्डुलानां सूक्ष्मपाको न भवेत् तदा अनु अक्षतोचितस्थूलपा[5]कस्याभावो भवेत्। एवं सर्वेषां द्रव्याणां स्थूलपर्यायविलोकनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्यं निश्चयकालं परमाणुरूपमपेक्ष्य प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनं यद् भवति सा वर्तना निर्णीयते। चेत् द्रव्याणां प्रतिसमयं परिणामो [6]नैवं भवेत् तर्हि द्रव्याणां स्थूलपर्यायोऽपि न स्यात् तेन सा वर्तना अणुरूपस्य मुख्यकालस्य निमित्तभूतेति कारणात् वर्तनया कृत्वा मुख्यकालोऽणुरूपोऽस्तीति निश्चीयते। वर्तनालक्षणो निश्चयकालस्योपकार इत्यायातम्। ननु यदि निश्चयकालो द्रव्यपर्यायाणां वर्तयिता वर्तते तर्हि स कालः क्रियावान् सञ्जातः निष्क्रियः कथमुक्तः ? सत्यम्; निमित्तमात्रेऽपि वस्तुनि हेतुकर्तृत्वं दृश्यते यथा भिक्षा वासयते कारीषोऽग्निरध्यापयति इति हेतुकर्तृताव्यपदेशो भिक्षाग्न्योर्दृश्यते, तथा कालस्यापि हेतुकर्तृत्वमस्ति निष्क्रियत्वं च न विनश्यति कालस्य। पर्यायोत्पादिका वर्तना तावत् विज्ञाता।

इदानीं परिणामः कालस्योपकारः कथ्यते—द्रव्यस्य स्वभावान्तरनिवृत्तिः स्वभावान्तरोत्पत्तिश्च परिस्पन्दात्मकः पर्यायः परिणाम उच्यते। स परिणामः जीवस्य क्रोधमानमायालोभादिकः। [7]पुद्गलस्य परिणामः वर्णगन्धरसस्पर्शादिकः। धर्मस्याधर्मस्य आकाशस्य च अगुरुलघुगुणवृद्धिहानिविहितः परिणामो वेदितव्यः। विज्ञातस्तावत् पर्यायरूपः परिणामः कालस्योपकारः।

इदानीं क्रियालक्षणः कालोपकारः कथ्यते—परिस्पन्दात्मकः चलनरूपः पर्यायः क्रिया कथ्यते। सा[8] क्रिया द्विप्रकारा—प्रायोगिकी, वैश्रसिकी च। तत्र प्रायोगिकी क्रिया हलमुशलशकटादीनां भवति। वैश्रसिकी स्वाभाविकी मेघविद्युदादीनां भवति। सा द्विधापि क्रिया कालद्रव्योपकारः कथ्यते। विज्ञाता तावत् क्रिया।

इदानीं परत्वापरत्वयोरवसरः। परत्वापरत्वे[9] क्षेत्रकृते [कालकृते] च, कालोपकारप्रकरणात् सूत्रे कालकृते गृह्येते। तथाहि—अतिसमीपदेशवर्तिनि अतिवृद्धे व्रतादिगुणहीने चाण्डाले परत्वव्यवहारो वर्तते, दूरदेशवर्तिनि गर्भरूपे व्रतादिगुणसहिते च अपरत्वव्यवहारो

---

१ मुख्यका- आ०, ब०, ज०। २ वर्तते ता०, ब०। ३ -व पर्या- आ०, ब०, ज०। ४ अन्या प्रयुङ्क्ते ता०, आ०, ब०, ज०। ५ -स्यालाभो भ- आ०, ब०, ज०। ६ न भ- ता०, ब०। ७ पुद्गलस्य परिणाम उच्यते पुद्गलस्य आ०, ब०, ज०। पुद्गलस्य परिणाम उच्यते वर्ण- ब०। ८ सा द्वि- आ०, ब०, ज०। ९ -त्वे द्वे लक्षणकृते च आ०, ज०, ब०। -त्वे क्षणकृते च ब०।

वर्तते । ते द्वे अपि परत्वाऽपरत्वे उक्तलक्षणे कालकृते ज्ञातव्ये । कालोपकार इत्यर्थः । परिणामादयश्चत्वारः सूर्यादिक्रियाकारणसमयावलिकादिव्यवहारकालकृता ज्ञातव्याः । समयस्तु अणोरण्वन्तरविघटनलक्षणप्रमाणो मुख्यकालकृतो वेदितव्यः । एते वर्तनादयः पञ्चोपकाराः कालस्यास्तित्वं ज्ञापयन्ति । ननु वर्तनाग्रहणं यत् कृतं तेनैव पूर्यते परिणामादयस्तु चत्वारः वर्तनाया[1] भेदा एव किमिति परिणामादीनां ग्रहणं पृथग् विधीयते ? तदनर्थकम्; सत्यम्; परिणामादीनां प्रपञ्चः कालद्वयसूचनार्थः । किन्तत् कालद्वयम् ? निश्चयकालो व्यवहारकालश्च । तत्र निश्चयकालो वर्तनालक्षणः परिणामादिचतुर्लक्षणो व्यवहारकालः । उक्तञ्च—

"दव्वपरियट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादी लक्खो वट्टणलक्खो दु परमट्ठो ॥" [द्रव्यसं० गा० २१]

तत्र व्यवहारकालो भूतभविष्यत्वर्तमानलक्षणः गौणः निश्चयकाले, कालाभिधानं मुख्यम् । व्यवहारकाले भूतभविष्यत्वर्तमानव्यपदेशो मुख्यः कालव्यपदेशस्तु गौणः । कस्मान्मुख्यः कस्माद् गौणः ? क्रियायुक्तसूर्यादिद्रव्यापेक्षत्वात् मुख्यः, कालकृतत्वात् च गौण इति ।

'अथ धर्मस्याधर्मस्याकाशस्य पुद्गलस्य जीवस्य कालस्य चोपकाराः प्रोदिताः । "उपयोगो लक्षणम्" [त० सू० २।८] इत्यादिभिर्लक्षणञ्चोक्तम्, पुद्गलानां तु सामान्य[2]-लक्षणं प्रोक्तं विशेषलक्षणन्तु नोक्तं तदिदानीं पुद्गलानां विशेषलक्षणमुच्यताम्' इत्युपन्यास-सम्भवे सूत्रमिदमाहुः—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पृश्यते स्पर्शनं वा स्पर्शः । "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" [का० सू० ४।५।४] घञ् । पक्षे "भावे" [का० सू० ४।५।३] घञ् । रस्यते रसनं वा रसः । गन्ध्यते गन्धनं वा गन्धः । वर्ण्यते वर्णनं वा वर्णः । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णाः, स्पर्शरसगन्धवर्णा विद्यन्ते येषां पुद्गलानां ते स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः । पूर्यन्ते गलन्ति च पुद्गलाः, धातोस्तदर्थातिशयेन योगः मयूरभ्रमरादिवत्[3] । [4]मन्तुरत्र नित्ययोगे यथा क्षीरिणो वृक्षाः वटादयः । पुद्गलाः स्पर्शादिगुणवन्तो भवन्ति । तत्र स्पर्शोऽष्टप्रकारः—मृदुकर्कशगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदात् । रसः पञ्चप्रकारः—तिक्ताम्लकटुमधुरकषायभेदात्[5] । गन्धो द्विप्रकारः—सुरभिदुरभिभेदात् । वर्णः पञ्चप्रकारः—कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । एते पुद्गलानां स्पर्शादयो मूलगुणभेदाः । ते च प्रत्येकं द्वित्र्यादिसंयोगगुणभेदेन [6]संख्येयासंख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति । लवणरसस्य मधुररसे अन्तर्भावो वेदितव्यः । अथवा सर्वेषां रसानां

---

१ –या भवा एव आ०, ब०, ज० । –या भेद एव ता० । २ –मान्यं ल– आ०, ब०, ज० । ३ –मरादिषुवत् आ०, ब०, ज० । ४ वंतुरत्र ता० । ५ –कटुकम– आ०, ब०, ज० । ६ संख्येयानन्तशो भे– आ०, ब०, ज० ।

ऽयञ्जको लवणरस इति कारणात् पञ्चस्वपि रसेष्वन्तर्भावः। येषु च जलादिषु एको द्वौ त्रयो वा गन्धादयः प्रकटा[1] न ज्ञायन्ते तत्र स्पर्शसद्भावात् अप्रकटाः सन्तीति निश्चीयते। ननु "**रूपिणः पुद्गलाः**" [५।५] इत्यत्र सूत्रे पुद्गलानां रूपगुणः[2] प्रोक्तः, रूपगुणाविनाभाविनश्च रसादयो गुणाः तस्मिन्नेव सूत्रे संगृहीता इति कारणात् पुद्गलानां रूपादिमत्त्वं तेनैव सूत्रेण सिद्धं किमर्थमिदं सूत्रमनर्थकम्? इत्याह–सत्यम्; "**नित्यावस्थितान्यरूपाणि**" [५।४] इत्यस्मिन् सूत्रे धर्माधर्माकाशादीनां नित्यत्वादिनिरूपणे पुद्गलानामपि अरूपत्वप्राप्तौ सत्यां तस्याः प्रतिषेधार्थं "**रूपिणः पुद्गलाः**" इति सूत्रं तत्रोक्तम्, "**स्पर्शरसगन्धवर्णवन्ताः पुद्गलाः**" इति तु सूत्रं पुद्गलानां परिपूर्णस्वरूपविशेषपरिज्ञानार्थमुक्तं तेनानर्थकं न भवति।

अथ पुद्गलानां सम्पूर्णविशेषपरिज्ञाने सञ्जातेऽपि पुद्गलानां विकारपरिज्ञानमवशिष्टं वर्तते, तदर्थं सूत्रमिदमुच्यते—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

सूक्ष्मस्य भावः सौक्ष्म्यम्, स्थूलस्य भावः स्थौल्यम्। शब्दश्च बन्धश्च सौक्ष्म्यं च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योताः, ते विद्यन्ते येषां पुद्गलानां ते शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः। एतैर्दशभिः पुद्गलविकारैः सहिता पुद्गला भवन्ति।

तत्र तावच्छब्दस्वरूपं निरूप्यते। शब्दो द्विप्रकारः—भाषात्मकोऽभाषात्मकश्चेति। तत्र भाषात्मकोऽपि द्विप्रकारः—साक्षराऽनक्षरभेदात्। तत्र साक्षरः शब्दः शास्त्रप्रकाशकः संस्कृताऽसंस्कृतात्मकः आर्यम्लेच्छव्यवहारप्रत्ययः। अनक्षरः शब्दो द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां ज्ञानातिशयस्वभावकथनप्रत्ययः। ज्ञानातिशयस्तु एकेन्द्रियापेक्षया ज्ञातव्यः, एकेन्द्रियाणां तु ज्ञानमात्रं वर्तते अतिशयज्ञानं नास्ति अतिशयज्ञानहेत्वभावात्। अतिशयज्ञानवता सर्वज्ञेन एकेन्द्रियाणां स्वरूपं निरूप्यते। स भगवान् परमातिशयज्ञानवान्, अन्यः पुमान् रथ्यापुरुषसदृशः नाममात्रेण सर्वज्ञः हरिहरादिकः।

अत्र केचित् सर्वज्ञस्य अनक्षरात्मकं शब्दं प्रतिपादयन्ति[3], "**नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः**" [ ] इति वचनात्; तन्न सङ्गच्छते; अनक्षरात्मकेन शब्देन अर्थप्रतीतेरभावात्। तथा चोक्तम्—

> "देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतत् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
> साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥" [ ]

भाषात्मकः सर्वोऽपि साक्षरानक्षररूपः प्रायोगिक इत्युच्यते पुरुषप्रयोगहेतुत्वात्।

---

१ प्रकटतया न ज्ञा– ज०। प्रकटज्ञानं ज्ञा– आ०, ब०। २ –ण प्रो–ता०, ब०। ३ –न्ति नष्टवर्णात्मकं शब्दं प्रतिपादयन्ति आ०, ब०, ज०।

अभाषात्मकोपि द्विप्रकारः—प्रायोगिकवैश्रसिकभेदात् । पुरुषप्रयोगे भवः प्रायोगिकः, विश्रसा स्वभावेन सञ्जातः वैश्रसिकः । विश्रसा इत्ययं शब्दः आकारान्तोऽव्ययं स्वभावार्थवाची । तत्र प्रायोगिकश्चतुष्प्रकारः—ततविततघनसुषिरभेदात् । तत्र ततः शब्दः चर्म्मतननेन सञ्जातः । योऽसौ पुष्करः पटहः भेरी दुन्दुभिः दर्दुरो जङ्घावादित्रविशेषः 'र बाब' इति देश्याम्, इत्यादिकः तत इति कथ्यते । विततः शब्दः तन्त्रीविहितवीणाद्युद्भवः । सुघोषैः किन्नरैश्च उल्लपित इत्यादिको वितत उच्यते । घनः शब्दः तालकंसताल[१]नादिन्याद्यभिघातजातः । सुषिरः शब्दः कम्बुवेणुभंभाकाहलादिप्रभवः सुषिर उच्यते ॥ १ ॥

अथ बन्धसम्बन्धः । बन्धो द्विप्रकारः—प्रायोगिकवैश्रसिकभेदात् । तत्र प्रायोगिकः पुरुषप्रयोगोद्भवः । अजीवविषयजीवाजीवविषयभेदात् सोऽपि द्विप्रकारः । तत्र अजीवविषयो बन्धः दारुलाक्षादिलक्षणः । जीवाजीवविषयः कर्मनोकर्मबन्धः । वैश्रसिको बन्धः स्वाभाविको बन्धः स्निग्धरूक्षत्वगुणप्रत्ययः शक्रचापमेघोल्कातडिदादिविषयः ॥ २ ॥

अथ सौक्ष्म्यमुच्यते । तद् द्विप्रकारम्–अन्त्यापेक्षिकभेदात् । तत्र परमाणूनां सौक्ष्म्यम् अन्त्यमुच्यते । अपेक्षायां भवमापेक्षिकम् । कपित्थबिल्वाद्यपेक्षया आमलकादीनि सूक्ष्माणि, आमलकाद्यपेक्षया बदरादीनि सूक्ष्माणि, बदराद्यपेक्षया कक्कोलादीनि सूक्ष्माणि एवं मरिचसर्षपासुँरीप्रभृतीनि सूक्ष्माणि ज्ञातव्यानि ॥ ३ ॥

अथ स्थौल्यमुच्यते । तदपि द्विप्रकारम्–अन्त्यापेक्षिकभेदात् । तत्र जगद्व्यापी महास्कन्धः अन्त्यस्थूलः । राजिकासर्षपमरिचकक्कोलबदरामलकबिल्वकपित्थादीनि अपेक्षास्थूलानि ॥४॥

अथ संस्थानमुच्यते । तदपि द्विप्रकारम्–इत्थंलक्षणानित्थंलक्षणभेदात् । तत्रेत्थंलक्षणं संस्थानं वर्तुलत्रिकोणचतुःकोणदीर्घपरिमण्डलादिकम् । इदं वस्तु इत्थम्भूतं वर्तते इति वक्तुमशक्यत्वात् अनित्थंलक्षणं संस्थानमुच्यते । तत्तु मेघपटलादिषु अनेकविधं वेदितव्यम् ॥५॥

अथ भेदस्वरूपं निरूप्यते । भेदः षट्प्रकारः—उत्करः चूर्णः खण्डः चूर्णिका प्रतरोऽणुचटनं चेति । दार्वादीनां क्रकचकुठारादिभिः उत्करणं भेदनम् उत्करः । यवगोधूमचणकादीनां सक्तुकणिकादिकरणं चूर्णमुच्यते । घटकरकादीनां भित्तशर्करादिकरणं खण्डः प्रतिपाद्यते । अतिसूक्ष्मातिस्थूलवर्जितं मुद्गमापराजमाषहरिमन्थकादीनां दलनं चूर्णिका कथ्यते । मेघपटलादीनां विघटनं प्रतर उच्यते । अतितप्तलोहपिण्डादिषु द्रुघणादिभिः कुट्यमानेषु अग्निकणनिर्गमनम् अणुचटनमुच्यते ॥ ६ ॥

अथ तमो निरूप्यते । प्रकाशविपरीतं चक्षुःप्रतिबन्धनिमित्तं तमोऽपि पुद्गलविकारः ॥७॥

प्रकाशावरणकारणभूता छाया द्विप्रकारा । एका वर्णादिविकृतिपरिणता । कोऽर्थः ? गौरादिवर्णं परित्यज्य श्यामादिभावं गता । द्वितीया छाया [६]प्रतिच्छन्दमात्रात्मिका ॥ ८ ॥

---

१ –नादिनाद्य–आ०, द०, ज०, व० । २ –प्रयोगाद् भवो आ०, द०, ज० । ३ –सुपारी– व० । असुरी कृष्णिका । ४ अपेक्ष्यस्थू– आ०, द०, ज० । ५ चणको हरिमन्थकः । ६ प्रतिबिम्बरूपा । अथवा प्राकृतगाथायाः संस्कृतच्छन्दरूपेण छाया वा ।

उष्णप्रकाशलक्षणः सूर्य्यबर्हिःप्रभृतिनिमित्त आतप उच्यते ॥ ९ ॥

ज्योतिरङ्गणरत्नविधुजातः प्रकाश उद्योत उच्यते ॥ १० ॥

एते शब्दादयो दश भेदा पुद्गलद्रव्यविकारा वेदितव्याः । चकारात् अभिघातचोदनादयः पुद्गलपरिणामाः परमागमसिद्धाः संमुच्चिता[1] ज्ञातव्याः ।

अथेदानीं पुद्गलानां प्रकारः निरूप्यते—

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

प्रदेशमात्रभाविना स्पर्शादिपर्यायाणामुत्पत्तिसामर्थ्येन परमागमे अण्यन्ते [2]शब्द्यन्ते कार्यलिङ्गं विलोक्य सद्रूपतया [3]प्रतिपाद्यन्ते इति अणवः "सर्वधातुभ्यः उः" [ ] तथा चोक्तम्—

> "अणवः कार्यलिङ्गाः स्युः द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः ।
> एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥" [ ]

ननु येऽतिसूक्ष्मा अणवो वर्तन्ते तेषां[4] क आदिः को मध्यः कश्चान्तः ? सत्यम् ; तेषां स्व एव आदिः स्व एव मध्यः स्व एवान्तश्च "आद्यन्तवदेकस्मिन्" [पा० सू० १।१।२१] इति परिभाषणात् । तथा चोक्तम्—

> "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गिज्झं ।
> जं दव्वं अविभागी तं परमाणु वियाणाहि ॥" [नियमसा० गा० २६]

स्थूलत्वेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारं [5]स्कन्धन्ति गच्छन्ति ये ते स्कन्धा इत्युच्यन्ते । क्वचित् वर्तमाना क्रिया उपलक्षणवशात् रूढिं प्राप्नोतीति कारणात् ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापाराणामनुचितेष्वपि द्व्यणुकादिषु स्कन्धेषु स्कन्धसंज्ञा वर्तते । ननु पुद्गलानामनन्ता भेदा[6] वर्तन्ते अणुस्कन्धभेदतया द्विप्रकारत्वं कथम् ? सत्यम् ; अणव इत्युक्ते अणुजातितया सर्वेऽपि अणवो गृहीताः, स्कन्धजातितया सर्वेऽपि स्कन्धा गृहीताः । ननु जातावेकवचनं भवति बहुवचनं कथम् ? सत्यम् ; अणूनां स्कन्धानां च अनेकभेदसंकथनार्थं बहुवचनं वर्तते । तर्हि 'अणुस्कन्धाश्च' इति एकमेव पदं किमिति न कृतम् ? अणवः स्कन्धाश्चेति भेदाभिधानं किमर्थम् ? सत्यम् ; भेदाभिधानं पूर्वोक्तसूत्रत्रयभेदसम्बन्धनार्थम् । तेनायमर्थः— अणवः स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः, स्कन्धास्तु शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च तथा स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तश्च स्कन्धा भवन्ति । चकारः [7]परस्परं समुच्चये वर्तते । तेनायमर्थः—न केवलम् अणव एव पुद्गलाः किन्तु स्कन्धाश्च पुद्गला भवन्ति

---

१ समुदिता आ०, ब०, ज० । २ साध्यन्ते आ०, ब०, ज० । ३ प्रतिपद्यन्ते आ०, ब०, ज० । ४ –षां मध्ये क आ०, ब०, ज० । ५ स्कन्दन्ति ब० । ६ भेदाः प्रव– आ०, ब०, ज० । ७ परस्परसमु– ब० ।

निश्चयव्यवहारनयद्वयक्रमादित्यर्थः । निश्चयनयादणव एव पुद्गलाः, व्यवहारनयात् स्कन्धा अपि पुद्गला भवन्तीत्यर्थः ।

अथ पुद्गलपरिणामः अणुरूपः स्कन्धरूपश्च वर्तते । असावनादिर्वर्तते आहोस्वित् सादिरस्ति ? उत्पत्तिलक्षणत्वात् सादिरङ्गीक्रियते, तर्हि किन्निमित्तमाश्रित्योत्पद्यन्तेऽणवश्च (णवः) किन्निमित्तमाश्रित्योत्पद्यन्ते स्कन्धाश्चेति प्रश्ने तत्र तावत् स्कन्धानामुत्पत्तिनिमित्त-संसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदश्च सङ्घातश्च भेदसंघातश्च भेदसंघातास्तेभ्यः भेदसंघातेभ्यः, रूपे रूपं प्रविष्टं "**सरूपाणामेकशेषः**" [पा० सू० १।२।६४] इति वचनात् भेदसङ्घातशब्दलोपः । उत्पद्यन्ते जायन्ते स्कन्धा इत्यर्थः । संघातानां द्वितयनिमित्तवशात् विदारणं भेदः । भिन्नानाम् एकत्र मेलापकः संघातः । भेदात् संघातात् तदुभयाच्च स्कन्धा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । अस्यायमर्थः— द्वयोरण्वोः मेलापकादेकत्रीभवनात् द्विप्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य एकस्य चाणोर्मेलापकात्त्रिप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते । त्रयाणां वा भिन्नानामणूनां मेलापकात्त्रिप्रदेशः स्कन्धो जायते । द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य अपरस्य च द्विप्रदेशस्य[1] स्कन्धस्य मेलापकाच्चतुः-प्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । अथवा त्रिप्रदेशस्य स्कन्धस्य एकस्य चाणोर्मेलापकाच्चतुःप्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । अथवा चतुर्णाम् अणूनां भिन्नानां मेलापकाच्चतुः प्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । त्रिप्रदेशस्य स्कन्धस्य द्विप्रदेशस्य च स्कन्धस्य एकत्रीभवनात् पञ्चप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते । चतुःप्रदेशस्य स्कन्धस्य एकस्य चाणोर्मेलापकात् पञ्चप्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । पञ्चानामणूनां वा भिन्नानां मेलापकात् पञ्चप्रदेशः स्कन्धः सञ्जायते । इत्यादिसंख्येयानामणू-नामसंख्येयानामणूनाम् अनन्तानाम् अणूनां च मेलापकात् संख्येयप्रदेशः असंख्येयप्रदेशः अनन्तप्रदेशः अनन्तानन्तप्रदेशश्च स्कन्ध उत्पद्यते । एतेषामेव स्कन्धानां पूर्वरीत्या भेदात् नाना स्कन्धा उत्पद्यन्ते द्व्यणुकः स्कन्धो यावत् । यथा भेदात् संघाताच्च स्कन्धोत्पत्तिर्निगदिता तथा भेदसंघाताभ्याम् एकसमयोत्पन्नाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः [2]सम्प्रजायन्ते अन्यस्माद् भेदेन अन्यस्य मेलापकेन तदुभयप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते इत्यर्थः ।

अथ यदि स्कन्धा एवमुत्पद्यन्ते तर्हि अणुः कथमुत्पद्यते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

भेदादणुः ॥ २७ ॥

अणुरुत्पद्यते । कस्माद् ? भेदात् । न संघातात् न च भेदसंघाताभ्यामणुरुत्पद्यते किन्तु भेदादेवाणुरुत्पद्यते इति नियमार्थमिदं सूत्रम् "**सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय**" [ ] इति[5] वचनात् ।

---

१ –स्य मे– आ०, ब०, ज० । २ संजाय– आ०, ब०, ज०, व० । ३ –मुत्प– आ०, ब०, ज० । ४ –देवोत्प– आ०, ब०, ज० । ५ "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" –न्यायसं० पृ० २९ । "सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति" –पा० म० भा० १।१३ ।

अथ स्कन्धानामुत्पत्तिः संघातात् भवति, **"भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते"** इत्यत्र भेदग्रहणं निरर्थकम्; नैवं[1]म्; भेदग्रहणे प्रयोजनमस्ति, तदर्थमेव सूत्रमिदमुच्यते[2]—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

भेदश्च संघातश्च भेदसंघातौ ताभ्यां भेदसंघाताभ्याम्। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषः चक्षुर्ग्राह्यः स्कन्ध इत्यर्थः। अनन्तानन्ताणुमेलापकजातोऽपि कश्चित् स्कन्धः चाक्षुषः चक्षुर्ग्राह्यो भवति कश्चित् स्कन्धोऽचाक्षुषो भवति। तयोर्मध्ये योऽचाक्षुषः स चाक्षुषः कथं भवति? सूक्ष्मपरिणामस्कन्धस्य भेदे सति सौक्ष्म्यस्याऽपरिहारात् एकत्र अचाक्षुषत्वमेव, द्वितीयस्तु अचाक्षुषः स्कन्धः अन्यसङ्घातेन चाक्षुषेण मिलितः सन् सूक्ष्मपरिणामपरित्यागे सति स्थूलत्वोत्पत्तौ सत्यामचाक्षुषोऽपि चाक्षुषो भवति। तेन 'भेदसङ्घातेभ्यः उत्पद्यन्ते' इत्यत्र भेदग्रहणमनर्थकं न भवति। अत्रायं भावः—केवलात् भेदात् सूक्ष्मस्य स्कन्धस्य चाक्षुषत्वं न भवति, किन्तु चाक्षुषेण सह मिलितस्य सूक्ष्मस्य चाक्षुषत्वं भवति।

अथ धर्माधर्माकाशपुद्गलकालजीवद्रव्याणां निजनिजलक्षणानि विशेषभूतानि विद्वद्विशेषकेणोमास्वामिना प्रोक्तानि, षण्णामपि सामान्यलक्षणमद्यापि नोक्तं वर्तते, तत्प्रतिपत्त्यर्थं[3] सूत्रममिदं सूच्यते—

सद् द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्याणां लक्षणं द्रव्यलक्षणं द्रव्यस्य वा लक्षणं द्रव्यलक्षणम्। सद् भवति। कोऽर्थः? यत् सत् विद्यमानं तत् द्रव्यं भवति, यन् सन् नास्ति तत् द्रव्यं न भवति। तत्सत्त्वं सर्वेषामेव षण्णां द्रव्याणां वर्तत एव।

अथ सदेव तावत् पूर्वं न ज्ञायते यत् द्रव्याणां लक्षणभूतं सामान्यतया वर्तते, तत्परिज्ञानार्थं सूत्रं वक्तुमर्हन्ति भवन्त इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

चेतनद्रव्यस्य अचेतनद्रव्यस्य वा निजां जातिममुञ्चतः कारणवशात् भावान्तरप्राप्तिः उत्पादनमुत्पादः, यथा मृत्पिण्डविघटने घटपर्याय उत्पद्यते। पूर्वभावस्य व्ययनं[4] विघटनं विगमनं विनशनं व्यय उच्यते, यथा घटपर्यायोत्पत्तौ सत्यां मृत्पिण्डाकारस्य व्ययो भवति। अनादिपारिणामिकस्वभावेन निश्चयनयेन वस्तु न व्येति न चोदेति किन्तु ध्रुवति स्थिरीसम्पद्यते यः स ध्रुवः तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यंमुच्यते[5], यथा मृत्पिण्डस्य व्यये घटपर्यायोत्पत्तावपि मृत्तिका मृत्तिकान्वयं न मुञ्चति, एवं पर्यायस्योत्पादे व्यये च जातेऽपि सति वस्तु ध्रुवत्वं न मुञ्चति। उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं च उत्पादव्ययध्रौव्याणि तैर्युक्तमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्। यद् वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं भवति तत् वस्तु सद् भण्यते। यद् वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं

---

१ नैव भे– ता०। २ –मिदमुच्य– आ०, ब०, ज०। ३ –र्थं वक्तु– आ०, ब०, ज०। ४ –नं विग– ता०, ब०। ५ –व्यमित्युच्य– आ०, ब०, ज०।

न भवति तद् वस्तु नास्ति। ननु भेदे सति युक्तशब्दो दृश्यते यथा 'देवदत्तो दण्डेन युक्तो वर्तते' इत्युक्ते देवदत्तो दण्डाद्भिन्न इति ज्ञायते, तथा च सति उत्पादव्ययध्रौव्याणामभावो भवति[1] द्रव्यस्य वा अभावः; युक्तमुक्तं भवता; उत्पादादीनामभेदेऽपि सति कथञ्चिद्भेदेन येन युक्तशब्दोऽत्र दृष्टः, यथा 'स्तम्भः सारयुक्तः' इत्युक्ते न सर्वथा स्तम्भात् सारो भिन्नो वर्तते किन्तु द्वयोरप्यविनाभावोऽस्ति। तेनायमर्थः—उत्पादव्ययध्रौव्यसहितं सदुच्यते। अथवा, 'युजिर् योगे' इति रौधादिको धातुर्न भवति किं तर्हि 'युज् समाधौ' इति दैवादिकोऽयं धातुः। तथा सति उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् उत्पादव्ययध्रौव्यसमाहितम् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् उत्पादव्ययध्रौव्यमयम् उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावं यद् वस्तु तत् सदुच्यते। तथा चोक्तम्—

> "स्थितिजननिरोधलक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
> इति जिन सकलज्ञलाञ्छनं वचनमिदं वदतां वरस्य ते॥"

[बृहत्स्व० श्लो० ११४]

अस्मिन् सूत्रे उत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यस्य लक्षणानि उक्तानि। द्रव्यं तु लक्ष्यं प्रोक्तम्। पर्यायार्थिकनयेन उत्पादादीनां[2] परस्परमर्थान्तरभावः, तेनैव च नयेन द्रव्यात् उत्पादादीनामर्थान्तरभावः। द्रव्यार्थिकनयेन तु परस्परं व्यतिरेको नास्ति किन्तु तन्मयत्वं वर्तते। अनया रीत्या[3] लक्ष्यलक्षणयोर्भावाभावौ सिद्धाविति।

अथ "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" [५।४] इति यत् पूर्वमुक्तं तत्र किं नित्यं तदस्माभिर्न ज्ञायते इति प्रश्ने नित्यलक्षणसूचनपरं[4] [5]सूत्रमाहुः—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

भवनं भावः तस्य भावस्तद्भावः, तद्भावेन अव्ययमविनाशं ध्रुवं तद्भावाव्ययं नित्यमुच्यते। तद्भावः कः ? प्रत्यभिज्ञानहेतुता तद्भावः। प्रत्यभिज्ञानहेतुता का ? 'तदेवेदम्' इति[6] विकल्पः प्रत्यभिज्ञानम्। तत्प्रत्यभिज्ञानमकस्मान्न भवति निर्हेतुकं न भवति। यो यस्य हेतुः स तद्भावः। येन स्वभावेन वस्तु पूर्वं दृष्टं तेनैव स्वभावेन पुनरपि तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते उपचर्यते सङ्कल्प्यते, यथा [7]मृत्पिण्डे दृष्टस्य द्रव्यमृत्तिकालक्षणस्य भावः मृत्पिण्डदृष्टरूपेणावस्थानम्—घटाकारकालेऽपि मृत्पिण्डद्रव्यस्यावस्थानम्, घटं दृष्ट्वा तदेवेदमिति—तदेव मृत्पिण्डद्रव्यमिति प्रत्यभिज्ञानेन प्रतीयते। यथा वृद्धं दृष्ट्वा स एवायं शिशुः योऽस्माभिः पूर्वमेव दृष्टः, अनया रीत्या यदव्ययं तन्नित्यमुच्यते। यदि अत्यन्तं निरोधो भवति विनाशः स्यात्, तदा अभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव स्यात् मूलद्रव्यविलोपो भवति। घटाङ्गीकारे

१ –ति कस्माद् द्रव्यस्य चाभा– ब०। –ति द्रव्यस्य चाभा– ता०। २ परमर्था– आ०, ब०, ज०। ३ –त्या लक्षणयो– आ०, ब०, ज०, व०। ४ –नार्थं परं सूत्रमाहुर्भगवन्तः आ०, ब०, ज०। ५ –सूत्रमिदमाहुः व०। ६ –ति स्मरणमिति विक– ता०, आ०, ब०, ज०। ७ मृत्पिण्डदृ– व०।

मृत्पिण्डमृत्तिकाद्रव्यवत् [1]लोकव्यवहारोऽपि तदधीनो[2] विलुप्यते । तस्मात् कारणात् तद्भावेन नित्यं निश्चीयते । मृत्पिण्डात् घटपर्यायस्तु उपसर्जनीभूतः अप्रधानभूतः, तद्भावस्तु प्रधानभूतः तेन नित्यमिति । तन्नित्यं कथञ्चिन् वेदितव्यम्—केनचिन्नयप्रकारेण ज्ञातव्यम्—द्रव्यार्थिकनयेन ज्ञातव्यमित्यर्थः । सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावस्याभावः स्यात्, तथा सति [3]संसार-संसारविनिवृत्तिहेतुभूत[4]प्रक्रियाविरोधो भवति ।

अथ, ननु तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति विरुद्धमेतत्—चेन्नित्यमङ्गीक्रियते तर्हि उत्पादव्यययोरभावः स्यात्, एवं सत्यनित्यताया विनाशः स्यात्, चेद[5]नित्यमङ्गीक्रियते तर्हि स्थितेरभावः स्यात्—ध्रौव्याभावो भवेत्, तथा सति नित्यतायाः विघातः स्यात्; युक्तमुक्तं भवता; अस्यैव एकवस्तुनि नित्यानित्ययोर्विरोधस्योच्छेदनार्थं स्याद्वादिभिरिदं सूत्रमुच्यते—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्पणमर्पितम्, न अर्पणमनर्पितम्, अर्पितं च अनर्पितं च अर्पितानर्पिते । अर्पितानर्पिताभ्यां सिद्धिः अर्पितानर्पितसिद्धिः तस्याः अर्पितानर्पितसिद्धेः कारणात् नित्यानित्ययोः कथनं भवति, तत्र नास्ति विरोध इत्यर्थः । अस्यायमर्थः—वस्तु तावदनेकान्तात्मकं वर्तते । तस्य वस्तुनः कार्यवशात् यस्य कस्यचित्स्वभावस्य प्रापितमर्पितं प्राधान्यम् उपनीतं विवक्षितमिति यावत्, नार्पितं न प्रापितं न प्राधान्यं नोपनीतं न विवक्षितमनर्पितमुच्यते प्रयोजनाभावात्, सतोऽपि स्वभावस्याविवक्षितत्वात् । उपसर्जनीभूतमप्रधानभूतम् अनर्पितमुच्यते, यथा कश्चित् पुमान् पिता इत्युच्यते । स पिता कस्यचित् पुत्रस्य विवक्षया पिता भवति । स एव पिता पुत्र इत्युच्यते, तत्रापि पितुरपि कश्चित् पिता वर्तते, तद्विवक्षया स एव पिता पुत्र इत्युच्यते । तथा स एव पुत्रत्वेन विवक्षितः पिता भ्रातापि कथ्यते । कस्मात्? तस्य [6]पुत्रत्वेन पितृत्वेन विवक्षितस्य पुंसोऽन्यः कश्चिद् भ्राता वर्तते, तदपेक्षया स एव पुमान् भ्रातापि भवति । तथा भ्रातृत्वेन पुत्रत्वेन पितृत्वेन विवक्षितः पुमान्[7] भागिनेय इत्युच्यते तस्य मातुलापेक्षया । इत्यादयः सम्बन्धा एकस्यापि पुरुषस्य जनकत्वजन्यत्वादिकारणाद् बहवो भवन्ति, नास्ति तत्र विरोधः, तथा द्रव्यमपि सामान्यविवक्षया अर्पणया नित्यमुच्यते, विशेषविवक्षया विशेषार्पणया नित्यमपि वस्तु अनित्यमित्युच्यते, अनित्यताकारणसन्दर्शनात् मृत इत्यादिवत्, तत्रापि नास्ति विरोधः । तौ च सामान्यविशेषौ केनचिन्नयप्रकारेण कथञ्चिद् भेदा (भेदाभेदा) भ्यां व्यवहारकारणं भवतः । एवम् अर्पितानर्पितसिद्धिवशान्नित्यत्वानित्यत्वे नीलत्वानीलत्वे एकत्वानेकत्वे भिन्नत्वाभिन्नत्वे अपेक्षितत्वानपेक्षितत्वे दैवत्वपौरुषत्वे पुण्य-

---

१ लोकस्य व्य– आ०, ब०, ज०, व० । २ –नोऽपि वि– आ०, ब०, ज०, ता० । ३ –ति संसारविनि– आ०, ब०, ज०, व० । ४ –तक्रि– आ०, ब०, ज०, व० । ५ –चेद-नित्यमेवा– व० । ६ पुत्रत्वेन पितापितृत्वेन व० । पुत्रपितृत्वेन आ०, ब०, ज० । ७ –न् भवति भा– आ०, ब०, ज० ।

त्वपापत्वे इत्यादयो धर्मा एकस्मिन् पदार्थे [1]योजयितव्याः ।

अथ परमाणूनां परस्परं बन्धनिमित्तसूचनपरं सूत्रमुच्यते—

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निह्यति स्म बहिरभ्यन्तरकारणद्वयवशात् स्नेहपर्यायप्रादुर्भावाच्चिक्कणः सञ्जातः स्निग्ध इत्युच्यते । तथा बहिरभ्यन्तरकारणद्वयवशात् रूक्षपरिणामप्रादुर्भावात् रूक्षयति परुषो भवति रूक्षः । रूक्षणं वा रूक्षः । स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ स्निग्धरूक्षयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वं तस्मात् स्निग्धरूक्षत्वात्—चिक्कणलक्षणपर्यायपरुषलक्षणपर्यायहेतुत्वादित्यर्थः । बन्धो भवति—संश्लेष उत्पद्यते—द्व्यणुकादि[2]परिणामः स्कन्ध उत्पद्यते । द्वयोर्द्वयोः परमाण्वोः स्निग्धरूक्षयोः अन्योन्यसंश्लेषलक्षणे बन्धे सति द्व्यणुकस्कन्धो भवति । त्रयाणां [3]संश्लेषेण [4]त्र्यणुकस्कन्धो भवति । इत्यादिरीत्या सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तानन्तप्रदेशस्कन्धो भवतीति वेदितव्यः । तत्र स्नेहगुण एकविकल्पो द्विविकल्पस्त्रिविकल्पश्चतुर्विकल्प इत्यादिसङ्ख्येयविकल्पः असङ्ख्येयविकल्पः अनन्तविकल्पः । एवं रूक्षगुणश्च एकद्वित्रिचतुःसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तविकल्पः । एवंविधगुणसंयुक्ताः परमाणवो वर्तन्ते । यथा उदकस्नेहात् अजाक्षीरमधिकस्नेहम्, अजाक्षीरात् अजाघृतमधिकस्नेहम्, एवं गोक्षीरघृते अधिकस्नेहे गोक्षीरान्महिषीक्षीरमधिकस्नेहम्, गोघृतान्महिषीघृतमधिकस्नेहम्, महिषीक्षीरात् क्रमेलिकाक्षीरमधिकस्नेहम्, महिषीघृतान्मयीघृतमधिकस्नेहं वर्तते । तथा, यथा पांशुकणिकाभ्यः शर्करोपला अधिकरूक्षाः, तेभ्योऽपि पाषाणवज्रादयोऽधिकरूक्षगुणाः, तथा पुद्गलपरमाणवोऽपि अधिकाधिकस्निग्धरूक्षगुणवृत्तयः प्रकर्षाप्रकर्षेणानुमीयन्ते ।

अथ स्निग्धरूक्षत्वगुणहेतुको बन्ध उक्तस्तत्र स्निग्धरूक्षगुणयोर्विशेषो नोक्तः, सामान्ये प्रसक्ते सति अनिष्टगुणप्रतिषेधार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' इत्यत्र सामान्येन बन्ध उक्तः । 'न जघन्यगुणानाम्' इदं सूत्रन्तु अनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थं वर्तते । अस्यैव सूत्रस्य तावद् व्याख्यानं क्रियते तथाहि—जघनमेव जघन्यम्, शरीरावयवेषु किल जघनं निकृष्टोऽवयवः तथाऽन्योऽपि यो निकृष्टः स जघन्य उच्यते । **"यदुगवादितः"** [का० सू० २।६।११] इत्यनेन सूत्रेण यत् प्रत्यये सति जघन्यशब्दः सिद्धः । [7]केचित् शाखादित्वात् यं प्रत्ययं मन्यन्ते, यथा शाखायां भवः शाख्यस्तथा जघने भवो जघन्यः । गुणशब्दस्तु अनेकार्थः क्वचिदप्रधानेऽर्थे यथा **"गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यम्"** [बृहत्स्व० श्लो० ४५] अप्रधानार्थमित्यर्थः । यथा अस्मिन् राज्ये वयं गुणभूता अप्रधानभूता

---

१ योजितव्याः आ०,ब०,ज० । एतेषां स्याद्वाददृष्ट्या विशेषपरिज्ञानार्थम् आप्तमीमांसादयो विलोकनीयाः । २ –दिकारणनामस्क– आ०,ब०,ज० । ३ संश्लेषणे ता०, ब० । ४ द्व्यणु– आ०, ब०,ज० । ५ –णप्रत्र– ब० । ६ सूत्रमिदमाहुराचार्याः ब० । ७ पाणिनीयाः ।

इत्यर्थः । क्वचित् [1]राजौ—द्विगुणा रज्जुः समावयवा इत्यर्थः । द्वे रज्जू एकत्र मेलिते बुनिते इत्यर्थः । क्वचित् द्रव्ये गुणशब्दो वर्तते यथा गुणवान् मालवो देशः, [2]गोशस्यादिप्रचुरद्रव्यवानित्यर्थः । क्वचिदुपकारे गुणशब्दो वर्तते यथा गुणज्ञोऽयं विद्वान् कृतोपकारज्ञ इत्यर्थः । क्वचित् रूपादिषु गुणशब्दो वर्तते, यथा गुणा रूपरसादयः । क्वचिद् दोषविपरीतार्थे यथा गुणवान् साधुः ज्ञानादिमानित्यर्थः । क्वचिद् विशेषणे किं गुणोऽयम् । क्वचिद् भागे यथा द्विगुणेषु चणकेषु च त्रिगुणा गोधूमाः, द्विभागेषु चणकेषु त्रिभागा गोधूमा इत्यर्थः । एवं शौर्यादिसन्ध्यादिसत्त्वादितन्तुमौर्पकारप्रत्यञ्चादिषु गुणशब्दो ज्ञातव्यः । एतेष्वर्थेषु अत्र भागार्थो गुणशब्दो ज्ञातव्यः । तेनायं विग्रहः—जघन्या निकृष्टा गुणा भागा येषामण्वादीनां ते जघन्यगुणाः तेषां जघन्यगुणानाम्, बन्धो न भवति । तत्कथम् ? एकगुणस्निग्धस्य एकगुणेन स्निग्धेन द्विगुणेन त्रिगुणेन चतुर्गुणेन पञ्चगुणेन संख्येयगुणेन असङ्ख्येयगुणेन अनन्तगुणेन वा स्निग्धेन बन्धो न भवति । तथा एकगुणस्निग्धस्य एकगुणेन रूक्षेण बन्धो न भवति । एवं द्वित्रिचतुःपञ्चादिसंख्येयगुणासंख्येयगुणानन्तगुणरूक्षेण वा बन्धो न भवति । एवमेकगुणरूक्षस्य एकगुणस्निग्धेन द्विगुणत्रिगुणचतुःपञ्चादिसङ्ख्येयगुणासङ्ख्येयगुणानन्तगुणेन स्निग्धेन वा बन्धो न भवति । अत्रायमर्थः—जघन्यगुणस्निग्धजघन्यगुणरूक्षौ विहायापरेषां स्निग्धानां रूक्षाणां चान्योन्यं बन्धोऽस्तीति वेदितव्यम् ।

अथ अस्मिन्नपि सूत्रेऽविशेषप्रसङ्गोऽबन्धस्य, केषां बन्धप्रतिषेधो भवतीति विशेषज्ञापनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

गुणानां साम्यं गुणसाम्यं तस्मिन् गुणसाम्ये भागतुल्यत्वे सति, सदृशानां तुल्यजातीयानां परमाणूनां बन्धो न भवतीति[5] शेषः । अस्यायमर्थः—द्विगुणस्निग्धानाम् द्विभागस्निग्धानां परमाणूनां द्विगुणरूक्षैः—द्विभागरूक्षैः परमाणुभिः सह बन्धो न भवति । [6]त्रिगुणस्निग्धानां त्रिभागस्निग्धानां परमाणूनां त्रिगुणरूक्षैस्त्रिभागरूक्षैः परमाणुभिः सह बन्धो न भवति । तथा द्विगुणस्निग्धानाम्—द्विभागस्निग्धानां [7]द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणस्निग्धैः द्विभागस्निग्धैः परमाणुभिः सह बन्धो न भवति । तथा द्विगुणरूक्षाणां द्विभागरूक्षाणां द्विगुणरूक्षैः द्विभागरूक्षैः सह बन्धो न भवति । ननु गुणसाम्ये भागतुल्यत्वे यदि बन्धो न भवति तर्हि 'सदृशानाम्' इति पदं व्यर्थं साम्यशब्देनैव सदृशार्थप्रतिपादनात् ; सत्यम् ; 'सदृशानाम्' इति ग्रहणं गुणवैषम्ये बन्धो भवतीति परिज्ञानार्थम् । तेन गुणवैषम्ये बन्धो भवतीति सम्प्रत्ययः सम्यक्प्रतीतिः उत्तरसूत्रे करिष्यते इति ।

अथ विषमभागानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानाम् अनियमात् बन्धे प्रसक्ते सति विशिष्टबन्धसम्प्रत्ययनिमित्तं सूत्रमिदं ब्रुवन्त्याचार्याः—

---

१ रज्जौ ता०,व० । २ गोधूमसस्या– आ०, ब०, ज० । ३ –कार इ– आ०, ब०, ज० । ४ –रूपकार– व० । सुष्ठु उपकारः सूपकारः । ५ –ति विशेषः आ०, ब०, ज०, व० । ६ –वाक्यमेतन्नास्ति ता० । ७ पदमेतदधिकं वर्तते ।

द्व्यधिकादिगुणानान्तु ॥ ३६ ॥

तु शब्दः पादपूरणावधारणविशेषणसमुच्चयेषु चतुर्ष्वर्थेषु यद्यपि वर्तते तथाप्यत्र सूत्रे विशेषणार्थे ज्ञातव्यः। किन्तद्विशेषणम्? **'न जघन्यगुणानाम्' 'गुणसाम्ये सदृशानाम्'** इति सूत्रद्वये यो बन्धप्रतिषेध उक्तस्तं प्रतिषेधाधिकारं प्रतिषिध्य बन्धं विशेषयति—'बन्धो भवति' इति कथयत्ययं तुशब्दः। द्वाभ्यां गुणाभ्याम् अधिकः द्व्यधिकः चतुर्गुण इत्यर्थः। द्व्यधिक आदिः प्रकारो येषां ते द्व्यधिकादयः, द्व्यधिकादयः द्व्यधिकप्रकारा गुणा येषां परमाणूनां ते द्व्यधिकादिगुणाः, तेषां द्व्यधिकादिगुणानाम्। द्व्यधिकतायां त्रिगुणस्य पञ्चगुणेन सह बन्धो भवतीत्यादि सम्प्रत्ययः स्यात्, तेन कारणेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानाञ्च बन्धो भवति [1]नो इतरेषाम्। के च तुल्यजातयः के च अतुल्यजातयः इति न ज्ञायते? कथयामि—स्निग्धस्य स्निग्धस्तुल्यजातिः, स्निग्धस्य रूक्षोऽतुल्यजातिः, रूक्षस्य रूक्षस्तुल्यजातिः, रूक्षस्य स्निग्धोऽतुल्यजातिरिति। तथाहि—द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा बन्धो न भवति, चतुर्गुणस्निग्धेन तु बन्धो भवति। तस्यैव तु द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धो न भवति, षट्गुणस्निग्धेन सप्तगुणस्निग्धेन अष्टगुणस्निग्धेन [2]सङ्ख्येयगुणस्निग्धेन असङ्ख्येयगुणस्निग्धेन अनन्तगुणस्निग्धेन वा बन्धो न भवति। त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन तु बन्धो भवति शेषैः पूर्वोत्तरैः बन्धो न भवति। के पूर्वे के चोत्तरे च इति न ज्ञायते? कथयामि—बन्धसम्बन्धात् यत् पूर्वमुक्तं तन्न भवति। तत् किम्? द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोः एकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा बन्धो न भवति इति पूर्वमुक्तम्। बन्धसम्बन्धात् यत् पश्चादुक्तं तदपि न भवति। तत् किम्? तस्यैव तु द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन षड्गुणस्निग्धेन सप्तगुणस्निग्धेनाष्टगुणस्निग्धेन सङ्ख्येयगुणस्निग्धेन असंख्येयगुणस्निग्धेन अनन्तगुणस्निग्धेन वा बन्धो न भवति इत्युत्तरवचनम्। चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेन भवति बन्धः, शेषैः पूर्वोत्तरैः न भवति बन्धः। पूर्वोत्तरशब्दार्थपरिज्ञानार्थं पुनरुक्तमिदं व्याख्यानम्। एवं शेषेष्वपि बन्धो योज्यः। शेषेष्वपीति किम्? रूक्षबन्धप्रकारेष्वपि बन्धो योज्यः। तथाहि—द्विगुणरूक्षस्य एकगुणरूक्षेण[3] द्विगुणरूक्षेण त्रिगुणरूक्षेण न भवति बन्धः। द्विगुणरूक्षस्य चतुर्गुणरूक्षेण तु भवति बन्धः। तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिर्न भवति बन्धः। त्रिगुणरूक्षादीनां पञ्चगुणादिरूक्षैर्भवति बन्धः द्विगुणाधिकत्वात्। एवं भिन्नजातीयेष्वपि [4]बन्धो योजनीयः—रूक्षैः सह स्निग्धो योजनीय इत्यर्थः। तथा चोक्तं परमागमे—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेदि बन्धो जहणवज्जे विसमे समे वा॥"

[गो० जीव० गा० ६१४ (?)]

---

१ नेतरेषाम् आ०, ब०, ज०। २ संख्येयासंख्येयगुणस्निग्धेनानन्त– ब०। ३ –ण त्रिगुण– आ०, ब०, ज०। ४ –पि यो– आ०, ब०, ज०। ५ उद्धृतेय प्राचीनगाथा सर्वार्थसिद्ध्यादिषु।

अथ किमर्थमधिकगुणविषयो बन्धो निरूपितः समगुणविषयो बन्धो न व्याख्यात इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

भावान्तरोपादानं पारिणामिकत्वमुच्यते। बन्धे बन्धनिमित्ते बन्धकार्ये सति पारिणामिकौ यस्मात् कारणात् अधिकौ अधिकगुणौ भवतः तस्मात् कारणादधिकगुणविषयो बन्धो निरूपितः। समगुणविषये तु भेदः स्यात् विघटनं भवति तेन समगुणविषयो बन्धो न भवति। यथा आर्द्रो गुडः अधिकमधुररसः स पारिणामिकः, तदुपरि ये रेण्वादयः पतन्ति ते भावान्तरम्, तेषामुपादानं क्लिन्नो गुडः करोति - अन्येषां रेण्वादीनां स्वगुणमुत्पादयति— परिणामयतीति परिणामकः, परिणामक एव पारिणामिकः। स पारिणामिको गुडो यथा अधिकगुणो भवति तथा अन्योऽपि अधिकगुणोऽल्पीयसः—अल्पगुणस्य परिणामक इत्युच्यते। अत्रायमर्थः—द्विगुणादिस्निग्धस्य चतुर्गुणादिस्निग्धः पारिणामिकः, द्विगुणादिस्निग्धस्य चतुर्गुणादिरूक्षः पारिणामिकः [1]तथा द्विगुणादिरूक्षस्य चतुर्गुणादिरूक्षः पारिणामिकः [2]तथा द्विगुणादिरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धः पारिणामिकः। ततः पूर्वावस्थापरिहरणपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरमाविर्भवति। कोऽर्थः? एकत्वमुत्पद्यते इत्यर्थः। तृतीयमेव तार्तीयिकं तृतीयादिकण् स्वार्थे, ह्रस्वस्य दीर्घता। अन्यथा, यदि अधिकगुणः पारिणामिको न भवति तदा श्वेतरक्तादितन्तुवत् संयोगमात्रे सत्यपि सर्वं पृथग्रूपेण तिष्ठति अपारिणामिकत्वात्। यथा तन्तुवायेन आतन्यमाना बुन्यमानाश्च तन्तवः शुक्लतन्तुसमीपे मिलिता रक्तादयोऽपि तन्तवः समानगुणत्वात् परस्परं न मिलन्ति, तथा अधिकं गुणपारिणामिकत्वं विना अल्पीयो गुणं विना च परमाणवो न मिलन्ति। एवमुक्तेन प्रकारेण बन्धे सति ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयादीनां कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकः[3] स्थितिबन्धोऽपि सङ्गच्छते जीवस्य स्निग्धादिगुणेनाधिकत्वात्। अत्र यथा गुडरेणुदृष्टान्तो दत्तस्तथा जलसक्त्वादिदृष्टान्तोऽपि ज्ञातव्यः। तत् कथम्? यथा रूक्षाः सक्तवः जलकणास्तु स्निग्धा द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिका भवन्ति ते जलकणाः पारिणामिकस्थानीया रूक्षगुणानां सक्तूनां पिण्डत्वेन पारिणामिका विलोक्यन्ते, तथा परमाणवोऽपि। तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

"बन्धेऽधिकौ गुणौ यस्मादन्येषां पारिणामिकौ।
दृष्टौ सक्तुजलादीनां नान्यथेत्यत्र युक्तवाक्॥" [त० श्लो० ५।३७]

अथ द्रव्यलक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति पूर्वमेवोक्तमिदानीं तु पुनरपि अपरेण सूत्रेण द्रव्यलक्षणं लक्षयन्त्याचार्याः—

---

१ वाक्यमेतन्नास्ति ता०। २ वाक्यमेतन्नास्ति आ०, ब०, ज०। ३ –कस्थि– आ०, ब०, ज०।

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुण्यते विशिष्यते पृथक् क्रियते द्रव्यं द्रव्यात् यैस्ते गुणाः। गुणैर्विना द्रव्याणां सङ्करव्यतिकरः स्यात्। कोऽर्थः ? सङ्करस्य व्यामिश्रतायाः व्यतिकरः–प्रघट्टकः स्याद्-भवेदित्यर्थः। स्वभावविभावपर्यायरूपतया परि-समन्तात्[1] परिगच्छन्ति परिप्राप्नुवन्ति ये ते पर्यायाः। "दिहिलिहिश्लिषिश्वसिव्यध्यतीणश्याताश्च।" [का० सू० ४।२।५८] इत्यनेन णप्रत्ययः। अत्र तु पर्ययशब्दोऽस्ति तत्र पर्ययणं पर्ययः स्वभावविभावपर्याय-रूपतया परिप्राप्तिरित्यर्थः। "स्वरवृद्गमिग्रहामल्" [का० सू० ४।५।४१]। गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययाः, गुणपर्ययाः विद्यन्ते यस्य तत् गुणपर्ययवत्। द्रवति गच्छति प्राप्नोति, द्रोष्यति गमिष्यति प्राप्स्यति, अदुद्रुवत् अगमत् [2]प्राप्तवान् (वत्) ताँस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्। "स्वराद्यः" [का० सू० ४।२।१०] इति साधुः। कथञ्चित् भेदापेक्षया नित्य-योगापेक्षया वन्तुर्मन्तव्यः। के गुणाः, के पर्यया इति चेत् ? उच्यते–अन्वयिनो गुणाः। व्यतिरेकिणः कादाचित्काः पर्ययाः, तदपेक्षया संसर्गे मन्तुः तैरुभयैरपि युक्तं द्रव्यमुच्यते। तदुक्तम्—

> "द्रव्यविधानं हि गुणाः द्रव्यविकारोऽत्र पर्ययो भणितः।
> तैरन्यूनं[3] द्रव्यं नित्यं स्यादयुतसिद्धमिति[4] ॥" [ ]

तदप्युक्तमास्त—

> "अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
> उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥" [ ]

गुणेन द्रव्यं विशिष्यते यथा धर्मस्य गुणो गतिः, अधर्मस्य स्थितिरित्यादि। अविद्यमाने गुणे द्रव्यसङ्करप्रसङ्गः तथाहि—चेतनादिभिर्गुणैः जीवोऽचेतनादिपुद्गलेभ्यो विशिष्यते। रूपादिभिर्गुणैः पुद्गलादयश्च जीवाद् विशिष्यन्ते। तस्मात् कारणात् ज्ञानात् रूपादिभ्यश्च गुणेभ्योऽविशेषे सति सङ्करो व्यामिश्रता स्यात्। तेन सामान्यापेक्षया—सर्वजीवापेक्षया जीवस्य ज्ञानादयोऽन्वयिनो गुणाः। जीवगुणाः—जीवमया इत्यर्थः। पुद्गलादीनां तु रूपादयोऽ-न्वयिनो गुणाः। तेषां गुणानां विकाराः विशेषत्वेन भिद्यमानाः पर्याया उच्यन्ते। यथा जीवस्य ज्ञानगुणस्य पर्यायो घटज्ञानं पटज्ञानम् अम्भःस्तम्भकुम्भज्ञानं कोपो मदः [5]रूपं गन्धः तीव्रो मन्दः इत्यादयो जीवस्य ज्ञानगुणस्य विकाराः पर्याया वेदितव्याः। तेभ्यो

---

१ परिप्राप्नुवन्ति परिगच्छन्ति ये आ०, ब०, ज०। २ प्राप्तं वा ता– ता०। ३ –रनूनं आ०, ब०, ज०। ४ तुलना– "उक्तञ्च– गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो य पज्जवो भणिदो। तेहि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं ॥" –स० सि० ५।३७। ५ 'रूपं गन्धस्तीव्रो मन्दः' इत्यादयः पुद्गलद्रव्यस्य रूपगन्धादिगुणानां पर्यायाः ज्ञातव्याः, न तु ज्ञानगुणस्य।

द्रव्येभ्यः कथञ्चित् अन्यत्वमाप्नुवन् घटज्ञानादिसमुदायः पर्यायो व्यवहारनयापेक्षया [1]द्रव्यमुच्यते । यदि हि सर्वथैकान्तेन घटज्ञानादिसमुदायोऽपि अनर्थान्तरभूत एवोच्यते द्रव्यमेव कथ्यते तदा सर्वाभावो भवेत् समुदाये विघटिते द्रव्यमपि विघटते यस्मात् ।

अथ कालद्रव्यमुच्यते—

कालश्च ॥ ३९ ॥

कलयतीति कालः । चकारः परस्परसमुच्चये । तेनायमर्थः—न केवलं धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गला जीवाश्च द्रव्याणि भवन्ति किन्तु कालश्च द्रव्यं भवति द्रव्यलक्षणोपेतत्वात् । द्रव्यस्य लक्षणं द्विप्रकारमुक्तम्—**'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'** इति च । एतदुभयमपि लक्षणं कालस्य वर्तते, तेन कालोऽपि द्रव्यव्यपदेशभाग् भवति । कालस्य तावत् ध्रौव्यं स्वप्रत्ययं [2]वर्तते स्वभावव्यवस्थानात् । व्ययोत्पादौ तु कालस्य परप्रत्ययौ वर्तेते । न केवलं व्ययोत्पादौ कालस्य परप्रत्ययौ वर्तेते अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च वर्तेते । तथा कालस्य गुणा अपि वर्तन्ते । ते द्विप्रकाराः—साधारणा असाधारणाश्च । तत्र साधारणा गुणाः—अचेतनत्वम् अमूर्तत्वं सूक्ष्मत्वम् अगुरुलघुत्वञ्चेत्यादयः । असाधारणो गुणः कालस्य वर्तनहेतुत्वम् । कालस्य पर्यायास्तु व्ययोदयस्वरूपा वेदितव्याः । एवं द्विविधलक्षणोपेतः काल आकाशादिवत् द्रव्यव्यपदेशभाक् सिद्धः । कालस्यास्तित्वलक्षणं वर्तना, धर्मादीनां गत्यादिवत् । ननु कालः पृथक् किमित्युक्तः; **'अजीवकाया धर्म्माधर्माकाशकालपुद्गलाः'** [५।१] इत्येवं सूत्रं विधीयताम् ? इत्याह सत्यम् ; यद्येवं सूत्रं क्रियते तदा कायत्वप्रसङ्गः कालस्य स्यात् । स तु कायप्रसङ्गः सिद्धान्ते न वर्तते, मुख्यतया उपचारेण च कालस्य [3]प्रदेशप्रचयकल्पनाया अभावात् । धर्माधर्माकाशैकजीवानां चेतनानां प्रदेशप्रचयो मुख्यतयोक्तः **"असङ्ख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्, आकाशस्यानन्ताः"** [त० सू० ५।८,९] इति वचनात् । एकप्रदेशस्याप्यणोः पूर्वोत्तरभावप्रज्ञापननयेन व्यवहारनयेन उपचारकल्पनेन प्रदेशप्रचय उपचरितः । **"सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम्"** [त० सू० ५।१०] इति वचन(नात्)त्रिविधप्रदेशप्रचयकल्पनं तत्पूर्वोत्तरभावात् । **"भूतपूर्वकस्तद्वदुपचारः"** [न्या० सं० न्या० ८ पृ० ९] इति परिभाषणात् 'भाविनि भूतवदुपचारः' इति परियुक्तत्वाच्च एकस्याप्यणोः सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रचयः सङ्गच्छते । अनेहसस्तु मुख्यतया उपचारेण प्रदेशप्रचयकल्पना न वरीवर्तते, तेन [5]दिष्टस्य अकायत्वम् । तथा धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वं प्रतिपादितम्, जीवपुद्गलानां तु सक्रियत्वमुक्तम्, तथाविधसूत्रे सति कालस्यापि सक्रियत्वं प्राप्नोति, तन्न घटते 'अजीवकाया धर्माधर्मकालाकाशपुद्गलाः'[6] चेदेवं निर्दिश्यते तदा **"आ आकाशादेकद्रव्याणि"** [५।६] इति वचनात् कालस्यैकद्रव्यत्वं प्राप्नोति, न च तथा [7]तस्मात्

१ द्रव्यमेव कथ्यते आ०, ब०, ज० । २ प्रवर्तते आ०, ब०, ज० । ३ प्रचयकलना– ब० । –प्रवचनकल्पना– आ०, ब०, ज० । ४ –कस्तदुप– आ०, ब०, ज०, ब० । ५ कालस्य । ६ –लाश्च चेदेवं ज० । ७ यस्मा– आ०, ब०, ज० ।

कारणात् कालादेशः पृथग् विधीयते। यद्यनेकद्रव्यत्वं कालस्य भवद्भिः विधीयते तत् किंप्रमाणमनेकद्रव्यत्वं कालस्य ? उच्यते—लोकाकाशस्य यावन्तोऽसङ्ख्येयप्रदेशा वर्तन्ते तावन्तः कालाणवोऽपि सन्ति। ते तु कालाणवो निष्क्रिया वर्तन्ते एकैकस्मिन् वियत्प्रदेशे एकैकवृत्त्या सर्वं लोकं व्याप्य ते कालाणवः स्थिता वर्तन्ते, पृथक्तया रत्नराशिवत्। तथा चोक्तं नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवेन भगवता—

"लोगागासपदेसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥" [२][गो० जीव० गा० ५८८]

ते तु कालाणवोऽमूर्ता इति वक्तव्याः रूपादिगुणाभावात्।

अथ वर्तनालिङ्गस्य वरेण्यकालस्य प्रमाणं भणितं भवद्भिः, परिणामादिलक्षणस्य व्यवहारदिष्टस्य प्रमाणं कियत् वर्तते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

व्यवहारलक्षणः कालोऽनन्तसमयो वर्तते। अनन्ताः समया यस्येति सोऽनन्तसमयः, यद्यपि वर्तमानव्यवहारकालापेक्षया कालस्यैकः समयो वर्तते तथापि अतीतापेक्षया भविष्यदपेक्षया च अनन्ताः समयाः कालस्य वर्तन्ते। अथवा, एकोऽपि कालाणुर्मुख्यभूतः अनन्तसमय इत्युपचर्यते अनन्तपर्यायवर्तनाहेतुत्वात्। एवंविधे व्याख्याने तु वरेण्यस्यैव कालस्य प्रमाणपरिज्ञापनार्थमिदं सूत्रमुक्तम्। समयस्तावत् परमनिरुद्धः कालांशः उच्यते। परमनिरुद्ध इति कोऽर्थः ? बुद्ध्या अविभागभेदेन भेदितः परमाणुवत् भेत्तुं न शक्यते इत्यर्थः। अत्र तु समयशब्देन समयसमूहविशेषः आवलिकोच्छ्वासादिलक्षणो ज्ञातव्यः। उक्तञ्च—

"आवलि असंखसमया संखिज्जावलिहि होइ उस्सासो।
सत्तुस्सासो थोवो सत्तत्थोवो लवो भणिओ। १ ॥
अट्ठतीसद्धलवा णाली दोणालिया मुहुत्तं तु।
समऊणं तं भिन्नं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥" [जंबू० प० १३।५,६]

इत्यादिकोऽहोरात्र-पक्ष-मास-ऋतु-अयन-संवत्सर-युग-पल्योपम-सागरोपमादिकः कालः समयोऽत्र गम्यते।

अथ गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति यदुक्तं तत्र न ज्ञायते के गुणा वर्तन्ते ? 'उच्यन्ताम्' इति प्रश्ने योगमिमं चक्रुः—

१ यद्येक– आ०, ब०, ज०। २ उद्धृतेयं स० सि० ५।३९। ३ आवलि असंख्यसमया संख्यातावलिभिः भवति उच्छ्वासः। सप्तोच्छ्वासाः स्तोकः सप्तस्तोकाः लवो भणितः। अष्टत्रिंशदर्धलवाः नाली द्वेनालिके मुहूर्तं तु। समयोनं तत् भिन्नं अन्तर्मुहूर्तमनेकविधम् ॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः। गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गता निर्गुणाः। एवं विशेषणद्वयविशिष्टा ये ते गुणा भवन्ति। निर्गुणा इति विशेषणं द्व्यणुकत्र्यणुकादिस्कन्धनिषेधार्थम्, तेन स्कन्धाश्रया गुणा गुणा नोच्यन्ते। कस्मात्? कारणभूतपरमाणुद्रव्याश्रयत्वात्। तस्मात् कारणात् निर्गुणा इति विशेषणात् स्कन्धगुणाः गुणा न भवन्ति पर्यायाश्रयत्वात्। ननु घटादिपर्यायाश्रिताः संस्थानादयो ये गुणा वर्तन्ते तेऽपि द्रव्याश्रया निर्गुणाश्च वर्तन्ते, तेषामपि संस्थानादीनां गुणत्वमास्कन्दति द्रव्याश्रयत्वात्, यतो घटपटादयोऽपि द्रव्याणीत्युच्यन्ते। साध्वभाणि भवता; ये नित्यं द्रव्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणा भवन्ति न तु पर्यायाश्रया गुणा भवन्ति, पर्यायाश्रिता गुणाः कादाचित्काः-कदाचित् भवाः वर्तन्ते इति।

अथ अनेकवारान् यः परिणामशब्दः श्रुतस्तस्यार्थो न ज्ञायते, स वक्तुमवतारयितुं योग्य इति प्रश्ने अध्यायस्य समाप्तौ सूत्रमिदमुच्यते—तद्भावः परिणामः। अथवा अन्यकार्यसूचनार्थं तद्भावः परिणाम इति सूत्रमुच्यते। किं तदन्यत् कार्यम्? केचिन् वदन्ति गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूताः, तत्किमार्हतानामभीष्टम्? नाभीष्टम्। यद्यपि व्यपदेशादिभेदहेतुना द्रव्यात् कथञ्चित् भिन्नाः वर्तन्ते—अर्थान्तरभूताः सन्ति गुणाः, तथापि द्रव्यादव्यतिरेकाद् द्रव्यमयत्वाद् द्रव्यपरिणामाच्च अर्थान्तरभूता गुणा न भवन्ति। एवं चेन सः कः परिणामः स एवोच्यतामिति प्रश्ने परिणामपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

तेषां धर्मादीनां द्रव्याणां येन स्वरूपेण भवनं भावः तद्भावः[१]। तद्भावः कोऽर्थः? तेषां धर्मादीनां द्रव्याणां तत्त्वं स्वरूपं परिणाम इत्युच्यते। स परिणामः अनादिः सादिश्च भवति। गत्युपग्रहादिर्धर्मादीनाम् अनादिः परिणामः। स अनादिपरिणामः सामान्यापेक्षया भवति। स एव सामान्यः परिणामः विशेषापेक्षया पर्यायरूपः सादिश्च भवति। तेनायमर्थः—गुणाश्च पर्यायाश्च द्रव्याणां परिणाम इति सिद्धः ॥ ४२ ॥

[२]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ पञ्चमः पादः समाप्तः।

---

१ –वः तद्भावेति को– व०। –वः को– आ०, ज०, व०। २ इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य सञ्छर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥ आ०, व०।

षष्ठोऽध्यायः

अथ अजीवपदार्थव्याख्यानन्तरम् आस्रवपदार्थव्याख्यानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

चीयते कायः । उच्यते वाक् । मन्यते मनः । क्रियते यत्तत्कर्म । योजनं योगः । कायश्च वाक् च मनश्च कायवाङ्मनांसि कायवाङ्मनसां कर्म कायवाङ्मनःकर्म-शरीरवचनमानसानां यत्कर्म क्रिया स योग इत्युच्यते आत्मनः प्रदेशचलनं योगः । योगो निमित्तभेदात् त्रिप्रकारो भवति । ते के त्रयः प्रकाराः ? कायनिमित्तात् आत्मनः काययोगः । वाङ्निमित्तादात्मनो वाग्योगः । मनोनिमित्तादात्मनो मनोयोगः । तत्र काययोगो वीर्यान्तरायक्षयोपशमे सति औदारिक-औदारिकमिश्र-वैक्रियिक-वैक्रियिकमिश्राहारकाहारकमिश्र-कार्मणलक्षणसप्तप्रकारशरीरवर्गणानां मध्ये अन्यतमवर्गणालम्बनापेक्षम्[१] आत्मप्रदेशचलनं परिस्पन्दनं परिस्फुरणं काययोग उच्यते । शरीरनामकर्मोदयोत्पादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायक्षयोपशमे सति मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अक्षरादिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति अभ्यन्तरवचनलब्धिसामीप्ये च सति वचनपरिणामाभिमुखस्य जीवस्य प्रदेशानां परिस्पन्दनं चलनं परिस्फुरणं वचनयोग उच्यते । सत्यासत्योभयानुभयभेदात् स चतुर्विधो भवति । अभ्यन्तरवीर्यान्तरायमानसावरणक्षयोपशमस्वरूपमनोलब्धिनैकट्ये सति बाह्यकारणमनोवर्गणावलम्बने च सति चित्तपरिणामसन्मुखस्य जीवस्य प्रदेशानां परिस्पन्दनं परिचलनं परिस्फुरणं मनोयोग इति मन्यते । सत्यासत्योभयानुभयभेदात् सोऽपि चतुःप्रकारः । कायादिचलनद्वारेण[२] आत्मनश्चलनं योग इत्यर्थः । सयोगकेवलिनस्तु वीर्यान्तरायादिक्षये[३] सति त्रिप्रकारवर्गणालम्बनापेक्षम्[४] आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनं परिचलनं परिस्फुरणं योगो वेदितव्यः । सयोगकेवलिनो[५] योगोऽचिन्तनीयः । तथा चाभाणि समन्तभद्रस्वामिना—

"कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया ।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥ १ ॥"

[बृहत्स्व० श्लो० ७४]

अभ्युपगतो योगस्तावत् त्रिविधः । प्रतिज्ञात आस्रव उच्यतामिति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

स आस्रवः ॥ २ ॥

स पूर्वोक्तस्त्रिविधोऽपि योग आस्रवः कथ्यते । आस्रवति आगच्छति आत्मप्रदेशसमीपस्थोऽपि पुद्गलपरमाणुसमूहः कर्मत्वेन परिणमतीत्यास्रवः । अत्र आस्रवशब्दस्य सकारो

---

१ –क्षया आ– आ०, ज०, ब० । २ –दिलक्षणद्वारेण आ०, ज०, ब० । ३ –येऽपि सति ता० । ४ –पेक्षाया आ– आ०, ब०, ज० । ५ –नोऽयो– ता० ।

दन्त्यो ज्ञातव्यः[1], न तालव्यः। "घुस्रु दुद्रु स्रू च्छगमृसृपृ गतौ" [ ] इति सूत्रोक्तस्रुधातोः प्रयोगात्। यथा[2] सरोवरजलवाहकं सरोवरद्वारं जलास्रवणहेतुत्वात् प्रणालिका आस्रव उच्यते, तथा योगप्रणालिकया जीवस्य कर्म समास्रवतीति त्रिविधोऽपि योग आस्रव इति व्यपदिश्यते। दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणलक्षणो[3] यो योगो वर्तते स योगोऽनास्रवरूपोऽप्यस्ति[4] भिन्नः। यथा आर्द्रमंशुकं समन्ताद् मरुदानीतं रजःसमूहं गृह्णाति, तथा कषायजलेनार्द्रो जीवः त्रिविधयोगा[5]दानीतं कर्म सर्वप्रदेशैरुपादत्ते। अथवा, अन्योऽप्यस्ति दृष्टान्तः। यथा तप्तलोहपिण्डः पयसि निक्षिप्तः समन्ताद्वारि गृह्णाति, तथा कषायसन्तप्तात्मा त्रिविधयोगानीतं कर्म परिगृह्णाति "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" [त० सू० ८।१] इति य उक्त आस्रवः स सर्वोऽपि त्रिविधयोगेऽन्तर्भवतीति वेदितव्यम्।

अथ कर्म द्विप्रकारम्—पुण्यं पापञ्च। तस्य कर्मण आस्रवणहेतुर्योगः। सं किम् अविशेषेणा[6]स्रवणहेतुरथवाऽस्ति कश्चिद्विशेष इति प्रश्ने सति आस्रवस्य विशेषसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

शोभते शुभः। पुनात्यात्मानमिति पुण्यम्, पूयते पवित्रीक्रियते[7] आत्माऽनेनेति वा पुण्यम्, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणम्, तस्य पुण्यस्य। न शोभते अशुभः। पात्यवति रक्षति आत्मानं कल्याणादिति पापम्, असद्वेद्याशुभायुरशुभनामाशुभगोत्रलक्षणम्, तस्य पापस्य। शुभो योगः पुण्यस्य आस्रवहेतुः, अशुभो योगः पापस्यास्रवहेतुरिति विशेषः। तत्र प्राणिरक्षणाचौर्यब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। सत्यहितमितमृदुभाषणादिः [8]शुभो वाग्योगः। अर्हदादिभक्तिस्तपोरुचिःश्रुतविनयादिश्च शुभो मनोयोगश्चेति। विशुद्धपरिणामजनितास्त्रयः शुभयोगाः। तथा प्राणातिपाताऽदत्तादानमैथुनादिकः अशुभः[9] काययोगः। असत्याहितामितकर्कशकर्णशूलप्रायभाषणादिः अशु[10]भो वाग्योगः। वधचिन्तनेर्ष्याभिसूयादिकः अशुभो मनोयोगः। एते त्रयोऽप्यशुभयोगाः अशुभसङ्क्लिष्टपरिणामजनिता भवन्ति—पापकर्मोपार्जनहेतुभूतार्तरौद्रध्यानपरिणामैरुत्पादिता भवन्तीत्यर्थः। शुभो योगः शुभफलकर्मपुद्गलहेतुः। अशु[11]भो योगः अशुभफलकर्मपुद्गलहेतुर्भवति। शुभपरिणामनिर्वृत्तो निष्पन्नो योगः शुभः कथ्यते। अशुभपरिणामनिर्वृत्तो निष्पन्नो योगः अशुभः कथ्यते, न तु शुभाशुभकर्महेतुमात्रत्वेन शुभाशुभौ योगौ वर्तेते। तथा सति सयोगकेवलिनोऽपि शुभाशुभकर्मप्रसङ्गः स्यात्, न च तथा। ननु शुभयोगोऽपि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुर्वर्तते। यथा केनचिदुक्तम्—

---

१ -व्यः घु- आ०, ब०, ज०। २ -था सरोवरद्वा- आ०, ब०, ज०। ३ -णो योगो व- आ०, ब०, ज०। ४ -स्ति तत्र आ०, ब०, ज०। ५ -योगनी- ता०। ६ -णास्रवहे- आ०, ब०, ज०। ७ -तेऽने- आ०, ब०, ज०। ८ शुभवा- ता०। ९ -भका- आ०, ब०, ज०। १० -शुभवा- आ०, ब०, ज०। ११ -शुभयो- आ०, ब०, ज०।

'भो विद्वन्, त्वमुपोषितो वर्तसे तेन त्वं पठनं मा कुरु विश्रम्यताम्' इति, तेन हितेऽप्युक्तेऽपि ज्ञानावरणादि प्रयोक्तुर्भवति, तेन एक एवाशुभयोगोऽङ्गीक्रियताम्, शुभयोग एव नास्ति; सत्यम्; स यदा हितेन परिणामेन पठन्तं [1]विश्रमयति तदा तस्य चेतस्येवेमभिप्रायो वर्तते— 'यदि इदानीमयं [2]विश्राम्यति तदाऽग्रे अस्य बहुतरं तपःश्रुतादिकं भविष्यति' इत्यभिप्रायेण तपःश्रुतादिकं वारयन्नपि अशुभास्रवभाग् न स्यात् विशुद्धिभाक्परिणामहेतुत्वादिति। तदुक्तम्—

> "विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।
> पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥१॥" [आप्तमी० श्लो० ९५]

अथेदानीं ययोर्जीवयोः ययोः कर्मणोः आस्रवो भवति तावात्मनौ ते कर्मणी च कथ्येते—

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

कषशिषजषझषवषमषरुषरिषयूषजूषहिंसार्थाः। कषति हिनस्त्यात्मानं दुर्गतिं प्रापयतीति कषायः। अथवा, कषायो न्यग्रोधत्वग्विभीतकहरीतकादिकः वस्त्रे मञ्जिष्ठादिरागश्लेषहेतुर्यथा तथा क्रोधमानमायालोभलक्षणः कषायः कषाय इव आत्मनः कर्मश्लेषहेतुः। सह कषायेण वर्तते य आत्मा मिथ्यादृष्ट्यादिः स सकषाय इत्युच्यते। पूर्वोक्तलक्षणः कषायो न विद्यते यस्य उपशान्तकषायादेः सोऽकषाय इत्युच्यते। सकषायश्च अकषायश्च सकषायाकषायौ तयोः सकषायाकषाययोः षष्ठीद्विवचनमत्र। सं सम्यक् पर उत्कृष्टः अयो गतिः पर्यटनं प्राणिनां यत्र भवति स सम्परायः संसार इत्यर्थः, सम्परायः प्रयोजनं यस्य कर्मणः तत् कर्म साम्परायिकम्, संसारपर्यटनकारकं कर्म साम्परायिकमित्युच्यते। ईर गतौ कम्पने च। ईरणम् ईर्या। "ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद् घ्यण्" [का० सू० ४।२।३५] ईर्येति कोऽर्थः? योगो गतिः योगप्रवृत्तिः कायवाङ्मनोव्यापारः कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बी आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो जीवप्रदेशचलनम् ईर्येति भण्यते। तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथमुच्यते। तदेव कषायादिकं द्वारमास्रवमार्गो यस्य कर्मणः तत्तद्द्वारकम्। साम्परायिकञ्च ईर्यापथञ्च साम्परायिकेर्यापथे तयोः साम्परायिकेर्यापथयोः। अत्रापि षष्ठीद्विवचनम्। अस्यायमर्थः सकषायस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य साम्परायिकस्य संसारपरिभ्रमणकारणस्य कर्मणः आस्रवो भवति। अकषायस्य उपशान्तकषायादिकस्यात्मनः ईर्यापथस्य संसारेऽपरिभ्रमणहेतोः कर्मण आस्रवो भवति। ईर्यापथकर्मास्रवः संसारापरिभ्रमणकारणं कथम्? अकषायस्य उपशान्तकषायादेर्योगवशादुपात्तस्य कर्मणः कषायाभावाद् बन्धाभावे सति शुष्ककुड्यपतितलोष्टवद् अनन्तरसमये निवर्तमानस्य ईर्यापथस्यास्रवः बन्धकारणं न भवति यस्मात्। सकषायस्य तु आत्मनो मिथ्यादृष्ट्यादेर्योगवशादानीतस्य स्थित्यनुभागबन्धकार[3]स्य साम्परायिकस्य कर्मणः आस्रवो भवकारणं भवति यस्मात्। अत्र सकषायस्य साम्परायिकस्यास्रवो भवति। अकषायस्य ईर्यापथस्य आस्रवो भवतीति यथाक्रमं वेदितव्यम्।

---

१ विश्राम– आ०, ब०, ज० । २ विश्रम्य– ता० । ३ –कारकसा– आ०, ब०, ज० ।

अथ सकषायस्य आस्रवस्य भेदपरिज्ञापनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

इन्द्रियाणि च कषायाश्च अव्रतानि च क्रियाश्च इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः। पञ्च च चत्वारश्च पञ्च च पञ्चविंशतिश्च पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतयः ता सङ्ख्या यासाम् अनुक्रमेण इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाणां ताः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः। अस्यायमर्थः—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुश्श्रोत्राणि निजनिजविषयव्याप्रतानि पूर्वोक्तानि इन्द्रियाणि पञ्च। क्रोधमानमायालोभलक्षणोपलक्षिता वक्ष्यमाणस्वरूपाः कषायाश्चत्वारः। हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योऽविरतिलक्षणोपलक्षितानि वक्ष्यमाणानि अव्रतानि पञ्च। साम्प्रतं व्यावर्ण्यमानाः पञ्चविंशतिक्रियाः। एते चत्वारो राशयः पूर्वस्य साम्परायिकास्रवस्य भेदाः प्रकाराः भवन्ति।

तत्र पञ्चविंशतिक्रियास्वरूपं निरूप्यते—चैत्यगुरुप्रवचनार्चनादिस्वरूपा सम्यग्दर्शनवर्द्धिनी अन्यक्रियाभ्यो विशिष्टा सम्यक्त्वक्रिया।१। परदेवतास्तुतिरूपा मिथ्यात्वप्रवृत्तिकारणभूता मिथ्यात्वक्रिया।२। गमनागमनादिषु मनोवाक्कायैः परप्रयोजकत्वं प्रयोगक्रिया।३। संयतस्य सतः अविरत्याभिमुख्यं प्रयत्नेनोपकरणादिग्रहणं वा समादानक्रिया।४। ईर्यापथकर्महेतुका ईर्यापथक्रिया।५। क्रोधाविष्टस्य दुष्टत्वं प्रादोषिकी क्रिया।६। प्रदुष्टस्य सतः कायाभ्युद्यमः कायिकी क्रिया।७। हिंसोपकरणग्रहणात् आधिकारिणिकी क्रिया।८। दुःखोत्पत्तौ [2]परितप्तिपरवशत्वं पारितापिकी क्रिया।९। दशप्राणवियोगकरणं प्राणातिपातिकी क्रिया।१०। रागार्द्रीकृतस्य प्रमादवतः हृद्यरूपविलोकनाभिनिवेशो दर्शनक्रिया।११। प्रमादपरतन्त्रस्य कमनीयकामिनीस्पर्शनानुबन्धः स्पर्शनक्रिया।१२। अपूर्वहिंसादिप्रत्ययविधानं प्रतीतिजननं प्रात्यायिकी क्रिया।१३। स्त्रीपुरुषपश्वाद्यागमनप्रदेशे मलमूत्राद्युत्सर्जनं समन्तानुपातनक्रिया।१४। अप्रतिलेखिताऽनिरीक्षितप्रदेशे शरीरादिनिक्षेपणमनाभोगक्रिया।१५। कर्मकरादिकरणीयायाः क्रियायाः स्वयमेव करणं स्वकरक्रिया।१६। पापप्रवृत्तौ परानुमतदानं निसर्गक्रिया।१७। परविहितगुप्तपापप्रकाशनं विदारणक्रिया।१८। चारित्रमोहोदयात् जिनोक्तावश्यकादिविधानासमर्थस्य अन्यथाकथनम् आज्ञाव्यापादनक्रिया।१९। शठत्वेन अलसत्वेन च जिनसूत्रोपदिष्टविधिविधानेऽनादरः अनाकाङ्क्षा क्रिया।२०। प्राणिच्छेदनभेदनहिंसनादिकर्मपरत्वं प्राणिच्छेदनादौ परेण विधीयमाने वा प्रमोदनं प्रारम्भक्रिया।२१। परिग्रहाणामविनाशे प्रयत्नः पारिग्राहिकी क्रिया।२२। ज्ञानदर्शनचारित्रतपस्सु तद्वत्सु पुरुषेषु च मायावचनं वञ्चनाकरणं मायाक्रिया।२३। मिथ्यामतोक्तक्रियाविधानविधापनतत्परस्य साधु त्वं विदधासीति मिथ्यामतदृढनं मिथ्यादर्शनक्रिया।२४। संयमघातककर्मविपाकपारतन्त्र्यान्निर्वृत्तौ अवर्तनम् अप्रत्याख्यानक्रिया।२५। एताः पञ्चविंशतिक्रिया ज्ञातव्याः। इन्द्रियाणि कषाया अव्रतानि च त्रयो राशयः कारणभूताः, पञ्चविंशतिस्तु क्रियाः कार्यरूपाः प्रवर्तन्त इति इन्द्रियादिभ्यः क्रियाणां भेदो वेदितव्यः। साम्परायिकास्रव उक्तः।

---

१ –नाथना– आ०, ब०, ज०। २ –तप्त्य प– ता०। ३ –त्रादिव्युत्स– आ०, ब०, ज०।

अथ योगत्रयं सर्वसाधारणम्, तदास्रवबन्धफलानुभवनं तु विशेषवद् वर्तते जीवपरिणामानन्तविकल्पत्वात्। स तु फलानुभवनलक्षणो विशेषः तत्सङ्क्षेपसूचनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

बहिरन्तःकारणोदीरणवशात् तीव्रते स्थूलो भवति उद्रेकं प्राप्नोति उत्कटो भवति यः परिणामः स तीव्र इत्युच्यते। मन्दते अल्पो भवति अनुत्कटः सञ्जायते यः परिणामः स मन्द उच्यते। [1]हनिष्यामि एतं पुमांसमिति ज्ञात्वा प्रवर्तनं ज्ञातमित्युच्यते। मदेन प्रमादेन वा अज्ञात्वा हननादौ प्रवर्तनम् अज्ञातमिति भण्यते। अधिक्रियन्ते अर्थाः यस्मिन्निति अधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः। द्रव्यस्य पुरुषादेर्निजशक्तिविशेषो वीर्यमुच्यते। भावशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तेनायमर्थः—तीव्रभावश्च मन्दभावश्च ज्ञातभावश्च अज्ञातभावश्च अधिकरणञ्च वीर्यञ्च तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्याणि, तेषां विशेषा भेदाः तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषाः, तेभ्यस्तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यः। तस्य आस्रवस्य विशेष तद्विशेषः। क्रोधरागद्वेषशिष्टाशिष्टप्राणिसंयोगदेशकालाद्यनेकबहिःकारणवशात् इन्द्रियकषायव्रतक्रियाणां कुत्रचिदात्मनि तीव्रो भावो भवति तस्य तीव्र आस्रवः स्यात्, इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाणां कुत्रचिदात्मनि मन्दो भावो भवति निर्बलः परिणामः स्यात् तस्य मन्द आस्रवो भवति। इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाप्रवर्तने कस्यचिदात्मनः [3]ज्ञातत्वं भवति तस्य महान् आस्रवः स्यात्। इन्द्रियादीनामज्ञातभावे प्रवृत्तौ सत्याम् अल्पास्रवः स्यात्। तथा अधिकरणविशेषे[4]ऽपि सति आस्रवस्य विशेषो भवति, यथा वेश्यादीनामालिङ्गने अल्पास्रवः स्यात् राजपत्नी[5]लिङ्गिनीप्रभृत्यालिङ्गने[6] महान् आस्रवो भवति। वीर्यविशेषे च [7]वज्रर्षभनाराचसंहननमण्डितपुरुषहृषीकादिव्यापारे महानास्रवो भवति, अपरसंहननसंयुक्तपुरुषपापकर्मकरणे अल्पास्रवो भवति, अल्पादप्यल्पो भवति, तत्रापि वीर्यविशेषा[8]न्तर्भावात्। एवं क्षेत्रकालादावपि आस्रवविशेषो वेदितव्यः। गृहब्रह्मचर्यभङ्गेऽल्पास्रवः स्यात्, देवभवनब्रह्मचर्यभङ्गे महानास्रवः स्यात्, तस्मादपि तीर्थमार्गे [9]महानास्रवः स्यात्, तीर्थमार्गादपि तीर्थे महास्रवो[10] भवेत्। एवं कालादौ, देववन्दनाकाले परकालात् महास्रवः स्यात्। एवं पुस्तकादिद्रव्यादौ आस्रवभेदो मन्तव्यः। तस्य भेदा अनन्ता इति कारणभेदात् कार्यभेद इति।

अथ अधिकरणं यदुक्तं तत्स्वरूपं न ज्ञायते, तत् कीदृशमिति प्रश्ने सूत्रमिदं बभणुराचार्याः—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

अधिक्रियन्तेऽर्था अस्मिन्नित्यधिकरणं द्रव्यमुच्यते। यद् द्रव्यमाश्रित्य आस्रव उत्पद्यते

---

१ हरिष्यामि तं आ०, ब०, ज०। २ –क्रिया प्रवर्तक– आ०, ब०, ज०। ३ ज्ञातव्यम– आ०, ब०, ज०। ४ –षे सति आ०, ब०, ज०। ५ भिक्षुणी। ६ –नेन म– आ०, ब०, ज०। ७ वज्रवृष– आ०, ब०, ज०। ८ –षान्तरभा– आ०, ब०, ज०। ९ महास्रवः ता०। १० महानास्रवो आ०, ब०, ज०।

तद्द्रव्यमधिकरणमुच्यते। सर्वोऽपि शुभाशुभलक्षण आस्रवः यद्यप्यात्मनो भवति जीवस्य सञ्जायते तथापि य आस्रवो मुख्यभूतेन जीवेन [1]उत्पाद्यते तस्यास्रवस्य जीवोऽधिकरणं जीवद्रव्यमाश्रयो भवति। यस्तु आस्रवोऽजीवद्रव्यमाश्रित्य जीवस्योत्पद्यते तस्य आस्रवस्याधिकरणमाश्रयोऽजीवद्रव्यमुच्यते। जीवाश्च अजीवाश्च जीवाजीवाः, तेषां लक्षणं पूर्वमेवोक्तम् "जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्" [त० सू० १।४] इत्यधिकारे। यदि जीवाजीवलक्षणं पूर्वमेवोक्तं तेनैवाधिकारेण जीवाजीवा लभ्यन्ते किं पुनः जीवाजीवग्रहणेन? साधूक्तं भवता; अधिकरणविशेषज्ञापनार्थम् पुनर्जीवाजीवग्रहणम्–अधिकरणविशेषस्तु ज्ञापनीय एव तेन पुनर्जीवाजीवग्रहणं कृतम्। कोऽसावधिकरणविशेषः? हिंसाद्युपकरणभावः। भवतु नामैवं जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ एवं द्विवचने [3]अश्रेषप्राप्ते बहुवचनं किमर्थं कृतम्? युक्तमुक्तं भवता, द्विवचने प्राप्ते यद् बहुवचनेन निर्दिश्यते तेन जीवाजीवयो[4]र्द्रव्ययोर्ये सन्ति पर्यायास्तेऽप्यास्रवस्याधिकरणं [5]भवन्ति तेन बहुवचनं युक्तमेव।

अथ जीवाधिकरणाऽजीवाधिकरणयोर्मध्ये जीवाधिकरणभेदपरिज्ञापनार्थं योगोऽयमुच्यते—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

आदौ भवं आद्यम्। संरम्भश्च समारम्भश्च आरम्भश्च संरम्भसमारम्भारम्भा योगाश्च ते कृतकारितानुमताश्च योगकृतकारितानुमताः, योगकृतकारितानुमताश्च कषायविशेषाश्च योगकृतकारितानुमतकषायविशेषाः, संरम्भसमारम्भारम्भा योगकृतकारितानुमतकषायविशेषैरुपलक्षिताः संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषास्तैस्तथोक्तैः। त्रिः त्रीन् वारान्, पुनश्च त्रिः त्रीन् वारान्, पुनश्च त्रिः त्रीन् वारान्, चतुश्चतुरो वारान्, एकशः एकैकं प्रति संरम्भं समारम्भम् आरम्भं प्रति गणनं भवति। तेषामेव संरम्भादीनामेव चतुर्भिः कषायैश्च गणनं भवति। आद्यं जीवाधिकरणम् आस्रवोत्पादकं भवति। अस्यायमर्थः–प्रमादवतो जीवस्य प्राणव्यपरोपणादिषु प्रयत्नावेशः संरम्भं [6]उच्यते। प्राणव्यपरोपणादीनाम् उपकरणाभ्यासकरणं समारम्भः कथ्यते। प्राणव्यपरोपणादीनां प्रथमारम्भ एव आरम्भ उच्यते। कायवाङ्मनोलक्षणस्त्रिविधो योगः। कृतः स्वतन्त्रेण विहितः। कारितः परप्रयोजकत्वम्। अनुमतः केनचित् क्रियमाणे प्राणव्यपरोपणादौ अनुमोदनम्। कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। अर्थोऽर्थान्तराद् विशिष्यते यः स विशेषः। स विशेषशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते–संरम्भविशेषः समारम्भविशेषः आरम्भविशेष इत्यादि। त्रयः संरम्भसमारम्भारम्भाः। त्रयो योगाः। त्रयः

१ उत्पाद्य– ता०, आ०, ब०। २ –स्याधि– आ०, ब०, ज०। ३ न्यायप्राप्ते। ४ –योर्ये आ०, ब०, ज०। ५ भवति आ०, ब०, ज०। ६ कथ्यते आ०, ब०, ज०। ७ –षः प्र– आ०, ब०, ज०।

कृतकारितानुमताः । चत्वारः कषायाः । एतेषां गणनाया अभ्यावृत्तिः पुनःपुनर्गणना[1] सुच्प्रत्ययेन सूच्यते । एकमेकं प्रत्येकशः इति वीप्सावचनम् । एकैकं प्रति त्र्यादीन् प्रापयेदित्यर्थः । तथाहि—क्रोधकृतकायसंरम्भः, मानकृतकायसंरम्भः, मायाकृतकायसंरम्भः लोभकृतकायसंरम्भः, क्रोधकारितकायसंरम्भः, मानकारितकायसंरम्भः, मायाकारितकायसंरम्भः, लोभकारितकायसंरम्भः, क्रोधानुमतकायसंरम्भः, मानानुमतकायसंरम्भः, मायानुमतकायसंरम्भः लोभानुमतकायसंरम्भ इति द्वादशप्रकारः कायसंरम्भो भवति । एवं वाक्योगो द्वादशप्रकारः क्रोधकृतवाक्संरम्भः, मानकृतवाक्संरम्भः, मायाकृतवाक्संरम्भः, लोभकृतवाक्संरम्भः, क्रोधकारितवाक्संरम्भः, मानकारितवाक्संरम्भः, मायाकारितवाक्संरम्भः लोभकारितवाक्संरम्भः, क्रोधानुमतवाक्संरम्भः, मानानुमतवाक्संरम्भः, मायानुमतवाक्संरम्भः, लोभानुमतवाक्संरम्भ इति द्वादशप्रकारो वाक्संरम्भः । क्रोधकृतमनःसंरम्भः, मानकृतमनःसंरम्भः, मायाकृतमनःसंरम्भः, लोभकृतमनःसंरम्भः, क्रोधकारितमनःसंरम्भः, मानकारितमनःसंरम्भः, मायाकारितमनःसंरम्भः, लोभकारितमनःसंरम्भः, क्रोधानुमतमनःसंरम्भः, मानानुमतमनःसंरम्भः, मायानुमतमनःसंरम्भः, लोभानुमतमनःसंरम्भः इति द्वादशप्रकारो मनःसंरम्भः । एवं षट्त्रिंशत्प्रकारः संरम्भः, तथा षट्त्रिंशत्प्रकारः समारम्भः, तथा षट्त्रिंशत्प्रकार आरम्भः एवमष्टोत्तरशतप्रकारः जीवाधिकरणास्रवो भवति । चकारः किमर्थम्? अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनकषायभेदकृतान्तर्भेदसमुच्चयार्थः ।

अथाऽजीवाधिकरणभेदपरिज्ञानार्थं सूत्रं सूचयन्ति[2]—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

निर्वर्तते निष्पाद्यते निर्वर्तना निष्पादना । निक्षिप्यते स्थाप्यते यः स निक्षेपः स्थापना । संयुज्यते मिश्रीक्रियते संयोगः । निःसृज्यते प्रवर्तते निसर्गः प्रवर्तनम् । निवर्तना च निक्षेपश्च संयोगश्च निसर्गश्च निवर्तनानिक्षेपसंयागनिसर्गाः । द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च द्विचतुर्द्वित्रयः, ते भेदाः येषां निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाणां ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः । पिपर्ति पूरयति परभागमिति परम् । अस्यायमर्थः—निर्वर्तना द्विभेदा द्विप्रकारा । निक्षेपश्चतुर्भेदः चतुःप्रकारः । संयोगो द्विभेदो द्विप्रकारः । निसर्गस्त्रिभेदः त्रिप्रकारः । एते चत्वारो भेदाः परम् अजीवाधिकरणं भवन्ति । ननु पूर्वसूत्रे आद्यमित्युक्ते जीवाधिकरणं लब्धम्, अजीवाधिकरणन्तु अवशिष्टं स्वयमेव लभ्यते, तेन 'निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः' इत्येवं सूत्रं क्रियताम् किमनर्थकेन परशब्दग्रहणेन? इत्याह—सत्यमुक्तं भवता; परमित्युक्ते संरम्भादिभ्यो निर्वर्तनादिकचतुष्टयं परमन्यत् भिन्नम् इत्यर्थः, अन्यथा जीवाधिकरणाधिकारात् निर्वर्तनादयश्चत्वारोऽपि जीवपरिणामा भवन्तीति भ्रान्तिरुत्पद्यते, तदर्थं

१ -णनं सु-ता० । २ -न्त्याचार्याःआ०, ब०, ज० । ३ -करणं ननु आ०, ब०, ज० ।

परमिति गृहीतम्। तत्र निर्वर्तनाधिकरणं द्विभेदं यदुक्तं तत्किम्? मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणम्, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं चेति निर्वर्तना द्विभेदा। तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणं पञ्चभेदम्–शरीरं वाक् मनः प्राणाः अपानाश्चेति। उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं काष्ठपाषाणपुस्तकचित्रकर्मादिनिष्पादनं जीवरूपादिनिष्पादनं लेखनञ्चेत्यनेकविधम्। निक्षेपश्चतुर्भेदः–अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणं दुष्प्रतिलेखितनिक्षेपाधिकरणं सहसानिक्षेपाधिकरणम् अनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति। अनाभोग इति कोऽर्थः? पुनरनालोकितरूपतया उपकरणादि[1]स्थापनम् अनाभोग इत्युच्यते। संयोगो द्विभेदः– अन्नपानसंयोगाधिकरणम् उपकरणसंयोगाधिकरणं चेति। निसर्गस्त्रिभेदः–कायनिसर्गाधिकरणं वाङ्निसर्गाधिकरणं मनोनिसर्गाधिकरणं चेति। एतच्चतुष्टयम् अजीवमाश्रित्य आत्मन आस्रव उत्पद्यते तेनाऽजीवाधिकरणमुच्यते।

अथ सामान्यतया कर्मास्रव भेद उक्तः, अधुना सर्वकर्मणां विशेषेणास्रवा उच्यन्ते। तत्र ज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मणोरास्रवभेदपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्य्याः—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

सम्यग्ज्ञानस्य सम्यग्दर्शनस्य च सम्यग्ज्ञानसम्यग्दर्शनयुक्तस्य पुरुषस्य वा त्रयाणां मध्ये अन्यतमस्य केनचित्पुरुषेण प्रशंसा विहिता, तां प्रशंसामाकर्ण्य अन्यः कोऽपि पुमान् पैशुन्यदूषितः स्वयमपि ज्ञानदर्शनयोस्तद्युक्तपुरुषस्य वा प्रशंसां न करोति श्लाघनं न व्याहरति [2]कत्थनं नोच्चारयते तदन्तःपैशुन्यम् अन्तर्दुष्टत्वं प्रदोष उच्यते। यत् किमपि [3]कारणं मनसि धृत्वा विद्यमानेऽपि ज्ञानादौ एतदहं न वेद्मि एतत्पुस्तकादिकमस्मत्पार्श्वे न वर्तते इत्यादि ज्ञानस्य[4] यदपलपनं विद्यमानेऽपि नास्तिकथनं निह्नव उच्यते। आत्मसदभ्यस्तमपि ज्ञानं दातुं योग्यमपि दानयोग्यायापि पुंसे केनापि हेतुना यन्न दीयते तन्मात्सर्यमुच्यते। विद्यमानस्य प्रबन्धेन प्रवर्तमानस्य मत्यादिज्ञानस्य विच्छेदविधानम् अन्तराय उच्यते। कायेन वचनेन च सतो ज्ञानस्य विनयप्रकाशनगुणकीर्तनादेरकरणमासादनमुच्यते। युक्तमपि ज्ञानं वर्तते तस्य युक्तस्य ज्ञानस्य अयुक्तमिदमज्ञानमिति दूषणप्रदानम् उपघात उच्यते, सम्यग्ज्ञानविनाशाभिप्राय इत्यर्थः। ननु आसादनमेव उपघातः कथ्यते, पुनरुपघातग्रहणं व्यर्थमिदम्; युक्तमुक्तं भवता; विद्यमानस्य ज्ञानस्य यद्विनयप्रकाशनगुणकीर्तनादेरकरणं तदासादनम्, उपघातस्तु ज्ञानस्य अज्ञानकथनं ज्ञाननाशाभिप्रायो वर्तते, कथमनयोर्महान् भेदो नास्ति? प्रदोषश्च निह्नवश्च मात्सर्यञ्च अन्तरायश्च आसादनञ्च उपघातश्च प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः। तयोः ज्ञानदर्शनयोः। एते षट् पदार्थाः ज्ञानदर्शनावरणयोः ज्ञानावरणदर्शनावरणयोरास्रवा भवन्ति आस्रवकारणं भवन्ति। ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने साकारनिराकाररूपे। अत्र विशेषज्ञापनं ज्ञानम्, सत्तावलोकनमात्रं दर्शनम्, तयोरावरणे ज्ञानदर्शनावरणे तयोः ज्ञानदर्शनावरणयोः।

---

१ –स्थापितमना– आ०, ब०, ज०। २ कथनं नो– आ०, ब०, ज०। ३ करणं आ०, ब०, ज०। ४ –स्य अप– आ० ब०, ज०।

ननु तच्छब्देन ज्ञानदर्शने कथं लभ्येते पूर्वं ज्ञानदर्शनयोरनिर्देशात् ? सत्यम् **"श्रौतानुमितयोः श्रौतसम्बन्धो विधिर्बलवान्" [ ]** इति[1] परिभाषासूत्रबलात् तच्छब्देन ज्ञानं दर्शनं च लभ्यते। ज्ञानदर्शनावरणयोरिति सूत्रे शब्दश्रवणात् तेन पूर्वसूत्रोक्तनिर्वर्तनादिकं न शङ्कनीयम्। केनचिदुक्तम् ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवाः के इति प्रश्ने उत्तरं दीयते तत्प्रदोषादय इति ज्ञानदर्शनयोः प्रदोषादय इति। एते प्रदोषादयः ज्ञाने कृता अपि दर्शनावरणस्यापि कारणं भवन्ति एकहेतुसाध्यस्य कार्यस्य अनेकस्य कार्यस्य दर्शनात्। अथवा ये ज्ञानविषयाः प्रदोषादयः ते ज्ञानावरणस्य कारणं ये तु दर्शनविषयाः प्रदोषादयस्ते तु दर्शनावरणहेतवो ज्ञातव्याः। तथा ज्ञानावरणस्य कारणम् आचार्ये शत्रुत्वम्, उपाध्याये[2] प्रत्यनीकत्वम्, अकाले अध्ययनम्, अरुचिपूर्वकं पठनम्, पठतोऽप्यालस्यम्, अनादरेण व्याख्यानश्रवणम्, प्रथमानुयोगं वाच्यमाने अपरानुयोगवाचनम् तीर्थोपरोध इत्यर्थः, बहुश्रुतेषु गर्वविधानम्, मिथ्योपदेशश्च, बहुश्रुतापमाननम्, स्वपक्षपरिहरणं परपक्षपरिग्रहः—तदेतद्द्वयं तार्किकदर्शनार्थम् ख्यातिपूजालाभार्थम्, असम्बद्धः प्रलापः, उत्सूत्रवादः, कपटेन ज्ञानग्रहणम्, शास्त्रविक्रयः, [3]प्राणातिपातादयश्च ज्ञानावरणस्य आस्रवाः। तथा दर्शनावरणस्य आस्रवाः देवगुर्वादिदर्शनमात्सर्यम्, दर्शनान्तरायः, चक्षुरुत्पाटनम्, इन्द्रियाभिमतित्वम्, निजदृष्टेर्गौरवम्, दीर्घनिद्रादिकम्, निद्रा, आलस्यम्, नास्तिकत्वप्रतिग्रहः, सम्यग्दृष्टेः सन्दूषणम्, कुशास्त्रप्रशंसनम्, यतिवर्गजुगुप्सादिकम्, प्राणातिपातादयश्च दर्शनावरणस्य आस्रवाः।

अथ वेदनीयं कर्म द्विविधं वर्तते सद्वेद्यमसद्वेद्यं च। सद्वेद्यं सुखकरम्, असद्वेद्यं दुःखकरम्। तत्र असद्वेद्यस्य कारणानि सूचयत्सूत्रमिदमाहुः—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

दुःखयतीति दुःखं वेदनालक्षणः परिणामः, शोचनं शोकः चेतनाचेतनोपकारकवस्तुसम्बन्धविनाशे वैक्लव्यं दीनत्वमित्यर्थः, तापनं तापः निन्दाकारणात् मानभङ्गविधानाच्च कर्कशवचनादेश्च सञ्जातः [4]आविलान्तःकरणस्य कलुषितचित्तस्य तीव्रानुशयोऽतिशयेन पश्चात्तापः खेद इत्यर्थः। आक्रन्द्यते आक्रन्दनं परितापसञ्जातवाष्पपतन[5]बहुलविलापादिभिर्व्यक्तं प्रकटम् अङ्गविकारादिभिर्युक्तं क्रन्दनमित्यर्थः। हननं वधः।

"पंच वि इंदियपाणा मनवचकाएण तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति [6]दस पाणा ॥ १ ॥" [बोधपा० ५३] इति

---

१ "श्रुतानुमितयोः श्रौतो विधिर्बलीयान्"– न्यायसं० पृ० ६९। परिभाषेन्दु० परि० ११३।
२ ध्याय प्रत्य- आ०, ब०, ज०। ३ प्राणिनिपा– आ०, ब०, ज०। ४ अविला– आ०, ब०, ज०।
५ बहुविला– आ०, ब०, ज०। ६ दह पा– आ०, ब०, ज०।

गाथोक्तलक्षणदशप्राणवियोगकरणमित्यर्थः । परिदेव्यते परिदेवनं सङ्क्लेशपरिणामविहितावलम्बनं स्वपरोपकारा[1]काङ्क्षालिङ्गम् अनुकम्पाभूयिष्ठं रोदनमित्यर्थः। दुःखं च शोकश्च तापश्चाक्रन्दनं च वधश्च परिदेवनं च दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि। आत्मा च परश्च उभयश्च आत्मपरोभयास्तेषु तिष्ठन्तीति आत्मपरोभयस्थानि। एतानि षट् कर्माणि कोपाद्यावेशवशात् आत्मस्थानि परस्थानि उभयस्थानि च असद्वेद्यस्य दुःखरूपस्य कर्मणः आस्रवनिमित्तानि भवन्तीति वेदितव्यम्। ननु शोकादयः पञ्चापि दुःखमेव, तेन 'दुःखमात्मपरोभयस्थमसद्वेद्यस्य' इति सूत्रं क्रियतां किं शोकादिग्रहणेन ? इत्याह—साधूक्तं भवता; यद्यपि शोकादयो दुःखमेव वर्तन्ते, तथापि कतिपयविशेषकथनेन दुःखजातेरनुविधानं विधीयते अनुकरणमुच्यते इत्यर्थः। यथा गौरित्यभिहिते अनिर्ज्ञाते विशेषे सति गोविशेषकथनार्थं खण्डमुण्डशुक्लकृष्णाद्युपादानं विधीयते तथा दुःखविषयाश्च [2]विशेषा असंख्येयलोकभेदसम्भवा अपि कतिपया अत्र निर्दिश्यन्ते तद्विवेकप्रतिपत्त्यर्थमित्यर्थः ।

अत्र किञ्चिद् विधीयते चर्चनम्—चेद् दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यास्रवकारणानि वर्तन्ते तर्हि आर्हतैः केशोत्पाटनम् उपवासादिप्रदानम् आतापनयोगोपदेशनं सर्वमित्यादिकमाचरणं दुःखकारणमेवास्थीयते प्रतिज्ञायते भवद्भिः तर्हि आत्मपरोभयान् प्रति किमित्युपदिश्यते ? साधूक्तं भवता; अन्तरङ्गक्रोधावेशपूर्वकाणि दुःखशोकादीनि असद्वेद्यास्रवकारणानि भवन्ति, क्रोधाद्यावेशाभावान्न भवन्ति विशेषोक्त[3]त्वात्। यथा कश्चिद्वैद्यः परम[4]करुणाचित्तस्य मायामिथ्यादिनिदानशल्यरहितस्य संयमिनो मुनेरुपरि गण्डं पिटकं विस्फोटं[5] शस्त्रेण पाटयति तच्छस्त्रपातनं यद्यपि दुःखहेतुरपि वर्त्तते तथापि भिषग्वरस्य बाह्यनिमित्तमात्रादेव कोपाद्यावेशं विना पापबन्धो न भवति, तथा संसारसम्बन्धिमहादुःखाद्भीतस्य मुनेः दुःखनिवृत्त्युपायं प्रति सावधानचित्तस्य शास्त्रोक्ते कर्मणि प्रवर्तमानस्य सङ्क्लेशपरिणामरहितत्वात् केशोत्पाटनोपवासादिदानदुःखकारणोपदेशेऽपि[6] पापबन्धो न भवति। तथा चोक्तम्[7]—

"न दुःखं न सुखं यद्वद्धेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते ।
चिकित्सायां तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥ १ ॥
न दुःखं न सुखं तद्वद्धेतुर्मोक्षस्य साधने ।
मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्याद् दुःखमथवा सुखम् ॥ २ ॥" [ ]

एतस्य श्लोकद्वयस्य व्याख्यानम्—यथा चिकित्सिते रोगचिकित्साकरणे हेतुः शस्त्रादिकः स स्वयं दुःखं न भवति सुखं च न भवति कस्मादचेतनत्वादित्यर्थः, चिकित्सायां तु प्रतीकारे प्रवृत्तस्य वैद्यस्य दुःखम् अथवा सुखं स्यादेव। कथम् ? यदि वैद्यः क्रोधादिना शस्त्रेण

१ –कारका– आ०, ब०, ज० । २ विविधविषयसू च अ– आ०, ब०, ज० । ३ –क्तवान् य– आ०, ब०, ज० । ४ –करुणानिर्चितस्य आ०, ब०, ज० । ५ –टकं आ०, ब०, ज० । ६ –देशोपि आ०, ब०, ज० । ७ उद्धृतौ इमौ स० सि० ६।११ ।

विस्फोटं पाटयति तदा [ऽ] धर्मकर्मोपार्जनाद् भिषजो दुःखं भवति, यदा तु [1]कारुण्यं कृत्वा तद्व्याधिविनाशार्थं मुनेः सुखजननार्थं विस्फोटं पाटयति तदा क्रोधाद्यभावाद् धर्मकर्मोपार्जनाद् वैद्यस्य सुखमेव भवति । दृष्टान्तश्लोको गतः । इदानीं दार्ष्टान्तश्लोको व्याख्यायते—एवं मोहक्षय-साधनहेतुरुपवासलोचादिकः स स्वयमेव सुखदुःखरूपो न भवति किन्तु य उपवासादिकं करोति कारयति वा शिष्यं गुर्वादिकः तस्य दुःखं सुखं वा भवति, यदि गुरुः क्रोधादिना उपवासादिकं करोति कारयति वा तदा [ऽ] धर्मकर्मोपार्जनात् दुःखमेव प्राप्नोति, यदा तु कारुण्येन संसार-दुःखविनाशार्थमुपवासादिकं कारयति करोति वा तदा धर्मकर्मोपार्जनात् सुखमेव प्राप्नोति । यथा दुःखादयः असद्वेद्यास्रवकारणानि षट् प्रोक्ताः[2], तथा अन्यान्यपि भवन्ति । तथाहि— अशुभः प्रयोगः, परनिन्दनम्, पिशुनता, अननुकम्पनम्, अङ्गोपाङ्गच्छेदनभेदनादिकम्, ताडनम्, त्रासनम्, तर्जनम्, भर्त्सनम्, तर्जनम् अङ्गुल्यादिसञ्ज्ञया, भर्त्सनं वचना-दिना, मारणम्, रोधनम्, बन्धनम्, मर्दनम्, दमनम्, परनिन्दनम्, आत्मप्रशंसनम्, संक्लेशोत्पादनम्, महारम्भः, महापरिग्रहः, मनोवाक्कायवक्रशीलता[3], पापकर्मोपजीवित्वम्, अनर्थदण्डः, विषमिश्रणम्, शरजालपाशवागुरापञ्जरमारणयन्त्रोपायसर्जनादिकम्, एते पापमिश्राः पदार्था आत्मनः परस्य उभयस्य वा क्रोधादिना क्रियमाणा असद्वेद्यास्रवा भवन्ति ।

अथेदानीं सद्वेद्यास्रवस्वरूपं निरूपयन्नाह—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपर्य्यायलक्षणासु चतसृषु गतिषु निजनिजकर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूतानि प्राणिवर्गाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्याऽपरिग्रहदिवाभुक्तलक्षणानि व्रतानि एकदेशेन सर्वथा च विद्यन्ते येषां ते व्रतिनः श्रावका यतयश्च । परोपकारार्द्रचित्तस्य[4] परपीडामात्मपीडामिव मन्यमानस्य पुरुषस्य अनुकम्पनम् अनुकम्पा कारुण्यपरिणामः । भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनस्तेषु तेषां वा अनुकम्पा भूतव्रत्यनुकम्पा । परोपकारार्थं निजद्रव्यव्ययो दानम् । संसारहेतुनिषेधं प्रति उद्यमपरः अक्षीणाशयश्च सरागो भण्यते । षट्जीवनिकायेषु षडिन्द्रियेषु च पापप्रवृत्तेर्निवृत्तिः संयम उच्यते । सरागस्य पुरुषस्य संयमः सरागसंयमः, सरागः संयमो वा यस्य स सरागसंयमः । सरागसंयम आदिर्येषां संयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपःप्रभृतीनां ते सरागसंयमादयः । भूतव्रत्यनुकम्पा च दानं च सरागसंयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयः तेषां योगः सम्यक् प्रणिधानं सम्यक् चिन्तनादिकं भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः । क्रोधमानमायानां निवृत्तिः क्षान्तिः । लोभप्रकाराणां विरमणं शौचमित्युच्यते । भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादि-

---

१ कारणं आ०, ब०, ज० । २ प्रोक्तानि आ०, ब०, ज० । ३ –लतया पाप– आ०, ब०, ज० । ४ –रार्द्रीचि– ता० ।

योगश्च क्षान्तिश्च शौचं च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगक्षान्तिशौचम् । समाहारो द्वन्द्वः । इति एवं प्रकार अर्हत्पूजाविधानतात्पर्यम्, बालवृद्धतपस्विनां च वैयावृत्त्यादिकं सर्वमेतत् सद्वेद्यस्य आस्रवाः सुखरूपस्य कर्मणः कारणं भवन्ति[1] । ननु व्रतिनः किं भूतानि न भवन्ति यत्पृथग् गृह्यन्ते ? युक्तमुक्तं भवता ; भूतग्रहणात् सिद्धे सति यद् व्रतिशब्दग्रहणं तद् व्रतिनामनुकम्पा प्रधानतया कर्तव्येति सूचनार्थम् ।

अथ मोहकर्मास्रवसूचनार्थं सूत्रद्वयं मनसि धृत्वा सम्यक्त्वमोहास्रवकारणसङ्कथनार्थं तत्रेदं सूत्रमुच्यते—

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

द्विपदमिदं सूत्रम् ।

"क्षायिकमेकमनन्तं त्रिकालसर्वार्थयुगपदवभासम् ।
सकलसुखधाम सततं वन्देऽहं केवलज्ञानम् ॥"

[सं० श्रुतभ० श्लो० २९]

इत्यार्योक्त (क्तं) केवलं ज्ञानम् आवरणद्वयरहितं ज्ञानं विद्यते येषां ते केवलिनः । श्रूयते स्म श्रवणं वा श्रुतं सर्वज्ञवीतरागोपदिष्टम्, अतिशयवद्बुद्धिऋद्धिसमुपेतगणधरदेवानुस्मृतग्रन्थगुम्फितं श्रुतमित्युच्यते । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपात्राणां श्रमणानां परमदिगम्बराणां गणः समूहः सङ्घ उच्यते । अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं निःसङ्गत्वमित्यादिलक्षणोपलक्षितः सर्वज्ञवीतरागकेवलिप्रणीतः धर्म इत्युच्यते, दुर्गतिदुःखादुद्धृत्य इन्द्रादिपूजितपदे धरतीति धर्म इति निरुक्तेः **"अर्तिहुसुधृक्षिणीपदभायास्तुभ्यो मः ।"** [का० उ० १।५३] भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिलक्षणोपलक्षिताः मनसा अमृताहाराः पूर्वोक्तलक्षणा देवाः । केवलिनश्च श्रुतं च सङ्घश्च धर्मश्च देवाश्च केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवाः, तेषां तेषु वा अवर्णवादो निन्दावचनं केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादः । केवलिनामवर्णवादस्तावत्— केवलिनः किल केवलज्ञानिनः कवलाहारजीविनः, तेषां च रोगो भवति उपसर्गश्च सञ्जायते, नग्ना भवन्त्येव परं वस्त्राभरणमण्डिता दृश्यन्ते इत्यादिकं सर्वं केवलज्ञानिनां गुणवतां महतामसद्भूतदोषोद्भवनमवर्णवादो वेदितव्यः । मांसभक्षणं मद्यपानं मातृस्वस्त्रादिमैथुनं जलगालने[2] महापापमित्यादिकमाचरणं किल शास्त्रोक्तं श्रुतस्यावर्णवादः । गुणवतो महतः श्रुतस्य असद्भूतदोषोद्भवनमवर्णवादः श्रुते धूर्तजनसम्मेलित्वात्[3] । एते दिगम्बराः खलु शूद्रा अशुचयः अस्नानाः त्रयीबहिर्भूताः कलिकालोत्पन्ना[4] इत्यादि गुणवतां महतां दिगम्बराणाम् असद्भूतदोषोद्भवनं सङ्घस्यावर्णवादः । अर्हदुपदिष्टो धर्मः खलु निर्गुणः तद्विधायका

१ भवति आ०, ब०, ज० । २ जलगालनकन्दमूलभक्षणमहा- आ०, ब०, द० । ३ -जनमेलि- आ०, ब०, ज० । ४ -कालोद्भूताः आ०, ब०, द० ।

ये पुरुषा वर्तन्ते ते सर्वेऽपि असुरा भविष्यन्ति इत्यादिकं गुणवति महति केवलिप्रणीते धर्मेऽसद्भूतदोपोद्भवनम् अविद्यमानदोषकथनं धर्मस्यावर्णवादः। देवाः किल मांसोपसेवाप्रियाः तदर्थं तद्वचनविधातार उर्वन्तरिक्षं लभन्ते इत्यादिको देवावर्णवादः। एतत्सर्वमदोषदोषोद्भवनं सम्यक्त्वमोहास्रवकारणं वेदितव्यम्।

अथ चरित्रमोहास्रवप्रकारप्रतिपादनार्थं समर्थ्यते सूत्रमेतत्--

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

कषन्ति हिंसन्ति सम्यक्त्वादीनिति कषायाः कषायाणामुदयः कषायफलजननरूपः कषायोदयस्तस्मात्कषायोदयात् तीव्रपरिणामः अत्युत्कटमनस्कारः चारित्रमोहस्य चारित्रावरणकर्मण आस्रवो भवति। ते कषाया द्विप्रकाराः—कषायाः अकषायाश्च। तत्र कषायवेदनीयस्य आस्रवः परेषामात्मनश्च कषायोत्पादनं व्रतशीलसंयुक्तयतिजनचारित्रदूषणप्रदानं धर्मध्वंसनं धर्मान्तरायकरणं देशसंयतगुणशीलसन्त्याजनं मात्सर्यादिना विरक्तचित्तानां विभ्रमोत्पादनम् आर्त्तरौद्रजनकलिङ्गव्रतादिधारणं कषायवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। अकषायवेदनीयं नवप्रकारम्—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदभेदात्। तत्र सद्धर्मजनोपहसनं दीनजनानामतिहसनं कन्दर्पहसनं बहुप्रलपनम् उपहसनशीलतादिकं हास्यवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। नानाप्रकारक्रीडनतत्परत्वं विचित्रक्रीड[1]नभावो देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिजननादिकं व्रतशीलादिष्वरुचिरित्येवमादिकं रतिवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। परेषामरतेराविर्भवनं परेषां रतेर्विनाशनं पापशीलजनानां संसर्गादिकं पापक्रियाप्रोत्साहनं चेत्यादयः अरतिवेदनीयस्य आस्रवा भवन्ति। आत्मनः शोकोत्पादनं परेषां शोककरणं शोकप्लुतानां जनानामभिनन्दनञ्चेत्यादयः शोकवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। स्वयं भये [2]परिणमनं परेषां भयोत्पादनं निर्दयत्वं त्रासनादिकं चेत्यादयो भयवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। पुण्यक्रियाचारजुगुप्सनं परपरिवादशीलत्वं चेत्यादयः जुगुप्सावेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। पराङ्गनागमनं स्वरूपधारित्वम् असत्याभिधानं परवञ्चनपरत्वं परच्छिद्रप्रेक्षित्वं [3]वृद्धरागत्वं चेत्यादयः स्त्रीवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति। अल्पकोपनम् अजिह्मवृत्तिरगर्वत्वं लोलाङ्गनासमवायाल्परागित्वम्[4] अनीर्षत्वं स्नाने गन्धद्रव्ये स्रजि आभरणादौ च रागवस्तुनि अनादरः स्वदारसन्तोषः परदारपरिहरणं चेत्यादयः पुंवेदनीयस्य आस्रवा भवन्ति। प्रचुरकषायत्वं गुह्येन्द्रियविनाशनं पराङ्गनापमानावस्कन्दनं स्त्रीपुरुषानङ्गव्यसनित्वं व्रतशीलादिधारिपुरुषप्रमथनं तीव्ररागश्चेत्यादयो नपुंसकवेदनीयस्यास्रवा भवन्ति।

---

१ –क्रीडनं भावोद्देशा –ज०। २ परिभ्रमनं आ०, ब०, ज०। ३ परवृद्ध–आ०, ब०, ज०। ४ –रागत्व आ०, ब०, ज०।

अथायुष्कर्म चतुर्विधं वर्तते नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्भेदात्। तत्र तावन्नारकायुःकारण-प्रकाशनार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्ति—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

आरभ्यते इत्यारम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः, परिगृह्यत इति परिग्रहः 'ममेदम्' इति बुद्धिलक्षणः, आरम्भाश्च परिग्रहाश्च आरम्भपरिग्रहाः, बहवः प्रचुरा [1]आरम्भपरिग्रहाः यस्य स बह्वारम्भपरिग्रहः, बह्वारम्भपरिग्रहस्य भावः बह्वारम्भपरिग्रहत्वम्। नरके भवमुत्पन्नं यत् [2] तन्नारकं तस्य नारकस्य। बह्वारम्भपरिग्रहत्वम् नारकस्य नरकसम्बन्धिनः आयुषः आयुः-कर्मणः आस्रवो भवति। विस्तरेण तु मिथ्यादर्शनं तीव्ररागः अनृतवचनं परद्रव्यहरणं निः-शीलता[3] निश्चलवैरं परोपकारमतिरहितत्वं यतिभेदः समयभेदः कृष्णलेश्यत्वं विषयातिवृद्धिः रौद्रध्यानं हिंसादि[4]क्रूरकर्मनिरन्तरप्रवर्तनं बालवृद्धस्त्रीहिंसनं चेत्यादय अशुभतीव्रपरिणामा नारकायुरास्रवा भवन्ति।

अथ तिर्यग्योन्यायुरास्रव उच्यते—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

मिनोति प्रक्षिपति चतुर्गतिगर्त्तमध्ये प्राणिनं या सा माया, चारित्रमोहकर्मोदया-विर्भूतात्मकुटिलतालक्षणा निकृतिरित्यर्थः। तिरश्चां योनिः तिर्यग्योनिः, तिर्यग्योनौ भवं यदायुस्तत्तैर्यग्योनं तस्य तैर्यग्योनस्य। माया योगवक्रतास्वभावः तैर्यग्योनस्यायुषः तिर्यक्-योनिसम्बन्धिन आयुष्कर्मण आस्रवो भवति। विस्तरेण तु मिथ्यात्वसंयुक्तधर्मोपदेशकत्वम् अस्तोकारम्भपरिग्रहत्वं निःशीलत्वं वञ्चनप्रियत्वं नीललेश्यत्वं कापोतलेश्यत्वं मरणकालार्त्त[5]-ध्यानत्वं कूटकर्मत्वं भूभेदसमानरोषत्वं भेदकरणत्वम् अनर्थोद्भावनं कनकवर्णिकान्यथाकथनं कृत्रिमचन्दना[6]दिकरणं जातिकुलशीलसन्दूषणं सद्गुणलोपनमसद्गुणोद्भावनं चेत्यादयः तिर्यगायुरास्रवा भवन्ति।

अथ मानुषायुरास्रव[7] उच्यते—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

आरम्भाश्च परिग्रहाश्च आरम्भपरिग्रहाः, [8]अल्पे आरम्भपरिग्रहा यस्य स अल्पा-रम्भपरिग्रहः, अल्पारम्भपरिग्रहस्य भावः अल्पारम्भपरिग्रहत्वं नारकायुःकारणविपरीतत्व-मित्यर्थः। मानुषस्येदं मानुषं तस्य मानुषस्य। अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्यायुषः आयुः-कर्मण आस्रवो भवति। विस्तरेण तु विनीतप्रकृतित्वं स्वभावभद्रत्वम् अकुटिलव्यवहारत्वं

---

१ आरम्भाः प- आ०, ब०, ज०। २ यदायु त-आ०, ब०, ज०। ३ -ताश्च निश्चलतावै- आ०, ब०, ज०। ४-खरक- आ०, ब०, ज०। ५ -कालार्त्तध्या-आ०, ब०, द०। ६ -नानि क- आ०, ब०, ज०। ७ -स्रवा उच्यन्ते आ०, ब०, ज०। ८-अल्पा आ- आ०, ब०, ज०।

तनुकषायत्वम् अन्तकालेऽसंक्लेशत्वं मिथ्यादर्शनसहितस्य विनीतत्वं सुखसंबोध्यत्वं धूलिरेखासमानरोषत्वं जन्तूपघातनिवृत्तिः प्रदोषरहितत्वं विकर्मवर्जितत्वं प्रकृत्यैव सर्वेषामागतस्वागतकरणं मधुरवचनता उदासीनत्वमनसूयत्वम् अल्पसङ्क्लेशः गुर्वादिपूजनं कापोतपीतलेश्यत्वञ्चेत्यादयो मानुषायुरास्रवा भवन्ति ।

अथापरमपि मानुषायुरास्रवकारणमाह—

स्वभावमार्दवञ्च ॥ १८ ॥

मृदोर्भावो मार्दवं मानाभावः । स्वभावेन प्रकृत्या गुरूपदेशं विनाऽपि मार्दवं मृदुत्वं स्वभावमार्दवं मानुषायुरास्रवो भवति । चकारः परस्परसमुच्चये । तेनायमर्थः—न केवलम् अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्यायुष आस्रवो भवति किञ्च स्वभावमार्दवत्वञ्च मानुषस्यायुष आस्रवो भवति । यद्येवं तर्हि 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवञ्च मानुषस्यायुषः' इत्येवमेकं सूत्रं किमिति न कृतम् ? सत्यमेवैतत् ; किन्तु पृथग्योगविधानम् उत्तरायुरास्रवसम्बन्धार्थम् । तेनायमर्थः—स्वभावमार्दवं सरागसंयमादिकञ्च देवायुरास्रवो भवतीति वेदितव्यम् ।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवञ्च एतद्द्वयमेव किं मानुषस्यायुष आस्रवः ? नैवम् ; अपरमपि मानुषस्यायुष आस्रवो वर्तते । तत् किमिति प्रश्ने सूत्रमिदं ब्रुवन्ति[1] भगवन्तः—

निःशीलव्रतत्वञ्च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

शीलानि च गुणव्रतत्रयं [2]शिक्षाव्रतचतुष्टयं च शीलानीत्युच्यन्ते व्रतानि अहिंसादीनि पञ्च शीलव्रतानि, शीलव्रतेभ्यो निष्क्रान्तो निर्गतः निःशीलव्रतः शीलव्रतरहितः निःशीलव्रतस्य भावः निःशीलव्रतत्वम् । चकारादल्पारम्भपरिग्रहत्वञ्च सर्वेषां नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानाम् आयुष आस्रवो भवति । ननु ये शीलव्रतरहितास्तेषां देवायुरास्रवः कथं सङ्गच्छते ? युक्तमुक्तं भवता; भोगभूमिजाः शीलव्रतरहिता अपि ईशानस्वर्गपर्यन्तं गच्छन्ति तदपेक्षया सर्वेषामिति ग्रहणम् । केचिदल्पारम्भपरिग्रहा अपि अन्यदुराचारसहिता [3]नरकादिकं प्राप्नुवन्ति तदर्थञ्च सर्वेषामिति गृहीतम् ।

अथ देवायुरास्रवकारणं प्राहुः—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

संसारकारणनिषेधं प्रत्युद्यतः अक्षीणाशयश्च सराग इत्युच्यते, प्राणीन्द्रियेषु अशुभप्रवृत्तेर्विरमणं संयमः, पूर्वोक्तस्य सरागस्य संयमः सरागसंयमः महाव्रतमित्यर्थः । अथवा सरागः संयमो यस्य स सरागसंयम इति बहुव्रीहिरपि । संयमश्चासावसंयमः संयमासंयमः श्रावकव्रतमित्यर्थः । [4]अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा, यः पुमान् चारकनिरोधबन्धनबद्धः ।

---

१ –न्ति नि– ता० । २ शीलव्र– आ०, ब०, ज० । ३ नारकादि प्रा–आ०, ब०, ज० । ४ अकामे नि– आ०, ब०, ज० ।

कोऽर्थः ? चारकेण बन्धविशेषेण [1]निरोधबन्धनबद्धो गाढबन्धनबद्धः चारकनिरोधबन्धनबद्धः, तादृशः पुमान् पराधीनपराक्रमः सन् बुभुक्षानिरोधं तृष्णादुःखं ब्रह्मचर्यकृच्छ्रं भूशयनकष्टं मलधारणं परितापादिकञ्च सहमानः सहनेच्छारहितः सन् यदीषत् कर्म निर्जरयति सा अकामनिर्जरा इत्युच्यते। बालानां मिथ्यादृष्टितापससान्न्यासिकपाशुपतपरिव्राजकैकदण्ड-त्रिदण्डपरमहंसादीनां तपःकायक्लेशादिलक्षणं निकृतिबहुलव्रतधारणञ्च बालतप उच्यते। सरागसंयमश्च संयमासंयमश्च अकामनिर्जरा च बालतपश्च सरागसंयमसंयमासंयमाकाम-निर्जराबालतपांसि। देवेषु चतुर्णिकायेषु भवं यदायुस्तद्दैवं तस्य दैवस्य। एतानि चत्वारि कर्माणि दैवायुरास्रवकारणानि भवन्ति।

अथ 'किमेतान्येव देवायुरास्रवाः भवन्ति, उताहोऽन्यदपि किमपि देवायुरास्रवनिमित्तं वर्तते न वा' इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

सम्यक्त्वञ्च ॥ २१ ॥

सम्यक्त्वं तत्त्वश्रद्धानलक्षणं देवायुरास्रवकारणं भवति। किं भवनवास्यादिष्वपि देवेषु सम्यक्त्ववान् उत्पद्यते ? नैवम्; यद्यपि सम्यक्त्वमिति देवायुरास्रवकारणमिति अविशेषेणोक्तं तथापि सम्यक्त्ववान् पुमान् सौधर्मादिविशेषस्वर्गदेवेषु उत्पद्यते न तु भावनादिषु अन्यत्र पूर्वबद्धायुष्कात्। [2]एतदपि कस्मात् ? पृथग्योग्यात्, अन्यथा 'सम्यक्त्व-सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य' इति सूत्रं कुर्यात्। यदा तु सम्यक्त्व-हीनः पुमान् भवति तदा सरागसंयमादिमण्डितोऽपि भवनवासित्रयं सौधर्मादिकञ्च यथागमम् उभयमपि प्राप्नोति।

अथ नामकर्मास्रवसूचनार्थं सूत्रत्रयं मनसि धृत्वा तदादौ अशुभनामकर्मास्रवसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुः[3]—

योगवक्रता विसंवादनञ्चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

कायवाङ्मनःकर्म योगः त्रिविधः, योगस्य वक्रता कौटिल्यं योगवक्रता कायेनान्यत् करोति वचसाऽन्यद् ब्रवीति मनसाऽन्यच्चिन्तयति एवंविधा योगवक्रता। अन्यथास्थितेषु पदार्थेषु परेषामन्यथाकथनं विसंवादनमुच्यते। ननु योगवक्रताविसंवादनयोरर्थभेदः कोऽपि न वर्तते, तेन योगवक्रता एव वक्तव्या किं विसंवादनग्रहणेन ? इत्याह—साधूक्तं भवता; योगवक्रता आत्मगता वर्तत एव। [4]तस्यां सत्यां परगतं विसंवादनम् तत्किमिति चेत् ? कश्चि-त्पुमान् अभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु सम्यक् स्वयं वर्तते तं तत्र वर्तमानमन्यं पुमांसम् अन्यः कोऽपि विपरीतकायवाङ्मनोभिः प्रयोजयति विसंवादयति मिथ्याप्रेरयति—'देवदत्त, त्वमेवं मा कार्षीः, इदं कार्यं त्वमेवं कुरु' इत्येवं परप्रेरणं विसंवादनमुच्यते। तेन योगवक्रताया विसंवादनस्य च महान् भेदो वर्तते। एतदुभयमपि अशुभनामकर्मण आस्रवकारणं भवति।

---

१ विरो–आ०, ब०, ज०। २ तदपि आ०, ब०, ज०। ३ –हुराचार्याः आ०, ब०, ज०। ४ तस्यां तस्यां ता०।

चकारात् मिथ्यादर्शनम्, पिशुनतायां स्थिरचित्तत्वम्, कूटमानतुलाकरणम्, कूटसाक्षित्व-भरणम्, परनिन्दनम्, आत्मप्रशंसनम्, परद्रव्यग्रहणम्, असत्यभाषणम्, महारम्भमहा-परिग्रहत्वम्, सदोज्ज्वलवेषत्वम्, सुरूपतामदः, परुषभाषणम्, [1]असदस्यप्रलपनम्, आक्रोशविधानम्, उपयोगेन सौभाग्योत्पादनम्, चूर्णादिप्रयोगेन परवशीकरणम्, मन्त्रादि-प्रयोगेण परकुतूहलोत्पादनम्, देवगुर्वादिपूजामिषेण गन्धधूपपुष्पाद्यानयनम्, परविडम्बनम्, उपहास्यकरणम्, इष्टकोच्चयपाचनम्, दावानलप्रदानम्, प्रतिमाभञ्जनम्, चैत्यायतनवि-ध्वंसनम्, आरामखण्डनादिकम्, तीव्रक्रोधमानमायालोभत्वम्, पापकर्मोपजीवित्वञ्चेत्यादयोऽ-शुभनामास्रवा भवन्ति।

अथ शुभनामकर्मास्र[2]वस्वरूपं निरूप्यते—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

तस्याः कायवाङ्मनोवक्रताया विपरीतत्वम् ऋजुत्वम्। तद्विपरीतं यत्कर्म तत्तद्विपरीतं तस्मात्पूर्वोक्तलक्षणाद्विसंवादनाद्विपरीतं तद्विपरीतं शुभस्य नाम्न आस्रवकारणं वेदितव्यम्। यच्च पूर्वसूत्रे चकारेण गृहीतं तस्मादपि विपरीतं तद्विपरीतम्। तथाहि—धार्मिकदर्शनसम्भ्रम-सद्भावोपनयनम्। तत्किम्? धार्मिकस्य यतिनाथादेः सम्भ्रमेण आदरसद्भावेन न तु मायया उपनयनं समीपे गमनम्। तथा संसारभीरुत्वम् प्रमादवर्जनम्, पिशुनतायामस्थिरचित्त-त्वम्, अकूटसाक्षित्वम्, परप्रशंसनम्, आत्मनिन्दनम्, सत्यवचनभाषणम्, परद्रव्या-परिहरणम्, अल्पारम्भपरिग्रहत्वम्, अपरिग्रहत्वञ्च, अन्तरेऽन्तरे उज्ज्वलवेशत्वम्, रूप-मदपरिहरणम्, मृदुभाषणम्, सदस्यजल्पनम्, शुभवचनभाषणम्, सहजसौभाग्यम्, स्वभावेन वशीकरणम्, परेषामकुतूहलोत्पादनम्, अमिषेण पुष्पधूपगन्धपुष्पाद्यानयनम्, परेषामविडम्बनम्, परवर्कराकरणम्, इष्टिकापाकदावानलप्रदानव्रतम्, प्रतिमानिर्मापणम्, तत्प्रासादकरणम्, आरामाखण्डनादिकम्, मन्दक्रोधमानमायालोभत्वम्, अपापकर्मजीवि-त्वञ्चेत्यादयः शुभनामकर्मास्रवा भवन्ति।

अथ यदनन्तनिरुपमप्रभावम् अचिन्त्यनीयैश्वर्यविशेषकारणं त्रिभुवनैकविजयकरं[3] तीर्थङ्करनामकर्म वर्तते तस्यास्रवविधिप्रकारं सूचयन्ति सूरयः—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदा-चार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

दर्शनविशुद्धिः दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य विशुद्धिर्निर्मलता दर्शनविशुद्धिः। पृथङ्निर्देशः किमर्थम्? सम्यक्त्वं किल जिनभक्तिरूपं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं वा केवलमपि तीर्थकरत्वनाम-

१ असभ्यभाषणम्। २ -वरू- आ०, ब०, ज०। ३ -करणं ती- आ०, ब०, ज०।

कर्मास्रवकारणं भवति। तदुक्तम्—

"एकाऽपि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रिये कृतिनः॥ १॥" [यश० उ० पृ० २८५]

इति कारणाद्दर्शनविशुद्धेरद्वितीयसूचनार्थं पृथङ्निर्देशः कृतः, यतस्तत्पूर्वा अन्याः पञ्चदश भावना व्यस्ताः समस्ता वा तीर्थकरत्वनामकारणं भवन्ति [1]तेन रहिता तु एकाऽपि भावना कारणं न भवति। तदुक्तम्—

"विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ १॥" [रत्नक० श्लो० ३२]

अथ काऽसौ दर्शनस्य विशुद्धिरिति चेत्? उच्यते—इहलोकभयं परलोकभयं पुरुषाद्यरक्षणमत्राणभयम् [2]आत्मरक्षोपायदुर्गाद्यभावादगुप्तिभयं वेदनाभयं [3]विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयमिति सप्तभयरहितत्वं जैनदर्शनं सत्यमिति निःशङ्कितत्वमुच्यते। इहपरलोकभोगोपभोगकाङ्क्षारहितत्वं निःकाङ्क्षितत्वम्। शरीरादिकं पवित्रमिति मिथ्यासङ्कल्पनिरासो निर्विचिकित्सता। अनार्हतदृष्टतत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टिता। उत्तमक्षमादिभिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं चतुर्विधसङ्घदोषझम्पनं चोपगूहनम्, उपबृंहणमित्यपरनामधेयम्। क्रोधमानमायालोभादिषु धर्मविध्वंसकारणेषु विद्यमानेष्वपि धर्माद[4]प्रच्यवनं स्थितिकरणम्। जिन[5]शासने सदानुरागित्वं वात्सल्यम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं जिनशासनोद्योतकरणं वा प्रभावना। तथा मूढत्रयरहितत्वं षडायतनवर्धनम् अष्टमदरहितत्वम् अजिनजलस्याऽनास्वादनं मूलकपद्मिनीकन्दपलाण्डुतुम्बककलिङ्गसूरणकन्दसर्वपुष्पसन्धानकभक्षणनिराकरणञ्चेत्यादिकं दर्शनविशुद्धिरुच्यते। १।

रत्नत्रयमण्डिते रत्नत्रये च महानादरः अकषायत्वञ्च विनयसम्पन्नता कथ्यते। २। अहिंसादिषु व्रतेषु तत्प्रतिपालनार्थञ्च क्रोधादिवर्जनलक्षणे[6]षु शीलेषु अनवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः। ३। जीवादिपदार्थनिरूपकात्मतत्त्वकथकसम्यग्ज्ञानानवरतोद्यमः अभीक्ष्णज्ञानोपयोग उच्यते। ४। भवदुःखादनिशं भीरुता संवेगः कथ्यते। ५। आहाराभयज्ञानानां त्रयाणां विधिपूर्वकमात्मशक्त्यनुसारेण पात्राय दानं शक्तितस्त्याग उच्यते। ६। निजशक्तिप्रकाशनपूर्वकं जैनमार्गाविरोधी कायक्लेशः शक्तितस्तप उच्यते। ७। यथा भाण्डागारेऽग्नौ समुत्थिते येन केनचिदुपायेन तदुपशमनं विधीयते बहूनामुपकारकत्वात् तथाऽनेकव्रतशीलसमन्वितस्य यतिजनस्य कुतश्चिद्विघ्ने समुत्पन्ने सति विघ्ननिवारणं समाधिः, साधूनां समाधिः साधुसमाधिः। ८। अनवद्येन विधिना गुणवतां दुःखापनयनं वैयावृत्त्यमुच्यते। ९। अर्हतां स्नपनपूजनगुणस्तवननामजपनादिकमर्हद्भक्तिर्निगद्यते। १०। आचार्याणामपूर्वोपकरणदानं

---

१ तद्रहिता ए– ता०। २ आद्यर– आ०, ब०, ज०। ३ –द्याश्चाक– आ०, ब०, ज०। ४ –दच्यव– आ०, ब०, ज०। ५ जिनचरणे स– आ०, ब०, ज०। ६ –षु च शी– ता०।

सन्मुखगमनं सम्भ्रमविधानं पादपूजनं दानसन्मानादिविधानं मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागश्चाचार्यभक्तिरुच्यते । ११ । तथा बहुश्रुतभक्तिरपि ज्ञातव्या । १२ । तथा प्रवचने रत्नत्रयादिप्रतिपादकलक्षणे मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागः प्रवचनभक्तिरुच्यते । १३ । सामायिके चतुर्विंशति[2]-स्तवे एकतीर्थकरवन्दनायां कृतदोषनिराकरणलक्षणप्रतिक्रमणे नियतकालागामिदोषपरिहरणलक्षणे प्रत्याख्याने शरीरममत्वपरिहरणलक्षणे कार्योत्सर्गे च एवंविधे षडावश्यके यथाकालप्रवर्तनम् आवश्यकापरिहाणिरुच्यते । १४ । ज्ञानेन दानेन जिनपूजनविधानेन तपोऽनुष्ठानेन जिनधर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना भण्यते । १५ । यथा सद्यःप्रसूता धेनुः स्ववत्से स्नेहं करोति तथा प्रवचने सधर्मणि जने स्नेहलत्वं प्रवचनवत्सलत्व[3]मभिधीयते । १६ ।

अत्र समासशुद्धिः—दर्शनस्य विशुद्धिः दर्शनविशुद्धिः । विनयेन[4] सम्पन्नता परिपूर्णता विनयसम्पन्नता । शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि तेषु शीलव्रतेषु न अतिचारः अनतिचारः । अभीक्ष्णमविच्छिन्नं ज्ञानस्य उपयोगोऽभ्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगश्च संवेगश्च अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ । शक्तितस्त्यागश्च तपश्च शक्तितस्त्यागतपसी । साधूनां साधुषु वा समाधिः साधुसमाधिः । व्यावृत्तेर्भावो वैयावृत्त्यं वैयावृत्त्यस्य करणं विधानं वैयावृत्त्यकरणम् । अर्हन्तश्च आचार्याश्च बहुश्रुताश्च प्रवचनञ्च अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनानि तेषां तेषु वा भक्तिः अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः । सुमुहूर्ताद्यनपेक्षम् अवश्यं निश्चयेन कर्तव्यानि आवश्यकानि तेषामपरिहाणिः आवश्यकाऽपरिहाणिः । मार्गस्य प्रभावना मार्गप्रभावना । प्रवचने वत्सलत्वं प्रवचनवत्सलत्वम् । आवश्यकापरिहाणिश्च मार्गप्रभावना च प्रवचनवत्सलत्वञ्च आवश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वं समाहारो द्वन्द्वः । इति षोडश प्रत्ययाः । एतानि षोडश कारणानि तीर्थकरत्वस्य तीर्थङ्करनामकर्मण आस्रवकारणानि भवन्ति ।

अथ उच्चनीचगोत्रद्वयस्यास्रवसूचनपरं सूत्रद्वयं मनसि धृत्वा तत्र तावन्नीचैर्गोत्रस्य आस्रवकारणं निरूपयन्तः सूत्रमिदमाहुः—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

परश्च आत्मा च परात्मानौ निन्दा च प्रशंसा च निन्दाप्रशंसे, परात्मनोः निन्दाप्रशंसे परात्मनिन्दाप्रशंसे—परस्य निन्दा आत्मनः प्रशंसा इत्यर्थः । सन्तो विद्यमानाः असन्तोऽविद्यमानाः सदसन्तः, ते च ते च गुणाः ज्ञानतपःप्रभृतयः सदसद्गुणाः, उच्छादनञ्च लोपनम् उद्भावनञ्च प्रकाशनम् उच्छादनोद्भावने, सदसद्गुणानामुच्छादनोद्भावने सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने सद्गुणोच्छादनमसद्गुणोद्भावनमित्यर्थः । एतानि चत्वारि कर्माणि नीचैर्गोत्रस्य मलिनगोत्रस्य आस्रवकारणानि कर्मागमनहेतवो भवन्ति । चकाराज्जातिमदः कुलमदः बलमदः रूपमदः श्रुतमदः आज्ञामदः ऐश्वर्यमदः तपोमदश्चेत्यष्ट मदाः, परेषामपमाननम्,

---

१ –त्रयलक्षणे ता० । २ –तिसंस्तवने ती– आ०, ब०, ज० । ३ –त्समानसे विधी– आ०, ब०, ज० । ४ विनये स– आ०, ब०, ज० ।

परोत्प्रहसनम्, परप्रतिवादनम्, गुरूणां [1]विभेदकरणम्, गुरूणामस्थानदानम्, गुरूणामवमाननम्, गुरूणां निर्भर्त्सनम्, गुरूणामजल्पयोटनम्, गुरूणां स्तुतेरकरणम्, गुरूणामनभ्युत्थानञ्चेत्यादीनि नीचैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति।

अथोच्चैर्गोत्रास्रवा उच्यन्ते—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

तस्य पूर्वोक्तार्थस्य विपर्ययो विपर्यासः आत्मनिन्दापरप्रशंसारूपः सद्गुणोद्भावनाऽसद्गुणोच्छादनरूपश्च तद्विपर्ययः। गुणोत्कृष्टेषु विनयेन प्रह्वीभावः नीचैर्वृत्तिरुच्यते। ज्ञानतपःप्रभृतिर्गुणैर्यदुत्कृष्टोऽपि सन् ज्ञानतपःप्रभृतिभिर्मदमहङ्कारं यन्न करोति सोऽनुत्सेक इत्युच्यते। नीचैर्वृत्तिश्च अनुत्सेकश्च नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ। एतानि षट्कार्याणि उत्तरस्य नीचैर्गोत्रादपरस्य उच्चैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति। चकारात् पूर्वसूत्रोक्तचकारगृहीतविपर्ययश्चात्र गृह्यते। तथाहि—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ १ ॥" [रत्न क० श्लो० २५]

इति श्लोकोक्ताष्टमदपरिहरणम् परेषामनपमाननम्, अनुत्प्रहसनम् अपरीवादनम्, गुरूणामपरिभवनमनुद्घट्टनं गुणख्यापनम्, अभेदविधानं स्थानार्पणं सन्माननं मृदुभाषणं चाटुभाषणञ्चेत्यादयः उच्चैर्गोत्रस्यास्रवा भवन्ति।

अथान्तरायस्यास्रव उच्यते—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

विहननं विघ्नः दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां प्रत्यूहः, विघ्नस्य करणं विघ्नकरणम्, अन्तरायस्य दातृपात्रयोरन्तरे मध्ये एत्यागच्छतीत्यन्तरायः तस्यान्तरायस्य, यद्विघ्नकरणं तत् अन्तरायस्यास्रवो भवति। चकाराधिकाराद् दाननिन्दाकरणम्, [2]द्रव्यसंयोगः, देवनैवेद्यभक्षणम्, परवीर्यापहरणम्, धर्मच्छेदनम्, अधर्माचरणम्, परेषां निरोधनम्, बन्धनम्, कर्णच्छेदनम्, गुह्यच्छेदनम्, नासाकर्तनम्, चक्षुरुत्पाटनञ्चेत्यादय अन्तरायस्यास्रवा भवन्ति। ये तत्प्रदोषादय आस्रवा उक्तास्ते निजनिजकर्मणः निजा निजा आस्रवाः स्थित्यनुभागबन्धकारणं भवन्ति, प्रकृतिप्रदेशबन्धयोस्तु कारणानि सर्वेऽपि आस्रवा भवन्ति अन्यत्रायु[3]ष्कबन्धादिति ॥ २७ ॥

[4]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ षष्ठः पादः समाप्तः।

---

१ विभेदनम् ता०। २ द्रव्ययोगः आ०, ब०, ज०। ३ –युष्कर्मब– आ०, ब०, ज०।

४ इत्यनवद्यगद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसमाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य सञ्छर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां षष्ठः पादः समाप्तः। –आ०, ब०।

सप्तमोऽध्यायः

अथ षष्ठाध्याये आस्रवपदार्थो यो व्याकृतः तस्याध्यायस्य प्रारम्भसमये यत्सूत्रमुक्तम्— **"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य"** [६।३] इति सूत्रे शुभो योगः पुण्यस्यास्रवो भवति अशुभो योगः पापस्यास्रवो भवति, तदेतत् शुभाशुभयोगद्वयं सामान्यतयोक्तम्। तत्र शुभयोगस्य विशेषपरिज्ञानार्थं कः शुभो योग इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसनं हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणमित्यर्थः। न ऋतं न सत्यम् अनृतम् असदभिधानमित्यर्थः। स्तेन्यते स्तेयम्, **"ऋवर्णव्यञ्जनान्ताद्घ्यण"** [का० सू० ४।२।३५] इति घ्यणि प्राप्ते **"स्तेनाद्यन्तलोपश्च"** [   ] यत्प्रत्ययः, अन्तलोपश्चेति नकारलोपः स्तेयम् अदत्तादानम्। बृंहन्ति अहिंसादयो गुणा यस्मिन् सति तद् ब्रह्म ब्रह्मचर्यम्, न ब्रह्म अब्रह्म मैथुनमित्यर्थः। परि समन्ताद् गृह्यते परिग्रहः मनोमूर्च्छालक्षणः ग्रहणेच्छालक्षणः परिग्रह उच्यते। हिंसा चानृतञ्च स्तेयञ्च अब्रह्म च परिग्रहश्च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहास्तेभ्यः हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः। विरमणं विरतिः हिंसादिपञ्चपातकेभ्यो या विरतिः विरमणम् अभिसन्धिकृतो नियमः व्रत उच्यते। अथवा, इदं मया कार्यमिदं मया न कार्यमिति व्रतं कथ्यते। ननु **"ध्रुवमपायेऽपादानम्"** [पा० सू० १।४।२] इति वचनाद् अपाये सति यद् ध्रुवं तदपादानं भवति, हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपरिणामास्तु अध्रुवाः वर्तन्ते कथं तत्र पञ्चमीविभक्तिर्घटते ? सत्यमेवैतत्; परन्तु हिंसादिभ्यो बुद्धेरपाये सति विरमणलक्षणे विश्लेषे सति हिंसादीनामाचार्येण ध्रुवत्वं विवक्ष्यते **"वक्तुर्विवक्षितपूर्विका शब्दार्थप्रतिपत्तिः"** [   ] इति परिभाषणादत्र पञ्चमी घटते। यथा—'कश्चित् पुमान् धर्माद्विरमति' इत्यत्रायं पुमान् सम्भिन्नबुद्धिर्विपरीतमतिः सन् मनसा धर्मं पश्यति पश्चाद्विचारयति—'अयं धर्मो दुष्करो वर्तते अस्य धर्मस्य च फलं श्रद्धामात्रगम्यं वर्तते' एवं पर्यालोच्य स पुमान् बुद्ध्या धर्मं संप्राप्य तस्मादध्रुवरूपादपि धर्मान्निवर्तते, पश्चद्गलते तत्र यथा पञ्चमी तथाऽत्रापि एष मानवः प्रेक्षापूर्वकारी विचारपूर्वकारीक्षते—एते हिंसादयः परिणामाः पापोपार्जनहेतुभूता वर्तन्ते, ये तु पापकर्मणि प्रवर्तन्ते ते नृपैरिहैव दण्ड्यन्ते परत्र च दुःखिनो भवन्ति इति स बुद्ध्या हिंसादीन् सम्प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, ततस्तस्मात् कारणाद् बुद्ध्या ध्रुवत्वविवक्षायां हिंसादीनामपादानत्वं घटते। तेनायमर्थः—हिंसाया विरतिः अनृताद्विरतिः स्तेयाद् विरतिः अब्रह्मणो विरतिः परिग्रहाद्विरतिश्चेति विरतिशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तस्मिन् सति अहिंसाव्रतमादौ ध्रियते सत्यादीनां मुख्यत्वात्, सत्यादीनि

व्रतानि हि अहिंसाप्रतिपालनार्थं वर्तन्ते धान्यस्य वृतिवेष्टनवत् । व्रतं हि सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणमेकं सामायिकमेव छेदोपस्थापनाद्यपेक्षया तु पञ्चविधमुच्यते ।

अत्राह कश्चित्—व्रतस्यास्रवकारणत्वं न घटते संवरकारणेषु अन्तर्भावात् **"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"** [९।२] इति वक्ष्यमाणत्वात्, तत्र दशलक्षणे धर्मे चारित्रे वा व्रतानामन्तर्भावो वर्तते, कथमास्रवहेतवो व्रतानि भवन्तीति ? साधूक्तं भवता ; वक्ष्यमाणः संवरः [1]निवृत्तिलक्षणो वर्तते, अत्र तु अहिंसासत्यदत्तादानब्रह्मचर्यस्वीकारापरिग्रहत्वाङ्गीकारतया प्रवृत्तिर्वर्तते तेनास्रवहेतवो घटन्ते व्रतानि । गुप्तिसमित्यादयः संवरस्य परिकर्म वर्तते परिकरोऽस्ति, यः साधुर्व्रतेषु कृतपरिकर्मा भवति विहितानुष्ठानो भवति स सुखेन संवरं विदधाति तेन कारणेन व्रतानां पृथक्तया उपदेशो विधीयते ।

अत्राह कश्चित्—ननु रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतं वर्तते तस्येहोपसङ्ख्यानं नास्ति कथनं न वर्तते तदत्र वक्तव्यम् ? युक्तमुक्तं भवता ; अहिंसाव्रतस्य पञ्च भावना वक्ष्यन्ते—**"वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च"** [७।४] इति पञ्चसु अहिंसाव्रतभावनासु यदुक्तम् आलोकितपानभोजनं तत् आलोकितपानभोजनं रात्रौ न घटते, [2]तद्भावनाग्रहणेन रात्रिभोजनविरमणं सङ्गृहीतमेवाचार्यैः ।

अथ पञ्चप्रकारव्रतस्य भेदपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते[3]—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

देशश्च एकदेशः सर्वश्च परिपूर्णः समस्त इत्यर्थः देशसर्वौ देशसर्वाभ्यां देशसर्वतः । अणु च महच्च अणुमहती । अस्यायमर्थः—देशतो विरतिरणुव्रतं भवति सर्वतो विरतिर्महाव्रतं भवति । अणुव्रतं गृहिणां व्रतम्, महाव्रतं निर्ग्रन्थानां भवति, इत्यनेन श्रावकाचारो यत्याचारश्च सूचितो भवति ।

अथ यथा उत्तममौषधं लिकुचफलरसादिभिर्भावितं रुग्दुःखविनाशकं भवति तथा व्रतमपि भावनाभिर्भावितं सत् [4]कर्मरोगदुःखविनाशकं भवति, तेन कारणेन एकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति । 'किमर्थं भवन्ति' इत्युक्ते सूत्रमिदमुच्यते—

तत्स्थैर्यार्थं भावना पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

स्थिरस्य भावः स्थैर्यं तेषां व्रतानां स्थैर्यं तत्स्थैर्यं तत्स्थैर्यस्य अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् [5]भावनकर्मणि तत्तत्स्थैर्यार्थं पञ्चानां स्थिरीकरणार्थमित्यर्थः । एकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना भवन्ति । समुदिताः पञ्चविंशतिर्भवन्ति ।

---

१ सन्नि- आ०, ब०, ज० । २ सद्भाव- ता० । ३ -ते स्वामिना देश- आ०, ब०, ज० । ४ कर्मभोगदुःख- आ०, ब०, ज० । ५ भावक- ता० ।

तत्र तावत् अहिंसाव्रतस्य पञ्च भावना उच्यन्ते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥

गुप्तिशब्दः द्वयोः प्रत्येकं प्रयुज्यते, वागुप्तिश्च मनोगुप्तिश्च वाङ्मनोगुप्ती। समितिशब्दः प्रत्येकं द्वयोः सम्बद्ध्यते, ईर्यासमितिश्च आदाननिक्षेपणसमितिश्च ईर्यादाननिक्षेपणसमिती। पानञ्च भोजनञ्च पानभोजने आलोकिते सूर्यप्रत्यक्षेण पुनः पुनर्निरीक्षिते ये पानभोजने ते आलोकितपानभोजने, अथवा पानञ्च भोजनञ्च पानभोजनं समाहारो द्वन्द्वः, आलोकितञ्च तत् पानभोजनञ्च आलोकितपानभोजनम्। ततः वाङ्मनोगुप्ती च ईर्यादाननिक्षेपणसमिती च आलोकितपानभोजनञ्च वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि। एताः पञ्च अहिंसाव्रतभावना वेदितव्याः।

अथ सत्यव्रतभावनापञ्चकमुच्यते—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणञ्च पञ्च ॥ ५ ॥

भीरोर्भावो भीरुत्वम्, हसस्य भावो हास्यम्, क्रोधश्च लोभश्च भीरुत्वञ्च हास्यञ्च क्रोधलोभभीरुत्वहास्यानि तेषां प्रत्याख्यानानि वर्जनानि क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि चत्वारि। अनुवीचिभाषणं विचार्य भाषणमनवद्यभाषणं वा पञ्चमम्। अस्यायमर्थः–क्रोधप्रत्याख्यानं क्रोधपरिहरणम्, लोभप्रत्याख्यानं [1]लोभविवर्जनम्, भीरुत्वप्रत्याख्यानं भयत्यजनम्, हास्यप्रत्याख्यानं वर्करपरिहरणम्, एतानि चत्वारि निषेधरूपाणि, अनुवीचिभाषणं विधिरूपं कर्त्तव्यतयाऽनुष्ठानम्। चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते। एताः पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य वेदितव्याः।

अथाऽचौर्यव्रतभावनाः पञ्चोच्यन्ते—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

शून्यानि च तानि आगाराणि शून्यागाराणि पर्वतगुहावृक्षकोटरनदीतटप्रभृतीनि अस्वामिकानि स्थानानि शून्यागाराण्युच्यन्ते। विमोचितानि उद्वसग्रामनगरपत्तनानि शत्रुभिरुद्वासितानि स्थानानि विमोचितान्युच्यन्ते, तेषु आवासौ शून्यागारविमोचितावासौ। परेषामुपरोधस्य हठस्य अकरणं परोपरोधाकरणम्। भिक्षाणां समूहो भैक्षं समूहे अण् भैक्षस्य शुद्धिः भैक्षशुद्धिः, उत्पातनादिदोषरहितता। समानो धर्मो जैनधर्मो येषां ते सधर्माणः "धर्मादनिच् (र) केवलात्" [पा० सू० ५।४।१२४]। विरूपकं सम्मुखीभूय वदनं तवेदं ममेदमिति भाषणं विसंवादः न विसंवादः अविसंवादः, सधर्मभिः सह अविसंवादः सधर्माविसंवादः। शून्यागारविमोचितावासौ च परोपरोधाकरणञ्च भैक्षशुद्धिश्च सधर्माविसंवादश्च शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च भावना

१ –भपरिव– आ०, ब०, ज०।

[1]अदत्तादानविरमणव्रतस्य भवन्ति। शून्यागारेषु यस्यावासो भवति स निस्पृहः स्यात् तस्य अदत्तादानविरमणव्रतं स्थिरीभवति। यश्च विमोचितेषु स्थानेषु आवासं करोति [2]तस्यापि मनः परिग्रहेषु निस्पृहं भवति तेनापि अदत्तादानविरतिव्रतस्य[3] परमं स्थैर्यं स्यात्। एवं द्वे भावने भवतः। परोपरोधाकरणो[4]ऽपि पराग्रहणात् तत् स्थिरं स्यात्। तथान्तरायादिप्रतिपालने मनसा सह चौर्यं न भवति तेनापि [5]तद्व्रतं स्थिरीभवति। सधर्मभिः सह विसंवादे जिनवचनस्त्यैन्यं भवति, तदभावे तत् स्थिरं स्यात्।

अथेदानीं ब्रह्मचर्यव्रतस्य पञ्च भावना उच्यन्ते—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

स्त्रीणां रागस्य सम्बन्धिनी कथा स्त्रीरागकथा, तस्याः श्रवणमाकर्णनम्। तासां स्त्रीणां मनोहराणि हृदयानुरञ्जकानि यानि अङ्गानि वदनस्तनजघनादीनि तेषां निरीक्षणमवलोकनं तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणम्। पूर्वञ्च तत् रतञ्च पूर्वरतं पूर्वकालभुक्तभोगः तस्य अनुस्मरणमनुचिन्तनं पूर्वरतानुस्मरणम्। वृषे वृषभे साधवो वृष्याः येषु रसेषु भुक्तेषु पुमान् वृषभवद् उन्मत्तकामो भवति ते रसा वृष्या इत्युच्यन्ते, उपलक्षणत्वात् येषु रसेषु भुक्तेषु वाजीव अश्ववदुन्मत्तकामो भवति ते वाजीकरणरसाः वृषशब्देन उपलक्षकेनोपलक्ष्यन्ते[6], इष्टामनोरसनानुरञ्जकाः, वृष्याश्च ते इष्टाश्च ते च ते रसाः वृष्येष्टरसाः इन्द्रियाणामुत्कटत्वसम्पादका उत्कटरसा इत्यर्थः। स्वमात्मीयं तच्च तच्छरीरञ्च स्वशरीरं निजशरीरं तस्य संस्कारः दन्तनखकेशादिशृङ्गारः स्वशरीरसंस्कारः। स्त्रीरागकथाश्रवणञ्च तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणञ्च पूर्वरतानुस्मरणञ्च वृष्येष्टरसाश्च स्वशरीरसंस्कारश्च स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्काराः तेषां त्यागाः वर्जनानि ते तथोक्ताः। एताः पञ्च भावना ब्रह्मचर्यव्रतस्य स्थिरीकरणार्थं भवन्ति।

अथ परिग्रहविरमणव्रतस्य पञ्च भावना उच्यन्ते—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

मनो जानन्तीति मनोज्ञाश्चित्तानुरञ्जकाः। तद्विपरीता अमनोज्ञाः। मनोज्ञाश्च अमनोज्ञाश्च मनोज्ञामनोज्ञाः ते च ते इन्द्रियाणां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दरूपाः तेषु रागश्च द्वेषश्च तयोर्वर्जनानि परित्यागाः–पञ्चानामिन्द्रियाणामिष्टेषु विषयेषु रागो न विधीयते अनिष्टेषु च विषयेषु द्वेषो न क्रियते। एताः पञ्च भावनाः परिग्रहपरित्यागव्रतस्य स्थैर्यार्थं भवन्ति।

१– दानव्रतस्य आ०, ब०, ज०। २ तस्य म– आ०, ब०, ज०। ३–स्यस्थै– ता०। ४–णेऽपि ग्रह–आ०, ब०, ज०। ५ सद्व्रतं ता०। ६ –पलभ्यन्ते आ०, ब०, ज०।

अथ यथा व्रतस्थैर्यार्थं भावना क्रियन्ते तथा व्रतस्थैर्यार्थं व्रतविरोधिष्वपि भावना क्रियन्त इत्यभिधेयसूचकं सूत्रमुच्यते—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

हिंसा आदिर्येषाम् अनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणां ते हिंसादयः तेषु हिंसादिषु, इह अस्मिन् जन्मनि अमुत्र च भविष्यद्भवान्तरे, अपायश्चाभ्युदयनिःश्रेयसार्थक्रियाविध्वंसकप्रयोगः सप्तभयानि वा, अवद्यं न उदितं (तुं) योग्यम् अवद्यं निन्दनमित्यर्थः । अपायश्चावद्यञ्च अपायावद्ये अपायावद्ययोर्दर्शनम् अपायावद्यदर्शनम् । इहलोके परलोके च अपायावद्यदर्शनं जीवस्य भवति ।

हिंसादिषु पञ्च पातकेषु कृतेष्विति[1] भावनीयम् । तथाहि—हिंसकः पुमान् लोकानां नित्यमेव उद्वेजनीयो भवति, नित्यानुबद्धवैरश्च सञ्जायते । इह भवेऽपि वधबन्धनादिक्लेशादीन् [2]परिप्राप्नोति, मृतोऽपि सन् नरकादिगतिं प्रतिलभते । लोके निन्दनीयश्च भवति । तस्मात्कारणात् केनापि हेतुना हिंसा न कर्तव्या । हिंसाविरमणं श्रेयस्करं भवति अजगजवाजिद्विजादीनां हवनं च महानरकपातकं भवति परेषां दुःखजनकत्वात् ।

असत्यवादी पुमान् अविश्वसनीयो भवति । जिह्वाकर्णनासिकादिच्छेदनञ्च प्रतिप्राप्नोति । मिथ्यावचनदुःखिताश्च पुरुषा बद्धवैराः सन्तः प्रचुराणि[3] व्यसनानि मिथ्यावादिन उत्पादयन्ति[4], गर्हणञ्च कुर्वन्ति । तस्मात्कारणादसत्यवचनादुपरमणं श्रेयस्करम् ।

परद्रव्यापहारी पुमान् कर्मचाण्डालानामप्युद्वेजनीयो भवति । इहलोकेऽपि निष्ठुरप्रहार-वध-बन्ध-करचरणश्रवणरसनोत्तरदन्तच्छदच्छेदन-सर्वस्वापहरण [5]अवालवलियारोहणादिकं प्रतिप्राप्नोति । मृतोऽपि सन्नरकादिगतिगर्तेषु पतति । सर्वलोकनिन्दनीयश्च[6] भवति । ततो लोप्त्रोपजीवनं न श्रेयस्करमिति भावनीयम् ।

अब्रह्मचारी पुमान् मदोन्मत्तो भवति । विभ्रमोपेत उद्भ्रान्तमना यूथनाथ इव करिणीविवञ्चितः परवशः सन् वधबन्धपरिक्लेशान् प्राप्नोति । मोहकर्माभिभूतश्च सन् कार्यमकार्यञ्च नो जानीते । स्त्रीलम्पटः सन् दानपूजनजिनस्तवनोपवसनादिकं किमपि पुण्यकर्म नैवाचरति । परपरिग्रहाश्लेषणसङ्गतिकृतरतिश्च अस्मिन्नपि भवे वैरानुबन्धिजनसमूहात् [7]शेफोविकर्तन-तदादितर्कादिप्रवेश-वध-बन्धसर्वस्वापहरणादिकमपायं प्रतिलभते । मृतोऽपि सन् नरकादिगतिगर्तदुःखकर्दमनिमज्जनं प्रतिलभते । सर्वलोकनिन्दनीयश्च भवति । तेन स्मरमन्दिररतिविरतिरात्मनः श्रेयस्करीति भावनीयम् ।

सपरिग्रहः पुमान् परिग्रहार्थिनां परिभवनीयो भवति पक्षिणां परिगृहीतमांसखण्ड-

---

१– ष्वपि भा– आ०, ब०, ज० । २ प्रतिप्रा–ता० । ३ वा व्यसनिन उ— आ०, ब०, ज० । ४ –निर्ग्रहण–आ०, ब०, ज० । ५ मुण्डितः सन् गर्दभारोहणादिकम् । अवलवाले– आ०, ब०, ज० । ६ –नीयो भ– आ०, ब०, ज० । ७ लिङ्गच्छेद– लिङ्गाग्रभागे शलाकाप्रवेश ।

पक्षिवत्। परिग्रहोपार्जने तद्रक्षणे तत्क्षये च प्रचुरान्यादीनवानि[1] समन्तात् लभते। धनैस्तु इन्धनैरिव बर्हिषः तृप्तिर्न भवति। लोभाभिभूतः सन् उचितमनुचितं न जानीते। पात्रेष्वप्यागतेषु मिथ्योत्तरं ददाति। कपाटपुटसन्धिबन्धं विधत्ते, ददाति चेदर्द्धचन्द्रम्। मृतोऽपि सन्निरयादिगतिसरिदशातजलावगाहनं भृशं कुरुते, लोकनिन्दनीयश्च भवति। तेन परिग्रहविरमणं नराणां श्रेयस्करम्। इत्यादिकं हिंसादिपञ्चपातकेषु अपायाऽवद्यदर्शनं नित्यमेव भावितव्यम्।

अथ हिंसादिषु पञ्चपातकेषु अन्यापि भावना भावनीयेति सूत्रमुच्यते—

दुःखमेव वा ॥१०॥

वा–अथवा हिंसादयः पञ्च पातकाः दुःखमेव भवन्ति दुःखस्वरूपाण्येवेति भावना भावनीया। ननु हिंसादयो दुःखमेव कथं भवन्ति? सत्यम्; दुःखकारणात् दुःखम्, यद्वस्तु यस्य कारणं तत्तदेवोच्यते उपचारात्, अन्नं खलु प्राणा इति यथा प्राणानां कारणत्वात् अन्नमपि प्राणा इत्युच्यन्ते। अथवा दुःखकारणस्य कारणत्वात् हिंसादयो दुःखमुच्यन्ते, तथाहि—हिंसादय असातावेदनीयकर्मणः कारणम्, असातावेदनीयञ्च कर्म दुःखस्य कारणं तेन दुःखकारणकारणत्वाद् वा दुःखमित्युपचर्यन्ते। यथा 'प्राणिनां धनं प्राणः' इत्युक्ते धनं हि अन्नपानकारणम् अन्नपानञ्च प्राणकारणं तत्र यथा धनं प्राणकारणकारणं प्राणा इत्युपचर्यते तथा दुःखकारणकारणाऽसद्वेद्यकारणत्वाद् हिंसादयोऽपि दुःखमुपचर्यन्ते। इत्येवमपि भावना व्रतस्थैर्यार्थं भवति। ननु विषयेषु रतिसुखसद्भावान् सर्वमेव कथं दुःखम्? सत्यम्; विषयरतिसुखं सुखं न भवति वेदनाप्रतीकारत्वात् खर्जूनखादिमार्जनवत्।

भूयोऽपि व्रतानां स्थिरीकरणार्थं भावनाविशेषात् सूत्रेणानेन भगवानाह—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥११॥

मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्री। "यस्त्रीनपुंसकाख्या" [ ] इति वचनात् स्त्रीत्वम्, नपुंसके तु [2]मैत्र्यमित्यपि भवति। कायवाङ्मनोभिः कृतकारितानुमतैरन्येषां कृच्छ्रानुत्पत्तिकाङ्क्षा मैत्रीत्युच्यते। मनोनयनवदनप्रसन्नतया विक्रियमाणोऽन्तर्भक्तिरागः प्रमोद इत्युच्यते। हीनदीनकानीनानयनजनानुग्रहत्वं कारुण्यमुच्यते। करुणाया भावः कर्म वा कारुण्यम्। मध्यस्थस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यम्, रागद्वेषजनितपक्षपातस्याभावः माध्यस्थ्यमुच्यते। मैत्री च प्रमोदश्च कारुण्यञ्च माध्यस्थ्यञ्च मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि। पापकर्मोदयवशात् नानायोनिषु सीदन्ति दुःखीभवन्तीति सत्त्वाः प्राणिनः। ज्ञानतपःसंयमादिभिर्गुणैरधिकाः प्रकृष्टा गुणाधिकाः। असद्वेद्यकर्मविपाकोत्पादितदुःखाः क्लिश्यन्ते इति

---

१ आदीनवो दोषः। २ मैत्रमि–आ०, ब०, ज०।

क्लिश्यमानाः । तत्त्वार्थाकर्णनस्वीकरणाभ्यामृते अनुत्पन्नसम्यक्त्वादिगुणा न विनेतुं शिक्षयितुं शक्यन्ते ये ते अविनेयाः । सत्त्वाश्च गुणाधिकाश्च क्लिश्यमानाश्च अविनेयाश्च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयास्तेषु तथोक्तेषु । अस्यायमर्थः—सत्त्वेषु सर्वजीवेषु मैत्री भावनीया गुणाधिकेषु सद्दृष्ट्यादिषु प्रमोदो विधेयः । क्लिश्यमानेषु दुःखीभवत्सु प्राणिषु कारुण्यं करुणाभावो विधेयः । अविनेयेषु अविनीतेषु मिथ्यादृष्ट्यादिषु जिनधर्मबाह्येषु निर्गुणेषु प्राणिषु माध्यस्थ्यं मध्यस्थता औदासीन्यं भावनीयम् । एतासु भावनासु भाव्यमानासु अहिंसादयो व्रताः मनागूना अपि परिपूर्णा भवन्ति । चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते पूर्वोक्तसूत्रार्थेषु अत्र च ।

अथ भूयोऽपि व्रतभावनाविशेषप्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

गच्छतीति जगद् **"द्युतिगमोर्द्वे च"** [का० सू० ४।४।५८] इति साधुः । जगच्च कायश्च जगत्कायौ जगत्काययोः स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ । संवेजनं संवेगः, विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम् । संवेगश्च संसारभीरुता धर्मानुरागो वा वैराग्यञ्च शरीरभोगादिनिर्वेदः संवेगवैराग्ये, तयोरर्थः प्रयोजनं यस्मिन् भावनकर्मणि तत् संवेगवैराग्यार्थम् । जगत्स्वभावः संसारस्वरूपचिन्तनं लोकस्वरूपभावनम्, कायस्वभावः अशुचित्वादिस्वरूपचिन्तनम् । एतद् भावनाद्वयं संवेगवैराग्यार्थं भवति । वाशब्दः पक्षान्तरं सूचयति, तेनाहिंसादिव्रतानां स्थैर्यार्थं च वेदितव्यम् ।

तत्र तावज्जगत्स्वभावः उच्यते—जगत् त्रैलोक्यम् अनादिनिधनम्, अधोजगत् वेत्रासनाकारं मध्यजगत् झल्लरीसदृशम् ऊर्ध्वजगत् मृदङ्गसन्निभम् ऊर्ध्वमर्दलाकारम् । अस्मिञ्जगति अनादिसंसारे अनादिकालं चतुरशीतिलक्षयोनिषु प्राणिनः शारीरमानसागन्तुकदुःखमसातं भोजं भोजं भुक्त्वा भुक्त्वा पर्यटन्ति परिभ्रमन्ति । अत्र जगति किञ्चिदपि धनयौवनादिकं नियतं न वर्तते शाश्वतं नास्ति, आयुर्जलबुद्बुदसमानं भोगसम्पदः तडिन्मेघेन्द्रचापादिविकृतिचञ्चलाः । अस्मिञ्जगति जीवस्य इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिकः कोऽपि विपदि त्राता न वर्तते । इदं जगज्जन्मजरामरणस्थानं वर्तते । इत्यादि भावनायाः संसारसंवेगो भवभीरुता भवति, अहिंसादयो व्रताश्च स्थिरत्वं प्रतिलभन्ते ।

कायस्वभाव उच्यते—कायः खलु अध्रुवः दुःखहेतुः निःसारोऽशुचिः बीभत्सुर्दुर्गन्धः मलमूत्रनिधानं सन्तापहेतुः पापोपार्जनपण्डितः येन केनचित् पदेन पतनशीलः इत्येवं कायस्वभावभावनया विषयरागनिवृत्तिर्भवति, वैराग्यमुत्पद्यते, व्रतानां स्थैर्यञ्च भवति, तेनतौ जगत्कायस्वभावौ भावनीयौ ।

अथ हिंसादीनां पञ्चपातकानां स्वरूपनिरूपणार्थं सूत्राणि मनसि धृत्वा युगपद् वक्तु-

---

१ –दृष्टिषु आ०, ब०, ज० । २ –सूत्रेष्वत्र च आ०, ब०, ज० । ३ संसारदे– आ०, ब०, ज० ।

मशक्यत्वात् तत्र तावत् हिंसालक्षणप्रतिपादकं सूत्रमिदमुच्यते—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

प्रमाद्यति स्म प्रमत्तः प्रमादयुक्तः पुमान् कषायसंयुक्तात्मपरिणाम इत्यर्थः । अथवा इन्द्रियाणां प्रचारमनवधार्य अविचार्य यः पुमान् प्रवर्तते स प्रमत्तः । अथवा प्रवृद्धकषायोदय[1]-प्रविष्टः प्राणातिपातादिहेतुषु स्थित अहिंसायां शाठ्येन यतते कपटेन यत्नं करोति न परमार्थेन स प्रमत्त उच्यते । अथवा पञ्चदशप्रमादयुक्तः प्रमत्तः । के ते पञ्चदश प्रमादाः ? चतस्रो विकथाः चत्वारः कषायाः पञ्चेन्द्रियाणि निद्रा प्रेमा च । तथा चोक्तम्—

"विकहा तह य कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणओ य ।
चदुचदुपणमेगेग्गे होंति पमदा य पण्णरस ॥१॥" [पंचसं० १।१५]

प्रमत्तस्य योगः कायवाङ्मनःकर्मरूपः प्रमत्तयोगः, तस्मात् प्रमत्तयोगात् ।

"पंच वि इंदियपाणा मणवचकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥"

[बोधपा० गा० ३५]

इति गाथाकथितक्रमेण ये प्राणिनां दश प्राणास्तेषां यथासम्भवं व्यपरोपणं वियोगकरणं व्यपरोपणचिन्तनं व्यपरोपणाभिमुख्यं वा हिंसेत्युच्यते । प्रमत्तयोगाभावे प्राणव्यपरोपणमपि हिंसा न भवति । सा हिंसा प्राणिनां दुःखहेतुत्वादधर्मकारणं ज्ञातव्या । चेत्प्रमत्तयोगो न भवति तदा केवलं प्राणव्यपरोपणमात्रम् अधर्माय न भवति ।

"वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते ।" [द्वात्रिंशद्द्वा० ३।१६] इत्यभिधानात् । तथा चोक्तम्—

"उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज ॥ १ ॥
ण हि तस्स तण्णिमित्ते बंधो सुहुमो वि देसिदो समए ।
मुच्छा परिग्गहोच्चि य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ॥ २ ॥"

[पवयणसा० क्षे० ३।१६, १७]

एतयोर्गाथयोरर्थसूचनं यथा—पादे चरणे उच्चालिदम्मि गमने प्रवृत्ते सति इरियासमिदस्स ईर्यासमितियुक्तस्य मुनेः णिग्गमणट्ठाणे निर्गमनस्थाने पादारोपणस्थाने आवादेज्ज यदि आपतेत् आगच्छेत् पादेन चम्पिते कुलिङ्गी सूक्ष्मजीवो मरेज्ज म्रियेत वा तज्जोगमासेज्ज पादसंयोगमाश्रित्य । ण हि तस्स तण्णिमित्ते न हि नैव न भवति तस्य जन्तुचम्पकस्य

---

1 –प्रतिष्ठः आ०, ब०, ज० ।

मुनेः तण्णिमित्ते मरणादिकारणमात्रेऽपि सति । किन्न भवति ? बंधो कर्मबन्धः । कियान् ? सुमुहो वि स्तोकोऽपि समये जिनसूत्रे न हि देसिदो नैव कथितः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—मूर्च्छा परिग्रहणाकाङ्क्षा परिग्रहो त्ति य परिग्रहश्चैव किल परिग्रहग्रहणाकाङ्क्षा परिग्रहमुच्यते । कुतः ? अज्झप्पपमाणदो अध्यात्मप्रमाणतः अन्तःसङ्कल्पानतिक्रमेणेत्यर्थः भणिदो परिग्रहः कथितः । एतेन किमुक्तं भवति प्राणातिपाताभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रात् हिंसा भवत्येव । तथा चोक्तम्—

"मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ १ ॥

[पवयणसा० ३।१७]

अस्यायमर्थः—म्रियतां वा जीवतु वा जीवः अयदाचारस्स अयत्नपरस्य जीवस्य निश्चिता हिंसा भवति । हिंसायामकृतायामपि अयत्नवतः पुरुषस्य पापं लगत्येव । पयदस्स प्रयत्नपरस्य[1] पुंसः बन्धो न भवति । केन ? हिंसामत्तेण हिंसामात्रेण समिदस्स समितिपरस्य । अत्र परिणामस्य प्राधान्यमुक्तम् । तथा चोक्तम्—

"अघ्ननपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ १ ॥" [यश० उ० पृ० ३३५]

अन्यच्च[2]—

"स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वधः ॥२॥" [ ]

अथ अनृतलक्षणमुच्यते—

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अस्तीति सत् न सत् असत् अप्रशस्तमित्यर्थः । "वर्तमाने शतृङ्" [का० सू० ४।४।२] असतः असत्यवचनस्य अभिधानम् अनृतमुच्यते । न ऋतं न सत्यमनृतं यत् असदभिधानमसत्यकथनं तत् अनृतं भवति । विद्यमानार्थस्य[3] अविद्यमानार्थस्य वा प्राणिपीडाकरस्य वचनस्य यत् कथनं तत् अनृतं भवति । यत्प्रमत्तयोगादुच्यते तदनृतमित्यर्थः । अहिंसाव्रतप्रतिपालनार्थं सत्यादीनि व्रतानि इति प्रागेवोक्तम्, तेन यत् हिंसाकरं वचनं तदनृतमिति निश्चितम् । अत्र दृष्टान्तः—वसुनृपः यथा धनश्री हिंसायाम् । तथा यद्वचनं कर्णकर्कशं कर्णशूलप्रायं हृदयनिष्ठुरं मनःपीडाकरं विप्रलापप्रायं विरुद्धप्रलापप्रायं विरोधवचनमिति यावत्, प्राणिवध-

---

१ ३– स्य प्राधान्यपुंसः आ०, ब०, ज० । २ उद्धृताऽयं स० सि० ३।१३ । ३ –मानस्य आ०, ब०, ज० ।

बन्धनादिकं वैरकरं कलहादिकरम् उल्लासकरं गुर्वाद्यवज्ञाकरं तत्सर्वमनृतमित्युच्यते। अनृतस्य विवक्षापि अनृतवचनोपायचिन्तनमपि प्रमत्तयोगादनृतमुच्यते। त्याज्यानुष्ठानाद्यनुवदनमपि नानृतं प्रमत्तयोगाभावात्। एवं प्रमत्तयोगादिति उत्तरत्रापि योज्यम्।

अथ स्तेयलक्षणमुच्यते—

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

दीयते स्म दत्तं न दत्तम् अदत्तम्, अदत्तस्य आदानं ग्रहणम् अदत्तादानं स्तेयं चौर्यं भवति। यल्लोकैः स्वीकृतं सर्वलोकाप्रवृत्तिगोचरः तद्वस्तु अदत्तम्, तस्य ग्रहणं जिघृक्षा वा ग्रहणोपायचिन्तनं च स्तेयमुच्यते। ननु यदि अदत्तादानं स्तेयम् तर्हि कर्मनोकर्मग्रहणमपि स्तेयं भवेत् परैरदत्तत्वात्; साधूक्तं भवता; यत्र दानमादानं च सम्भवति तत्रैव स्तेयव्यवहृतिर्भवति अदत्तग्रहणवचनस्य सामर्थ्यात्, दातृसद्भावे ग्राहकास्तित्वात्, कर्म-नोकर्मग्रहणे दायकः कोऽपि नास्ति अन्यत्रात्मपरिणामात्, त्रिभुवनभृततद्योग्याणुवर्गणानामस्वामिकत्वात् नैष दोषः। नन्वेवं सति मुनीनां ग्रामनगरादिपर्यटनावसरे रथ्याद्वारादिप्रवेशे अदत्तादानं सञ्जायते तेषां सस्वामिकत्वात् मुनीनामनभिहितत्वाच्च; इदमपि साधूक्तं भवता; नगरग्रामादिषु रथ्याद्वारादिप्रवेशादिषु च सर्वजनसामान्यतया तत्र प्रवृत्तिर्मुक्तैव वर्तते। कस्मात्? अर्थापत्तिप्रमाणात्। कार्थापत्तिरत्र वर्तते इति चेत्? उच्यते—पिहितद्वारादिषु मुनिर्न प्रविशेत् अपिहितद्वारादिषु प्रविशेदित्यर्थापादनात्। पिहितद्वारादिषु यदि मुनीनाममुक्तिः अपिहितद्वारादिषु मुक्तिरापद्यत एव। अथवा प्रमत्तयोगाददत्तादानं स्तेयं भवति, न रथ्यादिषु प्रविशतां मुनीनां प्रमत्तयोगो वर्तते, तेन बाह्यवस्तुग्रहणे तदग्रहणे च सङ्क्लेशपरिणामसद्भावात् स्तेयं तदभावे न स्तेयमिति।

अथाब्रह्मलक्षणमुच्यते—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

मिथुनस्य कर्म मैथुनम्। किं तत् मिथुनस्य कर्म? स्त्रीपुरुषयोश्चारित्रमोहविपाके रागपरिणतिप्राप्तयोरनन्योन्यपर्षणं (स्पर्शनं) प्रति अभिलाषः स्पर्शोपायचिन्तनं च मिथुनकर्मोच्यते। रागपरिणतेरभावे न स्पर्शनमात्रमब्रह्मोच्यते। लोकेऽप्याबालगोपालादिप्रसिद्धमेतत्—यत् स्त्रीपुंसयोः रागपरिणामकारणं चेष्टितं मैथुनम्। शास्त्रे च "अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छा [ ]" मिथुनकर्म। ततः कारणात् प्रमत्तयोगात् स्त्रीपुंस-पुरुषपुरुषादिमिथुनगोचरं रतिसुखार्थचेष्टनं मैथुनमित्यायातम्। अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिरक्षमाणे बृंहन्ति वृद्धिं प्रयान्ति तद्ब्रह्मोच्यते। न ब्रह्म अब्रह्म। यन्मैथुनं तदब्रह्म इति सूत्रार्थः। मैथुने प्रवर्त्तमानो जीवः हिंसादिकं करोति, स्थावरजङ्गमान् जीवान् विध्वंसयति। तथा चोक्तम्—

> "मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
> योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः[1]" ॥१॥" [ज्ञानार्ण० १३।२]

१–पीडनात् आ०, ब०, ज०।

घाते घातेऽसंख्येयाः कोटयो जन्तवो म्रियन्ते इत्यर्थः। तथा कक्षद्वये स्तनान्तरे नाभौ स्मरमन्दिरे च स्त्रीणां प्राणिन उत्पद्यन्ते तत्र करादिव्यापारे ते म्रियन्ते। मैथुनार्थं मृषा वादं वक्ति, अदत्तमप्यादत्ते, बाह्याभ्यन्तरं परिग्रहञ्च। अत्र आरक्षकोपाख्यानमुद्भावनीयं स्तेये सत्यघोषवत्।

अथ परिग्रहलक्षणसूत्रमुच्यते—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छनं मूर्च्छा, परिगृह्यते परिग्रहः। या मूर्च्छा सा परिग्रह इत्युच्यते। काऽसौ मूर्च्छा ? अघ्न्याबलीवर्दगर्दभरगर्वरीवाजिबडवादासीदासकलत्रपुत्रप्रभृतिश्चेतनः परिग्रहः। शौक्तिकेयमाणिक्यपुष्परागवैडूर्यपद्मरागहीरकेन्द्रनीलगरुडोद्गाराश्मगर्भदुर्वर्णसुवर्णपट्टकूलचीनाम्बरताम्रपित्तव्यघृततैलगुडशर्करास्वापतेयप्रभृतिरचेतनो बाह्यपरिग्रहः। रागद्वेषमदमोहकषायप्रभृतिरभ्यन्तर उपधिः। तस्योभयप्रकारस्यापि परिग्रहस्य संरक्षणे उपार्जने संस्करणे वर्द्धनादौ व्यापारो मनोऽभिलापः मूर्च्छा प्रतिपाद्यते, न तु वातपित्तश्लेष्माद्युत्पादितोऽचेतनस्वभावो मूर्च्छा भण्यते **"मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः"** [पा० धातुपा० भ्वा० २१९] इति वचनात्। मूर्च्छिरयं सामान्येन मोहपरिणामे वर्तते। यः सामान्येनोक्तोऽर्थः स विशेषेष्वपि वर्तते, तेन सामान्यार्थमाश्रित्याचेतनत्वलक्षणोऽर्थो नाश्रयणीयः, किन्तु विशेषलक्षणोऽर्थो मनोऽभिलापलक्षणोऽर्थो मूर्च्छिधात्वर्थोऽत्र गृह्यते। एवं चेद् बाह्याः परिग्रहाः न भवन्ति मनोऽभिलापमात्राभ्यन्तरपरिग्रहार्थपरिग्रहात्; तन्न युक्तमुक्तं भवता; मनोऽभिलापस्य प्रधानत्वात् अभ्यन्तर एव परिग्रहः सङ्गृहीतः, बाह्यपरिग्रहस्य गौणत्वात्। तेन ममत्वमेव परिग्रह उक्तः। तर्हि बाह्यः परिग्रहो न भवत्येव; सत्यम्; बाह्यः परिग्रहो मूर्च्छाहेतुत्वात् सोऽपि परिग्रह उच्यते। तेन आहारभयमैथुनादियुक्तः पुमान् सपरिग्रहो भवति; सञ्ज्ञानामपि ममेदमिति सङ्कल्पाश्रयत्वात् रागद्वेषमोहादिपरिणामवन्नास्ति दोषः। प्रमत्तयोगादिति पदमनुवर्तते तेन यस्य प्रमत्तयोगः स सपरिग्रहः यस्य तु प्रमत्तयोगो न वर्तते सोऽपरिग्रहः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोयुक्तः प्रमादरहितो निर्मोहः तस्य मनोऽभिलापलक्षणा मूर्च्छा नास्ति निःपरिग्रहत्वञ्च तस्य सिद्धम्। ननु ज्ञानदर्शनचारित्रतपोलक्षणः किं परिग्रहो न भवति ? न भवत्येव, ज्ञानादीनाम् आत्मस्वभावानामहेयत्वादपरिग्रहत्वं सिद्धम्। **"यस्त्यक्तुं शक्यते स एव परिग्रहः"** [ ] इत्यभिधानात्। रागद्वेषादयस्तु कर्मोदयाधीनाः। अनात्मस्वभावा हेयरूपाः तेषु सङ्कल्पः परिग्रह इति सङ्गच्छते। तत्र प्राणातिपातोऽवश्यम्भावी तदर्थं चासत्यं वदति स्तैन्यञ्च विदधाति अब्रह्मकर्मणि नियतं यत्नवान् भवति। पूर्वोक्तैः पातकैस्तु नरकादिषु उत्पद्यते तत्र तु पञ्चप्रकारादि दुःखं भुङ्क्ते। तेन मुख्यतया रागादिमनोऽभिलापः परिग्रह इत्यायातम्। तथा चोक्तम्—

"बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति ।
पुनरभ्यन्तरसङ्गत्यागी लोकेषु दुर्लभो जीवः ॥१॥" [ ]

अभ्यन्तरपरिग्रहाश्चतुर्दश । बाह्यपरिग्रहास्तु दश । तथा चोक्तम्—

"मिथ्यात्ववेदहास्यादिषट्कषायचतुष्टयम् ।
रागद्वेषौ तु सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥१॥
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदश्च चतुष्पदम् ।
यानं शयनासनं कुप्यं भाण्डश्चेति बहिर्दश ॥२॥" [ ]

अथ हिंसादिव्रतसम्पन्नः पुमान् कीदृशो भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

शृणाति विध्वंसयति हिनस्तीति शल्यमुच्यते । वपुरनुप्रविश्य दुःखमुत्पादयति बाणाद्यायुधशल्यम् । शल्यमिव शल्यं प्राणिनां बाधाकरत्वात् शारीरमानसदुःखकारणत्वात् । कर्मोदयविकृतिः शल्यमुपचारात् । तच्छल्यं त्रिप्रकारम्—मायाशल्यं मिथ्यादर्शनशल्यं निदानशल्यञ्चेति । तत्र माया परवञ्चनम् । मिथ्यादर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानाभावः । निदानं विषयसुखाभिलाषः । एवंविधात्त्रिप्रकारात् शल्यात् निष्क्रान्तो निर्गतो निःशल्यः । योऽसौ निःशल्यः स एव व्रतीत्युच्यते । अत्र किञ्चिच्चोद्यते मीमांस्यते विचार्यत इति यावत् । निःशल्यः किल शल्याभावाद् भवति, व्रताश्रयणाद्व्रती भवति, न हि निःशल्यो व्रती भवितुमर्हति, यथा देवदत्तः केवलदण्डधारी छत्रीति नोच्यते तथा निःशल्यो व्रती न भवति; अयुक्तमेवोक्तं भवता; निःशल्यमात्रो व्रती न भवति किन्तु उभयविशेषणविशिष्टः पुमान् व्रती भवति । निःशल्यो व्रतोपपन्नश्च व्रतीत्युच्यते । हिंसादिविरमणमात्राद्व्रती न भवति किन्तु हिंसादिविरमणयुतः शल्यरहितश्च व्रती कथ्यते । अत्रार्थे दृष्टान्तः—प्रभूतदुग्धघृतसहितः पुमान् गोमानित्युच्यते यस्य तु [1]पुरुहू (ह) दुग्धाज्यादिकं नास्ति स विद्यमानास्वपि अघ्न्यासु गोमान् नोच्यते, तथा शल्यसंयुक्तः पुमान् व्रतेषु विद्यमानेष्वपि व्रती न कथ्यते, अहिंसादिव्रतानां [2]विशिष्टं फलं शल्यवान् न विन्दति । निःशल्यस्तु व्रती सन् अहिंसादिव्रतानां विशिष्टं फलं लभत इत्यर्थः ।

अथ व्रतोपपन्नः पुमान् कतिभेदो भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते ।

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

अङ्ग्यते गम्यते प्रतिश्रयार्थिभिः पुरुषैः गृहप्रयोजनवद्भिः पुरुषैरित्यगारं गृहमुच्यते । अगारं गृहं परत्यमावासो विद्यते यस्य स अगारी । न विद्यते अगारं यस्य सोऽनगारः । अगारी च अनगारश्च द्विप्रकारो व्रती भवति । चकारः परस्परसमुच्चयार्थः । एवञ्चेत्तर्हि जिनो-

१ पुरुस्य दु- ज० । पुरुहूतदु- आ०, ब० । २ विशिष्टफ- आ०, ब०, ज० ।

शून्यागारमठाद्यावासेषु वसन् मुनिरप्यगारी भवति तस्यागारसद्भावात्, तथा च अनिवृत्तविषयतृष्णः केनचिद्धेतुना गृहं परिहृत्य वने तिष्ठन् गृहस्थोऽप्यनगारो भवति,साधूक्तं भवता; अगारशब्देनात्र भावगृहं सूचितं ज्ञातव्यम्, चारित्रमोहोदये सति गृहसम्बन्धं प्रति अनियमपरिणामः भावागारमभिधीयते। सोऽनियमपरिणामः यस्य पुरुषस्य विद्यते स पुमान् नग्नोऽनग्नो वा वने वसन्नपि अगारीत्युच्यते। गृहपरिणामाभावात् जिनचैत्यालयादौ वसन्नपि अनगार उच्यते। ननु अगारी व्रती न भवति अपरिपूर्णव्रतत्वात्; तदयुक्तम्[1]; नैगमसंग्रहव्यवहारनयत्रयापेक्षया अगारी व्रती भवत्येव पत्तनावासवत्। यथा कश्चित्पुमान् गृहे अपवरके वा वसति स पत्तनावास उच्यते, स किं सर्वस्मिन् पत्तने वसति ? किन्तु पत्तनमध्यस्थितनियतगृहादौ वसति, तथा परिपूर्णानि व्रतानि अप्रतिपालयन्नपि एकदेशव्रताश्रितः पुमान् व्रतीत्युच्यते। एवञ्चेत्तर्हि हिंसादीनां पञ्चपातकानां मध्ये किमन्यतमपातकप्रतिनिवृत्तः खल्वगारी व्रती कथ्यते; न कथ्यते; किन्तु पञ्चप्रकारामपि विरतिमपरिपूर्णां प्रतिपालयन् व्रती कथ्यते। अमुमेवार्थमुत्तरसूत्रेण समर्थयति—

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अणूनि अल्पानि व्रतानि यस्य सोऽणुव्रतः सर्वसावद्यनिवृत्तेरयोगात्। य ईदृशः पुमान् स अगारीति कथ्यते। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायान् जीवान् अनन्तकायवर्जान्[2] स्वकार्ये विराधयति, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियान् जन्तून् न विराधयति तदादिममणुव्रतमुच्यते। लोभेन मोहेन स्नेहादिना गृहविनाशहेतुना ग्रामवासादिकारणेन वा जीवोऽनृतं वक्ति तस्मादनृतान्निवृत्तो योऽगारी भवति तस्य द्वितीयमणुव्रतं भवति। यद्धनं निजमपि संक्लेशेन गृह्यते तत्परपीडाकरम्, यच्च नृपभीतिवशान्निश्चयेन परिहृतमपि यद्दत्तं धनं तस्मिन् धने परिहृतादरो यः पुमान् स श्रावकस्तृतीयमणुव्रतं प्राप्नोति। पुमानित्युक्ते योषिदपि लभ्यते तस्या अपि तृतीयमणुव्रतं भवति। एवं यथासम्भवं शब्दस्यार्थो वेदितव्यः। स्वीकृताऽस्वीकृता च या परस्त्री भवति तस्यां यो गृही रतिं न करोति स चतुर्थमणुव्रतं प्राप्नोति। क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्यसुवर्णदासी-दासादीनां निजेच्छावशाद् .येन गृहिणा परिमाणं कृतं स गृही पञ्चममणुव्रतं प्राप्नोति।

अथ महाव्रतिनः गृहस्थस्य च किमेतावानेव विशेषः किं वाऽन्योऽपि कश्चिद् विशेषोऽस्ति इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

दिशश्च देशाश्च अनर्थदण्डाश्च दिग्देशानर्थदण्डाः तेभ्यो विरतिः दिग्देशानर्थदण्डविरतिः। विरतिशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेनायं विग्रहः—दिग्विरतिव्रतं च देशविरतिव्रतं च अनर्थदण्डविरतिव्रतं च सामायिकव्रतं च प्रोषधोपवासव्रतं च उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं च

---

१ तदुक्तम् आ०, ब०, ज०। २ –कायावर्जनात् स्व– आ०, ब०, ज०।

अतिथिसंविभागव्रतञ्च तानि दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतानि, तैः सम्पन्नः संयुक्तो यो गृही भवति स विरताविरतोऽगारीति कथ्यते। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन वक्ष्यमाणसल्लेखनादियुक्तः अगारीति कथ्यते। अस्यायमर्थः—पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तराश्चतस्रो दिशः, अग्निकोणनैर्ऋत्यकोणवायुकोणेशानकोणलक्षणाश्चतस्रो विदिशः प्रतिदिशश्च कथ्यन्ते, ता अपि दिक्शब्देन लभ्यन्ते, तासु दिक्षु प्रदिक्षु च हिमाचलविन्ध्यपर्वतादिकम् अभिज्ञानपूर्वकं मर्यादां कृत्वा परतो नियमग्रहणं दिग्विरतिव्रतमुच्यते। तेन च दिग्विरतिव्रतेन बहिःस्थितस्थावरजङ्गमप्राणिनां सर्वथाविराधनाभावाद् गृहस्थस्यापि महाव्रतत्वमायाति। तस्माद्बहिःक्षेत्रे मुक्त दिग्बाह्यप्रदेशे धनादिलाभे सत्यपि मनोव्यापारनिषेधात् लोभनिषेधश्चागारिणो भवति।

गन्तव्यायामपि दिशि नियतदेशाद् ग्रामनदीक्षेत्रयोजनवनगृहकटकादिलक्षणात् परतो विरमणं देशविरतिव्रतमुच्यते। इदं हि व्रतं दिग्विरतिव्रतमध्ये अन्तर्व्रतमुत्पन्नम्। विशेषेण तु सपापस्थाने व्रतभङ्गसंद्भावस्थाने[1] खुरासानमूलस्थानमक्खस्थानहिरमजस्थानादिगमनवर्जनं देशविरतिव्रतमुच्यते। तेनापि व्रतेन त्रसस्थावरहिंसानिवर्तनाद् गृहस्थस्यापि महाव्रतत्वं लोभनिवृत्तिश्चोपचर्यते।

अनर्थदण्डः पञ्चप्रकारः—अपध्यानपापोपदेशप्रमादचरितहिंसाप्रदानदुःश्रुतिभेदात्। तत्रापध्यानलक्षणं कथ्यते—परप्राणिनां जयपराजयहननबन्धनप्रतीकविध्वंसनस्वापतेयाऽपहरणताडनादिकं द्वेषात् परकलत्राद्युद्दालनं रागात् कथं भवेदिति मनःपरिणाम[2]प्रवर्तनम् अपध्यानमुच्यते। द्वितीयोऽनर्थदण्डः पापोपदेशनामा। स चतुःप्रकारः—तथाहि अस्मात्पूर्वादिदेशाद् दासीदासान् अल्पमूल्यसुलभानादाय अन्यस्मिन् गुर्जरादिदेशे तद्विक्रयो यदि क्रियते तदा महान् धनलाभो भवेदिति क्लेशवणिज्या कथ्यते ॥१॥ अस्माद्देशात् सुरभिमहिषीबलीवर्दक्रमेलकगन्धर्वादीन् यदि अन्यत्र देशे विक्रीणीते तदा महान् लाभो भवतीति तिर्यग्वणिज्यानामको द्वितीयः पापोपदेशो भवति ॥ २ ॥ शाकुनिकाः पक्षिमारकाः, वागुरिकाः मृगवराहादिमारकाः, धीवराः मत्स्यमारकाः, इत्यादीनां पापोपकर्मोपजीविनाम् ईदृशीं वार्तां कथयति—अस्मिन् प्रदेशे वनजलाद्युपलक्षिते मृगवराहतित्तिरमत्स्यादयो बहवः सन्तीति कथनं बधकोपदेशनामा तृतीयः पापोपदेशः कथ्यते ॥३॥ पामरादीनामग्रे एवं कथयति भूरेवं कृष्यते उदकमेवं निष्कास्यते वनदाह एवं क्रियते क्षुपादय एवं चिकित्स्यन्ते इत्याद्यारम्भः अनेनोपायेन क्रियते इत्यादिकथनम् आरम्भोपदेशनामा चतुर्थः पापोपदेशो भवति ॥४॥

अथ प्रमादचरितनामा तृतीयोऽनर्थदण्डः कथ्यते–प्रयोजनं विना भूमिकुट्टनं जलसेचनम् अग्नित्तसन्धुक्षणं व्यजनादिवातक्षेपणं[3] वृक्षवल्लीदलमूलकुसुमादिछेदनम् इत्याद्यवद्यकर्मनिर्माणं प्रमादचरितमुच्यते। अथ हिंसाप्रदाननामा चतुर्थोऽनर्थदण्डो निरूप्यते—परप्राणिघातहेतूनां शुनकमार्जारसर्पश्येनादीनां विषकुठारखड्गखनित्रज्वलनरज्ज्वादिबन्धनशृङ्खला-

---

१ –सद्भावे स्थानेषुरा– आ०, ब०, ज०। २ मनःपर्ययपरिणा– आ०, ब०, ज०। ३–तनिक्षे– आ०, ब०, ज०।

दीनां हिंसोपकरणानां यो विक्रयः क्रियते व्यवहारश्च क्रियते स्वयं वा सङ्ग्रहो विधीयते तत् हिंसाप्रदानमुच्यते । अथ हिंसाप्रवर्तकं शास्त्रम् अश्वमेधादि, रागप्रवर्तकं शास्त्रं कुक्कोकनामादि, द्वेषप्रवर्तकं शास्त्रं नानाप्रकारम्, मधुमांसादिप्रवर्तकं शास्त्रं स्मृत्यादि, तेषां शास्त्राणां कथनं श्रवणं शिक्षणं व्यापारश्च दुःश्रुतिरुच्यते । तथाऽनर्थकं पर्यटनं पर्यटनविषयोपसेवनम् अनर्थदण्ड उच्यते । तस्य सर्वस्यापि परिहरणम् अनर्थदण्डविरतिव्रतनामकं तृतीयं व्रतं भवति । एतानि त्रीणि व्रतानि पञ्चानामणुव्रतानां गुणस्य कारकत्वादनुवर्द्धनत्वाद् गुणव्रतानीति कथ्यन्ते ।

सामायिकम्–समशब्दः एकत्वे एकीभावे वर्तते, यथा सङ्गतं घृतं सङ्गतं तैलम् एकीभूतमित्यर्थः । अयनमयः, सम एकत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समयः, समय एव सामायिकम् स्वार्थे इकण् । अथवा समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकं प्रयोजनार्थे इकण् । कोऽर्थः ? देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनं सामायिकमित्यर्थः । एतावति देशे एतावति काले अहं सामायिके स्थास्यामीति या कृता प्रतिज्ञा वर्तते तावति काले सर्वसावद्ययोगविरतत्वाद् गृहस्थोऽपि महाव्रतीत्युपचर्य्यते । तर्हि स गृहस्थः तस्मिन् काले किं संयमी भवति ? नैवम्, संयमघातकर्मोदयसद्भावात् । उक्तञ्च—

"प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥ १ ॥" [रत्नक० ३।२५]

प्रत्याख्यानशब्देन संयमघातकतृतीयकषायचतुष्कं ज्ञातव्यम् । तर्हि तस्मिन् सामायिकपरिणते गृहस्थे महाव्रतत्वाभावः; तन्न; उपचारान्महाव्रतत्वाभावो न भवति, यथा राजत्वं विनापि सामान्योऽपि क्षत्रियः राजकुल इत्युच्यते यथा च बहुदेशे प्राप्तो देवदत्तः कचित्कचिदप्राप्तोऽपि सर्वगत इत्युच्यते, तथा च चैत्राभिधानोऽयं पुमान् चित्राद्यसद्भावेऽपि चैत्र इत्युच्यते तथा सामायिकव्रतपरिणतोऽगारी परिपूर्णसंयमं विनापि महाव्रतीत्युपचर्यते ।

अष्टमी चतुर्दशी च पर्वद्वयं प्रोषध इत्युपचर्यते । प्रोषधे उपवासः—स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दलक्षणेषु पञ्चसु विषयेषु परिहृतौत्सुक्यानि पञ्चापि इन्द्रियाणि उपेत्य आगत्य तस्मिन्[1] उपवासे वसन्ति इत्युपवासः । अशनपानखाद्यलेह्यलक्षणचतुर्विधाहारपरिहार इत्यर्थः । सर्वसावद्यारम्भस्वशरीरसंस्कारकरणस्नानगन्धमाल्याभरणनस्यादिविवर्जितः[3] पवित्रप्रदेशे मुनिवासे चैत्यालये स्वकीयप्रोषधोपवासमन्दिरे वा धर्मकथां कथयन् शृण्वन् चिन्तयन् वा अवहितान्तकरण एकाग्रमनाः सन् उपवासं कुर्यात् । स श्रावकः प्रोषधोपवासव्रती भवति ।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतं कथ्यते—अशनपानगन्धमाल्यताम्बूलादिक उपभोगः कथ्यते । आच्छादनप्रावरणभूषणशय्यासनगृहयानवाहनवनितादिकः परिभोग उच्यते । उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोगपरिभोगौ तयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम् । भोगोपभोगपरिमाणमिति च कचित्पाठो वर्तते । तत्र अशनादिकं यत्सकृद्भुज्यते स भोगः, वस्त्रवनि-

१ –न् काले उप– आ०, ब०, ज० । २ –रणादिवि– आ०, ब०, ज० । ३ पवित्रदेशे आ०, ब०, ज० ।

तादिकं यत् पुनः पुनर्भुज्यते स उपभोगः । उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रते नियतकालसम्बन्धेऽपि मद्यं मांसं मधु च सदैव परिहरणीयं त्रसघातनिवृत्तचित्तेन पुंसा। केतकिनिम्बकुसुमार्द्रक-मूलकसर्वपुष्पानन्तकायिकछिद्रशाकनालीनलादिकं बहुजन्तुयोनिस्थानं तदपि यावज्जीवं परिहर्तव्यं बहुघाताल्पफलत्वात्। तथा चोक्तम्—

"अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि ।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥" [रत्नक० ३।३९]

अथोपभोगविचारः—यानवाहनभूषणवसनादिकमेतावन्मात्रमेव ममेष्टमन्यदनिष्टमिति ज्ञात्वा अनिष्टपरिहारः कालमर्यादया यावज्जीवं वा कर्तव्यः ।

संयममविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः सोऽतिथिः । अथवा न विद्यते तिथिः प्रतिपद्द्वितीयातृतीयादिका यस्य सः अतिथिः अनियतकालभिक्षागमन इत्यर्थः । अतिथये समीचीनो विभागः निजभोजनाद् विशिष्टभोजनप्रदानमतिथिसंविभागः । स चतुर्विधो भवति–भिक्षादानम् उपकरणवितरणमौषधविश्राणनमावासप्रदानमिति । यो मोक्षार्थे उद्यतः संयमतत्परः शुद्धश्च भवति तस्मै निर्मलेन चेतसा अनवद्या भिक्षा दातव्या, धर्मोपकरणानि च पिच्छपुस्तकपट्टकमण्डल्या[२](ल्वा)दीनि रत्नत्रयवर्द्धकानि प्रदेयानि, औषधमपि योग्यमेव देयम्, आवासश्च परमधर्मश्रद्धया प्रदातव्यः । अत्र च जिनस्नपनपूजादिकं वक्तव्यम्। एतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि भवन्ति । मातृपित्रादिवचनवदपत्यानामणुव्रतानां शिक्षाप्रदायकानि अविनाशकारकाणीत्यर्थः ।

अथ चशब्देन गृहीतम् अपरमपि श्रावकव्रतं प्रतिपादयन् सूत्रमिदमाचष्टे—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

निजपरिणामेन [२]पूर्वभवादुपार्जितमायुः इन्द्रियाणि च बलानि च तेषां कारणवशेन योऽसौ विनाशः संक्षयः तन्मरणमुच्यते । "मृङ् प्राणत्यागे" [ ] इति वचनात्। मरणमेवान्तः[३]सद्भवावसानं मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनं यस्याः सल्लेखनायाः सा मारणान्तिकी तां मारणान्तिकीम्। सत्शब्दः सम्यगर्थवाचकः । तेनायमर्थः–सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं सल्लेखना । कायस्य सल्लेखना बाह्यसल्लेखना । कषायाणां सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना । क्रमेण कायकरणहापना कषायाणां च हापना सल्लेखनेत्युच्यते । तां सल्लेखनां जोषिता प्रीत्या सेविता पुमान् अगारी गृही भवति । पूर्वोक्तचकारात् मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता यतिश्च भवति । ननु 'प्रीत्या सेविता' इति किमर्थमुच्यते ? अर्थविशेषोपपादनार्थम्। कोऽसौ अर्थविशेषः ? यः पुमान् सल्लेखनां प्रीत्या सेवते प्रकटं भजते, यस्तु प्रीतावसत्यां भजते स व्रतेषु अनादरः कथ्यते तेन बलात्कारेण सल्लेखना न कार्यते, सन्न्यासस्य प्रीतौ सत्यां स्वयमेव सल्लेखनां करोति । तेन सूरिणा जुषी धातुः प्रयुक्तः । ननु स्वयमेव क्रियमाणायां सल्लेखनायाम् अभिसन्धिपूर्वकं प्राणविसर्जनादात्म-

१ –मण्डलादी– आ०, ब०, ज० । १ पूर्वभये दुपा– ता० । २ तद्भावावसानं आ०, ब०, प० ।

वधदोषो भविष्यति हिंसासद्भावात्; तत्र "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" [त० सू० ७।१३] इति जिनसूत्रे प्रोक्तम्, यस्तु मनःपूर्विकां सल्लेखनां करोति स अप्रमत्तस्तस्य प्रमादयोगो नास्ति। कस्मात्? रागद्वेषमोहाद्यभावात्। यस्तु पुमान् रागद्वेषमोहादिभिरविसृष्ट[1]ः म्लष्टः सन् विषेण शस्त्रेण गलपाशकेन दहनप्रवेशेन कूपादौ निमज्जनेन भृगुपातेन रसनाखण्डादिना प्रयोगेण आत्मानमाहते स स्वघातपातकी भवत्येव। तथा च श्रुतिः—

"असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ १ ॥" [ईशावा० ३]

तेन सल्लेखनां प्रतिपन्नस्य पुंसः आत्मघातपातको नास्ति। तथा चोक्तम्[2]—

"रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति देसियं समये।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥ १ ॥" [ ]

रागादीनामनुत्पादादहिंसकत्वमिति देशितं समये। तेषां चेदुत्पत्तिः हिंसेति जिनैरुद्दिष्टा॥

अत्र खलु मरणमनिष्टं वर्तते वणिग्गृहविनाशवत्। यथा वणिजः नानाप्रकारपण्यानां भाण्डानां दाने आदाने सञ्चये च तत्परस्य पण्यभृतगृहविनाशोऽनिष्टो भवति पण्यभृतगृहस्य कुतश्चित् कारणात् विनाशे समायाते सति स वणिक् शक्त्यनुसारेण पण्यभृतं गृहं परित्यजति। परिहर्तुमशक्ये च पण्यगृहे यथा पण्यविनाशो न स्यात्तथा यत्नं विधत्ते। एवमगार्यपि व्रतशीललक्षणपण्यसञ्चये प्रवर्तमानः व्रतशीलाश्रयस्य कायस्य पतनं नाकाङ्क्षति। कायपतनकारणे चागते सति निजगुणानामविरोधेन निजकायं शनैःशनैःपरिहरति। तथा परिहर्तुमशक्ये च निजकाये कदलीघातवत् युगपदुपस्थिते च निजकायविनाशे सति निजगुणानां विनाशो यथा न भवति तथा कायविनाशे प्रयत्नं विधत्ते कथमात्मघातपातकी भवति? तथा चोक्तम्—

"अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥" [रत्नक० ५।२]

अथ निःशल्यः खलु व्रती, शल्यानि तु मायामिथ्यानिदानलक्षणानि तेन मिथ्यादर्शनं शल्यमुच्यते; तेन कारणेन सम्यग्दृष्टिर्व्रती भवति 'तत्सम्यग्दर्शनं सदोषं निर्दोषं वा भवति' इति प्रश्ने कस्यचित् सदोषं सम्यग्दर्शनं भवतीति प्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमाचक्षते विचक्षणाः—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः
सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥ २३॥

शङ्कनं शङ्का, काङ्क्षणं काङ्क्षा, विचिकित्सनं विचिकित्सा, प्रशंसनं प्रशंसा, संस्तवनं संस्तवः। प्रशंसा च संस्तवश्च प्रशंसासंस्तवौ, अन्यदृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां प्रशंसासंस्तवौ

१–विसृष्टः ता०। २–उद्धृतेयम्–स० सि० ७।२२।

अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ । शङ्का च काङ्क्षा च विचिकित्सा च अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ च शङ्का-काङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः । एते पञ्चातिचाराः पञ्च दोषाः सम्यग्दृष्टेः जीवस्य भवन्ति । तत्र शङ्का—यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवति इति शङ्का । अथवा, भयप्रकृतिः शङ्का । इहपरलोकभोगकाङ्क्षणं काङ्क्षा । रत्नत्रयमण्डितशरीराणां जुगुप्सनं स्नानाद्यभावदोषोद्भावनं विचिकित्सा । मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, विद्यमानानामविद्यमानानां मिथ्यादृष्टिगुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते । ननु सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं प्रोक्तम्, अतिचारा अपि तस्याष्टौ भवन्ति कथमाचार्येण पञ्चतिचाराः प्रोक्ताः ? सत्यमुक्तं भवता; शीलव्रतेषु पञ्च पञ्चातिचारान् वक्तुमिच्छुराचार्यः । [अतः] अष्टस्वतिचारेषु सत्स्वपि सम्यग्दृष्टेः पञ्चातिचाराः प्रोक्ताः, इतरेषां त्रयाणामतिचाराणाम् अन्तर्भावितत्वात् अष्टातिचारा वेदितव्याः । कथमिति चेत् ? उच्यते—यः पुमान् मिथ्यादृष्टीनां मनसा प्रशंसां करोति स तावन्मूढदृष्टिश्चतुर्थातिचारवान् भवत्येव । यस्तथाविधो मूढदृष्टिः स [1]प्रमादाशकनकारणोद्भवं रत्नत्रयमण्डितानां दोषं नोपगूहति तेषां स्थितीकरणञ्च न करोति वात्सल्यं तु दूरे तिष्ठतु शासनप्रभावनां च कथं कुरुते तेन अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवयोर्मध्ये [2]अनुपबृंहणादयो दोषा अन्तर्गर्भिता भवन्तीति वेदितव्यम् । ते निःशङ्कितादीनामष्टानां गुणानां प्रतिपक्षभूता अष्ट दोषा ज्ञातव्याः ।

अथ यथा पञ्चातिचाराः सम्यग्दृष्टेर्भवन्ति तथा [किं] व्रतशीलेष्वपि भवन्तीति प्रश्ने ओमित्युक्त्वा व्रतशीलातिचारसङ्ख्यानिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुराचार्याः—ओमिति कोऽर्थः ? ओमित्यङ्गीकारे ।

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि तेषु व्रतशीलेषु । पञ्चसु अणुव्रतेषु दिग्विरतिव्रतादिषु सप्तसु शीलेषु पञ्च पञ्चातिचाराः, द्वादशसु व्रतेषु यथाक्रममनुक्रमेण भवन्तीति संग्रहसूत्रमिदम् । ननु व्रतग्रहणेनैव द्वादशव्रतानि सिद्धानि शीलग्रहणमनर्थकम्; इत्याह—युक्तमुक्तं भवता; व्रतग्रहणेन द्वादशव्रतसिद्धौ यच्छीलग्रहणं तद्विशेषज्ञापनार्थम् । शीलं हि नाम व्रतपरिरक्षणम् । तेन दिग्विरतिव्रतादिभिः सप्तभिः व्रतैः पञ्चानामणुव्रतानां परिरक्षणं भवतीति शीलग्रहणे नास्ति दोषः । एते द्वादशव्रतानां प्रत्येकं पञ्च पञ्चातिचाराः मिलित्वा अगारिणः षष्टिरतिचारा भवन्ति अगार्यधिकारात् ।

तत्र तावदहिंसाव्रतस्य पञ्चातिचारानाह—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

निजेष्टदेशगमनप्रतिबन्धकारणं बन्धनं बन्धः । यष्टितर्जनकवेत्रदण्डादिभिः प्राणिनां ताडनं हननं वधः,न तु अत्र प्राणव्यपरोपणं वध उच्यते तस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । [3]शब्दग्रहनासिकाङ्गुलिवराङ्गचक्षुरादीनामवयवानां विनाशनं छेद उच्यते । न्याय्याद्भारादधिक-

१ अशकनम् असामर्थ्यम् । २ अनुपगूहनादयो आ०, ब०, ज० । ३ कर्णम् ।

भारवाहनं राजदानादिलोभात् अतिभारारोपणम् । गोमहिषीबलीवर्दवाजिगजमहिषमानवशकुन्तादीनां क्षुत्तृष्णादिपीडोत्पादनम् अन्नपाननिरोधः । बन्धश्च वधश्च छेदश्च अतिभारारोपणञ्च अन्नपाननिरोधश्च बन्धवधछेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः । एते पञ्चातिचारा अहिंसाणुव्रतस्य भवन्ति ।

अथेदानीं सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा उच्यन्ते—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।२६।

इन्द्रपदं तीर्थकरगर्भावतारजन्माभिषेकसाम्राज्यचक्रवर्तिपदनिःक्रमणकल्याणमहामण्डलेश्वरादिराज्यादिकं सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमहमिन्द्रं पदं सर्वं सांसारिकं विशिष्टमविशिष्टं सुखमभ्युदयमित्युच्यते । केवलज्ञानकल्याणं निर्वाणकल्याणमनन्तचतुष्टयं परमनिर्वाणपदं च निःश्रेयसमुच्यते । [1]तयोरभ्युदयनिःश्रेयसयोर्निमित्तं या क्रिया सत्यरूपा वर्तते तस्याः क्रियायाः मुग्धलोकस्य अन्यथाकथनमन्यथाप्रवर्तनं धनादिनिमित्तं परवञ्चनञ्च मिथ्योपदेश उच्यते । स्त्रीपुंसाभ्यां रहसि एकान्ते यः क्रियाविशेषोऽनुष्ठित कृत उक्तो वा स क्रियाविशेषो गुप्तवृत्त्या गृहीत्वा अन्येषां प्रकाश्यते तद् रहोऽभ्याख्यानमुच्यते । केनचित्पुरुषेण अकथितम् अनुक्तं यत् किञ्चित् कार्यं द्वेषवशात् परपीडनार्थम् एवमनेनोक्तमेवमनेन कृतम् इति परवञ्चनार्थं यल्लिख्यते राजादौ दर्श्यते सा कूटलेखक्रिया, पैशुन्यमित्यर्थः । केनचित् पुरुषेण निजमन्दिरे हिरण्यादिकं द्रव्यं न्यासीकृतं निक्षिप्तमित्यर्थः, तस्य द्रव्यस्य ग्रहणकाले सङ्ख्या विस्मृता विस्मरणप्रत्ययादल्पं द्रव्यं गृह्णाति, न्यासवान् पुमान् अज्ञावचनं ददाति–देवदत्त, यावन्मात्रं द्रव्यं ते वर्तते तावन्मात्रं त्वं गृहाण किमत्र प्रष्टव्यमिति, जानन्नपि परिपूर्णं तस्य न ददाति न्यासापहार उच्यते । कार्यकरणमङ्गविकारं भ्रूक्षेपादिकं परेषां दृष्ट्वा पराकूतं पराभिप्रायमुपलभ्य ज्ञात्वा असूयादिकारणेन तस्य पराकूतस्य पराभिप्रायस्य अन्येषामग्रे आविष्करणं प्रकटनं यत् क्रियते स साकारमन्त्रभेद इत्युच्यते । मिथ्योपदेशश्च रहोभ्याख्यानञ्च कूटलेखक्रिया च न्यासापहारश्च साकारमन्त्रभेदश्च मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियासाकारमन्त्रभेदाः । एते पञ्चातिचाराः सत्याणुव्रतस्य भवन्ति ।

अथाचौर्याणुव्रतस्य पञ्चातिचारा उच्यन्ते—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

कश्चित्पुमान् चौरीं करोति, अन्यस्तु कश्चित्तं चोरयन्तं स्वयं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, अन्येन वा केनचित्पुंसा तं चोरयन्तं प्रेरयति मनसा वाचा कायेन, स्वयमन्येन वा प्रेर्यमाणं चौरीं कुर्वन्तम् अनुमन्यते मनसा वाचा कायेन, एवंविधाः सर्वेऽपि प्रकाराः स्तेनप्रयोगशब्देन लभ्यन्ते । चौरेण चोराभ्यां चौरैर्वा यद्वस्तु चोरयित्वा आनीतं तद्वस्तु[2] मूल्यादिना गृह्णाति तत्

---

१ तपोऽभ्यु– आ०, ब०, ज० । २ तद्वस्तु यत् मू– आ०, ब०, ज० ।

नदाहृतादानम्। बहुमूल्यानि वस्तूनि अल्पमूल्येन नैव गृहीतव्यानि, अल्पमूल्यानि वस्तूनि बहुमूल्येन नैव दातव्यानि। राज्ञ [1]आज्ञाधिकरणं यदविरुद्धं कर्म तद् राज्यमुच्यते। उचित-मूल्यादनुचितंदानम् अनुचितं ग्रहणञ्च अतिक्रम उच्यते। विरुद्धराज्ये अतिक्रमः विरुद्ध-राज्यातिक्रमः। यस्मात्कारणात् राज्ञा घोषणा अन्यथा दापिता दानमादानं च अन्यथा करोति स विरुद्धराज्यातिक्रमः। अथवा, राजघोषणां विनापि यद्वणिजो व्यवहरन्ति तं व्यवहारं यदि राजा तथैव मन्यते तदा तु विरुद्धराज्यातिक्रमो न भवति। प्रस्थः चतुःसेरमानम्, तत्काष्ठादिना घटितं मानमुच्यते, उन्मानं तु तुलामानम्, मानं चोन्मानञ्च मानोन्मानम्, एताभ्यां न्यूनाभ्यां ददाति अधिकाभ्यां गृह्णाति हीनाधिकमानोन्मानमुच्यते। ताम्रेण घटिता रूप्येण च सुवर्णेन च घटिता ताम्ररूप्याभ्यां च घटिता ये [3]द्रम्माः तत् हिरण्यमुच्यते, तत्सदृशाः केनचित् लोक-वञ्चनार्थं घटिता [3]द्रम्माः प्रतिरूपका उच्यन्ते, तैर्व्यवहारः क्रयविक्रयः प्रतिरूपकव्यवहारः कथ्यते। स्तेनप्रयोगश्च तदाहृतादानं च-तेनानीतग्रहणम्-विरुद्धराज्यातिक्रमश्च हीनाधिक-मानोन्मानञ्च प्रतिरूपकव्यवहारश्च स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमा-नोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः। एते पञ्चातिचारा अचौर्याणुव्रतस्य भवन्ति।

अथेदानीं ब्रह्मचर्यस्य पञ्चातिचारानाह—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

कन्यादानं विवाह उच्यते, परस्य स्वपुत्रादिकादन्यस्य विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं परविवाहकरणम्। एति गच्छति परपुरुषानित्येवं शीला इत्वरी, कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका। एकपुरुषभर्तृका या स्त्री भवति सधवा विधवा वा सा परिगृहीता सम्बद्धा कथ्यते। या [4]वाराङ्गनात्वेन पुंश्चलीभावेन वा परपुरुषानुभवनशीला निःस्वामिका सा अपरि-गृहीता असम्बद्धा कथ्यते। परिगृहीता च अपरिगृहीता च परिगृहीताऽपरिगृहीते, इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीते, इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतयोर्गमने प्रवृत्ती द्वे इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमने। गमने इति कोऽर्थः? जघनस्तनवदनादि-निरीक्षणं[5] सम्भाषणं पाणिभ्रूचक्षुरन्तादिसञ्ज्ञाविधानमित्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते। अङ्गं स्मरमन्दिरं स्मरलता च ताभ्यामन्यत्र करकक्षकुचादि-प्रदेशेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा कथ्यते। न[6] अङ्गाभ्यां क्रीडा अनङ्गक्रीडेति विग्रहात्। कामस्य कन्दर्पस्य तीव्रः प्रवृद्धः अभिनिवेशः अनुपरतप्रवृत्तिपरिणामः कामतीव्राभिनिवेशः, यस्मिन् काले स्त्रियां प्रवृत्तिरुक्ता तस्मिन्नपि काले कामतीव्राभिनिवेश इत्यर्थः। दीक्षिताऽतिबालातिर्य-ग्योन्यादिगमनमपि कामतीव्राभिनिवेश इत्यर्थः। परविवाहकरणञ्च इत्वरिकापरिगृहीताऽ-

१ राज्ञा आज्ञादिक– आ०, ब०, ज०। २ –चितादा– आ०, ब०, ज०। ३ द्रम्माः आ०, ब०, ज०। ४ वराङ्गनात्वेन आ०, ब०, ज०। ५ –क्षणसंभाषणपा– ता०। ६ अनङ्गा– आ०, ब०,ज०।

परिगृहीतागमने च द्वे अनङ्गक्रीडा च कामतीव्राभिनिवेशश्च परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः। स्वदारसन्तोष-परदारनिवृत्त्यणुव्रतस्य एते पञ्चातिचाराः भवन्ति।

अथेदानीं परिग्रहपरिमाणाणुव्रतस्यातिचारान् वदन्ति —

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

क्षेत्रं धान्योत्पत्तिस्थानम्। वास्तु च गृहम्। हिरण्यञ्च रूप्यादिद्रम्म[1]व्यवहारप्रवर्तनम्। सुवर्णं कनकम्। धनञ्च गोमहिषीगजवाजिवडवोष्ट्राजादिकम्। धान्यञ्च व्रीह्याद्यष्टादशभेदसुशस्यम्, तदुक्तम्—

"गोधूमशालियवसर्षपमाषमुद्गाः श्यामाककङ्गुतिलकोद्रवराजमाषाः।
कीनाशनालमठवैणवमाढकी च सिंवाकुलत्थचणकादिषु बीजधान्यम् ॥१॥"
[ ]

कीनाशो लाङ्गस्त्रिपुट इति यावत्। नालं मकुष्टः। [2]मठवैणवं ज्वारी। आढकी तुवरी।

"तुवर्यश्चणका माषा मुद्गा गोधूमशालयः।
यवाश्च मिश्रिताः सप्त धान्यमाहुर्मनीषिणः॥" [ ]

तिलशालियवास्त्रिधान्यम्। दासी च चेटी, दासश्च चेटः। कुप्यं च क्षौमकौशेयकर्पासचन्दनादिकम्। तत्र क्षौमं शुभ्रपटोलकम्। कौशेयं टसरिचीरम्। क्षेत्रञ्च वास्तु च क्षेत्रवास्तु, हिरण्यञ्च सुवर्णञ्च हिरण्यसुवर्णम्, धनञ्च धान्यञ्च धनधान्यम्, दासी च दासश्च दासीदासम्, क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यञ्च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि, चत्वारि द्वे द्वे मिलित्वा पञ्चमं केवलं ज्ञातव्यम्, तेषां प्रमाणानि तेषामतिक्रमा अतिरेका अतीव लोभवशात् प्रमाणातिलङ्घनानि। एते पञ्चातिचाराः परिग्रहपरिमाणव्रतस्य वेदितव्याः। पञ्चाणुव्रतानां व्यतिलङ्घनानि कथितानि।

अथेदानीं शीलसप्तकव्यतिक्रमा उच्यन्ते[3]। तथाहि—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

व्यतिक्रमो [4]विशेषेणातिलङ्घनं व्यतिपात इति यावत्। व्यतिक्रमशब्दः तिर्यगन्तेषु त्रिषु शब्देषु प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेनायमर्थः—ऊर्ध्वव्यतिक्रमः अधोव्यतिक्रमः तिर्यग्व्यतिक्रमः। शैलाद्यारोहणमूर्ध्वव्यतिक्रमः। अवटाद्यवतरणमधोव्यतिक्रमः। सुरङ्गादिप्रवेशस्तिर्यग्व्यतिक्रमः। व्यासङ्गमोहप्रमादादिवशेन लोभावेशाद् योजनादिपरिच्छिन्नदिक्सङ्ख्यायाः अधिकाकाङ्क्षणं क्षेत्रवृद्धिरुच्यते। यथा "मन्याखेटावस्थितेन केनचित् श्रावकेण[6] क्षेत्रपरिमाणं कृतं यद् 'धारापुरीलङ्घनं मया न कर्त्तव्यम्' इति, पश्चाद् उज्जयिन्याम् अन्येन

१ –द्रम्म– ता०। २ मठः वै– ता०। ३ –न्ते ऊ– आ०, ब०, ज०। ४ –मांऽति– ता०। ५ –मान्याक्षेत्राव– आ०, ब०, ज०। ६ –केन परि– आ०, ब०, ज०।

भाण्डेन महान् लाभो भवतीति तत्र गमनाकाङ्क्षा [1]गमनं वा क्षेत्रवृद्धिः । दक्षिणापथागतस्य[2] धारायां [3]उज्जयिनी पञ्चविंशतिगव्यूतिभिः किञ्चिन्न्यूनाधिकाभिः परतो वर्तते । स्मृतेरन्तरं विच्छित्तिः स्मृत्यन्तरं तस्य आधानं विधानं स्मृत्यन्तराधानम् अननुस्मरणं योजनादिकृतावधेर्विस्मरणमित्यर्थः । ऊर्ध्वञ्च अधश्च तिर्यक्च ऊर्ध्वाधस्तिर्यञ्चस्तेषां व्यतिक्रमास्त्रयोऽतिचाराः, क्षेत्रवृद्धिश्च स्मृत्यन्तराधानञ्च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि । एते पञ्चातिचाराः दिग्विरतेर्भवन्ति ।

अथ देशविरत्यतिचारान् प्रथयति—

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

आत्मसङ्कल्पितदेशस्थितोऽपि प्रतिषिद्धदेशस्थितानि वस्तूनि कार्यवशात् तद्वस्तुस्वामिनं कथयित्वा निजदेशमध्ये आनाय्य क्रयविक्रयादिकं यत्करोति तदानयनमुच्यते । एवं विधेहीति नियोगः प्रेष्यप्रयोगः । कोऽर्थः ? प्रतिषिद्धदेशे प्रेष्यप्रयोगेणैव अभिप्रेतव्यापारसाधनम् । निषिद्धदेशस्थितान् कर्मकरादीन् पुरुषान् प्रत्युद्दिश्य अभ्युत्कासिकादिकरणम्, कण्ठमध्ये कुत्सितशब्दः कासनं कासः अभ्युत्कासिका कथ्यते, तं शब्दं श्रुत्वा ते कर्मकरादयो व्यापारं शीघ्रं साधयन्ति इति शब्दानुपातः । स्वशरीरदर्शनं रूपानुपातः । पुद्गलस्य लोष्टादेः क्षेपो निपातः पुद्गलक्षेपः । आनयनञ्च प्रेष्यप्रयोगश्च शब्दरूपानुपातौ च पुद्गलक्षेपश्च आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । एते पञ्चातिचाराः देशविरतेर्भवन्ति ।

अथानर्थदण्डविरतेरतिचारानाह—

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

रागाधिक्यात् वर्कर्संवलिताऽशिष्टवचनप्रयोगः कन्दर्प उच्यते । प्रहासवागशिष्टवाक्प्रयोगौ पूर्वोक्तौ द्वावपि तृतीयेन दुष्टेन कायकर्मणा संयुक्तौ [4]कौत्कुच्यमुच्यते । धृष्टत्वप्रायो बहुप्रलापो यत्किञ्चिदनर्थकं वचनं यद्वा तद्वा तद्वचनं मौखर्यमुच्यते । असमीक्ष्य अविचार्य अधिकस्य करणम् [5]असमीक्ष्याधिकरणम् । तत्त्रिधा भवति—मनोगतं वाग्गतं कायगतञ्चेति । तत्र मनोगतं मिथ्यादृष्टीनामनर्थकं काव्यादिचिन्तनं मनोगतम् । निष्प्रयो[6]जनकथा परपीडावचनं यत्किञ्चिद्वक्तृत्वादिकं वाग्गतम् । निःप्रयोजनं सचित्ताचित्तदलफलपुष्पादिछेदनादिकम् अग्निविषक्षारादिप्रदानादिकं कायगतम् । एवं त्रिविधम् असमीक्षा-(क्ष्या) धिकरणम् । न विद्यते अर्थः प्रयोजनं ययोस्तौ अनर्थकौ, अनर्थकयोर्भावः कर्म वा आनर्थक्यम्, उपभोगपरिभोगयोरानर्थक्यम् उपभोगपरिभोगानर्थक्यम्, अधिकमूल्यं

१ गमनं च क्षे– आ०, ब०, ज० । २ –गतधारायाम् ता० । ३ ऊर्जयि– ता० । ४ कौत्कुच्य उ– आ०, ब०, द०, ज० । ५ –क्षाधि– आ०, ब०, द०, ज० । ६ –जनकथनं प– आ०, ब०, द०, ज० ।

दत्वा उपभोगपरिभोगग्रहणमित्यर्थः। कन्दर्पश्च कौत्कुच्यञ्च मौखर्यञ्च असमीक्ष्याधिकरणञ्च उपभोगपरिभोगानर्थक्यञ्च कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि। एते पञ्चातिचारा अनर्थदण्डविरमणस्य भवन्ति।

अथ सामायिकातिचारानाह—

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

कायवाङ्मनसां यत्कर्म स योग उच्यते, योगस्य दुष्टानि प्रणिधानानि प्रवृत्तयः योगदुःप्रणिधानानि, योगस्य अन्यथा प्रणिधानानि प्रवृत्तयः योगदुःप्रणिधानानि त्रयोऽतिचाराः। सामायिकावसरे क्रोधमानमायालोभसहिताः कायवाङ्मनसां प्रवृत्तयः दुष्टप्रवृत्तयः, शरीरावयवानामनिभृतत्वं कायस्यान्यथाप्रवृत्तिः संस्काररहितार्थागमकवर्णप्रयोगो वचोऽन्यथाप्रवृत्तिः, उदासीनत्वं मनोऽन्यथाप्रवृत्तिः। एवं द्विप्रकारमपि कायदुःप्रणिधानं वाग्दुःप्रणिधानं मनोदुःप्रणिधानञ्चेति त्रयोऽतिचारा भवन्ति। चतुर्थोऽतिचार अनादरः अनुत्साहः अनुद्यम इति यावत्। पञ्चमोऽतिचारः स्मृत्यनुपस्थानं स्मृतेरनुपस्थानं विस्मृतिः—न ज्ञायते किं मया पठितं किं वा न पठितम्, एकाग्रतारहितत्वमित्यर्थः। योगदुःप्रणिधानानि च अनादरश्च स्मृत्यनुपस्थानञ्च योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि। एते पञ्चातिचाराः सामायिकस्य वेदितव्याः।

अथ प्रोषधोपवासातिचारानाह—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणा-
नादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अत्र प्राणिनो विद्यन्ते न वा विद्यन्ते इति बुद्ध्या निजचक्षुषा पुनर्निरीक्षणं प्रत्यवेक्षितमुच्यते, कोमलोपकरणेन यत्प्रतिलेखनं क्रियते तत्प्रमार्जितमुच्यते, न विद्यते प्रत्यवेक्षितं येषु तानि अप्रत्यवेक्षितानि, न विद्यते प्रमार्जितं येषु तानि अप्रमार्जितानि, अप्रत्यवेक्षितानि च तानि अप्रमार्जितानि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितानि। अथवा, प्रत्यवेक्ष्यन्ते स्म प्रत्यवेक्षितानि, न प्रत्यवेक्षितानि अप्रत्यवेक्षितानि, प्रमार्ज्यन्ते स्म प्रमार्जितानि, न प्रमार्जितानि अप्रमार्जितानि, अप्रत्यवेक्षितानि च तानि अप्रमार्जितानि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितानि। मूत्रपुरीषादीनामुत्सर्जनं त्यजनम् उत्सर्गः। अर्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धपुष्पधूपादेरात्मपरिधानोपधानादिवस्तुनश्च ग्रहणमादानमुच्यते। संस्तरस्य प्रच्छदपटादेः[1] उपक्रमणमारोहणं संस्तरोपक्रमणं प्रस्तरणस्वीकरणमित्यर्थः। उत्सर्गश्च आदानञ्च संस्तरोपक्रमणञ्च उत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितानि च तानि उत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि। कोऽर्थः? अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गः, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य पूजाद्युपकरणस्य आदानम्, अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितस्य संस्तरस्य

---

१ प्रच्छपुटादेः द०, आ०, ब०, ज० ।

उपक्रमणम्। एते त्रयोऽतिचाराः। क्षुधातृषाद्यभ्यर्दितस्य पीडितस्य आवश्यकेष्वनुत्साहः अनादर उच्यते। स्मृतेरनुपस्थापनम् विस्मरणं स्मृत्यनुपस्थानम्। ततः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि च अनादरश्च स्मृत्यनुपस्थानञ्च अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि। एते पञ्चातिचाराः प्रोषधोपवासस्य भवन्ति।

अथ उपभोगपरिभोगातिचारानाह—

सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥ ३५ ॥

चेतनं चित्तम् चित्तेन सह वर्तते सचित्तः, तेन सचित्तेन उपसंसृष्ट उपश्लिष्टः शक्यभेदकरणः संसर्गमात्रसहितः स्वयं शुद्धोऽपि सचित्तसङ्घट्टमात्रेण दूषित आहारः सम्बन्धाहारः। सचित्तव्यतिकीर्णः सम्मिलितः सचित्तद्रव्यसूक्ष्मप्राण्यतिमिश्रः अशक्यभेदकरण आहारः सन्मिश्राहारः। सङ्ग-अतिसङ्गौ सम्बन्धसन्मिश्रयोर्भेदः। [1]कथमस्य शीलवतः सचित्तादिषु प्रवृत्तिरिति चेत्? उच्यते– मोहेन प्रमादेन वा बुभुक्षापिपासातुरः पुमान् अन्नपानलेपनाच्छादनादिषु सचित्तादिविशिष्टेषु द्रव्येषु वर्तते। रात्रिचतुःप्रहरैः क्लिन्न ओदनो द्रव उच्यते. इन्द्रियबलवर्द्धनो माषविकारादिर्वृष्यः कथ्यते– वृषवत्कामी भवति येनाहारेण स वृष्यः, द्रवो वृष्यश्च उभयोऽभिषवः कथ्यते, अभिषवस्याहारः अभिषवाहारः। असम्यक् पक्वो दुःपक्वः अस्विन्नः, अतिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दग्धपक्वः दुःपक्वः, तस्य आहारः दुःपक्वाहारः। वृष्यदुःपक्वयोः सेवने सति इन्द्रियमदवृद्धिः सचित्तोपयोगः वातादिप्रकोपोदरपीडादिप्रतीकारे अग्न्यादि*प्रज्वालने[2] महानसंयमः स्यादिति* तत्परिहार एव श्रेयान्। आहारशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेन सचित्ताहारश्च सम्बन्धाहारश्च सन्मिश्राहारश्च अभिषवाहारश्च दुःपक्वाहारश्च सचित्तसम्बन्धसन्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः। एते पञ्चातिचारा उपभोगपरिभोगपरिसङ्ख्यानस्य भोगोपभोगसङ्ख्यापरनाम्नः[3] शीलस्य भवन्ति।

अथातिथिसंविभागस्यातिचारानाह—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

चित्तेन सह वर्तते सचित्तम्, सचित्ते कदलीदलोलूकपर्णपद्मपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपः। सचित्तेन अपिधानम् आवरणं सचित्तापिधानम्। "अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः" [ ] इति परिभाषणात् सचित्तशब्दात् सप्तमीतृतीये *निक्षेपापिधानविग्रहे*[4]भवतः। अपरदातुर्देयस्यार्पणं मम कार्यं वर्तते त्वं देहीति परव्यपदेशः, परस्य व्यपदेशः कथनं परव्यपदेशः। अथवा परेऽत्र दातारो वर्तन्ते नाहमत्र दायको वर्ते इति व्यपदेशः परव्यपदेशः। अथवा परस्येदं [5]भक्त्याद्यासंदेयं न मया इदमीदृशं वा देयमिति परव्यपदेशः। ननु परव्यपदेशः

---

१ कथमवश्यं शी– आ०, ब०, द०, ज०। २ –नेन म– आ०, ब०, द०, ज०। ३ –ख्यानना– आ०, ब०, द०, ज०। ४ –हेण भ– आ०, ब०, द०, ज०। ५ –भक्त्याभासं ता०।

कथमतिचार इति चेत् ? उच्यते— धनादिलाभाकाङ्क्षया अतिथिवेलायामपि द्रव्याद्युपार्जनं परिहर्तुमशक्नुवन् परदातृहस्तेन योग्योऽपि सन् दानं दापयतीति महान् अतीचारः। तदुक्तम्—

"आत्मवित्तपरित्यागात् परैर्धर्मविधापने।
अवश्यमेव प्राप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥ १ ॥
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः।
विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः[1] फलम् ॥ २ ॥" [यश० उ० पृ० ४०५]

यद्दानं [2]प्रददन्नपि आदरं न कुरुते, अपरदातृगुणान् न क्षमते वा तन्मात्सर्यमुच्यते। अकाले भोजनम् अनगाराऽयोग्यकाले दानं क्षुधितेऽनगारे विमर्दकरणञ्च कालातिक्रमः। सचित्तनिक्षेपश्च सचित्तापिधानञ्च परव्यपदेशश्च मात्सर्यञ्च कालातिक्रमश्च सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः। एते पञ्चातिचाराः अतिथिसंविभागशीलस्य भवन्ति।

अथ सल्लेखनातिचारानाह—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

जीवितञ्च मरणञ्च जीवितमरणं तस्य आशंसने आशंसे जीवितमरणाशंसे। जीवितस्य मरणस्य चाभिलाषौ द्वावतीचारौ। कथम् ? निश्चितमध्रुवं हेयं चेदं तदवस्थितावादरो जीविताशंसा। रुगादिभीतेर्जीवत्यासङ्क्लेशेन मरणे मनोरथो मरणाशंसा। चिरन्तनमित्रेण सह क्रीडनानुस्मरणं कथमनेन ममाभीष्टेन मित्रेण मया सह पांशुक्रीडनादिकं कृतम्, कथमनेन ममाभीष्टेन व्यसनसहायत्वमाचरितम्, कथमनेन ममाभीष्टेन मदुत्सवे सम्भ्रमो विहितः इत्याद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः। एवं मया शयनवसनवस्त्रादिकं भुक्तम्, एवं मया हंसतूलोपरि दुकूलाच्छादितायां शय्यायां वरवनितया आलिङ्गितेन सुखं शयितम्, [3]एवंपुरुषरतवनितया सह क्रीडितञ्चेत्यादीनि सुखानि मम सम्पन्नानीत्यनुभूतप्रीतिप्रकारस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः—पूर्वभुक्तसुखानुस्मरणमित्यर्थः। [4]भोगाकाङ्क्षणेन निश्चितं दीयते मनो यस्मिन् येन वा तन्निदानम् **"करणाधिकरणतोश्च युट्"** [ ] इति साधुः। जीवितमरणाशंसे च मित्रानुरागश्च सुखानुबन्धश्च निदानञ्च जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि। एते पञ्च व्यतिपाताः सल्लेखनाया भवन्ति।

अथाह कश्चित्—तीर्थकरत्वहेतुकर्मास्रवनिरूपणे शक्तितस्त्यागतपसीति त्यागशब्दवाच्यं दानमुक्तम्, शीलसप्तकनिरूपणे च अतिथिसंविभागशब्दवाच्यं पुनर्दानमुक्तम्, तस्य दानस्य लक्षणमस्माभिर्न ज्ञातमस्ति अतस्तल्लक्षणमुच्यतामिति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

---

१ –कृते फ– आ०, ब०, द०, ज०। २ प्रदददपि ता०। ३–पुरुषं रत– आ०, द०, ज०। पुरुषं तरवनि– द०। ४ भोगका– आ०, ब०, द०, ज०।

आत्मनः परस्य च उपकारः अनुग्रह उच्यते, सोऽर्थः प्रयोजनं यस्मिन् दानकर्मणि तत् अनुग्रहार्थम्। स्वोपकाराय [1]विशिष्टपुण्यसञ्चयलक्षणाय परोपकाराय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिवृद्धये स्वस्य धनस्य अतिसर्गोऽतिसर्जनं विश्राणनं प्रदानं दानमुच्यते। कथं सम्यग्दर्शनादिवृद्धिराहारादिना पात्रस्य भवतीति चेत्? सरसाहारेण यतेर्वपुषि शक्तिर्भवति, आरोग्यादिकञ्च स्यात्, तेन [2]तु ज्ञानाभ्यासोपवासतीर्थयात्राधर्मोपदेशादिकं सुखेन प्रवर्तते। तथा पुस्तकपस्त्यजायुसंयमशौचोपकरणादिदाने परोपकारः स्यात्। तच्च दानं योग्येन दात्रा स्वहस्तेन विज्ञानवता दातव्यम्। तदुक्तम्—

"धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः।
अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥१॥" [यश०उ० पृ० ४०५]

विज्ञानवतो लक्षणम्। तदुक्तम्—

"विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतञ्च यत्।
मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥ २ ॥
[3]उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं [4]विगर्हितम्।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥ ३ ॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्।
न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥ ४ ॥
दधिसर्पिः[:]पयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम्।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वञ्च निन्दितम् ॥ ५ ॥" [यश०उ० पृ० ४०४]

अथैवं दानलक्षणमुक्तम्, तद्दानं किमविशिष्टफलमेव भवति उतस्विदस्ति कश्चिद्विशेष इति प्रश्ने विशिष्टाविशिष्टफलनिरूपणार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

सुपात्रप्रतिग्रहणं समुन्नतासनस्थापनं तच्चरणप्रक्षालनं तत्पादपूजनं तन्नमस्कारकरणं निजमनःशुद्धिविधानं वचननैर्मल्यं कायशुद्धिर्भक्तपानशुद्धिश्चेति नवविधपुण्योपार्जनं विधिरुच्यते। तस्य विधेर्विशेष आदरोऽनादरश्च, आदरेण विशिष्टं पुण्यं भवति, अनादरेण अविशिष्टमिति। द्रव्यं [5]मकारत्रयरहितं तण्डुलगोधूमविकृतिघृतादिकं शुद्धं चर्मपात्रास्पृष्टम्, तस्य विशेषः—*गृहीतुस्तपःस्वाध्यायशुद्धपरिणामादिवृद्धिहेतुः विशिष्टपुण्यकारणम्, अन्यथा*

१ विशिष्टगुणस– आ०, ब०, ज०, द०। २ तेन ज्ञा– आ०, ब०, ज०, द०। ३ उत्सृष्टं आ०, ब०, ज०, द०। ४ –मनादिष्टं–आ०, ब०, ज०, द०। ५ मद्यमांसमधुत्रयरहितम्।

अन्यादृशकारणम् । दाता द्विजनृपवणिग्वर्णवर्णनीयः, तस्य विशेषः—पात्रेऽनसूया त्यागे विषादरहितः दित्सत्-ददत्-दत्तवत्प्रीतियोगः शुभपरिणामः दृष्टफलानपेक्षकः । तथा चोक्तम्—

"श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः ।
यत्रैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ।। १ ।।" [यश०उ० पृ० ४०४]

पात्रम्—उत्तममध्यमजघन्यभेदम् । तत्रोत्तमं पात्रं महाव्रतविराजितम् । मध्यमं पात्रं श्रावकव्रतपवित्रम् । जघन्यं पात्रं सम्यक्त्वेन निर्मलीकृतम् । त्रिविधमपि पात्रमुत्तममिति केचित् । तस्य विशेषः सम्यग्दर्शनादिशुद्धयशुद्धी । विधिश्च द्रव्यञ्च दाता च पात्रञ्च विधिद्रव्यदातृपात्राणि तेषां विशेषः विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषः तस्माद्विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् । तद्विशेषः तस्य दानस्य पुण्यफलविशेषस्तद्विशेषः । तथा चोक्तम्—

"क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ।।" [रत्नक० ४।२६]

इति सिद्धिः ।

[1]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ सप्तमः पादः समाप्तः ।

---

१ इति श्रुतसागरसूरिणा विरचितायां तत्त्वार्थटीकायां स– द० । इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य संच्छर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।।७।। आ०, ब० ।

अष्टमोऽध्यायः

अथेदानीम् आस्रवपदार्थसूचनानन्तरं बन्धपदार्थं सूचयन्ति सूरयः। स तु बन्धः निजहेतुपूर्वको भवति, अत एवादौ बन्धहेतून् पञ्चप्रकारान् प्रतिपादयन्ति—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

मिथ्यादर्शनं तावदुक्तमेव। कस्मिन् स्थाने उक्तम्? **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** [त० सू० १।२] इत्यस्मिन् सूत्रे सम्यग्दर्शनसूचनेन तत्त्वार्थानामश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनस्य प्रतिपक्षभूतं मिथ्यादर्शनं सूचितमेव ज्ञातव्यम्। तथा च **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः"** [त० सू० ६।५] इत्यस्मिन् सूत्रे पञ्चविंशतिक्रियानिरूपणावसरे मिथ्यादर्शनक्रियानिरूपणेन मिथ्यादर्शनं सूचितं भवति। **"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्"** [त० सू० ७।१] इत्यस्मिन् सूत्रे व्रतप्रतिपक्षभूता अविरतिरपि सूचिता भवति। पुण्यकर्मस्वनादरः प्रमाद उच्यते। आज्ञाव्यापादनक्रिया अनाकाङ्क्षाक्रिया एते द्वे क्रिये पञ्चविंशतिक्रियासु यदा सूचिते तदा प्रमादोऽपि सूचितो भवति तयोः [1]प्रमादेऽन्तर्भावात्। **"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः "पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः"** [त० सू० ६।५] अस्मिन्नेव सूत्रे कषाया अपि अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः प्रोक्ता भवन्ति। **"कायवाङ्मनःकर्मयोगः"** [त० सू० ६।१] इत्यस्मिन् सूत्रे योगोऽपि निरूपित एव वेदितव्यः। तत्र मिथ्यादर्शनं द्विप्रकारं भवति नैसर्गिकपरोपदेशपूर्वकभेदात्[1]। तत्र नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वकर्मोदयात् तत्त्वार्थानामश्रद्धानलक्षणं परोपदेशं[2] विनापि समाविर्भवति। अत्र मरीचिर्भरतपुत्रो दृष्टान्ततया वेदितव्यः। परोपदेशपूर्वकं मिथ्यादर्शनं चतुःप्रकारं ज्ञातव्यं क्रियावादि-अक्रियावादि-अज्ञानिक-वैनयिकभेदात्। एकान्त-विपरीत-संशय-विनय-अज्ञानभेदात् पञ्चविधञ्च मिथ्यादर्शनं भवति। तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोर्विषयेऽभिप्रायः पुमानेवेदं सर्वमिति नित्य एवानित्य एवेति वाऽभिनिवेश एकान्तमिथ्यादर्शनम्। १। सपरिग्रहो निष्परिग्रहः पुमान् वा स्त्री वा कवलाहारी केवली भवतीति विपरीतमिथ्यादर्शनं विपर्ययमिथ्यादर्शनापरनामकम्। तदुक्तम्—

[3]"सेयंवरो य आसंवरो य बुद्धो य तह य अण्णो य।
समभावभावियप्पा लहेइ मोक्खं ण संदेहो ॥"

---

१ –प्रमादान्तर्भावात्– आ०, ज०, द०। १ –पूर्वभेदात् आ०, ज०, द०। २ –देशनं विना–आ०, ज०, द०। ३ श्वेताम्बरश्च आशाम्बरश्च बुद्धश्च तथा चान्यश्च। समभावभावितात्मा लभते मोक्षं न सन्देहः ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं भवेन्नो वा भवेदित्यन्यतरपक्षस्यापरिग्रहः संशयमिथ्यादर्शनम् । ३ । सर्वे देवाः [1]सर्वसमयाश्च समानतया द्रष्टव्या वन्दनीया एव न च निन्दनीया इत्येवं सर्वविनयप्रकाशकं वैनयिकमिथ्यादर्शनम् । ४ । हितमहितं वा यत्र न परीक्ष्यते तदज्ञानिकमिथ्यादर्शनम् । ५ । तदुत्तरभेदसूचिकेयं गाथा—

"[2]असिदिसदं किरियाणं अकिरियाणं तह होदि चुलसीदी ।
असतट्ठिण्णाणीणं वेणयियाणं तु बत्तीसं ॥" [गो० क० ८७६]

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिका जीवाः पञ्चप्रकाराः स्थावरा उच्यन्ते । द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया जीवास्त्रसाः कथ्यन्ते । [3]पञ्चस्थावराणां त्रसषष्ठानां हननादिकं यत् क्रियते तत् षट्प्रकारः प्राण्यसंयमः । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणां पञ्चानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानामसंयमनमिन्द्रियासंयमः षट्प्रकारः । एवमविरतिर्द्वादशप्रकारा । पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु विनयकायवाङ्मनईर्यापथव्युत्सर्गभैक्ष्यशयनासनशुद्धिलक्षणास्वष्टसु शुद्धिषु दशलक्षणधर्मेषु चानुद्यमः प्रमादोऽनेकप्रकारः ।

"[4]विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य ।
चदु चदु पणमेगेगे होंति पमादा य पण्णरस" [गो० जी० गा० ३४]

इति गाथाकथितक्रमेण प्रमादः पञ्चदशप्रकारो वा[5] । षोडशकषाया नवनोकषायाश्चेति पञ्चविंशतिकषायाः । सत्यासत्योभयानुभयलक्षणो मनोयोगश्चतुःप्रकारः, सत्यासत्योभयानुभयवाग्लक्षणो वाग्योगोऽपि चतुःप्रकारः, औदारिक-औदारिकमिश्रवैक्रियिकवैक्रियिकमिश्र-आहारक-आहारकमिश्रकार्मणकाययोगलक्षणः काययोगः सप्तप्रकारः । आहारककाययोगद्वयस्य प्रमत्तसंयत एव सद्भावात् योगस्त्रयोदशप्रकारः[6] । मिथ्यादृष्टेः पञ्चाप्यास्रवा बन्धहेतवो भवन्ति । सासादनसम्यग्दृष्टेः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरसंयतसम्यग्दृष्टेश्चाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणाश्चत्वार आस्रवा बन्धहेतवो भवन्ति । संयतासंयतस्य आर्याश्रावकश्राविकालक्षणस्य विरतिमिश्रा ह्यविरतिरास्रवो भवति, प्रमादकषाययोगाश्च त्रय आस्रवा भवन्ति । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगलक्षणा आस्रवास्त्रयो भवन्ति । अप्रमत्तापूर्वकरणबादरसाम्परायसूक्ष्मसाम्परायाणां चतुर्णां कषायो योगश्चास्रवद्वयं भवति । उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेको योग एवास्रवः । अयोगकेवलिनस्तु आस्रवो नास्ति । अत्र समासशुद्धिर्विधीयते—मिथ्यादर्शनञ्चाविरतिश्च प्रमादश्च कषायाश्च योगाश्च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः । बन्धस्य हेतवो बन्धहेतवः । एते पञ्च पदार्थाः बन्धहेतवः कर्मबन्धकारणानि भवन्ति ।

---

१ सर्वसमयश्च ता० । २ अशीतिशतं क्रियाणामक्रियाणां तथा च भवन्ति चतुरशीतिः । सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां तु द्वात्रिंशत् ॥ ३ –पञ्चधास्था– ता० । ४ विकथास्तथा कषाया इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च । चतुःचतुःपञ्चैकैकं भवन्ति प्रमादाश्च पञ्चदश ॥ ५ 'वा' इति निरर्थकम् । ६ –प्रकारो वा मि– ता० ।

अथेदानीं बन्धस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥२॥

कषन्तीति कषायाः, दुर्गतिपातलक्षणहिंसनस्वभावाः कषाया इत्यर्थः। कषायैः सह वर्तते सकषायः राजदन्तादिवत्कृते समासे सहशब्दस्य पूर्वनिपातः। सकषायस्य भावः सकषायत्वं तस्मात् सकषायत्वात्। ननु **"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः"** [त० सू० ८।१] इत्यस्मिन् सूत्रे कषायाणां बन्धहेतुत्वं पूर्वमेवोक्तं पुनः सकषायत्वादिति हेतुकथनं किमर्थम्? सत्यम्, उदराग्न्याशयानुसाराहारस्वीकारवत् तीव्रमन्दमध्यमकषायानुसारस्थित्यनुभागविशेषपरिज्ञानार्थं पुनः कषायनिर्देशः। तेन तीव्रमन्दमध्यमकषायकारणवशात् स्थित्यनुभागबन्धोऽपि तीव्रमन्दमध्यमरूपो भवति। ननु बन्धो जीवस्यैव भवति किमर्थं पुनर्जीवग्रहणम्? सत्यम्; कश्चिदाह—आत्मा मूर्तिरहितत्वादकरः पाणिरहितः कथं कर्म गृह्णाति कथं बन्धवान् भवति इति चर्चितः सन्नुमास्वामिदेवः प्राणधारणायुःसम्बन्धसहितो जीवः कर्म गृह्णाति न त्वायुःसम्बन्धं विना कर्म आदत्ते इति सूचनार्थं जीवनाज्जीवस्तेन जीवशब्दस्य ग्रहणं चकार। आयुःसम्बन्धविरहे जीवस्यानाहारकत्वादेकद्वित्रिसमयपर्यन्तं कर्म (नोकर्म) नादत्ते जीवः **"एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः"** [त० सू० २।३०] इति वचनात्।

ननु कर्मयोग्यान् पुद्गलानादत्ते इति लघौ निर्देशे सिद्धे कर्मणो योग्यानिति भिन्नविभक्तिनिर्देशः किमर्थम्? युक्तमुक्तं भवता; पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यान्तरस्य परिज्ञापनार्थम्। [1]किं तद् वाक्यान्तरम्? कर्मणो हेतुभूताज्जीवः सकषायो भवति इत्येकं वाक्यम्, अकर्मकस्य जीवस्य कषायलेपाभावात्। एतेन वाक्येन जीवकर्मणोरनादिसम्बन्ध उक्तः। तेन मूर्तिरहितो जीवः मूर्तकर्मणा कथं बध्यते इति चर्चितमपि निराकृतम्। अन्यथा [2]सम्बन्धस्यादिमत्त्वे सति तत्पूर्वमत्यन्तशुद्धिं दधानस्य जीवस्य मुक्तवद्बन्धाभावः सञ्जायेत्। तेन कर्मबद्धो जीवो न कर्मरहितः। द्वितीयं तु वाक्यं कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते इति षष्ठीनिर्देशः। **"अर्थवशाद् विभक्तिपरिणामः"** [ ] इति परिभाषणात् कर्मण इति पञ्चम्यन्तं परिहृत्य षष्ठीं दत्त्वा व्याख्याति। तेन कर्मणो योग्यानिति कोऽर्थः? कर्मनिचयस्योचितान् पुद्गलानादत्ते इति सम्बन्धो भवति। पुद्गलानादत्ते इति पुद्गलशब्दः किमर्थम्? पुद्गलस्य कर्मणा सह तन्मयत्वसूचनार्थं कर्मणश्च पुद्गलेन सह तन्मयत्वसूचनार्थम्। तेन पुद्गलकर्म आत्मगुणो न भवति आत्मगुणस्य संसारकारणत्वाघटनात्। आदत्ते इति क्रियावचनं हेतुहेतुमद्भावसूचनार्थम्। मिथ्यादर्शनादिकं हेतुः तद्युक्त आत्मा हेतुमान्, तेन मिथ्यादर्शनादिभिरार्द्रीकृतस्य जीवस्य सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहा[3]नामनन्तानन्तप्रदेशानां कर्मभावयोग्यानां [4]पुद्गलानामविभाग आख्यायते जीवप्रदेशैः सहान्योन्यप्रदेशः कथ्यते न तु उपश्लेषो बन्ध इत्यर्थः। तदुक्तम्—

१ 'किम्' नास्ति ता०। २ बन्धस्य ता०। ३ –गाहस्थितानाम– आ०। ४–माविर्भाव आ– आ०, ज०, द०।

"[1]पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदादु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥" [द्रव्यसं० गा० ३३]

पुद्गलानां कर्मत्वेन परिणतिः केन दृष्टान्तेन भवति? यथा भाण्डविशेषे स्थापितानि नानारसवीर्याणि मधूदकधातुकीपुष्पाणि खर्जूरद्राक्षादिफलानि च मद्यत्वेन परिणमन्ति तथा पुद्गला अप्यात्मनि स्थिताः कषाययोगवशेन कर्मत्वेन परिणमन्तीति दृष्टान्तदार्ष्टान्तौ वेदितव्यौ।'[2]कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः' इत्यत्र सशब्दस्य ग्रहणं किमर्थम्? सशब्द अपरनिवृत्त्यर्थम्। स एव बन्धो भवति नापरो बन्धोऽस्तीति ज्ञापनार्थम्। तेन कारणेन गुणगुणिबन्धो न भवति। यस्मिन्नेव प्रदेशे जीवस्तिष्ठति तस्मिन्नेव प्रदेशे केवलज्ञानादिकं न भवति किन्तु अपरत्रापि प्रसरति। बन्धशब्दस्तु अत्र सूत्रे व्याख्येयो वर्तते। स तु बन्धः कर्मादिसाधनः, अनादिकर्मणा मिथ्यादर्शनादिभिश्च साध्यत इत्यर्थः। तेन सकषायत्वात् कषायसहितत्वाज्जीव आत्मा कर्मणो योग्यान् कर्मोचितान् पुद्गलान् सूक्ष्मपुद्गलानादत्ते गृह्णाति स एव बन्धः कथ्यत इति क्रियाकारकसम्बन्धः। अथेदानीं बन्धप्रकारनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

प्रक्रियते प्रभवति उत्पद्यते ज्ञानावरणादिकमस्या इति प्रकृतिः स्वभावः स्वरूपमिति यावत्। यथा पिचुमन्दस्य प्रकृतिः कटुकता भवति गुडस्य प्रकृतिर्मधुरता भवति तथा ज्ञानावरणस्य कर्मणः प्रकृतिः अर्थापरिज्ञानं भवति, दर्शनावरणस्य प्रकृतिरर्थानामनवलोकनं भवति, सद्वेद्यस्यासद्वेद्यस्य च द्विप्रकारस्यापि वेद्यस्य कर्मणः क्रमेण सुखसंवेदनमसुखसंवेदनञ्च प्रकृतिर्भवति, दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्तत्त्वार्थानामश्रद्धानकारित्वमरुचिविधायित्वं भवति, चारित्रमोहस्य प्रकृतिरसंयमहेतुर्भवति, आयुःकर्मप्रकृतिर्भवधारणकारणं भवति, नामकर्मप्रकृतिर्गतिजात्यादिनामविधायिनी भवति, गोत्रकर्मप्रकृतिरुच्चनीचगोत्रोत्पादिका भवति, अन्तरायकर्मप्रकृतिर्दानलाभादिप्रत्यूहहेतुर्भवति। अष्टकर्माष्टप्रकृतिभ्योऽप्रच्युतिः स्थितिरुच्यते यथा अजाक्षीरस्य निजमाधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिर्भवति गोक्षीरस्य निजमाधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिर्भवति महिषीक्षीरस्य निजमाधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः। एवं ज्ञानावरणादिकर्मणामर्थापरिज्ञानादिस्वरूपादप्रस्खलितः स्थितिरुच्यते। अर्थापरिज्ञानादिकार्यविधायित्वरूपेणाप्रच्युतेनैतावत्कालमेते बध्यन्ते बद्धास्तिष्ठन्ति इत्यर्थाः। स्थितौ सत्यां प्रकृतीनां तीव्रमन्दमध्यमरूपेण रसविशेषः अनुभवोऽनुभाग उच्यते। अजागोमहिष्यादिदुग्धानां तीव्रमन्दमध्यत्वेन रसविशेषवत् कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषः, [3]स्वकार्यकरणे समर्थाः परमाणवो बध्यन्त इत्यर्थः। कर्मत्वपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परिमाणपरिच्छेदनेन इयत्तावधारणं प्रदेश उच्यते। प्रकृतिश्च स्थितिश्च अनुभवश्च प्रदेशश्च प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाः तस्य बन्धस्य विधयः प्रकाराश्चत्वारो भेदास्तद्विधयः। उक्तञ्च—

---

१ प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्तु चतुर्विधो बन्धः। योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः॥ २–कर्मक– आ०, ज०, द०। ३–स्वेन ता०।

"प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशः प्रचयात्मकः ॥" [ ]

तत्र प्रकृतिबन्धः प्रदेशबन्धश्च कायवाङ्मनोयोगकृतौ भवतः स्थित्यनुभवौ तु कषायकारणौ वेदितव्यौ । योगकषायाणामुत्कृष्टानुत्कृष्टभेदात् बन्धस्यापि वैचित्र्यं वेदितव्यम् । तथा चाभ्यधायि—

"जोगा[1] पयडिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणदि ।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥१॥" [गो०क०गा० २५७]

अस्यायमर्थः—योगात् प्रकृतिप्रदेशसंज्ञिनौ बन्धौ जीवः कुणदि करोति। ट्ठिदिअणुभागं स्थितिश्च अनुभागश्च स्थित्यनुभागं समाहारो द्वन्द्वः, एतद्बन्धद्वयं कसायदो कषायतः जीवः कुणदि करोति । अपरिणदुच्छिण्णेसु य अपरिणतश्च उच्छिन्नश्च अपरिणतोच्छिन्नौ तयोरपरिणतोच्छिन्नयोः प्राकृते द्विवचनाभावाद् बहुवचनमत्र । अपरिणत उपशान्तकषायः, नित्यैकान्तवादरहितो वा, उच्छिन्नः क्षीणकषायादिकः एतयोर्द्वयोः बंधट्ठिदिकारणं णत्थि स्थितिबन्धहेतुर्न भवतीत्यर्थः ।

अथेदानीं प्रकृतिबन्धस्य प्रकारनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः । ४ ।

आदौ भवः आद्यः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् "करणाधिकरणयोश्च" [ ] युट्प्रत्ययः । जानातीति वा ज्ञानम् "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च" [ ] इति कर्तरि युट्, दृश्यते अनेनेति दर्शनं पश्यतीति वा दर्शनम् उभयथापि युट् पूर्ववत् । आव्रियतेऽनेनेति आवरणम् आवृणोतीति वा आवरणम् । अत्रापि युट् पूर्ववत् । वेदयते वेदनीयं "कृत्ययुटोऽन्यत्रापि च" [ ] कर्तरि अनीयः वेद्यते वा वेदनीयम्, "तव्यानीयौ" [ ] कर्मणि अनीयः । विद् वेदनाख्याननिवासनेषु चुरादावात्मनेपदी । विद् ज्ञाने चेद् हेताविन्प्रत्ययस्तु पूर्ववत् । विदॢ लाभे तुदादौ विभाषितः तत्र विन्दति विन्दते वा वेदनीयमित्यपि भवति, विद विचारणे रुधादावात्मनेपदी तत्र विन्ते वेदनीयमित्यपि स्यात्, विद् सत्तायां दिवादावात्मनेपदी तत्र विद्यते वेदनीयमित्यपि स्यात्, वेदयतीति वेदनीयमिति वाक्ये हेताविन "इनञ् यजादेरुभयम्" [ ] इत्यपेक्षायां[3] परस्मैपदम् । मोहयतीति मोहनीयं मुह्यते वाऽनेनेति मोहनीयम् । नरनारकादिर्भवान्तराणि एति गच्छत्यनेनेत्यायुः । अत्रायमायुःशब्दः सकारान्तो नपुंसके दर्शितः क्वचिदन्यत्र उकारान्तोऽपि दृश्यते यथा "वितरतु दीर्घमायु कुरुताद्

---

१ –योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतः करोति । अपरिणतोच्छिन्नयोश्च बन्धस्थितिकारणं नास्ति ॥ २ –स्य कारणानि– आ०, ज०, द० । ३ –पेक्षया ता० । ४–भवान्तरम् आ०, ज०, द० ।

गुरुतामवक्ताददर्दिशम्" नमयत्यात्मानमिति नाम नम्यते वात्माऽनेनेति नाम। गूयते[1]शब्द्यते उच्चो नीचश्चेत्यनेन गोत्रम्। दातृपात्रयोर्देयादेययोश्च अन्तरं मध्यम् एति गच्छतीत्यन्तरायः। ज्ञानञ्च दर्शनञ्च ज्ञानदर्शने ज्ञानदर्शनयोरावरणे ज्ञानदर्शनावरणे ज्ञानावरणं दर्शनावरणञ्चेत्यर्थः। ते च वेदनीयञ्च मोहनीयञ्च आयुश्च नाम च गोत्रञ्च अन्तरायश्च ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः। एते अष्टौ मिलित्वा आद्यः प्रकृतिबन्धो भवति। आत्मपरिणामेन केवलेन सङ्गृह्यमाणाः पुद्गलाः ज्ञानावरणादिबहुभेदान् प्राप्नुवन्ति एकवारभुक्तभोजनपरिणामरसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रवत् अनेकविकारसमर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसलालाभाववच्च। कर्मसामान्यादेकं कर्म। पुण्यपापभेदात् द्विधा कर्म। प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्धा कर्म। ज्ञानावरणादिभेदादष्टधा कर्म, इत्यादि संख्येयासंख्येयानन्तभेदञ्च कर्म भवति। [2]मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधः प्रोक्तः।

अथेदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धः कतिप्रकार इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्॥ ५॥

भेदशब्दः पञ्चादिभिः शब्दैः प्रत्येकं प्रयुज्यते। तेनायमर्थः—पञ्चभेदं ज्ञानावरणीयं नवभेदं दर्शनावरणीयं द्विभेदं वेदनीयम् अष्टाविंशतिभेदं मोहनीयं चतुर्भेदमायुः द्विचत्वारिंशद्भेदं नाम द्विभेदं गोत्रं पञ्चभेदोऽन्तरायः। पञ्चभेदञ्च नवभेदञ्च द्विभेदञ्च अष्टाविंशतिभेदञ्च चतुर्भेदञ्च द्विचत्वारिंशद्भेदञ्च द्विभेदञ्च पञ्चभेदश्च पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः। एते भेदाः अष्टप्रकारस्य प्रकृतिबन्धस्य यथाक्रममनुक्रमेण भवन्ति। ननु उत्तरप्रकृतिबन्ध एवंविकल्पो वर्तते इत्यस्मिन् सूत्रे सूचितं न वर्तते कस्मादुच्यते उत्तरप्रकृतिबन्धोऽयम्? साधूक्तं भवता, पूर्वसूत्रे "**आद्यो ज्ञानदर्शन**" इत्यादावाद्यशब्दो गृहीतो वर्तते। यद्ययं प्रकृतिबन्ध आद्यस्तर्हि पञ्चभेदादिभेद उत्तरप्रकृतिबन्धोऽयं भवति। उत्तरप्रकृतिबन्धस्य भेदाः किं सूत्रपर्यन्तं वक्ष्यन्ते? "**आदितस्तिसृणाम्**" इत्यादि बन्धत्रयस्य सूत्राणि यावन्नायान्ति तावदुत्तरप्रकृतिबन्धो वेदितव्यः पारिशेष्यात् स्थित्यनुभवप्रदेशबन्धेभ्य उद्धरितत्वात्।

अथ ज्ञानावरणं यत्पञ्चभेदमुक्तं तन्निरूपणार्थं योगोऽयमुच्यते—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्॥ ६॥

मतिश्च श्रुतञ्च अवधिश्च मनःपर्ययश्च केवलञ्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि तेषां मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्, एतेषामुक्तस्वरूपाणां पञ्चानां मत्यादीनां ज्ञानानामावरणानि पञ्च भवन्तीति ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः पञ्च भवन्तीति ज्ञातव्यम्। इह किञ्चिद्विचार्यते मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्चाभव्यप्राणिनि[3] वर्तते, न वा वर्तते? वर्तत इति

---

१ शब्द्यते आ०, ज०, द०। २ स्थूल– आ०, ज०, द०। ३ –प्राणिषु व– आ०, ज०, द०।

चेत्; तर्हि अभव्यः कथमुच्यते ? यदि न वर्तते; तर्हि मनःपर्ययज्ञानावरणं केवलज्ञानावरणञ्चेत्यावरणद्वयं तत्र वृथैवोच्यते ? युक्तमुक्तं भवता; आदेशवचनान्न तत्र दोषो वर्तते। किं तदादेशवचनम् ? द्रव्यार्थिकनयस्यादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिरस्त्येव, पर्यायार्थिकनयस्यादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिद्वयमभव्ये न वर्तते। एवञ्चेत्तर्हि भव्याभव्यविकल्पद्वयं न सङ्गच्छते तद्द्वयोरपि तच्छक्तिसम्भवात् ? सत्यम्; शक्तिसद्भावापेक्षया भव्याभव्यविकल्पौ न वर्तेते। किं तर्हि ? व्यक्तिसम्भवासम्भवापेक्षया भव्याभव्यौ स्तः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्यस्य जन्तोः व्यक्तिर्भविष्यति स भवति भव्यः। यस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्व्यक्तिर्न भविष्यति स अभव्य इत्युच्यते कनकपाषाणान्धपाषाणवत्। यथा कनकपाषाणस्य कनकं व्यक्तं भवति इतरपाषाणस्य तु शक्तिरूपेण विद्यमानमपि कनकं व्यक्तं न भवति।

अथ दर्शनावरणस्य का नवोत्तरप्रकृतयः इत्यनुयोगे सूत्रमुच्यते स्वामिना—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा-निद्रानिद्राप्रचला-प्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

चक्षुश्च लोचनद्वयम्। अचक्षुश्च अपरेन्द्रियाणि अवधिश्च अवधिदर्शनम्, केवलञ्च केवलदर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि तेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानाम्। एतेषां चतुर्णां दर्शनानामावरणानि चत्वारि भवन्ति चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणञ्चेति। तथा निद्रा च निद्रानिद्रा च प्रचला च प्रचलाप्रचला च स्त्यानगृद्धिश्च निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः एताः पञ्च निद्रा दर्शनावरणानि पञ्च भवन्ति समुदितानि तु नव स्युः। चकारश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च आवरणैः समुच्चीयते। तत्र तावन्निद्रालक्षणम्—[1]मदखेदक्लमविनाशार्थं स्वपनं निद्रा उच्यते। निद्रावान् पुमान् सुखेनैव [2]जागर्यते। निद्रायाः पुनःपुनः प्रवृत्तिर्निद्रा कथ्यते। निद्रानिद्रावान् पुमान् दुःखेन प्रतिबोध्यते। यत्कर्म आत्मानं प्रचलयति सा प्रचलेत्युच्यते। प्रचलावान् पुमान् उपविष्टोऽपि स्वपिति, शोकश्रममद[3]खेदादिभिः प्रचला उत्पद्यते सा नेत्रगात्रविक्रियाभिः सूच्यते। प्रचलैव पुनः पुनरागच्छन्ती प्रचलाप्रचला उच्यते। यस्यां बलविशेषप्रादुर्भावः [4]स्वप्ने भवति सा स्त्यानगृद्धिरुच्यते। धातूनामनेकार्थत्वात् स्त्यायतिर्धातुः स्वपनार्थ इह वेदितव्यः। गृद्धिरपि दीप्त्यर्थे ज्ञातव्यः। तेनायमर्थः—स्त्याने स्वप्ने गृद्ध्यति दीप्यते यो निद्राविशेषः सा स्त्यानगृद्धिरित्युच्यते। स्वप्नदीप्तिरिति यावत्। दीप्तिरपि किम् ? तेजःसंधुक्षणमित्यर्थः। यदुदयाज्जीवो बहुतरं दिवाकृत्यं रौद्रं कर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिरुच्यते। निद्रादीनां कारणानि आवरणरूपाणि कर्माणि वेदितव्यानि। उक्तञ्च—

---

१ –मदस्वेद– आ०, द०। २ –जागर्ति आ०, द०, ज०। ३ –मदस्वेदा– आ०, द०। ४ –स्वयमेव भ– आ०, द०, ज०।

"[1]थीणुदयेणुट्ठविदो सोवदि कम्मं करेदि जप्पदि य ।
णिद्दाणिद्दुदयेण य ण दिट्ठिमुग्घादिदुं सक्को ॥
पयलापयलुदयेण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं ।
णिद्दुदये गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेई ॥
पयलुदयेण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तोवि ।
ईसं ईसं जाणइ मुहुं मुहुं सोवदे मंदं ॥" [गो० क० गा० २३–२५]

अथ वेदनीयोत्तरप्रकृती आवेदयति—

सदसद्वेद्ये ॥८॥

सच्च असच्च सदसती ते च ते वेद्ये सदसद्वेद्ये। सद्वेद्यं प्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यमप्रशस्तं वेद्यम् । यदुदयाद् देवमनुष्यतिर्यग्गतिषु शारीरं मानसञ्च सुखं लभते तद्भवति सद्वेद्यम् । यदुदयान्नरकादिगतिषु शारीरमानसादिदुःखं नानाप्रकारं प्राप्नोति तदसद्वेद्यम् । एते तृतीयस्याः प्रकृतेर्द्वे उत्तरप्रकृती भवतः ।

अथ मोहनीयप्रकृतेरुत्तरप्रकृतीर्निरूपयति—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

मोहनीयशब्दः [2]प्रत्येकं प्रयुज्यते । तेनायमर्थः—दर्शनमोहनीयञ्च चारित्रमोहनीयञ्च । वेदनीयशब्दश्च प्रत्येकं प्रयुज्यते । तेनायमर्थः–अकषायवेदनीयञ्च कषायवेदनीयञ्च । दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयानि तानि आख्या नामानि यासां मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां ताः दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः । मोहनीयस्य कर्मणश्चतस्र उत्तरप्रकृतय एवं भवन्ति । कथम्भूतास्ताश्चतस्रोऽपि ? त्रिद्विनवषोडशभेदाः । भेदशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते । तेनायमर्थः–त्रिभेदाश्च द्विभेदे च नवभेदाश्च षोडशभेदाश्च यासां चतुर्णामुत्तरप्रकृतीनां तास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः । अस्य विशेषणस्यायमर्थः–दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं चारित्रमोहनीयं द्विभेदम् अकषायवेदनीयं नवभेदं कषायवेदनीयं षोडशभेदमिति यथासङ्ख्यं वेदितव्यम् ।

---

१ स्त्यानगृद्ध्युदयेन उत्थापिते स्वपिति कर्म करोति जल्पति च। निद्रानिद्रोदयेन च न दृष्टिमुद्घाटयितुं शक्यः ॥ प्रचलाप्रचलोदयेन च वहति लाला चलन्ति अङ्गानि । निद्रोदये गच्छन् तिष्ठति पुनः वसति पतति ॥ प्रचलोदयेन च जीव ईषदुन्मील्य स्वपिति सुप्तोऽपि । ईषदीषज्जानाति मुहुर्मुहुः स्वपिति मन्दम् ॥ २ प्रत्येकं प्रत्येकं प्र– आ०, ब०, द० ।

तत्र तावद् दर्शनमोहनीयं त्रिभेदं निरूपयति–सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि। सम्यक्त्वञ्च मिथ्यात्वञ्च तदुभयञ्च सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि तत्त्रिविधमपि दर्शनमोहनीयं बन्धं प्रति एकं भूत्वा सत्कर्मापेक्षया कर्मसत्तामात्रापेक्षया द्रव्यरूपेण त्रिविधं व्यवतिष्ठते। शुभपरिणामसंरुद्धनिजरसम्, कोऽर्थः ? शुभपरिणामनिराकृतफलदानसामर्थ्यं मिथ्यात्वमेवोदासीनत्वेन स्थितमात्मनः श्रद्धानं नैव निरुणद्धि मिथ्यात्वञ्च वेदयमानमात्मस्वरूपं लोकमध्ये आत्मानं सम्यग्दृष्टिं ख्यापयत् सम्यक्त्वाभिधेयं मिथ्यात्वमुच्यते। यदि सम्यक्त्वं नाम दर्शनमोहनीयमीदृशं वर्तते तर्हि मिथ्यात्वं नाम दर्शनमोहनीयं कीदृशमिति चेत् ? उच्यते; यदुदयात् सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्षमार्ग[1]पराङ्मुखः सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुकः[2] तत्त्वार्थश्रद्धानपराङ्मुखः अशुद्धतत्त्वपरिणामः सन् हिताहितविवेकविकलः जडादिरूपतयाऽवतिष्ठते तन्मिथ्यात्वं नाम दर्शनमोहनीयमुच्यते। तर्हि तदुभयं किं कथ्यते ? मिथ्यात्वमेव सामिशुद्धस्वरसम्, ईषन्निराकृतफलदानसामर्थ्यं सम्यग्मिथ्यात्वापरनामधेयं तदुभयमुच्यते। सामिशब्द ईषदर्थे वर्तते। अर्धार्थे इति केचित्। तेन सामिशुद्धस्वरसमिति कोऽर्थः ? ईषत्प्रक्षालितार्द्धप्रक्षालितकोद्रववत् क्षीणाक्षीणस्वरसमित्यर्थः।

अथ चारित्रमोहनीयस्य कौ द्वौ भेदौ ? अकषायकषायौ। अकषायश्च कषायश्च अकषायकषायौ। अकषाय इति कोऽर्थः ? ईषत्कषाय अकषायवेदनीयमित्यर्थः। तस्य नव भेदा भवन्ति। ते के नव भेदाः ? हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। हास्यश्च रतिश्चारतिश्च शोकश्च भयञ्च जुगुप्सा च स्त्रीवेदश्च पुंवेदश्च नपुंसकवेदश्च हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। तत्र हास्यं वर्करादिस्वरूपं यदुदयादाविर्भवति तद्धास्यम्। यदुदयाद्देशपुरग्राममन्दिरादिषु तिष्ठन् जीवः परदेशादिगमने[3] च औत्सुक्यं न करोति सा रतिरुच्यते। रतेर्विपरीता अरतिः। यदुदयाद् अनुशेते शोचनं करोति स शोक उच्यते। यदुदयात् त्रासलक्षण उद्वेग उत्पद्यते तद् भयमुच्यते। यदुदयात्परदोषानाविष्करोति आत्मदोषान् संवृणोति सा जुगुप्सा कथ्यते। यदुदयात्स्त्रीपरिणामानङ्गीकरोति स स्त्रीवेदः। यदुदयात् पुंस्त्वपरिणामान् प्राप्नोति स पुंवेदः। यदुदयान्नपुंसकभावान् प्रतिपद्यते स नपुंसकवेदः। उक्तञ्च त्रिवेदानां लक्षणम्—

"श्रोणिमार्दवभीतत्वमुग्धत्वक्लीबतास्तनाः।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने॥
[4]खरत्वं मोहनं स्ताब्ध्यं शौडीर्यं श्मश्रुधृष्टता।
स्त्रीकामेन समं सप्त लिङ्गानि नरवेदने॥

१ मोक्षसन्मार्ग– आ०, ज०, द०। २ –श्रद्धानप्रत्यनीकः आ०, द०, ज०। ३ –गमनेन औ– आ०, द०, ज०। ४ स्वरसंमोहनम् आ०, द०, ज०।

यानि स्त्रीपुंसलिङ्गानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
शक्तानि तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने ॥" [ ]

कषायवेदनीयं षोडशप्रकारं कस्मात् ? एकशः एकैकं प्रति अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पा यतः कारणात् । के ते क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः । तद्यथा— अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः सञ्ज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः । अनन्तानुबन्धिन इति कोऽर्थः ? अनन्तं मिथ्यादर्शनमुच्यते, अनन्तभवभ्रमणहेतुत्वात् । अनन्तं मिथ्यात्वम् अनुबध्नन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येवंशीला ये क्रोधमानमायालोभास्ते अनन्तानुबन्धिनः । अनन्तानुबन्धिषु कषायेषु सत्सु जीवः सम्यक्त्वं न प्रतिपद्यते तेन ते सम्यक्त्वघातकाः भवन्ति । येषामुदयात् स्तोकमपि देशव्रतं संयमासंयमनामकं जीवो धर्तुं न क्षमते ते अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभास्तेषु विध्वस्तेषु श्रावकव्रतम् अर्थिकाणां च व्रतं जीवः प्राप्नोति तेन ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तः अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभा उच्यन्ते । येषामुदयाज्जीवो महाव्रतं पालयितुं न शक्नोति ते प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभा उच्यन्ते । तेषु विध्वस्तेषु जीवः संयमं सर्वविरतिनामकं प्राप्नोति षष्ठादिगुणस्थानान्यर्हति । सञ्ज्वलना इति कोऽर्थः ? संशब्द एकीभावे वर्तते । तेनायमर्थः—संयमेन सह अवस्थानतया एकीभूततया ज्वलन्ति नोकषायवत् यथाख्यातचारित्रं विध्वंसयन्ति ये ते सञ्ज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । अथवा येषु सत्स्वपि संयमो ज्वलति दीप्तिं प्राप्नोति प्रतिबन्धं न लभते ते संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभा उच्यन्ते । एवमेते समुदिताः षोडशकषाया भवन्ति तेषां स्वभावप्रकटनार्थं दृष्टान्तगाथा एताः—

"[१]सिलपुढविभेदधूली जलराइसमाणवो हवे कोहो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥
सिलअट्ठिकट्ठवेत्ते णियभेएणणुहरंतवो माणो ।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥
वेणुयमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तएवखोरुप्पि ।
सरिसी मायाणारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जीवं ॥
किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो ।
णारयतिरियमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥" [गो० जी० गा० २८३-८६]

---

१ शिलापृथिवीभेदधूलिजलराशिसमानको भवेत् क्रोधः । नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ॥ शैलास्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः । नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ॥ वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण । सदृशी माया नारकतिर्यग्नरामरगतिषु क्षिपति जीवम् ॥ किमिरागचक्रतनुमलहरिद्रारागेण सदृशो लोभः । नारकतिर्यग्मानुषदेवेषूत्पादकः क्रमशः ॥

एता मोहनीयस्य कर्मणः उत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिर्भवन्ति ।

अथेदानीमायुःकर्मोत्तरप्रकृतीराह—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । १० ।

नरकेषु[1] भवं नारकं तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनं मानुषेषु मनुष्येषु वा भवं मानुषं देवेषु भवं दैवम् । नारकञ्च तैर्यग्योनञ्च मानुषञ्च दैवञ्च नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । यदुदयात् तीव्रशीतोष्णदुःखेषु नरकेषु जीवः दीर्घकालं जीवति तत् नारकमायुः । यन्निमित्तं तिर्यग्योनिषु जीवति जीवः तत् तैर्यग्योनम् । यत्प्रत्ययात् मनुष्येषु जीवति जीवः तत् मानुषमायुः । यद्धेतुकं देवेषु दीर्घकालं जीवति जीवस्तद्दैवमायुः । एवमायुःप्रकृतेश्चतस्र उत्तरप्रकृतयो भवति ।

अथेदानीं नामकर्मप्रकृतेरुत्तरप्रकृतीराह—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्श-रसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहा-योगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेय-यशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वञ्च ॥ ११ ॥

गतिश्च जातिश्च शरीरञ्च अङ्गोपाङ्गञ्च निर्माणञ्च बन्धनञ्च सङ्घातश्च संस्थानञ्च संहननञ्च स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च आनुपूर्व्यञ्च अगुरुलघु च उपघातश्च परघातश्च आतपश्च उद्योतश्च उच्छ्वासश्च विहायोगतिश्च ताः गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः । एता एकविंशतिप्रकृतयः । तथा प्रत्येकशरीरञ्च त्रसश्च सुभगश्च सुस्वरश्च शुभश्च सूक्ष्मश्च पर्याप्तिश्च स्थिरश्च आदेयश्च यशःकीर्तिश्च येषु दशसु नामसु तानि प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तीनि तानि च तानि सेतराणि इतरनामसहितानि तानि प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि विंशतिसङ्ख्यानि भवन्ति । कथम् ? प्रत्येकशरीरादितरत्साधारणशरीरं त्रसादितरः स्थावरः सुभगादितरः दुर्भगः । सुस्वरादितरः दुःस्वरः शुभादितरः अशुभः सूक्ष्मादितरो बादरः पर्याप्तेरितरा अपर्याप्तिः स्थिरादितरः अस्थिरः आदेयादितरः अनादेयः यशःकीर्तेरितरा अयशःकीर्तिः तीर्थकरस्य भावः कर्म वा तीर्थकरत्वं एताः समुदिताः द्विचत्वारिंशन्नामकर्मण उत्तरप्रकृतयो भवन्ति । अन्तर्भेदैस्तु मिलित्वा त्रिनवतिप्रकृतयो भवन्ति । तथैवोच्यते—यदुदयाज्जीवो भवान्तरं गच्छति सा गतिः शरीरनिष्पत्तिः सा चतुःप्रकारा भवति नरकगतिः तिर्यग्गतिः मनुष्यगतिः देवगतिश्चेति । यदुदयाज्जीवो नारकभावो[2] नारकशरीरनिष्पत्तिको भवति तन्नरकगतिनाम । यदुदयाज्जीवस्तिर्यग्भावस्तत्तिर्यग्गतिनाम । यदुदयाज्जीवो मनुष्यभावस्तन्मनुष्यगतिनाम । यदुदयाज्जीवो देवभाव-

१ नरके भवम् आ०, ब०, द०। २ नरकभावस्तन्न– आ०, द०, ज०।

स्तद्गतिनाम। नरकादिगतिषु अव्यभिचारिणा सदृशत्वेन एकीकृतोऽर्थात्मा[1] जातिरुच्यते। सा पञ्चप्रकारा—एकेन्द्रियजातिनाम द्वीन्द्रियजातिनाम त्रीन्द्रियजातिनाम चतुरिन्द्रियजातिनाम पञ्चेन्द्रियजातिनाम। यदुदयाज्जीव एकेन्द्रिय इत्युच्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। यदुदयादात्मा द्वीन्द्रिय इत्यभिधीयते तद्द्वीन्द्रियजातिनाम। यदुदयाज्जीवस्त्रीन्द्रिय[2] इति शब्द्यते तत्त्रीन्द्रियजातिनाम। यदुदयाज्जन्मी चतुरिन्द्रिय इत्यभिधीयते तच्चतुरिन्द्रियजातिनाम। यदुदयात्प्राणी पञ्चेन्द्रिय इति कथ्यते तत्पञ्चेन्द्रियजातिनाम। यदुदयाज्जीवस्य कायनिर्वृत्तिर्भवति तच्छरीरं पञ्चप्रकारम्—औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरभेदात्। यदुदयादङ्गोपाङ्गव्यक्तिर्भवति तदङ्गोपाङ्गं त्रिप्रकारम्—औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। आहारकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। तैजसकार्मणयोः शरीरयोरङ्गोपाङ्गानि न सन्ति तेन अङ्गोपाङ्गं त्रिप्रकारम्। किमङ्गं किमुपाङ्गमिति चेत्? उच्यते—

[3]"णलया बाहू य तहा णियंबपुट्ठो उरो य सीसं च।
अट्ठेव दु अंगाइं सेस उवंगाइं देहस्स॥" [कम्मप० ७४]

ललाटकर्णनासिकानेत्रोदराधरोष्ठाङ्गुलिनखादीनि [4]उपाङ्गान्युच्यन्ते। यदुदयात्परिनिष्पत्तिर्भवति—तन्निर्माणं द्विप्रकारं जातिनामकर्मोदयापेक्षं ज्ञातव्यम्। स्थाननिर्माण प्रमाणनिर्माणं चक्षुरादीनां स्थानं सङ्ख्यां च निर्मापयति। निर्मीयतेऽनेनेति निर्माणम्। [5]यथा नासिका नासिकास्थाने एकैक (व) भवति नेत्रे नेत्रयोः स्थाने द्वे एव भवतः कर्णौ कर्णयोः स्थाने द्वावेव भवतः। एवं[6] मेहनस्तनजघनादिषु ज्ञातव्यम्। शरीरनामकर्मोदयाद् गृहीतानां पुद्गलानां परस्परप्रदेशसंश्लेषणं बन्धनमुच्यते। तदपि पञ्चप्रकारम्—औदारिकशरीरबंधनं नाम। वैक्रियिकशरीरबन्धनं नाम। आहारकशरीरबन्धनं नाम। तैजसशरीरबन्धनं नाम। कार्मणशरीरबन्धनं नाम। यन्निमित्ताच्छरीराणां छिद्ररहितपरस्परप्रदेशप्रवेशादेकत्वभवनं भवति स सङ्घातः पञ्चप्रकारः—औदारिकशरीरसङ्घातनाम। वैक्रियकशरीरसङ्घातनाम। आहारकशरीरसङ्घातनाम। तैजसशरीरसङ्घातनाम। कार्मणशरीरसङ्घातनाम। यत्प्रत्ययात् शरीराकृतिनिष्पत्तिर्भवति तत्संस्थानं षट्प्रकारम्। ऊर्ध्वं मध्ये (ऊर्ध्वमध्ये) मध्ये च समशरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थाविधायकं समचतुरस्रसंस्थानं नाम। नाभेरूर्ध्वं प्रचुरशरीरसन्निवेशः अधस्तु अल्पशरीरसंन्निवेशो न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं नाम। तस्माद्विपरीतसंस्थानविधायकं [7]स्वातिसंस्थानं वल्मीकापरनामधेयम्। [8]पृष्ठप्रदेशे बहुपुद्गलप्रचयनिर्मापकं [9]कुब्जसंस्थानं नाम। विश्वाङ्गोपाङ्गाल्पत्वजनकं ह्रस्वत्वकारकं वामनसंस्थानं नाम। अवच्छिन्नावयवं [10]हुण्डसंस्थानं नाम। यदुदयात् अस्थ्नां बन्धनविशेषो भवति तत्संहननं षट्प्रकारम्। वज्राकारोभयास्थिसन्धिमध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं वज्रवृषभ-

१ अर्थो जीवपदार्थः —ता० टि०। २ जन्तुस्त्री—ता०। ३ नलकौ बाहू च तथा नितम्बपृष्ठे उरश्च शीर्षं च। अष्टैव तु अङ्गानि शेषाणि उपाङ्गानि देहस्य॥ ४ —नीत्युच्यन्ते आ०, द०, ज०। ५ तथा आ०, द०, ज०। ६ एवं स्तन— आ०, द०, ज०। ७ स्वातिकसं— आ०, द०; ज०। ८ पृष्ठदेशे आ०, द०, ज०। ९ कुब्जकसं— आ०, द०, ज०। १० हुंडकसं—द०।

नाराचसंहननं नाम । तद्वलयरहितं वज्रनाराचसंहननं नाम । वज्राकारेण वलयेन च रहितं सनाराचं नाराचसंहननं नाम । एकास्थिसनाराचमन्यत्रानाराचमर्धनाराचसंहननं नाम । उभयास्थिपर्यन्ते कीलकसहितं कीलिकासंहननं नाम । अन्तरनवाप्तान्योन्यास्थिसन्धिकं बाह्ये सिरास्नायुमांसवेष्टितमसंप्राप्तासृपाटिकासंहननं नाम । असंप्राप्तासृपाटिकासंहननः आदितश्चतुःस्वर्गयुगलान्तं गच्छति । कीलिकार्धनाराचसंहननः शेषचतुर्युगलपर्यन्तं गच्छति । नाराचसंहननो नवग्रैवेयकपर्यन्तं गच्छति । वज्रनाराचसंहननो नवानुदिशपर्यन्तं गच्छति । वज्रनाराचसंहननो नवानुदिशपर्यन्तं गच्छति । वज्रर्षभनाराचसंहननः पञ्चानुत्तरं मोक्षञ्च गच्छति । घर्मा वंशा मेघा अंजना अरिष्टा मघवी माघवी इति सप्तनरकनामानि । तत्र मेघायाः शिला इत्यपरं नाम । तत्र षट्संहननः सञ्ज्ञी जीवः मेघान्तं व्रजति । [1]सप्तमनरकं वज्रर्षभनाराचसंहननो गच्छति । षष्ठं [2]नरकमर्धनाराचपर्यन्तो गच्छति । कीलिकान्तसंहननः पञ्चमं चतुर्थञ्च नरकं गच्छति । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु असंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति । वज्रर्षभनाराचसंहननं त्वसंङ्ख्येयवर्षायुष्केषु भवति । चतुर्थकाले षट्संहननानि भवन्ति । पञ्चमकाले त्रीणि संहननानि भवन्ति । षष्ठकाले एकमसंप्राप्तासृपाटिकासंहननं भवति । विदेहेषु विद्याधरक्षेत्रेषु म्लेच्छखण्डेषु च मनुष्याणां तिरश्चाञ्च षट्संहननानि वेदितव्यानि । नागेन्द्रपर्वतात् परतस्तिरश्चां [3]च षट्संहननानि भवन्ति । कर्मभूमिजानां स्त्रीणामर्धनाराचकीलिकासंप्राप्तासृपाटिकासंहननत्रयं भवति, आदिसंहननत्रयं न भवतीति निश्चयः । आदिसप्तगुणस्थानेषु षट्संहननानि भवन्ति । अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायोपशान्तकषायलक्षणेषु च[4] चतुर्षु उपशमश्रेणिसम्बन्धिगुणस्थानेषु आदिसंहननत्रयं भवति । क्षपकश्रेणौ अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायक्षीणकषायसयोगकेवलिलक्षणेषु पञ्चगुणस्थानेषु आदिसंहननमेव भवति ।

[5]अथ स्पर्शादिप्रकृतिविचारः क्रियते–यत्पाकेन स्पर्श [6]उत्पद्यते स स्पर्शः अष्टप्रकारो भवति कर्कशनाम कोमलनाम गुरुनाम लघुनाम स्निग्धनाम रूक्षनाम शीतनाम उष्णनाम । यदुदयेन रसभेदो भवति स रसः पञ्चप्रकारः–तिक्तनाम कटुकनाम कषायनाम अम्लनाम मधुरनाम । यदुदयेन गन्धो भवति स गन्धो द्विप्रकारः–सुरभिगन्धनाम दुरभिगन्धनाम । यदुदयेन वर्णभेदो भवति स वर्णः पञ्चप्रकारः–कृष्णवर्णनाम नीलवर्णनाम रक्तवर्णनाम पीतवर्णनाम शुक्लवर्णनाम । यदुदयेन पूर्वशरीराकार (कारा) नाशो भवति तदानुपूर्व्यं चतुःप्रकारम्–नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम । यदुदयेन लोहपिण्डवत् गुरुत्वेनाधो न भ्रश्यति अर्कतूलवल्लघुत्वेन यत्र तत्र नोड्डीयते च तत् अगुरुलघुनाम । यदुदयेन स्वयमेव गले पाशं बद्ध्वा वृक्षादौ अवलम्ब्य उद्वेगान्मरणं करोति प्राणापाननिरोधं कृत्वा म्रियते इत्येवमादिभिरनेकप्रकारैः शस्त्रघातभृगुपाताग्निझम्पापातजलनिमज्जनविषभक्षणादिभिरात्मघातं करोति तदुपघातनाम । यदुदयेन परशस्त्रादिना

१ सप्तम न– द० । २ षष्ठं नरकपर्यन्तमर्द्ध नाराचसंहननो गच्छति द० । ३ च नास्ति द०,आ०, । ४ च नास्ति आ०,द० । ५ अद्य आ०,द० । ६ उत्पाद्यते आ०,द० ।

घातो भवति तत्परघातनाम। यदुदयेन आदित्यवदातापो भवति तदातपनाम। यदुदयेन चन्द्रज्योतिरिङ्गणादिवत् उद्योतो भवति तदुद्योतनाम। यदुदयेन उच्छ्वासो भवति तदुच्छ्वासनाम। यदुदयेन आकाशे गमनं भवति सा विहायोगतिः द्विप्रकारा—गजवृषभहंसमयूरादिवत् प्रशस्तविहायोगतिनाम्। खरोष्ट्रमार्जारकुक्कुरसर्पादिवत् अप्रशस्तविहायोगतिनाम। शरीरनामकर्मोदयेन निष्पाद्यमानं शरीरमेकजीवोपभोगकरणं यदुदयेन भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम। यदुदयेन बहूनां जीवानामुपभोगहेतुः शरीरं भवति तत्साधारणशरीरनाम। उक्तञ्च—

"[1]साहारणमाहारो साहारणआणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं॥" [पञ्चसं० १।८२]

"गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं॥
कंदे मूले बल्लीपवालसदुलयकुसुमफलबीए।
समभंगे तदणंता विसमे सदि होंति पत्तेया॥" [गो० जी० गा० १८६-८७]

यदुदयेन द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु जन्म भवति तत्त्रसनाम। यदुदयेन पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु[2] एकेन्द्रियेषूत्पद्यते तत्स्थावरनाम। यदुदयेन जीवः परप्रीतिजनको भवति दृष्टः श्रुतो वा तत्सुभगनाम। यदुदयेन रूपलावण्यगुणसहितोऽपि दृष्टः श्रुतो वा परेषामप्रीतिजनको भवति तद्दुर्भगनाम। यदुदयेन चित्तानुरञ्जकस्वर उत्पद्यते तत्सुस्वरनाम। यदुदयेन खरमार्जारकाकादिस्वरवत् कर्णशूलप्रायः स्वर उत्पद्यते तद्दुःस्वरनाम। यदुदयेन रमणीयो भवति तच्छुभनाम। यदुदयेन विरूपको भवति तदशुभनाम। यदुदयेन सूक्ष्मं शरीरं भवति तत्सूक्ष्मनाम। यदुदयेन परेषां बाधाकरं बाध्यञ्च शरीरं भवति तद्बादरनाम। यदुदयेन आहारकशरीरेन्द्रियानपानभाषामनोलक्षणाः षट्पर्याप्तयः उत्पद्यन्ते तत्पर्याप्तिनाम। यदुदयेन अपरिपूर्णोऽपि जीवो म्रियते तदपर्याप्तिनाम। स्थिरत्वकारकं[3] स्थिरनाम। अस्थिरभावकारकमस्थिरनाम। प्रभावयुक्तशरीरकारकमादेयनाम। प्रभारहितशरीरकारकमनादेयनाम। पुण्यगुणकीर्तनकारणं[4] यशःकीर्तिनाम। पापदोषप्रकटन[5]कारणमयशःकीर्तिनाम। आर्हन्त्यकारणं तीर्थकरत्वनाम। एवं द्वाचत्वारिंशत् पिण्डप्रकृतयः नामकर्मणो भवन्ति विस्तरतस्त्रिनवतिः। अत्र द्विविधमपि निर्माणनाम कर्म एका प्रकृतिरिति ज्ञातव्यमेवं त्रिनवतिर्भवन्ति।

१ साधारणमाहारः साधारणमानापानग्रहणञ्च। साधारणजीवानां साधारणलक्षणम् एतत्॥ गूढशिरःसन्धिपर्व समभङ्गमहीरुहं च छिन्नरुहम्। साधारणं शरीरं तद्विपरीतञ्च प्रत्येकम॥ कन्दे मूले त्वक्प्रवालशाखादलकुसुमफलबीजे। समभङ्गे तदनन्ताः विषमे सति भवन्ति प्रत्येकाः। २ –षु उत्प- आ०, द०, ज०। ३ –कारणं आ०, द०, ज०। ४ –कारकम् आ०, द०, ज०। ५ –नता कारक– आ०, द०, ज०।

अथ गोत्रस्योत्तरप्रकृती उच्येते—

उच्चैर्नीचैश्च ॥१२॥

यदुदयेन सर्वलोकपूजिते इक्ष्वाकुवंशे सूर्यवंशे सोमवंशे नाथवंशे कुरुवंशे हरिवंशे उग्रवंशे इत्यादिवंशे जीवस्य जन्म भवति तदुच्चैर्गोत्रमुच्यते। यदुदयेन निन्दिते दरिद्रे भ्रष्टे इत्यादिकुले जीवस्य जन्म भवति तन्नीचैर्गोत्रम्। चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते। तेनायमर्थः—न केवलमुच्चैर्गोत्रं नीचैश्च गोत्रम्। गोत्रप्रकृतेरुत्तरप्रकृती द्वे भवतः।

अथेदानीमन्तरायप्रकृतेरुत्तरप्रकृतय उच्यन्ते—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

दानस्यान्तराये दातुमिच्छुरपि दातुं न शक्नोति लाभस्यान्तराये लब्धुमना अपि न लभते भोगस्यान्तराये भोक्तुकामोऽपि न भुङ्क्ते उपभोगस्यान्तराये उपभोक्तुमिच्छन्नपि नोपभुङ्क्ते वीर्यस्यान्तराये उत्साहमुद्यमं चिकीर्षुरपि नोत्सहते। एते पञ्च भेदा अन्तरायप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिभेदाः भवन्ति। अत्र समासशुद्धिः। दानञ्च लाभश्च भोगश्चोपभोगश्च वीर्यञ्च दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि तेषां दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां पञ्चानां पञ्चान्तरायाः पञ्चोत्तरप्रकृतयो भवन्तीति क्रियाकारकसम्बन्धः। इति प्रकृतिबन्धस्वरूपं समाप्तम्।

अथ स्थितिबन्धस्वरूपमुच्यते—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

आदितः ज्ञानावरणमारभ्य वेदनीयं यावत् तिसृणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयलक्षणानां प्रकृतीनामन्तरायस्य चाष्टमस्य कर्मणः सागरोपमानां कोटीनां कोट्यः त्रिंशत् परा उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। सा स्थितिः कीदृशस्य जीवस्य भवति? मिथ्यादृष्टेः पञ्चेन्द्रियस्य सञ्ज्ञिनः पर्याप्तकस्य ज्ञातव्या। अन्येषामेकेन्द्रियादीनां परमागमात् सम्प्रत्ययो विधातव्यः सम्यक्प्रतीतिर्ज्ञेया। परमागमे एकेन्द्रियादीनां कीदृशी स्थितिः चतुर्णां कर्मणामिति चेत्? उच्यते; एकेन्द्रियपर्याप्तकस्य लग्नानामेकसागरोपमस्य सप्तभागीकृतस्य त्रयो भागा भवन्ति। द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमानां सप्तभागीकृतानां त्रयो भागा भवन्ति। त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमाणां सप्तभागीकृतानां त्रयो भागा भवन्ति। चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतस्य सप्तभागीकृतस्य त्रयो भागा भवन्ति। असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रस्य सप्तभागीकृतस्य त्रयो भागा भवन्ति। सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तकस्य [1]अन्तःत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः भवन्ति। अपर्याप्तैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तैकेन्द्रियादिदत्ता एव[2] भागा भवन्ति। परन्तु पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागोना वेदितव्याः इति परमागमात् सम्प्रत्ययः। उक्तञ्च—

१ अन्तःसा– आ०, द०, ज०। २ एकभागा ता०।

"एइंदियवियलिंदियसयलिंदियासण्णिअपज्जत्तयाणं बोधव्वा ।
एक्कं तहप्पणवीसं पंचासं तह सयं सहस्सं च ॥
"तिहयं सत्तविहत्त' सायरसंखा ठिदी एसा ।"[पञ्चसं० ४।१८६]

अथेदानीं मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिं प्राह—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

मिथ्यादृष्टेः पञ्चेन्द्रियस्य सञ्ज्ञिनः मोहनीयस्य कर्मणः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटयः परा उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । एषा स्थितिश्चारित्रमोहनीयापेक्षया भवति । दर्शनमोहनीयापेक्षया तु चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटयो वेदितव्याः । परेषां परमागमादवसेयम् । कोऽसौ परमागम इति चेद् ? उच्यते ; पर्याप्तैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामेकपञ्चविंशतिपञ्चाशत्शतसागरोपमाणि । तेषामपर्याप्तानामपि तान्येव, परन्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागोनानि । पर्याप्तासञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सागरोपमसहस्रं तस्यैवापर्याप्तस्य तदेव परन्तु पल्योपमासङ्ख्येयभागोनम् । तथा चोक्तम्—

"[2]एक्कं पणवीसंपि य पंचासं तह सयं सहस्सं च ।
ताणं सायरसंखा ठिदी एसा मोहणीयस्स ॥" [ ]

अयन्तु विशेषो मोहनीयस्येयं स्थितिः सप्तगुणा सप्तहता च कर्तव्या । कोऽर्थः? पूर्ववत् सागराणां सप्तभागान् कृत्वा त्रयो भागा न गृहीतव्याः किन्तु एकसागरः परिपूर्णः पञ्चविंशतिसागराः परिपूर्णाः पञ्चाशत्सागराः परिपूर्णाः शतसागराः परिपूर्णाः सहस्रसागराश्च परिपूर्णाः गृह्यन्ते इत्यर्थः ।

अथेदानीं नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिरुच्यते—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

नाम च गोत्रञ्च नामगोत्रे तयोर्नामगोत्रयोः नामगोत्रयोः प्रकृत्योर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः परा उत्कृष्टा स्थितिर्भवति । एषापि मिथ्यादृष्टेः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य सञ्ज्ञिनो वेदितव्याः । पर्याप्तैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेकं पञ्चविंशतिः पञ्चाशत् शतं सहस्रञ्चानुक्रमेण सागरोपमानि यानि पूर्वमुक्तानि तेषां सप्तसप्तभागीकृतानां द्वौ द्वौ भागौ गृह्येते । तथाहि—एकसागरोपमस्य सप्तभागाः क्रियन्ते तेषां मध्ये द्वौ भागौ एकेन्द्रियाणां नामगोत्रयोः परा स्थितिर्भवति । पञ्चविंशतिसागराणां सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये द्वौ भागौ गृह्येते । द्वीन्द्रियाणां नामगोत्रयोः परा स्थितिर्भवति । पञ्चाशत्सागरो-

१ एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसकलेन्द्रियासंज्ञ्यपर्याप्तकानां बोद्धव्या । एकं तथा पञ्चविंशतिः पञ्चाशत् तथा शतं सहस्रं च ॥ त्रिशतं सप्तविभक्तं सागरसंख्या स्थितिरेषा ॥ २ एकं पञ्चविंशतिश्च पञ्चाशत् तथा शतं सहस्रञ्च । तासां सागरसंख्या स्थितिरेषा मोहनीयस्य ॥

पमाणां सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये द्वौ भागौ गृह्येते त्रीन्द्रियाणां नामगोत्रयोः परा स्थितिर्भवति शतसागराणां सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये द्वौ भागौ गृह्येते। चतुरिन्द्रियाणां नामगोत्रयोः परा स्थितिर्भवति। सहस्रसागराणां सप्तभागाः क्रियन्ते तन्मध्ये द्वौ भागौ गृह्येते असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां नामगोत्रयोः परा स्थितिर्भवति। अपर्याप्तैकद्वित्रिचतुरसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां द्वौ द्वावेव भागौ परं पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागहीनौ वेदितव्यौ।

अथायुषः प्रकृतेरुत्कृष्टा स्थितिः [1]प्रतिपाद्यते—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशच्च तानि सागरोपमाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि आयुषः परा उत्कृष्टा स्थितिर्भवति। कोटीकोट्य इति न ग्राह्यं पुनः सागरोपमग्रहणात्। एषापि स्थितिः पञ्चेन्द्रियस्य सञ्ज्ञिनः पर्याप्तकस्य वेदितव्या। असञ्ज्ञिनः आयुषः स्थितिः पल्योपमासङ्ख्येयभागो भवति। कस्मात्? यतः असञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियः तिर्यङ् स्वर्गे नरके वा पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागमायुर्बध्नाति। एकेन्द्रियविकलेन्द्रियास्तु पूर्वकोटीप्रमाणमायुर्बद्ध्वा [2]पश्चाद्विदेहादावुत्पद्यन्ते।

अथेदानीमष्टानां प्रकृतीनां जघन्या स्थितिरुच्यते—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

वेदनीयस्य कर्मण अपरा जघन्या स्थितिर्द्वादशमुहूर्ता भवति। चतुर्विंशतिघटिकाप्रमाणा इत्यर्थः। एतां स्थितिं सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थाने बध्नातीति वेदितव्यम्। प्रकृतीनामनुक्रमोल्लङ्घनं सूत्राणां लघुत्वार्थं ज्ञातव्यम्।

अथ नामगोत्रयोः जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमुच्यते—

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

नाम च गोत्रञ्च नामगोत्रे तयोर्नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः षोडशघटिका जघन्या स्थितिर्भवति। इयमपि स्थितिर्दशमगुणस्थाने[3] वेदितव्या।

अथेदानीमुद्धरितपञ्चप्रकृतीनां जघन्यस्थितिकथनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥

शेषाणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायमोहनीयायुषां जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्ता अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवति। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां निकृष्टा स्थितिः सूक्ष्मसाम्पराये ज्ञातव्या। मोहनीयस्य अनिवृत्तिकरणगुणस्थाने बादरसाम्परायगुणस्थानाऽपरनाम्नि बोद्धव्या। आयुषां जघन्या स्थितिः सङ्ख्येयवर्षायुःषु तिर्यक्षु मनुष्येषु[4] चावसेया।

अथेदानीं तृतीयस्य बन्धस्य अनुभवनाम्नः स्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

---

१ प्रतिपद्यते आ०, ज०, द०। २ –देहे उत्प– आ०, ज०, द०। ३ –स्थाने च वेदि–आ०, ज०, द०। ४ चावसेया आ०, ज०, द०।

विपाकोऽनुभवः । २१

विशिष्टो विविधो वा पाक उदयः विपाकः, यो विपाकः स अनुभव इत्युच्यते अनुभागसञ्ज्ञकश्च[1] । तत्र विशिष्टः पाक आस्रवाध्यायप्रोक्ततीव्रमन्दमध्यमभावास्रवविशेषाद्वेदितव्यः । द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणकारणभेदोत्पादितनानात्वो विविधोऽनुभवो ज्ञातव्यः । अनुभव इति कोऽर्थः ? आत्मनि फलस्य दानं कर्मदत्तफलानामात्मना स्वीकरणमित्यर्थः । यदा शुभपरिणामानां प्रकर्षो भवति तदा शुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो भवति, अशुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवो भवति । यदा अशुभपरिणामानां प्रकर्षो भवति तदा अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो भवति, शुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवो भवति । सोऽनुभवोऽमुना प्रकारेण प्रत्ययवशात् परिणामकारणवशात् स्वीकृतो द्विप्रकारो भवति—स्वमुखपरमुखभेदात् । तत्र सर्वमूलप्रकृतीनामनुभवः स्वमुखेनैव भवति । कथम् ? मतिज्ञानावरणं मतिज्ञानावरणरूपेणैव भवति । उत्तरप्रकृतीनां सदृशजातीयानां परमुखेनापि भवति परन्तु आयुःकर्मदर्शनमोहचारित्रमोहान् वर्जयित्वा । कथम् ? यदा जीवो नरकायुर्भुङ्क्ते तदा तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुर्वा न भुङ्क्ते । तेन आयुःप्रकृतयः तुल्या अपि स्वमुखेनैव भुज्यन्ते न तु परमुखेन । तथा दर्शनमोहं भुञ्जानः पुमान् चारित्रमोहं न भुङ्क्ते । चारित्रमोहं भुञ्जानः पुमान् दर्शनमोहं न भुङ्क्ते । एवं तिसृणां प्रकृतीनां तुल्यजातीयानामपि परमुखेनानुभवो न भवति ।

[2]अत्राह कश्चित्—पूर्वोपार्जितानेकविधकर्मविपाकोऽनुभव इत्युच्यते तं जानीमो वयम्, एतत्तु न विद्मो वयम् । एतत् किम् ? अयमनुभवः किं प्रसङ्ख्यातोऽन्वर्थो वर्तते अप्रसङ्ख्यातोऽनन्वर्थो वा इति प्रश्ने आचार्यः प्राह—प्रसङ्ख्यातः प्रकृतीनां नामानुसारेणानुभवो भुज्यते इत्यर्थप्रकटनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

स यथानाम ॥ २२ ॥

स अनुभवः प्रकृतिफलं जीवस्य भवति । कथम् ? यथानाम प्रकृतिनामानुसारेण । तेन ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावो भवति सविकल्पस्यापि । एवं सर्वत्र सविकल्पस्य कर्मणः फलं सविकल्पं ज्ञातव्यम् । दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्तिप्रच्छादनता । वेदनीयस्य फलं सुखदुःखप्रदानम् । मोहनीयस्य फलं मोहोत्पादनम् । आयुषः फलं भवधारणलक्षणम् । नाम्नः फलं नानानामानुभवनम् । गोत्रस्य फलं नीचत्वोच्चत्वानुभवनम् । अन्तरायस्य फलं विघ्नानुभवनम् । एवमष्टानामपि कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानां रसानुभवनसम्प्रत्ययः सञ्जायते ।

अथाह कश्चित्—विपाकः खलु अनुभवः आक्षिप्यते अङ्गीक्रियते प्रतिज्ञायते भवद्भिः तच्च कर्म अनुभूतमास्वादितं सत् किमाभरणमिवावतिष्ठते अथवा निष्पीतसारमास्वादितसामर्थ्यं सत् गलति पतति प्रच्यवते इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

---

१ –संज्ञश्च आ०, ज०, द० । २ अथाह ता० ।

ततस्तस्माद्विपाकादनन्तरमात्मने पीडानुग्रहदानानन्तरं दुःखसुखदानानन्तरं निर्जरा भवति पूर्वस्थितेः[1] प्रक्षयात् अवस्थानाभावात्कर्मणो निवृत्तिर्भवति उपार्जितकर्मत्यागो भवति एकदेशेन क्षयो भवतीत्यर्थः । अथवा ततस्तस्मात्फलदानलक्षणात्कारणान्निर्जरा भवति । किंवत् ? भुक्तान्नपानादिविकारवत् । विण्मूत्रादिविकारवत् पततीत्यर्थः । सा निर्जरा द्विधा भवति—सविपाका अविपाका चेति । तत्र [2]चतुर्गतिभवमहासमुद्रे एकेन्द्रियादिजीवविशेषैः अवघूर्णिते नानाजातिभेदैः सम्भृते दीर्घकालं पर्यटतो जीवस्य शुभाशुभस्य क्रमपरिपाककालप्राप्तस्य कर्मोदयावलिप्रवाहानुप्रविष्टस्य आरब्धफलस्य कर्मणो या निवृत्तिः सा सविपाकनिर्जरा कथ्यते । यच्च कर्म विपाककालमप्राप्तमनुदीर्णमुदयमनागतम् उपक्रमक्रियाविशेषबलादुदीर्य उदयमानीय आस्वाद्यते सहकारफलकदलीफलकण्टकिफलादिपाकवत् बलाद्विपाच्य भुज्यते सा अविपाकनिर्जरा कथ्यते । चकारात् **"तपसा निर्जरा च"** [त० सू० ९।३] इति वक्ष्यमाणसूत्रार्थो गृह्यते । अयमत्र भावः—निर्जरा स्वतः परतश्च भवतीति सूत्रार्थो वेदितव्यः । संवरादनन्तरं वक्ष्यमाणाऽपि निर्जरा उद्देशलघ्वर्थमिह गृह्यते । अन्यथा **"विपाकोऽनुभवः"** [त० सू० ८।२१] इति सूत्रं पुनरप्यनुवदितुं योग्यं भवति ।

अथ प्रदेशबन्धस्वरूपं निरूप्यते—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

नामेत्युक्ते विश्वकर्मप्रकृतय उच्यन्ते । नाम्नः सर्वकर्मप्रकृतिसमूहस्य प्रत्ययाः हेतवः नामप्रत्ययाः ईदृग्विधाः । के ? अनन्तानन्तप्रदेशाः । अनन्ताः सन्तः अनन्तगुणाः अनन्तानन्ताः अनन्तानन्ताश्च ते प्रदेशा अष्टधा कर्मप्रकृतियोग्यपुद्गलस्कन्धाः अनन्तानन्तप्रदेशाः ते खलु अभव्येभ्योऽनन्तगुणाः । कोऽर्थः ? अभव्यास्तावदनन्ता वर्तन्ते तेभ्य अनन्तगुणा अनन्तानन्ता इत्युच्यन्ते । परन्तु सिद्धानामनन्तभागप्रमाणा वर्तन्ते । ईदृग्विधाः कर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धाः क्व वर्तन्ते ? सर्वात्मप्रदेशेषु । सर्वे च ते आत्मनः प्रदेशाः सर्वात्मप्रदेशास्तेषु सर्वात्मप्रदेशेषु । एकैकस्मिन्नात्मनः प्रदेशे अनन्तानन्ताः कर्मप्रकृतियोग्यपुद्गलस्कन्धा वर्तन्ते इत्यर्थः । ईदृग्विधाः कर्मप्रदेशाः आत्मप्रदेशान्तमूर्ध्वमधस्तात्तिर्यक् च वर्तन्त इत्यर्थः । ईदृग्विधाः कर्मप्रदेशाः केषु कालेषु वर्तन्ते ? सर्वतः । सर्वेषु भवेषु सर्वतः । **"सार्वविभक्तिकस्तस् इत्येके"** [ ] इति वचनात् पञ्चम्यास्तस् इति नाशङ्कनीयम् । तेनात्र सप्तम्यर्थे तस्प्रत्ययो वेदितव्यः । तेनायमर्थः—एकैकस्य प्राणिनोऽतीता भवा अनन्तानन्ता भवन्ति भविष्यन्तस्तु भवा कस्यचित् सङ्ख्येया भवन्ति कस्यचिदसङ्ख्येया भवन्ति कस्यचिदनन्ताश्च भवा भवन्ति । तेषु सर्वेष्वपि भवेषु प्रत्येकमनन्तानन्ताः कर्मप्रदेशाः प्रतिप्राणि प्रत्यात्मप्रदेशं भवन्तीति सर्वतःशब्देन

१ –स्थितिप्र– आ०, ज०, द० । २ चतुर्गतौ भव– ना० ।

कालविशेषो ज्ञातव्यः। ईदृग्विधाः प्रदेशाः कस्माद् भवन्ति ? योगविशेषात्। कायवाङ्मनः-कर्मलक्षणात् योगविशेषात् योगविशेषकारणात् जीवेन पुद्गलाः कर्मत्वेन गृह्यन्ते। "[1]जोगा पयडिपदेशा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति" [गो० क० गा० २५७] इति वचनात्। पुनरपि कथम्भूतास्ते अनन्तानन्तप्रदेशाः ? सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः। एक क्षेत्रमात्मन एक-प्रदेशलक्षणं तस्मिन्नवगाह[2] अवकाशो येषां ते एकक्षेत्रावगाहाः, सूक्ष्माश्च ते एकक्षेत्रावगाहाश्च सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहाः सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहाश्च ते स्थिताः सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः। अस्यायमर्थः—कर्मप्रदेशाः सूक्ष्मा वर्तन्ते न तु स्थूलाः। यस्मिन्नाकाशप्रदेशे आत्मप्रदेशो वर्तते तस्मिन्नेवाऽऽकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ताः कर्मप्रदेशाः वर्तन्ते तेन एकक्षेत्रावगाहा इत्युच्यन्ते। स्थिता इत्युक्ते तस्मिन्नेव प्रदेशे कर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धाः स्थिता वर्तन्ते न तु गच्छन्तः। अनन्तानन्तप्रदेशा इत्युक्ते सङ्ख्येयाश्च असङ्ख्येयाश्च अनन्ताश्च न भवन्ति। किन्तर्हि ? अनन्तानन्ताः। एकक्षेत्रावगाहा इत्युक्ते घनाङ्गुलस्यासङ्ख्येयभागक्षेत्रावगाहिनो वर्तन्ते। अयन्तु विशेषः—एकसमयद्विसमयत्रिसमयचतुःसमयेत्यादिसङ्ख्येयसमयासङ्ख्येयसमयस्थितिका भवन्ति। पञ्चवर्णा भवन्ति। लवणरसस्य मधुररसान्तर्भावात् मधुराम्लकटुतिक्तकषायलक्षणाः पञ्चरसाः भवन्ति। सुरभिदुरभिद्विर्गन्धा भवन्ति। पूर्वोक्ताष्टस्पर्शाश्च[3] भवन्ति।

अथात्राह कश्चित्—बन्धपदार्थानन्तरं पुण्यपापपदार्थद्वयकथनं पूर्वं चर्चितं तत्तु बन्धपदार्थमध्ये अन्तर्गर्भितमिति समाहितमुत्तरप्रदानविषयीकृतम्[4]। तत्र पुण्यबन्धः को वर्तते, कश्च पापबन्ध इति प्रश्ने पुण्यप्रकृतिपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

आयुश्च नाम च गोत्रञ्च आयुर्नामगोत्राणि शुभानि प्रशस्तानि तानि च तानि आयुर्नामगोत्राणि शुभायुर्नामगोत्राणि। सच्च समीचीनं सुखप्रदानसमर्थं वेद्यं सद्वेद्यम्। सद्वेद्यञ्च शुभायुर्नामगोत्राणि च सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि। एतानि चत्वारि कर्माणि पुण्यं भवन्ति। तथाहि—तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्देवायुस्त्रितयं शुभायुः। मनुष्यदेवगतिद्वयं पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्चशरीराणि अङ्गोपाङ्गत्रितयं समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं प्रशस्तवर्णः प्रशस्तो रसः प्रशस्तो गन्धः प्रशस्तः स्पर्शः मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यमगुरुलघुः परघात उच्छ्वास आतप उद्योतः प्रशस्तविहायोगतिः त्रसो बादरः पर्याप्तिः प्रत्येकशरीरं स्थिरः शुभः सुभगः सुस्वरः आदेयो यशःकीर्तिः निर्माणं तीर्थकरनाम एताः सप्तत्रिंशन्नामप्रकृतयः पुण्यमुच्यन्ते। उच्चैर्गोत्रं सद्वेद्यञ्चेति द्वाचत्वारिंशत् प्रकृतयः पुण्यं पुण्यसंज्ञा भवन्ति।

अथ पापपदार्थपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

---

१ योगात् प्रकृतिप्रदेशौ स्थित्यनुभागौ कषायतो भवतः। २ –गाहे अव– आ०, ज०, द०। ३ –स्पर्शा भवन्ति आ०, ज०, द०। ४ –उत्तर प्रदानं वि– ता०, द०।

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अत एतस्मात् पुण्याभिधानकर्मप्रकृतिवृन्दात् यदन्यत् अन्यतरत् तत्कर्म पापं पापपदार्थ इत्यभिधीयते स द्व्यशीतिप्रकारः–पञ्च ज्ञानावरणानि नव दर्शनावरणानि षड्विंशतिमोहनीयानि पञ्चान्तरायाः नरकगतितिर्यग्गती ? एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातयश्चतस्र. प्रथमसंस्थानवर्जानि पञ्च संस्थानानि प्रथमसंहननवर्जानि पञ्चसंहननानि अप्रशस्तवर्णोऽप्रशस्तगन्धोऽप्रशस्तरसोऽप्रशस्तस्पर्शो नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यमुपघातोऽप्रशस्तविहायोगतिः स्थावरः सूक्ष्मः अपर्याप्तिः साधारणशरीरमस्थिरः अशुभो दुर्भगो दुःस्वर अनादेयोऽयशःकीर्तिरिति चतुस्त्रिंशन्नामप्रकृतयः। असद्वेद्यं नरकायुर्नीचगोत्रञ्चेति पापं पापपदार्थो भवति। स उभयप्रकारोऽपि पुण्यपापपदार्थोऽवधेर्मनःपर्ययस्य केवलज्ञानस्य च प्रत्यक्षप्रमाणत्रयस्य गोचरो गम्यो भवति तत्कथितागमस्य चानुमेयः स्यादिति भद्रम्।

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ अष्टमः पादः समाप्तः।

---

१ इत्यनवद्यगद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीदेवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतिदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायामष्टमोऽध्यायः समाप्तः। ८। आ०, द०, ज०,

नवमोऽध्यायः

अथोमास्वामिनं नत्वा पूज्यपादञ्च योगिनम् ।
विद्यानन्दिनमाध्याय संवरं विवृणोम्यहम् ॥ १ ॥

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

नूतनकर्मग्रहणकारणमास्रव उच्यते । आस्रवस्य निरोधः प्रतिषेधः आस्रवनिरोधः संवरो भवति । भावद्रव्यसंवरभेदात् संवरो द्विप्रकारः । तत्र भावसंवरः भवकारणपापक्रियानिरोधः । तथा चाऽभ्यधायि—

"[1]वेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो ॥" [द्रव्यसं० गा० ३४]

संसारकारणक्रियानिरोधे सति संसारकारणक्रियानिरोधलक्षणभावसंवरः । भावसंवरपूर्वको द्रव्यसंवरः । कर्मपुद्गलग्रहणविच्छेद इत्यर्थः । स उभयप्रकारोऽपि संवरः गुणस्थानापेक्षया उच्यते—मिथ्यात्वगुणस्थाने यत्कर्म आस्रवति तस्य कर्मणः सासादनसम्यग्दृष्ट्यादिशेषगुणस्थाने संवरो भवति । मिथ्यादर्शनप्रधानत्वेन यत्कर्म आस्रवति, तत्किम् ? तत्षोडशप्रकृतिलक्षणम् । तत्रैकं तावन्मिथ्यात्वं द्वितीयो नपुंसकवेदः तृतीयं नरकायुः चतुर्थी नरकगतिः पञ्चमी एकेन्द्रियजातिः षष्ठी द्वीन्द्रियजातिः सप्तमी त्रीन्द्रियजातिः अष्टमो चतुरिन्द्रियजातिः नवमं हुण्डकसंस्थानं दशममसम्प्राप्तासृपाटिकासंहननमेकादशं नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं द्वादश आतपः त्रयोदशः स्थावरः चतुर्दशः सूक्ष्मः पञ्चदशः अपर्याप्तकः षोडशं साधारणशरीरम् । असंयमस्तावत् त्रिविधो भवति । ते के त्रयो विधाः ? अनन्तानुबन्धिकषायोदयः अप्रत्याख्यानकषायोदयः प्रत्याख्यानकषायोदयश्चेति त्रिविधासंयमहेतुकस्य कर्मणः संवरो ज्ञातव्यः । कस्मिन् सति ? तदभावे त्रिविधासंयमाभावे[2] सति । स एव निरूप्यते—अनन्तानुबन्धिकषायोदयकल्पितासंयमास्रवाणां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टिपर्यन्ता बन्धका भवन्ति । बन्धकाभावे तासामुत्तरत्र संवरो भवति । कास्ताः पञ्चविंशतिप्रकृतयः ? एका निद्रानिद्रा द्वितीया प्रचलाप्रचला तृतीया स्त्यानगृद्धिः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः अष्टमः स्त्रीवेदः नवमं तिर्यगायुः दशमो तिर्यग्गतिः चत्वारि मध्यसंस्थानानि चत्वारि मध्यसंहननानि एकोनविंशतितमा तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी विंशतितम उद्योतः एकविंशतितमी अप्रशस्तविहा-

---

१ चेतनपरिणामो यः कर्मण आस्रवनिरोधने हेतुः । स भावसंवरः खलु द्रव्यास्रवरोधनेऽन्यः ॥ २ –भावेऽपि आ०, ज०, द० ।

योगतिः द्वाविंशतितमो दुर्भगः त्रयोविंशो दुःस्वरः [1]चतुर्विंशतितममनादेयं पञ्चविंशतितमं नीचैर्गोत्रमिति। अप्रत्याख्यानावरणकषायोदयकल्पितासंयमकारणानां दशानां प्रकृतीनामेकेन्द्रियादयो जीवा असंयतसम्यग्दृष्टिपर्यन्ता बन्धका भवन्ति। बन्धकाभावात् तदुपरि तासां दशानां प्रकृतीनां संवरो भवति। कास्ताः दश प्रकृतयः? अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पञ्चमं मनुष्यायुः षष्ठी मनुष्यगतिः सप्तममौदारिकशरीरम् अष्टममौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गं नवमं वज्रर्षभनाराचसंहननं दशमं मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यम्। सम्यग्मिथ्यात्वगुणेन आयुर्न बध्यते। प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयहेतुकासंयमास्रवाणामेकेन्द्रियादयो देशसंयतपर्यन्ता बन्धका भवन्ति। बन्धकाभावात्तदुपरि तासां संवरो भवति। प्रमादानीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयतादुपरि संवरो भवति। कस्मात्? तदभावात् बन्धकाभावात्। किं तत् कर्म? असद्वेद्यमरतिः शोकः अस्थिरः अशुभः अयशःकीर्तिः। देवायुर्बन्धारम्भस्य हेतुः प्रमाद एव तत्प्रत्यासन्नोऽप्रमादोऽपि हेतुः। तदुपरि तस्य संवरो भवति कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणो न प्रमादादिस्तस्य कर्मणः प्रमादनिरोधनिरास्रवो ज्ञातव्यः। स च कषायः प्रमादादिविरहितः तीव्रमध्यमजघन्यत्वेन गुणस्थानत्रये व्यवस्थितः। तत्र अपूर्वकरणगुणस्थानस्यादौ सङ्ख्येयभागे निद्राप्रचले द्वे कर्मप्रकृती बध्येते तदुपरि सङ्ख्येये भागे त्रिंशत्प्रकृतयो बध्यन्ते। कास्ताः प्रकृतयः? देवगतिः पञ्चेन्द्रियजातिः वैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि चत्वारि शरीराणि समचतुरस्रसंस्थानं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गम् आहारकशरीराङ्गोपाङ्गम्। वर्णो गन्धो रसः स्पर्शः देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यम्[2] अगुरुलघुः उपघातः परघातः उच्छ्वासः प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसो बादरः पर्याप्तकः प्रत्येकशरीरं स्थिरः शुभः सुभगः सुस्वरः आदेयं निर्माणं [3]तीर्थकरत्वञ्चेति। अपूर्वकरणस्यान्तसमये चतस्रः प्रकृतयो बन्धमायान्ति। कास्ताः? हास्यं रतिर्भयं जुगुप्सा चेति। एताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः तीव्रकषायास्रवा भवन्ति। तदभावात् कथिताद् भागादुपरि संवरो भवति। अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्य नवमस्य गुणस्थानस्य प्रथमसमयादारभ्य संख्येयेषु भागेषु पुंवेदः क्रोधसञ्ज्वलनश्च द्वौ बध्येते। तदुपरि सङ्ख्येयेषु भागेषु मानमायासञ्ज्वलनौ बध्येते। अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्यान्तसमये लोभसञ्ज्वलनो बध्यते। एताः पञ्चप्रकृतयः मध्यमकषायास्रवाः। तदभावे कथितस्य भागस्योपरि संवरो भवति। सूक्ष्मसाम्पराये षोडशानां प्रकृतीनां बन्धो भवति। तदुपरि तासां संवरः। कास्ताः षोडशप्रकृतयः? पञ्च ज्ञानावरणानि चत्वारि दर्शनावरणानि यशःकीर्तिः उच्चैर्गोत्रं पञ्चान्तरायाः। एताः मन्दकषायास्रवः षोडश। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेकेनैव योगेन एकस्या एव प्रकृतेर्बन्धो भवति। तदभावात् अयोगकेवलिनस्तस्याः संवरो भवति। काऽसावेका प्रकृतिः? सद्वेद्यमिति।

अथाह कश्चित्—गुणस्थानेषु [4]संवरस्वरूपं निरूपितं भवद्भिः परन्तु गुणस्थानानां स्वरूपं

१ चतुर्विंशम- ता०। २ -पूर्वी आ०, ज०, द०। ३ तीर्थकरश्चेति आ०, ज०, द०। ४ -संवररूपम् आ०, ज०, द०।

तावन्न विज्ञायते तत्स्वरूपं विज्ञापयितुं योग्यमिति गुणस्थानानां स्वरूपं निरूप्यते–तत्त्वार्थविपरीतरुचिः मिथ्यादृष्टिः प्रथमं गुणस्थानं भवति । दर्शनमोहस्य भेदास्त्रयः–सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वविकल्पात् । तेषामुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावे सति प्रथमसम्यक्त्वमौपशमिकं नाम समुत्पद्यते । तस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तः । तस्यान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये उत्कर्षेण आवलिकाषट्के उद्धरिते सति जघन्येनैकस्मिन् समये चोद्धरिते सति अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां मध्ये अन्यतमस्योदये सति शेषस्य मिथ्यादर्शनकारणस्यानुदये सति सासादनसम्यग्दृष्टिर्जीव उच्यते । तद् द्वितीयं गुणस्थानं भवति । सासादनसम्यग्दृष्टेः मिथ्यादर्शनानुदयेऽपि अनन्तानुबन्ध्यन्यतमोदयात् यत् ज्ञानत्रयं तदज्ञानत्रयमेव । कथमिति चेत् ? यस्मात्कारणात्ते ऽनन्तानुबन्धिनः कषाया अनन्तमिथ्यादर्शनानुबन्धनान्मिथ्यादर्शनोदयलक्षणं फलमुत्पादयन्ति मिथ्यादर्शनमेवात्मनि प्रवेशयन्ति । परिहृतसासादनगुणः पुमानवश्यमेव मिथ्यात्वगुणस्थानं गच्छतीति सासादनवर्णनम् । अथ मिश्रगुणस्थानस्वरूपं कथ्यते—सम्यग्मिथ्यात्वकर्मोदयात् मनाक्कलुषपरिणामः पुमान् भवति क्षीणाक्षीणमदशक्तिकाद्रवोत्पादितमनाक्कलुषपरिणामवत् । तेन कारणेन सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्जीवस्तत्त्वार्थरुच्यरुचिरूपो भवति । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः[1] पुरुषस्य यदज्ञानत्रयं तत्सत्यासत्यरूपं वेदितव्यम् । चारित्रमोहकर्मोदयाज्जीवोऽतीवाविरतो भवति सोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरुच्यते । श्रावकव्रतानि प्रतिपालयन् पुमान् देशविरतो भवति तत्पञ्चमं गुणस्थानम् । अप्रमत्तोऽपि सन् अन्तर्मुहूर्तं प्रमादं भजन् प्रमत्तसंयतो भवति तत् षष्ठं गुणस्थानम् । यो जलधासेचनादिनिद्रादिप्रमादं न भजते स पुमान् अप्रमत्तसंयतो भवति तत् सप्तमं गुणस्थानम् । अपूर्वकरणमनिवृत्तिबादरसाम्परायसंज्ञं सूक्ष्मसाम्परायसंज्ञञ्च एतानि त्रीणि गुणस्थानानि अष्टमनवमदशमगुणस्थानानि भवन्ति । तेषु त्रिषु गुणस्थानेषु द्वे श्रेणी वर्तेते । उपशमकश्रेणिः क्षपकश्रेणिश्च । यस्यामात्मा मोहनीयं कर्म उपशमयन् आरोहति सा[2] उपशमकश्रेणिः । यस्यामात्मा मोहनीयं कर्म क्षपयन् आरोहति सा क्षपकश्रेणिरुच्यते । तत्रोपशमश्रेणिमान् पुमान् अष्टमं नवमं दशममेकादशञ्च गुणस्थानं गत्वा पतति । क्षपकश्रेणिमान् पुमान् अष्टमं नवमं दशमञ्च गुणस्थानं गत्वा एकादशं गुणस्थानं वर्जयित्वा द्वादशं क्षीणकषायसंज्ञमारोहति । अपूर्वकरणे अष्टमगुणस्थाने य उपशमकः क्षपकश्च वर्तते स जन्मापूर्वान् करणान् परिणामान् प्राप्नोति तेन तदष्टमं गुणस्थानमपूर्वकरणमित्युच्यते । अस्मिन् गुणस्थाने कर्मोपशमः कर्मक्षयो न वर्तते किन्तु सप्तमनवमगुणस्थानयोर्मध्ये पतितत्वात् उपशमः क्षपकश्चोपचारेणोच्यते घृतघटवत् । यथा मृन्मयोऽपि घटो घृतघट उच्यते घृतसमीपवर्तित्वात् । अस्मिन् गुणस्थाने नानाजीवापेक्षया अन्तर्मुहूर्तस्य एकस्मिन्नपि क्षणेऽन्योन्यमवश्यमेव परिणामा विषमा भवन्ति, प्रथमक्षणे ये परिणामा उत्पन्नास्ते [3]परिणामाश्च अपूर्वाः परिणामाः द्वितीया-

१–दृष्टिषु– आ०, ज०, द० । २ उपशमश्रेणिः आ०, द०, ज० । ३ परिणामा अपूर्वाश्च परि– ता० ।

दिषु क्षणेषु उत्पद्यन्ते तेनेदं गुणस्थानमपूर्वकरणमित्यन्वर्थसंज्ञं भवति । अथ अनिवृत्तिबादरसाम्परायगुणस्थानस्वरूपमुच्यते–साम्परायशब्दः कषायो लभ्यते यत्र साम्परायस्य कषायस्य स्थूलत्वेनोपशमः क्षयश्च वर्तते तदनिवृत्तबादरसाम्परायसंज्ञं गुणस्थानमुच्यते । तत्र जीवा उपशमकाः क्षपकाश्च भवन्ति । एकस्मिन् समये नानाजीवापेक्षयापि एकरूपाः परिणामाः भवन्ति । यतः परिणामानां परस्परं स्वरूपानिवृत्तिस्तेन कारणेनानिवृत्तिकरणबादरसाम्परायसंज्ञं नवमगुणस्थानमुच्यते । साम्परायस्य कषायस्य सूक्ष्मतया उपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसाम्परायसंज्ञं दशमं गुणस्थानं भवति । तत्रोपशमकाः क्षपकाश्च जीवा भवन्ति । [1]उपशान्तमोहसंज्ञं त्वेकादशं गुणस्थानं [2]तस्योपशमात् । क्षीणमोहसंज्ञं द्वादशन्तु गुणस्थानं सर्वस्य मोहस्य क्षपणात् भवति । सम्प्राप्तकेवलज्ञानदर्शनो जीवो यत्र भवति तत्सयोगिजिनसंज्ञं त्रयोदशं गुणस्थानं भवति । पञ्चलघ्वक्षरकालस्थितिकमयोगिजिनसंज्ञं चतुर्दशं गुणस्थानं वेदितव्यम् । अपूर्वकरणगुणस्थानमादिं कृत्वा [3]क्षीणकषायगुणस्थानपर्यन्तेषु गुणस्थानेषु उत्तरोत्तरक्षणेषु जीवस्योत्कृष्टोत्कृष्टपरिणामविशुद्धिर्वेदितव्या । निकृष्टत्वेन मिथ्यात्वगुणस्थानस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तो भवति । अभव्यापेक्षया मिथ्यात्वगुणस्थानस्य काल उत्कृष्ट अनाद्यनन्तः, भव्यस्य मिथ्यात्वगुणस्थाने कालोऽनादिसान्तः । सासादनस्य कालः उपशमसम्यक्त्वकालस्यान्तर्मुहूर्तलक्षणस्य प्रान्ते निकृष्ट एक समयः उत्कृष्ट आवलिषट्कम् । मिश्रस्य कालोऽन्तर्मुहूर्तः । असंयतसम्यग्दृष्टेर्निकृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तः उत्कृष्टकालः षट्षष्टिसागरोपमाणि । देशसंयतस्य कालो निकृष्टो मुहूर्तमात्रः उत्कृष्टस्तु पूर्वकोटी किञ्चिदूना । प्रमत्तसंयतादिक्षीणकषायपर्यन्तानामुत्कृष्टः कालोऽन्तमुहूर्तः । सयोगिजिनकालः पूर्वकोटी किञ्चिदूना । जघन्यकालस्तु परमागमाद् वेदितव्यः । उपशमश्रेणौ सर्वत्रोत्कृष्टः कालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः[4]।

अथेदानीं संवरस्य हेतुभूतान् भावसंवरविशेषान् संविवक्षुः सूत्रमिदमाह—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

भवकारणात् मनोवाक्कायव्यापारात् आत्मनो गोपनं रक्षणं गुप्तिः । सम्यगयनं जन्तुपीडापरित्यागार्थं वर्तनं समितिः । संसारसागरादुद्धृत्य इन्द्रनरेन्द्रधरणेन्द्रचन्द्रादिवन्दिते पदे आत्मानं धरतीति धर्मः । [5]कायादिस्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । क्षुधातृषादिवेदनासमुत्पत्तौ उपार्जितकर्मनिर्जरणार्थं परि समन्तात् सहनं परीषहः तस्य जयः परीषहजयः । सामायिकादिपञ्चभेदसहितं चारित्रम् । गुप्तिश्च समितिश्च धर्मश्च अनुप्रेक्षा च परीषहजयश्च चारित्रञ्च गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्राणि तैर्गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । एतैः षड्भिः सान्तर्भेदैः संयमपरिणामैः कृत्वा स पूर्वोक्तः संवरो भवति । करणनिर्देशेनैव पूर्वोक्तः संवरो विज्ञायते । स इति ग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? स ग्रहणं निर्धारणार्थम् । तेनायमर्थः–गुप्त्यादिभिः कृत्वैव संवरो भवति जलनिमज्जनकपालग्रहणशिरोमुण्डनशिखाधारणा-

१ उपशान्तकषायमोह– आ०, द०, ज० । २ सर्वस्योप– ता० । ३ क्षीणकषायप– आ०, द०, ज० । ४–मात्रम् ता० । ५ कायादिस्वभावादिचि– आ०, द०, ज०।

दिदीक्षाचिह्नोद्वहननिजमस्तकच्छेदनदेवादिपूजनरागद्वेषादिमलिनदेवताराधनादिभिः संवरो न भवतीत्यर्थः । कस्मात् ? रागद्वेषमोहादिभिरुपार्जितस्य कर्मणोऽपरथा निवर्तनाभावात् ।

अथ संवरस्य निर्जरायाश्च कारणविशेषकथनार्थं सूत्रमिदमाचष्टे—

तपसा निर्जरा च ॥३॥

तपसा कृत्वा निर्जरा एकदेशकर्मगलनं भवति, चकारात्संवरश्च भवति । ननु दशलाक्षणिकधर्ममध्येऽपि तपो वर्तते तेनैव संवरनिर्जरे भविष्यतः किमर्थमत्र तपोग्रहणसूत्रम् ? युक्तमुक्तं भवता; अत्र तपोग्रहणं नूतनकर्मसंवरणपूर्वककर्मक्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थं प्रधानत्वेन संवरविधायकत्वकथनार्थं च तपोग्रहणमत्र वर्तते । [1] ननु तपः खल्वभ्युदयदायकमागमे प्रतिपादितं संवरनिर्जरासाधकं कथम् ? तथा चोक्तम्—

“दाणे लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण ।
जम्मणमरणविवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ॥” [परमात्मप्र० २।७२]

साधूक्तं भवता—एकमपि तप इन्द्रादिपदं ददाति संवरनिर्जरे च करोति । यथैकमपि छत्रं छायां करोति घर्मजलनिषेधञ्च[3] कुर्यात् एकस्याप्यनेककार्यावलोकनाद्वह्निवत् । यथा एकोऽपि वह्निर्विक्लेदनादिकरणात् पाचको भवति भस्मसात्करणात् दाहकश्चोच्यते तथा तपोऽप्यभ्युदयकर्मक्षयकारणं भवतीति नास्त्यागमविरोधः ।

अथ गुप्त्यादीनां संवरहेतूनां स्वरूपनिरूपणार्थं प्रबन्धः [4]कथ्यते । तत्रादौ गुप्तिस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाहुः—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

सम्यक्प्रकारेण लोकसत्कारख्यातिपूजालाभाकाङ्क्षारहितप्रकारेण योगस्य कायवाङ्मनःकर्मलक्षणस्य निग्रहो निरोधः सम्यग्योगनिग्रहो विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिनिषेध इत्यर्थः । यः सम्यग्योगनिग्रहो मनोवाक्कायव्यापारनिषेधनं सा गुप्तिरित्युच्यते । योगनिग्रहे सति आर्त्तरौद्रध्यानलक्षणसंक्लेशप्रादुर्भावो न भवति तस्मिंश्च सति कर्म नास्रवति तेन गुप्तिः संवरप्रसिद्ध्यर्थं वेदितव्या । सा त्रिप्रकारा—कायगुप्तिवाग्गुप्तिमनोगुप्तिविकल्पात् ।

अथ गुप्तिषु यो मुनिरसमर्थो भवति तस्य मुनेः निष्पापप्रवृत्तिप्रतिपादनार्थं समितिसूत्रमुच्यते—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

ईर्या च भाषा च एषणा च आदाननिक्षेपौ च उत्सर्गश्च ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः । एते पञ्च समितयो भवन्ति । सम्यक्शब्दः पूर्वसूत्रोक्तोऽत्रापि ग्राह्यः । तेनैवं सम्बन्धो भवति ।

---

१ ननु वरं तपः आ०, द०, ज० । २ ‘दानेन लभ्यते भोगः परं इन्द्रत्वमपि तपसा । जन्ममरणविवर्जितं पदं लभ्यते ज्ञानेन ॥’’ ३ –निषेधनञ्च ता० । ४ रच्यते ता० ।

सम्यगीर्यासमितिः सम्यग्भाषासमितिः सम्यगेषणासमितिः सम्यगादाननिक्षेपसमितिः[1] सम्यगुत्सर्गसमितिश्चेति । तत्र सम्यगीर्यासमितिरुच्यते–तीर्थयात्राधर्मकार्याद्यर्थं गच्छतो मुनेश्चतुःकरमात्रमार्गनिरीक्षणपूर्वकं सावधानदृष्टेरव्यग्रचेतसः सम्यक्विज्ञातजीवस्थानस्वरूपस्य सम्यगीर्यासमितिर्भवति । कानि तानि जीवस्थानानि ? तत्स्वरूपनिरूपणार्थमियं गाथा—

"बादरसुहमेगिंदियवितिचउरिंदियअसण्णिसण्णी य ।
पज्जत्तापज्जत्ता भूदा ये चोद्दसा होंति[2] ॥" [गो० जीव० गा० ७२]

सम्यग्भाषासमितिरुच्यते–हितं परिमितमसन्दिग्धं सत्यमनसूयं प्रियं कर्णामृतप्रायमशङ्काकरं कषायानुत्पादकं सभास्थानयोग्यं मृदु धर्माविरोधि देशकालाद्युचितं हास्यादिरहितं वचोऽभिधानं सम्यक्भाषासमितिर्भवति । सम्यगेषणासमितिरुच्यते—शरीरदर्शनमात्रेण प्राप्तमयाचितममृतसंज्ञमुद्गमोत्पादनादिदोषरहितमजिनहिङ्ग्वादिभिरस्पृष्टं परार्थं निष्पन्नं काले भोजनग्रहणं सम्यगेषणासमितिर्भवति । सम्यगादाननिक्षेपसमितिरुच्यते—धर्मोपकरणग्रहणविसर्जने सम्यगवलोक्य[3] मयूरबर्हेण प्रतिलिख्य तदभावे वस्त्रादिना प्रतिलिख्य[4] स्वीकरणं विसर्जनञ्च सम्यगादाननिक्षेपसमितिर्भवति । एतेन गोपुच्छमेषरोमादिभिः प्रतिलेखनं मुनेः प्रतिषिद्धं भवति । सम्यगुत्सर्गसमितिरुच्यते—प्राणिनामवरोधेनाङ्गमलत्यजनं शरीरस्य च स्थापनं दिगम्बरस्योत्सर्गसमितिर्भवति । एते पञ्च प्राणिनां पीडापरिहारस्याभ्युपाया [5]अवसातव्याः । इत्थं प्रवर्तमानस्यासंयमपरिणामनिमित्तस्य कर्मण आस्रवाभावो भवति तेन च संवरः समाढौकते ।

अथ संवरकारणस्य धर्मस्य विकल्पपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदं ब्रुवन्ति—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

कायस्थितिकारणविधाणाद्यन्वेषणाय परगृहान् पर्यटतो मुनेः दुष्टपापिष्ठपञ्चजनानामसह्यगालिप्रदान[6]वर्करवचनावहेलनपीडाजननकायविनाशनादीनां समुत्पत्तौ [7]मनोऽनच्छतानुत्पादः क्षमा कथ्यते ।

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥" [रत्नक० श्लो० २५]

इति श्लोककथितस्याष्टविधस्य मदस्य समावेशात् परकृतपराभिभवनिमित्ताभिमानमुक्तिर्मार्दवमुच्यते । मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवमिति निरुक्तेः । मनोवचनकायकर्मणामकौटिल्यमार्जवमभिधीयते । सत्सु दिगम्बरेषु महामुनिषु तदुपासकेषु च श्रेष्ठेषु लोकेषु साधु यद्वचनं तत्सत्यमित्य-

---

१ –निक्षेपणासमितिः आ०, द०, ज० । २ बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च । पर्याप्तापर्याप्ता भूता ये चतुर्दश भवन्ति ॥ ३ –गालोक्य आ०, द०, ज० । ४ –लोक्य दयोपकरणेन प्रति– आ०, द०, ज० । ५ अवस्थातव्याः आ०, द०, ज० । ६ –वर्वरत्र– आ०, द०, ज० । ७ मनोऽनवस्थानु– आ०, द०, ज०, ।

भिलप्यते । ननु सत्यवचनं भाषासमितावन्तर्गर्भितं वर्तत एव किमर्थमत्र तद्ग्रहणम् ? साधूक्तं भवता ; भाषासमितौ प्रवर्तमानो यतिः साधुषु असाधुषु च भाषाव्यापारं विदधन् हितं मितञ्च ब्रूयात् , [1]अन्यथा असाधुषु अहितभाषणेऽमितभाषणे च रागानर्थदण्डदोषो भवेत् , तदा तस्य का भाषासमितिः न कापीत्यर्थः । सत्यवचने त्वयं विशेषः–सन्तः प्रव्रज्यां प्राप्तास्तद्भक्ता वा ये वर्तन्ते तेषु यद्वचनं साधु तत् सत्यम् , तथा च ज्ञानचारित्रादिशिक्षणे प्रचुरमपि अमितमपि वचनं वक्तव्यम् । इतीदृशो भाषासमितिसत्यवचनयोर्विशेषो वर्तते । [2]उत्कृष्टतासमागतगार्द्ध्य-परिहरणं शौचमुच्यते । मनोगुप्तौ मानसः परिस्पन्दः सर्वोऽपि [3]निषिध्यते तन्निषेधे योऽसमर्थस्तस्य परकीयवस्तुषु अनिष्टप्रणिधानपरिहरणं शौचमिति मनोगुप्तिशौचयोर्महान् भेदः । भगवती-आराधनायां तु[4] शौचस्य लाघवमित्यपरसंज्ञा वर्तते । धर्मोपचयार्थं धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु प्रवर्तमानस्य पुरुषस्य तत्प्रतिपालनार्थं प्राणव्यपरोपणषडिन्द्रियविषयपरिहरणं संयम उच्यते । स संयमो द्विविधः—अपहृतसंज्ञक उपेक्षासंज्ञकश्च । तत्र अपहृतसंज्ञकस्त्रिविधः । तद्यथा–प्रासुकवसतिभोजनादिमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनज्ञानादिकस्य मुनेर्जन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य दूरीकृत्य जीवान् पालयत उत्कृष्टः संयमो भवति । मृदुना[5] मयूरपिच्छेण प्रमृज्य परिहरतो मध्यमः संयमः । उपकरणान्तरेण प्रमृज्य परिहरतो निकृष्टः संयमः इत्यपहृतसंयमस्त्रिविधः । अथोपेक्षासंयम उच्यते—देशकालविधानज्ञस्य परेषामनुरोधेन व्युत्सृष्टकायस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य मुनेः रागद्वेषयोरनभिष्वङ्ग उपेक्षासंयमः । उपार्जितकर्मक्षयार्थं तपस्विना तप्यते इति तपः,तद् द्वादशविधं वक्ष्यमाणविस्तरं ज्ञातव्यम् । संयमिनां योग्यं ज्ञानसंयमशौचोपकरणादिदानं त्याग उच्यते । नास्ति अस्य किञ्चन किमपि अकिञ्चनो निष्परिग्रहः तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम् । निजशरीरादिषु संस्कारपरिहाराय ममेदमित्यभिसन्धिनिषेधनमित्यर्थः । तदाकिञ्चन्यं चतुःप्रकारं भवति–स्वस्य परस्य च जीवितलोभपरिहरणं स्वस्य परस्य च आरोग्यलोभपरिहरणं स्वस्य परस्य च इन्द्रियलोभपरित्यजनं स्वस्य परस्य चोपभोगलोभोज्झनञ्चेति । पूर्वानुभुक्तवनितास्मरणं वनिताकथास्मरणं वनितासङ्गासक्तस्य शय्यासनादिकञ्च अब्रह्म तद्वर्जनात् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णं भवति । स्वेच्छाचारप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं गुरुकुलवासो वा ब्रह्मचर्यमुच्यते । गुप्तिसूत्रं प्रवृत्तिनिग्रहार्थम्, तत्रासमर्थानां [6]प्रवृत्त्यभ्युपायप्रदर्शनार्थं द्वितीयं समितिसूत्रम् । इदन्तु तृतीयं सूत्रं दशविधधर्मकथकं पञ्चसमितिषु प्रवर्तमानस्य मुनेः प्रमादपरिहरणार्थं वेद्धव्यम् । क्षमा च मार्दवञ्च आर्जवञ्च सत्यञ्च शौचञ्च संयमश्च तपश्च त्यागश्च आकिञ्चन्यञ्च ब्रह्मचर्यञ्च क्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि । उत्तमानि दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनानि च तानि क्षमादीनि तानि तथोक्तानि, एतानि दश धर्म इति धर्मसंज्ञानि संवरकारणानि वेदितव्यानीति क्रियाकारकसम्बन्धः । तप्तलोहपिण्डवत् क्रोधादिपराभूतेन मुनिना उत्तमक्षमादीनि स्वपरहितैषिणा कर्तव्यानि ।

१ अन्यथा साधुषु ता० । २ उत्कृष्टसमा– आ०, द०, ज० । ३ निषेध्यते आ०, द०, ज० । ४ "अज्जवमद्दवलाघवतुट्ठी पल्हादणं च गुणा" भग० आरा० गा० ४०० । ५ मृदुना दयापकरणेन प्र– आ०, द०, ज० । ६ प्रवृत्तिनिवृत्त्यभ्यु– आ०, द०, ज० ।

अथेदानीमनुप्रेक्षानिरूपणार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

अनित्यञ्च अशरणञ्च संसारश्च एकत्वञ्च अन्यत्वञ्च अशुचिश्च आस्रवश्च निर्जरा च लोकश्च बोधिदुर्लभा च धर्मश्च अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मास्तेषां स्वाख्याः निजनिजनामानि तासां तत्त्वमर्थस्तस्यानुचिन्तनं पुनः पुनः स्मरणमनुप्रेक्षा भवति। न नित्यमनित्यम्। न शरणमशरणम्। संसरन्ति पर्यटन्ति यस्मिन्निति संसारः। एकस्यात्मनो भाव एकत्वम्। शरीरादेरन्यस्य भावोऽन्यत्वम्। न शुचिः कायोऽशुचिः। आस्रवतीति आस्रवः। कर्मागमनं संवृणोति अभिनवकर्मप्रवेशं कर्तुं न ददाति इति संवरः। एकदेशेन कर्मणां निर्जरणं गलनमधःपतनं शटनं निर्जरा। लोक्यन्ते जीवादयः पदार्था यस्मिन् इति लोकः। बोधनं बोधिः संसारभोगवैराग्यमित्यर्थः। बोधिश्चासौ दुर्लभा बोधिदुर्लभा। उत्तमपदे धरतीति धर्मः। इति निजनिजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा [1]भवतीति संक्षेपेणानुप्रेक्षार्थो ज्ञातव्यः।

अथ किञ्चिद् विस्तरेणार्थः कथ्यते— काय इन्द्रियविषया भोगोपभोगवस्तूनि समुदायप्राप्तानि यानि वर्तन्ते तानि सर्वाणि अनित्यानि अध्रुवाणि अनवस्थितस्वरूपाणि वर्तन्ते। किंवत्? मेघजालवत् इन्द्रचापवत् विद्युदुन्मेषवत्[2] जलबुद्बुदवत् गिरिनदीप्रवाहवत् खलजनमैत्रीवत् चेत्यादयो दृष्टान्तास्तत्र बहवः सन्ति। गर्भाद्यवस्थाविशेष[3]सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययत्वात् पूर्वोक्तेषु जडो जीवो ध्रुवत्वं मनुते, न च किञ्चित् [4]संसारे समुत्पन्नं वस्तु ध्रुवं विलोक्यते जीवस्य ज्ञानदर्शनोपयोगस्वरूपादन्यत्रेति[5] चिन्तनमनित्यत्वानुप्रेक्षा भवति। तां चिन्तयतो भव्यजीवस्य शरीरपुत्रकलत्रादिषु भोगोपभोगेषु अनुबन्धो न भवति, वियोगावसरेऽपि दुःखं नोत्पद्यते, मुक्तोज्झितस्रक्चन्दनादिषु यथा विरक्तो भवति तथा शरीरादिषु विरक्तो भवति। १। यथा मृगबालकस्य निर्जने वने बलवता मांसाकाङ्क्षिणा क्षुधितेन द्वीपिना गृहीतस्य किञ्चिच्छरणं न वर्तते तथा जन्मजरामरणरोगा[6]दिदुःखमध्ये पर्यटतो जीवस्य किमपि शरणं न वर्तते, सम्पुष्टोऽपि कायः सहायो न भवति भोजनादन्यत्र [7]दुःखागमने। प्रयत्नेन सञ्चिता अपि [8]रायो भवान्तरं नानुगच्छन्ति। संविभक्तसुखा अपि सुहृदो मरणकाले न परिरक्षन्ति। रोगग्रस्तं पुमांसं सङ्गता अपि बान्धवा न प्रतिपालयन्ति। सुचरितो जिनधर्मो दुःखमहासमुद्रसन्तरणोपायो भवति। यमेन नीयमानमात्मानमिन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽपि शरणं न भवन्ति, तत्र जिनधर्म

---

१ भवन्तीति आ०, द०, ज०। २ –मेघवत् आ०, द०, ज०। ३ –शेषमदोप– आ०, द०, ज०। ४ संसारस– आ०, द०, ज०। ५ –न्यत्वेति ता०। ६ –रोगादिषु दुः– आ०, द०, ज०। ७ दुःखागमे आ०, द०, ज०। ८ धनानि।

एव शरणम् । एवं भावना अशरणानुप्रेक्षा भवति । एतां भावनां भावयतो भव्यजीवस्य भवसमुद्भवभावेषु ममता न भवति. रत्नत्रयमार्गे सर्वज्ञवीतरागप्रणीते निश्चलो भवति ।२। पूर्वोक्तपञ्चप्रकारे[1] संसारे नानाकुयोनिकुलकोटयनेकशतसहस्रसङ्कटे पर्यटन् जीवो विधियन्त्रचोदितो यः पिता स कदाचिद् भ्राता स एव पुत्रः पौत्रश्च सञ्जायते । या जननी सा भगिनी भवति कदाचिद् भार्या कदाचित् पुत्री कदाचित् पौत्री च भवति । यः स्वामी वर्तते सः दासोऽपि भवति यो दासो वर्तते स स्वामी चकास्ति । एवं रङ्गगतशैलूषवज्जीवो नानावेषान् धरति । किमन्यदुच्यते, स्वस्य स्वयं पुत्रो भवति । एवं संसारस्वरूपानुचिन्तनं कुर्वतो भव्यजीवस्य संसारदुःखाद् भयमुत्पद्यते, तस्माच्च वैराग्यं जायते । तेन तु संसारसमुद्रतरणे प्रयत्नं [2]कुरुते इति संसारानुप्रेक्षा ।३। आत्मा एक एव जन्म प्राप्नोति तथा जरां मरणञ्च । तद्दुःखमेक एव भुङ्क्ते जीवस्य परमार्थतो न कश्चिद् बन्धुर्वर्तते न शत्रुर्जागर्ति एक एव जायते एक एव म्रियते । व्याधिजरामरणादिदुःखानि स्वजनो परजनो वा न सहते[3] बन्धुवर्गो मित्रवर्गश्च पितृवनात् परतो नानुगच्छति । अविनश्वरो जिनधर्म एव जीवस्य सर्वदा सहायो भवतीति चिन्तयतो भव्यजीवस्य[4] स्वजनपरजनेषु प्रीत्यप्रीती नोत्पद्येते तस्माच्च निस्सङ्गो भवति ततश्च मुक्तावेवोत्तिष्ठते इत्येकत्वानुप्रेक्षा ।४। जीवात् कायादिकस्य पृथक्त्वानुचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा भवति । तथाहि—जीवस्य[5] बन्धं प्रति एकत्वे सत्यपि लक्षणभेदात् काय इन्द्रियमय आत्माऽनिन्द्रियोऽन्यो वर्तते, कायोऽज्ञ आत्मा ज्ञानवान्, कायोऽनित्य आत्मा नित्यः काय आद्यन्तवान् आत्मा अनाद्यन्तवान्, कायानां बहूनि कोटिलक्षाणि अतिक्रान्तानि आत्मा संसारे निरन्तरं परिभ्रमन् स एव तेभ्योऽन्यो वर्तते । एवं यदि जीवस्य कायादपि पृथक्त्वं वर्तते तर्हि कलत्रपुत्रगृ[6]हवाहनादिभ्यः पृथक्त्वं कथं न बोभोति अपि तु बोभवीत्येव । एवं भव्यजीवस्य समाहितचेतसः कायादिषु निःस्पृहस्य तत्त्वज्ञानभावनापरस्य कायादेर्भिन्नत्वं चिन्तयतो वैराग्योत्कृष्टता भवति । तेन तु अनन्तस्य मुक्तिसौख्यस्य प्राप्तिर्भवतीत्यन्यत्वानुप्रेक्षा । ५ । अयं कायोऽतीवाशुच्युत्पत्तिस्थानं दुर्गन्धोऽपवित्रो मूत्रधातुरुधिरसमेधितो वर्चोगृहवदशुचिभाण्डं मक्षिकापक्षसदृशच्छविमात्रप्रच्छादितोऽतिदुर्गन्धरसनिस्यन्दिस्रोतोबिलसमाकुलः पवित्रमपि वस्तु समाश्रितं तत्क्षणमेव निजत्वं प्रापयति अङ्गारवत् । अस्य कायस्य जलादिप्रक्षालनचन्दनकर्पूरकुङ्कुमाद्यनुलेपनराजाह्लादिधूपनेष्टकादिप्रघर्षणचूर्णादिवासनपुष्पादिभिरधिवासनादिभिरशुचित्वमपाकर्तुं न शक्यते । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि पुनर्भाव्यमानानि जीवस्यातिविशुद्धिं कुर्वन्तीति चिन्तयतो भव्यजीवस्य [7]वर्ष्मणि वैराग्यं समुत्पद्यते, तेन तु संसारसमुद्रसन्तरणाय मनः सावधानं भवतीत्यशुचित्वानुप्रेक्षा । ६ । इह जन्मनि परत्र च[8] आस्रवा जीवस्यापायं कुर्वन्ति । इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया महानदीप्रवाहवेगवत्तीव्रा भवन्ति ।

---

१ प्रकारसं– आ०, द०, ज० । २ कुरु इति आ०, द०, ज० । ३ नापहरति ता० । ४ स्वजने पर– आ०, द०, ज० । ५ –स्य सम्बन्ध– आ०, द०, ज० ६ –गृहगवादिभ्यः ता० । ७ वर्ष्मभिः आ०, द०, ज० । ८ पसत्रा आ०, द०, ज० ।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि इन्द्रियाणि यथासङ्ख्यं गजमत्स्यभ्रमरशलभमृगादीन् दुःखार्णवे पातयन्ति, क्रोधमानमायालोभाश्च शिपिविष्टबाहुबलिकृष्णचमरादिवत् वधबन्धापकीर्तिपरिक्लेशप्रभृतीन् प्रतिपादयन्ति । इह जन्मनि परत्र च नरकादिगतिगर्तेषु नानादुःखाग्निप्रज्वलितेषु पर्यटयन्ति । एवमाद्यास्रवदोषानुचिन्तने भव्यजीवस्य उत्तमक्षमादिभिः शुभमतिर्न परिस्खलतीत्यास्रवानुप्रेक्षा ।७। यः पुमान् कच्छपवत् संवृतात्मा भवति तस्यापदो न भवन्ति विकृता इव[1] । यथा महासमुद्रे नौकायाः छिद्रपिधानेऽविद्यमाने क्रमेण प्रविष्टजलेन नावो निमज्जने सति नावाश्रितानामवश्यमेव विनाशो भवति विवरपिधाने तु निर्विघ्नं वाञ्छितदेशान्तरप्राप्तिर्भवति तथा कर्मागमनद्वारसंवरणे सति श्रेयःप्रतिबन्धो न भवति । [2]एवमाध्यायतो जीवस्य संवरणे नित्यमेवोद्यम उत्पद्यते संवराच्च निर्वाणपदप्राप्तिर्भवतीति संवरानुप्रेक्षा ।८। अबुद्धिपूर्वा कुशलमूला च निर्जरा द्विप्रकारा भवति । तत्राऽबुद्धिपूर्वा अकुशलानुबन्धापरनामिका नरकादिषु कर्मफलोदयजा जायते । परीषहसहने तु शुभानुबन्धा निरनुबन्धा च द्विप्रकारापि कुशलमूला निर्जरा उच्यते । एवं निर्जरायाः दोषान् गुणांश्च भावयतो भव्यजीवस्य कर्मनिर्जरणार्थं [3]प्रवृत्तिर्भवतीति निर्जराऽनुप्रेक्षा ।९। अधस्तादुपरि तिर्यक् च सर्वत्राकाशोऽनन्तो वर्तते तस्यानन्ताकाशस्यालोकाकाशापरसंज्ञस्यातिशयेन मध्यप्रदेशे लोको वर्तते तस्य लोकस्य स्वभावसंस्थानाद्यनुचिन्तनं कुर्वतो भव्यजीवस्य तत्त्वज्ञानस्य विशुद्धिर्भवतीति लोकानुप्रेक्षा । १० । एकस्मिन् निगोताङ्गे सिद्धानामनन्तगुणा जीवा भवन्ति एवं विश्वोऽपि लोकः स्थावरैः प्राणिभिर्निरन्तरम्भृतो वर्तते तस्मिन् लोके त्रसत्वं दुर्लभम् । किंवत् ? महार्णवे पतितवज्रसिकताया एकं रजोवत् । तत्र च त्रसेषु विकलत्रयं भूयिष्ठं वर्तते । तत्र पञ्चाक्षत्वमतिदुर्लभम् । किंवत् ? सर्वगुणेषु कृतज्ञतावत् । तत्रापि पञ्चेन्द्रियाः पशवो मृगाः पक्षिणः करकेन्दुकादयो बहवो वर्तन्ते तेषु पञ्चेन्द्रियेष्वपि मनुष्यजन्मातीवदुर्लभम् । किंवत् ? मार्गे पतितरत्नोच्चयवत् । मनुष्यजन्मनिर्गमने तु पुनर्मनुष्यजन्मप्राप्तिरतीवदुर्लभा । किंवत् ? भस्मीभूतवृक्षस्य भस्मनः पुनः तरुभवनवत् । मनुष्यजन्मप्राप्तौ च सुदेशो दुर्लभस्तस्मिन् [4]सुकुलं दुर्लभं तस्मिन्निन्द्रियाणि दुर्लभानि तेषु सम्पदो दुर्लभास्तासु आरोग्यताऽतिदुर्लभा एतेषु विश्वेष्वपि सामग्र्येषु प्राप्तेषु जैनधर्मश्चेन्न भवेत्तर्हि मनुष्यजन्म निरर्थकं भवति । किंवत् ? लोचनविहीनवदनवत् । एवं कष्टलभ्यं जिनधर्मं प्राप्य यो विषयसुखेषु रज्जति स पुमान् भस्मने गन्धसारतरुवरं दहति । यस्तु विषयसुखेभ्यो विरक्तस्तस्य तपोभावनाधर्मभावनासुखमरणादिलक्षणोपलक्षिता समाधिरतीव दुर्लभः । समाधौ च सति विषयसुखविरक्ततालक्षणो बोधिलाभः सफलो भवति । एवं भावयतो भव्यजीवस्य बोधिं लब्ध्वा कदाचिदपि प्रमादो न भवतीति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा । ११ । सर्वज्ञवीतरागप्रणीतः सर्वजीवदयालक्षणः सत्याधिष्ठानो विनयमूल उत्तमक्षमाबलः ब्रह्मचर्यगुप्त उपशमप्रधानो

---

१ विप्रकृता इव ता० । २ एवमाख्यायध्यायतो ता० । ३ प्रकृति- ता० । ४ सत्कुलम् ता० ।

नियतिलक्षणो विषयव्यावृत्तिरूप इत्यर्थः निष्परिग्रहतालम्बनो धर्मो भवति, अस्य धर्मस्यालाभात् प्राणिनोऽनादिकाले संसारे पर्यटन्ति पापकर्मोदयसमुत्पन्नमसातं भुञ्जते, धर्मस्य तु प्राप्तौ नानाऽभ्युदयसुखं भुक्त्वा परमनिर्वाणं लभन्ते, इति चिन्तनं कुर्वतो भव्यजीवस्य धर्मे अकृत्रिमः स्नेहो भवति तेन[1] तु सदा तं प्रतिपद्यते इति धर्मानुप्रेक्षा ।१२। एवं द्वादशानुप्रेक्षा सन्निधाने जीव उत्तमक्षमादीन् धरति तेन त्वतिशयेन संवरो भवति । अनुप्रेक्षां भावयन् पुमान् उत्तमक्षमादीन् प्रतिपालयति परीषहांश्च सहते तेन द्वयोर्मध्येऽनुप्रेक्षाग्रहणम् । [2]भवन्ति चात्र काव्यानि—

अध्रौव्यं भुवने न कोपि शरणं [3]दृष्टो भवश्चैकता
जन्तोरन्यतयाऽशुचिस्तनुरियं कर्मास्रवः संवरः ।
सारं निर्जरणं विधेरसुखकल्लोको दुरापा भवे
बोधिर्दुर्लभधर्म एव सदनुप्रेक्षा इति द्वादश ॥

[4]सद्दृग्बोधचरित्ररत्ननिचयं मुक्त्वा शरीरादिकं
न स्थेयोऽभ्रतडित्सुरेन्द्रधनुरम्भोबुद्बुदाभं क्वचित् ।
एवं चिन्तयतोऽभिषङ्गविगमः स्याद्भुक्तमुक्ताशने
यद्वत्तद्विलयेऽपि नोचितमिदं संशोचनं श्रेयसे ॥

नो कश्चिच्छरणं नरस्य मरणे जन्मादिदुःखोत्करे
व्याघ्राघ्रातमृगात्मजस्य विजने वार्धौ पतत्रेरिव ।
पोताद् भ्रष्टतनोर्धनं तनुरमा जीवेन पुत्रादयो
नो यान्त्यन्यभवं परन्तु शरणं धर्मः सतामर्हतः ॥

जीवः कर्मवशाद् भ्रमन् भववने भूत्वा पिता जायते
पुत्रश्चापि निजेन मातृभगिनीभार्यादुहित्रादिकः ।
राजा पत्तिरसौ नृपः पुनरिहाप्यन्यत्र शैलूषवत्
नानावेषधरः कुलादिकलितो दुःख्येव मोक्षादृते ॥

संसारप्रभवं सुखासुखमथो निर्वाणजं सच्छिवं
भुञ्जेऽहं खलु केवलो न च परो बन्धुः श्मशानात् परम् ।
नायात्येव सहायतां व्रजति मे धर्मः सुशर्मद्रुमः
स्फूर्जज्जीवनदः सदाऽस्तु महतामेकत्वमेतच्छ्रिये ॥

नोऽनित्यं जडरूपमैन्द्रियकमाद्यन्ताश्रितं वर्ष्म यत्
सोऽहं तानि बहूनि चाश्रयमयं खेदोऽस्ति सद्गादतः ।

---

१ तेन सदा आ०, द०, ज० । २ भवति चात्र काव्यम् आ०, द०, ज०, । ३ दुष्टो आ०, द०, ज० । ४ आ०,द०,ज० प्रतिषु न सन्ति एते श्लोकाः । ५ तनुः शरीरम् जीवेन अमा-सह इत्यर्थः ।

नीरक्षीरवदङ्गतोऽपि यदिमेऽन्यत्वं ततोऽन्यद्भृशं
साक्षात्पुत्रकलत्रमित्रगृहरैरत्नादिकं मत्परम् ॥

अङ्गं शोणितशुक्रसम्भवमिदं विण्मूत्रपात्रं न च
स्नानालेपनधूपनादिभिरदः पूतं भवेज्जातुचित् ।
कर्पूरादिपवित्रमत्र निहितं तच्चापवित्रं यथा
पीयूषं विषमङ्गनाधरगतं रत्नत्रयं शुद्धये ॥

स्पर्शान्नागपती रसात्तिमिरगाद् गन्धात् क्षयं षट्पदो
रूपाच्चैव पतङ्गको मृगततिर्गीतात् कषायापदाम् ।
शर्वो दोर्बलिधर्मपुत्रचमरा दृष्टान्तभाजः क्रमा-
द्धिंसादेर्धनसम्पदादिकगणः कर्मास्रवः किं मुदे ॥

वाराशौ जलयानपात्रविवरप्रच्छादने तद्गतो
यद्वत् पारमियर्ति विघ्नविगतः सत्संवरः स्यात्तथा ।
संसारान्तगतश्चरित्रनिचयाद्धर्मादनुप्रेक्षणाद्
वैराग्येण परीषहक्षमतया संपद्यतेऽसौ चिरात् ॥

श्वभ्रादौ विधियोगतो भवति या पापानुबन्धा च सा
तामाप्नोति कुधीरबुद्धिकलितः पुण्यानुबन्धा परा ।
गुप्त्यादिश्च परीषहादिविजयाद्या सत्तपोभिः कृता
सद्भिः सा प्रविधीयते मुनिवरैः चेत्थं द्विधा निर्जरा ।

पाताले नरका निकोतनिलयो मध्ये त्वसंख्ये मताः
सद्भिर्द्वीपमहार्णवाश्च गिरयो नद्यो मनुष्यादयः ।
सूर्याचन्द्रमसादयश्च गगने देवा दिवीत्थं त्रिधा
लोको वातनिवेशितोऽस्ति न कृतो रुद्रादिभिः शाश्वतः ॥

सिद्धानन्तगुणा निकोतवपुषि स्युः प्राणिनः स्थावरैः
लोकोऽयं निचितस्त्रसत्ववरपञ्चाक्षत्वदेशान्वयम् ।
दुःप्रापं खविरुकुसुधर्मविषया भावं विरागं तपो
धर्मद्योतसुखा मुमोचनमियं बोधिर्भवेद् दुर्लभा ॥

लक्ष्म प्राणिदयादि सद्विनयता मूलं क्षमादि स्मृतम्
स्वालम्बस्तु परिग्रहत्यजनता धर्मस्य सोऽयं जिनैः ।
प्रोक्तोऽनेन विना भ्रमन्ति भविनः संसारघोरार्णवे
तस्मिन्नभ्युदयं भजन्ति सुधियो निःश्रेयसं जाग्रति ॥

एता द्वादश भावना विरचिता वैराग्यसंवृद्धये
विद्यानन्दिभुवाऽनुरागवशतो धर्मस्य धीमच्छ्रिये ।
दोषज्ञश्रुतसागरेण विदुषां दोषौघविच्छित्तये
येऽन्तः सम्यगनुस्मरन्ति मुनयो नित्यं पदं यान्ति ते ॥

अथ परीषहसहनफलप्रदर्शनेनोत्साहनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

मार्गात् संवरणलक्षणाद्च्यवनमप्रच्युतिरस्खलनमिति यावत् मार्गाच्यवनम् । निर्जरा कर्मणां गलनं पतनं शटनमेकदेशेन क्षयकरणमित्यर्थः । मार्गाच्यवनं निर्जरा च मार्गाच्यवननिर्जरे तयोरर्थः प्रयोजनं यस्मिन् परीषहसहनकर्मणि तत् मार्गाच्यवननिर्जरार्थम् । परिषोढव्याः परि समन्तात् सहनीया मर्षणीयाः क्षमितव्या इत्यर्थः । ते के ? परीषहाः । वक्ष्यमाणलक्षणोपलक्षिताः क्षुधादयो द्वाविंशतिः । अथवा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तस्मादच्यवनं तदनुशीलनं तदभ्यसनम्, तदर्थं निर्जरार्थञ्च परीषहाः षोढव्याः । तेषां सहनेन कर्मणामागमनद्वाराणि पिहितानि भवन्ति । तच्च संवर एव कथ्यते । औपक्रमिकं कर्म्मणां फलं भुञ्जाना मुनयो निर्जीर्णकर्माणश्च क्रमान्मोक्षं लभन्ते । तेनायमर्थः—संवरनिर्जरामोक्षाणां साधनं परीषहसहनमित्यर्थः ।

अथ परीषहस्वरूपं परीषहसङ्ख्याञ्च परिज्ञापयितुं सूत्रमिदमाहुः—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

क्षुच्च बुभुक्षा, पिपासा च उदकादिपानेच्छा, शीतञ्च [1]शैशिर्यम् [2]उष्णश्च परितापलक्षणः, दंशमशकाश्च वनमक्षिकाः क्षुद्रजन्तुविशेषाः, नग्नस्य भावः कर्म वा नाग्न्यम्, नाग्न्यञ्च अरतिश्च स्त्री च चर्या च निषद्या च शय्या च आक्रोशश्च वधश्च याचना च अलाभश्च रोगश्च तृणस्पर्शश्च मलश्च सत्कारपुरस्कारश्च प्रज्ञा च अज्ञानञ्च अदर्शनञ्च तानि तथोक्तानि । इतरेतरद्वन्द्वः । एते सर्वे वेदनाविशेषाः द्वाविंशतिपरीषहाः मुमुक्षुणा सहनीयाः । सङ्ख्या निरूपिता । इदानीं स्वरूपं निरूप्यते—यो मुनिर्निरवद्यमाहारं मार्गयति तस्याहारस्याप्राप्तौ स्तोकाहारप्राप्तौ वा अप्रनष्टवेदनोऽपि सन् अकालेऽयोग्यदेशे च भुक्तिं नेच्छति, षडावश्यकपरिहाणिमीषदपि न सहते, ज्ञानध्यानभावनापरो भवति, बहून वारान् स्वयमेवानशनमवमौदर्यञ्च कृतवान् वर्तते, अनेकवारांश्च परकारितमनशनमवमौदर्यञ्च कृतवान् वर्तते,

१ शैशर्यम् आ०, द०, ज० । २ उष्णश्च परितापलक्षणम् आ०, द०, ज० ।

रसहीनभोजनञ्च [1]विधत्ते, तेन च शीघ्रमेव परिशुष्यच्छरीरो भवति । किंवत् ? तप्ताम्बरीषनिपतितकतिपयाम्बुबिन्दुवत् । समुद्भूतबुभुक्षावेदनोऽपि सहनशीलः सन् पुरुषो यो भिक्षालाभादलाभं बहुगुणं मन्यते, [2]क्षुधाबाधां प्रति चिन्तां न कुरुते, तस्य क्षुत्परीषहविजयो वेदितव्यः ।१। यो मुनिर्नदीतडागवापीप्रमुखजलमज्जनजलावगाहनजलपरिषेचनपरित्यागी भवति, अनियतोपवेशनस्थाना (नोऽ) नियतवसतिश्च भवति । किंवत् ? पक्षिवत् । अतिक्षारातिस्निग्धातिरूक्षातिविरुद्धभोजने सति ग्रीष्मत्वातपदाहज्वरोपवासादिभिः कायेन्द्रियोन्माथिनीं समुद्भूतां तृषं न प्रतिचिकीर्षति, तृड्वह्निज्वालां सन्तोषेणाभिनव[3]मृदुनिपपूर्णशिशिरसुरभिपानीयेन यः प्रशमयति स पिपासापरीषहविजयं लभते ।२। यो मुनिः परिहृतपञ्चवस्त्रो भवति अनियतावासश्च भवति । किंवत् ? पक्षिवत् । वृक्षमूले चतुष्पथे पर्वताग्रे [4]वर्षादित्रिषु कालेषु तिष्ठति, भूञ्झावातसम्पातं महद्धिम[5]मातपञ्च सहते, तत्प्रतीकार[6]प्राप्तिव्यपगतकाङ्क्षो भवति, पूर्वानुभूतपावकादिशीतप्रतीकारहेतुभूतद्रव्याणां नाध्येति, सम्यग्ज्ञानभावनागर्भगृहे यो वसति तस्य शीतपरीषहविजयो वेदितव्यः ।३। यो मुनिर्निर्मरुति निरम्भसि तपतपनरश्मिपरिशुष्कनिपतितच्छदरहितच्छायवृक्षे विपिनान्तरे स्वेच्छया स्थितो भवति, असाध्यपित्तोत्पादितान्तर्दाहश्च भवति, दावानलदाहपरुषमारुतागमनसञ्जनितकण्ठकाकुदसंशोषश्च भवति, उष्णप्रतीकारहेतुभूतबह्वनुभूत[7]चूतपानकादिकस्य न स्मरति, जन्तुपीडापरिहृतिसावधानमनाश्च यो भवति तस्योष्णपरीषहजयो भवति, पवित्रचारित्ररक्षणं भवति ।४। दंशग्रहणेन सिद्धं मशकग्रहणं किमर्थम् ? उपलक्षणार्थम् । यथा काकेभ्यो घृतं रक्षणीयम् [8]कथं श्वमार्जारादिभ्यो [9]न रक्षणीयं रक्षणीयमेव तथा दंशमशकोपद्रवं यो मुनिः सहते सः पिशुकपुत्तिकापिपीलिकाकीट[10]मक्षिकामत्कुणवृश्चिकाद्युपद्रवमपि सहते इत्यर्थः । परं तेषां स्वयं बाधां न कुरुते केवलं मुक्तिलाभसङ्कल्पमात्रं वस्त्रं परिदधाति तस्य मुनेर्दंशमशकपरीषहविजयो भवति ।५। नाग्न्यं नाम जात्यसुवर्णवदकलङ्कं परं विषयिभिरशक्तकैः [11]शेफविकारवद्भिश्च धर्तुं न शक्यते । तद्धरतां परप्रार्थनं न भवति । नाग्न्यं हि नाम याचनावनजन्तुघातादिदोषरहितमपरिग्रहत्वात् मुक्तिप्रापणाद्वितीयकारणं परेषां बाधाया अकारकम् । यो मुनिस्तन्नाग्न्यं बिभर्ति तस्य मनसि विकृतिर्नोत्पद्यते, स्त्रीरूपमतीवापवित्रं मृतक[12]रूपसमानमहर्निशं भावयति । ब्रह्मचर्य्यमक्षुण्णं तस्य भवति । एवमचेलव्रतधारणं नाग्न्यं निष्पापं ज्ञातव्यम् ।६। यो मुनिः हृषीकविषयेषु निरुद्यमो भवति, सङ्गीतादिरहितशून्यगृहदेवमन्दिरवृक्षकोटरशिलाकन्दरादिषु वसति, स्वाध्यायध्यानभावनासु रतिं करोति, सर्वप्राणिषु सर्वदा

१ विद्यते आ०,द०, ज० । २ क्षुधो बाधाम् ता० । ३ मृदुना पूर्ण–आ०,द०,ज० । ४ वर्षादिषु त्रिषु आ०, द०, ज० । ५ –मतापञ्च ता० । ६ –प्राप्ते व्य– आ०, द०, ज० । ७ –पूतपा– ता०, आ०, ज० । ८ कथञ्च मार्जारादि– आ०, द०, ज० । ९ न रक्षणीयमेव ता० । १० –मशकामक्षुणवृ– ता० । ११ शोकवि– आ०, द०, ज० । १२ –रूपकस– आ०, द०, ज० ।

परमकारुणिको भवति, दृष्टश्रुतानुभूतभोगस्मरणभोग[1]कथाकर्णनविषमेषुशरप्रवेशनिच्छिद्रहृदयो भवति तस्य मुनेररतिपरीषहविजयो वेदितव्यः । ७ । यो [2]मुनिः रमणशीलेषु स्थानेषु आरामेषु गृहादिषु तेषु च स्थानेषु अभिनवतारुण्यविलासैः मधुपानमदचपललोचनैः पीडयन्तीषु स्त्रीषु विद्यमानास्वपि कच्छपवत् संवृतान्तः[3]करणकरणोऽतिमनोहरेषद्धसनकोमलालापविलासविभ्रमसमीक्षणवर्करविधान[4]मदमन्थरगतिकामेषुव्यापारनिरर्थीकरणचारित्रो भवति, नेत्रवक्त्रभ्रूविकारशृङ्गाराकाररूपसहेलाविजृम्भितपीनोन्नतस्तनजघनोरुमूलकक्षानाभिनिरीक्षणादिभिरनुपद्रुतचित्तो भवति तस्य मुनेः स्त्रीपरीषहविजयो[5] भवति । ८ । यो मुनिः चिरकालसेवितगुरुकुलब्रह्मचर्यो भवति, बन्धमोक्षपदार्थमर्म जानाति, संयमायतनयतिजनविनयभक्त्यर्थं गुरुजनेनानुज्ञातो देशान्तरं गच्छति, नभस्वानिव निस्सङ्गो भवति, उपवाससामिभोजनगृहवस्तुसङ्ख्याघृतादिरसपरिहरणादिकायक्लेशसहनशीलकायो भवति, देशकालानुसारेण संयमाविरोधिगमनं करोति, चरणावरणरहितः [6]कठिनशर्करोपलकण्टकमृत्खण्डपीडनसञ्जातपादबाधोऽपि बाधां न मन्यते, गृहस्थावस्थोचितवाहनयानादिकानां न स्मरति, कालानुसारेण षडावश्यकानां परिहाणिं न करोति तस्य मुनेश्चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः । ९ । यो मुनिः पितृवनशून्यागारपर्वतगुहागह्वरादिषु पूर्वानभ्यस्तेषु निवासं करोति, भास्करनिजेन्द्रियज्ञानोद्योतपरीक्षितप्रदेशे क्रियाकाण्डकरणार्थं नियतकालां निषद्यामाश्रयति, तत्र च दूरक्षहर्यक्षतरक्षुद्वीपिगजादि[7]नानाभयानकपाकसत्त्वशब्दश्रवणादिनापि निर्भयो भवति, देवतिर्यग्मनुष्याचेतनकृतोपसर्गान् यथासम्भवं सहमानोऽपि वीरासनकुक्कुटासनादिषु अविघटमानशरीरो भवति, मोक्षमार्गान्न प्रच्यवते, मन्त्रविद्यादिप्रतीकारं न करोति, पूर्वोक्तदुष्टश्वापदबाधाञ्च सहते तस्य मुनेर्निषद्यापरीषहजयो भवति । १० । यो मुनिर्ज्ञानानुशीलनध्यानविधानमार्गगमनादिखेदवान् भवति, मुहूर्तमेकं निद्रानुभवनार्थमुच्चावचपरुषभूमिषु भूरिशर्करोपलकपालसङ्कटेषु शीतोष्णेषु स्थानकेषु शय्यां करोति, एकपार्श्वे दण्डवत् पतित्वा जन्तुपीडां परिहरन् काष्ठवत् मृतकवत् पार्श्वमपरिवर्तमानः शेते, ज्ञानभावनानुरञ्जितचेताः भूतप्रेतादिविहितनानोपसर्गोऽपि अचलिताङ्गोऽअमितकाल (लं) तद्विहितबाधां क्षमते, शार्दूलादिमानयं प्रदेशोऽचिरादस्मात् पलायनं श्रेयस्करं विभावयन्तः कदा भविष्यतीत्यविहितखेदः शय्यापरीषहजयं लभते । ११ । यो मुनिर्मिथ्यादर्शनोद्धततीव्रक्रोधसहितानामज्ञानिजनानामवज्ञानं निन्दामसभ्यवचनानि च लम्भितोऽपि शृण्वन्नपि क्रुधग्निज्वालां न प्रकटयति, आक्रोशेषु अकृतचेतास्तत्प्रतीकारं विधातुं शीघ्रं शक्नुवन्नपि निजपापकर्मोदयं परिचिन्तयन् तद्वाक्यान्यश्रुत्वा तपोभावनापरान्तरङ्गो निजहृदये कषायविषमविषकणिकामपि न करोति स मुनिराक्रोशपरीषहविजयी भवति । १२ । यो मुनिर्निशातशस्त्रमुपंढिमुद्गरमुशलकुन्तगोः-

१ –कथावर्णन आ०, द०, ज० । २ मुनिरपडक्षीणेषु स्था–ता० । ३ -करणः आ०, द०, ज० । ४ –धानपदम– आ०, द०, ज० । ५ –यो वेदितव्या ता० । ६ कठिनकर्करोपल– आ०, द०, ज० । ७ –दिना भया– आ०, द०, ज०।

फणागोलकप्रदरपदूंषकम्बातर्जनकपाषाणादिभिस्ताड्यमानपीड्यमानशरीरोऽपि वधकेषु ईषदपि मनःकलुषतां न करोति, पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमायातममी [1]चर्पटकाः किं कर्तुं समर्थाः कायोऽप्ययं तोयबुद्बुदवद्विघटनस्वरूपो दुःखहेतुरेतैर्बाध्यते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मम केनचिदपि हन्तुं न शक्यन्ते इति विचिन्तयन् काष्ठकुद्दा[2]लतक्षणगन्धसारद्रवानुलेपनादिषु समानमानसो भवति स वधपरीषहजयं लभते । एतदुक्तम्—

"अज्ञानभावादशुभाशयाद्वा करोति चेत् कोपि नरः खलत्वम् ।
तथापि सद्भिः शुभमेव चिन्त्यं न मथ्यमानेऽप्यमृते विषं हि ॥ [ ]

अन्यच्च—

"आकृष्टोऽहं हतो नैव[3] हतो वा न द्विधाकृतः ॥
मारितो न हृतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥" [ ] ।१३।

यो मुनिः बहिरभ्यन्तरतपोविधानभावनाकृतकृशतरशरीरः तपतपनतापशोषिताङ्गो विध्यापिताङ्गार इव निश्छायकायः अस्थिशिराजालत्वङ्मात्रशेषशरीरयन्त्रोऽपि [4]विधावसथजायुप्रभृत्यर्थं दीनवचनवदनवैवर्ण्यकरसंज्ञादिकरणैर्न किमपि याचते, भिक्षासमयेऽपि विद्युदुद्योतवद् दुरुपलक्ष्यवर्ष्मा स याचनापरीषहक्षमो भवति । १४ । यो मुनिरङ्गीकृतैकवारनिर्दोषभोजनः चरण्युरिवानेकदेशचारी मौनवान् वाचंयमः समो वा सकृत् निजशरीरदर्शनमात्रतन्त्रः करयुगलमात्राऽमत्रः बहुभिर्दिवसैरप्यनेकमन्दिरेषु भोजनमलब्ध्वापि अनार्तरौद्रचेताः दात्र्यदातृपरीक्षणपराङ्मुखो लाभादलाभो वरं तपोवृद्धिहेतुः परमं तप इति सन्तुष्टचेता भवति स मुनिरलाभविजयी वेदितव्यः । १५ । यो मुनिर्विश्वाशुचिनिधानं परित्राणवर्जितमध्रुवं शरीरं जानाति, तत्संस्कारं न करोति, गुणमाणिक्या[5]वपनसङ्ग्रहणवर्द्धनावनकारणं विज्ञाय तस्य स्थितिनिमित्तं भोजनाङ्गीकारं प्रचुरोपकारं करोति कुर्वन्नपि भोजनमक्षम्रक्षणव्रणविलेपनगर्तपूरणवदतत्परतया करोति । सकृदुपभोगस्य सेवा, मुहुर्मुहुरुपभोगस्यासेवा विरुद्धाहार उच्यते । अपथ्याहारसेवनं वैषम्यमुच्यते । तादृशाहारपानसेवनसमुत्पन्नपवनादिविकाररोगोऽपि सन् समकालसमुत्पन्नव्याधिशतसहस्रोऽपि तद्वशवर्ती न भवति, जल्लमलसर्वौषधर्द्धिप्रभृतिसम्प्राप्ततपऋद्धिसंयोगेऽपि कायनिस्पृहः सन् रोगप्रतीकारं नापेक्षते स रोगपरीषहविजयी भवति । १६ । यो मुनिः शुष्कतृणपत्रपरुषशर्करोपलनिशितकण्टकमृत्तिकाशूलकटफलकशिलादिव्यधनविहितपादवेदनोऽपि सन् तत्राविहितचेताः चर्यायां शय्यायां निषद्यायाञ्च जन्तुपीडां परिहरन् निरन्तरमेवाप्रमत्तचेताः तृणस्पर्शपरीषहसहः [7]स हि वेदितव्यः । १७ । यो मुनिरम्बुकायिकप्राणिपीडापरिहरणचेताः मरणपर्यन्तमस्नानव्रतधारी भवति तीव्रतपन-

१ वर्पटकाः ता० । २ –दाललक्षण– आ०, द०, ज० । ३ नैवं आ०, द०, ज० । ४ –कृतकृशतश ता० । ५ विधाव्यसथ– आ०,द०,ज० । ६ –क्यावसन– द० । ७ स वेदि– आ०,द०, ज० ।

भानुसञ्जनितपरितापसमुत्पन्नप्रस्वेदवशमरुदानीतपांशुनिचयोऽपि किलासकच्छूदद्रूकण्डूयादिके विकारे समुत्पन्नेऽपि सङ्घट्टनप्रमर्दनकण्डूयनादिकं तदुत्पन्नजन्तुपीडापरिहारार्थं न करोति, ममाङ्गे मलं वर्तते अस्य भिक्षोरङ्गे कीदृशं नैर्मल्यं वर्तत इति सङ्कल्पनं न करोति, अवगमचरित्रपूतपानीयप्रधावनेन कर्ममलकर्दमापनयनार्थं च सदैवोद्यतमतिर्भवति केशलोचासंस्कारखेदं न गणयति स मुनिर्मलपरीषहस[1]हनशीलो भवति । १८ । यो मुनिः पूजनप्रशंसनात्मके सत्कारे क्रियारम्भाग्रतःकरणामन्त्रणालक्षणे पुरस्कारे केनाप्यविहिते सति एवं मनसि न करोति यदहं चिरतरतपस्वी महातपोऽनुष्ठाता च स्वसमयपरसमयनिर्णयविधायकः अनेकवारपरवादिविजयी ईदृशस्यापि मम न कश्चित् प्रणामं करोति न कोपि भक्तिं विदधाति नापि सम्भ्रमं सृजति नाप्यासनादिप्रदानं विधत्ते, वरं मिथ्यादृष्टयो येऽल्पशास्त्रज्ञमपि निजपक्षीयं तपस्विनं गृहस्थं [2]चातीवभक्तिमन्तः सकलज्ञसम्भावनेन सम्मानयन्ति, निजसमयप्रभावनार्थं नैते तत्त्वज्ञानपरा अपि परमार्हताः, वरं व्यन्तरादयः किल पूर्वमतितीव्रतपसां झटिति चर्चनं कुर्वन्तीति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते, यदि न मिथ्या तर्हि मादृशानां तपस्विनां पूजादिकं व्यन्तरादयः किमिति न कुर्वन्तीति दुर्ध्यानपरो न भवति स मुनिः सत्कारपुरस्कारपरीषहसहनशीलो भवति । १९ । यो मुनिस्तर्कव्याकरणच्छन्दोल[3]ङ्कारसारसाहित्याध्यात्मशास्त्रादिनिधानाङ्गपूर्वप्रकीर्णकनिपुणोऽपि सन् ज्ञानमदं न करोति, ममाग्रतः प्रवादिनः सिंहशब्दश्रवणात् वनगजा इव पलायन्ते भास्करप्रभायां ज्योतिरिङ्गणा इव न प्रभासन्ते इति च मदं नाधत्ते स मुनिः प्रज्ञापरीषहविजयी भवति । २० । यो मुनिः सकलशास्त्रार्थसुवर्णपरीक्षाकषपट्टस[4]मानधिषणोऽपि मूर्खैरसहिष्णुभिर्वा मूर्खोऽयं बलीवर्द इत्याद्यवक्षेपवचनमाप्यमानोऽपि सहते, अत्युत्कृष्टदुश्चरतपोविधानञ्च विधत्ते, सदा अप्रमत्तचेताश्च सन् ब्रह्मवर्चसं नापेक्षते स मुनिरज्ञानपरीषहजयं लभते । २१ । यो मुनिरत्युत्कृष्टवैराग्यभावनाविशुद्धान्तरङ्गो भवति, विज्ञातसमस्तवस्तुतत्त्वश्च स्यात्, जिनायतनत्रिविधसाधुजिनधर्मपूजनसम्माननतन्निष्ठो भवति, चिरदीक्षितोऽपि सन्नेवं न चिन्तयति अद्यापि ममातिशयवद्बोधनं न सञ्जायते उत्कृष्टश्रुतव्रतादिविधायिनां किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्ति, इति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते दीक्षेयं निष्फला व्रतधारणञ्च फल्गु एव वर्तते इति सम्यग्दर्शनविशुद्धिसन्निधानादेवं न मनसि करोति तस्य मुनेरदर्शनपरीषहजयो भवतीत्यवसानीयम् । २२ । इत्थं सङ्कल्पप्राप्तान् परीषहान् संक्लिष्टचेताः क्षममाणः रागद्वेषमोहादिपरिणामोत्पन्नास्रवनिरोधे सति महान्तं संवरं लभते ।

अथामी परिषहाः भवारण्यमतिक्रमितुमुद्यतस्य मुनेः किं सर्वे भवन्ति आहोस्वित् किमस्ति कश्चिद् विशेषः इति प्रश्ने सति उत्तरं दीयते । एते पूर्वोक्तलक्षणद्वाविंशतिपरीषहाश्चा-

---

१ –सहशीलो ता० । २ वातीव– आ०, द०, ज० । ३ –लङ्कारसाहि– आ०, द०, ज० । ४ –पदसमानाधिकरणोऽपि ज० । पदज्ञानाधि– द०

रित्रान्तरमुद्दिश्य भाज्याः भवन्ति योजनीयाः स्युरित्यर्थः । तत्र सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोः कति भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

सूक्ष्मसाम्परायो दशमगुणस्थानवर्ती मुनिः । केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणद्वयं छद्मशब्देनोच्यते । छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः । छद्मस्थश्चासौ वीतरागः छद्मस्थवीतरागः अन्तर्मुहूर्तेन समुत्पत्स्यमानकेवलज्ञानः, क्षीणकषायो (ये) द्वादशे गुणस्थाने वर्तमानः साधुः छद्मस्थवीतराग इत्युच्यते, वीतरागश्छद्मस्थश्चोच्यते । सूक्ष्मसाम्परायश्च छद्मस्थवीतरागश्च सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागौ तयोः सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोः । अधिकरणे सप्तमीद्विवचनम् । तेनायमर्थः—सूक्ष्मसाम्पराये मुनौ छद्मस्थवीतरागे च साधौ चतुर्दशपरीषहा भवन्ति । के ते चतुर्दश परीषहाः सम्भवन्ति ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधालाभरोगतृणस्पर्शमलप्रज्ञाज्ञानानीति चतुर्दशेति निर्द्धारणादपरे परीषहा न भवन्तीति ज्ञातव्यम् । ननु छद्मस्थवीतरागे मोहनीयस्य कर्मणोऽभावो वर्तते तेन मोहनीयकृताष्टपरीषहा नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारादर्शनलक्षणा न भवन्तीति युक्तमेव, सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहनीयोदयो वर्तते तत्सद्भावात् तत्सम्बन्धिनोऽप्यष्टापि परीषहाः कथं न भवन्तीति चतुर्दशैव भवन्तीति कथमु[1]च्यते ? साधूक्तं भवता; सूक्ष्मसाम्पराये सर्व एव मोहोदयो न वर्तते । किन्तर्हि ? सञ्ज्वलनलोभकषायोदयोऽस्ति । सोऽपि बादरो न वर्तते किन्त्वतिसूक्ष्मो वर्तते तेन सूक्ष्मसाम्परायोऽपि वीतरागछद्मस्थसदृशो वर्तते तेन तस्मिन्नपि चतुर्दशपरीषहा भवन्तीति घटते । ननु छद्मस्थवीतरागे मोहोदयस्याभावो वर्तते सूक्ष्मसाम्पराये च तस्य मोहोदयस्य मन्दत्वमस्ति तेन द्वयोरपि क्षुत्पिपासादीनाञ्चतुर्दशानामपि परीषहानामभावो वर्तते तत्सहनं कथमुच्यते भवद्भिरिति ? आह—साधूक्तं भवता; यद्यपि अनयोश्चतुर्दशपरीषहा न वर्तन्त एव तथापि तत्सहनशक्तिमात्रं वर्तते तेन तयोस्ते दीयन्ते, यथा सर्वार्थसिद्धिदेवानां महातमःप्रभापृथ्वीगमनं यद्यपि न वर्तते तथापि तद्गमनशक्तित्वात्तेषां तद्गतिरुपयुज्यते ।

अथाह कश्चित्—शरीरयुक्तात्मनि परिषहसहनं प्रतिज्ञातं भवद्भिः[2]घातिसङ्घातघातने समुत्पन्नकेवलज्ञानेऽघातिकर्मचतुष्कफलानुभवनपरिचरति भगवति सयोगिजिने शरीरवति [3]कियन्तः परीषहा उत्पद्यन्त इति पर्यनुयोगे तत्परीषहकथनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

एकेनाधिका दश एकादश । शाकपार्थिवादिदर्शनाधिकशब्दलोपः । यथा शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः प्रियशब्दो लुप्यते तथात्राधिकशब्दलोपः । अथवा एकश्च दश च एकादश ह्रस्वस्य दीर्घता । एकादशपरीषहाः जिने जितघातिकर्मणि भगवति भवन्ति वेदनीयकर्मसद्भावात्,

---

१ –मुच्यते भवद्भिरित्याह सा– आ० । २ घातिसंघातने सत्युत्प– ता० । ३ कियन्तः कियन्तः परी– आ०, द० ।

वेदनीयाश्रयास्ते[1] उपचर्यन्ते । ते के ? क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलसंज्ञका एकादश । ननु मोहनीयोदयसहायभावाभावात् क्षुत्पिपासादिवेदनाऽभावे कथमेते उत्पद्यन्ते ? साधूक्तं भवता;वेदनाया अभावेऽपि वेदनाद्रव्यकर्मसद्भावो वर्तते तदपेक्षया परीषहोपचारो विधीयते । कथमिति चेत् ? निश्शेषज्ञानावरणकर्मणि नष्टे सति करणक्रमव्यवधानरहितसमस्तवस्तुप्रद्योतकसकलविमलकेवलज्ञाने विद्यमाने भगवति चिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानं यद्यपि न वर्तते तथापि चिन्ताकार्यकर्माभावफलापेक्षया ध्यानं भगवति यथोपचर्यते तथा परीषहा अपि उपचारमात्रेण दीयन्ते, अन्यथा वेदनासद्भावे कवलाहारस्यापि प्रसङ्गः सञ्जायते । तेन बुभुक्षादिलक्षणो वेदनोदयो भगवति न वर्तते कथं कवलाहारः स्यात् ? तथा चोक्तमार्षे—

"न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात् ।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥
असद्वेद्योदयाद् भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः ।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतम् ॥
असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकम् ।
त्वय्यकिञ्चिरं (त्करं) मन्त्रशक्त्ये[2]वापवनं (बलं) विषम् ॥
असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः ।
त्वय्यकिञ्चित्करो नाथ सामग्र्या[3] हि फलोदयः ॥" [आदिपु० २५।३९-४२]

पञ्चविंशतितमे पर्वणि श्लोकचतुष्टयमिदम् ।

अथवा "**साध्याहाराणि वाक्यानि भवन्ति**" [ ] इति वचनादत्र सूत्रे सोपस्कारतया व्याख्यानं क्रियते । एकादशजिने 'न सन्ति' इति वर्णत्रयं[4]प्रक्षिप्यते । तेनायमर्थ उत्पद्यते—जिने केवलिनि एकादश क्षुदादयः परीषहा न सन्ति न वर्तन्ते । अथवा "**एकेन अधिका न दश परिषहा जिने,एकादश जिने**" इति व्याख्यानन्तु प्रमेयकमलमार्तण्डे [पृ० ३०७] वर्तते ।

अथ सूक्ष्मसाम्परायादिषु गुणस्थानेषु व्यस्ताः परीषहा योजिता भवद्भिः । कस्मिंश्चिद्गुणस्थाने समस्ता अपि वर्तन्ते इति प्रश्नसद्भावे सूत्रमाहुराचार्याः—

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

बादरः स्थूलः साम्परायः कषायो यस्मिन् गुणस्थाने सबादरसाम्परायः तद्योगान्मुनिरपि बादरसाम्परायस्तस्मिन् सर्वे परीषहा भवन्ति । अस्यायमर्थः–बादरसाम्पराय इत्युक्ते नवममेव गुण-

१ तदुपचर्यन्ते ता० । २ –वापवं विषम् ता० । अपबलम्– अपहतशक्तिकमित्यर्थः । ३ सामग्र्यादिफलो– आ०, द०, ज० । ४ संक्षिप्यते आ०, द०, ज० ।

स्थानं केवलं न गृहीतव्यं किन्त्वर्थबलेन प्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिकरणगुणस्थान-चतुष्टयं ग्राह्यं तेषु सर्वे परीषहाः सङ्गच्छन्ते अक्षीणाशयदोषत्वात्। तथा च सामायिकचारित्रे छेदोपस्थापनायाञ्च परिहारविशुद्धिसंयमे च त्रिषु चारित्रेषु सर्वे परीषहाः प्रत्येकं सम्भवन्ति पारिशेषात्।

अथ ज्ञातमेतत् परीषहाणां गुणस्थानदानम्। कस्याः प्रकृतेः के परीषहाः कर्तव्या भवन्तीति न ज्ञायते इति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

ज्ञानस्यावरणं यस्य मुनेः स ज्ञानावरणस्तस्मिन् ज्ञानावरणे। अथवा ज्ञानस्यावरणं ज्ञानावरणं तस्मिन् ज्ञानावरणे कर्मणि सति प्रज्ञा च अज्ञानञ्च प्रज्ञाज्ञाने द्वौ परीषहौ भवतः। ननु ज्ञानावरणे सति अज्ञानपरीषहो भवतीति युक्तमेव, परमिदं न युक्तम्, प्रज्ञापरीषहो ज्ञानावरणविनाशे खलु जायते, ज्ञानमदो भवति, स प्रज्ञापरीषहो ज्ञानावरणे सति कथमुत्पद्यते ? साधूक्तं भवता; प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी वर्तते तेन प्रज्ञामदो मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति सञ्जायते अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानावरणे सति प्रज्ञा मदं जनयत्येव सर्वावरणक्षये तु मदो नोत्पद्यते।

अथापरयोः प्रकृत्योः सद्भावे अपरपरीषहद्वयसूचनार्थं सूत्रमुच्यते—

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

दर्शनमोहश्च अन्तरायश्च दर्शनमोहान्तरायौ तयोर्दर्शनमोहान्तराययोः, अदर्शनञ्च अलाभश्चादर्शनालाभौ। दर्शनमोहे कर्मणि सति अदर्शनपरीषहो भवति अन्तराये कर्मणि लाभान्तराये कर्मणि सति अलाभपरीषहो भवत्येवं यथाक्रमं ज्ञातव्यम्।

अथ मोहनीयं कर्म द्विप्रकारं वर्तते दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्चेति। तत्र दर्शनमोहे अदर्शनपरीषहो भवद्भिरुक्तश्चारित्रमोहे कति परीषहाः भवन्तीत्यनुयोगे सति सूत्रमिदमुच्यते—

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः ॥ १५ ॥

नग्नस्य भावो नाग्न्यम्, न रतिररतिः, स्तृणाति आच्छादयति परगुणान् निजदोषान् इति स्त्री, निषीदन्त्युपविशन्ति यस्यां सा निषद्या, आक्रोशनमाक्रोशः, याचतिर्याचना, नाग्न्यञ्च अरतिश्च स्त्री च निषद्या च आक्रोशश्च याचना च सत्कारपुरस्कारश्च नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः। चारित्रमोहे कर्मणि उदिते सति एते सप्त परीषहाः पुंवेदोदयादिनिमित्ता भवन्तीति वेदितव्यम्। मोहोदये सति प्राणिपीडा भवति प्राणिपीडापरिहारार्थं निषद्यापरीषह उत्पद्यते इति वेदितव्यम्।

अथापरपरीषहनिमित्तकर्मविशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

वेदनीये कर्मणि सति शिष्यन्ते ध्रियन्ते इति शेषा एकादश परीषहा भवन्ति **"ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने"** [त० सू० ९ । १३] इति द्वौ परीषहावुक्तौ । **"दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ"** [त० सू० ९।१४] इति च द्वावुक्तौ । **"चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः"** [त० सू० ९।१५] इति सप्त परीषहाः सम्भाविताः, एवं सूत्रत्रयेण समुदिता एकादशोक्तास्तेभ्यो ये उद्धरितास्ते शेषा इत्युच्यन्ते । ते के क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलसंज्ञका एकादश परीषहाः वेदनीये भवन्ति जिने योजिता इत्यर्थः ।

अथ पूर्वोक्ताः परीषहा एकस्मिन् पुरुषे युगपत् कति भवन्तीति प्रश्ने सूत्रमिदमुच्यते स्वामिना—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकान्नविंशति[1]ः (तेः) ॥१७॥

एक आदिर्येषां ते एकादयः । कस्मिंश्चिदात्मनि एकः परीषहो कस्मिंश्चिद् द्वौ कस्मिंश्चित्त्रयः इत्यादिकृत्वा एकोनविंशतिपर्यन्तमेकस्मिन्नात्मनि युगपत् समकालं भवन्तीति भाज्याः यथासम्भवं योजनीयाः । अत्र आ एकान्नविंशतिरिति शब्दो वर्तते स तु आङ् अभिविध्यर्थः । अभिविधिरिति कोऽर्थः ? अभिव्याप्तिः । एकोनविंशतिमभिव्याप्येत्यर्थः । कथम् ? शीतोष्णपरीषहयोर्मध्ये अन्यतरो भवति शीतमुष्णो वा । शय्यापरीषहे सति निषद्याचर्ये न भवतः, निषद्यापरीषहे शय्याचर्ये द्वौ न भवतः, चर्यापरीषहे शय्यानिषद्ये द्वौ न भवतः । इति त्रयाणामसम्भवे एकान्नविंशतिरेकस्मिन् युगपद् भवति । ननु प्रज्ञाज्ञाने परस्परविरुद्धे तत्राप्येकस्य हानिः कथं न भवति ? साधूक्तं भवता; श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञामद उत्पद्यते अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानापेक्षया अज्ञानपरीषहोऽपि भवतीति को विरोधः ।

अथ गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयलक्षणाः पञ्च संवरहेतव उक्ताः । इदानीं चारित्रं संवरहेतुर्वक्तव्यस्तद्भेदपरिज्ञानार्थं योगोऽयमुच्यते—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् ॥१८॥

सामायिकञ्च छेदोपस्थापना च परिहारविशुद्धिश्च सूक्ष्मसाम्परायश्च यथाख्यातञ्च सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातम् । समाहारो द्वन्द्वः । एतत्सामायिकादिकं पञ्चकं चारित्रं भवतीति वेदितव्यम् । इति शब्दः समाप्त्यर्थे वर्तते तेन यथाख्यातेन चारित्रेण परिपूर्णः कर्मक्षयो भवतीति ज्ञातव्यम् । यद्यपि दशलाक्षणिके धर्मे यः संयम उक्तः स चारित्रमेव तथाप्यत्र पर्यन्ते चारित्रनिरूपणं साक्षात्परमनिर्वाणकारणं चारित्रं भवतीति ज्ञापनार्थं वेदितव्यम् । तत्र सामायिकस्य लक्षणं दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक-

---

१ एकोनविंशतिः आ०, द०, ज० ।

प्रोषधोपवासेत्यधिकारे प्रोक्तमेव। [1]अपरेषां चतुर्णां लक्षणं कथयिष्यामः। तत्र सामायिकं द्विप्रकारम्–परिमितकालमपरिमितकालञ्चेति। स्वाध्यायादौ सामायिकग्रहणं परिमितकालम्। ईर्यापथादावपरिमितकालं वेदितव्यम्। प्रमादेन कृतो योऽत्यर्थः प्रबन्धो हि हिंसादीनामव्रतानामनुष्ठानं तस्य विलोपे सर्वथा परित्यागे सम्यगागमोक्तविधिना प्रतिक्रिया पुनर्व्रतारोपणं छेदोपस्थापना, छेदेन दिवसपक्षमासादिप्रव्रज्याहापनेनोपस्थापना व्रतारोपणं छेदोपस्थापना। सङ्कल्पविकल्पनिषेधो वा छेदोपस्थापना भवति। परिहरणं परिहारः प्राणिवधनिवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः [2]कर्ममलकलङ्कप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिः चारित्रमिति वा विग्रहः। तल्लक्षणं यथा—द्वात्रिंशद्वर्षजातस्य बहुकालतीर्थकरपादसेविनः प्रत्याख्याननामधेयनवमपूर्वप्रोक्तसम्यगाचारवेदिनः प्रमादरहितस्य अतिपुष्कलचर्यानुष्ठायिनस्तिस्रः सन्ध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनो मुनेः परिहारविशुद्धिचारित्रं भवति। तथा चोक्तम्—

"[3]बत्तीसवासजम्मो वासपुधत्तं च तित्थयरमूले।
पच्चक्खाणं पढिदो संभूणदुगाऊअविहारो॥" [ ]

त्रिवर्षादुपरि नववर्षाभ्यन्तरे वर्षपृथक्त्वमुच्यते। अतीव सूक्ष्मलोभो यस्मिन् चारित्रे तत् सूक्ष्मसाम्परायं चारित्रम्। सर्वस्य मोहनीयस्योपशमः क्षयो वा वर्तते यस्मिन् तत् परमौदासीन्यलक्षणं जीवस्वभावदशं यथाख्यातचारित्रम्। यथा स्वभावः स्थितस्तथै[4]वाख्यातः कथित आत्मनो यस्मिन् चारित्रे तद् यथाख्यातमिति निरुक्तेः। यथाख्यातस्य अथाख्यातमिति च द्वितीया संज्ञा वर्तते। तत्रायमर्थः–चिरन्तनचारित्रविधायिभिर्यदुत्कृष्टं चारित्रमाख्यातं कथितं तादृशं चारित्रं पूर्वं जीवेन न प्राप्तम्, अथ अनन्तरं मोहक्षयोपशमाभ्यां तु प्राप्तं यच्चारित्रं तत् अथाख्यातमुच्यते। सामायिकाच्छेदोपस्थानाचारित्रं गुणैः प्रकृष्टं छेदोपस्थापनाचारित्रात् परिहारविशुद्धिचारित्रं गुणैः प्रकृष्टं परिहारविशुद्धिचारित्रात्सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं गुणैः प्रकृष्टं सूक्ष्मसाम्परायचारित्रात् यथाख्यातचारित्रं गुणैः प्रकृष्टं तेन कारणेनोत्तरगुणप्रकर्षज्ञापनार्थं सामायिकादीनामनुक्रमेण वचनम्।

अथ संवरस्य निर्जरायाश्च हेतुभूतस्य तपसः स्वरूपनिरूपणार्थं प्रबन्धो रच्यते। तत्तपो द्विप्रकारम्–बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। तत्र बाह्यं षट्प्रकारमाभ्यन्तरञ्च षट्प्रकारम्। तत्र बाह्यषट्प्रकारस्य तपसः सूचनार्थं सूत्रमिदमु[5]च्यते भगवद्भिः—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः॥ १९॥

१ परेषाम् आ०, द०, ब०। २ कर्मफल– आ०, द०, ज०। ३ "तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं च तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाऊयविहारो॥" –गो० जी० गा० ४७२। त्रिंशद्वर्षजन्मा वर्षपृथक्त्वं खलु तीर्थकरमूले। प्रत्याख्यानं पठितः संध्योनद्विगव्यूतिविहारः॥ ४ तथैव ख्यातः आ०, द०, ज०। ५ सूच्यते ता०।

अनशनञ्च अवमौदर्यञ्च वृत्तिपरिसङ्ख्यानञ्च रसपरित्यागश्च विविक्तशय्यासनञ्च कायक्लेशश्च अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः । एते षट् संयमविशेषा बाह्यं तपो भवति । तत्र तावदनशनस्य स्वरूपं निरूप्यते—तदात्वफलमनपेक्ष्य संयमप्राप्तिनिमित्तं रागविध्वंसनार्थं कर्मणां चूर्णीकरणार्थं सद्ध्यानप्राप्त्यर्थं शास्त्राभ्यासार्थञ्च यत् क्रियते उपवासस्तदनशनमुच्यते । संयमे सावधानार्थं वातपित्तश्लेष्मादिदोषोपशमनार्थं ज्ञानध्यानादिसुखसिद्ध्यर्थं यत्स्तोकं भुज्यते तदवमौदर्यम् । आशानिरासार्थमेकमन्दिरादिप्रवृत्तिविधानं तद्विषये सङ्कल्पविकल्पचिन्तानियन्त्रणं वृत्तेर्भोजनप्रवृत्तेः परि समन्तात् सङ्ख्यानं मर्यादागणनमिति यावद् वृत्तिपरिसङ्ख्यानमुच्यते । हृषीकमदनिग्रहनिमित्तं निद्राविजयार्थं स्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थं रसस्य वृष्यस्य घृतादेः परित्यागः परिहरणं रसपरित्यागः । विविक्तेषु शून्येषु गृहगुहागिरिकन्दरादिषु पाणिपीडारहितेषु शय्यासनं विविक्तशय्यासनं पञ्चमं तपः । किमर्थम् ? आबाधाविरहार्थं ब्रह्मचर्यसिद्ध्यर्थं स्वाध्यायध्यानादिप्राप्त्यर्थं तद्विधातव्यम् । कायस्य क्लेशो दुःखं कायक्लेशः । उष्णर्तौ आतपे स्थितिः वर्षर्तौ तरुमूलनिवासित्वं शीतर्तौ निरावरणस्थाने शयनं नानाप्रकारप्रतिमास्थानञ्चेत्येवमादिकः कायक्लेशः षष्ठं तपः किंकृते क्रियते ? शरीरदुःखसहनार्थं शरीरसुखानभिवाञ्छार्थं जिनधर्मप्रभावनाद्यर्थञ्च । यदृच्छया समागतः परीषहः, स्वयमेव कृतः कायक्लेशः इति परीषहकायक्लेशयोर्विशेषः । यस्माद् बाह्यवस्त्वपेक्षया[1]अदः षट्प्रकारं तपो भवति परेषाम[2]ध्यक्षेण च भवति तेनेदं तपो बाह्यमुच्यते ।

अथेदानीमाभ्यन्तरतपःप्रकारसूचनार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

प्रकृष्टो यः शुभावहो विधिर्यस्य साधुलोकस्य स प्रायः प्रकृष्टचारित्रः । प्रायस्य साधुलोकस्य चित्तं यस्मिन् कर्मणि तत् प्रायश्चित्तमात्मशुद्धिकरं कर्म । अथवा प्रगतः प्रणष्टः अयः प्रायः अपराधस्तस्य चित्तं शुद्धिः प्रायश्चित्तम् । कौ[3]रस्करादित्वात्सकारागमः ।

"प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत् ।
तस्य शुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं तदुच्यते ॥" [ ]

प्रायश्चित्तञ्च विनयश्च वैयावृत्त्यञ्च स्वाध्यायश्च व्युत्सर्गश्च ध्यानञ्च प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि एतानि षट् संयमस्थानानि उत्तरमभ्यन्तरं तपो भवति । अभ्यन्तरस्य मनसो नियमनार्थत्वात्तत्र प्रमादोत्पन्नदोषनिषेधनं प्रायश्चित्तम् । ज्येष्ठेषु मुनिषु आदरो विनय उच्यते । शरीरप्रवृत्त्या यात्रादिगमनेन द्रव्यान्तरेण वा यो ग्लानो मुनिस्तस्य पादमर्दनादिभिरारा[4]धनं वैयावृत्त्यमुच्यते । ज्ञानभावनायामलसत्वपरिहारः स्वाध्याय उच्यते । इदं शरीरं मदीयमिति सङ्कल्पस्य परिहृतिर्व्युत्सर्गः । मनोविभ्रमपरिहरणं ध्यानमुच्यते ।

१–या तु षट्– आ०, द०, ज० । २–मध्यक्षणे च आ०, द०, ज० । ३–किरस्करा– ता० ।
४ –राधना आ०, ज० ।

अथेदानीमुक्तानां प्रायश्चित्तादीनां प्रकारसङ्ख्याप्रतिपादनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

नव च चत्वारश्च दश च पञ्च च द्वौ च नवचतुर्दशद्वयस्ते भेदा येषां ध्यानात् प्राग्वर्तिनां प्रायश्चित्तादिव्युत्सर्गान्तानां ते नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदाः यथाक्रमं यथासंख्यं पञ्चानां भेदा भवन्तीत्यर्थः । तेन नवभेदं प्रायश्चित्तं चतुर्भेदो विनयः दशभेदं वैयावृत्त्यं पञ्चभेदः स्वाध्यायो द्विभेदो व्युत्सर्ग इति । ध्यानस्य तु बहुतरं वक्तव्यं वर्तते तेन तत्प्रबन्धो भिन्नः करिष्यते ।

अथेदानीं प्रायश्चित्तस्य नवानां भेदानां निर्भेदनार्थं सूत्रमिदमुच्यते स्वामिना—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-
परिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

आलोचनञ्च प्रतिक्रमणञ्च तदुभयञ्च विवेकश्च व्युत्सर्गश्च तपश्च छेदश्च परिहारश्च उपस्थापना च तास्तथोक्ताः । एकान्तनिषण्णाय प्रसन्नचेतसे विज्ञातदोषदेशकालाय गुरवे तादृशेन शिष्येण विनयसहितं यथा भवत्येवमवञ्चनशीलेन शिशुवत्सरलबुद्धिना आत्मप्रमादप्रकाशनं निवेदनमाराधनाभगवतीकथितदशदोषरहितमालोचनमुच्यते । के ते दश दोषा इति चेत् ? उच्यते—

"[1]आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्ततस्सेवी ॥" [भ० आरा० गा० ५६२]

अस्यायमर्थः—आकम्पितम्–उपकरणादिदानेन गुरोरनुकम्पामुत्पाद्य आलोचयति । १ । अनुमानितं वचनेनानुमान्य वा आलोचयति । २ । यद्दृष्टं यल्लोकैः दृष्टं तदेवालोचयति । ३ । बादरञ्च स्थूलमेवालोचयति । ४ । सुहुमं च सूक्ष्ममल्पमेव दोषमालोचयति । ५ । छण्णं केनचित् पुरुषेण निजदोषः प्रकाशितः, भगवन् , यादृशो दोषोऽनेन प्रकाशितस्तादृशो दोषो ममापि वर्तते इति प्रच्छन्नमालोचयति । ६ । सद्दाउलियं शब्दाकुलितं यथा भवत्येवं यथा गुरुरपि न शृणोति तादृशकोलाहलमध्ये आलोचयति । ७ । बहुजनं बहून् जनान् प्रत्यालोचयति । ८ । अव्यक्तम्-अव्यक्तस्याप्रबुद्धस्याग्रे आलोचयति । ९ । तत्सेवी यो गुरुस्तं दोषं सेवते तदग्रे आलोचयति । १० । इत्थंविधमालोचनं यदि पुरुषमालोचयति तदा एको गुरुरेक आलोचकः पुमानिति पुरुषस्य द्व्याश्रयमालोचनम् । स्त्री चेदालोचयति तदा चन्द्रसूर्यदीपादिप्रकाशे एको गुरुः द्वे स्त्रियौ अथवा द्वौ गुरू एका स्त्री इत्येवं स्त्र्यालोचनं त्र्याश्रयं भवति । आलोचनरहितमालोचयतो वा प्रायश्चित्तमकुर्वतो महदपि तपोऽभिप्रेतफलप्रदं न भवति । निजदोषमुच्चार्योच्चार्य मिथ्या मे दुष्कृतमस्त्विति प्रकटीकृतप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणमुच्यते । प्रतिक्रमणं गुरुणानुज्ञातेन शिष्येणैव कर्तव्यम् । आलोचनां प्रदाय प्रतिक्रमणा आचार्येणैव

---

१ आकम्पितमनुमानितं यद्दृष्टं बादरञ्च सूक्ष्मञ्च । छन्नं शब्दाकुलितं बहुजनमव्यक्तं तत्सेवी ।

कर्तव्या । शुद्धस्याप्यशुद्धत्वेन यत्र सन्देहविपर्ययौ भवतः, अशुद्धस्यापि शुद्धत्वेन वा यत्र निश्चयो भवति तत्र तदुभयमालोचनप्रतिक्रमणद्वयं भवति । यद्वस्तु नियतं भवति तद्वस्तु चेन्निजभाजने पतति मुखमध्ये वा समायाति यस्मिन् वस्तुनि गृहीते वा कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य वस्तुनस्त्यागः क्रियते तद्विवेकनाम प्रायश्चित्तं भवति । नियतकालं कायस्य वाचो मनसश्च त्यागो व्युत्सर्ग उच्यते । उपवासादिपूर्वोक्तं षड्विधं बाह्यं तपस्तपोनाम प्रायश्चित्तं भवति । दिवसपक्षमासादिविभागेन दीक्षाहापनं छेदो नाम प्रायश्चित्तं भवति । दिवसपक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारो नाम प्रायश्चित्तं भवति । महाव्रतानां मूलच्छेदनं विधाय पुनरपि दीक्षाप्रापणम् उपस्थापना नाम प्रायश्चित्तं भवति । अत्राचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे आलोचना भवति । पुस्तकपिच्छ्यादिपरोपकरणग्रहणे आलोचना भवति । परोक्षे प्रमादतः आचार्यादिवचनाकरणे आलोचना भवति । आचार्यमपृष्ट्वा आचार्यप्रयोजनेन गत्वा आगमने आलोचना भवति । परसङ्घमपृष्ट्वा स्वसंघागमने आलोचना भवति । देशकालनियमेन अवश्यकर्तव्यस्य व्रतविशेषस्य धर्मकथादिव्यासङ्गेन विस्मरणे सति पुनःकरणे आलोचना भवति । एवंविधेऽन्यस्मिन् कार्यस्खलने आलोचनैव प्रायश्चित्तं भवति । षडिन्द्रियेषु [1]वागादिदुःपरिणामे प्रतिक्रमणं भवति । आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने प्रतिक्रमणं भवति । व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे प्रतिक्रमणं भवति । पैशुन्यकलहादिकरणे प्रतिक्रमणं भवति । वैयावृत्त्यस्वाध्यायादिप्रमादे प्रतिक्रमणं भवति । गोचरगतस्य कामलतोप्थाने प्रतिक्रमणं भवति । परसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणं भवति । दिवसरात्र्यन्ते भोजनगमनादौ आलोचनाप्रतिक्रमणद्वयं भवति । लोचनखच्छेदस्वप्नेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु उभयम् । पक्षमासचतुर्माससंवत्सरादिदोषादौ चोभयं भवति । मौनादिना विना लोचविधाने व्युत्सर्गः । उदरकृमिनिर्गमे व्युत्सर्गः । हिममसकादिमहावातादिसंहर्षातिचारे व्युत्सर्गः । आर्द्रभूम्युपरि गमने व्युत्सर्गः । हरिततृणोपरि गमने व्युत्सर्गः । कर्दमोपरि गमने व्युत्सर्गः । जानुमात्रजलप्रवेशे व्युत्सर्गः । परनिमित्तवस्तुनः स्वोपयोगविधाने व्युत्सर्गः । नावादिना नदीतरणे व्युत्सर्गः । पुस्तकपतने व्युत्सर्गः । प्रतिमापतनेव्युत्सर्गः । पञ्चस्थावरविघातादृष्टदेशतनुमलविसर्गादिषु व्युत्सर्गः । पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियान्त[2]र्व्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु व्युत्सर्गः, [3]एवमुच्चारप्रश्रवणादिषु च प्रसिद्धो व्युत्सर्गः[4] । एवमुपवासादिकरणं छेदकरणं परिहारकरणमुपस्थापनाकरणं सर्वमेतत्परमागमाद् वेदितव्यम् । नवविधप्रायश्चित्तफलं तावत् भावप्रसा[5]दनमनवस्थाया अभावः शल्यपरिहरणं धर्मदार्ढ्यादिकञ्च वेदितव्यम् ।

अथ विनयभेदानाह—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

---

१ वागादिषु प--आ०, द०, ज० । २ -तर्व्याख्या- आ०, द०, ज० । ३ एवं प्रायश्चित्तमुच्चार- ता० । ४-सर्ग एव ता० । ५-प्रसादनम् आ०, द०, ज० ।

ज्ञानञ्च ज्ञानविनयः दर्शनञ्च दर्शनविनयः चारित्रञ्च चारित्रविनयः उपचारश्च उपचारविनयः ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। एवमधिकृत एव विनयशब्दोऽत्र योजितव्यः। अनलसेन देशकालद्रव्यभावादिशुद्धिकरणेन बहुमानेन मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणं ज्ञानाभ्यासो ज्ञानस्मरणादिकं यथाशक्ति ज्ञानविनयो वेदितव्यः। तत्त्वार्थश्रद्धाने शङ्कादिदोषरहितत्वं दर्शनविनय उच्यते। ज्ञानदर्शनवतः पुरुषस्य दुश्चरचरित्रे विदिते सति तस्मिन् पुरुषे भावतो[1]ऽतीवभक्तिविधानं भवति। स्वयं चारित्रानुष्ठानञ्च चारित्रविनयो भवति। आचार्योपाध्यायादिषु अध्यक्षेषु अभ्युत्थानं वन्दनाविधानं[2]करकुड्मलीकरणम्, तेषु परोक्षेषु सत्सु कायवाङ्मनोभिः करयोटनं गुणसङ्कीर्तनमनुस्मरणं स्वयं ज्ञानानुष्ठायित्वञ्च उपचारविनयः। विनये सति ज्ञानलाभो भवति आचारविशुद्धिश्च सञ्जायते, सम्यगाराधनादिकञ्च पुमाँल्लभते। इति विनयफलं ज्ञातव्यम्।

अथ वैयावृत्त्यभेदमाह—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

आचार्यश्च उपाध्यायश्च तपस्वी च शैक्षश्च ग्लानश्च गणश्च कुलञ्च संघश्च साधुश्च मनोज्ञश्च ते तथोक्ताः। तेषां दशविधानां पुरुषाणां दशविधं वैयावृत्त्यं भवति। आचरन्ति व्रतान् यस्मादित्याचार्यः। मोक्षार्थमुपेत्याधीयते शास्त्रं तस्मादित्युपाध्यायः। महोपवासादितपोऽनुष्ठानं विद्यते यस्य स तपस्वी। शास्त्राभ्यासशीलः शैक्षः। रोगादिपीडितशरीरो ग्लानः। वृद्धमुनिसमूहो गणः। दीक्षकाचार्यशिष्यसङ्घातः कुलम्। ऋषिमुनियत्यनागारलक्षणश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसमूहः सङ्घः। ऋष्यार्यिकाश्रावकश्राविकासमूहो वा सङ्घः। चिरदीक्षितः साधुः वक्तृत्वादिगुणविराजितो लोकाभिसम्मतो विद्वान् मुनिर्मनोज्ञ उच्यते। तादृशोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोज्ञ उच्यते। एतेषां दशविधानां व्याधौ सति प्रासुकौषधभक्तपानादिपथ्यवस्तुवसतिकासंस्तरणादिभिर्वैयावृत्त्यं कर्तव्यम्। धर्मोपकरणैः परीषहविनाशनैः मिथ्यात्वादिसम्भवे सम्यक्त्वे प्रतिष्ठापनं बाह्यद्रव्यासम्भवे कायेन श्लेष्माद्यन्तर्मलाद्यपनयनादिकं तदनुकूलानुष्ठानञ्च वैयावृत्त्यमुच्यते। तदनुष्ठाने किं फलम्? समाधिप्राप्तिः विचिकित्साया अभावः वचनवात्सल्यादिप्राकट्यञ्च वेदितव्यम्।

अथ स्वाध्यायभेदानाह—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्म्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

वाचना च पृच्छना च अनुप्रेक्षा च आम्नायश्च धर्मोपदेशश्च वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः। एते पञ्च स्वाध्याया उच्यन्ते। पञ्चानां लक्षणम् यथा यो गुरुः पापक्रियाविरतो भवति अध्यापनक्रियाफलं नापेक्षते स गुरुः शास्त्रं पाठयति शास्त्रस्यार्थं वाच्यं कथयति ग्रन्थार्थद्वयञ्च व्याख्याति एवं त्रिविधमपि शास्त्रप्रदानं पात्राय ददाति उपदिशति सा वाचना कथ्यते। पृच्छना प्रश्नः अनुयोगः। शास्त्रार्थं जानन्नपि गुरुं पृच्छति। किमर्थम्? सन्देहविनाशाय। निश्चितोऽप्यर्थः किमर्थं पृच्छयते? बलाधाननिमित्तं ग्रन्थार्थप्रबलतानिमित्तं सा पृच्छना। निजोन्नति-

1 –तोऽतिभक्ति-ता०। 2 अञ्जलिकरणम्।

परप्रतारणोपहासादिनिमित्तं यदि भवति तदा संवरार्थिका न भवति । परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं सा अनुप्रेक्षा लक्ष्यते । अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यच्छुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः कथ्यते । दृष्टादृष्टप्रयोजनमनपेक्ष्य उन्मार्गविच्छेदनार्थं सन्देहच्छेदनार्थमपूर्वार्थप्रकाशनादिकृते केवलमात्मश्रेयोऽर्थं महापुराणादिधर्मकथाद्यनुकथनं धर्मोपदेश उच्यते । तदुक्तम्—

"हितं ब्रूयात् मितं ब्रूयात् ब्रूयाद्धर्म्यं यशस्करम् ।
प्रसङ्गादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करम् ॥" [ ]

अस्य पञ्चविधस्यापि स्वाध्यायस्य च किं फलम्? प्रज्ञातिशयो भवति प्रशस्ताध्यवसायश्च सञ्जायते परमोत्कृष्टसंवेगश्चकास्ति । कोऽर्थः? प्रवचनस्थितिर्जागर्ति तपोवृद्धिर्बोभोति, अतिचारविशोधनं वर्वर्ति, संशयोच्छेदो जाघटीति, मिथ्यावादिभयाद्यभावो भवति ।

अथ व्युत्सर्गस्वरूपनिरूपणं विधीयते—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

बाह्यश्च अभ्यन्तरश्च बाह्याभ्यन्तरौ, तौ च तौ उपधी परिग्रहौ बाह्याभ्यन्तरोपधी तयोर्बाह्याभ्यन्तरोपध्योः । सम्बन्धे षष्ठीद्विवचनम् । तेनायमर्थः—बाह्यस्योपधेरभ्यन्तरस्य चोपधेर्व्युत्सर्गो व्युत्सर्जनं परित्यागो द्विविधो भवति । वास्तुधनधान्यादिरूपात्तो बाह्योपधिः । कोपादिक आत्मदुष्परिणामोऽभ्यन्तरोपधिः । नियतकालो यावज्जीवं वा शरीरत्यागः अभ्यन्तरोपधित्याग उच्यते । महाव्रते धर्मे प्रायश्चित्ते अत्र च यद्यप्यनेकवारान् व्युत्सर्ग उक्तस्तथापि न पुनरुक्तदोषः[1], कस्यचित् पुरुषस्य क्वचित् त्यागशक्तिरिति[2] पुरुषशक्त्यपेक्षयाऽनेकत्र[3] भणनमुत्तरोत्तरोत्साहात्यागार्थं वाऽनेकत्र भणनं न दोषाय भवति । तस्य व्युत्सर्गस्य किं फलम्? निःसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशानिरासो दोषोच्छेदनं मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्यादि ।

अथ ध्यानं बहुवक्तव्यमिति यदुक्तं तस्य स्वरूपनिरूपणार्थं प्रबन्धो रच्यते । तत्र तावद् ध्यानस्य प्रयोक्ता ध्यानस्वरूपं ध्यानकालनिर्द्धारणं चैतत्त्रयं मनसि [4]कृत्वा सूत्रमिदमाहुराचार्याः—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ २७ ॥

उत्तमसंहननं वज्रर्षभवज्रनाराचनाराचलक्षणं यस्य स उत्तमसंहननस्तस्योत्तमसंहननस्येत्यनेन [5]ध्यानस्य कर्ता प्रोक्तः । एवंविधस्य पुरुषस्य ध्यानं भवति । किन्नाम ध्यानम्? एकाग्र-

---

१–रुक्तो दोषः आ०, द०, ज० । २ त्यागे शक्तिः आ०, द०, ज० । ३ –नेकशः भ– आ०, द०, ज० । ४ धृत्वा आ०, द०, ज० । ५ ध्यानकर्ता आ०, द०, ज० ।

चिन्तानिरोधः । एकमग्रं मुखमवलम्बनं द्रव्यं पर्यायः तदुभयं स्थूलं सूक्ष्मं वा यस्य स एकाग्रः एकाग्रस्य चिन्तानिरोधः आत्मार्थं परित्यज्यापरचिन्तानिषेध एकाग्रचिन्तानिरोधे ध्यानमुच्यते । नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती भवति सा चिन्ता ध्यानं नोच्यते । चिन्ताया अपरसमस्तमुखेभ्यः समग्रावलम्बनेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे प्रधानवस्तुनि नियमनं निश्चलीकरणमेकाग्रचिन्तानिरोधः स्यात्—इत्यनेनेकाग्रचिन्तानिरोधलक्षणं ध्यानस्वरूपं प्रतिपादितम् । मुहूर्त इति घटिकाद्वयं मुहूर्तस्यान्तर्मध्ये अन्तर्मुहूर्तः । आ मर्यादीकृत्यान्तर्मुहूर्तात् । एतावानेव कालो ध्यानस्य भवतीत्यनेन ध्यानकालनिर्द्धारणं विहितम् । एकाग्रचिन्ताया दुधरत्वादन्तर्मुहूर्त्तात् परतः एकाग्रचिन्तानिरोधो न भवति । चपलापि चिन्ता यद्यन्तर्मुहूर्तं स्थिरा भवति तदा अचलत्वेन ज्वलन्ती सा [1]सर्वकर्मविध्वंसं करोति । चिन्ताया निरोधः खलु ध्यानं भवद्भिरुक्तं निरोधस्तु अभाव उच्यते तेन एकाग्रचिन्तानिरोध एकाग्रचिन्ताया अभावो यदि ध्यानं भवति तर्हि ध्यानमसदविद्यमानं स्यात् अबालवालेयशृङ्गवत् । युक्तमुक्तं भवता–अन्यचिन्तानिवृत्त्यपेक्षया असत् स्वविषयाकारप्रवृत्त्यपेक्षाया सत् , अभावस्य भावान्तरत्वात् । अथवा निरोधनं निरोधः इत्ययं शब्दो भावे न भवति । किन्तर्हि भवति ? कर्मणि भवति । तत्कथम् ? निरुध्यत इति निरोधः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" [ ] इति वचनात् कर्मणि घञ् प्रत्ययः । तेनायमर्थः–चिन्ता चासौ निरोधश्च चिन्तानिरोधः एकाग्रचिन्तानिश्चलत्वमित्यर्थः । अत्राय भाव – अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते । किंवत् ? अपरिस्पन्दमानाग्निज्वालावत् । यथा अपरिस्पन्दमानाग्निज्वाला शिखा इत्युच्यते तथा अपरिस्पन्देनावभासमानं ज्ञानमेव ध्यानमिति तात्पर्यार्थः । अत्र त्रिषूत्तमसंहननेषु आद्यसंहननेनैव मोक्षो भवति अपरसंहननद्वयेन तु ध्यानं भवत्येव परं मुक्तिर्न भवति ।

अथ ध्यानस्य भेदा उच्यन्ते—

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

दुःखम् अर्दनमर्ति वा ऋतमुच्यते, ऋते दुःखे भवमार्तम् । रुद्रः क्रूराशयः प्राणी, रुद्रस्य कर्म रौद्रं रुद्रे वा भवं रौद्रम् । धर्मो वस्तुस्वरूपम् , धर्मादनपेतं धर्म्यम् । मलरहितं जीवपरिणामोद्भवं शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् । आर्तञ्च रौद्रश्च धर्म्यञ्च शुक्लञ्च आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि, एतानि चत्वारि ध्यानानि भवन्ति । एतच्चतुर्विधमपि ध्यानं सङ्क्षिप्य द्विविधं भवति–प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदात् । पापास्रवहेतुत्वादप्रशस्तमार्तरौद्रद्वयम् । कर्ममलकलङ्कनिर्दहनसमर्थं धर्म्यशुक्लद्वयं प्रशस्तम् ।

अथ प्रशस्तस्य [2]स्वरूपमुच्यते–

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

परे धर्म्यशुक्ले द्वे ध्याने मोक्षहेतू मोक्षस्य परमनिर्वाणस्य हेतू कारणे मोक्षहेतू

१ सर्वं कर्म– आ०, द०, ज० । २ स्वरूपं निरूप्यते आ०, ज० । कथ्यते द० ।

भवतः। तत्र धर्म्यं ध्यानं पारम्पर्येण मोक्षस्य हेतुस्तद् गौणतया मोक्षकारणमुपचर्यते, शुक्लध्यानन्तु साक्षात् तद्भवे मोक्षकारणमुपशमश्रेण्यपेक्ष‍्या तु तृतीये भवे मोक्षदायकम्। यदि परे धर्म्यशुक्लध्याने मोक्षहेतू वर्तेते तर्हि आर्तरौद्रे द्वे ध्याने संसारस्य हेतू भवत इति अर्थापत्त्यैव ज्ञायते तृतीयस्य साध्यस्याभावात्।

अथार्तध्यानस्वरूपमाह—

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

न [1]मनो जानातीति अमनोज्ञमप्रियं वस्तु चेतनमचेतनञ्च। तत्र चेतनं कुत्सितरूपदुर्गन्धशरीरदौर्भाग्यादिसहितं कलत्रादिकं त्रासाद्युत्पादकमुद्वेगजननञ्च शत्रुसर्पादिकञ्च, अचेतनं परप्रयुक्तं शस्त्रादिकं विषकण्टकादिकञ्च बाधाविधानहेतुत्वात्। एतस्य सम्प्रयोगे सम्बन्धे संयोगे सति तद्विप्रयोगाय तस्यामनोज्ञस्य विप्रयोगाय विनाशार्थं स्मृतिसमन्वाहारः स्मृतेश्चिन्तायाः समन्वाहारः अपराध्यानरहितत्वेन पुनः पुनश्चिन्तने प्रवर्तनं स्मृतिसमन्वाहारः। कथमेतस्य मम विनाशो भविष्यतीति चिन्ताप्रबन्ध इत्यर्थः।

अथ द्वितीयस्यार्तस्य लक्षणमाह—

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

मनो जानाति चित्ताय रोचते मनोज्ञं तस्य मनोज्ञस्य [2]प्रियस्य वस्तुनोऽर्थकथनं विपरीतं पूर्वोक्तादर्थाद् विपरीत[3]चिन्तनं विपर्यस्ताध्यानं द्वितीयमार्तं भवति। किन्तद् विपरीतम्? मनोज्ञस्य [4]इष्टस्य निजपुत्रकलत्रस्वापतेयादेर्विप्रयोगे वियोगे सति तत्संयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो [5]विकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध इष्टसंयोगापरनामकं द्वितीयमार्तध्यानं वेदितव्यम्।

अथ तृतीयार्तध्यानलक्षणमाह—

वेदनायाश्च ॥ ३२॥

अत्र चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते। तेनायमर्थः—न केवलं मनोज्ञस्य विपरीतं वेदनायाश्च विपरीतम्। वेदनायाः कस्माद् विपरीतम्? मनोज्ञात्। तेनायमर्थः—वेदनाया दुःखस्य सम्प्रयोगे सति तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारस्तृतीयमार्तं भवति। वेदनया पीडितस्याऽस्थिरचित्तस्य परित्यक्तधीरत्वस्य वेदना[6]संनिधाने सति कथमेतस्याः वेदनायाः विनाशो भविष्यतीति वेदनावियोगाय पुनः पुनश्चिन्तनमङ्गविक्षेपणमाक्रन्दनं बाष्पजलविमोचनं पापोऽयं रोगो मामतीव बाधते कदायं रोगो [7]विनङ्क्ष्यतीति स्मृतिसमन्वाहारस्तृतीयमार्तध्यानं भवतीत्यर्थः।

अथ चतुर्थस्यार्तध्यानस्य लक्षणं निर्दिश्यते—

निदानञ्च ॥ ३३ ॥

अत्र चकार आर्तेन सह समुच्चीयते। तेनायमर्थः—न केवलं पूर्वोक्तं प्रकारं तृतीयमार्त-

---

१ मनो ज्ञातीति ता०। २ प्रियवस्तु- आ०, द०, ज०। ३ -तच्चित्तचिन्तनम् आ०, द०, ज०। ४ इष्टनिज- आ०, द०, ज०। ५ विकल्पचि- आ०, द०, ज०। ६ संविधाने आ०, द०, ज०। ७ विनश्यतीति आ०, द०, ज०।

ध्यानं भवति किन्तु निदानञ्च मार्तध्यानं भवति, अनागतभोगाकाङ्क्षालक्षणं निदानमुच्यते इत्यभिप्रायः ।

अथैतच्चतुर्विधमप्यार्तध्यानं कस्य जायते इति तस्य स्वामित्वसूचनार्थं सूत्रमिदमाहुः—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

न विरता न व्रतं प्राप्ता अविरता मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रासंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानचतुष्टयवर्तिनोऽविरता उच्यन्ते । देशविरताः संयतासंयताः, श्रावका इत्यर्थः । प्रमत्तसंयताश्चारित्राऽनुष्ठायिनः पञ्चदशप्रमादसहिता महामुनय उच्यन्ते । अविरताश्च देशविरताश्च प्रमत्तसंयताश्च अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतास्तेषामविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानां तत्पूर्वोक्तमार्तध्यानं भवति । तत्र आद्यगुणस्थानपञ्चकवर्तिनां चतुर्विधमप्यार्तं जायते असंयमपरिणामसहितत्वात् । प्रमत्तसंयतानां तु चतुर्विधमप्यार्तध्यानं भवति अन्यत्र निदानात् । देशविरतस्यापि निदानं न स्यात् सशल्यस्य व्रतित्वाघटनात् । अथवा स्वल्पनिदानशल्येनाणुव्रतानिरोधाद् देशविरतस्य चतुर्विधमप्यार्तं सङ्गच्छत एव । प्रमत्तसंयतानां [1]स्वार्त्तत्रयं प्रमादस्योदयाधिक्यात् कदाचित् सम्भवति ।

अथ रौद्रध्यानस्य लक्षणं स्वामित्वं चैकेनैव सूत्रेण सूचयितुं सूत्रमिदमाहुः—

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

हिंसा च प्राणातिपातः अनृतञ्चाऽसत्यभाषणं स्तेयञ्च परद्रव्यापहरणं विषयसंरक्षणञ्च इन्द्रियार्थभोगोपभोगसम्यक्प्रतिपालनयत्नकरणं हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणानि तेभ्यः हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः । पञ्चमीबहुवचनमेतत् । एतेभ्यश्चतुर्भ्यो रौद्रं रौद्रध्यानं समुत्पद्यते इति वाक्यशेषः । तद् रौद्रध्यानं हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणस्मृतिसमन्वाहारलक्षणमविरतदेशविरतयोर्भवति पञ्चगुणस्थानस्वामिकमित्यर्थः । ननु अविरतस्य रौद्रध्यानं जाघटीत्येव देशविरतस्य तत्कथं सङ्गच्छते ? साधूक्तं भवता; य एकदेशेन विरतस्तस्य कदाचित् प्राणातिपाताद्यभिप्रायात् धनादिसंरक्षणत्वाच्च कथं न घटते परमयन्तु विशेषः–देशसंयतस्य रौद्रमुत्पद्यते एव परं नरकादिगतिकारणं तन्न भवति सम्यक्त्वरत्नमण्डितत्वात् । तदुक्तम्—

"सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रताश्च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥" [रत्नक० श्लो० ३५]

प्रमत्तसंयतस्य तु रौद्रध्यानं न भवत्येव रौद्रध्यानारम्भे [2]असंयमस्य सद्भावात् ।

[3]अथाद्य मोक्षकारणधर्म्यध्यानप्रकारलक्षणस्वामित्वादिनिर्देष्टुकामस्तत्प्रकारनिरूपणार्थं सूत्रमिदमाह—

१ तु तच्चार्तत्रयम् ता० । २ असंयतस्य तद्भावात् आ०, द०, ज० । ३ अथाद्य मोक्षकारणं धर्म्यध्यानलक्षणं स्वामित्वमिदमाहुः आ०, द०, ज० ।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

आज्ञा च अपायश्च विपाकश्च संस्थानञ्च आज्ञापायविपाकसंस्थानानि तेषां विचयनं विचय आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयस्तस्मै आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यध्यानं भवति। किन्तद् धर्म्यध्यानम् ? स्मृतिसमन्वाहारः–चिन्ताप्रबन्धः। किमर्थं चिन्ताप्रबन्धः ? आज्ञाविपाकाय आज्ञाविचयाय आज्ञाविवेकाय आज्ञाविचारणायै। तथा अपायविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः धर्म्मध्यानं भवति। तथा विपाकविचयाय स्मृतिसमन्वाहारो धर्म्यध्यानं भवति। तथा संस्थानविचयाय स्मृतिसमन्वाहारो धर्म्मध्यानं भवति। कोऽसौ आज्ञाविचयः ? यथावदुपदेष्टुः पुरुषस्याभावे सति आत्मनश्च कर्मोदयान्मन्दबुद्धित्वे सति पदार्थानामतिसूक्ष्मत्वे सति हेतुदृष्टान्तानाञ्च उपरमे सति य आसन्नभव्यः सर्वज्ञप्रणीतं शास्त्रं प्रमाणीकृत्य सूक्ष्मवस्त्वर्थं मन्यते अयं वस्त्वर्थ इत्थमेव वर्तते। इत्थं कथम् ? यादृशमर्थं जैनागमः कथयति सोऽर्थस्तादृश एवान्यथा न भवति "**नान्यथावादिनो जिनाः**" [ ] इति वचनात्। अतिगहनपदार्थश्रद्धानेनार्थावधारणमाज्ञाविचय[1] उच्यते। अथवा स्वयमेव विज्ञातवस्तुतत्त्वो विद्वान् तद्वस्तुतत्त्वं प्रतिपादयितुमिच्छुर्निजसिद्धान्ताऽविरोधेन तत्त्वस्य समर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः सन् स्मृतिसमन्वाहारं विदधाति चिन्ताप्रबन्धं करोति। किमर्थं स्मृतिसमन्वाहारं करोति ? सर्वज्ञवीतरागस्याज्ञाप्रकाशनार्थम्। सर्वज्ञवीतरागप्रणीततत्त्वार्थप्रकटनार्थं स पुमान् आज्ञाविचयलक्षणं धर्म्यं ध्यानं प्राप्नोति। १। मिथ्यादृष्टयो जन्मान्धसदृशाः सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसन्मार्गपराङ्मुखाः सन्तो मोक्षमाकाङ्क्षन्ति तस्य तु मार्गं न सम्यक् परिजानते तं मार्गमतिदूरं परिहरन्तीति सन्मार्गविनाशचिन्तनमपायविचय उच्यते। अथवा मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्राणामपायो विनाशः कथममीषां प्राणिनां भविष्यतीति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयो भण्यते। २। ज्ञानावरणाद्यष्टककर्मणां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावहेतुकं फलानुभवनं यज्जीवः चिन्तयति स विपाकविचयः समुत्पद्यते। ३। त्रिभुवनसंस्थानस्वरूपविचयाय स्मृतिसमन्वाहारो संस्थानविचयो निगद्यते।

ननु धर्म्यादनपेतं धर्म्यमिति भवद्भिरुक्तं तत्कोऽसौ धर्मो यस्मादनपेतं धर्म्यमुच्यते इति चेत् ? उच्यते–उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यदशलक्षणो धर्मः। निजशुद्धबुद्धैकस्वभावात्मभावनालक्षणश्च धर्मः। अगार्यनगारचारित्रञ्च धर्मः। सूक्ष्मबादरादिप्राणिनां रक्षणञ्च धर्मः। तदुक्तम्—

> "**धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।**
> **चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥**" [कत्ति० अणु० गा० ४७६]

तस्मादुक्तलक्षणाद्धर्मादनपेतमपरिच्युतं ध्यानं धर्म्यमुच्यते। ईदृग्विधं चतुर्विधमपि

---

१ –यमुच्यते आ०, द०, ज०।

धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य साक्षाद् भवति अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतानां तु गौणवृत्त्या धर्म्यध्यानं वेदितव्यमिति ।

अथ शुक्लध्यानमपि चतुर्विधं भवति । तत्र प्रथमशुक्लध्यानद्वयस्य तावत् स्वामित्वमुच्यते—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

शुक्लध्यानं[1] खलु चतुर्विधमग्रे वक्ष्यति । तन्मध्ये आद्ये द्वे शुक्ले शुक्लध्याने पृथक्त्ववितर्कविचारैकत्ववितर्कविचारसंज्ञे पूर्वविदः सकलश्रुतज्ञानिनो भवतः श्रुतकेवलिनः सञ्जायेते इत्यर्थः । चकारात् धर्म्यध्यानमपि भवति । **"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" [ ]** इति वचनात् श्रेण्यारोहणात् पूर्वं धर्म्यं ध्यानं भवति । श्रेण्योस्तु द्वे शुक्लध्याने भवतस्तेन सकलश्रुतधरस्यापूर्वकरणात्पूर्वं धर्म्यं ध्यानं योजनीयम् । अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसाम्पराये उपशान्तकषाये चेति गुणस्थानचतुष्टये पृथक्त्ववितर्कविचारं नाम प्रथमं शुक्लध्यानं भवति । क्षीणकषायगुणस्थानेषु एकत्ववितर्कविचारं भवति ।

अथापरशुक्लध्यानद्वयं कस्य भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

परे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तिनाम्नी द्वे शुक्लध्याने केवलिनः प्रक्षीणसमस्तज्ञानावृतेः सयोगकेवलिनोऽयोगकेवलिनश्चानुक्रमेण ज्ञातव्यम् । कोसावनुक्रमः ? सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति सयोगस्य व्युपरतक्रियानिवर्ति अयोगस्य ।

अथ येषां स्वामिनः प्रोक्तास्तेषां भेदपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

वितर्कशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते तेनायं विग्रहः—पृथक्त्ववितर्कञ्च एकत्ववितर्कञ्च पृथक्त्वैकत्ववितर्के ते च सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति च व्युपरतक्रियानिवर्ति च पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि । सूक्ष्मक्रियापादविहरणात्मकक्रियारहिता पद्मासनेनैव गमनं तस्या अप्रतिपातोऽविनाशो [2]वर्तते यस्मिन् शुक्लध्याने तत्सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति । व्युपरता विनष्टा सूक्ष्मापि क्रिया व्युपरतक्रिया तस्यां [3]सत्यामतिशयेन वर्तते इत्येवं शीलं यच्छुक्लध्यानं तद्व्युपरतक्रियानिवर्ति । एतानि चत्वारि शुक्लध्यानानि भवन्ति ।

एतेषां चतुर्णां शुक्लध्यानानां प्रतिनियतयोगावलम्बनत्वपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमाहुः स्वामिनः—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

योगशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते । तेनायं विग्रहः—त्रयः कायवाङ्मनःकर्मलक्षणा योगा यस्य स त्रियोगः । त्रिषु योगेषु मध्ये एकः कोऽपि योगो यस्य स एकयोगः । कायस्य योगो

१ –ध्यानं चतु– आ०, द०, ज० । २ विद्यते ता० । ३ सत्यां न्यतिशयेन ता०, द०, ज० ।

यस्य स काययोगः । न विद्यते योगो यस्य स अयोगः । त्रियोगश्च एकयोगश्च त्र्येकयोगौ तौ च काययोगश्चायोगश्च त्र्येकयोगकाययोगायोगास्तेषां त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् । अस्यायमर्थः—पृथक्त्ववितर्कं त्रियोगस्य भवति । मनोवचनकायानामवष्टम्भेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दनम् आत्मप्रदेशचलनम् । ईदृग्विधं पृथक्त्ववितर्कमाद्यं शुक्लध्यानं भवतीत्यर्थः । एकत्ववितर्कं शुक्लध्यानं त्रिषु योगेषु मध्ये मनोवचनकायानां मध्येऽन्यतमावलम्बनेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दनमात्मप्रदेशचलनं द्वितीयमेकत्ववितर्कं शुक्लध्यानं भवति । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति काययोगावलम्बनेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दनमात्मप्रदेशचलनं तृतीयं शुक्लध्यानं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति भवति । व्युपरतक्रियानिवर्तिशुक्लध्यानेनैकमपि योगमवलम्ब्य आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनमात्मप्रदेशचलनं भवति ।

अथ चतुर्षु शुक्लध्यानेषु मध्ये पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्कयोर्विशेषपरिज्ञानार्थं[1] सूत्रमिदमाहुः—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

पूर्वे द्वे ध्याने पृथक्त्ववितर्कमेकत्ववितर्कञ्च । एते द्वे ध्याने कथम्भूते ? एकाश्रये । एकोऽद्वितीयः परिप्राप्तसकलश्रुतज्ञानपरिसमाप्तिः पुमानाश्रयो ययोस्ते एकाश्रये । एते द्वे ध्याने परिपूर्णश्रुतज्ञानेन पुंसा आरभ्येते इत्यर्थः । पुनरपि कथम्भूते पूर्वे द्वे ध्याने ? सवितर्कवीचारे । वितर्कश्च वीचारश्च वितर्कवीचारौ वितर्कवीचाराभ्यां सह वर्तेते सवितर्कवीचारे पृथक्त्वमपि वितर्कसहितमेकत्वमपि वितर्कसहितम् । तथा पृथक्त्वमपि वीचारसहितमेकत्वमपि वीचारसहितमिति तावदनेन सूत्रेण स्थापितम् । तेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लमेकत्ववितर्कवीचारं द्वितीयं शुक्लमित्येवं भवति ।

अथैकत्ववितर्कवीचारे योऽसौ वीचारशब्दः स्थापितः स न सिद्धान्ताभिमतस्तन्निषेधार्थं सिंहावलोकनन्यायेन भगवान् सूत्रमिदं ब्रवीति—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

न विद्यते वीचारो यस्मिन् तदवीचारं द्वितीयमेकत्ववितर्कमित्यर्थः । तेन आद्यं शुक्लध्यानं सवितर्कं सवीचारञ्च स्यात् द्वितीयं शुक्लध्यानं सवितर्कमवीचारं भवेत् तेनाद्यं पृथक्त्ववितर्कवीचारं द्वितीयन्तु एकत्ववितर्कावीचारमित्युभेऽपि ध्यानेऽन्वर्थसंज्ञे वेदितव्ये ।

अथान्वर्थसंज्ञाप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रमिदमुच्यते—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

विशेषेण विशिष्टं वा तर्कणं सम्यगूहनं वितर्कः श्रुतं श्रुतज्ञानम् । वितर्क इति कोऽर्थः ? श्रुतज्ञानमित्यर्थः । प्रथमं शुक्लध्यानं द्वितीयं शुक्लध्यानं श्रुत[2]ज्ञानबलेन ध्यायते इत्यर्थः ।

---

१ –ज्ञापनार्थम् आ०, द०, ज० । २ ज्ञानेन आ०, द०, ज० ।

अथ वीचारशब्देन किं लभ्यते इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थश्च व्यञ्जनञ्च योगश्च अर्थव्यञ्जनयोगास्तेषां सङ्क्रान्तिः अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रातिः वीचारो भवतीति तात्पर्यम् । अर्थो ध्येयो ध्यानीयो ध्यातव्यः पदार्थः द्रव्यं पर्यायो वा । व्यञ्जनं वचनं शब्द इति यावत् । योगः कायवाङ्मनःकर्मसङ्क्रान्तिः परिवर्तनम् । तेनायमर्थः— द्रव्यं ध्यायति द्रव्यं त्यक्त्वा पर्यायं ध्यायति पर्यायञ्च परिहृत्य पुनर्द्रव्यं ध्यायति इत्येवं पुनः पुनः [1]सङ्क्रमणमर्थसङ्क्रान्तिरुच्यते । तथा श्रुतज्ञानशब्दमवलम्ब्य अन्यं श्रुतज्ञानशब्दमवलम्बते, तमपि परिहृत्य अपरं श्रुतज्ञानवचनमाश्रयति एवं पुनः [2]पुनस्त्यजन्नाश्रयमाणश्च व्यञ्जनसङ्क्रान्तिं लभते । तथा काययोगं मुक्त्वा वाग्योगं मनोयोगं वा आश्रयति तमपि विमुच्य काययोगमागच्छति एवं पुनः पुनः कुर्वन् योगसङ्क्रान्तिं प्राप्नोति । अर्थव्यञ्जनयोगानां सङ्क्रान्तिः परिवर्तनं वीचारः कथ्यते । नन्वेवंविधायां सङ्क्रान्तौ सत्यामनवस्थानहेतुत्वाद् ध्यानं कथं घटते ? साधूक्तं भवता; ध्यानसन्तानोऽपि ध्यानं भवत्येव बहुत्वाद् दोषो न [3]विमृश्यते । द्रव्यसन्तानः पर्यायः शब्दस्य शब्दान्तरं सन्तानः, योगस्य योगान्तरञ्च सन्तानस्तद्ध्यानमेव भवतीति नास्ति दोषः । तस्मात्कारणात् सङ्क्रान्तिलक्षणवीचारादपरविशेषकथितं चतुःप्रकारं धर्म्यं ध्यानं शुक्लञ्च ध्यानं संसारविच्छित्तिनिमित्तं चतुर्दशपूर्वप्रोक्तगुप्तिसमितिदशलक्षणधर्मद्वादशानुप्रेक्षाद्वाविंशतिपरीषहजयचारित्रलक्षणबहुविधोपायं मुनिर्ध्यातुं योग्यो भवति । गुप्त्यादिषु कृतपरिकर्मा विहिताभ्यासः सन् परद्रव्यपरमाणुं द्रव्यस्य सूक्ष्मत्वं भावपरमाणुं पर्यायस्य सूक्ष्मत्वं वा ध्यायन् सन् समारोपितवितर्कसामर्थ्यः सन्नर्थव्यञ्जने कायवचसी च पृथक्त्वेन सङ्क्रमता मनसा असमर्थशिशूद्यमवत् प्रौढार्भकवदव्यवस्थितेन अतीक्ष्णेन कुठारादिना शस्त्रेण चिराद् वृक्षं छिन्दन्निव मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयंश्च मुनिः पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानं भजते । स एव पृथक्त्ववितर्कवीचारध्यानभाक् मुनिः समूलमूलं मोहनीयं कर्म निर्दिधक्षन् मोहकारणभूतसूक्ष्मलोभेन सह निर्दग्धुमिच्छन् भस्मसात्कर्तुकामोऽनन्तगुणविशुद्धिकं योगविशेषं समाश्रित्य प्रचुरतराणां ज्ञानावरणसहकारिभूतानां प्रकृतीनां बन्धनिरोधस्थितिह्रासौ च विदधन् सन् श्रुतज्ञानोपयोगः सन् परिहृतार्थव्यञ्जनसङ्क्रान्तिः सन्नप्रचलितचेताः क्षीणकषायगुणस्थाने स्थितः सन् [4]वालवायजमणिरिव निष्कलङ्कः सन् वैडूर्यरत्नमिव निरुपलेपः सन् पुनरधस्तादनिवर्तमान एकत्ववितर्कवीचारं ध्यानं ध्यात्वा निर्दग्धघातिकर्मेन्धनो जाज्वल्यमानकेवलज्ञानकिरणमण्डलः सन् मेघपटलविघटनाविर्भूतो[5] देवः सविता इव प्रकाशमानो भगवांस्तीर्थकरपरमदेवः सामान्यानगारकेवली वा गणधर[6]वरकेवली वा त्रिभुवनपतीनामभिगम्य पूजनीयश्च [7]सञ्जायमानः प्रकर्षेण देशोनां पूर्वकोटीं भूमण्डले विहरति । स भगवान् यदा अन्तर्मुहूर्तशेषा-

१ सङ्क्रममर्थ– ता० । २ पुनस्त्यजनादाश्रयणाच्च आ०, द०, ज० । ३ विस्मृश्यते ता० । ४ वैडूर्यमणिः । ५ –भूभो वेवः आ०, ज० । –भूभो केवः द० । ६ –धरचरकेवली ता० । –धरदेवके– द० । ७ सञ्जयमानः ता० ।

युर्भवति अन्तर्मुहूर्तस्थितिवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा विश्वं वाग्योगं मनोयोगं बादरकाययोगञ्च परिहृत्य सूक्ष्मकाययोगे स्थित्वा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं समाश्रयति। यदा त्वन्तर्मुहूर्तशेषायुःस्थितिः ततोऽधिकस्थितिवेद्यनामगोत्रकर्मत्रयो भवति तदात्मोपयोगातिशयव्यापारविशेषो यथाख्यातचारित्रसहायो महासंवरसहितः शीघ्रतरकर्मपरिपाचनपरः सर्वकर्मरजः[1]समुद्धायनसामर्थ्यस्वभावः दण्डकपाटप्रतरलोकपूरणानि निजात्मप्रदेशप्रसरणलक्षणानि चतुर्भिः समयैः करोति तथैव चतुर्भिः समयैः समुपहरति ततः समानविहितस्थित्यायुर्वेद्यनामगोत्रकर्मचतुष्कः पूर्वशरीरप्रमाणो भूत्वा सूक्ष्मकाययोगावलम्बनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं ध्यायति। तदनन्तरं व्युपरतक्रियानिवर्तिनामधेयं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्त्यपरनामकं ध्यानमारभते। समुच्छिन्नः प्राणापानप्रचारः सर्वकायवाङ्मनोयोगसर्वप्रदेशपरिस्पन्दक्रियाव्यापारश्च यस्मिन् तत् समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति ध्यानमुच्यते। तस्मिन् समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिनि ध्याने सर्वास्रवबन्धनिरोधं करोति, सर्वशेषकर्मचतुष्टयविध्वंसनं विदधाति, परिपूर्णयथाख्यातचारित्रज्ञानदर्शनश्च भवति, सर्वसंसारदुःखसंश्लेषविच्छेदनं जनयति। स भगवान् अयोगिकेवली तस्मिन् काले ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मम[2]लकलङ्कबन्धनः सन् दूरीकृतकिट्टधातुपाषाण[3]जातजातरूपसदृशः परिप्राप्तात्मस्वरूपः परमनिर्वाणं गच्छति[4]। अत्र अन्त्यशुक्लध्यानद्वये यद्यपि चिन्तानिरोधो नास्ति तथापि ध्यानङ्करोतीत्युपचर्यते। कस्मात्? ध्यानकृत्यस्य योगापहारस्याऽघातिघातस्योपचारनिमित्तस्य सद्भावात्। यस्मात् साक्षात्कृतसमस्तवस्तुस्वरूपेऽर्हति भगवति न किञ्चिद् ध्येयं स्मृतिविषयं वर्तते। तत्र यद् ध्यानं तत् असमकर्म्मणां समकरणनिमित्तं या चेष्टा कर्मसमत्वे वर्तते तत्क्षययोग्यसमता लौकिकी या मनीषा तदेव निर्वाणं सुखम्। तत्सुखं मोहक्षयात्, दर्शनं दर्शनावरणक्षयात्, ज्ञानं ज्ञानावरणक्षयात्, अनन्तवीर्यमन्तरायक्षयात्, जन्ममरणक्षय आयुःक्षयात्, अमूर्त्तत्वं नामक्षयात्, नीचोच्चकुलक्षयो गोत्रक्षयात्, इन्द्रियजनितशुभक्षयो वेद्यक्षयात्। एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि स्थिरा मतिर्ध्यानं कथ्यते। आर्तरौद्रधर्म्यापेक्षया या तु चञ्चला मतिर्भवत्यशुभा शुभा वा तच्चित्तं कथ्यते भावना वा कथ्यते अनेकनययुक्ता अनुप्रेक्षा वा कथ्यते चिन्तनं वा कथ्यते श्रुतज्ञानपदालोचनं वा कथ्यते ख्यापनं वा कथ्यते। इत्येवं द्विप्रकारं तपो नूतनकर्मादीनाञ्च (कर्मास्रव) निषेधकारणं यतस्तेन संवरकारणं पूर्वकर्मधूलिविधूननं यतस्तेन निर्जराकारणं पञ्चविंशतिसूत्रे व्याख्यातं वेदितव्यम्।

अथ सर्वे सद्दृष्टयः किं समाननिर्जरा भवन्ति उतस्विदस्ति तेषां निर्जराविशेष इति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

---

1 –समुदयेन साम– आ०, द०, ज०। 2 –मलबन्ध– आ०, द०, ज०। 3 सञ्जात उत्पन्न सुवर्णवत् दृशः आ०, द०, ज०। 4 संगच्छति आ०, द०, ज०।

सम्यग्दृष्टिश्च श्रावकश्च विरतश्चाऽनन्तवियाजकश्च दर्शनमोहक्षपकश्च उपशमकश्च उपशान्तमोहश्च क्षपकश्च क्षीणमोहश्च जिनश्च सम्यग्दृष्टिश्रावकविरताऽनन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः । एते दशविधपुरुषा अनुक्रमेणाऽसंख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति । तथाहि—एकेन्द्रियेषु विकलत्रये च प्रचुरतरकालं भ्रान्त्वा पञ्चेन्द्रियत्वे सति कालादिलब्धिसञ्जनितविशुद्धपरिणामक्रमेणापूर्वकरणपङ्क्त्यां [१]कृतप्लवनमानोऽयं जीवः प्रचुरतरनिर्जरावान् भवति । स एव तु औपशमिकसम्यक्त्वप्राप्तिकारणनैकट्ये सति सम्यग्दृष्टिः सन्नसङ्ख्येयगुणनिर्जरां लभते । स एव तु प्रथमसम्यक्त्वचारित्रमोहकर्मभेदाप्रत्याख्यानक्षयोपशमहेतुपरिमाणप्राप्त्यवसरे प्रकृष्टविशुद्धिः श्रावकः सन् तस्मादसङ्ख्येयगुणनिर्जरां प्राप्नोति । स एव तु प्रत्याख्यानावरणकषायक्षयोपशमहेतुभूतपरिणामैर्विशुद्धो विरतः सन् श्रावकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरां विन्दति । स एव त्वनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य यदा वियोजको वियोजनपरो विघटनपरो भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धिः सन् विरतादप्यसङ्ख्येयगुणनिर्जरामासादयति । स एव तु दर्शनमोहप्रकृतित्रयशुष्कतृणराशिं यदा निर्दग्धुमिच्छन् भवति तदा प्रकृष्टपरिणामविशुद्धिः सन् दर्शनमोहक्षपकनामा ना[२] अनन्तवियोजकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरां प्रपद्यते । एवं स पुमान् क्षायिकसद्दृष्टिः सन् श्रेण्यारोहणमिच्छन् चारित्रमोहोपशमे प्रवर्तमानः प्रकृष्टविशुद्धिः सन् उपशमकनामा सन् क्षपकनामकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरामधिगच्छति । स एव तु समस्तचारित्रमोहोपशमकारणनैकट्ये सति सम्प्राप्तोपशान्तकषायापरनामकः दर्शनमोहक्षपकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरां प्रतिपद्यते । स एव तु चारित्रमोहक्षपणे सम्मुखो[३] भवन् प्रवर्द्धमानपरिणामविशुद्धिः सन् क्षपकनाम दधन् उपशान्तमोहादुपशान्तकषायापरनामकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरामश्नुते । स पुमान् यस्मिन् काले समग्रचारित्रमोहक्षपणपरिणामेषु सम्मुखः क्षीणकषायाभिधानं [४]प्रह्माणो भवति तदा क्षपकनामकादसङ्ख्येयगुणनिर्जरामासीदति । स एवैकत्ववितर्कावीचारनामशुक्लध्यानाग्निभस्मसात्कृतघातिकर्मसमूहः सन् जिननामधेयो भवन् क्षीणमोहादसङ्ख्येयगुणनिर्जरामादत्ते ।

अथात्राह कश्चित्—सम्यक्त्वसामीप्ये चेदसङ्ख्येयगुणनिर्जरा [५]भवति परस्परमेषां निर्जरापेक्षया समत्वं न भवति तर्हि एते विरतादयः किं विरताविरतवन्निर्ग्रन्थत्वसंज्ञां न लभन्ते ? नैवम्; विरतादयो निर्जरागुणभेदेऽपि निर्ग्रन्थसंज्ञा प्राप्नुवन्त्येव । कुतः ? नैगमादिनयव्याप्तेः । तन्निर्ग्रन्थनामस्थापनाद्यर्थं सूत्रमिदमाहुः—

पुलाक[६]वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

पुलाकाश्च वकुशाश्च कुशीलाश्च निर्ग्रन्थाश्च स्नातकाश्च पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः । एते पञ्च प्रकारा निर्ग्रन्थाः [७]इत्युच्यन्ते । तत्रोत्तरगुणभावबाधारहिताः क्वचित्

१ 'रु' इत्यधिकं वर्तते । २ पुमान् । ३ सम्मुखः ता०, द०, ज० । ४ प्रह्यमाणः ता० । प्रहणमाणः आ०, द० । प्रह्ममाणः ज० । ५ भवन्ति आ०, द०, ज० । ६ –वकुश– ?। ७ कथ्यन्ते आ०, द०, ज० ।

कदाचित् कथञ्चित् व्रतेष्वपि परिपूर्णत्वमलभमाना अविशुद्धपुलाकसदृशत्वात् पुलाका उच्यन्ते। मलिनतण्डुलसमानत्वात् पुलाकाः कथ्यन्ते

"भक्तसिक्थे च संक्षेपे सारधान्ये पुलाकवाक्॥" [ ] इति वचनात्। निर्ग्रन्थत्वे स्थिता अविध्वस्तव्रताः शरीरोपकरणर्द्धिभूषणयशःसुखविभूत्याकाङ्क्षिणः अविविक्तपरिच्छदानुमोदनशबलयुक्ता ये ते वकुशा उच्यन्ते। अविविक्तशब्देन असंयतः परिच्छदशब्देन परिवारः अनुमोदनमनुमतिः शबलशब्देन कर्वुरत्वं तद्युक्ता वकुशा इत्यर्थः। शबलपर्यायवाचको वकुशशब्दो वेदितव्यः। कुशीला द्विप्रकाराः–प्रतिसेवनाकषायकुशीलभेदात्। तत्र प्रतिसेवनाकुशीला अविविक्तपरिग्रहाः सम्पूर्णमूलोत्तरगुणाः कदाचित्कथञ्चिदुत्तरगुणानां विराधनं विदधतः प्रतिसेवनाकुशीला भवन्ति। सञ्ज्वलनापरकषायोदयरहिताः सञ्ज्वलनकषायमात्रवशवर्तिनः कषायकुशीलाः प्रतिपाद्यन्ते[1]। यथा जले लकुट[2]रेखा सद्यो मिलति तथा अप्रकटकर्मोदया मुहूर्तादुपरि समुत्पद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते। [3]तीर्थकरकेवलीतरकेवलीभेदाद् द्विप्रकारा अपि केवलिनः स्नातका उच्यन्ते। चारित्रपरिणामोत्कर्षापकर्षभेदेऽपि सति नैगमसङ्ग्रहादिनयाधीनतया विश्वेऽपि पञ्चतये निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते जात्याचाराध्ययनादिभेदेऽपि[4] द्विजन्मवत्।

अथ पुलाकादीनां विशेषपरिज्ञानार्थं सूत्रमिदमुच्यते—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थान-विकल्पतः साध्याः॥ ४७॥

अन्तरविराधने सति पुनः सेवना प्रतिसेवना, दोषविधानमित्यर्थः। ततः संयमश्च श्रुतश्च प्रतिसेवना च तीर्थञ्च लिङ्गञ्च लेश्याश्च उपपादश्च स्थानानि च संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानानि तेषां विकल्पा भेदाः संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पाः तेभ्यः ततः पुलाकादयः पञ्चतये महर्षयः संयमादिभिरष्टभिर्भेदैरन्योन्यभेदेन साध्या व्यवस्थापनीया व्याख्यातव्या इत्यर्थः। तथाहि–पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः सामयिकच्छेदोपस्थापनानामसंयमद्वये वर्तन्ते। सामयिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायनामसंयमचतुष्टये कषायकुशीलाः भवन्ति। निर्ग्रन्थाः स्नातकाश्च यथाख्यातसंयमे सन्ति। पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुतं भवति। कोऽर्थः? अभिन्नाक्षराणि एकेनाप्यक्षरेण अन्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्तीत्यर्थः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्च चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतं धरन्ति। जघन्यतया पुलाकः आचारवस्तुस्वरूपनिरूपकं श्रुतं धरति। वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थास्तु प्रवचनमातृकास्वरूपनिरूपकं श्रुतं निकृष्टत्वेन धरन्ति। प्रवचनमातृका इति कोऽर्थः? पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेत्यष्टौ प्रवचनमातरः कथ्यन्ते। समितिगुप्तिप्रतिपादकमागमं जानन्तीत्यर्थः।

---

१ इत्युच्यन्ते आ०, द०, ज०। २ लगुड– ता०। ३ तीर्थंकर– आ०, द०, ज०। ४ –पि जन्मवत् आ०, द०, ज०।

स्नातकानां केवलज्ञानमेव भवति तेन तेषां श्रुतं न भवति । महाव्रतलक्षणपञ्चमूलगुणविभावरीभोजनविवर्जनानां मध्येऽन्यतमं बलात् परोपरोधात्प्रतिसेवमानः पुलाको विराधको भवति । रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधकः कथमिति चेत्? उच्यते—श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात् । वकुशो द्विप्रकारः—उपकरणवकुशशरीरवकुशभेदात् । तत्र नानाविधोपकरणसंस्कारप्रतीकाराकाङ्क्षी उपकरणवकुश उच्यते । वपुरभ्यङ्गमर्दनक्षालनविलेपनादिसंस्कारभागी शरीरवकुशः प्रतिपाद्यते । एतयोरियं प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाकुशीलकषायकुशीलयोर्मध्ये यः प्रतिसेवनाकुशीलः स मूलगुणान् न विराधयति उत्तरगुणमन्यतमं विराधयति अस्यैषा प्रतिसेवना । यः कषायकुशीलो निर्ग्रन्थः [1]स्नातकश्च तेषां विराधना काचिन्न वर्त्तते तेन ते अप्रतिसेवना । सर्वेषां तीर्थकरपरमदेवानां तीर्थेषु पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भवन्ति । लिङ्गं द्विप्रकारं—द्रव्यभावभेदात् । तत्र पञ्चप्रकारा अपि निर्ग्रन्था भावलिङ्गिनो भवन्ति द्रव्यलिङ्गन्तु भाज्यम्—व्याख्यानेयमित्यर्थः । तत्किम्? केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति । केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वान् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम् । "उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्बलवान्" [ ]

इति उत्सर्गेण तावद् यथोक्त[2]माचेलक्यञ्च प्रोक्तमस्ति । आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षया अपवादव्याख्याने न दोषः, अमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासाः केचित्सचेलत्वं मुनीनां स्थापयन्ति तन्मिथ्या, "साक्षान्मोक्षकारणं निर्ग्रन्थलिङ्गम्" [ ] इति वचनात् ।

अपवादव्याख्यानं तूपकरणकुशीलापेक्षया कर्तव्यम् । पीतपद्मशुक्ललक्षणास्तिस्रो लेश्याः पुलाकस्य भवन्ति । कृष्णनीलकापोतपीतपद्मशुक्ललक्षणाः षडपि लेश्याः वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्भवन्ति । ननु कृष्णनीलकापोतलेश्यात्रयं वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः कथं भवति? सत्यम्; तयोरुपकरणासक्तिसम्भवमार्त्तध्यानं कादाचित्कं सम्भवति, तत्सम्भवादादिलेश्यात्रयं सम्भवत्येवेति । मतान्तरम्—परिग्रहसंस्काराकाङ्क्षायां स्वयमेवोत्तरगुणविराधनायामार्तसम्भवादार्तविनाभावि च लेश्याषट्कम् । पुलाकस्यार्तकारणाभावान्न षट् लेश्याः । किन्तूत्तरास्तिस्र एव । कापोततेजःपद्मशुक्ललेश्याचतुष्टयं कषायकुशीलस्य देयं दातव्यं दानीयमिति यावत् । कषायकुशीलस्य या कापोतलेश्या दीयते सापि पूर्वोक्तन्यायेन वेदितव्या तस्याः सञ्ज्वलनमात्रान्तरङ्गकषायसद्भावात् परिग्रहासक्तिमात्रसद्भावात् सूक्ष्मसाम्परायस्य । निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च निःकेवला शुक्लैव लेश्या वेदितव्या । अयोगिकेवलिनान्तु लेश्या नास्ति । पुलाकस्योत्कृष्टतया उत्कृष्टस्थितिषु सहस्रारदेवेषु अष्टादशसागरोपमजीवितेषु उपपादो भवति । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोरारणाच्युतस्वर्गयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु देवेषूपपादो भवति । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोः सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु देवेषूपपादो भवति । जघन्योपपादो

१ स्नातकाश्च ता० । २ –मचेलक्यञ्च प्रो– आ०, द०, ज० ।

विश्वेषामपि सौधकर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु देवेषु वेदितव्यः । स्नातकस्य परमनिर्वृत्तौ उपपादः । स्थानान्यसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि[1] तानि तु कषायकारणानि भवन्ति कषाय-तरतमत्वेन भिद्यन्ते इति कषायकारणानि । तत्र सर्वनिकृष्टानि लब्धिस्थानानि इति कोऽर्थः ? संयमस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोर्भवन्ति । तौ च[2] समकालमसङ्ख्येयानि संयमस्थानानि व्रजतः ततस्तदनन्तरं कषायकुशीलेन सह गच्छन्नपि पुलाको विच्छिद्यते निवर्तते इत्यर्थः । ततः कषायकुशील एकाक्येव असंख्येयानि संयमस्थानानि गच्छति तदनन्तरं कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशाः संयमस्थानानि असङ्ख्येयानि युगपत्सह गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तदनन्तरं बकुशो निवर्तते व्युच्छिद्यते इत्यर्थः । ततोऽपि प्रतिसेवना-कुशीलाः संयमस्थानान्यसङ्ख्येयानि [3]व्रजित्वा व्युच्छिद्यते निवर्तते इत्यर्थः । ततः कषाय-कुशीलाः संयमस्थानान्यसङ्ख्येयानि व्रजित्वा सोऽपि व्युच्छिद्यते । तदुपरि अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्राप्नोति सोऽपि संयमस्थानान्यसङ्ख्येयानि गत्वा व्युच्छिद्यते । तदुपरि एकं संयम-स्थानं स्नातको व्रजित्वा परमनिर्वाणं लभते स्नातकस्य संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति सिद्धम् ।

[4]इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ नवमः पादः समाप्तः ।

१ –नि तु ता०, द० । २ 'च' नास्ति ता० । ३ ध्वजित्वा ता० ।

४ इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयति-राजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्र-कीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामत-दुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसर्वार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदय-प्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां नवमोऽध्यायः । आ०, द०, ज, ।

दशमोऽध्यायः

अथेदानीं मोक्षस्वरूपं प्रतिपादयितुकामो भगवानुमास्वामी पर्यालोचयति—मोक्षस्तावत् केवलज्ञानप्राप्तिपूर्वको भवति । तस्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिकारणं [1]किमिति ? इदमेवेति निर्धार्य सूत्रमिदमाह—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

मोहस्य क्षयो विध्वंसः मोहक्षयस्तस्मान्मोहक्षयात् । आवरणशब्दः प्रत्येकं प्रयुज्यते । तेन ज्ञानावरणं दर्शनावरणञ्च ज्ञानदर्शनावरणे ते च अन्तरायश्च ज्ञानदर्शनावरणान्तरायास्तेषां क्षयः ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयस्तस्मात् ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् । चकारादायुस्त्रिकनामत्रयोद[2]शक्षयाच्च केवलं केवलज्ञानमुत्पद्यते । त्रिषष्टिप्रकृतिक्षयात् केवलज्ञानं भवतीत्यर्थः । अष्टाविंशतिप्रकृतयो मोहस्य । पञ्च ज्ञानावरणस्य । नव दर्शनावरणस्य । पञ्च अन्तरायस्य । मनुष्यायुर्वर्जमायुस्त्रयः साधारणातपपञ्चेन्द्रियरहितचतुर्जातिनरकगतिनरकगत्यानुपूर्वीस्थावरसूक्ष्मतिर्यग्गतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्योद्योतलक्षणास्त्रयोदशनामकर्मणः प्रकृतयश्चेति त्रिषष्टिः । ननु मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् केवलमिति सिद्धे सूत्रगुरुकरणं किमर्थम् ? वाक्यभेदः कर्मणां क्षयानुक्रमप्रतिपादनार्थः । कोऽसावनुक्रमः ? मोहक्षयः पूर्वमेव भवति । तदनन्तरं क्षीणकषायगुणस्थाने ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयो भवति तत्क्षये केवलमुत्पद्यते । मोहक्षयानुक्रम उच्यते—भव्यः प्राणी सम्यग्दृष्टिर्जीवः परिणामविशुद्ध्या वर्द्धमानः असंयतसम्यग्दृष्टिदेशसंयतप्रमत्तसंयताऽप्रमत्तसंयतगुणस्थानेष्वन्यतमगुणस्थाने अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयदर्शनमोहत्रितयक्षयो भवति । ततः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा अप्रमत्तगुणस्थाने [3]अथाप्रवृत्तकरणमङ्गीकृत्य अपूर्वकरणाभिमुखो भवति । अथाऽप्रवृत्तकरणं किम् ? अपूर्वचारित्रम् अथवा अथानन्तरम् अप्रवृत्तकरणं कथ्यते । तदपि किम् ? परिणामविशेषा इत्यर्थः । कीदृशास्ते अथाप्रवृत्तकरणशब्दवाच्या विशिष्टपरिणामा इति चेत् ? उच्यते—[4]एकस्मिन्नेकस्मिन् समये एकैकजीवस्यासंख्यलोकमा[5]नावच्छिन्नाः परिणामा भवन्ति । तत्राप्रमत्तादिगुणस्थाने पूर्वपूर्वसमये प्रवृत्ता यादृशाः परिणामास्तादृशा एव, अथानन्तरमुत्तरसमयेषु आ समन्तात्प्रवृत्ता विशिष्टचारित्ररूपाः परिणामाः अथाप्रवृत्तकरणशब्दवाच्या भवन्ति । अपूर्वकरणप्रयोगेणापूर्वकरणक्षपकगुणस्थाननामा भूत्वा अभिनवशुभाभिसन्धिना भवन्ति । धर्म्यशुक्लध्यानाभिप्रायेण कृशीकृतपापप्रकृतिस्थित्यनुभागः सन् संवर्द्धितपुण्यकर्मानुभवः सन् अनिवृत्तिक[6]रणं लब्ध्वा, अनिवृत्तिबादरसाम्परायक्षपकगुणस्थानमधिरोहति। तत्राऽप्रत्याख्यानकषायप्रत्याख्यानकषायाष्टकं

---

१ किमिदमिदमेवेति आ०, द०, ज० । २ –दशकक्ष– ता० । ३ अथाऽप्रमत्तक– आ०, द०, ज० । ४ एकस्मिन् समये आ०, द०, ज० । ५ –मानाछिन्नाः ता० । ६ –करणलब्ध्या ता० ।

नष्टं विधाय नपुंसकवेदविनाशं कृत्वा स्त्रीवेदं समूलकाषं कषित्वा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं नोकषायषट्कं पुंवेदञ्च क्षपयित्वा क्रोधसञ्ज्वलनं मानसञ्ज्वलने मानसञ्ज्वलनं मायासञ्ज्वलने मायासञ्ज्वलनं लोभसञ्ज्वलने लोभसञ्ज्वलनं क्रमेण बादरकिट्टिविभागेन विनाशमानयति । बादरकिट्टिरिति कोऽर्थः ? उपायद्वारेण फलं भुक्त्वा निर्जीर्यमाणमुद्धृतशेषमुपहृतशक्तिकं कर्म किट्टिरित्युच्यते आज्यकिट्टिवत् । सा किट्टिर्द्विधा भवति–बादरकिट्टिसूक्ष्मकिट्टिभेदादिति किट्टिशब्दार्थो वेदितव्यः । तदनन्तरं लोभसञ्ज्वलनं कृशीकृत्य सूक्ष्मसाम्परायक्षपको भूत्वा निःशेषं मोहनीयं निर्मूल्य क्षीणकषायगुण[1]स्थानं स्फेटितमोहनीयभारः सन्नधिरोहति । तस्य गुणस्थानस्यापान्त्यसमयेऽन्त्यसमयात् प्रथमसमये द्विचरमसमये निद्राप्रचले द्वे प्रकृती क्षपयित्वा अन्त्यसमये पञ्च ज्ञानावरणानि चत्वारि दर्शनावरणानि पञ्च अन्तरायान् क्षपयति । तदनन्तरं केवलज्ञानकेवलदर्शनस्वभावं केवलपर्यायमचिन्त्यविभूतिमाहात्म्यं प्राप्नोति ।

अथ केवलज्ञानोत्पत्ति[2]कारणं कथयित्वेदानीं मोक्षकारणं मोक्षस्वरूपञ्चाचक्षते भगवन्तः—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

बन्धस्य हेतवो मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगास्तेषामभावो नूतनकर्मणामप्रवेशो बन्धहेत्वभावः पूर्वोपार्जितकर्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा । बन्धहेत्वभावश्च निर्जरा च बन्धहेत्वभावनिर्जरे ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । द्वाभ्यां कारणाभ्यां कृत्वा कृत्स्नानां विश्वेषां कर्मणाम्, विशिष्टम्–अन्यजनासाधारणं प्रकृष्टम्–एकदेशकर्मक्ष[3]यलक्षणाया निर्जराया उत्कृष्टमात्यन्तिकं मोक्षणं मोक्षः कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष उच्यते । पूर्वपदेन मोक्षस्य हेतुरुक्तः । द्वितीयपदेन मोक्षस्वरूपं प्रतिपादितमिति वेदितव्यम् । नन्वत्र सप्तसु तत्त्वेषु षट्त[4]त्त्वस्वरूपं प्रोक्तं निर्जरास्वरूपं न प्रोक्तम् । सत्यम्; यदि सर्वकर्मक्षयो मोक्षः प्रोक्तस्ततः सामर्थ्यादेव ज्ञायते यदेकदेशेन कर्मक्षयो निर्जरा तेन पृथक्सूत्रं निर्जरालक्षणप्रतिपादकं न विहितमिति वेदितव्यम् । कर्मक्षयो द्विप्रकारो भवति प्रयत्नाप्रयत्नसाध्यविकल्पात् । तत्र अप्रयत्नसाध्यश्चरमोत्तमशरीरस्य नारकतिर्यग्देवायुषां भवति । प्रयत्नसाध्यस्तु कर्मक्षयः कथ्यते–चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमेषु गुणस्थानेषु मध्येऽन्यतमगुणस्थानेऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्टयस्य मिथ्यात्वप्रकृतित्रयस्य क्षयो भवति । अनिवृत्तिबादरसाम्परायसंज्ञकनवमगुणस्थानस्यान्तर्मुहूर्तस्य नव भागाः क्रियन्ते । तत्र प्रथमभागे निद्राप्रचलाप्रचला–स्त्यानगृद्धिनरकगतितिर्यग्गत्येकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिनरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वीतिर्यग्गतिप्रायोग्याऽनुपूर्व्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणाऽभिधानिकानां षोडशानां कर्मप्रकृतीनां प्रक्षयो भवति । द्वितीयभागे मध्यमकषायाष्टकं नष्टं विधीयते । तृतीयभागे नपुंसकवेदच्छेदः क्रियते । चतुर्थे भागे स्त्रीवेदविनाशः सृज्यते । पञ्चमे भागे

---

१ –स्थाने आ०, द०, ज० । २ –नोत्पत्तिं क– आ०, द०, ज० । ३ –क्षयनामनिज– आ०, द०, ज० । ४ –तत्स्वरूपम् आ०, द०, ज० ।

नोकषायषट्कं प्रध्वंस्यते । षष्ठे भागे पुंवेदाभावो रच्यते । सप्तमे भागे सञ्ज्वलनक्रोधविध्वंसः कल्प्यते । अष्टमे भागे सञ्ज्वलनमानविनाशः प्रणीयते । नवमे भागे सञ्ज्वलनमायाक्षयः क्रियते । लोभसञ्ज्वलनं दशमगुणस्थाने प्रान्ते विनाशं गच्छति । निद्राप्रचले [1]द्वादशस्य गुणस्थानस्योपान्त्यसमये विनश्यतः । पञ्चज्ञानावरणचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनावरणचतुष्टयपञ्चान्तरायाणां तदन्त्यसमये क्षयो भवति । सयोगिकेवलिनः कस्याश्चिदपि प्रकृतेः क्षयो नास्ति । चतुर्दशगुणस्थानस्य द्विचरमसमये द्वासप्ततिप्रकृतिनां क्षयो भवति । कास्ताः ? अन्यतरवेदनीयम्, देवगतिः, औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणशरीरपञ्चकम्, तद्बन्धनपञ्चकम्, तत्संघातपञ्चकम्, संस्थानषट्कम्, औदारिकवैक्रियकाहारकशरीरोपाङ्गत्रयम्, संहननषट्कम्, प्रशस्ताप्रशस्तवर्णपञ्चकम्, सुरभिदुरभिगन्धद्वयम्, प्रशस्ताप्रशस्तरसपञ्चकम्, स्पर्शाष्टकम्, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यम्, अगुरुलघुत्वम्, उपघातः, परघातः, उच्छ्वासः, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिद्वयम्, पर्याप्तिः, प्रत्येकशरीरम्, स्थिरत्वमस्थिरत्वम्, शुभत्वमशुभत्वम्, दुर्भगत्वम्, सुस्वरत्वम्, दुःस्वरत्वम्, अनादेयत्वम्, अयशस्कीर्तिः, निर्माणम्, नीचैर्गोत्रम् इति । अयोगिकेवलिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति । कास्ताः ? अन्यतरवेदनीयम्, मनुष्यायुः, मनुष्यगतिः, पञ्चेन्द्रियजातिः, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यं, त्रसत्वम्, बादरत्वम्, पर्याप्तकत्वम्, शुभगत्वम्, आदेयत्वम्, यशःकीर्तिः, तीर्थकरत्वम् उच्चैर्गोत्रञ्चेति ।

अथैतासां द्रव्यकर्मप्रकृतीनां क्षयान्मोक्षो भवति आहोस्वित् भावकर्मप्रकृतीनामपि क्षयान्मोक्षो भवतीति प्रश्ने सूत्रमिदमाहुः—

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥ ३ ॥

औपशमिको भाव आदिर्येषां मिश्रौदयिकभावानां ते औपशमिकादयो भावास्ते च भव्यत्वञ्च औपशमिकादिभव्यत्वानि तेषामौपशमिकादिभव्यत्वानाम् । एतेषां चतुर्णां भावकर्मणां विप्रमोक्षो मोक्षो भवति । चकारः परस्परसमुच्चये वर्तते, तेनायमर्थः—न केवलं पौद्गलिककृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः किन्तु औपशमिकादिभव्यत्वानां भावकर्मणां विप्रमोक्षो मोक्षो भवति । भव्यत्वं हि पारिणामिको भावस्तेन भव्यत्वग्रहणात् पारिणामिकेषु भावेषु भव्यत्वस्यैव [2]प्रक्षयो भवति नान्येषां [3]जीवत्वसत्त्ववस्तुत्वामूर्तत्वादीनां पारिणामिकानां क्षयो वर्तते, तत्क्षये शून्यत्वादिप्रसङ्गात् । ननु द्रव्यकर्मनाशे तन्निमित्तानामौपशमिकादीनां भावानां स्वयमेवाभावः सिद्धः किमनेन सूत्रेणेति चेत् ? सत्यम्; नायमेकान्तो निमित्ताभावेऽपि कार्यभावदर्शनात् । दण्डाद्यभावेऽपि घटादिदर्शनात् । अथवा सामर्थ्याल्लब्धस्यापि भावकर्मक्षयस्य सूत्रं स्पष्टार्थम् ।

अथाह कश्चित्—भावानामुपरमो मोक्ष आक्षिप्तो भवद्भिस्तथा औपशमिकादिभावप्रक्षय-

१ द्वादशगुण- आ०, द०, ज० । २ प्रक्षयो मोक्षो भ- ता० । ३ जीवत्ववस्तु- आ०, द०, ज० ।

वत् सर्वक्षायकभावनिवृत्तिः प्राप्नोति ? सत्यम्; क्षायिकभावप्रक्षयो भवत्येव यदि विशेषो न निगद्यते। विशेषस्त्वाचार्येण सूचित एव वर्तते। कोऽसौ विशेष इति प्रश्ने अपवादसूत्रमुच्यते—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

सम्यक्त्वञ्च ज्ञानदर्शनञ्च सिद्धत्वञ्च सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वानि, केवलानि निःकेवलानि एतानि सम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वानि तेभ्यः केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः। एभ्यश्चतुर्भ्यः क्षायिकभावेभ्यः अन्यत्र एतानि चत्वारि वर्जयित्वा अन्येषां भावानां प्रक्षयान्मोक्षो भवति। तर्हि अनन्तवीर्यानन्तसुखादीनामपि प्रक्षयो भविष्यति, चतुर्भ्योऽवशेषत्वात्। सत्यम्; ज्ञानदर्शनयोरन्तर्भावोऽनन्तवीर्यस्य तेन सत्य (तत्) क्षयो नास्ति, अनन्तवीर्यं विना अनन्तज्ञानप्रवृत्तिर्न भवति यतः। सुखं तु ज्ञानदर्शनयोः पर्यायः, तत एव सुखस्यापि क्षयो न भवति। ननु सिद्धानां निराकारत्वादभावो भविष्यति ? सत्यम्; चरमशरीराकारास्ते वर्तन्ते, तेन तेषामभावोऽपि नास्ति "**सायारमणायारा लक्खणमेयं तु सिद्धाणं।**" [ ] इति वचनात्। ननु शरीरानुकारी यदि जीवः प्रतिज्ञातो भवद्भिस्तर्हि शरीराभावात् स्वभावेन लोकाकाशप्रदेशप्रमाणो जीव इति भवतां मते सति त्रैलोक्यप्रमाणप्रदेशप्रसरणं भविष्यति। सत्यम्; नोकर्मसम्बन्धे कारणे सति संहरणं विसर्पणञ्च भवति। नोकर्मसम्बन्धलक्षणकारणभावात्, पुनः संहरणं विसर्पणञ्च न भवति।

एवं चेद् यथा कारणाभावात् संहरणं विसर्पणञ्च न भवति तथा गमनकारणकर्माभावे सति ऊर्ध्वगमनमपि न भविष्यति, अधस्तिर्य्यग्गमनयोरभाववत्। एवञ्च सति यत्रैव जीवो मुक्तस्तत्रैव तिष्ठति, तन्न—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

तस्य सर्वकर्मविप्रमोक्षस्य अनन्तरं पश्चात्तदनन्तरमूर्ध्वमुपरिष्टात् गच्छति व्रजति। कोऽसौ ? मुक्तो जीव इति शेषः। कियत्पर्यन्तमूर्ध्वं गच्छति ? आलोकान्तात्—लोकपर्यन्तमभियातीत्यर्थः।

आलोकान्तादूर्ध्वं गच्छतीत्यत्र ऊर्ध्वगमनस्य हेतुर्नोक्तः, हेतुं विना कथं पक्षसिद्धिरित्युपन्यासे सूत्र[1]मिदमुच्यते—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

पूर्वश्चासौ प्रयोगः पूर्वप्रयोगस्तस्मात् पूर्वप्रयोगात्। पूर्वं किल जीवेन संसारस्थितेन बहून् [2]वारान् यन्मुक्तिप्राप्त्यर्थं प्रणिधानं कृतम् ऊर्ध्वगमनध्यानाभ्यासो विहितस्तस्य प्रणिधानस्याभावेऽपि तदावेशपूर्वकमासंस्कारक्षयादूर्ध्वगमनं भवत्येव इत्येको हेतुरुक्तः। तथोर्ध्वगमनस्य

---

१ –मिदमाहुः आ०, ज०। २ –वारान् मुक्ति– आ०, ज०।

द्वितीयं हेतुमाह—असङ्गत्वात् । न विद्यते सङ्गः कर्मभिर्यस्य जीवस्य स भवत्यसङ्गः । असङ्गस्य भावोऽसङ्गत्वं तस्मादसङ्गत्वात् । अस्यायमर्थः–कर्मभाराक्रान्तो जीवस्तदावेशवशात् संसारे नियतं गच्छति । कर्मभाराक्रान्तवशीकरणाभावे सति ऊर्ध्वमेव गच्छति, इति द्वितीयो हेतुरुक्तः । तथा बन्धच्छेदात् । बन्धस्य छेदनं छेदस्तस्माद् बन्धच्छेदात् । अस्यायमर्थः—मनुष्यादिभवान्तरप्रापकगतिजात्यादिनामादिसमस्तकर्मबन्धछेदान्मुक्तजीवस्योर्ध्वगमनमेव[1] भवतीति तृतीयो हेतुरुक्तः । *तथागतिपरिणामात् । गत्यूर्ध्वगमनं परिणामः स्वभावो यस्य* जीवस्य स भवति गतिपरिणामस्तस्माद् गतिपरिणामात् । अस्यायमर्थः—जीवस्तावदूर्ध्वगमनस्वभावः परमागमे प्रतिपादितः । तस्य तु जीवस्य यद्विविधगतिविकारो भवति तस्य कारणं कर्मैव । नष्टे च कर्मणि जीवस्य गतिपरिणामादूर्ध्वगमनस्वभावादूर्ध्वगमनमेव भवति । चकारः परस्परं हेतूनां समुच्चये वर्तते । तेनायमर्थः—न केवलं पूर्वप्रयोगादसङ्गतत्वाच्चोर्ध्वं गच्छति, न केवलमसङ्गत्वात् बन्छच्छेदाच्चोर्ध्वं गच्छति । तथा तैरेव पूर्वप्रयोगासङ्गबन्धच्छेदप्रकारैर्गतिपरिणामाच्चोर्ध्वं गच्छति ।

अत्राह कश्चित्—हेतुरूपोऽर्थः प्रचुरोऽपि दृष्टान्तसमर्थनं विना वस्तुसाधनसमर्थो न भवति **"पक्षे हेतुदृष्टान्तसाधितं वस्तु परमार्थम् ।"** [ ] इति वचनात् । इत्युपन्यासे पूर्वोक्तानामूर्ध्वगमनहेतूनां क्रमेण दृष्टान्तसूचनं सूत्रमाह—

आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-
बीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥

आविद्धं भ्रामितं यत्कुलालचक्रं कुम्भकारभ्रामितम्[2] आविद्धकुलालचक्रम् । आविद्धकुलालचक्रमिव आविद्धकुलालचक्रवत् । कुम्भकारप्रयोगेण यत्कृतं करदण्डचक्रसंयोगपूर्वकं भ्रमणं तद्भ्रमणं कुम्भ[3]कारशयदण्डचक्रसंयोगे विरतेऽपि सति पूर्वप्रयोगाद् यथा आसंस्कारक्षयाच्चक्रस्य भ्रमणं भवति तथा मुक्तस्याप्यूर्ध्वगमनं भवतीति पूर्वहेतोः पूर्वदृष्टान्तः । व्यपगतलेपालाबुवत् । व्यपगतो विश्लिष्टो लेपो यस्मा[4]दलाबुफलात् शुष्कतुम्बकफलात् तद् व्यपगतलेपं, तच्च तदलाबु च तुम्बफलं व्यपगतलेपालाबु, व्यपगतलेपाबु इव व्यपगतलेपाबुवत् । यथा मृत्तिकालेपोत्पादितगुरुत्वम् अलाबु जले क्षिप्तं सत् जलस्याधो गच्छति बुडति निमज्जति । जलक्लेदविश्लिष्टमृत्तिकाबन्धनं सत् लघुतरं सदूर्ध्वमेव गच्छति तथा जीवोऽपि विश्लिष्टकर्मकर्दम ऊर्ध्वमेव गच्छति । इति द्वितीयहेतोर्द्वितीयदृष्टान्तः । एरण्डबीजवत् । एरण्डस्य वातारिवृक्षस्य यद्बीजमेरण्डबीजम्, एरण्डबीजमिव एरण्डबीजवत् । यथैरण्डबीजकोशलक्षणबन्धच्छेदात् गतिं करोति तथा जीवोऽपि कर्मबन्धच्छेदादूर्ध्वगमनं करोति । इति तृतीयस्य

१ –स्योर्ध्वं गमन– आ०, द०, ज० । २ –भ्रमितम् ता० । ३ –काराशय– आ०, द०, ज० । ४ –दालाबु– ता, द० ।

हेतोस्तृतीयो दृष्टान्तः। तथा अग्निशिखावत्। अग्नेः शिखा प्रदीपकलिका अग्निशिखा अग्निशिखेव अग्निशिखावत्। यथा अग्निशिखा तिर्यग्गमनप्रकृतिमारुतसम्बन्धरहिता सती स्वभावादूर्ध्वं गच्छति तथा मुक्तजीवोऽपि कर्माऽभावे ऊर्ध्वगमनस्वभावा[1]दूर्ध्वमेव गच्छति। इति चतुर्थस्य हेतोश्चतुर्थो दृष्टान्तः। असङ्गबन्धच्छेदयोः को विशेषः ? परस्परप्राप्तिमात्रं सङ्गः। परस्परानुप्रवेशोऽविभागेनावस्थितिर्बन्ध इत्यसङ्गबन्धच्छेदयोर्भेदः।

अथ यद्यूर्ध्वगमनस्वभावो जीवस्तर्हि मुक्तः सन्नूर्ध्वगमनं कुर्वन्नेव त्रिभुवनमस्तकात् परतोऽपि किं न गच्छतीति प्रश्ने सति सूत्रमिदमाहुः—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

धर्मास्तिकायस्याभावो धर्मास्तिकायाभावस्तस्माद् धर्मास्तिकायाभावात् परतो न गच्छतीति वाक्यशेषः। अस्यायमर्थः—गत्युपकारकारणं धर्मास्तिकायः, स तु धर्मास्तिकायो लोकान्तात् परतोऽलोके न वर्तते तेन मुक्तजीवः परतोऽपि न गच्छति। यदि परतोऽपि गच्छति तदा लोकालोकविभागो न भवति। तदुक्तम्—

"संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तहय तिरियं वा।
उड्ढग्गमणसहावो मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥" [तत्त्वसा० गा० ७१]

अथ मुक्तजीवा गतिजातिप्रभृतिकर्महेतुरहिता अमी अभेदव्यवहारा भविष्यन्तीति शङ्कायां कथञ्चिद् भेदव्यवहारस्थापनार्थमिदं सूत्रमाहुः—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

क्षेत्रञ्च कालश्च गतिश्च लिङ्गञ्च तीर्थञ्च चारित्रञ्च प्रत्येकबुद्धबोधितश्च ज्ञानञ्च अवगाहनञ्च अन्तरञ्च सङ्ख्या च अल्पबहुत्वञ्च क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वानि तेभ्यस्ततः। एभिर्द्वादशभिः क्षेत्रादिभिः प्रश्नैः सिद्धाः साध्या विकल्पनीया भवन्ति भेदव्यवहारवन्तो वर्तन्ते इत्यर्थः। कस्मात्? प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनययुग्मार्पणवशात्। प्रत्युत्पन्नो नयः ऋजुसूत्रः। भूताऽनुग्रहतन्त्रो नयो व्यवहारः। तथाहि—क्षेत्रव्यवहारस्तावत् कस्मिन् क्षेत्रे सिद्धाः सिद्ध्यन्ति। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयात् ऋजुसूत्रनयान्निश्चयनयादिति यावत् स्वप्रदेशलक्षणे सिद्धिक्षेत्रे सिद्ध्यन्ति। भूतग्राहिनयाद् व्यवहारनयादाकाशप्रदेशे जन्मोद्दिश्य पञ्चदशसु कर्मभूमिषु वा सिद्ध्यन्ति। संहरणमुद्दिश्यार्धतृतीयद्वीपलक्षणे मानुषक्षेत्रे सिद्धाः सिद्ध्यन्ति। तत्संहरणं द्विप्रकारं स्वकृतं परकृतञ्च। चारणविद्याधराणामेव स्वकृतम्। देवचारणविद्याधरैः कृतं परकृतम्। अथ कस्मिन् काले सिद्धः सिद्ध्यति ? प्रत्युत्पन्ननयादेकस्मिन्समये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति। ऋजुसूत्राद्याश्चत्वारो

---

१ –भावं ऊ–आ०, द०, ज०।

नयाः प्रत्युत्पन्नविषया वर्तन्ते । शेषास्त्रयो नया नैगमसङ्ग्रहव्यवहाराख्या उभयविषया[1] इति वेदितव्यम् । भूतप्रज्ञापननयाज्जन्मतः संहरणाच्चेति द्विप्रकारादविशेषेण उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिद्ध्यति । विशेषेण तु अवसर्पिण्याः सुषमदुःषमाया अन्ते भागे दुःषमसुषमायाञ्च जातः सिद्ध्यति । दुःषमसुषमायां जातो दुःषमायां सिद्ध्यति । दुःषमायां जातो दुःषमायां न सिद्ध्यति । [2]अन्यदा दुःषमदुःषमायां जातः सुषमसुषमायां जातः सुषमायां जातः दुःषमायाम् अन्त्यभागरहितायां सुषमदुःषमायाञ्च जातो नैव सिद्ध्यति । संहरणापेक्षया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याञ्च सर्वस्मिन् काले च सिद्ध्यति । अथ कस्यां गतौ सिद्धः सिद्ध्यति ? सिद्धगतौ मनुष्यगतौ वा सिद्ध्यति । अथ केन लिङ्गेन सिद्धिर्भवति ? [3]अवेदत्वेन त्रिभिर्वेदैर्वा सिद्धिर्भवति भावतो न तु द्रव्यतः । द्रव्यतस्तु पुंवेदेनैव सिद्धिर्भवति । अथवा लिङ्गशब्देन निर्ग्रन्थलिङ्गेन सिद्धिर्भवति । भूतनयापेक्षया सग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भवति **"साहारणासाहारणे ।"** [सिद्धभ० ५] इति वचनात् । अथ कस्मिंस्तीर्थे सिद्धिर्भवति ? तीर्थकरतीर्थे गणधरानगारकेवलिलक्षणेतरतीर्थे च सिद्धिर्भवति । अथ केन चारित्रेण सिद्धिर्भवति ? इत्यनुयोगे विशेषव्यपदेशरहितेन एषोऽहं सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मीत्येवं रूपेण साममायिकेन ऋजु[4]सूत्रतया यथाख्यातेनैकेन सिद्धिर्भवति । व्यवहारनयात् पञ्चभिश्चारित्रैः सिद्धिर्भवति । परिहारविशुद्धिसंज्ञकचारित्ररहितैश्चतुर्भिश्चारित्रैर्वा सिद्धिर्भवति । स्वशक्तिनिमित्तज्ञानात् प्रत्येकबुद्धाः सिद्ध्यन्ति । परोपदेशनिमित्तज्ञानात् बोधितबुद्धाः सिद्ध्यन्ति एतद्विकल्पद्वयमपि मिलित्वा एकोऽधिकारः । अथ केन ज्ञानेन सिद्धिर्भवतीति प्रश्ने ऋजुसूत्रनयादेकेन केवलज्ञानेन सिद्धिर्भवति । व्यवहारनयात् पश्चात्कृत[5]मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयेन मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयेण मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानत्रयेण वा सिद्धिर्भवति, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानचतुष्टयेन वा सिद्धिर्भवति । अस्यायमर्थः–मतिश्रुतयोः पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलज्ञानं [6]समुत्पाद्य सिद्धा भवन्ति । तथा मतिश्रुतावधिषु पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलमुत्पाद्य सिद्ध्यन्ति । अथवा मतिश्रुतमनःपर्ययेषु स्थित्वा केवलं लब्ध्वा सिद्ध्यन्ति । तथा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययेषु पूर्वं स्थित्वा पश्चात् केवलमुत्पाद्य सिद्ध्यन्ति । तथा चोक्तम्—

"पच्छायडेय सिद्धे दुगतिगचदुणाणपंचचदुरयमे ।
पडिवडिदापडिवडिदे संजमसंमत्तणाणमादीहिं ॥" [सिद्ध भ० ४]

अथ केनावगाहनेन निर्वृत्तिर्भवतीति प्रश्ने तदुच्यते–जीवप्रदेशव्यापित्वं तावदवगाहनमुच्यते । तदवगाहनं द्विप्रकारम् उत्कृष्टावगाहनं जघन्यावगाहनञ्चेति । तत्रोत्कृष्टमवगाहनं सपादानि पञ्चधनुःशतानि । जघन्यावगाहनमर्द्धचतुर्थारत्नयः । यः किल षोडशे वर्षे सप्तहस्त-

---

१ –या तु इ– आ०, द०, ज० । २ यदा आ०, द०, ज० । ३ आवेदेन आ०, द०, ज० । ४ –सूत्रनयात् आ०, द०, ज० । ५ –मतिश्रुत– ता० । ६ उत्पाद्य ता० ।

परिणामशरीरो भविष्यति स गर्भाष्टमे वर्षे अर्धचतुर्थारत्निप्रमाणो भवति, तस्य च मुक्तिर्भवति। मध्ये नाना भेदावगाहनेन सिद्धिर्भवति। सिध्यतां पुरुषाणां किमन्तरं भवतीति प्रश्ने निकृष्टत्वेन द्वौ समयौ भवतः उत्कर्षेण अष्टसमया अन्तरं भवति। द्वावपि भेदौ जघन्यस्य। जघन्येन एकः समयः। उत्कर्षेण षण्मासा अन्तरं भवति। अथ कया सङ्ख्यया सिद्ध्यन्ति ? जघन्येन एकसमये एकः सिद्ध्यति। उत्कर्षेण अष्टोत्तरशतसंख्या एकसमये सिद्ध्यन्ति। अथाल्पबहुत्वमुच्यते—प्रत्युत्पन्ननयात् सिद्धिक्षेत्रे सिद्ध्यन्ति तेषामल्पबहुत्वं नास्ति। भूतपूर्वनयात्तु विचार्यते—क्षेत्रसिद्धा द्विप्रकाराः जन्मक्षेत्रतः संहरणक्षेत्रतश्च। क्षेत्राणां विभागः कर्मभूमिरकर्मभूमिश्च। तथा क्षेत्रविभागः समुद्रद्वीपाः ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च। तत्र ऊर्ध्वलोकसिद्धा अल्पे। अधोलोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। तिर्यक्लोकसिद्धाः संख्येयगुणाः। सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः। द्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवमविशेषेण व्याख्यानम्। विशेषेण तु सर्वस्तोकाः लवणोदसिद्धाः। कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः। जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः। धातकीखण्डसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुष्करद्वीपार्धसिद्धाः संख्येयगुणा इति। एवं कालादिविभागेऽपि परमागमानुसारेणाल्पबहुत्वं बोद्धव्यम्। तथाहि—कालस्त्रिप्रकारः उत्सर्पिणी अवसर्पिण्यनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी चेति। तत्र सर्वतः स्तोकाः उत्सर्पिणीसिद्धाः। अवसर्पिणीसिद्धा विशेषाधिकाः। अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणीसिद्धाः संख्येयगुणाः। ऋजुसूत्रनयापेक्षया तु एकसयये सिद्ध्यन्तीत्यल्पबहुत्वं नास्ति। गतिं प्रति विचार्यते—ऋजुसूत्रापेक्षया सिद्धगतौ सिद्ध्यन्तीति तत्राल्पबहुत्वं नास्ति। व्यवहारापेक्षयापि मनुष्यगतौ सिद्ध्यन्तीति तत्राप्यल्पबहुत्वं नास्ति। एकान्तरगतावल्पबहुत्वमस्तीति तद्विचार्यते। सर्वतः स्तोकाः तिर्यग्योन्यन्तरगतिसिद्धाः। मनुष्ययोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः। नारकयोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः। स्वर्गयोन्यन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः। लिङ्गं प्रति अल्पबहुत्वं विचार्यते—ऋजुसूत्रनयापेक्षया अवेदात्सिद्ध्यन्तीति नास्ति अल्पबहुत्वम्। व्यवहारनयात्तु सर्वतः स्तोकाः नपुंसकवेदसिद्धाः स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः। पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः। तथा चोक्तम्—

"बीस णपुंसयवेया थीवेया तह य होंति चालीसा।
पुंवेया अडयाला समये गते सिद्धा य॥" [ ]

एवं तीर्थचारित्रादिभेदैरप्यल्पबहुत्वं परमागमात्सिद्धम्।

एषा तत्त्वार्थवृत्तिर्यैर्विचार्यते शिष्येभ्यः उपदिश्यते च तैर्जिनवचनामृतस्वादिभिः पुरुषैः शृण्वद्भिः पठद्भिश्च परम[1]मुक्तिसुखामृतं निजकरे कृतं देवेन्द्रनरेन्द्रसुखं किमुच्यते।

---

१ परमसुखा– आ०, द०, ज०।

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कसमन्तभद्रः श्रीपूज्यपादसदुमापतिपूज्यपादम् ।
विद्यादिनन्दिगुणरत्नमुनीन्द्रसेव्यं भक्त्या नमामि परितः श्रुतसागराप्त्यै ॥

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचितायां तात्पर्यसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ
दशमः पादः समाप्तः ।

---

१ श्रीकुन्दकुन्दाचार्यश्रीमदुमास्वामिश्रीविद्यानन्दिसूरिश्रीश्रुतसागर सूरिभ्यो नमो नमः । ग्रन्थाग्रम् ९००४। श्रीरस्तु । ता० । इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसभाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलङ्कारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिय-ना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिकराजवार्तिकसवार्थसिद्धिन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रमुखग्रन्थसन्दर्भावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां दशमोऽध्यायः समाप्तः । इति तत्त्वार्थस्य श्रुतसागरी टीका समाप्ता । आ०, द०, ज० ।

तत्त्वार्थवृत्ति

[हिन्दी-सार]

तत्त्वार्थवृत्ति
हिन्दी-सार

इस पञ्चम कालमें गणधरदेवके समान श्रीनिर्ग्रन्थाचार्य उमास्वामि भट्टारकसे भव्यवर द्वैयाकने प्रश्न किया कि-भगवन्, आत्मा का हित क्या है? उमास्वामि भट्टारक द्वैयाक भव्यके प्रश्नका 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके द्वारा प्राप्त होने वाला मोक्ष आत्माका हित है' यह उत्तर देनेके पहिले इष्टदेवको नमस्कार कर मङ्गल करते हैं—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

आत्माके ज्ञानादि गुणोंको घातने वाले ज्ञानावरणादि कर्मोंका भेदन करके जो समस्त तत्त्व अर्थात् मोक्षोपयोगी पदार्थोंके पूर्णज्ञाता हैं, तथा जिनने मोक्षमार्गका नेतृत्व किया है उन परमात्मा को उक्तगुणों की प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूं।

द्वैयाक ने पूंछा कि मोक्षका स्वरूप क्या है?

उमास्वामि भट्टारकने कहा—समस्त कर्ममलोंसे रहित आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम मोक्ष है। इस अवस्थामें आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीरोंसे रहित हो अशरीरी हो जाता है। अपने स्वाभाविक अनन्तज्ञान निर्बाध अनन्त सुख आदि गुणोंसे परिपूर्ण हो चिदानन्द स्वरूप हो जाता है। यह आत्माकी अन्तिम विलक्षण अवस्था है। यह शुद्ध दशा सदा एकसी बनी रहती है। इसका कभी विनाश नहीं होता। यह दशा इन्द्रियज्ञानका विषय न होनेसे अत्यन्त परोक्ष है, इस लिए विभिन्न वादी मोक्षके स्वरूपकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं। जैसे—

(१) सांख्यका मत है कि-पुरुषका स्वरूप चैतन्य है। ज्ञान चैतन्यसे पृथक् वस्तु है। ज्ञान प्रकृतिका धर्म है, यही ज्ञेय अर्थात् पदार्थोंको जानता है। चैतन्य पदार्थोंको नहीं जानता। मोक्ष अवस्थामें आत्मा चैतन्य स्वरूप रहता है ज्ञान स्वरूप नहीं।

इस मतमें ये दूषण हैं—ज्ञानसे भिन्न चैतन्य कोई वस्तु नहीं है। चैतन्य ज्ञान बुद्धि आदि पर्यायवाची हैं इनमें अर्थभेद नहीं है। स्व तथा पर पदार्थोंका जानना चैतन्यका स्वरूप है। यदि चैतन्य अपने स्वरूप तथा पर पदार्थोंको नहीं जानता तो वह गधेके सींगकी तरह असत् ही हो जायगा। निराकार अर्थात् ज्ञेयको न जानने वाले चैतन्यकी कोई सत्ता नहीं है।

(२) वैशेषिक-बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन आत्माके नव विशेष गुणोंके अत्यन्त उच्छेद होनेको मोक्ष कहते हैं। ये विशेषगुण आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। चूँकि मोक्षमें आत्माका मनसे संयोग नहीं रहता अतः इन गुणोंका अत्यन्त उच्छेद हो जाता है—

इस मतमें सबसे बड़ा दूषण यह है कि—यदि आत्माके बुद्धि आदि विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं तो आत्माका स्वरूप ही क्या बचता है ? अपने विशेष लक्षणोंसे रहित वस्तु अवस्तु ही हो जायगी।

(३) बौद्ध मानते हैं कि—जिस प्रकार तेलके न रहनेसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार राग-स्नेहके क्षय हो जानेसे आत्मा-ज्ञानसन्तानका शान्त हो जाना मोक्ष है।

इनकी यह प्रदीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाणकी कल्पना भी उचित नहीं है। कारण आत्माका अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता, वह सत् पदार्थ है।

मोक्षके कारणोंके विषयमें भी विवाद है—

नैयायिक आदि ज्ञानको ही मोक्ष कारण मानते हैं इनके मतमें चारित्रका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पूर्णतामें होता है। कोई श्रद्धान मात्रसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं। मीमांसक क्रियाकाण्डरूप चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति स्वीकार करते हैं। किन्तु जिसप्रकार रोगी औषधिके ज्ञानमात्रसे या ज्ञानशून्य हो जिस किसी दवाके पीलेनेमात्रसे अथवा रुचि या विश्वास रहित हो मात्र दवाके ज्ञान या उपयोगमात्रसे नीरोग नहीं हो सकता उसी प्रकार अकेले श्रद्धान, ज्ञान या चारित्रसे भवरोगका विनाश नहीं हो सकता। देखो—

लंगड़ेको इष्टदेशका ज्ञान है पर क्रिया न होनेसे उसका ज्ञान उसी तरह व्यर्थ है जिसप्रकार अन्धेकी क्रिया ज्ञानशून्य होने से। श्रद्धानरहित व्यक्तिका ज्ञान और चारित्र दोनों ही कार्यकारी नहीं है। अतः श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर ही कार्यकारी हैं।

मोक्षमार्ग क्या है ?

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग हैं।

मोक्षोपयोगी तत्त्वोंके प्रति दृढ़ विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंका संशय, विपर्यय और अनिश्चिततासे रहित यथावत् ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। संसारको बढ़ानेवाली क्रियाओंसे विरक्त तत्त्वज्ञानीका कर्मोंका आस्रव करनेवाली क्रियाओंसे विरत होना सम्यक् चारित्र है।

इस सूत्रमें 'सम्यक्' शब्दका सम्बन्ध दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे कर लेना चाहिए।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

पदार्थके अपने स्वरूपको तत्त्व कहते हैं। तत्त्वार्थ अर्थात् पदार्थोंके यथावत् स्वरूपकी श्रद्धा या रुचिको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अर्थ शब्दके प्रयोजन, वाच्य, धन, हेतु, विषय, प्रकार, वस्तु, द्रव्य आदि अनेक अर्थ होते हैं। इनमें पदार्थ अर्थ लेना चाहिए धन आदि नहीं।

दर्शन शब्दका प्रसिद्ध अर्थ देखना है, फिर भी दर्शन शब्द जिस 'दृशिर्' धातुसे बना है उसके अनेक अर्थ होते हैं, अतः मोक्षमार्गका प्रकरण होनेसे यहाँ देखना अर्थ न लेकर रुचि करना, दृढ़ विश्वास करना अर्थ लेना चाहिए। यदि देखना अर्थ किया जायगा

तो देखना तो सभी आंखवाले प्राणियोंको होता है अतः सभीके सम्यग्दर्शन मानना होगा। देखना मात्र मोक्षका मार्ग नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है–एक सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन।

प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यसे पहिचाना जानेवाला सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन है। रागादि दोषोंके उपशमको प्रशम कहते हैं। विविध दुःखमय संसारसे डरना संवेग है। प्राणिमात्रके दुःख दूर करनेकी इच्छासे चित्तका दयामय होना अनुकम्पा है। देव, शास्त्र, व्रत और तत्त्वोंमें दृढ़प्रतीतिको आस्तिक्य कहते हैं। वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धि रूप होता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके प्रकार—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

यह सम्यग्दर्शन स्वभावसे अर्थात् परोपदेशके बिना और अधिगमसे अर्थात् परोपदेशसे उत्पन्न होता है।

शंका–निसर्गज सम्यग्दर्शनमें भी अर्थाधिगम तो अवश्य ही रहता है क्योंकि पदार्थोंके के ज्ञान हुए बिना श्रद्धान कैसा ? तब इन दोनों सम्यग्दर्शनोंमें वास्तविक भेद क्या है ?

समाधान—दोनों ही सम्यग्दर्शनोंमें अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोह कर्मका उपशम या क्षयोपशम समान है। इस अन्तरङ्ग कारणकी समानता रहनेपर भी जो सम्यग्दर्शन गुरूपदेशके बिना उत्पन्न हो वह निसर्गज कहा जाता है, जो गुरूपदेशसे हो वह अधिगमज। निसर्गज सम्यग्दर्शनमें भी प्रायः गुरूपदेश अपेक्षित रहता है पर उसे स्वाभाविक इसलिए कहते हैं कि उसके लिए गुरुको विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता सहज ही शिष्यको सम्यग्दर्शन ज्योति प्राप्त हो जाती है।

शंका–"जो पहिले कहा जाता है उसीका विधान या निषेध होता है" यह व्याकरण का प्रसिद्ध नियम है। अतः इस सूत्रमें 'तत्' पद न भी दिया जाय फिर भी पूर्वसूत्रसे 'सम्यग्दर्शन' का सम्बन्ध जुड़ ही जाता है तब इस सूत्र में 'तत्' पद क्यों दिया गया है ?

समाधान—जिस प्रकार सम्यग्दर्शन शब्द पूर्ववर्ती है उसी प्रकार मोक्षमार्ग शब्द भी पूर्ववर्ती है। मोक्षमार्ग प्रधान है। अतः "समीपवर्तियोंमें भी प्रधान बलवान् होता है" इस नियमके अनुसार इस सूत्रमें मोक्षमार्गका सम्बन्ध जुड़ सकता है। इस दोषको दूर करनेके लिए और सम्यग्दर्शनका सम्बन्ध जोड़नेके लिए इस सूत्रमें 'तत्' पद दिया गया है।

तत्त्व क्या हैं—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

जिसमें ज्ञान-दर्शनादिरूप चेतना पायी जाय वह जीव है। जिसमें चेतना न हो वह अजीव है। कर्मोंके आने को आस्रव कहते हैं। आए हुए कर्मोंका आत्मप्रदेशोंसे सम्बन्ध होना बन्ध है। कर्मोंके आनेको रोकना संवर है। पूर्वसंचित कर्मोंका क्रमशः क्षय होना निर्जरा है। समस्त कर्मोंका पूर्णरूपसे आत्मासे पृथक् होना मोक्ष है।

संसार और मोक्ष जीवके ही होते हैं अतः सर्वप्रथम जीव तत्त्व कहा है। जीव अजीवके निमित्तसे ही संसार या मोक्ष पर्यायको प्राप्त होता है अतः जीवके बाद अजीव का कथन किया है। जीव और अजीवके निमित्तसे ही आस्रव होता है अतः इसके बाद आस्रव तथा आस्रवके बाद बन्ध होता है अतः उसके बाद बन्ध का निर्देश किया है। बन्ध को रोकनेवाला संवर होता है अतः बन्ध के बाद संवर तथा जिसने आगामी कर्मोंका संवर कर लिया है उसीके संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है इसलिए उसके अनन्तर निर्जराका कथन किया गया है। सबके अन्तमें मोक्ष प्राप्त होता है अतः मोक्षका निर्देश अन्तमें किया गया है

पुण्य और पापका आस्रव और बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः उन्हें पृथक् नहीं कहा है।

प्रश्न–आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्त्व द्रव्य और भावरूप होते हैं। उनमें द्रव्यरूप तत्त्वोंका अजीवमें तथा भावरूप तत्त्वोंका जीवमें अन्तर्भाव किया जा सकता है, अतः दो ही तत्त्व कहना चाहिए ?

उत्तर–इस मोक्षशास्त्रमें मोक्ष तो प्रधान है अतः उसे तो अवश्य कहना ही होगा। मोक्ष संसारपूर्वक होता है। अतः संसारका कारण बन्ध और आस्रव भी कहने चाहिए, इसी तरह मोक्षके कारण संवर और निर्जरा भी। तात्पर्य यह कि प्रधान कार्य संसार और मोक्ष तथा उनके प्रधान कारण आस्रव बन्ध और संवर निर्जराका कथन किया गया है। संवर और निर्जराका फल मोक्ष है तथा आस्रव और बन्धका फल संसार। यद्यपि संसार और मोक्ष में आस्रवादि चारोंका अन्तर्भाव किया जा सकता है फिर भी जिस प्रकार 'क्षत्रिय आए हैं, शूरवर्मा भी' इस वाक्यमें सामान्य क्षत्रियोंमें अन्तर्भूत शूरवर्माका पृथक् कथन विशेष प्रयोजनसे किया जाता है उसी प्रकार विशेष प्रयोजनके लिए ही आस्रवादिक तत्त्वोंका भिन्न भिन्न रूपसे कथन किया है।

प्रश्न–जीवादिक सात द्रव्यवाची हैं तथा तत्त्वशब्द भाववाची है अतः इनमें व्याकरणशास्त्रके नियमानुसार एकार्थप्रतिपादकत्वरूप सामानाधिकरण्य नहीं बन सकता ?

उत्तर–द्रव्य और भावमें अभेद है अतः दोनों एकार्थप्रतिपादक हो सकते हैं। अथवा जीवादिकमें तत्त्वरूप भावका आरोप करके सामानाधिकरण्य बन जाता है।

सामानाधिकरण्य होने पर भी मोक्ष शब्द पुल्लिंग तथा तत्त्वशब्द नपुंसकलिंग बना रह सकता है। क्योंकि बहुतसे शब्द अजहल्लिङ्ग अर्थात् अपने लिङ्गको न छोड़नेवाले होते हैं। इसी तरह वचनभेद भी हो जाता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रथमसूत्रमें भी इसी तरह सामाधिकरण्य बन जाता है।

शब्दव्यवहार जिन अनेक निमित्तोंसे होता है, उन प्रकारोंका कहते हैं—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

नाम स्थापना द्रव्य और भावसे सम्यग्दर्शनादि और जीवादि पदार्थोंका व्यवहारके लिए विभाग या निक्षेप (दृष्टिके सामने रखना) होता है।

शब्दकी प्रवृत्ति द्रव्य क्रिया जाति और गुणके निमित्तसे देखी जाती है। जैसे डवित्थ-लकड़ीके मृगमें काष्ठद्रव्यको निमित्त लेकर मृगशब्दका प्रयोग होता है। करनेवालेको कर्त्ता कहना क्रियानिमित्तक है। द्विजत्व जातिके निमित्तसे होनेवाला द्विजव्यवहार जातिनिमित्तक है। फीके लालगुणके निमित्तसे होनेवाला पाटलव्यवहार गुणनिमित्तक है। शब्दके इन द्रव्य गुणादि प्रवृत्तिनिमित्तोंकी अपेक्षा न करके व्यवहारके

लिए अपनी इच्छानुसार नाम रख लेना नाम निक्षेप है। जैसे किसी लड़केकी गजराज यह संज्ञा।

लकड़ीमें खोदे गए, सूतसे काढ़े गए, गोबर आदिसे लीपे गए वस्तुके आकारमें 'यह वही है' इस प्रकारकी स्थापना तदाकारस्थापना है। शतरंजके अतदाकार मुहरोंमें हाथी घोड़ा आदिकी कल्पना अतदाकारस्थापना है।

जो गुणवाला था, है तथा रहेगा वह द्रव्य है।

वर्तमान पर्यायवाला द्रव्य ही भाव कहलाता है।

जैसे—जीवनगुणकी अपेक्षाके बिना जिस किसी पदार्थको जीव कहना नामजीव है। उस आकारवाले या उस आकारसे रहित पदार्थमें उस जीवकी कल्पना स्थापनाजीव है। जैसे हाथी घोड़ेके आकारवाले खिलौनों को या शतरंजके मुहरोंको हाथी घोड़ा कहना। जीवशास्त्र को जाननेवाला किन्तु वर्तमानमें उसमें उपयुक्त न रहनेवाला आत्मा आगमद्रव्यजीव है। ज्ञाताका शरीर, कर्म, नोकर्म आदि नोआगमद्रव्यजीव हैं। सामान्यरूपसे नोआगमद्रव्यजीव नहीं है क्योंकि कोई अजीव जीव नहीं बनता। पर्यायकी दृष्टिसे नोआगमद्रव्यजीवकी कल्पना हो सकती है। जैसे कोई मनुष्य मरकर देव होनेवाला है उसे आज भी भाविनोआगमद्रव्यदेव कह सकते हैं। अथवा जो आज जीवशास्त्रको नहीं जानता पर आगे जानेगा वह भी भाविनोआगमद्रव्यजीव कहा जा सकता है।

जीवशास्त्रको जानकर उसमें उपयुक्त आत्मा आगमभावजीव है। जीवन पर्यायसे युक्त आत्मा नोआगमभावजीव है।

इस तरह अनेक प्रकारके जीवोंमेंसे अप्रस्तुत जीवोंको छोड़कर प्रकृतजीवको पहिचाननेके लिए निक्षेपकी आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि हमें किस समय कौनसा जीव अपेक्षित है यह समझना निक्षेपका प्रयोजन है। जैसे जब बच्चा शेरके लिए रो रहा हो तब स्थापना शेरकी आवश्यकता है। शेरसिंह पुकारनेपर शेरसिंह नामवाले व्यक्तिकी आवश्यकता है। आदि।

'नामस्थापनाद्रव्यभावतो न्यासः' इतना ही सूत्र बनानेसे प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादिका ही ग्रहण होता अतः प्रधानभूत सम्यग्दर्शनादि तथा उनके विषयभूत जीवादि सभीका संग्रह करनेके लिए खासतौरसे सर्वसंग्राहक 'तत्' शब्द दे दिया है।

नामादिनिक्षेपके विषयभूत जीवादि पदार्थों को जानने का उपाय बतलाते हैं—

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

प्रमाण और नयके द्वारा जीवादिपदार्थोंका ज्ञान होता है। प्रमाण स्वार्थ और परार्थके भेदसे दो प्रकारका है। श्रुत स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। अन्य प्रमाण स्वार्थ ही हैं। ज्ञानात्मकको स्वार्थ तथा वचनात्मक को परार्थ कहते हैं। नय वचनविकल्परूप होते हैं।

सूत्रमें नय शब्दको अल्पस्वरवाला होनेसे प्रमाण शब्दके पहिले कहना चाहिए था लेकिन नयकी अपेक्षा प्रमाण पूज्य है अतः प्रमाण शब्द पहिले कहा गया है। नयकी अपेक्षा प्रमाण पूज्य इसलिये है कि प्रमाणके द्वारा जाने गये पदार्थोंके एक देशको ही नय जानता है। प्रमाण सम्पूर्ण पदार्थको जानता है। नय पदार्थके एकदेश को जानता है। प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी। नय दो प्रकारका है एक द्रव्यार्थिक

तथा दूसरा पर्यायार्थिका भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है तथा शेष द्रव्यार्थिक नयके। चारों ही निक्षेप प्रमाणके विषय होते हैं इसीलिए प्रमाण सकलादेशी कहलाता है।

जीवादि पदार्थोंके अधिगमके उपायान्तरको बतलाते हैं—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनके द्वारा भी जीवादि-पदार्थोंका ज्ञान होता है। स्वरूपमात्रका कहना निर्देश है। अधिकारीका नाम बतलाना स्वामित्व है। उत्पत्तिके कारणको साधन कहते हैं। आधार अधिकरण है। कालके प्रमाणको स्थिति कहते हैं। भेद का नाम विधान है।

जैसे सम्यग्दर्शनमें—तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं यह निर्देश हुआ। सामान्यसे सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव है। विशेषरूपसे चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके स्वामीका वर्णन इस प्रकार है—

नरकगतिमें सातों ही नरकोंमें पर्याप्तक नारकियोंके दो सम्यग्दर्शन होते हैं औपशमिक और क्षायोपशमिक। प्रथम नरकमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंके क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होते हैं। जिस जीवने पहिले नरक आयुका बन्ध कर लिया है वह जीव बादमें क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन युक्त होनेपर प्रथम नरकमें ही उत्पन्न होगा द्वितीयादि नरकोंमें नहीं, अतः प्रथम नरकमें अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन हो सकता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनयुक्त जीव तिर्यञ्च, मनुष्य और नरकमें उत्पन्न नहीं होता है अतः अपर्याप्तक नारक आदिके वेदकसम्यक्त्व कैसे बनेगा ?

उत्तर—नरकादि आयुका बन्ध होनेके बाद जिस जीवने दर्शन मोहका क्षपण प्रारंभ किया है वह वेदकसम्यक्त्वी जीव नरक आदिमें जाकर क्षपणकी समाप्ति करेगा। अतः नरक और तिर्यञ्चगतिमें अपर्याप्त दशामें भी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है।

तिर्यञ्चगतिमें औपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तकोंके ही होता है। क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनोंके ही होते हैं। तिर्यञ्चिनीके क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता। क्योंकि कर्मभूमिज मनुष्य ही दर्शन मोहके क्षपणका प्रारंभक होता है और क्षपणके प्रारंभ कालके पहिले तिर्यञ्च आयु का बन्ध हो जानेपर भी भोगभूमिमें तिर्यञ्च ही होगा तिर्यञ्चिनी नहीं।

कहा भी है—"कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही केवलीके पादमूलमें दर्शनमोहके क्षपणका प्रारंभक होता है, किन्तु क्षपण की समाप्ति चारों गतियोंमें हो सकती है।"

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक तिर्यञ्चिनीके ही होते हैं अपर्याप्तकके नहीं।

मनुष्यगतिमें क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकारके मनुष्यों को होता है। औपशमिक पर्याप्तकोंके ही होता है अपर्याप्तकोंके नहीं। पर्याप्त मनुष्यणीके ही तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं अपर्याप्तकके नहीं। मनुष्यिणीके क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद की अपेक्षा बतलाया है।

देवगतिमें पर्याप्तक और अपर्याप्तक देवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।

प्रश्न—अपर्याप्तक देवोंके उपशम सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है क्योंकि उपशम सम्यग्दर्शन युक्त प्राणीका मरण नहीं होता ?

उत्तर–मिथ्यात्वपूर्वक उपशमसम्यग्दर्शनयुक्त प्राणीका मरण नहीं होता किन्तु वेदक-पूर्वक उपशमसम्यग्दर्शनयुक्त प्राणीका तो मरण होता है। क्योंकि वेदक पूर्वक उपशमसम्यग्दर्शनयुक्त जीव श्रेणीका आरोहण करता है और श्रेण्यारोहणके समय चारित्रमोहके उपशमके साथ मरण होनेपर अपर्याप्तक देवोंके भी उपशम सम्यग्दर्शन होता है।

विशेष–भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा देवियोंके क्षायिक नहीं होता। सौधर्म और ऐशान कल्पवासी देवियोंके भी क्षायिक नहीं होता। सौधर्म और ऐशान कल्पवासी पर्याप्त देवियोंके ही उपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

इन्द्रियोंकी अपेक्षासे संज्ञी पञ्चेन्द्रियके तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त कोई सम्यग्दर्शन नहीं होता।

कायकी अपेक्षा त्रसकायिकोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। स्थावरकायिकके एक भी नहीं।

योगकी अपेक्षा तीनों योगवाले जीवोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। अयोगियोंके क्षायिक ही होता है।

वेदकी अपेक्षा तीनों वेदोंमें तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। अवेद अवस्थामें औपशमिक और क्षायिक होता है।

कषाय की अपेक्षा चारों कषायोंमें तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। अकषाय अवस्थामें औपशमिक और क्षायिक होते हैं।

ज्ञानकी अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानियोंके तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। केवलीके क्षायिक ही होता है।

संयमकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें तीनों ही होते हैं। परिहार-विशुद्धि संयममें वेदक और क्षायिक ही होता है।

प्रश्न–परिहारविशुद्धि संयममें उपशमसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता?

उत्तर–मनःपर्यय, परिहारविशुद्धि, औपशमिकसम्यक्त्व और आहारकऋद्धि इनमेंसे एकके होनेपर अन्य तीन नहीं होते। विशेष यह है कि मनःपर्ययके साथ मिथ्यात्वपूर्वक औपशमिकका निषेध है वेदकपूर्वक का नहीं। कहा भी है–

"मनःपर्यय, परिहारविशुद्धि, उपशमसम्यक्त्व और आहारक-आहारकमिश्र इनमेंसे एकके होनेपर शेष नहीं होते।"

सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातसंयममें औपशमिक और क्षायिक होता है। संयतासंयत और असंयतों के तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं।

दर्शनकी अपेक्षा चक्षुःदर्शन, अचक्षुःदर्शन और अवधिदर्शनमें तीनों ही होते हैं। केवलदर्शनमें क्षायिक ही होता है।

लेश्याकी अपेक्षा छहों लेश्याओंमें तीनों ही होते हैं। अलेश्यावस्थामें क्षायिक ही।

भव्यत्वकी अपेक्षा भव्योंके तीनों ही होते हैं। अभव्योंके एक भी नहीं।

सम्यक्त्वकी अपेक्षासे अपनी-अपनी अपेक्षा तीनों सम्यग्दर्शन होते हैं।

संज्ञाकी अपेक्षा संज्ञियोंके तीनों ही होते हैं। असंज्ञियोंके एक भी नहीं। संज्ञी और असंज्ञी दोनों अवस्थाओंसे जो रहित हैं उनके क्षायिक ही होता है।

आहारकी अपेक्षा आहारकोंके भी तीनों ही होते हैं। छद्मस्थ अनाहारकोंके भी तीनों ही सम्यग्दर्शन होते हैं। समुद्घातप्राप्तकेवलीके क्षायिक ही होता है।

साधनके दो भेद हैं–अभ्यन्तर और बाह्य। सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्ग साधन दर्शनमोह का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है। बाह्यसाधन प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरकमें

जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाका अनुभव है। चतुर्थ नरकसे सप्तम नरकपर्यन्त जातिस्मरण और वेदनाका अनुभव ये दो सम्यग्दर्शनके बाह्य साधन हैं। तिर्यञ्च और मनुष्योंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनाका अनुभव ये बाह्य साधन हैं। सौधर्म स्वर्गसे सहस्रार स्वर्ग पर्यन्तके देवोंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमदर्शन और देवर्द्धिदर्शन ये चार साधन हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंके देवर्द्धिदर्शनके बिना तीन ही साधन हैं। नवग्रैवेयकवासी देवोंके जातिस्मरण और धर्मश्रवण ये दो ही साधन हैं।

प्रश्न–ग्रैवेयकवासी देव अहमिन्द्र होते हैं अतः उनके धर्मश्रवण कैसे हो सकता है?

उत्तर–कोई सम्यग्दृष्टि जीव तत्त्वचर्चा या शास्त्रका मनन करता है, वहाँ उपस्थित दूसरा जीव उस चर्चासे सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लेता है। अथवा प्रमाण, नय और निक्षेप की अपेक्षा वहाँ तत्त्वचर्चा नहीं होती किन्तु सामान्यरूपसे तत्त्वविचार तो होता ही है। अतः ग्रैवेयकमें भी धर्मश्रवण संभव है।

अनुदिश और अनुत्तरविमानवासी देव सम्यग्दर्शनसहित ही उत्पन्न होते हैं।

अधिकरण दो प्रकारका है– अभ्यन्तर और बाह्य। सम्यग्दर्शनका अभ्यन्तर अधिकरण आत्मा ही है। बाह्य अधिकरण लोकनाडी (त्रसनाली) है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाशका अधिकरण निश्चयनयसे स्वप्रदेश ही हैं और व्यवहारनयसे आकाश अधिकरण है। जीवका शरीर और क्षेत्र आदि आधार है।

घट पटादि पुद्गलोंका भूमि आदि आधार है। अपने गुण और पर्यायोंका आधार द्रव्य होता है। स्थितिके दो भेद हैं– उत्कृष्ट और जघन्य। उपशम सम्यग्दर्शनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। क्षायिक सम्यग्दर्शनकी संसारी जीवकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है उत्कृष्ट स्थिति आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि सहित तेतीस सागर है। यह इस प्रकार है– कोई मनुष्य कर्मभूमिमें पूर्वकोटि आयुवाला उत्पन्न हुआ और गर्भसे आठ वर्षके बाद अन्तर्मुहूर्तमें दर्शन मोहका क्षपण करके सम्यग्दृष्टि होकर सर्वार्थसिद्धिमें तेतीस सागरकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ। पूनः पूर्वकोटि आयुवाला मनुष्य होकर कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मुक्त जीवकी क्षायिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति सादि और अनन्त है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है।

प्रश्न–६६ सागर स्थिति कैसे होती है?

उत्तर–सौधर्म स्वर्गमें २ सागर शुक्रमें १६ सागर, शतारमें १८ सागर, और अष्टम ग्रैवेयकमें ३० सागर इस प्रकार ६६ सागर होते हैं। अथवा सौधर्म स्वर्गमें दो बार उत्पन्न होनेसे ४ सागर, सनत्कुमारमें ७ सागर, ब्रह्ममें १० सागर, लान्तवमें १४ सागर और नवम ग्रैवेयकमें ३१ सागर इस प्रकार ६६ सागर होते हैं। स्वर्गोंकी आयुके अन्तिम सागरमेंसे मनुष्यायु कम कर लेनी चाहिए क्योंकि स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होता है, पुनः स्वर्ग जाता है। अतः ६६ सागर से अधिक स्थिति नहीं होती।

विधान–सामान्यसे सम्यग्दर्शन एक ही है। विशेषसे निसर्गज और अधिगमजके भेदसे दो प्रकारका है। उपशम, क्षय और क्षयोपशमके भेदसे उसके तीन भेद हैं।

आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार अर्थ, अवगाढ और परमावगाढके भेदसे सम्यग्दर्शनके दश भेद भी होते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

शास्त्राभ्यासके विना वीतरागकी आज्ञासे ही जो श्रद्धान होता है वह आज्ञासम्यक्त्व है। दर्शनमोहके उपशम होनेसे शास्त्राभ्यासके विना ही मोक्षमार्गमें श्रद्धान होना मार्ग-सम्यक्त्व है। तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्रश्रवणसे उत्पन्न हुए श्रद्धानको उपदेश-सम्यक्त्व कहते हैं। आचारसूत्र को सुननेसे जो श्रद्धान होता है वह सूत्रसम्यक्त्व है। गणितमें बतलाये हुए बीजाक्षरोंके द्वारा करणानुयोगके गहन पदार्थोंका श्रद्धान हो जाना बीज-सम्यक्त्व है। तत्त्वोंका संक्षिप्त ज्ञान होने पर भी तत्त्वोंमें रुचि होना संक्षेपसम्यक्त्व है। द्वादशांगको सुनकर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है उसको विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। किसी पदार्थके देखने या अनुभव करनेसे होनेवाले श्रद्धानका नाम अर्थसम्यक्त्व है। बारह अङ्ग और अङ्ग बाह्य इस प्रकार सम्पूर्ण श्रुतका पारगामी होनेपर जो श्रद्धान होता है वह अवगाढ-सम्यक्त्व है। केवलीके केवलज्ञानसे जाने हुए पदार्थोंमें श्रद्धानका नाम परमावगाढ़-सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शनके प्ररूपक शब्द संख्यात हैं अतः संख्यात भेद भी होते हैं। श्रद्धान करनेवाले और श्रद्धेयके भेदसे असंख्यात और अनन्तभेद भी होते हैं।

प्रश्न–असंख्यात और अनन्तभेद कैसे होते हैं ?

उत्तर–श्रद्धान करनेवालोंके असंख्यात और अनन्त भी भेद होते हैं और श्रद्धेय पदार्थके भी उतने ही भेद होते हैं क्योंकि श्रद्धेय पदार्थ श्रद्धाताके विषय होते हैं। अतः विषय और विषयी अथवा श्रद्धाता और श्रद्धेय के भेदसे असंख्यात और अनन्त भेद हो सकते हैं।

जीवादि पदार्थोंके अधिगमके उपायान्तर को बतलाते हैं–

सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

सत् शब्दके साधु, अर्चित, प्रशस्त, सत्य और अस्तित्व इस प्रकार कई अर्थ हैं। उनमें से यहाँ सत्का अर्थ अस्तित्व है। संख्या भेद को कहते हैं। निवासका नाम क्षेत्र है। वर्तमानकालवर्ती निवासको क्षेत्र कहते हैं। त्रिकालवर्ती क्षेत्रको स्पर्शन कहते हैं। मुख्य और व्यवहारके भेदसे काल दो प्रकारका है। विरहकालको अन्तर कहते हैं। औपशमिकादि परिणामोंको भाव कहते हैं। एक दूसरेकी अपेक्षा विशेष ज्ञानको अल्प-बहुत्व कहते हैं

सूत्रमें आया हुआ 'च' शब्द समुच्चयार्थक है अर्थात् चशब्द का तात्पर्य है कि केवल प्रमाण, नय और निर्देश आदिके द्वारा ही जीव आदिका अधिगम नहीं होता किन्तु सत्संख्या आदिके द्वारा भी अधिगम होता है।

यद्यपि पूर्वसूत्रमें कहे हुए निर्देश शब्दसे सत्का, विधानसे संख्या का, अधिकरणसे क्षेत्र और स्पर्शनका, स्थितिसे कालका ग्रहण हो जाता है। नामादि निक्षेपमें भावका भी ग्रहण हो चुका है, फिर भी सत् आदिका ग्रहण विस्तृत अभिप्रायवाले शिष्योंकी दृष्टिसे किया है।

अब जीव द्रव्यमें सत् आदिका वर्णन करते हैं–

जीव चौदह गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं। गुणस्थान इस प्रकार हैं —१ मिथ्यादृष्टि २–सासादनसम्यग्दृष्टि ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि ४ असंयतसम्यग्दृष्टि ५ देशसंयत ६ प्रमत्तसंयत

७ अप्रमत्तसंयत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उपशान्तकषाय १२ क्षीणकषाय १३ सयोगकेवली १४ अयोगकेवली। इन चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंका वर्णन चौदह मार्गणाओंकी अपेक्षा किया गया है। मार्गणाएँ ये हैं—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ कषाय ७ ज्ञान ८ संयम ९ दर्शन १० लेश्या ११ भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ संज्ञा १४ आहार।

सामान्यसे जीवमें मिथ्यादृष्टिसे अयोगकेवलीपर्यन्त सभी गुणस्थान पाये जाते हैं।

विशेषसे गतिको अपेक्षा नरकगतिमें सातों ही नरकोंमें मिथ्यादृष्टि आदि ४ गुणस्थान होते हैं। तिर्यञ्चगतिमें देशसंयत सहित ५ गुणस्थान हैं। मनुष्यगतिमें १४ ही गुणस्थान होते हैं। देवगतिमें आदिके ४ गुणस्थान होते हैं।

इन्द्रियकी अपेक्षा एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियपर्यन्त प्रथम गुणस्थान ही होता है। पञ्चेन्द्रियके १४ ही गुणस्थान होते हैं।

कायकी अपेक्षा पृथिवी आदि स्थावरकायमें प्रथम गुणस्थान होता है। त्रसकायमें १४ ही होते हैं।

योगकी अपेक्षा तीनों योगोंमें सयोगकेवलीपर्यन्त गुणस्थान होते हैं। अयोग अवस्थामें केवल अयोगकेवली गुणस्थान होता है।

वेदकी अपेक्षा तीनों वेदोंमें अनिवृत्तिबादरपर्यन्त ९ गुणस्थान होते हैं।

वेदरहित जीवोंके अनिवृत्तिबादरसे अयोगकेवली पर्यन्त ६ गुणस्थान होते हैं।

अनिवृत्तिबादर गुणस्थानके ६ भाग होते हैं। उनमेंसे प्रथम ३ भागोंमें वेदकी निवृत्ति न होनेसे वे सवेद हैं और अन्तके ३ भाग अवेद हैं। अतः अनिवृत्तिकरण सवेद और अवेद दोनों प्रकारका है।

कषायकी अपेक्षा क्रोध, मान और मायामें अनिवृत्तिबादर पर्यन्त ९ गुणस्थान होते हैं। लोभ कषायमें मिथ्यादृष्टि आदि १० गुणस्थान होते हैं। अकषाय अवस्थामें उपशान्त कषायसे अयोगकेवली पर्यन्त ४ गुणस्थान होते हैं।

ज्ञानकी अपेक्षा कुमति, कुश्रुत और कुअवधिमें प्रथम और द्वितीय गुणस्थान होते हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टिके ज्ञान या अज्ञान नहीं होता किन्तु अज्ञान सहित ज्ञान होता है। कहा भी है—मिश्रमें तीन ज्ञान तीन अज्ञानसे मिश्रित होते हैं। इसलिये यहाँपर मिश्र गुणस्थानका वर्णन नहीं किया गया है। मिश्रका वर्णन अज्ञान प्ररूपणामें ही किया गया है क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टिका ज्ञान यथार्थ वस्तुको नहीं जानता है।

मति, श्रुत और अवधिज्ञानमें असंयतसम्यग्दृष्टिसे क्षीणकषायपर्यन्त ९ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञानमें प्रमत्तसंयतसे क्षीणकषायपर्यन्त ७ गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञानमें सयोगकेवली और अयोगकेवली ये दो गुणस्थान होते हैं।

संयम की अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें प्रमत्त आदि चार गुणस्थान होते हैं। परिहारविशुद्धिसंयममें प्रमत्त और अप्रमत्त दो गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय संयममें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान ही होता है। यथाख्यात संयममें उपशान्तकषायसे अयोगकेवलीपर्यन्त ४ गुणस्थान होते हैं। देशसंयममें पञ्चम गुणस्थान ही होता है। असंयत अवस्थामें आदिके ४ गुण-स्थान होते हैं।

दर्शनकी अपेक्षा चक्षु और अचक्षुदर्शनमें आदिके १२ गुणस्थान होते हैं। अवधिदर्शनमें असंयतसम्यग्दृष्टि आदि ९ गुणस्थान होते हैं। केवलदर्शनमें अन्तके दो गुणस्थान होते हैं।

लेश्याकी अपेक्षा कृष्ण, नील और कापोत लेश्यामें मिथ्यादृष्टि आदि ४ गुणस्थान होते हैं। पीत और पद्म लेश्यामें आदिके ७ गुणस्थान होते हैं। शुक्ल लेश्यामें आदिके १३ गुणस्थान होते हैं। १४ वाँ गुणस्थान लेश्यारहित है।

भव्यत्वकी अपेक्षा भव्योंके १४ ही गुणस्थान होते हैं। अभव्यके पहिला गुणस्थान ही होता है।

सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिकसम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टि आदि ११ गुणस्थान होते हैं। वेदकसम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टि आदि ४ गुणस्थान होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्वमें असंयतसम्यग्दृष्टि आदि ८ गुणस्थान होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टिके एक सासादन गुणस्थान ही होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिके सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। मिथ्यादृष्टिके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है।

संज्ञाकी अपेक्षा संज्ञीके आदिसे १२ गुणस्थान होते हैं। असंज्ञीके प्रथम गुणस्थान ही होता है। अन्तके दो गुणस्थानोंमें संज्ञी और असंज्ञी व्यवहार नहीं होता।

आहारकी अपेक्षा आहारकके आदिसे १३ गुणस्थान होते हैं। अनाहारकके विग्रहगतिमें मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली और अयोगकेवली अनाहारक होते हैं। सिद्ध गुणस्थान रहित होते हैं।

संख्याप्ररूपणाका वर्णन भी सामान्य और विशेषकी अपेक्षा किया गया है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानन्त है। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और देशसंयत पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। यह इस प्रकार है—द्वितीय गुणस्थानमें बावन करोड़ ५२००००००, तृतीयमें एक सौ चार करोड़ १०४००००००, चतुर्थमें सात सौ करोड़ ७००००००००, और पञ्चमगुणस्थानमें तेरह करोड़ १३००००००० संख्या है। कहा भी है—देशविरतमें तेरह करोड़, सासादनमें बावन करोड़, मिश्रमें एक सौ चार करोड़ और असंयतमें सात सौ करोड़ जीवों की संख्या है।

प्रमत्तसंयत कोटिपृथक्त्व प्रमाण हैं।

प्रश्न–पृथक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर–तीनसे अधिक और नौसे कम संख्याको पृथक्त्व कहते हैं। प्रमत्तसंयत जीवों की संख्या ५९३९८२०६ है।

अप्रमत्तसंयत जीव संख्यात हैं अर्थात् २९६९९१०३ हैं।

अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तकषाय ये चार उपशमक हैं इनमें प्रत्येक गुणस्थानके आठ ८ समय होते हैं और आठ समयोंमें क्रमशः १६,२४,३०,३६,४२,४८,५४,५४ सामान्यसे उत्कृष्ट संख्या है। विशेषसे प्रथम समयमें १,२,३ इत्यादि १६ तक उत्कृष्ट संख्या होती है। इसी प्रकार द्वितीय आदि समयोंमें समझना चाहिए। कहा भी है—१६,२४,३०,३६,४२,४८,५४,५४ संख्याप्रमाण उपशमक होते हैं।

प्रत्येक गुणस्थानमें २९९ उपशमक होते हैं।

प्रश्न–१६ आदि आठ समयोंकी संख्याका जोड़ ३०४ होता है फिर २९९ कैसे बतलाया ?

उत्तर–आठ समयोंमें औपशमिक निरन्तर होते हैं किन्तु पूर्ण संख्यामें ५ कम होते हैं। अतः चारों गुणस्थानोंके उपशमकोंकी संख्या ११९६ है।

अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, क्षीणकषाय और अयोगकेवली इन गुणस्थानोंमें प्रत्येकके आठ आठ समय होते हैं। और प्रत्येक समय की संख्या उपशमकसे द्विगुणी है। कहा भी है—

३२, ४८, ६०, ७२, ८४, ९६, १०८, १०८ क्रमशः प्रथम आदि समयोंकी संख्या है। प्रत्येक गुणस्थान में सम्पूर्ण संख्या ५९८ है।

प्रश्न—इन गुणस्थानोंमें भी ६०८ संख्या होती है, ५९८ किस प्रकार संभव है ?

उत्तर—जिस प्रकार उपशमकों की संख्यामें ५ कम हो जाते हैं उसी प्रकार क्षपकोंकी संख्यामें भी द्विगुणी हानि होने से १० कम हो जाते हैं। अतः ५९८ ही संख्या होती है। इस प्रकार ५ क्षपक गुणस्थानों की समस्त संख्या २९९० है। कहा भी है—

क्षीण कषायों की संख्या २९९० है।

सयोगकेवली भी उपशमकों की अपेक्षा द्विगुणित हैं। अतः प्रथम समयमें १, २, ३ इत्यादि ३२ पर्यन्त उत्कृष्ट संख्या है। इसी प्रकार द्वितीय आदि समयोंमें समझना चाहिए।

प्रश्न—क्षपकोंकी तरह ही सयोगकेवलियोंकी संख्या है। अतः सयोगकेवलीका पृथक् वर्णन क्यों किया ?

उत्तर—आठ समयवर्ती समस्त केवलियोंकी संख्या ८९८५०२ है। अतः समुदित संख्याकी अपेक्षा क्षपकोंसे विशेषता होनेके कारण सयोगकेवलीका वर्णन पृथक् किया है। कहा भी है—

'जिनों की संख्या ८ लाख ९८ हजार ५०२ है।'

प्रमत्तसंयतसे अयोगकेवली पर्यन्त एक समयवर्ती समस्त जीवोंकी उत्कृष्ट संख्या ८९९९९९९७ हैं। इस प्रकार सामान्य संख्याका वर्णन हुआ।

क्षेत्रका वर्णन सामान्य और विशेषकी अपेक्षा किया गया है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टियों का क्षेत्र सर्वलोक है। सासादन सम्यग्दृष्टिसे क्षीणकषाय पर्यन्त और अयोगकेवलीका क्षेत्र लोकके असंख्यातवें भाग है। सयोगकेवलीका क्षेत्र लोकका असंख्यातवाँ भाग अथवा लोकके असंख्यात भाग या सर्वलोक है।

प्रश्न—सयोगकेवलीका लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्र कैसे है ?

उत्तर—दण्ड और कपाटकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग क्षेत्र होता है। इसका विवरण इस प्रकार है—यदि समुद्घात करने वाला कायोत्सर्गसे स्थित है तो दण्डसमुद्घातको बारह अङ्गुल प्रमाण समवृत्त (गोलाकार) करेगा अथवा मूल शरीरप्रमाण समवृत्त करेगा। और यदि बैठा हुआ है तो प्रथम समयमें शरीरसे त्रिगुण वाहुल्य अथवा तीन वातवलय कम लोक प्रमाण करेगा। कपाटसमुद्घातको यदि पूर्वाभिमुख होकर करेगा तो दक्षिण-उत्तरकी ओर एक धनुष प्रमाण विस्तार होगा। और उत्तराभिमुख होकर करेगा तो पूर्व-पश्चिमकी ओर द्वितीय समयमें आत्मप्रसर्पण करेगा इसका विशेष व्याख्यान संस्कृत महापुराणपञ्जिकामें है। प्रतरकी अपेक्षा लोकके असंख्यात भाग प्रमाण क्षेत्र होता है। प्रतर अवस्थामें

सयोगकेवली तीनों वातवलयोंके नीचे ही आत्मप्रदेशोंसे लोकको व्याप्त करता है। लोक पूरण अवस्थामें तीनों वातवलयोंको भी व्याप्त करता है। अतः सर्वलोक भी क्षेत्र होता है।

स्पर्शन भी सामान्य और विशेषके भेदसे दो प्रकार का है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टियों के द्वारा सर्वलोक स्पृष्ट है। असंख्यात करोड़ योजन प्रमाण आकाशके प्रदेशोंको एक राजू कहते हैं। और तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण लोक होता है। लोकमें स्वस्थानविहार, परस्थान विहार और मारणान्तिक उपपाद प्राणियोंके द्वारा किया जाता है। स्वस्थानविहार की अपेक्षा सासादन सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा लोकका असंख्यातवां भाग स्पर्श किया जाता है। परस्थानविहार की अपेक्षा सासादनदेवों द्वारा तृतीयनरक पर्यन्त विहार होनेसे दो राजू क्षेत्र स्पृष्ट है। अच्युत स्वर्गके उपरिभाग पर्यन्त विहार होनेसे ६ राजू क्षेत्र स्पृष्ट है। इस प्रकार लोकके ८, १२ या कुछ कम १४ भाग स्पृष्ट हैं।

प्रश्न—द्वादश भाग किस प्रकार स्पृष्ट होते हैं ?

उत्तर—सप्तम नरकमें जिसने सासादन आदि गुण स्थानोंको छोड़ दिया है वही जीव मारणान्तिक समुद्घात करता है इस नियमसे षष्ठ नरकसे मध्यलोक पर्यन्त सासादन-सम्यग्दृष्टि जीव मारणान्तिकको करता है। और मध्यलोकसे लोकके अग्रभागपर्यन्त बादरपृथ्वी, अप् और वनस्पति कायमें उत्पन्न होता है। अतः ७ राजू क्षेत्र यह हुआ। इस प्रकार १२ राजू क्षेत्र हो जाता है। यह नियम है कि सासादनसम्यग्दृष्टि जीव वायुकायिक, तेजकायिक, नरक और सर्वसूक्ष्म कायिकोंमें उत्पन्न नहीं होता है। कहा भी है।

तेजकायिक, वायुकायिक, नरक और सर्वसूक्ष्मकायिकको छोड़कर बाकीके स्थानोंमें सासादन जीव उत्पन्न होता है।

प्रश्न—देशोन क्षेत्र कैसे होता है ?

उत्तर—कुछ प्रदेश सासादन सम्यग्दृष्टिके स्पर्शन योग्य नहीं होते हैं इसलिये देशोन क्षेत्र हो जाता है। आगे भी देशोनता इसी प्रकार समझनी चाहिए।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टियोंके द्वारा लोक का असंख्यातवाँ भाग, लोकके आठ भाग अथवा कुछ कम १४ भाग स्पृष्ट हैं।

प्रश्न—किस प्रकार से ?

उत्तर—सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि देवोंके द्वारा परस्थानविहारकी अपेक्षा आठ राजू स्पृष्ट हैं।

संयतासंयतोंके द्वारा लोकका असंख्यातवाँ भाग, छह भाग अथवा कुछ कम चौदह भाग स्पृष्ट हैं।

प्रश्न—किस प्रकार से ?

स्वयंभूरमणमें स्थित संयतासंयत तिर्यञ्चोंके द्वारा मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा छह राजू स्पृष्ट हैं।

प्रमत्तसंयतसे अयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थानवर्ती जीवोंका स्पर्शन क्षेत्रके समान ही है। क्योंकि प्रमत्तसंयत्त आदिका क्षेत्र नियत है और भवान्तरमें उत्पादस्थान भी नियत है। अतः चतुष्काण रज्जूके प्रदेशोंमें निवास न होनेसे लोकके असंख्यातवाँ भाग स्पर्शन है। सयोगकेवलीके भी क्षेत्रके समान ही लोकका असंख्यातवां भाग, लोकके असंख्यात भाग अथवा सर्वलोक स्पर्शन है।

काल—सामान्य और विशेषके भेदसे काल दो प्रकारका है।

सामान्यसे मिथ्यादृष्टियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीवकी अपेक्षा कालके तीन भेद होते हैं। किसी जीवका काल अनादि और अनन्त है, किसीका अनादि और सान्त है। तथा किसीका सादि और सान्त है। सादि और सान्तकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल है।

सासादन सम्यग्दृष्टियोंमें सब जीवोंकी अपेक्षा जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्ट काल पल्यके असंख्यातवें भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल ६ आवली है। असंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलियोंके समूहको उच्छ्वास कहते हैं। सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। ३८½ लवकी एक नाली होती है। दो नालीका एक मुहूर्त होता है अर्थात् ३७७३ उच्छ्वासोंके समूहको मुहूर्त कहते हैं। एक समय अधिक आवलीसे अधिक और एक समय कम मुहूर्तके समयको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। इसके असंख्यात भेद हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल पल्यके असंख्यातवें भाग हैं। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त ही है। असंयतसम्यग्दृष्टिके नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ अधिक तेतीस सागर है। क्योंकि कोई पूर्वकोटि आयुवाला मनुष्य आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्तके बाद सम्यक्त्वको प्राप्त कर विशेष तपके द्वारा सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न हो सकता है। वही जीव सर्वार्थसिद्धिसे मनुष्य भवमें आकर आठ वर्षके बाद संयम ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार कुछ अधिक तेतीस सागर काल हो जाता है।

देशसंयतके नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटि है।

प्रमत्त और अप्रमत्त जीवोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्यकाल एक समय है। क्योंकि कोई प्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव अपनी आयुके एक समय शेप रहनेपर अप्रमत्तगुणस्थानको प्राप्तकर मरण करता है। इसी प्रकार अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव अपनी आयुके एक समय शेष रहनेपर प्रमत्तगुणस्थानको प्राप्तकर मृत्युको प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों गुणस्थानोंमें एक जीवका जघन्यकाल एक समय है। और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

चारों उपशमकोंके नाना और एक जीवकी अपेक्षा जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि चारों उपशमक एक साथ ५४ तक हो सकते हैं और यह सम्भव है कि उपशमश्रेणीमें प्रवेश करते ही सबका एक साथ मरण हो जाय। इसलिये जघन्यमें एक समय काल बन सकता है।

प्रश्न–इस प्रकारसे मिथ्यादृष्टिका काल भी एक समय क्यों नहीं होता?

उत्तर–जिस जीवने मिथ्यात्वको प्राप्त कर लिया है उसका अन्तमुहूर्तके बीचमें मरण नहीं हो सकता। कहा भी है कि सम्यग्दर्शनसे मिथ्यात्वको प्राप्त कर लेनेपर अनन्तानुबन्धी कषायोंका एक आवली पर्यन्त पाक नहीं होता है और अन्तर्मुहूर्तके मध्यमें मरण भी नहीं होता है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव मरणसमयमें उस गुणस्थानको छोड़ देता है अतः उसका भी काल एक समय नहीं है। असंयत और संयतासंयत जीव भी अन्तर्मुहूर्तके भीतर मरण नहीं करता अतः इसका भी काल एक समय नहीं है।

चारों क्षपक और अयोगकेवलीका जघन्य और उत्कृष्ट काल एक जीव और नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि चारों क्षपक और अयोगकेवली ये नियमसे मोक्षगामी होते हैं अतः इनका बीचमें मरण नहीं हो सकता।

सयोगकेवलीका नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वकाल है और एक जीवकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्तके अनन्तर अयोगकेवली गुणस्थानको प्राप्त करता है।

उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटि है। क्योंकि कोई जीव आठ वर्षके बादमें तपको ग्रहण करके केवलज्ञानको प्राप्त कर सकता है। अतः आठ वर्ष कम हो जानेसे कुछ कम पूर्वकोटि काल होता है।

एक गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें जाने पर जबतक पुनः उसी गुणस्थानकी प्राप्ति नहीं होती उतने कालको अन्तर कहते हैं।

अन्तरका विचार सामान्य और विशेष दो प्रकारसे होता है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें नाना जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम दो छयासठ सागर अर्थात् १३२ सागर है।

क्योंकि कोई जीव वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त करनेपर उत्कृष्टकाल ६६ सागर तक सम्यक्त्वी रह सकता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहनेके बाद पल्यके असंख्यात भाग बीत जानेपर औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता होती है। इतने अन्तरके बाद पुनः वेदकसम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता होती है। इस तरह वेदकसम्यक्त्वको पुनः ग्रहण करके ६६ सागर बिताता है। इस तरह दो बार छयासठ सागर अन्तर आ जाता है।

सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नानाजीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर पल्यके असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नाना जीवोंकी अपेक्षा सासादनगुणस्थानकी तरह ही अन्तर है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है।

असंयतसम्यग्दृष्टिसे अप्रमत्तसंयततक नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर नहीं है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है। चारों उपशमकोंके नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर वर्षपृथक्त्व है। एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गलपरिवर्तन है।

चारों क्षपक और अयोगकेवलीके नाना जीवोंकी अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह माह है। एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

सयोगकेवलीके नाना जीव अथवा एक जीवकी अपेक्षा अन्तर नहीं है।

सामान्य और विशेषके भेदसे भाव दो प्रकारका है। सामान्यसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमें मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय होनेसे औदयिक भाव है। सासादनगुणस्थानमें पारिणामिक भाव होता है।

प्रश्न—अनन्तानुबन्धिकषायके उदयसे द्वितीय गुणस्थान होता है अतः इस गुणस्थानमें औदयिक भाव क्यों नहीं बतलाया ?

उत्तर–मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें दर्शनमोहनीयके उदय आदिकी अपेक्षासे भावोंका वर्णन किया गया है। और सासादनगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम न होनेसे पारिणामिक भावका सद्भाव आगममें कहा है।

मिश्रगुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव होता है।

प्रश्न–सर्वघाती प्रकृतियोंके उदय न होनेपर और देशघाती प्रकृतियोंके उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। लेकिन सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति देशघाती नहीं है क्योंकि आगममें उसको सर्वघाती बतलाया है। अतः तृतीय गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है?

उत्तर–उपचारसे सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति भी देशघाती है। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति एकदेशसे सम्यक्त्वका घात करती है। वह मिथ्यात्वप्रकृतिके समान सम्यक्त्वका सर्वघात नहीं करती। सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदय होनेपर सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंमें चलाचलरूप परिणाम होते हैं। अतः सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति उपचारसे देशघाती है और देशघाती होनेसे तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिकभावका सद्भाव युक्तिसंगत है।

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं। असंयत औदयिक भावसे होता है। संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिक भाव होता है। चारों उपशमक गुणस्थानोंमें औपशमिक भाव होता है। चारों क्षपक, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थानोंमें क्षायिक भाव होता है।

अल्पबहुत्वका वर्णन भी सामान्य और विशेषके भेदसे किया गया है। सामान्यसे अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय इन तीन उपशम गुणस्थानों में उपशमक सब से कम हैं। आठ समयोंमें क्रमसे प्रवेश करने पर इनकी जघन्य संख्या १, २, ३ इत्यादि है और उत्कृष्ट संख्या १६, २४, ३०, ३६, ४२, ४८, ५४, ५४ है। अपने २ गुणस्थान कालमें इनकी संख्या बराबर है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या संख्याके वर्णनमें बतलाई जा चुकी है। उपशमक जीवों की संख्या सबसे कम होनेके कारण पहिले इनका वर्णन किया गया है। तीन उपशमकों को कषाय सहित होनेसे उपशान्त कषायसे पृथक् निर्देश किया गया है। तीन क्षपक गुणस्थानवर्ती जीव उपशमकोंसे संख्यातगुने हैं। सूक्ष्मसाम्परायसंयत विशेष अधिक हैं। क्योंकि सूक्ष्मसाम्परायमें उपशमक और क्षपक दोनों का ग्रहण किया गया है।

क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या संख्याके वर्णनमें बतलाई जा चुकी है। सयोगकेवली और अयोगकेवली जीवों की संख्या प्रवेश की अपेक्षा बराबर है। अपने कालमें सर्वसयोगकेवलियोंकी संख्या ८५८५०२ है। अप्रमत्तसंयत संख्यातगुने हैं। प्रमत्तसंयत संख्यातगुने हैं। संयतासंयत संख्यातगुने हैं। संयतासंयतोंमें अल्पबहुत्व नहीं है, क्योंकि संयतों की तरह इनमें गुणस्थान का भेद नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टि संख्यातगुने ५२०००००० हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि संख्यातगुने १०४००००००० हैं। असंयतसम्यग्दृष्टि संख्यातगुने ७०००००००००० हैं। मिथ्यादृष्टि अनन्तगुने हैं।

इस प्रकार सत् संख्या आदि का गुणस्थानोंमें सामान्य की अपेक्षासे वर्णन किया गया है। विशेष की अपेक्षासे वर्णन विस्तारभय से नहीं किया है।

सम्यग्ज्ञान का वर्णन—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच सम्यग्ज्ञान हैं।

मति ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेषरूपसे जानना श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायताके बिना रूपी पदार्थों का जो स्पष्ट ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है। नीचे अधिक और ऊपर अल्प विषय को जानने के कारण इसको अवधि कहते हैं। देव अवधिज्ञानसे नीचे सातवें नरक पर्यन्त और ऊपर अपने विमान की ध्वजा पर्यन्त देखते हैं। अथवा विषय नियत होनेके कारण इसको अवधि कहते हैं। अवधिज्ञान रूपी पदार्थ को ही जानता है। दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको (मन की बात को) जानने वाले ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं। मनःपर्यय ज्ञानमें मनको सहायक होनेके कारण मतिज्ञानका प्रसङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि मन निमित्तमात्र होता है जैसे 'आकाशमें चन्द्रमा को देखो' यहाँ आकाश केवल निमित्त है अतः मन मनःपर्यय ज्ञान का कारण नहीं है। जिसके लिए मुनिजन बाह्य और अभ्यन्तर तप करते हैं उसे केवल ज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण द्रव्यों और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत् जानने वाले असहाय (दूसरे की अपेक्षा रहित) ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

केवल ज्ञान की प्राप्ति सबसे अन्तमें होती है अतः इसका ग्रहण अन्तमें किया है। केवलज्ञानके समीपमें मनःपर्यय का ग्रहण किया है क्योंकि दोनों का अधिकरण एक ही है। दोनों यथाख्यातचारित्रवालेके होते हैं। केवलज्ञानसे अवधिज्ञान को दूर रखा है क्योंकि वह केवलज्ञानसे विप्रकृष्ट (दूर) है। प्रत्यक्षज्ञानोंके पहिले परोक्षज्ञान मति और श्रुति को रखा है क्योंकि दोनों की प्राप्ति सरल है। सब प्राणी दोनों ज्ञानों का अनुभव करते हैं।

मति और श्रुतज्ञान की पद्धति श्रुत परिचित और अनुभूत है। वचन से सुनकर उसके एकबार स्वरूपसंवेदन को परिचित कहते हैं, तथा बार बार भावना को अनुभूत कहते हैं।

ज्ञान की प्रमाणता

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

ऊपर कहे हुये मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँचों ही ज्ञान प्रमाण हैं। अन्य सन्निकर्ष या इन्द्रिय आदि प्रमाण नहीं हो सकते। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। यदि सन्निकर्ष प्रमाण हो तो सूक्ष्म (परमाणु आदि) व्यवहित (राम, रावण आदि) और विप्रकृष्ट (मेरु आदि) अर्थों का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि इन्द्रियोंके साथ इन पदार्थोंका सन्निकर्ष संभव नहीं है। और उक्त पदार्थों का प्रत्यक्ष न होनेसे कोई सर्वज्ञ भी नहीं हो सकेगा। अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वालों (नैयायिक) के यहाँ सर्वज्ञाभाव हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी (पदार्थसे सम्बन्ध किए बिना ही जानने वाले) हैं। अतः सब इन्द्रियों के द्वारा सन्निकर्ष न होनेसे सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें अव्याप्ति दोष भी आता है। उक्त कारणोंसे इन्द्रिय भी प्रमाण नहीं हो सकती। चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय अल्प है और ज्ञेय अनन्त है।

प्रश्न-(नैयायिक) जैन ज्ञानको प्रमाण मानते हैं अतः उनके यहाँ प्रमाणका फल नहीं बनेगा क्योंकि अर्थाधिगम (ज्ञान) को ही फल कहते हैं। पर जब वह ज्ञान प्रमाण हो गया तो फल क्या होगा? प्रमाण तो फलवाला अवश्य होता है। सन्निकर्ष या इन्द्रिय को प्रमाण माननेमें तो अर्थाधिगम (ज्ञान) प्रमाणका फल बन जाता है।

उत्तर—यदि सन्निकर्ष प्रमाण है और अर्थाधिगम फल है तो जिस प्रकार सन्निकर्ष दो वस्तुओं (इन्द्रिय और घटादिअर्थ) में रहता है उसी प्रकार अर्थाधिगमको भी दोनों में रहना चाहिये। और ऐसा होने पर घटादिकको भी ज्ञान होने लगेगा। यदि नैयायिक यह कहे कि आत्माको चेतन होनेसे ज्ञान आत्मामें ही रहता है तो उसका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि नैयायिकके मतमें सब अर्थ स्वभावसे अचेतन हैं और आत्मामें चेतनत्व गुण का समवाय (सम्बन्ध) होनेसे आत्मा चेतन होता है। यदि नैयायिक आत्मा को स्वभावसे चेतन मानते हैं तो उनके मत का विरोध होगा। क्योंकि उनके मतमें आत्माको भी स्वभावसे अचेतन बतलाया है।

जैनोंके मतमें ज्ञान को प्रमाण मानने पर भी फलका अभाव नहीं होगा, क्योंकि अर्थके जान लेनेपर आत्मामें एक प्रकारकी प्रीति उत्पन्न होती है इसीका नाम फल है। अथवा उपेक्षा या अज्ञाननाशको फल कहेंगे। किसी वस्तुमें राग और द्वेष का न होना उपेक्षा है। तृण आदि वस्तुके ज्ञान होने पर उपेक्षा होती है। किसी पदार्थको जानने से उस विषयक अज्ञान दूर हो जाता है। यही प्रमाण के फल हैं।

प्रश्न—यदि प्रमेयको जानने के लिये प्रमाणकी आवश्यकता है तो प्रमाणको जानने के लिये भी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता होगी। और इस तरह अनवस्था दोष होगा। अप्रामाणिक अनन्त अर्थों की कल्पना करने को अनवस्था कहते हैं।

उत्तर—प्रमाण दीपककी तरह स्व और परका प्रकाशक होता है। अतः प्रमाणको जाननेके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार दीपक अपना भी प्रकाश करता है और घटपटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रमाण भी अपनेको जानता है तथा अन्य पदार्थों को भी जानता है। यदि प्रमाण अपनेको नहीं जानेगा तो स्वाधिगमका अभाव होनेसे स्मृतिका भी अभाव हो जायगा। और स्मृतिका अभाव होनेसे लोकव्यवहारका भी अभाव हो जायगा। क्योंकि प्रायः लोकव्यवहार स्मृतिके आधारपर ही चलता है।

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद बतलानेके लिये सूत्रमें द्विवचनका प्रयोग किया है। अन्य वादी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव इन प्रमाणोंको पृथक् २ प्रमाण मानते हैं। पर वस्तुतः इनका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणमें ही हो जाता है।

परोक्ष प्रमाण—

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। श्रुतज्ञानको मतिज्ञानके समीपमें होनेके कारण श्रुतज्ञानका ग्रहण भी आद्यशब्दके द्वारा हो जाता है। इन्द्रिय, मन, प्रकाश और गुरुके उपदेश आदिको पर कहते हैं। मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमको भी पर कहते हैं। उक्त प्रकार 'पर' की सहायतासे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अक्ष आत्माको कहते हैं। जो ज्ञान, इन्द्रिय आदिकी सहायताके बिना केवल आत्माकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं वह प्रत्यक्ष हैं।

यहाँ ज्ञानका अधिकार (प्रकरण) होनेसे अवधिदर्शन और केवलदर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकते । और 'सम्यक्' शब्दका अधिकार होनेसे विभङ्गज्ञान (कुअवधि) भी प्रमाण नहीं हो सकता है। विभङ्गज्ञान मिथ्यात्वके उदयके कारण अर्थोंका विपरीत बोध करता है।

जो लोग इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं उनके यहाँ सर्वज्ञ को प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं हो सकेगा । सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियपूर्वक नहीं होता है। यदि सर्वज्ञका ज्ञान भी इन्द्रियपूर्वक होने लगे तो वह सर्वज्ञ ही नहीं हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियोंके द्वारा सब पदार्थोंका ज्ञान असंभव है। यदि सर्वज्ञके मानस प्रत्यक्ष माना जाय तो मनका उपयोग भी क्रमिक होता है अतः सर्वज्ञत्वका अभाव हो जायगा। आगमसे पदार्थों को जानकर भी कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि आगम भी प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक होता है। पदार्थोंका प्रत्यक्ष किए बिना आगम प्रमाण नहीं हो सकता। योगिप्रत्यक्षको यदि इन्द्रियजन्य स्वीकार किया जाता है तो सर्वज्ञाभावका प्रसङ्ग ज्योंका त्यों बना रहता है। अतः इन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष वही है जो केवल आत्माकी सहायतासे उत्पन्न हो।

मतिज्ञानके विशेष—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इत्यादि मतिज्ञानके नामान्तर हैं। यद्यपि इनमें स्वभावकी अपेक्षा भेद है, लेकिन रूढ़िसे ये सब मतिज्ञान ही कहे जाते हैं। जैसे इन्दन (क्रीडा) आदि क्रियाकी अपेक्षासे भेद होनेपर भी एक ही शचीपति (इन्द्र) के इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि भिन्न भिन्न नाम हैं। मति, स्मृति आदि ज्ञान मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होते हैं, इनका विषय भी एक ही है और श्रुत आदि ज्ञानोंमें ये भेद नहीं पाये जाते हैं, अतः ये सब मतिज्ञानके ही नामान्तर हैं।

पाँच इन्द्रिय और मनसे जो अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाज्ञान होता है वह मति है। स्वसंवेदन और इन्द्रियज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहे जाते हैं। तत् (वह) इस प्रकार अतीत अर्थके स्मरण करनेको स्मृति कहते हैं। 'यह वही है', 'यह उसके सदृश है' इस प्रकार पूर्व और उत्तर अवस्थामें रहनेवाला पदार्थकी एकता, सदृशता आदिके ज्ञानको संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) कहते हैं। किन्हीं दो पदार्थोंमें कार्यकारण आदि सम्बन्धके ज्ञानको चिन्ता (तर्क) कहते हैं। जैसे अग्निके बिना धूम नहीं होता है, आत्माके बिना शरीर व्यापार, वचन आदि नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार विचारकर उक्त पदार्थोंमें कार्यकारण सम्बन्धका ज्ञान करना तर्क है। एक प्रत्यक्ष पदार्थको देखकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले अप्रत्यक्ष अर्थका ज्ञान करना अभिनिबोध (अनुमान) है जैसे पर्वतमें धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना। आदि शब्दसे प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदिका ग्रहण करना चाहिये। दिन या रात्रिमें कारणके बिना ही जो एक प्रकारका स्वतः प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है। जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी या कल मेरा भाई आयगा आदि। अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको बुद्धि कहते हैं। और पाठको ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम मेधा है।

कहा भी है—आगमाश्रित ज्ञान मति है। बुद्धि तत्कालीन पदार्थका साक्षात्कार करती है ज्ञ.अतीतको तथा मेधा त्रिकालवर्ती पदार्थोंका परिज्ञान करती है।

मतिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

मतिज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है।

परम ऐश्वर्यको प्राप्त करनेवाले आत्माको इन्द्र और इन्द्रके लिङ्ग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर आत्माको अर्थकी उपलब्धिमें जो सहायक होता है वह इन्द्रिय है। अथवा जो सूक्ष्म-अर्थ (आत्मा) का सद्भाव सिद्ध करे वह इन्द्रिय है। स्पर्शन आदि इन्द्रियके व्यापारको देखकर आत्माका अनुमान किया जाता है। अथवा नामकर्मकी इन्द्र संज्ञा है और जिसकी रचना नामकर्मके द्वारा हुई हो वह इन्द्रिय है। अर्थात् स्पर्शन, रसना आदिको इन्द्रिय कहते हैं। मनको अनिन्द्रिय कहते हैं। अनिन्द्रिय, मन, अन्तःकरण ये सब पर्यायवाची शब्द हैं।

प्रश्न—स्पर्शन आदिकी तरह मनको इन्द्रका लिङ्ग (अर्थोपलब्धि में सहायक) होनेपर भी अनिन्द्रिय क्यों कहा ?

उत्तर—यहाँ इन्द्रिय के निषेध का नाम अनिन्द्रिय नहीं है किन्तु ईषत् इन्द्रिय का नाम अनिन्द्रिय है। जैसे 'अनुदरा कन्या' (बिना उदर की कन्या) कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसके 'उदर है ही नहीं' किन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि उसका उदर छोटा है। मनको अनिन्द्रिय इसीलिये कहा है कि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका स्थान और विषय निश्चित है इस प्रकार मनका स्थान और विषय निश्चित नहीं है। तथा चक्षु आदि इन्द्रियाँ कालान्तरस्थायी है और मन क्षणस्थायी है। मनको अन्तः-करण भी कहते हैं क्योंकि यह गुणदोषादि के विचार और स्मरण आदि व्यापारों में इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखता है और चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की तरह पुरुषों को दिखाई नहीं देता।

"अनन्तरस्य विधिः प्रतिषेधो वा" इस नियमके अनुसार पहिले मतिज्ञानका वर्णन होने से इस सूत्र में भी मतिज्ञानका ही वर्णन समझा जाता। फिर भी मतिज्ञान-का निर्देश करनेके लिये सूत्रमें दिया गया 'तत्' शब्द यह बतलाता है कि आगेके सूत्रमें भी मतिज्ञानका सम्बन्ध है। अर्थात् अवग्रह आदि मतिज्ञानके ही भेद हैं। 'तत्' शब्दके बिना यह अर्थ हो जाता कि मति, स्मृति आदि मतिज्ञान है और श्रुत इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे होता है तथा अवग्रह आदि श्रुत के भेद हैं।

मतिज्ञानके भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥१५॥

मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

विषय और विषयी अर्थात् पदार्थ और इन्द्रियोंके सम्बन्ध होनेपर सबसे पहिले सामान्य दर्शन होता है और दर्शनके अनन्तर जो प्रथम ज्ञान होता है वह अवग्रह है। अर्थात् प्रत्येक ज्ञानके पहिले दर्शन होता है। दर्शनके द्वारा वस्तुकी सत्तामात्रका ग्रहण होता है जैसे सामने कोई वस्तु है। फिर दर्शनके बाद यह शुक्ल रूप है इस प्रकारके ज्ञानका नाम अवग्रह है।

अवग्रहसे जाने हुये अर्थको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छाके बाद 'ऐसा होना चाहिए' इस प्रकार भवितव्यता प्रत्यय रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं। जैसे यह

शुक्ल वस्तु बलाका (बकपंक्ति) होना चाहिए। अथवा ध्वजा होना चाहिए। ईहा ज्ञानको संशय नहीं कह सकते क्योंकि यथार्थमें ईहामें एक वस्तुके ही निर्णयकी इच्छा रहती है जैसे यह बलाका होना चाहिये। विशेष चिन्होंको देखकर उस वस्तुका निश्चय कर लेना अवाय है। जैसे उड़ना, पंखोंका चलाना आदि देखकर निश्चय करना कि यह बलाका ही है। अवायसे जाने हुये पदार्थको कालान्तरमें नहीं भूलना धारणा है। धारणा ज्ञान स्मृतिमें कारण होता है।

मतिज्ञानके उत्तरभेद—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृताऽनुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव तथा इनसे उलटे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इन बारह प्रकारके अर्थोंका अवग्रह आदि ज्ञान होता है।

एक ही प्रकारके बहुत पदार्थोंका नाम बहु है। बहु शब्द संख्या और परिमाणको बतलाता है जैसे 'बहुत आदमी' इस वाक्यमें बहुत शब्द दो से अधिक संख्याको बतलाता है। और 'बहुत दाल भात' यहाँ बहुशब्द परिमाणवाची है। अनेक प्रकारके पदार्थोंको बहुविध कहते हैं। जिसका ज्ञान शीघ्र हो जाय वह क्षिप्र है। जिस प्रदार्थके एकदेशको देखकर सर्व-देशका ज्ञान हो जाय वह अनिःसृत है। वचनसे विना कहे जिस वस्तुका ज्ञानहो जाय वह अनुक्त है। बहुत काल तक जिसका यथार्थज्ञान बना रहे वह ध्रुव है। एक पदार्थ को एक और एक प्रकारके पदार्थोंको एकविध कहते हैं। जिसका ज्ञान शीघ्र न हो वह अक्षिप्र है। प्रकट पदार्थों को निःसृत कहते हैं। वचन को सुनकर अर्थ का ज्ञान होना उक्त है। जिसका ज्ञान बहुत समय तक एकसा न रहे वह अध्रुव है।

उक्त बारह प्रकारके अर्थोंके इन्द्रिय और मनके द्वारा अवग्रह आदि चार ज्ञान होते हैं। अतः मतिज्ञानके १२×४×६=२८८ भेद हुये। यह भेद अर्थावग्रहके हैं। व्यञ्जनावग्रहके ४८ भेद आगे बतलाये जाँयगे। इस प्रकार मतिज्ञानके कुल २८८×४८=३३६ भेद होते हैं।

ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके प्रकर्षसे बहु आदिका ज्ञान होता है और ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अप्रकर्षसे एक आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है।

बहु और बहुविधिमें भेद—एक प्रकारके पदार्थोंको बहु और बहुत प्रकारके पदार्थोंको बहुविध कहते हैं।

उक्त और निःसृतमें भेद—दूसरेके उपदेशपूर्वक जो ज्ञान होता है वह उक्त है और परोपदेशके बिना स्वयं ही जो ज्ञान होता है वह निःसृत है।

कोई 'क्षिप्रनिःसृत'—ऐसा पाठ मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति कानसे शब्दको सुनकर ही यह शब्द मोरका है अथवा मुर्गेका है यह समझ लेता है। कोई शब्द-मात्रका ही ज्ञान कर पाता है। इनमें यह मयूरका ही शब्द है अथवा मुर्गेका ही शब्द है इस प्रकारका निश्चय हो जाना निःसृत है।

ध्रुवावग्रह और धारणामें भेद—प्रथम समयमें जैसा अवग्रह हुआ है द्वितीयादि समयोंमें उसी रूपमें वह बना रहे, उससे कम या अधिक न हो इसका नाम ध्रुवावग्रह है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी विशुद्धि और संक्लेशके मिश्रणसे कभी अल्पका अवग्रह, कभी बहुतका अवग्रह, इस प्रकार कम या अधिक होते रहना अध्रुवावग्रह है, किन्तु धारणा गृहीत अर्थोंको कालान्तरमें नहीं भूलनेका कारण होती है। धारणासे ही कालान्तरमें किसी वस्तुका स्मरण होता है। इस प्रकार इनमें अन्तर है।

अर्थस्य ॥ १७ ॥

ऊपर कहे गए बहु आदि बारह भेद अर्थके होते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियोंके विषयभूत स्थिर और स्थूल वस्तुको अर्थ कहते हैं। द्रव्यको भी अर्थ कहते हैं।

यद्यपि बहु आदि कहनेसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि बहु आदि अर्थ ही हैं। लेकिन इस सूत्रको बनानेका प्रयोजन नैयायिकके मतका निराकरण करना है। नैयायिक मानते हैं कि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श आदि पाँच गुणोंका ही ज्ञान होता है अर्थका नहीं। लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि उनके मतमें गुण अमूर्त हैं और अमूर्त वस्तुके साथ मूर्त इन्द्रियका सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। पर हमारे (जैनोंके) मतके अनुसार इन्द्रियसे द्रव्यका सन्निकर्ष होता है और चूँकि रूप आदि गुण द्रव्यसे अपृथक् हैं अतः द्रव्यके ग्रहण होनेपर रूप आदि गुणोंका ग्रहण हो जाता है। द्रव्यके सन्निकर्षसे तद्-भिन्न गुणोंमें भी सन्निकर्षका व्यवहार होने लगता है, वस्तुतः उनसे सीधा सन्निकर्ष नहीं है।

व्यञ्जनावग्रह—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अव्यक्त शब्द आदि पदार्थोंका केवल अवग्रह ही होता है, ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते। बहु आदि बारह प्रकारके अव्यक्त अर्थोंका अवग्रह ज्ञान चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होता है। अतः व्यञ्जनावग्रह मतिज्ञानके १२ × ४=४८ भेद होते हैं।

व्यक्त ग्रहण करनेको अर्थावग्रह और अव्यक्त ग्रहण करनेको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। जिस प्रकार नवीन मिट्टीका वर्तन एक, दो बूँद पानी डालनेसे गीला नहीं होता है लेकिन बार बार पानी डालनेसे वही वर्तन गीला हो जाता है उसी प्रकार एक, दो समय तक श्रोत्रादिके द्वारा शब्द आदिका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता तब तक व्यञ्जनावग्रह ही रहता है और स्पष्टज्ञान होनेपर उस अर्थ में ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं। यह सूत्र नियामक है अर्थात् यह बतलाता है कि व्यञ्जनरूप अर्थका अवग्रह ही होता है ईहादि नहीं।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है।

चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं अर्थात् ये विना स्पर्श या सम्बन्ध किये ही अर्थका ज्ञान करते हैं। स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ अग्नि को छूकर यह जानती हैं कि यह गर्म है किन्तु चक्षु और मन पदार्थ के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) के विना ही उसका ज्ञान कर लेते हैं।

आगम और युक्तिके द्वारा चक्षुमें अप्राप्यकारिताका निश्चय होता है। आगममें बताया है कि—श्रोत्र स्पृष्ट शब्द को जानता है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय अपने स्पर्श रस और गन्ध विषयों को स्पृष्ट और बद्ध अर्थात् पदार्थके सम्बन्धसे इन्द्रियमें अमुकप्रकार का रासायनिक सम्बन्ध होने पर ही जानती है। लेकिन चक्षु इन्द्रिय सम्बन्ध के विना दूर से ही रूपको अस्पृष्ट और अबद्ध रूपसे जानती है। इस विषयमें युक्तिभी है—यदि चक्षु प्राप्यकारी होता तो अपनी आखमें लगाये गये अंजन का प्रत्यक्ष होना चाहिये था। लेकिन ऐसा नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी हो तो उसके द्वारा दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। जब कि चक्षु पासके पदार्थ (अंजन) को नहीं जानता है और दूरके पदार्थों को जानता है तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि चक्षु अप्राप्यकारी है।

श्रुतज्ञान का वर्णन—

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रुतिज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो, अनेक तथा बारह भेद हैं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण है। पहिले मतिज्ञान होता है और बादमें श्रुतज्ञान। किसीका ऐसा कहना ठीक नहीं है कि मतिज्ञानको श्रुतज्ञानका कारण होनेसे श्रुतज्ञान मतिज्ञान ही है पृथक् ज्ञान नहीं है। क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि कार्य कारणके समान ही होता है। घटके कारण दण्ड, चक्र आदि भी होते हैं लेकिन घट, दण्ड आदि रूप नहीं होता है। अतः श्रुतज्ञान मतिज्ञानसे भिन्न है। मतिज्ञान श्रुतज्ञानका निमित्तमात्र है। श्रुतज्ञान मतिरूप नहीं होता। मतिज्ञानके होनेपर भी बलवान् श्रुतावरण कर्मके उदय होनेसे पूर्ण श्रुतज्ञान नहीं होता।

श्रुतज्ञानको जो अनादिनिधन बतलाया है वह अपेक्षाभेदसे ही। किसी देश या कालमें किसी पुरुषने श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति नहींकी है। अमुक द्रव्यादिकी अपेक्षासे ज्ञानका आदि भी होता है तथा अन्त भी। चतुर्थ आदि कालोंमें, पूर्वविदेह आदि क्षेत्रोंमें और कल्पके आदिमें श्रुतज्ञान सामान्य अर्थात् सन्ततिकी अपेक्षा अनादिनिधन है। जैसे अंकुर और बीजकी सन्तति अनादि होती है। लेकिन तिरोहित श्रुत-ज्ञानका वृषभसेन आदि गणधरोंने प्रवर्तन किया इसलिए वह सादि भी है। भगवान् महावीरसे जो शब्दवर्गणाएँ निकलीं वे नष्ट हुईं अतः उनकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका अन्त माना जाता है। अतः श्रुतज्ञान सादि है और मतिज्ञानपूर्वक होता है।

मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानते हैं। लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द, पद और वाक्योंके समूहका नाम ही तो वेद है और शब्द आदि अनित्य हैं तो फिर वेद नित्य कैसे हो सकता है। उनका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि वेद यदि पौरुषेय होते तो वेदोंके कर्ताका स्मरण होना चाहिये। क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि जिसके कर्ताका स्मरण न हो वह अपौरुषेय है। ऐसा नियम होनेसे चोरीका उपदेश भी अपौरुषेय हो जायगा और अपौरुषेय होनेसे प्रमाण भी हो जायगा। अतः वेद पौरुषेय ही है। दूसरे वादी वेदके कर्ताको मानते ही हैं। नैयायिक चतुराननको, जैन कालासुरको और बौद्ध अष्टकको वेदका कर्ता मानते हैं।

प्रश्न—प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्तिके समय मति और श्रुत दोनों ज्ञानों की उत्पत्ति एक साथ होती है अतः श्रुतज्ञान मतिपूर्वक कैसे हुआ?

उत्तर—प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होनेसे कुमति और कुश्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप हो जाते हैं। प्रथम सम्यक्त्वसे मति और श्रुतज्ञानमें सम्यक्त्वपना आता है किन्तु श्रुतज्ञान की उत्पत्ति तो मतिपूर्वक ही होती है। आराधनासारमें भी कहा है कि जिस प्रकार दीपक और प्रकाशमें एक साथ उत्पन्न होने पर भी कारण-कार्य भाव है उसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें भी। सम्यग्दर्शन पूर्वमें क्रमशः उत्पन्न ज्ञानोंमें सम्यक्त्व व्यपदेश का कारण होता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं लेकिन सम्यग्दर्शन ज्ञान के सम्यक्त्वपनेमें हेतु होता है जैसे एक साथ उत्पन्न होने वाले दीपक और प्रकाशमें दीपक प्रकाशका हेतु होता है।

प्रश्न—श्रुतज्ञानपूर्वक भी श्रुतज्ञान होता है। जैसे किसीको घटशब्द सुनकर घ और ट अक्षरोंका जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है, तथा घट शब्दसे घट अर्थका

ज्ञान श्रुतज्ञान है। घट अर्थके ज्ञानके बाद जलधारण करना घटका कार्य है इत्यादि उत्तरवर्ती सभी ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। अतः यहाँ श्रुत से श्रुतकी उत्पत्ति हुई। उसी प्रकार किसीने धूम देखा वह मतिज्ञान हुआ। और धूम देखकर अग्निको जाना यह श्रुतज्ञान हुआ। पुनः अग्निज्ञान (श्रुतज्ञान) से अग्नि जलाती है इत्यादि उत्तर-कालीन ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है।

उत्तर—श्रुतज्ञान पूर्वक जो श्रुत होता है वह भी उपचारसे मतिपूर्वक ही कहा जाता है। क्योंकि मतिज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला प्रथम श्रुत उपचारसे मति कहा जाता है। अतः ऐसे श्रुतसे उत्पन्न होनेवाला द्वितीय श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही सिद्ध होता है। अतः मति-पूर्वक श्रुत होता है ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है।

श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट। अङ्गबाह्यके अनेक और अङ्ग-प्रविष्टके बारह भेद हैं।

अङ्गबाह्यके मुख्य चौदह भेद निम्न प्रकार हैं—

१ सामायिक—इसमें विस्तारसे सामायिकका वर्णन किया गया है।

२ स्तव—इसमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति है।

३ वन्दना— इसमें एक तीर्थंकरकी स्तुति की जाती है।

४ प्रतिक्रमण—इसमें किये हुये दोषोंका निराकरण बतलाया है।

५ वैनयिक—इसमें चार प्रकारकी विनयका वर्णन है।

६ कृतिकर्म—इसमें दीक्षा, शिक्षा आदि सत्कर्मोंका वर्णन है।

७ दशवैकालिक—इसमें यतियोंके आचारका वर्णन है। इसके वृक्ष, कुसुम आदि दश अध्ययन हैं।

८ उत्तराध्ययन—इसमें भिक्षुओंके उपसर्ग सहनके फलका वर्णन है।

९ कल्पव्यवहार—इसमें यतियोंको सेवन योग्य विधिका वर्णन और अयोग्य सेवन करने पर प्रायश्चितका वर्णन है।

१० कल्पाकल्प—इसमें यति और श्रावकोंके किस समय क्या करना चाहिए क्या नहीं इत्यादि निरूपण है।

११ महाकल्प इसमें यतियोंकी दीक्षा, शिक्षा संस्कार आदिका वर्णन है।

१२ पुण्डरीक—इसमें देवपदकी प्राप्ति कराने वाले पुण्यका वर्णन है।

१३ महापुण्डरीक—इसमें देवाङ्गनापदके हेतुभूत पुण्यका वर्णन है।

१४ अशीतिका—इसमें प्रायश्चित्तका वर्णन है। इन चौदह भेदोंको प्रकीर्णक कहते हैं।

आचार्योंने अल्प आयु, अल्पबुद्धि और हीनबलवाले शिष्योंके उपकारके लिये प्रकीर्णकों की रचना की है। वास्तवमें तीर्थंकर परमदेव और सामान्य केवलियोंने जो उपदेश दिया उसकी गणधर तथा अन्य आचार्योंने शास्त्ररूपमें रचना की। और वर्तमान कालवर्ती आचार्य जो रचना करते हैं वह भी आगमके अनुसार होनेसे प्रकीर्णकरूपसे प्रमाण है। प्रकीर्णक शास्त्रोंका प्रमाण २५०३३८० श्लोक और १५ अक्षर हैं।

अङ्गप्रविष्टके बारह भेद हैं—

१ आचाराङ्ग—इसमें यतियोंके आचारका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या अठारह हजार है।

२ सूत्रकृताङ्ग—इसमें ज्ञान, विनय, छेदोपस्थापना आदि क्रियाओंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या छत्तीस हजार है।

३ स्थानाङ्ग—एक दो तीन आदि एकाधिक स्थानोंमें षड्द्रव्य आदिका निरूपण है। इसके पदोंकी संख्या बयालीस हजार है।

४ समवायाङ्ग—इसमें धर्म, अधर्म, लोकाकाश,एकजीव असंख्यातप्रदेशी हैं। सातवें नरकका मध्यबिल जम्बूद्वीप,सर्वार्थसिद्धिका विमान और नन्दीश्वर द्वीपकी वापी इन सबका एकलाख योजन प्रमाण है, इत्यादि वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या चौंसठ हजार है।

५ व्याख्याप्रज्ञप्ति—इसमें जीव हैं या नहीं इत्यादि प्रकारके गणधरके द्वारा किये गये साठ हजार प्रश्नोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है।

६ ज्ञातृकथा—इसमें तीर्थंकरों और गणधरोंकी कथाओंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या पाँच लाख पचास हजार है।

७ उपासकाध्ययन—इसमें श्रावकोंके आचारका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।

८ अन्तःकृतदश—प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें दश दश मुनि होते हैं जो उपसर्गोंको सहकर मोक्ष पाते हैं। उन मुनियोंकी कथाओंका इसमें वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।

९ अनुत्तरौपपादिकदश—प्रत्येक तीर्थंकरके समय दश दश मुनि होते हैं जो उपसर्गोंको सहकर पाँच अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होते हैं। उन मुनियोंकी कथाओंका इसमें वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या बानवे लाख चवालीस हजार है।

१० प्रश्नव्याकरण—इसमें प्रश्नके अनुसार नष्ट, मुष्टिगत आदिका उत्तर है। इसके पदोंकी संख्या तेरानवे लाख सोलह हजार है।

११ विपाकसूत्र—इसमें कर्मोंके उदय, उदीरणा और सत्ताका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।

१२ दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गके पाँच भेद हैं—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका। इनमें परिकर्मके पाँच भेद हैं—१ चन्द्रप्रज्ञप्ति, २ सूर्यप्रज्ञप्ति, ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति।

१ चन्द्रप्रज्ञप्ति—इसमें चन्द्रमाके आयु, गति, वैभव आदिका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या छत्तीस लाख पाँच हजार है। २ सूर्यप्रज्ञप्ति–इसमें सूर्यकी आयु, गति, वैभव आदिका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या पाँच लाख तीन हजार है। ३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति–इसमें जम्बूद्वीपका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या तीन लाख पच्चीस हजार है। ४ द्वीपसागरप्रज्ञप्ति–इसमें सभी द्वीप और सागरोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या बावन लाख छत्तीस हजार है। ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति–इसमें छह द्रव्योंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या चौरासी लाख छत्तीस हजार है।

२ सूत्र–इसमें जीवके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी सिद्धि तथा भूतचैतन्यवादका खण्डन है। इसके पदोंकी संख्या अठासी लाख है।

३ प्रथमानुयोग–उसमें तिरसठ शलाका महापुरुषोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या पाँच हजार है।

४ पूर्वगतके उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं।

१ उत्पादपूर्व—इसमें वस्तुके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक करोड़ है।

२ अग्रायणीपूर्व—इसमें अंगोंके प्रधानभूत अर्थोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या छयानवे लाख है।

३ वीर्यानुप्रवादपूर्व—इसमें बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, तीर्थंकर आदिके बल-का वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या सत्तर लाख है।

४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व—इसमें जीव आदि वस्तुओंके अस्तित्व और नास्तित्वका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या साठ लाख है।

५ ज्ञानप्रवादपूर्व—इसमें आठ ज्ञान, उनकी उत्पत्तिके कारण और ज्ञानोंके स्वामीका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक कम एक करोड़ है।

६ सत्यप्रवादपूर्व—इसमें वर्ण, स्थान, दो इन्द्रिय आदि प्राणी और वचनगुप्तिके संस्कारका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक करोड़ और छह है।

७ आत्मप्रवादपूर्व—इसमें आत्माके स्वरूपका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या छब्बीस करोड़ है।

८ कर्मप्रवादपूर्व—इसमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उपशम और उदीरणाका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।

९ प्रत्याख्यानपूर्व—इसमें द्रव्य और पर्यायरूप प्रत्याख्यानका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या चौरासी लाख है।

१० विद्यानुप्रवाद—इसमें पाँच सौ महाविद्याओं, सात सौ क्षुद्रविद्याओं और अष्टांग-महानिमित्तोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या एक करोड़ दश लाख है।

११ कल्याणपूर्व—इसमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, वासुदेव, इन्द्र आदिके पुण्यका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या छब्बीस करोड़ है।

१२ प्राणावायपूर्व—इसमें अष्टांग वैद्यविद्या, गारुडविद्या और मन्त्र-तन्त्र आदिका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या तेरह करोड़ है।

१३ क्रियाविशालपूर्व—इसमें छन्द, अलंकार और व्याकरणकी कलाका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या नौ करोड़ है।

१४ लोकबिन्दुसार—इसमें निर्वाणके सुखका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या साढ़े बारह करोड़ है।

प्रथमपूर्वमें दश, द्वितीयमें चौदह, तृतीयमें आठ, चौथेमें अठारह, पाँचवेंमें बारह, छठवेंमें बारह, सातवेंमें सोलह, आठवेंमें बीस, नौवेंमें तीस, दशवेंमें पन्द्रह, ग्यारहवेंमें दश, बारहवेंमें दश, तेरहवेंमें दश और चौदहवें पूर्वमें दश वस्तुएँ हैं।

सब वस्तुओंकी संख्या एक सौ पञ्चानवे है। एक-एक वस्तुमें बीस-बीस प्राभृत होते हैं। सब प्राभृतोंको संख्या तीन हजार नौ सौ है।

५ चूलिकाके पाँच भेद हैं—१ जलगता चूलिका, २ स्थलगता चूलिका, ३ मायागता चूलिका, ४ आकाशगता चूलिका और ५ रूपगता चूलिका।

१ जलगता चूलिका—इसमें जलको रोकने, जलको वर्षाने आदिके मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है। इसके पदोंकी संख्या दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ है।

२ स्थलगता चूलिका—इसमें थोड़े ही समयमें अनेक योजन गमन करनेके मन्त्र-तन्त्रों-का वर्णन है।

३ मायागता चूलिका—इसमें इन्द्रजाल आदि मायाके उत्पादक मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है।

४ आकाशगता चूलिका—इसमें आकाशमें गमनके कारणभूत मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है।

५ रूपगता चूलिका—सिंह, व्याघ्र, गज, उरग, नर, सुर आदिके रूपों (वेष) को धारण करानेवाले मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है। इन सबके पदोंकी संख्या जलगता चूलिका के पदोंकी संख्याके बराबर ही है। इस प्रकार बारहवें अङ्गके परिकर्म आदि पाँच भेदोंका वर्णन हुआ।

इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छः सौ साढ़े इक्कीस अनुष्टुप् एक पदमें होते हैं। एक पदके ग्रन्थोंकी संख्या ५१०८८४६२१½ है।

अङ्गपूर्वश्रुतके एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पद होते हैं।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है।

आयु और नाम कर्मके निमित्तसे होनेवाली जीवकी पर्यायको भव कहते हैं। देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका कारण भव होता है अर्थात् इनके जन्मसे ही अवधिज्ञान होता है।

प्रश्न—यदि देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका कारण भव है तो कर्मका क्षयोपशम कारण नहीं होगा।

उत्तर—जिस प्रकार पक्षियोंके आकाशगमनका कारण भव होता है शिक्षा आदि नहीं, उसी प्रकार देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका प्रधान कारण भव ही है। क्षयोपशम गौण कारण है। व्रत और नियमके न होने पर भी देव और नारकियोंके अवधिज्ञान होता है। यदि देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका कारण भव ही होता तो सबको समान अवधिज्ञान होना चाहिए, लेकिन देवों और नारकियोंमें अवधिज्ञानका प्रकर्ष और अपकर्ष देखा जाता है। यदि सामान्यसे भव ही कारण हो तो एकेन्द्रिय आदि जीवोंको भी अवधिज्ञान होना चाहिए। अतः देवों और नारकियोंके अवधिज्ञानका कारण भव ही नहीं है किन्तु कर्मका क्षयोपशम भी कारण है।

सम्यग्दृष्टि देव और नारकियोंके अवधि होता है और मिथ्यादृष्टियोंके विभङ्गावधि।

सौधर्म और ऐशान इन्द्र प्रथम नरक तक, सनत्कुमार और माहेन्द्र द्वितीय नरक तक, ब्रह्म और लान्तव तृतीय नरक तक, शुक्र और सहस्रार चौथे नरक तक, आनत और प्राणत पाँचवें नरक तक, आरण और अच्युत इन्द्र छठवें नरक तक और नव ग्रैवेयकोंमें उत्पन्न होने वाले देव सातवें नरक तक अवधिज्ञानके द्वारा देखते हैं। अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी देव सर्वलोकको देखते हैं।

प्रथम नरकके नारकी एक योजन, द्वितीय नरकके नारकी आधा कोश कम एक योजन, तीसरे नरकके नारकी तीन गव्यूति, (गव्यूतिका परिमाण दो कोस है) चौथे नरकके नारकी अढ़ाई गव्यूति, पाँचवें नरकके नारकी दो गव्यूति, छठवें नरकके नारकी डेढ़ गव्यूति और सातवें नरकके नारकी एक गव्यूति तक अवधिज्ञानके द्वारा देखते हैं।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाला अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। इसके छह भेद हैं—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदय होनेपर उदयप्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय और अनुदयप्राप्त सर्वघाती स्पर्धकों का सदवस्थारूप उपशम होनेको क्षयोपशम कहते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्चोंके अवधिज्ञानका कारण क्षयोपशम ही है भव नहीं।

अवधिज्ञान संज्ञी और पर्याप्तकोंके होता है। संज्ञी और पर्याप्तकोंमें भी सबके नहीं होता है किन्तु सम्यग्दर्शन आदि कारणोंके होनेपर उपशान्त और क्षीणकर्म वाले जीवोंके अवधिज्ञान होता है।

अनुगामी—जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी तरह जीवके साथ दूसरे भवमें जावे वह अनुगामी है।

अननुगामी—जो अवधि जीवके साथ नहीं जाता है वह अननुगामी है।

वर्धमान—जिस प्रकार अग्निमें इन्धन डालनेसे अग्नि बढ़ती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि से विशुद्ध परिणाम होनेपर जो अवधिज्ञान बढ़ता रहे वह वर्धमान है।

हीयमान—इन्धन समाप्त हो जानेसे अग्निकी तरह जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी हानि और आर्त्त-रौद्र परिणामोंकी वृद्धि होनेसे जितना उत्पन्न हुआ था उससे अङ्गुलके असंख्यातवें भाग पर्यन्त घटता रहे वह हीयमान है।

अवस्थित—जो अवधिज्ञान जितना उत्पन्न हुआ है केवलज्ञानकी प्राप्ति अथवा आयुकी समाप्ति तक उतना ही रहे, घटे या बढ़े नहीं वह अवस्थित है।

अनवस्थित—सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धि और हानि होनेसे जो अवधिज्ञान बढ़ता और घटता रहे वह अनवस्थित है।

ये छह भेद देशावधिके ही हैं। परमावध और सर्वावधि चरमशरीरी विशिष्ट संयमीके ही होते हैं। इनमें हानि और वृद्धि नहीं होती है।

गृहस्थावस्थामें तीर्थङ्करके और देव तथा नारकियोंके देशावधि ही होता है।

मनःपर्ययज्ञानके भेद—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति।

जो मन, वचन और कायके द्वारा किये गये दूसरेके मनोगत सरल अर्थको जाने वह ऋजुमति है। जो मन, वचन, और कायके द्वारा किये गये दूसरेके मनोगत कुटिल अर्थको जानकर वहाँ से लौटे नहीं, वहीं स्थिर रहे वह विपुलमति है।

वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणके क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदय होनेपर दूसरेके मनोगत अर्थको जाननेको मनःपर्यय कहते हैं। ऋजुमति मनःपर्यय कालकी अपेक्षा अपने और अन्य जीवोंके गमन और आगमनकी अपेक्षा जघन्यसे दो या तीन भवोंको और उत्कृष्टसे सात या आठ भवोंको जानता है। और क्षेत्रकी

अपेक्षा जघन्य गव्यूति पृथक्त्व और उत्कृष्ट योजन पृथक्त्वके भीतर जानता है। विपुलमति मनःपर्यय कालकी अपेक्षा जघन्य सात या आठ भवोंको और उत्कृष्ट असंख्यात भवोंको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य योजनपृथक्त्व और उत्कृष्ट मानुषोत्तर पर्वतके भीतर जानता है बाहर नहीं।

ऋजुमति और विपुलमतिमें अन्तर--

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है।

मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयोपशमसे आत्माके परिणामोंकी निर्मलताका नाम विशुद्धि है संयमसे पतित नहीं होना अप्रतिपात है। उपशान्तकषाय गुणस्थानवर्तीके चारित्रमोहका उदय आनेके कारण प्रतिपात होता है। क्षीणकषायका नहीं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा ऋजुमतिसे विपुलमति विशुद्धतर है। सर्वावधि कार्मणद्रव्यके अनन्तवें भागको जानता है। उस अनन्तवें भागके भी अनन्तवें भागको ऋजुमति जानता है। और ऋजुमतिके विषयके अनन्तवें भागको विपुलमति जानता है। इस प्रकार सूक्ष्मसे सूक्ष्म द्रव्यको जाननेके कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विमुलमति ऋजुमतिसे विशुद्धतर है। अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमतिमें विशेषता है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानियोंके चारित्रकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है अतः उसका प्रतिपात (पतन) नहीं होता है। ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानियोंके चारित्रकी कषायके उदयसे हानि होनेसे उसका प्रतिपात हो जाता है।

अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयकी अपेक्षा विशेषता है।

सूक्ष्म वस्तुको जाननेके कारण अवधिज्ञानसे मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध है। मनःपर्ययज्ञानसे अवधिज्ञानका क्षेत्र अधिक है। अवधिज्ञान तीन लोकमें होनेवाली पुद्गलकी पर्यायोंको और पुद्गलसे सम्बन्धित जीवकी पर्यायोंको जानता है। मनःपर्ययज्ञान मानुषोत्तर पर्वतके भीतर ही जानता है। मनःपर्ययज्ञान मनुष्योंमें उत्पन्न होता है, देव, नारकी और तिर्यञ्चोंके नहीं। मनुष्योंमें भी गर्भजोंके ही होता है संमूर्च्छनोंके नहीं। गर्भजोंमें भी कर्मभूमिजोंके ही होता है भोगभूमिजोंके नहीं। कर्मभूमिजोंमें भी पर्याप्तकोंके ही होता है अपर्याप्तकोंके नहीं। पर्याप्तकोंमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही होता है मिथ्यादृष्टि आदिके नहीं। सम्यग्दृष्टियोंमेंभी संयतोंके होता है असंयतोंके नहीं। संयतोंमें भी छठवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक होता है तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें नहीं होता है। उनमें भी प्रवर्धमान चारित्रवालोंके ही होता है हीयमानचारित्र वालोंके नहीं। प्रवर्धमानचारित्रवालोंमें भी सात प्रकार की ऋद्धियोंमें से किसी एक ऋद्धिके धारीके ही होता है अनृद्धिधारीके नहीं। ऋद्धिधारियोंमें भी किसीके ही होता है सबके नहीं। अतः मनःपर्ययज्ञानके स्वामी विशिष्टसंयमवाले ही होते हैं। अवधिज्ञान चारों ही गतियोंमें होता है।

मति और श्रुतज्ञानका विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

मति और श्रुतज्ञानका विषय छहों द्रव्योंकी कुछ पर्यायें हैं। अर्थात् मति और श्रुत द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते हैं किन्तु थोड़ी पर्यायोंको जानते हैं।

प्रश्न–धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय द्रव्योंमें इन्द्रियजन्य मतिज्ञानकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर—अनिन्द्रिय या मन नामकी एक इन्द्रिय है। नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशम होनेपर अनिन्द्रियके द्वारा धर्मादि द्रव्योंकी पर्यायोंका अवग्रह आदि रूपसे ग्रहण होता है। और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी उन विषयोंमें प्रवृत्त होता है। अतः मति और श्रुतके द्वारा धर्मादि द्रव्योंकी पर्यायोंको जाननेमें कोई विरोध नहीं है।

अवधिज्ञानका विषय—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्यकी कुछ पर्यायोंको और पुद्गलसे सम्बन्धित जीवकी कुछ पर्यायोंको जानता है सब पर्यायोंको नहीं। अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्य ही है अरूपी द्रव्य नहीं।

मनःपर्ययज्ञानका विषय—

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अवधिज्ञान की तरह मनःपर्ययज्ञान सर्वावधिज्ञानके द्वारा जाने गये द्रव्यके अनन्तवें भाग को जानता है।

केवलज्ञानका विषय—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायें है। केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्योंकी त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंको एक साथ जानता है।

एकजीवके एक साथ ज्ञान होनेका परिमाण—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एकजीवमें एक साथ कमसे कम एक और अधिकसे अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान। दो होंगे तो मति और श्रुत। तीन होंगे तो मति, श्रुत, अवधि या मति, श्रुत और मनःपर्यय। चार ज्ञान हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय होंगे। केवलज्ञान क्षायिक है और अन्य ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अतः केवलज्ञानके साथ क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं हो सकते।

कुमति, कुश्रुत और कुअवधि—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी होते हैं, अर्थात् मिथ्यादर्शनके उदय होनेसे ये ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। मिथ्याज्ञानके द्वारा जीव पदार्थोंको विपरीत रूपसे जानता

है। मिथ्यादर्शनके संसर्गसे इन ज्ञानोंमें मिथ्यापन आ जाता है जैसे कड़ुवी तुंबीमें दूध रखनेसे वह कड़वा हो जाता है।

प्रश्न—मणि, सोना आदि द्रव्य अपवित्र स्थानमें गिर जानेपर भी दूषित नहीं होते हैं उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके संसर्ग होनेपर भी मति आदि ज्ञानोंमें कोई दोष नहीं होना चाहिए ?

उत्तर—परिणमन करानेवाले द्रव्यके मिलनेपर मणि, सोना आदि भी दूषित हो जाते हैं। उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके संसर्गसे मति आदि ज्ञान भी दूषित हो जाते हैं।

प्रश्न—दूधमें कड़वापन आधारके दोषसे आ जाता है लेकिन कुमति आदि ज्ञानोंके विषयमें यह बात नहीं है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञानके द्वारा रूपादि पदार्थोंको जानता है।

उक्त प्रश्नके उत्तरमें आचार्य यह सूत्र कहते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

सत् (विद्यमान) और असत् (अविद्यमान) पदार्थको विशेषताके बिना अपनी इच्छानुसार जाननेके कारण मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी उन्मत्त (पागल) पुरुषके ज्ञानकी तरह मिथ्या ही है।

मिथ्यादृष्टि जीव कभी सत् रूपादिकको असत् और असत् रूपादिकको सत् रूपसे जानता है। और कभी सत् रूपादिकको सत् और असत् रूपादिकको असत् भी जानता है। अतः सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण उसका ज्ञान मिथ्या है। जैसे पागल कभी अपनी माताको भार्या और भार्याको माता समझता है और कभी माताको माता और भार्याको भार्या ही समझता है। लेकिन उसका ज्ञान ठीक नहीं है क्योंकि वह माता और भार्याके भेदको नहीं जानता है।

मिथ्यादर्शनके उदयसे आत्मामें पदार्थोंके प्रति कारणविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय और स्वरूपविपर्यय होता है।

कारणविपर्यय—वेदान्तमतावलम्बी संसारका मूल कारण केवल एक अमूर्त ब्रह्मको ही मानते हैं। सांख्य नित्य प्रकृति (प्रधान) को ही कारण मानते हैं। नैयायिक कहते हैं पृथ्वी, जल, तेज और वायुके पृथक्-पृथक परमाणु हैं जो अपने अपने कार्योंको उत्पन्न करते हैं। बौद्ध मानते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार भूत हैं और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चार भौतिकधर्म हैं। इन आठोंके मिलनेसे एक अष्टक परमाणु उत्पन्न होता है। वैशेषिक मानते हैं कि पृथ्वीका गुण कर्कशता, जलका गुण द्रवत्व, तेजका गुण उष्णत्व और वायुका गुण बहना है। इन सबके परमाणु भी भिन्न भिन्न हैं। इस प्रकार कल्पना करना कारणविपर्यास है।

भेदाभेदविपर्यास—नैयायिक मानते हैं कि कारणसे कार्य भिन्न ही होता है। कुछ लोग कार्यको कारणसे अभिन्न ही मानते हैं। यह भेदाभेदविपर्यय है।

स्वरूपविपर्यय—रूपादिकको निर्विकल्पक मानना, रूपादिककी सत्ता ही नहीं मानना, रूपादिकके आकार रूपसे परिणत केवल विज्ञान ही मानना और ज्ञानकी आलम्बनभूत बाह्य वस्तुको नहीं मानना। इसी प्रकार और भी प्रत्यक्ष और अनुमानके विरुद्ध कल्पना

करना स्वरूपविपर्यय है। अतः मिथ्यादर्शनके साथ जो ज्ञान होता है वह मिथ्याज्ञान है और सम्यग्दर्शनके साथ जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है।

नयोंका वर्णन—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय हैं।

जीवादि वस्तुओंमें नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। द्रव्य या पर्याय की अपेक्षासे किसी एक धर्मके कथन करनेको नय कहते हैं। अथवा ज्ञाताके अभिप्राय विशेषका नय कहते हैं। नयके दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यको प्रधानरूपसे विषय करनेवाले नयको द्रव्यार्थिक और पर्यायको प्रधानरूपसे विषय करनेवाले नयको पर्यायार्थिक कहते हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यार्थिक हैं। और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार नय पर्यायार्थिक है।

भविष्यमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुका संकल्प करके वर्तमानमें उसका व्यवहार करना नैगमनय है। जैसे कोई पुरुष हाथ में कुठार (कुल्हाड़ी) लेकर जा रहा था। किसीने उससे पूछा कि कहाँ जा रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि प्रस्थ (अनाज नापनेका काठका पात्र-पैली) लेनेको जा रहा हूँ। वास्तवमें वह प्रस्थ लेनेके लिये नहीं जा रहा है किन्तु प्रस्थके लिये लकड़ी लेनेको जा रहा है। फिर भी उसने भविष्यमें बननेवाले प्रस्थका वर्तमान में संकल्प करके कह दिया कि प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। इसी प्रकार लकड़ी, पानी आदि सामग्रीको इकट्ठे करनेवाले पुरुषसे किसीने पूछा कि क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि रोटी बना रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह रोटी नहीं बना रहा है लेकिन नैगम नयकी अपेक्षा उसका ऐसा कहना ठीक है।

जो भेदकी विवक्षा न करके अपनी जातिके समस्त अर्थोंका एक साथ ग्रहण करे वह संग्रह नय है। जैसे 'सत्' शब्दसे संसारके समस्त सत् पदार्थों का, 'द्रव्य' शब्दसे जीव, पुद्गल आदि द्रव्योंका और 'घट' शब्दसे छोटे बड़े आदि समस्त घटोंका ग्रहण करना संग्रह नयका काम है।

संग्रह नयके द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक भेद व्यवहार करनेको व्यवहारनय कहते हैं। जैसे संग्रह नय 'सत्' के द्वारा समस्त सत् पदार्थोंका ग्रहण करता है। पर व्यवहारनय कहता है कि सत्के दो भेद हैं द्रव्य और गुण। द्रव्यके भी दो भेद हैं। जीव और अजीव। जीवके नरकादि गतियोंके भेदसे चार भेद हैं और अजीव द्रव्यके पुद्गल आदि पाँच भेद हैं। इस प्रकार व्यवहारनयके द्वारा वहाँ तक भेद किये जाते हैं जहाँ तक हो सकते हैं। अर्थात् परम संग्रहनयके विषय परम अभेदसे लेकर ऋजुसूत्र नयके विषयभूत परमभेदके बीचके समस्त विकल्प व्यवहारनयके ही हैं।

भूत और भविष्यत् कालकी अपेक्षा न करके केवल वर्तमान समयवर्ती एक पर्यायको ग्रहण करनेवाले नयको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। ऋजुसूत्रनयका विषय अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे इस विषयमें कोई दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता।

प्रश्न—ऋजुसूत्र नयके द्वारा पदार्थोंका कथन करनेसे लोक व्यवहारका लोप ही हो जायगा।

उत्तर—यहाँ केवल ऋजुसूत्रनय का विषय दिखलाया गया है। लोक व्यवहारके लिये तो अन्य नय हैं ही। जैसे मृत व्यक्तिको देखकर कोई कहता है कि 'संसार अनित्य है' लेकिन सारा संसार तो अनित्य नहीं है। उसी प्रकार ऋजुसूत्रनय अपने विषयको जानता है लेकिन इससे लोकव्यवहारकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

उक्त चार नय अर्थनय और आगेके तीन नय शब्दनय कहलाते हैं।

जो लिङ्ग, संख्या, कारक आदिके व्यभिचार का निषेध करता है वह शब्दनय है। लिङ्गव्यभिचार–पुष्यः नक्षत्रं, पुष्यः तारका–पुष्य नक्षत्र, पुष्य तारा। यहाँ पुल्लिङ्ग पुष्य शब्दके साथ नपुंसकलिङ्ग नक्षत्र और स्त्रीलिंग तारा शब्दका प्रयोग करना लिङ्गव्यभिचार है संख्याव्यभिचार—आपः तोयम्, वर्षाः ऋतुः यहाँ बहुवचनान्त आपः शब्दके साथ तोयम् एकवचनान्त शब्दका और बहुवचनान्त वर्षाः शब्दके साथ एकवचनान्त ऋतु शब्दका प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है। कारकव्यभिचार—सेना पर्वतमधिवसति—पर्वतमें सेना रहती है। यहाँ पर्वते इस प्रकार अधिकरण (सप्तमी) कारक होना चाहिये था लेकिन है कर्म (द्वितीया) कारक। यह कारकव्यभिचार है। पुरुषव्यभिचार—एहि मन्ये रथेन यास्यसि ? न यास्यसि, यातस्ते पिता। आओ, तुम ऐसा मानते हो कि 'मैं रथसे जाऊँगा', लेकिन तुम रथसे नहीं जा सकते हो. तुम्हारे बाप रथसे चले गये हैं। यहाँ 'मन्ये' उत्तम पुरुषके स्थानमें 'मन्यसे' मध्यम पुरुष और 'यास्यसि' मध्यम पुरुषके स्थानमें 'यास्यामि' उत्तम पुरुष होना चाहिये था। यह पुरुष व्यभिचार है। कालव्यभिचार—विश्वदृश्वा अस्य पुत्रो जनिता – इसके ऐसा पुत्र होगा जिसने विश्वको देख लिया है। यहाँ भविष्यत् कालके कार्यको अतीतकालमें बतलाया गया है। यह कालव्यभिचार है। उपग्रहव्यभिचार—स्था धातु परस्मैपदी है। लेकिन सम आदि कुछ उपसर्गोंके संयोगसे स्था धातुको आत्मनेपदी बना देना जैसे संतिष्ठते, अवतिष्ठते। इसीप्रकार अन्य परस्मैपदी धातुओंको आत्मनेपदी और आत्मनेपदी धातुओंको परस्मैपदी बना देना उपग्रह व्यभिचार है। उक्त प्रकारके सभी व्यभिचार शब्दनयकी दृष्टिसे ठीक नहीं है। इसकी दृष्टिसे उचित लिङ्ग, संख्या आदिका ही प्रयोग होना चाहिये।

प्रश्न–ऐसा होनेसे लोकव्यवहारमें जो उक्त प्रकारके प्रयोग देखे जाते हैं वह नहीं होंगे।

उत्तर–यहाँ केवल तत्त्वको परीक्षाकी गई है। विरोध होनेसे तत्त्वकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। औषधि रोगीकी इच्छानुसार नहीं दी जाती है। विरोध भी नहीं होगा क्योंकि व्याकरण शास्त्रकी दृष्टिसे उक्त प्रयोगोंका व्यवहार होगा ही।

एक ही अर्थ को शब्दभेदसे जो भिन्न २ रूपसे जानता है वह समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्राणीके पतिके ही इन्द्र, शक्र और पुरन्दर ये तीन नाम हैं, लेकिन समभिरूढनयकी दृष्टिसे परमैश्वर्यपर्यायसे युक्त होनेके कारण इन्द्र, शकन-शासन पर्यायसे युक्त होनेके कारण शक्र और पुरदारण पर्यायसे युक्त होनेके कारण पुरन्दर कहा जाता है।

जो पदार्थ जिस समय जिस पर्याय रूपसे परिणत हो उस समय उसको उसी रूप ग्रहण करनेवाला एवंभूतनय है। जैसे इन्द्र तभी इन्द्र कहा जायगा जब वह ऐश्वर्यपर्यायसे युक्त हो, पूजन या अभिषेकके समय वह इन्द्र नहीं कहलायगा। तथा गायको गौ तभी कहेंगे जब वह गमन करती हो, सोने या बैठनेके समय उसको गौ नहीं कहेंगे।

उक्त नयोंका विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। नैगमकी अपेक्षा संग्रहनयका विषय अल्प है। नैगमनय भाव और अभाव दोनों को विषय करता है लेकिन संग्रहनय

केवल सत्ता (भाव) को ही विषय करता है। इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिये। पहिले पहिले के नय आगे आगे के नयोंके हेतु होते हैं। जैसे नैगमनय संग्रहनयका हेतु है, संग्रहनय व्यवहारनयका हेतु है इत्यादि।

उक्तनय परस्पर सापेक्ष होकर ही सम्यग्दर्शनके कारण होते हैं जैसे तन्तु परस्पर सापेक्ष होकर (वस्त्ररूपसे परिणत होकर) ही शीतनिवारण आदि अपने कार्यको करते हैं। जिस प्रकार तन्तु पृथक् पृथक् रहकर अपना शीतनिवारण कार्य नहीं कर सकते, उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष नयभी अर्थक्रिया नहीं कर सकते हैं।

प्रश्न–तन्तुका दृष्टान्त ठीक नहीं है; क्योंकि पृथक् २ तन्तुभी अपनी शक्तिके अनुसार अपना कार्य करते ही हैं लेकिन निरपेक्ष नय तो कुछ भी अर्थक्रिया नहीं कर सकते।

उत्तर–आपने हमारे अभिप्रायको नहीं समझा। हमने कहा था कि निरपेक्ष तन्तु वस्त्रका काम नहीं कर सकते। आपने जो पृथक् २ तन्तुओंके द्वारा कार्य बतलाया वह तन्तुओंका ही कार्य है वस्त्रका नहीं। तन्तुभी अपना कार्य तभी करता है जब उसके अवयव परस्परसापेक्ष होते हैं। अतः तन्तुका दृष्टान्त बिलकुल ठीक है। इसलिये परस्पर सापेक्ष नयोंके द्वारा ही अर्थक्रिया हो सकती है।

जिस प्रकार तन्तुओंमें शक्तिकी अपेक्षासे वस्त्रकी अर्थक्रियाका सद्भाव माना जाता है उसी तरह निरपेक्ष नयोमें भी सम्यग्दर्शन की अङ्गता शक्तिरूपमें है ही पर अभिव्यक्ति सापेक्ष दशामें ही होगी।

प्रथम अध्याय समाप्त

द्वितीय अध्याय

सप्त तत्त्वोंमें से जीवके स्वतत्त्वको बतलाते हैं—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक जीवके ये पांच असाधारण भाव हैं।

कर्मके अनुदय को उपशम कहते हैं। कर्मोंके उपशमसे होनेवाले भावोंको औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके क्षयसे होने वाले भाव क्षायिक भाव कहलाते हैं। सर्वघाति स्पर्द्धकों का उदयाभाविक्षय, आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्द्धकोंका सदवस्थारूप उपशम और देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयको क्षयोपशम कहते हैं और क्षयोपशमजन्य भावोंको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिकभाव कहते हैं। कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले भावोंको पारिणामिकभाव कहते हैं।

भव्यजीवके पाँचों ही भाव होते हैं। अभव्यके औपशमिक और क्षायिक भावोंको छोड़कर अन्य तीन भाव होते हैं।

उक्त भावोंके भेदोंको बतलाते हैं—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उक्त भावोंके क्रमसे दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं।

औपशमिक भावके भेद—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं। अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके काललब्धि आदि कारणोंके मिलने पर उपशम होता है।

कर्मयुक्त भव्य जीव संसारके कालमेंसे अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शेष रहनेपर औपशमिक सम्यक्त्वके योग्य होता है यह एक काललब्धि है। आत्मामें कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति अथवा जघन्य स्थिति होने पर औपशमिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता किन्तु अन्तः कोटाकोटिसागर प्रमाण कर्मोंकी स्थिति होनेपर और निर्मल परिणामोंसे उस स्थितिमें से संख्यात हजार सागर स्थिति कम होजाने पर औपशमिक सम्यक्त्वके योग्य आत्मा होता है। यह दूसरी काललब्धि है।

भव्य, पञ्चेन्द्रिय, समनस्क, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध जीव औपशमिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। यह तीसरी काल लब्धि है।

आदि शब्दसे जातिस्मरण, जिनमहिमादर्शनादि कारणोंसे भी सम्यक्त्व होता है।

सोलह कषाय और नव नो कषायोंके उपशमसे औपशमिक चारित्र होता है।

क्षायिक भावके भेद—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य और च शब्दसे सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिक भाव हैं।

केवलज्ञानावरणके क्षयसे केवलज्ञान क्षायिक है। केवलदर्शनावरणके क्षयसे केवलदर्शन क्षायिक होता है। दानान्तरायके क्षयसे अनन्त प्राणियोंका अनुग्रह करने वाला अनन्त अभयदान होता है। लाभान्तरायके क्षयसे अनन्तलाभ होता है। इसीसे केवली भगवान की शरीरस्थितिके लिए परम शुभ सूक्ष्म अनन्त परमाणु प्रतिसमय आते हैं। इसलिए कवलाहार न करने परभी उनके शरीरकी स्थिति बराबर बनी रहती है। भोगान्तरायके क्षयसे अनन्तभोग होता है। जिससे गन्धोदकवृष्टि पुष्पवृष्टि आदि होती हैं। उपभोगान्तरायके क्षयसे अनन्त उपभोग होता है, इससे छत्र चमर आदि विभूतियाँ होती है। वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्त वीर्य होता है। केवली क्षायिकवीर्यके कारण केवलज्ञान और केवलदर्शनके द्वारा सर्वद्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानने और देखनेके लिये समर्थ होते हैं।

चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय इन सप्त प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है। सोलह कषाय और नव नोकषायों के क्षयसे क्षायिकचारित्र होता है।

क्षायिक दान, भोग, उपभोगादिका प्रत्यक्ष कार्य शरीर नाम और तीर्थङ्कर नामकर्मके उदयसे होता है। चूंकि सिद्धोंके उक्त कर्मोंका उदय नहीं है अतः इन भावोंकी सत्ता अनन्तवीर्य और अव्याबाध सुखके रूपमें ही रहती है। कहा भी है—अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्तवीर्य और परमसूक्ष्मता जहाँ पाई जाय वही मोक्ष है।

मिश्रभावके भेद—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥५॥

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिक दान, लाभ भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धि, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंमय ये क्षायोपशमिक भाव हैं।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन सर्वघाति प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आने वाले उक्त प्रकृतियोंके निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले इन्हीं प्रकृतियोंके निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन तथा नव नोकषायका उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है।

अनन्तानुबन्धी आदि आठ कषायोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले इन्हीं प्रकृतियोंके निषेकोंका सदवस्था रूप उपशम और प्रत्याख्यानावरण आदि सत्रह कषायोंका उदय होनेसे संयमासंयम होता है।

सूत्रमें आए हुए च शब्दसे संज्ञित्व और सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण किया गया है।

औदयिक भावके भेद—

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

चार गति, चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व, और लेश्या ये इक्कीस औदयिक भाव हैं।

गतिनाम कर्मके उदयसे उन उन गतियोंके भावोंको प्राप्त होना गति है। कषायोंका उदय औदयिक है। वेदोंके उदयसे वेद औदयिक होते हैं। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यात्व औदयिक है।

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे पदार्थका ज्ञान नहीं होना अज्ञान है।

मिश्र भावोंमें जो अज्ञान है उसका तात्पर्य मिथ्याज्ञानसे है और यहाँ अज्ञानका अर्थ ज्ञानका अभाव है।

सभी कर्मोंके उदयकी अपेक्षा असिद्ध भाव है।

कषायके उदयसे रंगी हुई मन वचन कायकी प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

लेश्याके द्रव्य और भावके रूपसे दो भेद हैं। यहाँ भाव लेश्याका ही ग्रहण किया गया है। योगसे मिश्रित कषायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल इन लेश्याओंके दृष्टान्त निम्न प्रकार हैं—

आमके फल खानेके लिए छह पुरुषोंके छह प्रकारके भाव होते हैं। एक व्यक्ति आम खानेके लिए पेड़को जड़से उखाड़ना चाहता है। दूसरा पेड़को पीढ़से काटना चाहता है। तीसरा डालियाँ काटना चाहता है। चौथा फलोंके गुच्छे तोड़ लेना चाहता है। पाचवाँ केवल पके फल तोड़नेकी बात सोचता है। और छठवाँ नीचे गिरे हुए फलोंको ही खाकर परम तृप्त हो जाता है। इसी प्रकारके भाव कृष्ण आदि लेश्याओं में होते हैं।

प्रश्न—आगममें उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके शुक्ललेश्या बताई गई है लेकिन जब उनके कषायका उदय नहीं है तब लेश्या कैसे संभव है?

उत्तर-'उक्त गुणस्थानोंमें जो योगधारा पहिले कषायसे अनुरञ्जित थी वही इस समय बह रही है, यद्यपि उसका कषायांश निकल गया है' इस प्रकारके भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षा वहाँ लेश्याका सद्भाव है। अयोगकेवलीके इस प्रकारका योग भी नहीं है इसलिए वे पूर्णतः लेश्यारहित होते हैं।

पारिणामिक भाव—

जीवभव्याभव्यानि च ॥ ७ ॥

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं। जीवत्व अर्थात् चेतनत्व। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप पर्याय प्रकट होनेकी योग्यताको भव्यत्व कहते हैं तथा अयोग्यताको अभव्यत्व।

सूत्रमें दिए गए 'च' शब्दसे अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व आदि भावोंका ग्रहण किया गया है अर्थात् ये भी पारिणामिक भाव हैं।

ये भाव अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं इसलिये जीवके असाधारण भाव न होने से सूत्रमें इन भावोंको नहीं कहा है।

प्रश्न—पुद्गल द्रव्यमें चेतनत्व और जीव द्रव्यमें अचेतनत्व कैसे संभव है?

उत्तर—जैसे दीपककी शिखा रूपसे परिणत तेल दीपककी शिखा हो जाता है उसी

प्रकार जीवके द्वारा शरीर रूपसे गृहीत पुद्गल भी उपचारसे जीव कहे जाते हैं। इसी प्रकार जिस जीवमें आत्मविवेक नहीं है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा अचेतन कहा जाता है। इसी प्रकार जीवके मूर्तत्व और पुद्गलके अमूर्तत्व भी औपचारिक हैं।

प्रश्न–मूर्त कर्मोंके साथ जब जीव एकमेक हो जाता है तब उन दोनोंमें परस्पर क्या विशेषता रहती है?

उत्तर–यद्यपि बन्धकी अपेक्षा दोनों एक हो जाते हैं फिर भी लक्षणभेदसे दोनोंमें भिन्नता भी रहती है—जीव चेतनरूप है और पुद्गल अचेतन। इसी तरह अमूर्तत्व भी जीवमें एकान्तिक नहीं है।

जीवका लक्षण—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

जीवका लक्षण उपयोग है। बाह्य और अभ्यन्तर निमित्तोंके कारण आत्माके चैतन्य स्वरूपका जो ज्ञान और दर्शन रूपसे परिणमन होता है उसे उपयोग कहते हैं।

यद्यपि उपयोग जीवका लक्षण होनेसे आत्माका स्वरूप ही है फिर भी जीव और उपयोगमें लक्ष्य-लक्षणकी अपेक्षा भेद है। जीव लक्ष्य है और उपयोग लक्षण।

उपयोग के भेद—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

उपयोगके मुख्य दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोगके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये आठ भेद हैं। दर्शनोपयोगके चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शनके भेदसे चार भेद हैं। ज्ञान साकार और दर्शन निराकार होता है। वस्तुके विशेष ज्ञानको साकार कहते हैं। और सत्तावलोकन मात्रका नाम निराकार है।

छद्मस्थोंके पहिले दर्शन और बादमें ज्ञान होता है। किन्तु अर्हन्त, सिद्ध और सयोग-केवलियोंके ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होता है।

प्रश्न–ज्ञानसे पहिले दर्शनका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दर्शन पहिले होता है?

उत्तर–दर्शनसे पहिले ज्ञानका ग्रहण ही ठीक है क्योंकि ज्ञानमें थोड़े स्वर हैं और पूज्य भी है।

जीव के भेद—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं।

यद्यपि संसारी जीवों की अपेक्षा मुक्त पूज्य हैं फिर भी मुक्त होनेके पहिले जीव संसारी होता है अतः संसारी जीवों का ग्रहण पहिले किया है।

पञ्च परिवर्तन को संसार कहते हैं।। द्रव्य, क्षेत्र, भव, और भाव ये पांच परिवर्तन हैं। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं-नोकर्म द्रव्यपरिवर्तन और द्रव्य कर्मपरिवर्तन।

किसी जीवने एक समयमें औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा षट् पर्याप्तियोंके योग्य स्निग्ध, रस, वर्ण गन्ध आदि गुणोंसे युक्त पुद्गल परमाणुओं को तीव्र, मन्द या मध्यम भावोंसे ग्रहण किया और दूसरे समयमें उन्हें छोड़ा। फिर अनन्त बार अगृहीत

परमाणुओं को बीचमें गृहीत परमाणुओं को तथा मिश्र परमाणुओं को ग्रहण किया इसके अनन्तर वही जीव उन्हीं स्निग्ध आदि गुणोंसे युक्त उन्ही तीव्र आदि भावोंसे उन्हीं पुद्गल परमाणुओं को औदारिक आदि शरीर और पर्याप्ति रूपसे ग्रहण करता है। इसी क्रमसे जब समस्त पुद्गलपरमाणुओं का नोकर्म रूपसे ग्रहण हो जाता है तब एक नोकर्मद्रव्य परिवर्तन होता है।

एक जीवने एक समयमें अष्ट कर्म रूपसे अमुक पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण किया और एक समय अधिक अवधि प्रमाण कालके बाद उन्हें निर्जीण किया। नोकर्मद्रव्यमें बताए गए क्रमके अनुसार फिर वही, जीव उन्हीं परमाणुओं को उन्हीं कर्म रूपसे ग्रहण करे। इस प्रकार समस्त परमाणुओं को जब क्रमशः कर्म रूपसे ग्रहण कर चुकता है तब एक कर्मद्रव्य परिवर्तन होता है। इन नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तनके समूह का नाम द्रव्य परिवर्तन है।

सर्वजघन्य अवगाहनावाला अपर्याप्त सूक्ष्मनिगोद जीव लोकके आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीरके मध्यमें करके उत्पन्न हुआ और मरा। पुनः उसी अवगाहनासे अङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाशके जितने प्रदेश हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हो। फिर अपनी अवगाहना में एक प्रदेश क्षेत्र को बढ़ावे। और इसी क्रमसे जब सर्वलोक उस जीवका जन्म क्षेत्र बन जाय तब एक क्षेत्रपरिवर्तन होता है।

कोई जीव उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें उत्पन्न हो, पुनः द्वितीय उत्सर्पिणी कालके द्वितीय समयमें उत्पन्न हो। इसी क्रमसे तृतीय चतुर्थ आदि उत्सर्पिणी कालके तृतीय चतुर्थ आदि समयोंमें उत्पन्न होकर उत्सर्पिणी कालके सब समयोंमें जन्म ले और इसी क्रमसे मरण भी करे। अवसर्पिणी कालके समयोंमें भी उत्सर्पिणी काल की तरह ही वही जीव जन्म और मरण को प्राप्त हो तब एक काल परिवर्तन होता।

भवपरिवर्तन चतुर्गतियोंमें परिभ्रमणको भव परिवर्तन कहते हैं। नरक गतिमें जघन्य आयु दश हजार वर्ष है। कोई जीव प्रथम नरकमें जघन्य आयु वाला उत्पन्न हो, दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनी बार प्रथम नरक में जघन्य आयुका बन्ध कर उत्पन्न हो। फिर वही जीव एक समय अधिक आयुको बढ़ाते हुये क्रमसे तेतीस सागर आयुको नरकमें पूर्ण करे तब एक नरकगतिपरिवर्तन होता है। तिर्यञ्चगतिमें कोई जीव अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य आयुवाला उत्पन्न हो पुनः द्वितीय बार उसी आयुसे उत्पन्न हो। इस प्रकार एक समय अधिक आयु का बन्ध करते हुये तीन पल्य की आयु को समाप्त करनेपर एक तिर्यग्गति परिवर्तन होता है। मनुष्यगति परिवर्तन तिर्यग्गति परिवर्तनके समान ही समझ लेना चाहिये। देवगति परिवर्तन नरकगति परिवर्तन की तरह ही है। किन्तु देवगतिमें आयुमें एक समयाधिक वृद्धि इकतीस सागर तक ही करनी चाहिए। कारण मिथ्यादृष्टि अन्तिम ग्रैवेयक तक ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार चारों गतिके परिवर्तन है।

पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टी जीवके जो कि ज्ञानावरण कर्म की सर्वजघन्य अन्तः कोटाकोटि स्थिति बन्ध करता है कषायाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं। ओर इनमें संख्यात भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, अनन्त भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि, अनन्त गुण वृद्धि इस प्रकार की वृद्धि भी होती रहती है। अन्तःकोटाकोटि की स्थितिमें सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थाननिमित्तक अनुभाग अध्यवसायके स्थान असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। सर्वजघन्य स्थिति, सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान और सर्वजघन्य अनुभागाध्यवसायके होनेपर सर्वजघन्य योगस्थान होता है।

पुनः वही स्थिति, कषायध्यायवसाय स्थान और अनुभागाध्यवसायस्थानके होने पर असंख्यात भागवृद्धिसहित द्वितीय योगस्थान होता है। इसप्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। योगस्थानोंमें अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि रहित केवल चार प्रकारकी ही वृद्धि होती है। पुनः उसी स्थिति और उसी कषायाध्यवसाय स्थानको प्राप्त करने वाले जीवके द्वितीय अनुभागाध्यवसायस्थान होता है। इसके योगस्थान पूर्ववत् ही होते हैं। इसप्रकार असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं। पुनः उसी स्थितिका बन्ध करने वाले जीवके द्वितीय कषायाध्यवसाय स्थान होता है। इसके अनुभागाध्यवसायस्थान और योगस्थान पूर्ववत् ही होते हैं। इसप्रकार असंख्यात लोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते है। इस तरह जघन्य आयुमें एक २ समयकी वृद्धिक्रमसे तीस कोटाकोटि सागरकी उत्कृष्टस्थिति को पूर्ण करे। उक्त क्रमसे सर्वकर्मोंकी मूलप्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियोंकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कषाय, अनुभाग और योगस्थानों को पूर्ण करने पर एक भावपरिवर्तन होता है।

संसारी जीवके भेद—

समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

संसारी जीव समनस्क और अमनस्कके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। मनके दो भेद हैं द्रव्यमन और भावमन। द्रव्य मन पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होता है। वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे होने वाली आत्माकी विशुद्धि को भावमन कहते हैं। सूत्रमें समनस्क को गुणदोषविचारक होने के कारण अचित होने से पहिले कहा है।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीवोंके त्रस और स्थावरके भेदसे भी दो भेद होते हैं। त्रस नाम कर्मके उदयसे त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे स्थावर होते हैं। त्रस का मतलब यह नहीं है कि जो चले फिरे वे त्रस हैं और जो स्थिर रहें वे स्थावर हैं। क्योंकि इस लक्षण के अनुसार वायु आदि त्रस हो जाँयगे और गर्भस्थ जीव स्थावर हो जाँयगे।

प्रश्न–इस सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस सूत्रमें संसारी शब्द आ चुका है।

उत्तर–पूर्व सूत्रमें कहे हुये समनस्क और अमनस्क भेद संसारी जीवके ही होते हैं इस बातको बतलानेके लिये इस सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया गया है। इस शब्दका ग्रहण न करनेसे संसारी जीव समनस्क होते हैं और मुक्त जीव अमनस्क होते हैं ऐसा विपरीत अर्थ भी हो सकता था। तथा संसारी जीव त्रस और मुक्त जीव स्थावर होते हैं ऐसा अर्थ भी किया जा सकता था। अतः इस सूत्रमें संसारी शब्दका होना अत्यन्त आवश्यक है।

त्रस शब्दको अल्प स्वरवाला और ज्ञान और उसमें दर्शन रूप सभी उपयोगोंकी संभावना होनेके कारण सूत्रमें पहिले कहा है।

स्थावर के भेद—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकारके स्थावर हैं।

मार्गमें पड़ी हुई धूलि आदि पृथिवी है। पृथिवीकायिक जीवके द्वारा परित्यक्त ईंट आदि पृथिवीकाय है। पृथिवी और पृथिवीकायके स्थावर नामकर्मका उदय न होनेसे वह निर्जीव है अतः उसकी विराधना नहीं होती। जिसके पृथिवीकाय विद्यमान हैं वह पृथिवीकायिक है। जिसके पृथिवी नामकर्मका उदय है लेकिन जिसने पृथिवीकायको प्राप्त नहीं किया है ऐसे विग्रह गतिमें रहनेवाले जीवको पृथिवीजीव कहते हैं।

पृथिवीके मिट्टी, रेत, कंकड़, पत्थर, शिला, नमक, लोहा, तांबा, रांगा, सीसा, चांदी, सोना, हीरा, हरताल, हिंगुल, मनःशिला, गेरू, तूतिया, अंजन प्रवाल, अभ्रक, गोमेद, राजवर्तमणि, पुलकमणि, स्फटिकमणि, पद्मरागमणि, वैडूर्यमणि, चन्द्रकान्त, जलकान्त, सूर्यकान्त, गैरिकमणि, चन्दनमणि, मरकतमणि, पुष्परागमणि, नीलमणि, विद्रुममणि आदि छत्तीस भेद हैं।

बिलोडा गया, इधर उधर फैलाया गया और छाना गया पानी जल कहा जाता है। जलकायिक जीवोंसे छोड़ा गया पानी और गरम किया हुआ पानी जलकाय है। जिसमें जलजीव रहता है उसे जलकायिक कहते हैं। विग्रहगतिमें रहने वाला वह जीव जलजीव कहलाता है जो आगे जलपर्यायको ग्रहण करेगा।

इधर उधर फैली हुई या जिसपर जल सींच दिया गया है या जिसका बहु भाग भस्म बन चुका है ऐसी अग्निको अग्नि कहते हैं। अग्निजीवके द्वारा छोड़ी गई भस्म आदि अग्निकाय कहलाते हैं। इनकी विराधना नहीं होती। जिसमें अग्निजीव विद्यमान है उसे अग्निकायिक कहते हैं। विग्रहगतिमें प्राप्त वह जीव अग्निजीव कहलाता है जिसके अग्निनामकर्मका उदय है और आगे जो अग्नि शरीरको ग्रहण करेगा।

जिसमें वायुकायिक जीव आ सकता है ऐसी वायुको अर्थात् केवल वायुको वायु कहते हैं। वायुकायिक जीवके द्वारा छोड़ी गई, बीजना आदिसे चलाई गई हवा वायुकाय कहलाती है। वायुजीव जिसमें मौजूद है ऐसी वायु वायुकायिक कही जाती है। विग्रहगति प्राप्त, वायुको शरीर रूपसे ग्रहण करने वाला जीव वायुजीव है।

छेदी गई, भेदी गई या मर्दित की गई गीली लता आदि वनस्पति हैं। सूखी वनस्पति जिसमें वनस्पतिजीव नहीं हैं वनस्पतिकाय हैं। सजीव वृक्ष आदि वनस्पतिकायिक हैं। विग्रहगतिवर्ती वह जीव वनस्पतिजीव कहलाता है जिसके वनस्पतिनामकर्मका उदय है तथा जो आगे वनस्पतिको शरीर रूपसे ग्रहण करेगा।

प्रत्येक कायके चार भेदोंमें से प्रथम दो भेद स्थावर नहीं कहलाते क्योंकि वे अजीव हैं तथा इनके स्थावर नामकर्मका उदय भी नहीं है।

एकेन्द्रियके चार प्राण होते हैं-स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वसोच्छ्वास।

त्रस जीवोंके भेद—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ओर पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस होते हैं। शंख, कोंड़ी, सीप, जोंक, आदि दोइन्द्रिय जीव हैं। चींटी, विच्छू, पटार, जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रिय जीव हैं। मक्खी, पतंग, भौंरा, मधुमक्खी, मकड़ी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं। पञ्चेन्द्रिय जीव अण्डायिक पोतायिक आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। यथा—अण्डायिक—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले सर्प, बमनी, पक्षी आदि। पोतायिक—जो प्राणी गर्भमें जरायु आदि आवरणसे रहित होकर रहते हैं उन्हें पोतायिक कहते हैं। जैसे कुत्ता, बिल्ली, सिंह, व्याघ्र,

चीता आदि । गाय, भैंस, मनुष्य आदि जरायिक कहलाते हैं, क्योंकि गर्भमें इनके ऊपर मांस आदिका जाल लिपटा रहता है । शराब आदिमें उत्पन्न होनेवाले कीड़े रसायिक हैं अथवा रस नामकी धातुमें उत्पन्न होनेवाले रसायिक हैं । पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जीव संस्वेदिम कहे जाते हैं । चक्रवर्ती आदिकी काँखमें ऐसे सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं । संमूर्च्छन-सर्दी, गर्मी, वर्षा आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले सर्प, चूहे आदि संमूर्च्छिम हैं । कहाभी है-- वीर्य, खकार, कान, दाँत आदिका मैल तथा अन्य अपवित्र स्थानोंमें तत्काल संमूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं । पृथिवी, काठ, पत्थर आदिको भेदकर उत्पन्न होनेवाले जीव उद्भेदिम कहलाते हैं । जैसे रत्न या पत्थर आदिको चीरनेसे निकलनेवाले मेंढक । देव और नारकियों-के उपपाद स्थानोंमें उत्पन्न होने वाले देव और नारकी जीव उपपादिम कहलाते हैं । इनकी अकालमृत्यु नहीं होती है ।

द्वीन्द्रियके स्पर्शन और रसनेन्द्रिय, काय और वाग्बल तथा आयु और श्वासोच्छ्वास इस प्रकार छह प्राण होते हैं । त्रीन्द्रियके घ्राणेन्द्रिय सहित सात प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रियके चक्षुइन्द्रिय सहित आठ प्राण होते हैं । असंज्ञी पञ्चेन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रिय सहित नव प्राण होते हैं । और संज्ञी पञ्चेन्द्रियके मन सहित दस प्राण होते हैं ।

इन्द्रियों की संख्या—

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रके भेदसे इन्द्रियाँ पांच होती हैं । कर्मसहित जीव पदार्थोंको जाननेमें असमर्थ होता है अतः इन्द्रियाँ पदार्थको जाननेमें सहायक होती हैं ।

यहां उपयोगका प्रकरण है अतः उपयोगके साधनभूत पांच ज्ञानेन्द्रियोंका ही यहां ग्रहण किया गया है । वाक् , पाणि, पाद आदिके भेदसे कर्मेन्द्रियके अनेक भेद हैं । अतः इस सूत्रमें पांच संख्यासे सांख्यके द्वारा मानी गई पांच कर्मेन्द्रियोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि शरीरके सभी अवयव क्रियाके साधन होनेसे कर्मेन्द्रिय हो सकते हैं इसलिए इनकी कोई संख्या निश्चित नहीं की जा सकती ।

इन्द्रियोंके भेद—

द्विविधानि ॥ १६ ॥

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रियके भेदसे प्रत्येक इन्द्रियके दो दो भेद होते हैं ।

द्रव्येन्द्रियका स्वरूप--

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

निर्वृत्ति और उपकरणको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । इनमें से प्रत्येकके अभ्यन्तर और बाह्यके भेदसे दो दो भेद हैं ।

चक्षु आदि इन्द्रियकी पुतली आदिके भीतर तदाकार परिणत पुद्गल स्कन्धको बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं । और उत्सेधांगुलके असंख्यात भागप्रमाण आत्माके प्रदेशोंको जो चक्षु आदि इंद्रियोंके आकार हैं तथा तत्तत् ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे विशिष्ट है, आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं ।

चक्षु आदि इन्द्रियोंमें शुक्ल, कृष्ण आदि रूपसे परिणत पुद्गलप्रचयको आभ्यन्तर उपकरण कहते हैं । और अक्षिपक्ष्म आदि बाह्य उपकरण हैं ।

भावेन्द्रियका स्वरूप—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

लब्धि और उपयोगको भावेन्द्रिय कहते हैं। आत्मामें ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली अर्थग्रहण करनेकी शक्तिका नाम लब्धि है। आत्माके अर्थको जाननेके लिए जो व्यापार होता है उसको उपयोग कहते हैं।

यद्यपि उपयोग इन्द्रियका फल है फिर भी कार्यमें कारणका उपचार करके उपयोगको इन्द्रिय कहा गया है।

इन्द्रियोंके नाम—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी व्युत्पत्ति करण तथा कर्तृ दोनों साधनोंमें होती है।

इन्द्रियोंके विषय—

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये क्रमसे उक्त पांच इन्द्रियोंके विषय होते हैं।

मनका विषय—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अनिन्द्रिय अर्थात् मनका विषय श्रुत होता है। अस्पष्ट ज्ञानको श्रुत कहते हैं। अथवा श्रुतज्ञानके विषयभूत अर्थको श्रुत कहते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम हो जाने पर श्रुतज्ञानके विषय में मनके द्वारा आत्माकी प्रवृत्ति होती है। अथवा श्रुतज्ञान को श्रुत कहते हैं। मनका प्रयोजन यह श्रुतज्ञान है।

इन्द्रियोंके स्वामी—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥

पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। क्योंकि इनके वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरणका क्षयोपशम हो जाता है और शेष इन्द्रियोंके सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदय रहता है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥

कृमि आदिके दो, पिपीलिका आदिके तीन, भ्रमर आदिके चार और मनुष्य आदिके पाँच—इस प्रकार इन जीवोंके एक एक इन्द्रिय बढ़ती हुई हैं।

पञ्चेन्द्रिय जीवके भेद—

संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥

मन सहित जीव संज्ञी होते हैं। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि मनरहित जीव असंज्ञी होते हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीव और सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव

असंज्ञी होते हैं। संज्ञियों के शिक्षा, शब्दार्थग्रहण आदि क्रिया होती है। यद्यपि असंज्ञियों के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ होतीं हैं तथा इच्छा प्रवृत्ति आदि होती हैं फिर भी शिक्षा, शब्दार्थग्रहण आदि क्रिया न होने से वे संज्ञो नहीं कहलाते।

विग्रहगतिमें गमनके कारणको बतलाते हैं–

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२५॥

विग्रहगतिमें कार्मण काययोग होता है। विग्रह शरीरको कहते हैं। नवीन शरीरको ग्रहण करनेके लिये जो गति होती है वह विग्रहगति है। आत्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको ग्रहण करनेके लिये कार्मण काययोगके निमित्त से गमन करता है।

अथवा विरुद्ध ग्रहणको विग्रह कहते हैं अर्थात् कर्मका ग्रहण होने पर भी नोकर्म हैं के अग्रहणको विग्रह कहते हैं। और विग्रह होनेसे जो गति होती है वह विग्रहगति कहलाती है।

सर्वशरीरके कारणभूत कार्मण शरीरको कर्म कहते हैं। और मन, वचन, काय वर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्माके प्रदेशोंके परिस्पन्दका नाम योग है। अर्थात् विग्रह रूपसे गति होने पर कर्मोंका आदान और देशान्तरगमन दोनों होते हैं।

जीव और पुद्गलके गमनके प्रकारको बतलाते हैं–

अनुश्रेणि गतिः ॥२६॥

जीव और पुद्गलका गमन श्रेणीके अनुसार होता है। लोकके मध्यभागसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशामें क्रमसे सन्निविष्ट आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं।

प्रश्न–यहाँ जीव द्रव्यका प्रकरण होनेसे जीवकी गतिका वर्णन करना तो ठीक है लेकिन पुद्गलकी गतिका वर्णन किस प्रकार संगत है?

उत्तर–'विग्रहगतौ कर्मयोगः' इस सूत्रमें गतिका ग्रहण हो चुका है। अतः इस सूत्रमें पुनः गतिका ग्रहण, और आगामी 'अविग्रहा जीवस्य' सूत्रमें जीव शब्दका ग्रहण इस बातको बतलाते हैं कि यहाँ पुगद्लकी गतिका भी प्रकरण है।

प्रश्न–ज्योतिषी देवों तथा मेरुकी प्रदक्षिणाके समय विद्याधर आदिकी गति श्रेणीके अनुसार नहीं होती है। अतः गतिको अनुश्रेणि बतलाना ठीक नहीं हैं।

उत्तर–नियत काल और नियत क्षेत्रमें गति अनुश्रेणि बतलायी है। कालनियम–संसारी जीवोंकी मरणकालमें भवान्तर प्राप्तिके लिये और मुक्त जीवोंकी ऊर्ध्वगमन कालमें जो गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम—ऊर्ध्वलोकसे अधोगति, अधोलोकसे ऊर्ध्वगति, तिर्यग्लोकसे अधोगति अथवा ऊर्ध्वगति अनुश्रेणि ही होती है।

पुद्गलोंकी भी जो लोकान्त तक गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। अन्य गति का कोई नियम नहीं है।

मुक्त जीव की गति—

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित अर्थात् सीधी होती है। मोड़ा या वक्रताको विग्रह कहते हैं। यद्यपि इस सूत्रमें सामान्य जीवका ग्रहण किया गया है फिर भी आगामी "विग्रह-

वती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः' सूत्रमें संसारी शब्द आनेसे इस सूत्रमें मुक्त जीवका ही ग्रहण करना चाहिये।

'अनुश्रेणि गतिः' इसी सूत्रसे यह सिद्ध हो जाता है कि जीव और पुद्गलोंकी गति श्रेणीका व्यतिक्रम करके नहीं होती है अतः 'अविग्रहा जीवस्य' यह सूत्र निरर्थक होकर यह बतलाता है कि पहिले सूत्रमें बतलाई हुई गति कहीं पर विश्रेणि अर्थात् श्रेणीका उल्लंघन करके भी होती है।

संसारी जीवकी गति—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

संसारी जीवकी गति मोड़ा सहित और मोड़ा रहित दोनों प्रकारकी होती है और इसका समय चार समयसे पहिले अर्थात् तीन समय तक है।

संसारी जीवोंकी विग्रहरहित गतिका काल एक समय है। मुक्त जीवोंकी गतिका काल भी एक समय है। विग्रह रहित गतिका नाम इषु गति है। जिस प्रकार बाणकी गति सीधी होती है। उसी प्रकार यह गति भी सीधी होती है।

एक मोड़ा, दो मोड़ा और तीन मोड़ावाली गतिका काल क्रमसे दो समय, तीन समय और चार समय है।

एक मोड़ावाली गतिका नाम पाणिमुक्ता है। जिस प्रकार हाथसे तिरछे फेंके हुए द्रव्य की गति एक मोड़ा युक्त होती है उसी प्रकार इस गतिमें भी जीवको एक मोड़ा लेना पड़ता है। दो मोड़ावाली गतिका नाम लाङ्गलिका है। जिस प्रकार हल दो ओर मुड़ा रहता है उसी प्रकार यह गति भी दो मोड़ा सहित होती है। तीन मोड़ावाली गतिका नाम गोमूत्रिका है। जिस प्रकार गायके मूत्रमें कई मोड़े पड़ जाते हैं उसी प्रकार इस गतिमें भी जीवको तीन मोड़ा लेने पड़ते हैं।

इस प्रकार मोड़ा लेनेमें अधिकसे अधिक तीन समय लगते हैं। गोमूत्रिका गतिमें जीव चौथे समयमें कहीं न कहीं अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

यद्यपि इस सूत्रमें समय शब्द नहीं आया है किन्तु आगेके सूत्रमें समय शब्द दिया गया है अतः यहाँपर भी समयका ग्रहण कर लेना चाहिये।

विग्रह रहित गतिका समय—

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

मोड़ारहित गतिका काल एक समय है। गमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंकी लोक पर्यन्त गति भी व्याघातरहित होनेसे एक समयवाली होती है।

विग्रह गतिमें अनाहारक रहनेका समय—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

विग्रहगति में जीव एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है।

औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल परमाणुओंके ग्रहण को आहार कहते हैं। इस प्रकारका आहार जिसके न हो वह अनाहारक कहलाता है। विग्रह रहित गतिमें जीव आहारक होता है।

एक मोड़ा सहित पाणिमुक्ता गतिमें जीव प्रथम समयमें अनाहारक रहता है और द्वितीय समयमें आहारक हो जाता है।

दो मोड़ा युक्त लाङ्गलिका गतिमें जीव दो समय तक अनाहारक रहता है और तृतीय समयमें आहारक हो जाता है। तीन मोड़ा युक्त गोमूत्रिका गतिमें जीव तीन समय तक अनाहारक रहता है और चौथे समयमें नियमसे आहारक हो जाता है।

ऋद्धिप्राप्त यतिका आहारक शरीर आहार युक्त होता है।

जन्म के भेद—

सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

संसारी जीवोंके जन्मके तीन भेद हैं-संमूर्च्छन, गर्भ और उपपाद।

माता-पिताके रज और वीर्यके विना पुद्गल परमाणुओंके मिलने मात्रसे ही शरीरकी रचनाको संमूर्च्छन जन्म कहते हैं।

माताके गर्भमें शुक्र और शोणितके मिलनेसे जो जन्म होता है उसको गर्भ जन्म कहते हैं अथवा जहाँ माताके द्वारा युक्त आहारका ग्रहण हो वह गर्भ कहलाता है।

जहाँ पहुँचते ही सम्पूर्ण अङ्गों की रचना हो जाय वह उपपाद है। देव और नारकियोंके उत्पत्तिस्थानको उपपाद कहते हैं।

योनियों के भेद-

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३२॥

सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत और सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत ये नौ संमूर्च्छन आदि जन्मों की योनियाँ हैं।

च शब्द समुच्चयार्थक है। अर्थात् उक्त योनियाँ परस्पर में भी मिश्र होतीं हैं और मिश्रयोनियाँ भी दूसरी योनियों के साथ मिश्र होती हैं।

योनि और जन्म में आधार और आधेय की अपेक्षासे भेद है। योनि आधार हैं और जन्म आधेय हैं।

साधारण वनस्पतिकायिकों के सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये जीव परस्पराश्रय रहते हैं। नारकियोंके अचित्त योनि होतीहै, क्योंकि इनका उपपाद स्थान अचित्त होता है। गर्भजों के सचित्ताचित्त योनि होती है, क्योंकि शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं और आत्मा अथवा माता का उदर सचित्त होता है। वनस्पति कायिक के अतिरिक्त पृथिव्यादि कायिक संमूर्च्छनोंके अचित्त और मिश्र योनि होती है। देव और नारकियोंके शीतोष्णयोनि होती है क्योंकि उनके कोई उपपादस्थान शीत होते हैं और कोई उष्ण। तेजःकायिकोंके उष्णयोनि होती है अन्य पृथिव्यादि कायिकों के शीत, उष्ण और शीतोष्ण योनियाँ होतीं हैं। देव, नारकी और एकेन्द्रियोंके संवृत योनि होती है। विकलेन्द्रियोंके विवृत योनि होती है। गर्भजोंके संवृत-विवृत योनि होती है।

योनियोंके उत्तरभेद चौरासी लाख होते हैं—नित्य निगोद, इतरनिगोद, पृथिवी, अप् तेज और वायुकायिकों में प्रत्येकके सात सात लाख ६×७=४२, वनस्पति कायिकों के दश लाख, विकलेन्द्रियोंमें प्रत्येकके दो लाख २×३=६, देव, नारकी और तिर्यञ्चोंमें प्रत्येकके चार चार लाख ३×४=१२ और मनुष्योंके चौदह लाख योनियाँ होती हैं। इस प्रकार ४२+१०+६+१२+१४=८४ लाख योनियाँ होती हैं।

गर्भ जन्मके स्वामी—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुज, अण्डज और पोत इन जीवोंके गर्भ जन्म होता है।

जालके समान मांस और रुधिरके वस्त्राकार आवरण को जरायु कहते हैं। इस जरायुसे आच्छादित हो जो जीव पैदा होते हैं उनको जरायुज कहते हैं। जो जीव अण्डेसे पैदा होते हैं उनको अण्डज कहते हैं। जो जीव पैदा होते ही परिपूर्ण शरीर युक्त हो चलने फिरने लग जावें और जिनपर गर्भमें कोई आवरण न रहता हो उनको पोत कहते हैं।

उपपाद जन्म के स्वामी–

देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥

देव और नारकियोंके उपपाद जन्म होता है। देव उपपाद शय्यासे उत्पन्न होते हैं। नारकी उपपाद छत्तोंसे नीचेकी ओर मुंहकरके गिरते हैं।

समूर्च्छन जन्म के स्वामी—

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

गर्भ और उपपाद जन्मवाले प्राणियोंसे अतिरिक्त जीवोंके सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

उक्त तीनों सूत्र उभयतः नियमार्थक हैं। अर्थात् जरायुज, अण्डज और पोतोंके गर्भ जन्म ही होता है अथवा गर्भजन्म जरायुज, अण्डज और पोतोंकेही होता है। इसी प्रकार उपपाद और समूर्च्छनमें भी दुतरफा नियम घटा लेना चाहिये।

शरीरोंका वर्णन—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर होते हैं।

औदारिक नामकर्मके उदयसे होनेवाले स्थूल शरीरको औदारिक कहते हैं। गर्भसे उत्पन्न होनेवाले शरीर को औदारिक कहते है अथवा जिसका प्रयोजन उदार हो उसे औदारिक कहते हैं। वैक्रियिक नाम कर्मके उदयसे अणिमा आदि अष्टगुणसहित और नाना प्रकार की क्रिया करनेमें समर्थ जो शरीर होता है उसको वैक्रियिक शरीर कहते हैं। वैक्रियिक शरीर धारी जीव मूल शरीरसे 'अनेक शरीरोंको बना लेता है। देवोंका मूल शरीर जिनेन्द्र देवके जन्म कल्याणक आदि उत्सवोंमें नहीं जाता है किन्तु उत्तर शरीर ही जाता है।

सूक्ष्मपदार्थका ज्ञान और असंयमके परिहारके लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके मस्तकसे जो एक हाथका सफेद पुतला निकलता है उसको आहारक शरीर कहते हैं।

विशेष—जब प्रमत्तसंयत मुनिको किसी सूक्ष्मपदार्थमें अथवा संयमके नियमोंमें सन्देह उत्पन्न होता है तो वह विचारता है कि तीर्थंकरके दर्शन बिना यह सन्देह दूर नहीं होगा और तीर्थंकर इस स्थानमें हैं नहीं। इस प्रकारके विचार करने परही तालुमें रोमाग्रके अष्टम भाग प्रमाण एक छिद्र हो जाता है और उस छिद्रसे एक हाथका बिम्बाकार सफेद पुतला निकलता है। वह पुतला जहाँ पर भी तीर्थंकर परमदेव गृहस्थ, छद्मस्थ, दीक्षित अथवा केवली किसी भी अवस्था के हों, जाता है और तीर्थंकरके शरीरको स्पर्श करके लौटकर पुनः उसी तालुछिद्रसे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है। तब उस मुनिका संदेह दूर होजाता है और वह सुखी एवं प्रसन्न होता है।

तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले तेज युक्त शरीरको तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं। यद्यपि सभी शरीरोंका कारण कर्म होता है फिर भी प्रसिद्धिका कारण कर्म विशेषरूपसे बतलाया है।

शरीरोंमें सूक्ष्मत्व—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

पूर्वकी अपेक्षा आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक इत्यादि।

शरीरोंके प्रदेश—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

तैजस शरीरसे पहिलेके शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यातगुणे हैं। अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक शरीरके प्रदेश असंख्यातगुणे हैं और वैक्रियिकसे आहारकके प्रदेश असंख्यातगुणे हैं। औदारिकादि शरीरोंमें उत्तरोत्तर प्रदेशोंकी अधिकता होनेपर भी उनके संगठनमें लोह पिण्डके समान घनत्व होनेसे सूक्ष्मता है और पूर्व पूर्वके शरीरोंमें प्रदेशोंकी न्यूनता होनेपर भी तूलपिण्डके समान शिथिलत्व होनेसे स्थूलता है। यहाँ पल्यका असंख्यातवाँ भाग अथवा श्रेणीका असंख्यातवाँ भाग गुणाकार हैं।

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अन्तके दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनन्तगुणे हैं। अर्थात् आहारकसे तैजसके प्रदेश अनन्तगुणे हैं और तैजससे कार्मण शरीरके अनन्तगुणे हैं। यहाँ गुणाकार का प्रमाण अभव्यों का अनन्तगुणा और सिद्धोंका अनन्त भाग है।

अप्रतिघाते ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात रहित हैं। अर्थात् ये न तो मूर्तीक पदार्थसे स्वयं रुकते हैं और न किसीको रोकते हैं। यद्यपि वैक्रियिक और आहारक शरीर भी प्रतिघात रहित हैं लेकिन तैजस और कार्मण शरीरकी विशेषता यह है कि उनका लोकपर्यन्त कहीं भी प्रतिघात नहीं होता। वैक्रियिक और आहारक शरीर सर्वत्र अप्रतिघाती नहीं है इनका क्षेत्र नियत है।

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

तैजस और कार्मण शरीर आत्माके साथ अनादिकालसे सम्बन्ध रखने वाले हैं। च शब्दसे इनका सादि सम्बन्ध भी सूचित होता है क्योंकि पूर्व तैजस कार्मण शरीरके नाश होनेपर उत्तर शरीरकी उत्पत्ति होती है। लेकिन इनका आत्माके साथ कभी असम्बन्ध नहीं रहता। अतः सन्ततिकी अपेक्षा अनादिसम्बन्ध है और विशेषकी अपेक्षा सादि सम्बन्ध है।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

उक्त दोनों शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं।

एक जीवके एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

एक साथ एक जीवके कमसे कम दो और अधिकसे अधिक चार शरीर हो सकते हैं। दो शरीर तैजस और कार्मण, तीन–तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक, चार–तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते, जिस संयतके आहारक शरीर होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता, और जिन देव नारकियोंके वैक्रियिक शरीर होता है उनके आहारक नहीं होता।

कार्मण शरीरकी विशेषता—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अन्तका कार्मण शरीर उपभोग रहित है। इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं। विग्रहगतिमें द्रव्येन्द्रियकी रचना न होनेसे कार्मण शरीर उपभोग रहित होता है। यद्यपि तैजस शरीर भी उपभोग रहित है लेकिन उसमें योगनिमित्तकता न होनेसे स्वयं ही निरुपभोगत्व सिद्ध हो जाता है।

औदारिक शरीरका स्वरूप—

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भ और संमूर्च्छन जन्मसे उत्पन्न होनेवाले सभी शरीर औदारिक होते हैं।

वैक्रियिक शरीरका स्वरूप—

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे उत्पन्न होने वाले शरीर वैक्रियिक होते हैं।

लब्धिप्रत्ययश्च ॥ ४७ ॥

वैक्रियिक शरीर लब्धिजन्य भी होता है। विशेष तपसे उत्पन्न हुई ऋद्धिका नाम लब्धि है। लब्धिजन्य वैक्रियिक शरीर छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके होता है।

उत्तर वैक्रियिक शरीरका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

तीर्थंकरोंके जन्म आदि कल्याणकोंके समय और नन्दीश्वर द्वीप आदिके चैत्यालयोंकी वन्दनाके समय पुनः पुनः अन्त मुहूर्तके बाद नूतन नूतन वैक्रियिक शरीरकी रचना कर लेने के कारण अधिक समय तक भी वैक्रियिकशरीरनिमित्तक कार्य होता रहता है। देवों को वैक्रियिक शरीरके बनानेमें किसी प्रकारके दुःखका अनुभव न होकर सुखका ही अनुभव होता है।

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

तैजस शरीर भी लब्धिजन्य होता है।

तैजस शरीर दो प्रकार है –निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक।

निःसरणात्मक—किसी उग्रचारित्रवाले यतिको किसी निमित्तसे अति क्रोधित हो जाने पर उनके बायें कन्धेसे बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा जलती हुई अग्नि के समान और काहलके आकार वाला तैजस शरीर बाहर निकलता है। और दाह्य वस्तुके पास जाकर उसको भस्मसात् कर देता है। पुनः यतिके शरीरमें प्रवेश करके यतिको भी भस्म कर देता है। यह निःसरणात्मक तैजस शरीरका लक्षण है।

अनिःसरणात्मक तैजस शरीर औदारिक, वक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरों-के भीतर रहकर इनकी दीप्तिमें कारण होता है ।

आहारक शरीरका लक्षण—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात रहित है। इसका कारण शुभ होनेसे शुभ और कार्य विशुद्ध होनेसे विशुद्ध है। आहारक शरीरसे किसीका व्याघात नहीं होता और न अन्य किसीके द्वारा आहारक शरीरका व्याघात होता है अतः अव्याघाती है।

यह शरीर प्रमत्तसंयतके ही होता है। एव शब्द अवधारणार्थक है। अर्थात् आहारक शरीर प्रमत्तसंयतके ही होता है। ऐसा नहीं कि प्रमत्तसंयतके आहारक ही होता है। क्योंकि ऐसा नियम मानने पर औदारिक आदि शरीरोंका निषेध हो जायगा।

च शब्द उक्त अर्थ का समुच्चय करता है। अर्थात् संयमके परिपालनके लिये, सूक्ष्म पदार्थके ज्ञानके लिये अथवा लब्धिविशेषके सद्भाव का ज्ञान करनेके लिये छठवें गुणस्थान-वर्ती मुनिके मस्तकके तालुभागसे एक हाथ का पुतला निकलता है। भरत या ऐरावत क्षेत्रमें स्थित मुनिको केवलीके अभावमें सूक्ष्म पदार्थमें संशय होने पर वह पुतला विदेह क्षेत्रमें जाकर और तीर्थंकरके शरीरको स्पर्श कर लौट आता है। उसके आने पर मुनिका सन्देह दूर हो जाता है। यदि मुनि स्वयं विदेह क्षेत्रमें जाते तो असंयम का दोष लगता।

वेदों के स्वामी—

नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

नारकी और संमूर्च्छन जीवोंके नपुंसकलिङ्ग होता है।

न देवाः ॥५१॥

देवोंके नपुंसकलिङ्ग नहीं होता केवल स्त्रीलिङ्ग और पुरुषलिङ्ग ही होता है।

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

शेष जीवोंके तीनों ही लिङ्ग होते हैं।

अकाल मरण किनके नहीं होता—

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५३॥

उपपादजन्मवाले देव और नारकियों का, चरमोत्तम शरीरवाले तद्भव मोक्षगामियों का तीर्थंकर परमदेव तथा असंख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों का अकाल मरण नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अन्य जीवों का अकाल मरण होता है। यदि अन्य जीवोंका अकाल मरण न होता हो तो दया, धर्मोपदेश और चिकित्सा आदि बातें निरर्थक हो जायँगी।

विशेष—चरमोत्तम—चरम का अर्थ है अन्तिम और उत्तम का अर्थ है उत्कृष्ट। चरम शरीरी गुरुदत्त पाण्डव आदि का मोक्ष उपसर्गके समय हुआ है तथा उत्तम देहधारी सुभौम ब्रह्मदत्त आदिकी और कृष्णकी जरत्कुमारके बाणसे अपमृत्यु हुई है अतः चरम और उत्तम दोनों विशेषणोंको एक साथ लगाना चाहिये। जिससे चरम शरीरियों में उत्तम पुरुष तीर्थङ्कर ही सिद्ध होते हैं।

द्वितीय अध्याय समाप्त

तृतीय अध्याय

नरकोंका वर्णन—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमः प्रभा ये सात नरक क्रमसे नीचे-नीचे स्थित हैं। ये क्रमशः घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय-से वेष्टित हैं। और तीनों वातवलय आकाशके आश्रित हैं। रत्नप्रभा सहित भूमि रत्नप्रभा है, इस में मन्द अन्धकार है। शर्कराप्रभा सहित भूमि शर्कराप्रभा है, इसमें बहुत कम तेज है। बालु-काप्रभा भूमि अन्धकारप्राय है। आगेकी भूमियाँ उत्तरोत्तर अन्धकारमय ही हैं। वालुका-प्रभाके स्थानमें बालिकाप्रभा भी पाठ देखा जाता है। महातमःप्रभा का तमस्तमःप्रभा यह दूसरा नाम है। ये वातवलय नरकोंके नीचे भी हैं। घनोदधिवातवलय गोमूत्रके रंगके समान है। घनवात मूंगके रंग का है। तनुवातवलय अनेक रंगका है। तीनों वातवलय क्रमशः लोकके नीचेके भागमें तथा सप्तमपृथिवीके अन्तिम भाग तक एक बाजूमें बीस बीस हजार योजन मोटे हैं। सप्तमपृथिवीके अन्तमें क्रमशः सात, पाँच और चार योजन मोटे हैं। फिर क्रमशः घटते हुए मध्यलोकमें पांच, चार और तीन योजन मोटे रह जाते हैं। फिर क्रमशः बढ़कर ब्रह्मलोकके पास सात पांच और चार योजन मोटे हो जाते हैं। पुनः क्रमशः घटकर लोकके अन्तिम भागमें पांच चार और तीन योजन रह जाते हैं। लोक शिखरपर दो कोस, एक कोस तथा सवा चार सौ धनुष कम एक कोश प्रमाण मोटे हैं।

नरकों का विस्तार इस प्रकार है—

प्रथम पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं—१ खरभाग २ पङ्कभाग और ३ अब्बहुलभाग। खरभागका विस्तार सोलह हजार योजन, पङ्कभागका चौरासी हजार योजन और अब्बहुलभागका अस्सी हजार योजन है। खरभागके ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर शेष भागमें तथा पंकभागमें भवनवासी और व्यन्तरदेव रहते हैं और अब्बहुलके भागमें नारकी रहते हैं। द्वितीय आदि पृथिवियोंका विस्तार क्रमसे ३२, २८, २४, २०, १६ और ८ हजार योजन है। सातों नरकोंके प्रस्तारों की संख्या क्रमसे १३, ११, ९, ७, ५, ३, और १ है। प्रथम नरकमें १३ और सप्तम नरकमें केवल एक प्रस्तार है।

सातों नरकों के रूढनाम इस प्रकार हैं—

१ घम्मा, २ वंशा ३ शैला या मेघा ४ अञ्जना ५ अरिष्टा ६ मघवी और ७ माघवी।

सातों नरकोंमें बिलोंकी संख्याको बतलाते हैं—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उन प्रथम आदि नरकोंमें क्रमसे तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं। सम्पूर्ण बिलों की संख्या चौरासी लाख है।

नारकियोंका वर्णन—

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

नारकी जीव सदा ही अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रियावाले होते हैं। उनके कृष्ण नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। प्रथम और द्वितीय नरकमें कापोत लेश्या होती है। तृतीय नरकके उपरिभागमें कापोत और अधोभागमें नील लेश्या है। चतुर्थ नरकमें नील लेश्या है। पञ्चम नरकमें ऊपर नील और नीचे कृष्ण लेश्या है। छठवें और सातवें नरकमें कृष्ण और परम कृष्ण लेश्या है। उक्त वर्णन द्रव्यलेश्याओं का है जो आयुपर्यन्त रहती हैं। भावलेश्याएँ अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं अतः उनका वर्णन नहीं किया गया।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द का परिणाम कहते हैं। शरीर को देह कहते हैं। अशुभ नामकर्मके उदयसे नारकियोंके परिणाम और शरीर अशुभतर होते हैं।

प्रथम नरकमें नारकियोंके शरीर की ऊँचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अङ्गुल है। आगेके नरकोंमें क्रमसे दुगुनी २ ऊँचाई होती गई है, जो सातवें नरकमें ५०० धनुष हो जाती है। शीत और उष्णतासे होनेवाले दुःखका नाम वेदना है। नारकियोंको शीत और उष्णताजन्य तीव्र दुःख होता है। प्रथम नरकसे चतुर्थ नरक तक उष्ण वेदना होती है। पञ्चम नरकके ऊपरके दो लाख बिलोंमें उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है। मतान्तरसे पांचवें नरकके ऊपरके दो लाख पच्चीस बिलोंमें उष्ण वेदना तथा २५ कम एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है। छठे और सातवें नरकमें उष्ण वेदना है। शरीरकी विकृतिको विक्रिया कहते हैं। अशुभ कर्मके उदयसे उनकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है। शुभ करना चाहते हैं पर होती अशुभ है।

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

नारकी जीव परस्परमें एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव अवधिज्ञानसे और मिथ्यादृष्टि विभङ्गावधिज्ञानसे दूरसे ही दुःखका कारण समझ लेते हैं और दुःखी होते हैं। पासमें आनेपर एक दूसरेको देखते ही क्रोध बढ़ जाता है पुनः पूर्व भवके स्मरण और तीव्र वैरके कारण वे कुत्तोंकी तरह एक दूसरेको भोंकते हैं तथा अपने द्वारा बनाये हुये नाना प्रकारके शस्त्रों द्वारा एक दूसरेको मारनेमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रकार नारकी जीव रातदिन कुत्तोंकी तरह लड़कर काटकर मारकर स्वयं ही दुःख पैदा करते रहते हैं। एक दूसरे को काटते हैं, छेदते हैं, सीसा गला कर पिलाते हैं, वैतरिणीमें ढकेलते हैं, कड़ाहीमें झोंक देते हैं आदि।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

चौथे नरकसे पहिले अर्थात् तृतीय नरक पर्यन्त अत्यन्त संक्लिष्ट परिणामोंके धारक अम्बाम्बरीप आदि कुछ असुरकुमारोंके द्वारा भी नारकियोंको दुःख पहुँचाया जाता है। असुरकुमार देव तृतीय नरक तक जाकर पूर्वभवका स्मरण कराके नारकियोंको परस्परमें लड़ाते हैं और लड़ाईको देखकर स्वयं प्रसन्न होते हैं। च शब्दसे ये असुरकुमार देव पूर्व सूत्रमें कथित दुःख भी पहुँचाते हैं ऐसा समझना चाहिये।

नरकोंमें आयुका वर्णन—

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन नरकोंसे नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर है।

प्रथम नरकके प्रथम पटलमें जघन्य आयु १० हजार वर्ष है। प्रथम पटलमें जो उत्कृष्ट आयु है वही द्वितीय पटलमें जघन्य आयु है। यही क्रम सातों नरकोंमें है।

पटलोंमें उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है।

नरक	१ पटल	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
१	९० हजार वर्ष	९० ला. वर्ष	असं० पूर्व	१/१० सागर	२/१० सागर	३/१० सागर	४/१० सागर	५/१० सागर	६/१० सागर	७/१० सागर	८/१० सागर	९/१० सा०	१ सागर
२	१ २/११ सागर	१ ४/११ सागर	१ ६/११ सागर	१ ८/११ सागर	१ १०/११ सागर	२ १/११ सागर	२ ३/११ सागर	२ ५/११ सागर	२ ७/११ सागर	२ ९/११ सागर	३ सागर		
३	३ ४/९ सागर	३ ८/९ सागर	४ ३/९ सागर	४ ७/९ सागर	५ २/९ सागर	५ ६/९ सागर	६ १/९ सागर	६ ५/९ सागर	७ सागर				
४	७ ३/७ सागर	७ ६/७ सागर	८ २/७ सागर	८ ५/७ सागर	९ १/७ सागर	९ ४/७ सागर	१० सागर						
५	११ २/५ सागर	१२ ४/५ सागर	१४ १/५ सागर	१५ ३/५ सागर	१७ सागर								
६	१८ २/३ सागर	२० १/३ सागर	२२ सागर										
७	३३ सागर												

इन नरकोंमें मद्यपायी, मांसभक्षी, यज्ञमें बलि देनेवाले, असत्यवादी, परद्रव्यका हरण करनेवाले, परस्त्री लम्पटी, तीव्रलोभी, रात्रिमें भोजन करनेवाले, स्त्री, बालक, वृद्ध और ऋषिके साथ विश्वासघात करनेवाले, जिनधर्मनिन्दक, रौद्रध्यान करनेवाले तथा इसी प्रकारके अन्य पाप कर्म करनेवाले जीव पैदा होते हैं।

उत्पत्तिके समय इन जीवोंके ऊपरकी ओर पैर और मस्तक नीचेको ओर रहता है। नारकी जीवों को क्षुधा, तृषा आदिकी तीव्र वेदना आयु पर्यन्त सहन करनी पड़ती है। क्षण भरके लिये भी सुख नहीं मिलता है।

असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक, सरीसृप (रेंगने वाले) द्वितीय नरक तक, पक्षी तृतीय नरक तक, सर्प चतुर्थनरक तक, सिंह पाँचवें नरक तक, स्त्री छठवें नरक तक और मत्स्य सातवें नरक तक जाते हैं।

यदि कोई प्रथम नरकमें लगातार जावे तो आठ बार जा सकता है। अर्थात् कोई जीव प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ, फिर वहाँसे निकल कर मनुष्य या तिर्यञ्च हुआ, पुनः प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह जीव प्रथम नरकमें ही जाता रहे तो आठ बार तक जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय नरकमें सात बार, तृतीय नरकमें छह बार, चौथे नरकमें पाँच बार, पाँचवें नरकमें चार बार, छठवें नरकमें तीन बार और सातवें नरकमें दो बार तक लगातार उत्पन्न हो सकता है।

सातवें नरकसे निकला हुआ जीव तिर्यञ्च ही होता है और पुनः नरकमें जाता है। छठवें नरकसे निकला हुआ जीव मनुष्य हो सकता है और सम्यग्दर्शनको भी प्राप्त कर सकता है लेकिन देशव्रती नहीं हो सकता। पञ्चम नरकसे निकला हुआ जीव देशव्रती हो सकता है लेकिन महाव्रती नहीं। चौथे नरकसे निकला हुआ जीव मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरकसे निकला हुआ जीव तीर्थंकर भी हो सकता है।

मध्यलोकका वर्णन—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

मध्यलोकमें उत्तम नामवाले जम्बूद्वीप आदि और लवणसमुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

१ जम्बूद्वीप, १ लवणसमुद्र, २ धातकी खण्डद्वीप, २ कालोद समुद्र, ३ पुष्करवरद्वीप, ३ पुष्करवर समुद्र, ४ वारुणीवरद्वीप ४ वारुणीवर समुद्र, ५ क्षीरवर द्वीप ५ क्षीरवर समुद्र, ६ घृतवर द्वीप, ६ घृतवर समुद्र, ७ इक्षुवर द्वीप ७ इक्षुवर समुद्र, ८ नन्दीश्वर द्वीप, ८ नन्दीश्वर समुद्र, ९ अरुणवर द्वीप, ९ अरुणवर समुद्र। इस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त एक दूसरेको घेरे हुये असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। अर्थात् पच्चीस कोटि उद्धारपल्योंके जितने रोम खण्ड हों उतनी ही द्वीप-समुद्रों की संख्या है।

मेरुसे उत्तर दिशामें उत्तर कुरु नामक उत्तम भोगभूमि है। उसके मध्यमें नाना रत्नमय एक जम्बूवृक्ष है। जम्बूवृक्षके चारों ओर चार परिवार वृक्ष हैं। प्रत्येक परिवार वृक्षके भी एक लाख ब्यालीस हजार एक सौ पन्द्रह परिवार वृक्ष हैं। समस्त जम्बू वृक्षोंकी संख्या १४०१२० है। मूल जम्बूवृक्ष ५०० योजन ऊँचा है। मध्यमें जम्बू वृक्षके होनेसे ही इस द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड़ा। उत्तर कुरुकी तरह देवकुरुके मध्यमें शाल्मलि वृक्ष है। प्रत्येक वृक्षके ऊपर रत्नमय जिनालय हैं। इसी प्रकार धातकी द्वीपमें धातकी वृक्ष और पुष्करवर द्वीपमें पुष्करवर वृक्ष है।

द्वीप और समुद्रोंका विस्तार और रचना—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

प्रत्येक द्वीप समुद्र दूने दूने विस्तारवाले, एक दूसरेको घेरे हुये तथा चूड़ीके आकारवाले (गोल) हैं।

जम्बू द्वीपका विस्तार एक लाख योजन, लवण समुद्रका दो लाख योजन, धातकी द्वीपका चार लाख योजन, कालोद समुद्रका आठ लाख योजन, पुष्करवर द्वीपका सोलह लाख योजन, पुष्करवर समुद्रका बत्तीस लाख योजन विस्तार है। इसी क्रमसे स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त द्वीप और समुद्रोंका विस्तार दूना है। जिस प्रकार धातकी द्वीपका विस्तार जम्बूद्वीप और लवण समुद्रके विस्तारसे एक योजन अधिक है उसी प्रकार असंख्यात समुद्रोंके विस्तारसे स्वयंभूरमण समुद्रका विस्तार एक लाख योजन अधिक है। पहिले पहिले के द्वीप समुद्र आगे आगे के द्वीप समुद्रोंको घेरे हुये हैं। अर्थात् जम्बूद्वीपको लवण समुद्र, लवण समुद्रको धातकी द्वीप, धातकी द्वीपको कालोद समुद्र घेरे हुये है। यही क्रम आगे भी है।

ये द्वीप समुद्र चूड़ीके समान गोलाकार हैं। त्रिकोण, चतुष्कोण या अन्य आकार वाले नहीं हैं।

जम्बू द्वीपकी रचना और विस्तार—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

उन असंख्यात द्वीप समुद्रोंके बीचमें एक लाख योजन विस्तारवाला जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीपके मध्यमें मेरु है अतः मेरुको जम्बूद्वीपकी नाभि कहा गया है। जम्बू द्वीपका आकार गोल है।

मेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है। वह एक हजार योजन भूमिसे नीचे और ९९ हजार योजन भूमिसे ऊपर है। भूमिपर भद्रशाल वन है। भद्रशाल वनसे पांच सौ योजन ऊपर नन्दनवन है। नन्दनवनसे त्रेसठ हजार योजन ऊपर सौमनसवन है। सौमनसवन से साढ़े पैंतिस हजार योजन ऊपर पाण्डुकवन है। मेरु पर्वतकी शिखर चालीस योजन ऊँची है। इस शिखिरकी ऊँचाईका परिमाण पाण्डुकवनके परिमाणके अन्तर्गत ही है।

जम्बूद्वीपका एक लाख योजन विस्तार कोटके विस्तार सहित है। जम्बू द्वीपका कोट आठ योजन ऊँचा है, मूलमें बारह योजन, मध्यमें आठ योजन और ऊपर भी आठ योजन विस्तार है। उस कोटके दोनों पार्श्वों में दो कोश ऊँची रत्नमयी दो वेदी हैं। प्रत्येक वेदीका विस्तार एक योजन एक कोश और एक हजार सात सौ पचास धनुष है। दोनों वेदियोंके बीचमें महोक्ष देवोंके अनादिधन प्रासाद हैं जो वृक्ष वापी, सरोवर, जिनमन्दिर आदिसे विभूषित हैं। उस कोटके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर चारों दिशाओंमें क्रमसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं। द्वारोंकी ऊँचाई आठ योजन और विस्तार चार योजन है। द्वारोंके आगे अष्ट प्रतिहार्यसंयुक्त जिनप्रतिमा हैं।

जम्बू द्वीपकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाईस धनुष और साढ़े तेरह अंगुलसे कुछ अधिक है।

क्षेत्रोंका वर्णन—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

जम्बू द्वीपमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये अनादि-निधन नामवाले सात क्षेत्र हैं।

हिमवान् पर्वत और पूर्व-दक्षिण-पश्चिम समुद्रके बीचमें धनुषके आकारका भरत क्षेत्र है। इसके गङ्गा-सिन्धु नदी और विजयार्द्ध पर्वतके द्वारा छह खण्ड हो गये हैं।

भरतक्षेत्रके बीचमें पच्चीस योजन ऊँचा रजतमय विजयार्द्ध पर्वत है जिसका विस्तार पचास हजार योजन है। विजयार्द्ध पर्वत पर और पाँच म्लेच्छखण्डोंमें चौथे कालके आदि और अन्तके समान काल रहता है। इसलिये वहाँपर शरीरकी ऊँचाई उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष और जघन्य सात हाथ है। उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि और जघन्य एक सौ बीस वर्ष है।

विजयार्द्ध पर्वतसे दक्षिण दिशाके बीचमें अयोध्या नगरी है। विजयार्द्ध पर्वतसे उत्तरदिशामें और क्षुद्रहिमवान् पर्वतसे दक्षिण दिशामें गङ्गा-सिन्धु नदियों तथा म्लेच्छखण्डोंके मध्यमें एक योजन ऊँचा और पचास योजन लम्बा, जिनालय सहित सुवर्णरत्नमय वृषभ-नामका पर्वत है। इस पर्वत पर चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

हिमवान्-महाहिमवान् पर्वत और पूर्व-पश्चिम समुद्रके मध्यमें हैमवत क्षेत्र है। इसमें जघन्य भोगभूमि की रचना है। हैमवत क्षेत्रके मध्यमें गोलाकार, एक हजार योजन ऊँचा, एक योजन लम्बा शब्दवान् पर्वत है।

जघन्य भोगभूमिमें शरीरकी ऊँचाई एक कोश, एकपल्यकी आयु और प्रियङ्गुके समान श्यामवर्ण शरीर होता है। वहाँके प्राणी एक दिनके बाद आँवला प्रमाण भोजन करते हैं। आयुके नव मास शेष रहने पर गर्भसे स्त्री पुरुष युगल पैदा होते हैं। नवीन युगलके उत्पन्न होते ही पूर्व युगल का छींक और जँभाईसे मरण हो जाता है। उनका शरीर बिजलीके समान विघटित हो जाता है। नूतन युगल अपने अँगूठे को चूँसते हुये सात दिन तक सीधे सोता रहता है। पुनः सात दिन तक पृथिवीपर सरकता है। इसके बाद सात दिनतक मधुर वाणी बोलते हुये पृथिवीपर लड़खड़ाते हुये चलता है। चौथे सप्ताहमें अच्छी तरह चलने लगता है। पाँचवें सप्ताहमें कला और गुणों को धारण करनेके योग्य हो जाता है। छठवें सप्ताहमें तरुण होकर भोगोंको भोगने लगता है। और सातवें सप्ताहमें सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है। सब युगल दश कोश ऊँचे दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न भोगों को भोगते हैं। भोगभूमिके जीव आर्य कहलाते हैं क्योंकि वहाँ पुरुष स्त्रीको आर्या और स्त्री पुरुष को आर्य कहकर बुलाती है।

१ मद्यांग जातिके कल्पवृक्ष मद्यको देते हैं। मद्यका तात्पर्य शराब या मदिरासे नहीं है किन्तु दूध, दधि, घृत, आदिसे बनी हुई सुगन्धित द्रव्यको कामशक्तिजनक होनेसे मद्य कहा गया है

२ वादित्राङ्ग जातिके कल्पवृक्ष मृदंग, भेरी,वीणा आदि नाना प्रकारके बाजोंको देते हैं।

३ भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष हार, मुकुट, कुण्डल आदि नाना प्रकारके आभूषणों को देते हैं।

४ माल्याङ्ग नामके कल्पवृक्ष अशोक, चम्पा, पारिजात आदिके सुगन्धित पुष्प, माला आदि को देते हैं।

५ ज्योतिरङ्ग जातिके कल्पवृक्ष सूर्यादिकके तेज को भी तिरस्कृत कर देते हैं।

६ दीपाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके दीपकोंको देते हैं जिनके द्वारा लोग घरोंके अन्दर अन्धकार युक्त स्थानोंमें प्रकाश करते हैं।

६ गृहाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष प्राकार और गोपुर युक्त रत्नमय प्रासादोंका निर्माण करते हैं।

८ भोजनाङ्ग कल्पवृक्ष छह रस युक्त और अमृतमय दिव्य आहार को देते हैं।

९ भाजनाङ्ग जातिके कल्पवृक्ष मणि और सुवर्ण थाली, घड़ा आदि बर्तनों को देते हैं।

१० वस्त्राङ्ग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारक सुन्दर और सूक्ष्मवस्त्रों को देते हैं।

वहाँपर अमृतके समान स्वादयुक्त अत्यन्त कोमल चार अङ्गुल प्रमाण घास होती है जिसको गायें चरती हैं। वहाँ की भूमि पञ्चरत्नमय है। कहीं कहीं पर मणि और सुवर्णमय क्रीड़ा पर्वत हैं। वापी, सरोवर और नदियोंमें रत्नों की सीढ़ियाँ लगी हैं। वहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मांस नहीं खाते और न परस्परमें विरोध ही करते हैं।

वहाँ विकलत्रय नहीं होते हैं। कोमल हृदयवाले, मन्दकषायी, और शीलादिसंयुक्त मनुष्य ऋषियों को आहारदान देनेसे और तिर्यञ्च उस आहारकी अनुमोदना करनेसे भोग भूमिमें उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव वहाँसे मरकर सौधर्म-ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं।

महाहिमवान् और निषध पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हरि क्षेत्र है। इसके मध्यमें वेदाढ्य नामका पटहाकार पर्वत है। हरि क्षेत्रमें मध्यम भोग भूमिकी रचना है।

मध्यम भोगभूमिमें शरीरकी ऊँचाई दो कोश, आयु दो पल्य और वर्ण चन्द्रमाके

समान होता है। वहाँके प्राणी दो दिनके बाद विभीतक (बहेरे) फलके बराबर भोजन करते हैं। कल्पवृक्ष बीस योजन ऊँचे होते हैं। अन्य वर्णन जघन्य भोगभूमिके समान ही है।

निषध नील पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्रके चार भाग हैं—१ मेरु पर्वतसे पूर्वमें पूर्व विदेह, २ पश्चिममें अपरविदेह, ३ दक्षिणमें देवकुरु ४ और उत्तर में उत्तरकुरु। विदेह क्षेत्रमें कभी जिनधर्मका विनाश नहीं होता है, धर्मकी प्रवृत्ति सदा रहती है और वहाँसे मरकर मनुष्य प्रायः मुक्त हो जाते हैं, अतः इस क्षेत्र का नाम विदेह पड़ा। विदेह क्षेत्रमें तीर्थंकर सदा रहते है। यहाँ भरत और ऐरावत क्षेत्रके समान चौबीस तीर्थंकर होनेका नियम नहीं है। देवकुरु, उत्तरकुरु, पूर्व विदेह और अपर विदेहके कोनेमें गजदन्त नामके चार पर्वत हैं। इनकी लम्बाई तीस हजार दो सौ नव योजन, चौड़ाई पाँच सौ योजन और ऊँचाई चार सौ योजन है। ये गजदन्त मेरुसे निकले हैं। इनमेसे दो गजदन्त निषधपर्वतकी ओर और दो गजदन्त नील पर्वतकी ओर गये हैं। दक्षिणदिग्वर्ती गजदन्तोंके बीचमें देवकुरु नामक उत्तम भोगभूमि है। देवकुरुके मध्यमें एक शाल्मलि वृक्ष है। उत्तरदिग्वर्ती गजदन्तोंके बीचमें उत्तरकुरु है।

उत्तर भोगभूमिमें शरीर की ऊँचाई तीन कोस, आयु तीन पल्य और वर्ण उदीयमान सूर्यके समान है। वहाँके मनुष्य तीन दिनके बाद बेरके बराबर भोजन करते हैं। कल्पवृक्षों की ऊँचाई तीस गव्यूती है। मेरुके चारों ओर भद्रशाल नामका वन है। उस वनसे पूर्व और पश्चिममें निषध और नीलपर्वतसे लगी हुई दो वेदी हैं।

पूर्वविदेहमें सीता नदीके होनेसे इसके दो भाग हो गये हैं, उत्तर भाग और दक्षिण भाग। उत्तर भागमें आठ क्षेत्र हैं।

वेदी और वक्षार पर्वतके बीचमें एक क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभङ्ग नदियोंके बीचमें दूसरा क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वतके मध्यमें तीसरा क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियोंके बीचमें चौथा क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वतके बीचमें पाँचवा क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और दो विभंग नदियोंके अन्तरालमें छठवाँ क्षेत्र है। विभंग नदी और वक्षार पर्वतके बीचमें सातवाँ क्षेत्र है। वक्षार पर्वत और वनवेदिकाके मध्यमें आठवाँ क्षेत्र है। इस प्रकार चार वक्षार पर्वतों, तीन विभंग नदियों और दो वेदियोंके नौ खण्डोंसे विभक्त होकर आठ क्षेत्र हो जाते हैं। इन आठ क्षेत्रोंके नाम इस प्रकार हैं–१ कच्छा, २ सुकच्छा, ३ महाकच्छा,४ कच्छकावती ५ आवर्ता ६ लाङ्गलावर्ता ७ पुष्कला और ८ पुष्कलावती। इन क्षेत्रोंके बीचमें आठ मूल पत्तन हैं—१ क्षेमा, २ क्षेमपुरी, ३ अरिष्टा, ४ अरिष्टपुरी ५ खड्गा, ६ मञ्जूषा ७ औषधी और पुण्डरीकिणी। प्रत्येक क्षेत्रके बीचमें गंगा और सिन्धु नामकी दो दो नदियां हैं जो नील पर्वतसे निकली हैं और सीता नदीमें मिल गई हैं। प्रत्येक क्षेत्रमें एक एक विजयार्द्ध पर्वत है। प्रत्येक क्षेत्रमें विजयार्ध पर्वतसे उत्तरकी ओर और नील पर्वतसे दक्षिणकी ओर वृषभगिरि नामक पर्वत है। इस पर्वतपर चक्रवर्ती अपनी प्रसिद्धि लिखते हैं। आठों ही क्षेत्रोंमें छह छह खण्ड हैं–पाँच पाँच म्लेच्छ और एक एक आर्य खण्ड। आठों ही आर्यखण्डोंमें एक एक उपसमुद्र है। प्रत्येक क्षेत्रमें सीतानदीके अन्तमें व्यन्तरदेव रहते हैं जो चक्रवर्तियों द्वारा वशमें किये जाते हैं।

सीता नदीसे दक्षिण दिशामें भी आठ क्षेत्र हैं, पूर्वदिशामें वनवेदी है, वनवेदीके बाद वक्षारपर्वत, विभङ्गानदी, वक्षारपर्वत, विभङ्गानदी, वक्षारपर्वत, विभङ्गानदी, वक्षारपर्वत और वनवेदी ये क्रमसे नौ स्थान हैं। इनके द्वारा विभक्त हो जानेसे आठ क्षेत्र हो जाते

हैं—१ वत्सा, २ सुवत्सा, ३ महावत्सा, ४ वत्सकावती, ५ रम्या, ६ रम्यका, ७ रमणीया, ८ मङ्गलावती। इन आठ क्षेत्रोंके मध्यमें आठ मूलपत्तन हैं—१ सुसीमा, २ कुण्डला, ३ अपराजिता, ४ प्रभङ्करी, ५ अङ्कवती, ६ पद्मावती, ७ शुभा, ८ रत्नसंचया। आठों क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो दो गङ्गा-सिन्धु नदियाँ बहती हैं जो निषध पर्वतसे निकली हैं और सीता नदीमें मिल गई हैं। आठों क्षेत्रोंके मध्यमें आठ विजयार्द्ध पर्वत भी हैं। उक्त आठ नगरियोंसे उत्तरमें सीतानदीके दक्षिण पार्श्वोंमें आठ उपसमुद्र हैं। निषधपर्वतसे उत्तरमें और विजयार्द्ध पर्वतोंसे दक्षिणमें आठ वृषभगिरि हैं जिनपर चक्रवर्ती अपने अपने दिग्विजयके वर्णनको लिखते हैं। आठों क्षेत्र दो खण्डों (५ म्लेच्छ और १ आर्य) से शोभायमान हैं। सीता नदीमें मागधवरतनुप्रभास नामक व्यन्तरदेव रहते हैं।

सीतोदा नदी अपरविदेहके बीचसे निकलकर पश्चिम समुद्रमें मिली है। उसके द्वारा दो विदेह हो गये हैं—दक्षिणविदेह और उत्तर विदेह। उत्तर विदेहका वर्णन पूर्वविदेहके समान ही है।

सीतोदा नदीके दक्षिण तटपर जो क्षेत्र हैं उनके नाम—१ पद्मा, २ सुपद्मा, ३ महापद्मा, ४ पद्मकावती, ५ शङ्खा, ६ नलिना, ७ कुमुदा, ८ सरिता।

इन क्षेत्रोंके मध्यकी आठ मूल नगरियोंके नाम—१ अश्वपुरी, २ सिंहपुरी, ३ महापुरी, ४ विजयापुरी, ५ अरजा, ६ विरजा ७ अशोका, ८ वीतशोका। सीतोदा नदीके उत्तर तट पर जो आठ क्षेत्र हैं उनके नाम—१ वप्रा, २ सुवप्रा, ३ महावप्रा, ४ वप्रकावती, ५ गन्धा, ६ सुगन्धा, ७ गन्धिला, ८ गन्धमादिनी। इन क्षेत्रोंसम्बन्धी आठ मूलनगरियोंके नाम—१ विजया, वैजयन्ती, ३ जयन्ती, ४ अपराजिता, ५ चक्रा, ६ खड्गा, ७ अयोध्या, ८ अवध्या। क्षेत्र और पश्चिम समुद्रकी वेदीके मध्यमें भूतारण्य वन है।

नील और रुक्मि पर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें रम्यक क्षेत्र है। रम्यक क्षेत्रमें मध्यम भोगभूमिकी रचना है। इसका वर्णन हरि क्षेत्रके समान है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें गन्धवान् पर्वत है।

रुक्मि और शिखरिपर्वत तथा पूर्व और पश्चिम समुद्रके बीचमें हैरण्यवत क्षेत्र है। इस क्षेत्रमें जघन्य भोगभूमिकी रचना है। इसका वर्णन हैमवत क्षेत्रके समान है। हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें माल्यवान् पर्वत है।

शिखरिपर्वत और पूर्व, अपर, उत्तर समुद्रके बीचमें ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षेत्रका वर्णन भरत क्षेत्रके समान है।

पाँचों मेरु सम्बन्धी ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ विदेह इस प्रकार १५ कर्मभूमियाँ हैं।

५ हैमवत, ५ हरि, ५ रम्यक, ५ हैरण्यवत, ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु इस प्रकार ३० भोगभूमियाँ हैं।

विकलत्रयजीव कर्मभूमिमें ही होते हैं। लेकिन समवसरणमें नहीं होते हैं। कर्मभूमिसे अतिरिक्त मनुष्यलोकमें, पाताललोकमें और स्वर्गोंमें भी विकलत्रय नहीं होते हैं।

क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले पर्वतोंके नाम—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

भरत आदि सात क्षेत्रोंका विभाग करनेवाले, पूर्वसे पश्चिम तक लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी ये अनादिनिधननामवाले छह पर्वत हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रकी सीमापर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत

हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरिक्षेत्रकी सीमापर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत महाहिमवान् पर्वत है। हरि और विदेह क्षेत्रकी सीमापर चार सौ योजन ऊँचा और सौ योजन भूमिगत निषध पर्वत है। विदेह और रम्यक क्षेत्रकी सीमापर चार सौ योजन ऊँचा और एक सौ योजन भूमिगत नील पर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रकी सीमापर दो सौ योजन ऊँचा और पचास योजन भूमिगत रुक्मि पर्वत हैं। हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रकी सीमापर सौ योजन ऊँचा और पच्चीस योजन भूमिगत शिखरी पर्वत है।

पर्वतोंके रंगका वर्णन—

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

उन पर्वतोंका रंग सोना, चाँदी, सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी और सोनेके समान है।

हिमवान् पर्वतका वर्ण सोनेके समान अथवा चीनके वस्त्रके समान पीला है। महाहिमवान्का रङ्ग चाँदीके समान सफेद है। निषध पर्वतका रंग तपे हुये सोनेके समान लाल है। नील पर्वतका वर्ण वैडूर्यमणिके समान नील है। रुक्मी पर्वतका वर्ण चाँदीके समान सफेद है। शिखरी पर्वतका रंग सोनेके समान पीला है।

पर्वतोंका आकार—

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

उन पर्वतोंके तट नाना प्रकारके मणियोंसे शोभायमान हैं जो देव, विद्याधर और चारण ऋषियोंके चित्तको भी चमत्कृत कर देते हैं। पर्वतोंका विस्तार ऊपर, नीचे और मध्यमें समान है।

पर्वतोंपर स्थित सरोवरोंके नाम—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

हिमवान् आदि पर्वतोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं।

प्रथम सरोवरकी लम्बाई चौड़ाई—

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

हिमवान् पर्वतके ऊपर स्थित प्रथम सरोवर एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है। इसका तल भाग वज्रमय और तट नाना रत्नमय है।

प्रथम सरोवरकी गहराई—

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

पद्म सरोवर दश योजन गहरा है।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

पद्म सरोवरके मध्यमें एक योजन विस्तारवाला कमल है। एक कोस लम्बे उसके पत्ते हैं और दो कोस विस्तारयुक्त कर्णिका है। कर्णिकाके मध्यमें एक कोस प्रमाण विस्तृत श्री देवीका प्रासाद है। वह कमल जलसे दो कोस ऊपर है। पत्र और कर्णिकाके विस्तार सहित कमलका विस्तार एक योजन होता है।

अन्य सरोवरोंके विस्तार आदिका वर्णन--

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

आगेके सरोवरों और कमलोंका विस्तार प्रथम सरोवर और उसके कमलके विस्तारसे दूना दूना है। अर्थात् महापद्म दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा और बीस योजन गहरा है। इसके कमलका विस्तार दो योजन है। इसी प्रकार महापद्मके विस्तारसे दूना विस्तार तिगिञ्छ ह्रदका है। केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ह्रदोंका विस्तार क्रमसे तिगिञ्छ, महापद्म और पद्म ह्रदके विस्तारके समान है। इनके कमलोंका विस्तार भी तिगिञ्छ आदिके कमलोंके विस्तारके समान है।

कमलोंमें रहनेवाली देवियोंके नाम--

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

उन पद्म आदि सरोवरोंके कमलों पर क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियाँ सामानिक और परिषद् जातिके देवों के साथ निवास करती हैं। देवियों की आयु एक पल्य है।

छहों कमलोंकी कर्णिकाओंके मध्यमें एक कोस लम्बे, अर्द्धकोस चौड़े और कुछ कम एक कोस ऊँचे इन देवियोंके प्रासाद हैं जो अपनी कान्तिसे शरदऋतुके निर्मल चन्द्रमा की प्रभाको भी तिरस्कृत करते हैं। कमलोंके परिवार कमलों पर सामानिक और परिषद् देव रहते हैं। श्री, ह्री और धृति देवियाँ अपने अपने परिवार सहित सौधर्म इन्द्रकी सेवामें तत्पर रहती हैं और कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ ऐशान इन्द्रकी सेवामें तत्पर रहती हैं।

नदियोंका वर्णन--

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

गङ्गा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह नदियाँ भरत आदि सात क्षेत्रोंमें बहती हैं।

नदियोंके बहनेका क्रम--

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

दो दो नदियोंमें से पहिली पहिली नदी पूर्व समुद्रमें जाती है। अर्थात् गङ्गा-सिन्धुमें गङ्गा नदी पूर्व समुद्रको जाती है, रोहित्-रोहितस्यामें रोहित् नदी पूर्व समुद्रको जाती है। यही क्रम आगे भी है।

हिमवान् पर्वतके ऊपर जो पद्म ह्रद है उसके पूर्व तोरणद्वारसे गङ्गा नदी निकली है जो विजयार्द्ध पर्वतको भेदकर म्लेच्छ खण्डमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिल जाती है। पद्मह्रदके पश्चिम तोरणद्वारसे सिन्धु नदी निकली है जो विजयार्द्ध पर्वत को भेदकर म्लेच्छ खण्डमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। ये दोनों नदियाँ भरत क्षेत्रमें बहती हैं। हिमवान् पर्वतके ऊपर स्थित पद्मह्रदके उत्तर तोरणद्वारसे रोहितास्या नदी निकली है जो जघन्य भोगभूमिमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। महापद्मह्रदके दक्षिण तोरण-

द्वारसे रोहित् नदी निकली है जो जघन्य भोगभूमिमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिल जाती है। रोहित और रोहितास्या नदी हैमवत क्षेत्रमें बहती हैं। महापद्महृदके उत्तरतोरण-द्वारसे हरिकान्ता नदी निकली है जो मध्यम भोगभूमिमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। निषध पर्वतके ऊपर स्थित तिगिञ्छ हृदके दक्षिण तोरणद्वारसे हरित नदी निकली है जो मध्यम भोगभूमिमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिलती है। हरित और हरिकान्ता नदियाँ हरिक्षेत्रमें बहती हैं।

तिगिञ्छ हृदके उत्तर तोरणद्वारसे सीतोदा नदी निकली है जो अपरविदेह और उत्तम भोगभूमिमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती हैं। नील पर्वतपर स्थित केसरी हृदके दक्षिण तोरणद्वारसे सीता नदी निकली है जो उत्तम भोगभूमि और पूर्व विदेहमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिल जाती हैं। सीता और सीतोदा नदियाँ विदेह क्षेत्रमें बहती हैं।

केसरी हृदके उत्तर तोरणद्वारसे नरकान्ता नदी निकली है जो मध्यम भोगभूमिमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। रुक्मि पर्वतपर स्थित महापुण्डरीक हृदके दक्षिण तोरणद्वारसे नारी नदी निकली है जो मध्यम भोगभूमिमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिल जाती है। नारी और नरकान्ता नदी रम्यक क्षेत्रमें बहती हैं।

महापुण्डरीक हृदके उत्तर तोरणद्वारसे रूप्यकूला नदी निकली है जो जघन्य भोगभूमिमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। शिखरी पर्वतपर स्थित पुण्डरीक हृदके दक्षिण तोरणद्वारसे सुवर्णकूला नदी निकली है जो जघन्य भोगभूमिमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिलती है। सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी हैरण्यवत क्षेत्रमें बहती हैं।

पुण्डरीक हृदके पश्चिम तोरणद्वारसे रक्तोदा नदी निकली है जो विजयार्द्ध पर्वतको भेदकर म्लेच्छ खण्डमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिल जाती है। पुण्डरीक हृदके पूर्व तोरण-द्वारसे रक्ता नदी निकली है जो विजयार्ध पर्वतको भेदकर म्लेच्छ खण्डमें बहती हुई पूर्व समुद्रमें मिलती है। रक्ता और रक्तोदा नदी ऐरावत क्षेत्रमें बहती है।

देवकुरुके मध्यमें सीतोदा नदी सम्बन्धी पाँच हृद हैं। प्रत्येक हृदके पूर्व और पश्चिम तटोंपर पाँच पाँच सिद्धकूट नामक क्षुद्र पर्वत हैं। इस प्रकार पाँचों हृदोंके तटोंपर पचास क्षुद्र पर्वत है। ये पर्वत पचास योजन लम्बे, पच्चीस योजन चौड़े और सैंतीस योजन ऊँचे हैं। प्रत्येक पर्वतके ऊपर अष्टप्रातिहार्यसंयुक्त, रत्न, सुवर्ण और चाँदीसे निर्मित, पल्यङ्कासनारूढ़ और पूर्वाभिमुख एक एक जिनप्रतिमा है।

अपर विदेहमें भी सीतोदा नदी सम्बन्धी पाँच हृद हैं। इन हृदोंके दक्षिण और उत्तर तटोंपर पाँच पाँच सिद्धकूट नामके क्षुद्र पर्वत हैं। अन्य वर्णन पूर्ववत् है।

इसी प्रकार उत्तर कुरुमें सीता नदी सम्बन्धी पाँच हृद हैं। इन हृदोंके पूर्व और पश्चिम तटोंपर पूर्ववत् पचास सिद्धकूट पर्वत हैं। पूर्व विदेहमें भी सीता नदी सम्बन्धी पाँच हृद हैं। इन हृदोंके दक्षिण और उत्तर तटोंपर पचास सिद्धकूट पर्वत हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीपके मेरु सम्बन्धी सिद्धकूट दो सौ हैं और पाँचों मेरु सम्बन्धी सिद्धकूटोंकी संख्या एक हजार है।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

पूर्व सूत्रमें कही गई नदियोंसे शेष बची हुई नदियाँ पश्चिम समुद्रको

जाती हैं। अर्थात् गङ्गा और सिन्धुमें से सिन्धु पश्चिम समुद्रको जाती है। यही क्रम आगे भी है।

नदियोंका परिवार—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

गङ्गा सिन्धु आदि नदियाँ चौदह हजार परिवार नदियोंसे सहित हैं।

यद्यपि बीसवें सूत्र गत 'सरितस्तन्मध्यगाः' इस वाक्यमें आये हुये सरित् शब्दसे इस सूत्रमें भी नदीका सम्बन्ध हो जाता क्योंकि यह नदियोंका प्रकरण है फिर भी इस सूत्रमें 'नद्यः' शब्दका ग्रहण यह सूचित करता है कि आगे आगेकी युगल नदियोंके परिवारनदियों-की संख्या पूर्व पूर्वकी संख्यासे दूनी दूनी है।

यदि 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता नद्यः' इतना ही सूत्र बनाते तो 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस नियमके अनुसार 'शेषास्त्वपरगाः' इस सूत्रमें कथित पश्चिम समुद्रको जानेवाली नदियोंका ही यहाँ ग्रहण होता। और 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गाद्या नद्यः' ऐसा सूत्र करनेपर पूर्व समुद्रको जानेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। अतः सब नदियोंका ग्रहण करनेके लिये 'गङ्गासिन्ध्वादयो' वाक्य सूत्रमें आवश्यक है।

गंगा और सिन्धु नदियोंकी परिवार नदियां चौदह चौदह हजार, रोहित और रोहितास्या नदियोंकी परिवार नदियाँ अट्ठाईस अट्ठाईस हजार, हरित और हरिकान्ता नदियोंकी परिवार नदियाँ छप्पन छप्पन हजार, सीता और सीतोदा नदियोंमें प्रत्येककी परिवार नदियां एक लाख बारह हजार हैं। नारी और नरकान्ता, सुवर्णकूला और रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियोंके परिवार नदियोंकी संख्या क्रमसे हरित और हरिकान्ता, रोहित और रोहितास्या, गंगा और सिन्धु नदियोंके परिवार नदियोंकी संख्याके समान है।

भोगभूमिकी नदियोंमें त्रस जीव नहीं होते हैं। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मूल नदियाँ अठत्तर हैं। इनकी परिवार नदियोंकी संख्या पन्द्रह लाख बारह हजार है। जम्बूद्वीपमें विभंग नदियाँ बारह हैं।

इस प्रकार पञ्चमेरु सम्बन्धी मूल नदियां तीन सौ नव्वे हैं और इनकी परिवार नदियोंकी संख्या पचत्तर लाख साठ हजार है। विभंग नदियोंकी संख्या साठ है।

भरत क्षेत्रका विस्तार—

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागाः योजनस्य ॥२४॥

भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें से छह भाग है। $526\frac{6}{19}$ योजन विस्तार है।

आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

आगे आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार भरत ... जयार्द्ध पर्वत ... मल जाती है
लेकिन यह क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त ही है। ये दोनों क्रमिक विस्तारसे ...
विस्तार विदेह क्षेत्रके विस्तारसे आधा आधा ... तर तोरण ... उत्तरके पर्व...
भरत क्षेत्रके विस्तारसे हिमवान् ... मुद्रमें ... विदेह क्षेत्रसे ...
... होता गया है।

से हैमवत क्षेत्रका विस्तार दूना है। यही क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त है। विदेह क्षेत्रके विस्तारसे नील पर्वतका विस्तार आधा है, नील पर्वतके विस्तारसे रम्यक क्षेत्रका विस्तार आधा है। यह क्रम ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

उत्तरके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार दक्षिण ओरके क्षेत्र और पर्वतोंके विस्तारके समान है। अर्थात् रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रोंका विस्तार क्रमसे हरि, हैमवत और भरतक्षेत्रके विस्तारके समान है। नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतोंका विस्तार क्रमसे निषध, महाहिमवान् और हिमवान् पर्वतोंके विस्तारके बराबर है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका परिवर्तन—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छह समयों द्वारा जीवोंकी आयु, काय, सुख, आदिकी वृद्धि और हानि होती रहती है। क्षेत्रोंकी हानि वृद्धि नहीं होती। कोई आचार्य 'भरतैरावतयोः' पदमें षष्ठी द्विवचन न मानकर सप्तमीका द्विवचन मानते हैं। उनके मतसे भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्रकी वृद्धि और हानि नहीं होती किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु-उपभोग आदिकी वृद्धि और हानि होती है। उत्सर्पिणी कालमें आयु और उपभोग आदिकी वृद्धि और अवसर्पिणी कालमें हानि होती है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह छह भेद हैं। अवसर्पिणी कालके छह भेद— १ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुषमा, ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा, ६ अतिदुःषमा। उत्सर्पिणी कालके छह भेद—१ अतिदुःषमा, २ दुषमा, ३ दुःषमसुषमा, ४ सुषमदुःषमा, ५ सुषमा, ६ सुषमसुषमा।

यद्यपि वर्तमानमें अवसर्पिणी काल होनेसे सूत्रमें अवसर्पिणीका ग्रहण पहिले होना चाहिये लेकिन उत्सर्पिणी शब्दको अल्प स्वरवाला होनेसे पहिले कहा है।

सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषमसुषमा व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषमा इक्कीस हजार वर्ष और अतिदुःषमा इक्कीस हजार वर्षका है।

अवसर्पिणीके प्रथम कालमें उत्तम भोगभूमिकी, द्वितीय कालमें मध्यम भोगभूमिकी और तृतीय कालमें जघन्य भोगभूमिकी रचना होती है। तृतीय कालमें पल्यके आठवें भाग बाकी रहनेपर सोलह कुलकर उत्पन्न होते हैं। पन्द्रह कुलकरोंकी मृत्यु तृतीय कालमें ही हो जाती है लेकिन सोलहवें कुलकरकी मृत्यु चौथे कालमें होती है।

प्रथम कुलकरकी आयु पल्यके दशम भाग प्रमाण है। ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्षोंकी ज्योति के मन्द हो जानेके कारण चन्द्र और सूर्यके दर्शनसे मनुष्योंको भयभीत होनेपर प्रथम कुलकर उनके भयका निवारण करता है। द्वितीय कुलकरकी आयु पल्यके सौ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। द्वितीय कुलकरके समयमें ताराओंको देखकर भी लोग डरने लगते हैं अतः वह उनके भयको दूर करता है। तृतीय कुलकरकी आयु पल्यके हजार भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उत्पन्न भयका परिहार करता है। चतुर्थ कुलकरकी आयु पल्यके दश हजार भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह

जाती हैं। अर्थात् गङ्गा और सिन्धुमें से सिन्धु पश्चिम समुद्रको जाती है। यही क्रम आगे भी है।

नदियोंका परिवार—

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

गङ्गा सिन्धु आदि नदियाँ चौदह हजार परिवार नदियोंसे सहित हैं।

यद्यपि बीसवें सूत्र गत 'सरितस्तन्मध्यगाः' इस वाक्यमें आये हुये सरित् शब्दसे इस सूत्रमें भी नदीका सम्बन्ध हो जाता क्योंकि यह नदियोंका प्रकरण है फिर भी इस सूत्रमें 'नद्यः' शब्दका ग्रहण यह सूचित करता है कि आगे आगेकी युगल नदियोंके परिवारनदियों-की संख्या पूर्व पूर्वकी संख्यासे दूनी दूनी है।

यदि 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता नद्यः' इतना ही सूत्र बनाते तो 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस नियमके अनुसार 'शेषास्त्वपरगाः' इस सूत्रमें कथित पश्चिम समुद्रको जानेवाली नदियोंका ही यहाँ ग्रहण होता। और 'चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गादयो नद्यः' ऐसा सूत्र करनेपर पूर्व समुद्रको जानेवाली नदियोंका ही ग्रहण होता। अतः सब नदियोंको ग्रहण करनेके लिये 'गङ्गासिन्ध्वादयो' वाक्य सूत्रमें आवश्यक है।

गंगा और सिन्धु नदियोंकी परिवार नदियाँ चौदह चौदह हजार, रोहित और रोहितास्या नदियोंकी परिवार नदियाँ अट्ठाईस अट्ठाईस हजार, हरित और हरिकान्ता नदियोंकी परिवार नदियाँ छप्पन छप्पन हजार, सीता और सीतोदा नदियोंमें प्रत्येककी परिवार नदियाँ एक लाख बारह हजार हैं। नारी और नरकान्ता, सुवर्णकूला और रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियोंके परिवार नदियोंकी संख्या क्रमसे हरित और हरिकान्ता, रोहित और रोहितास्या, गंगा और सिन्धु नदियोंके परिवार नदियोंकी संख्याके समान है।

भोगभूमिकी नदियोंमें त्रस जीव नहीं होते हैं। जम्बूद्वीप सम्बन्धी मूल नदियाँ अठत्तर हैं। इनकी परिवार नदियोंकी संख्या पन्द्रह लाख बारह हजार है। जम्बूद्वीपमें विभंग नदियाँ बारह हैं।

इस प्रकार पञ्चमेरु सम्बन्धी मूल नदियाँ तीन सौ नव्वे हैं और इनकी परिवार नदियोंकी संख्या पचत्तर लाख साठ हजार है। विभंग नदियोंकी संख्या साठ है।

भरत क्षेत्रका विस्तार—

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकोनविंशतिभागाः योजनस्य ॥२४॥

भरत क्षेत्रका विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें से छह भाग है। ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन विस्तार है।

आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ ...ला है

...मल जाती ने

आगे आगेके पर्वत और क्षेत्रोंका विस्तार भरत क्षेत्र... जयार्द्ध पर्वत ...त्रके विस्तारसे दूना दूना है। लेकिन यह क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त ही है।। विदेहने ... क्षेत्रसे उत्तरके पर्वतों और क्षेत्रोंका विस्तार विदेह क्षेत्रके विस्तारसे आधा आधा होता गया है। रसे

भरत क्षेत्रके विस्तारसे हिमवान् पर्वतका विस्ती तार दूना है। हिमवान् पर्वतके विस्तार-

से हैमवत क्षेत्रका विस्तार दूना है। यही क्रम विदेह क्षेत्र पर्यन्त है। विदेह क्षेत्रके विस्तार-से नील पर्वतका विस्तार आधा है, नील पर्वतके विस्तारसे रम्यक क्षेत्रका विस्तार आधा है। यह क्रम ऐरावत क्षेत्र पर्यन्त है।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

उत्तरके क्षेत्र और पर्वतोंका विस्तार दक्षिण ओरके क्षेत्र और पर्वतोंके विस्तारके समान है। अर्थात् रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रोंका विस्तार क्रमसे हरि, हैमवत और भरतक्षेत्रके विस्तारके समान है। नील, रुक्मि और शिखरी पर्वतोंका विस्तार क्रमसे निषध, महाहिमवान् और हिमवान् पर्वतोंके विस्तारके बराबर है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें कालका परिवर्तन—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छह समयों द्वारा जीवोंकी आयु, काय, सुख, आदिकी वृद्धि और हानि होती रहती है। क्षेत्रोंकी हानि वृद्धि नहीं होती। कोई आचार्य 'भरतैरावतयोः' पदमें षष्ठी द्विवचन न मानकर सप्तमीका द्विवचन मानते हैं। उनके मतसे भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र-की वृद्धि और हानि नहीं होती किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें रहनेवाले मनुष्योंकी आयु-उपभोग आदिकी वृद्धि और हानि होती है। उत्सर्पिणी कालमें आयु और उपभोग आदिकी वृद्धि और अवसर्पिणी कालमें हानि होती है।

प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छह छह भेद हैं। अवसर्पिणी कालके छह भेद— १ सुषमसुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमदुःषमा, ४ दुःषमसुषमा, ५ दुःषमा, ६ अतिदुःषमा। उत्सर्पिणी कालके छह भेद—१ अतिदुःषमा, २ दुषमा, ३ दुःषमसुषमा, ४ सुषमदुःषमा, ५ सुषमा, ६ सुषमसुषमा।

यद्यपि वर्तमानमें अवसर्पिणी काल होनेसे सूत्रमें अवसर्पिणीका ग्रहण पहिले होना चाहिये लेकिन उत्सर्पिणी शब्दको अल्प स्वरवाला होनेसे पहिले कहा है।

सुषमसुषमा चार कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमा तीन कोड़ाकोड़ी सागर, सुषमदुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषमसुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, दुःषमा इक्कीस हजार वर्ष और अतिदुःषमा इक्कीस हजार वर्षका है।

अवसर्पिणीके प्रथम कालमें उत्तम भोगभूमिकी, द्वितीय कालमें मध्यम भोगभूमिकी और तृतीय कालमें जघन्य भोगभूमिकी रचना होती है। तृतीय कालमें पल्यके आठवें भाग बाकी रहनेपर सोलह कुलकर उत्पन्न होते हैं। पन्द्रह कुलकरोंकी मृत्यु तृतीय कालमें ही हो जाती है लेकिन सोलहवें कुलकरकी मृत्यु चौथे कालमें होती है।

प्रथम कुलकरकी आयु पल्यके दशम भाग प्रमाण है। ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्षोंकी ज्योति के मन्द हो जानेके कारण चन्द्र और सूर्यके दर्शनसे मनुष्योंको भयभीत होनेपर प्रथम कुलकर उनके भयका निवारण करता है। द्वितीय कुलकरकी आयु पल्यके सौ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। द्वितीय कुलकरके समयमें ताराओंको देखकर भी लोग डरने लगते हैं अतः वह उनके भयको दूर करता है। तृतीय कुलकरकी आयु पल्यके हजार भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंसे उत्पन्न भयका परिहार करता है। चतुर्थ कुलकरकी आयु पल्यके दश हजार भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह

सिंह, व्याघ्र आदिके भयको निवारण करनेके लिये लाठी आदि रखना सिखाना है। पाँचवे कुलकरकी आयु पल्यके लाख भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह कल्पवृक्षों-की सीमाको वचन द्वारा नियत करता है क्योंकि उसके कालमें कल्पवृक्ष कम हो जाते हैं और फल भी कम लगते हैं। छठवें कुलकरकी आयु पल्यके दश लाख भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह गुल्म आदि चिन्होंसे कल्पवृक्षोंकी सीमाको नियत करता है क्योंकि उसके कालमें कल्पवृक्ष बहुत कम रह जाते हैं और फल भी अत्यल्प लगते हैं। सातवें कुलकरकी आयु पल्यके करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह शूरताके उपकरणोंका उपदेश और हाथी आदिपर सवारी करना सिखाता है। आठवें कुलकरकी आयु पल्यके दश करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह सन्तानके दर्शनसे उत्पन्न भयको दूर करता है। नवम कुलकरकी आयु पल्यके सौ करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह सन्तानको आशी-र्वाद देना सिखाता है। दशम कुलकरकी आयु पल्यके हजार करोड़ भागों में से एक भाग प्रमाण है। वह बालकोंके रोने पर चन्द्रमा आदिके दर्शन तथा अन्य क्रीड़ाके उपाय बत-लाता है। ग्यारहवें कुलकरकी आयु पल्यके हजार करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। उसके कालमें युगल (पुरुष और स्त्री) अपनी सन्तानके साथ कुछ दिन तक जीवित रहता है। बारहवें कुलकर की आयु पल्यके लाख करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह जल का पार करने के लिये नौका आदि की रचना कराना सिखाता तथा पर्वत आदिपर चढ़ने और उतरनेके लिये सीढ़ी आदिको बनवानेका उपाय बताता है। उसके कालमें युगल अपनी सन्तानके साथ बहुत काल तक जीवित रहता है। मेघोंके अल्प होनेके कारण वर्षा भी अल्प होती है। इस कारणसे छोटी छोटी नदियाँ और छोटे छोटे पर्वत भी हो जाते हैं। तेरहवें कुलकरकी आयु पल्यके दश लाख करोड़ भागोंमें से एक भाग प्रमाण है। वह जरायु (गर्भजन्मसे उत्पन्न प्राणियों के जरायु होती है) आदिके मलको दूर करना सिखाता है। चौदहवें कुलकरकी आयु पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है। वह सन्तानके नाभिनाल को काटना सिखाता है। उसके कालमें प्रचुर मेघ अधिक वर्षा करते हैं। बिना बोये धान्य पैदा होता है। वह धान्यको खानेका उपाय तथा अभक्ष्य औषधि और अभक्ष्य वृक्षोंका त्याग बतलाता है। पन्द्रहवाँ कुलकर तीर्थंकर होता है। सोलहवां कुलकर उसका पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनोंकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी होती है।

सुषमदुषमा नामक चौथे कालके आदिमें मनुष्य विदेह क्षेत्रके मनुष्योंके समान पांच सौ धनुष ऊँचे होते हैं। इस कालमें तेईस तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और मुक्त भी होतेहैं। ग्यारह चक्रवर्ती, नव बलभद्र, नव वासुदेव, नव प्रति वासुदेव और ग्यारह रुद्र भी इस काल-में उत्पन्न होते हैं। वासुदेवोंके कालमें नव नारद भी उत्पन्न होते हैं तथा ये कलहप्रिय होनेके कारण नरक जाते हैं। चौथे कालके अन्तमें मनुष्योंकी आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीरकी ऊँचाई सात हाथ रह जाती है। दुःषमा नामक पञ्चम कालके आदिमें मनुष्योंकी आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीर की ऊँचाई सात हाथ होती है। और अन्तमें आयु बीस वर्ष और शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ रह जाती है

अतिदुःषमा नामक छठवें कालके आदिमें मनुष्योंकी आयु बीस वर्ष होती है और अन्तमें आयु सोलह वर्ष और शरीरकी ऊँचाई एक हाथ रह जाती है। छठवें कालके अन्तमें प्रलय काल आता है। प्रलय कालमें सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष और क्षारमेघ क्रमसे सात सात दिन बरसते हैं। सम्पूर्ण आर्य खण्डमें प्रलय होने पर मनुष्यों-के बहत्तर युगल शेष रह जाते हैं। चित्राभूमि निकल आती है। बराबर हो जाती है। इस

प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका अवसर्पिणी काल समाप्त होता है। इसके बाद दश कोड़ाकोड़ी सागरका उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होता है।

उत्सर्पिणीके अतिदुषमा नामक प्रथम कालके आदिमें उनचास दिन पर्यन्त लगातार क्षीरमेघ बरसते हैं, पुनः अमृतमेघ भी उतने ही दिन पर्यन्त बरसते हैं। आदिमें मनुष्योंकी आयु सोलह वर्ष और शरीरकी ऊँचाई एक हाथ रहती है और अन्तमें आयु बीस वर्ष और शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ हो जाती है। मेघोंके बरसनेसे पृथिवी कोमल हो जाती है। ओषधि, तरु, गुल्म, तृण आदि रससहित हो जाते हैं। पूर्वोक्त युगल बिलोंसे निकलकर सरस धान्य आदिके उपभोगसे सहर्ष रहते हैं।

दुषमा नामक द्वितीय कालके आदिमें मनुष्योंकी आयु बीस वर्ष और शरीरकी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ होती है। द्वितीय कालमें एक हजार वर्ष शेष रहने पर चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं। ये कुलकर अवसर्पिणी कालके पञ्चम कालके राजाओंकी तरह होते हैं। तेरह कुलकर द्वितीय कालमें ही उत्पन्न होते हैं और मरते भी द्वितीय कालमें ही हैं। लेकिन चौदहवाँ कुलकर उत्पन्न तो द्वितीय कालमें होता है लेकिन मरता तृतीय कालमें है। चौदहवें कुलकरका पुत्र तीर्थंकर होता है और तीर्थंकरका पुत्र चक्रवर्ती होता है। इन दोनोंकी उत्पत्ति तीसरे कालमें होती है।

दुषमसुषमा नामक तृतीय कालके आदिमें मनुष्योंकी आयु एक सौ बीस वर्ष और शरीरकी ऊँचाई सात हाथ होती है। और अन्तमें आयु कोटिपूर्व वर्ष और शरीरकी ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण होती है। इस कालमें शलाकापुरुष उत्पन्न होते हैं।

सुषमदुषमा नामक चौथे कालमें जघन्य भोगभूमिकी रचना, सुषमा नामक पञ्चम कालमें मध्यम भोगभूमिकी रचना और सुषमसुषमा नामक छठे कालमें उत्तम भोगभूमिकी रचना होती है।

चौथे, पाँचवें और छठवें कालमें एक भी ईति नहीं होती है। ज्योतिरङ्ग कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे रातदिनका विभाग भी नहीं होता है। मेघवृष्टि, शीतबाधा, उष्णबाधा, क्रूरमृगबाधा आदि कभी नहीं होती हैं। इस प्रकार दश कोड़ाकोड़ी सागरका उत्सर्पिणीकाल समाप्त हो जाता है। पुनः अवसर्पिणी काल आता है। इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका चक्र चलता रहता है। उत्सर्पिणीके दश कोड़ाकोड़ी सागर और अवसर्पिणीके दश कोड़ाकोड़ी सागर इस प्रकार बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्प होता है। एक कल्पमें भोगभूमिका काल अठारह कोड़ाकोड़ी सागर है। भोगभूमिके मनुष्य मधुरभाषी, सर्वकलाकुशल, समान भोग वाले, पसीनेसे रहित और ईर्ष्या, मात्सर्य, कृपणता, ग्लानि, भय, विषाद, काम आदिसे रहित होते हैं। उनको इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग नहीं होता। आयुके अन्तमें जँभाई लेनेसे पुरुषकी और छींकसे स्त्रीकी मृत्यु हो जाती है। वहाँ नपुंसक नहीं होते हैं। सब मृग(पशु) विशिष्ट घासका चरने वाले और समान आयुवाले होते हैं।

अन्य भूमियोंका वर्णन—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

भरत और ऐरावत क्षेत्रको छोड़कर अन्य भूमियाँ सदा अवस्थित रहती हैं। उनमें कालका परिवर्तन नहीं होता। हैमवत, हरि और देवकुरुमें क्रमसे अवसर्पिणी कालके तृतीय, द्वितीय और प्रथम कालकी सत्ता रहती है। इसी प्रकार हैरण्यवत, रम्यक और उत्तर कुरुमें भी कालकी अवस्थिति समझना चाहिये।

हैमवत आदि क्षेत्रोंमें आयुका वर्णन—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

हैमवत, हरिक्षेत्र तथा देवकुरुमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी आयु क्रमशः एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्यकी है। शरीरकी ऊंचाई क्रमशः दो हजार धनुष, चार हजार धनुष और छह हजार धनुष है। भोजन क्रमशः एक दिन बाद, दो दिन बाद तथा तीन दिन बाद करते हैं। शरीरका रंग क्रमसे नील कमलके समान, कुन्द पुष्पके समान और कांचन वर्ण होता है।

उत्तरके क्षेत्रोंमें आयुकी व्यवस्था—

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

उत्तरके क्षेत्रोंके निवासियोंकी आयु दक्षिण क्षेत्रोंके निवासियोंके समान ही है। अर्थात् हैरण्यवत,रम्यक क्षेत्र तथा उत्तर कुरुमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंकी आयु क्रमशः एक, दो और तीन पल्यकी है।

विदेह क्षेत्रमें आयुकी व्यवस्था—

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

विदेह क्षेत्रमें संख्यातवर्षकी आयु होती है। प्रत्येक मेरुसम्बन्धी पांच पूर्वविदेह और पांच अपर विदेह होते हैं। इन दोनों विदेहोंको महाविदेह कहते हैं। विदेहमें उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है।

विदेहमें सदा दुषमसुषमा काल रहता है। मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष है। वहाँके मनुष्य प्रतिदिन भोजन करते हैं।

सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्षोंके समूहका नाम एक पूर्व है। अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्षका पूर्व होता है।

भरत क्षेत्रका दूसरी तरहसे विस्तारवर्णन—

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

भरतक्षेत्रका विस्तार जम्बूद्वीपके एक सौ नव्वेवाँ भाग है। अर्थात् जम्बूद्वीपके एक सौ नव्वे भाग करने पर एक भाग भरत क्षेत्रका विस्तार है।

जम्बू द्वीपके अन्तमें एक वेदी है उसका विस्तार जम्बूद्वीपके विस्तारमें ही सम्मिलित है। इसी प्रकार सभी द्वीपोंकी वेदियोंका विस्तार द्वीपोंके विस्तारके अन्तर्गत ही है। लवण समुद्रके मध्यमें चारों दिशाओंमें पाताल नाम वाले अलञ्जलाकार चार बड़वानल हैं जो एक लाख योजन गहरे, मध्यमें एक लाख योजन विस्तारयुक्त और मुख तथा मूल में दश हजार योजन विस्तारवाले हैं। चारों विदिशाओंमें चार क्षुद्र बड़वानल भी हैं। जिनकी गहराई दश हजार योजन, मध्यमें विस्तार दश हजार योजन और मुख तथा मूलमें विस्तार एक हजार योजन है। इन आठ बड़वानलोंके आठ अन्तरालोंमें से प्रत्येक अन्तरालमें पंक्तिमें स्थित एक सौ पच्चीस बाडव हैं जिनकी गहराई एक हजार योजन, मध्य में विस्तार एक हजार योजन और मुख तथा मूलमें पाँच सौ योजन विस्तार है। इस प्रकार

बड़वानलोंकी संख्या एक हजार आठ है। इन बड़वानलोंके अन्तरालमें भी छोटे छोटे बहुत से बड़वानल हैं। प्रत्येक बड़वानलके तीन भाग हैं। नीचेके भागमें वायु, मध्य भागमें वायु और जल, और ऊपरके भागमें केवल जल रहता है। जब वायु धीरे धीरे नीचेके भागसे ऊपरके भागमें चढ़ती है तो मध्यम भागका जल वायुसे प्रेरित होनेके कारण ऊपरको चढ़ता है। इस प्रकार बड़वानलका जल समुद्रमें मिलनेके कारण समुद्रका जल तटके ऊपर आ जाता है। पुनः जब वायु धीरे धीरे नीचेको चली जाती है तब समुद्रका जल भी घट जाता है।

लवण समुद्रमें ही वेला (तट) है अन्य समुद्रोंमें नहीं। अन्य समुद्रोंमें बड़वानल भी नहीं हैं क्योंकि सब समुद्र एक हजार योजन गहरे हैं। लवण समुद्रका ही जल उन्नत है अन्य समुद्रोंका जल सम (बराबर) है।

लवणसमुद्रके जलका स्वाद नमकके समान, वारुणीसमुद्रके जलका स्वाद मदिरा के समान, क्षीर समुद्रके जलका स्वाद दूधके समान, घृतोद समुद्रके जलका स्वाद घृतके समान, कालोद, पुष्कर और स्वयम्भूरमण समुद्रके जलका स्वाद जलके समान और अन्य समुद्रोंके जलका स्वाद इक्षुरसके समान है।

लवण, कालोद और स्वयंभूरमण समुद्रमें ही जलचर जीव होते हैं, अन्य समुद्रोंमें नहीं। लवण समुद्रमें नदियोंके प्रवेश द्वारोंमें मत्स्योंका शरीर नौ योजन और समुद्रके मध्य में नदियोंके प्रवेश द्वारोंमें मत्स्योंके शरीरका विस्तार अठारह योजन और समुद्रके मध्यमें छत्तीस योजन है। स्वयंभूरमण समुद्रके तटपर रहनेवाली मछलियोंके शरीरका विस्तार पाँच सौ योजन और समुद्रके मध्यमें एक हजार योजन है। लवण, कालोद और पुष्करवर समुद्रमें ही नदियोंके प्रवेशद्वार हैं, अन्य समुद्रोंमें नहीं हैं। अन्य समुद्रों की वेदियाँ भित्ति के समान हैं।

धातकीखण्ड द्वीपका वर्णन—

द्विर्धातकीखण्डे ।। ३३ ।।

धातकीखण्ड द्वीपमें क्षेत्र, पर्वत आदि की संख्या आदि समस्त बातें जम्बूद्वीप से दूनी दूनी हैं।

धातकी खण्ड द्वीपकी दक्षिण दिशामें दक्षिणसे उत्तर तक लम्बा इष्वाकार नामक पर्वत है जो लवण और कालोद समुद्रकी वेदियोंको स्पर्श करता है। और उत्तर दिशामें भी इसी तरहका दूसरा इष्वाकार नामक पर्वत है। प्रत्येक पर्वत चार लाख योजन लम्बे हैं। दोनों इष्वाकार पर्वतोंसे धातकीखण्डके दो भाग हो गये हैं एक पूर्व धातकीखण्ड और दूसरा अपर धातकीखण्ड। प्रत्येक भागके मध्यमें एक एक मेरु है। पूर्वदिशामें पूर्वमेरु और पश्चिम दिशामें अपरमेरु है। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी भरतआदि सातक्षेत्र और हिमवान् आदि छह पर्वत हैं। इस प्रकार धातकीखण्डमें क्षेत्र और पर्वतोंकी संख्या जम्बूद्वीपसे दूनी है। जम्बूद्वीपमें हिमवान् आदि पर्वतोंका जो विस्तार है उससे दूना विस्तार धातकीखण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंका है लेकिन ऊँचाई और गहराई जम्बूद्वीपके समान ही है। इसी तरह विजयार्द्ध पर्वत और वृत्तवेदाढ्य पर्वतोंको संख्या भी जम्बूद्वीपके समान है। धातकीखण्डमें हिमवान् आदि पर्वत चक्रके आरे के समान हैं और क्षेत्र आरोंके छिद्रके आकारके हैं।

पुष्करद्वीपका वर्णन—

पुष्करार्धे च ॥ ३४ ॥

पुष्कर द्वीपके अर्द्धभाग में भी सब रचना जम्बूद्वीपसे दूनी है।

धातकीखण्ड द्वीपके समान पुष्करार्धमें भी दक्षिणसे उत्तर तक लम्बे और आठ लाख योजन विस्तृत दो इष्वाकार पर्वत हैं। इस कारण पुष्करार्द्धके दो भाग हो गये है। दोनों भागोंमें दो मेरु पर्वत हैं एक पूर्वमेरु और दूसरा अपरमेरु। प्रत्येक मेरुसम्बन्धी भरत आदि सात क्षेत्र और हिमवान् आदि छह पर्वत हैं। पुष्करार्ध द्वीपमें सारी रचना धातकीखण्ड द्वीपके समान ही है। विशेषता यह है कि पुष्करार्धके हिमवान् आदि पर्वतोंका विस्तार धातकीखण्डके हिमवान् आदि पर्वतोंके विस्तारसे दूना है। पुष्करद्वीपके मध्यमें गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है अतः इस पर्वतसे विभक्त होने के कारण इसका नाम पुष्करार्द्ध पड़ा। आधे पुष्कर द्वीपमें ही मनुष्य हैं अतः पुष्करार्द्ध का ही वर्णन यहाँ किया गया है।

मनुष्य क्षेत्रकी सीमा—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

मानुषोत्तर पर्वतके पहिले ही मनुष्य होते हैं, आगे नहीं। मानुषोत्तर पर्वतके बाहर विद्याधर और ऋद्धिप्राप्त मुनि भी नहीं जाते हैं। मनुष्य क्षेत्रके त्रस भी बाहर नहीं जाते हैं। पुष्करार्द्धकी नदियाँ भी मानुषोत्तरके बाहर नहीं बहती हैं।

जब मनुष्य क्षेत्रके बाहर मृत कोई तिर्यञ्च या देव मनुष्यक्षेत्रमें आता है तो मनुष्यगत्यानुपूर्वी नाम कर्मका उदय होनेसे मानुषोत्तरके बाहर भी उसको उपचारसे मनुष्य कह सकते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके समय भी मानुषोत्तरसे बाहर मनुष्य जाता है।

मनुष्योंके भेद—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

मनुष्योंके दो भेद हैं—आर्य और म्लेच्छ।

जो गुणोंसे सहित हों अथवा गुणवान् लोग जिनकी सेवा करें उन्हें आर्य कहते हैं। जो निर्लज्जतापूर्वक चाहे जो कुछ बोलते हैं वे म्लेच्छ हैं।

आर्योंके दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिप्राप्त आर्योंके ऋद्धियोंके भेदसे आठ भेद हैं। आठ ऋद्धियोंके नाम—बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र।

बुद्धि ऋद्धिप्राप्त आर्योंके अठारह भेद हैं। १ अवधिज्ञानी २ मनःपर्ययज्ञानी ३ केवलज्ञानी, ४ बीजबुद्धिवाले, ५ कोष्ठबुद्धिवाले, ६ सम्भिन्नश्रोत्री, ७ पदानुसारी, ८ दूरसे स्पर्श करनेमें समर्थ, ९ दूरसे रसास्वाद करनेमें समर्थ, १० दूरसे गंध ग्रहण करनेमें समर्थ, ११ दूरसे सुननेमें समर्थ, १२ दूरसे देखनेमें समर्थ, १३ दश पूर्वके ज्ञाता, १४ चौदह पूर्वके ज्ञाता, १५ आठ महा निमित्तोंके जाननेवाले, १६ प्रत्येक बुद्ध, १७ वाद विवाद करने वाले और १८ प्रज्ञाश्रमण। एक बीजाक्षरके ज्ञानसे समस्त शास्त्रका ज्ञान हो जानेको बीजबुद्धि कहते हैं। धान्यागारमें संगृहीत विविध धान्योंकी तरह जिस बुद्धिमें सुने हुये वर्ण आदिका बहुत कालतक विनाश नहीं होता है वह कोष्ठबुद्धि है।

क्रिया ऋद्धि दो प्रकारकी है—जंघादिचारणत्व और आकाशगामित्व। जंघादि-चारणत्वके नौ भेद हैं—

१ जंघाचारणत्व—भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करना।

२ श्रेणिचारणत्व—विद्याधरोंकी श्रेणिपर्यन्त आकाशमें गमन करना।

३ अग्निशिखाचारणत्व—अग्निकी ज्वालाके ऊपर गमन करना।

४ जलचारणत्व—जलको विना छुए जलपर गमन करना।

५ पत्रचारणत्व—पत्तेको बिना छुए पत्तेपर गमन करना।

६ फलचारणत्व—फलको बिना छुए फलपर गमन करना।

७ पुष्पचारणत्व—पुष्पको बिना छुए पुष्पपर गमन करना।

८ बीजचारणत्व—बीजको बिना छुए बीजपर गमन करना।

९ तन्तुचारणत्व—तन्तुको बिना छुए तन्तुपर गमन करना।

पैरोंके उत्क्षेपण और निक्षेपण (उठाना और रखना) के बिना आकाशमें गमन करना, पर्यङ्कासनसे आकाशमें गमन करना, ऊपरको स्थित होकर आकाशमें गमन करना, अथवा सामान्यरूपसे वैठकर आकाशमें गमन करना आकाशगामित्व है।

अणिमा आदिके भेदसे विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकारकी है।

अणिमा—शरीरको सूक्ष्म बना लेना अथवा (कमलनाल) में भी प्रवेश करके चक्रवर्तीके परिवारकी विभूतिको बना लेना अणिमा है।

महिमा—शरीरको बड़ा बना लेना महिमा है।

लघिमा—शरीरको छोटा बना लेना लघिमा है।

गरिमा—शरीरको भारी बना लेना गरिमा है।

प्राप्ति—भूमिपर रहते हुए भी अङ्गुलिके अग्र भागसे मेरुकी शिखर, चन्द्र, सूर्य आदिको स्पर्श करनेकी शक्तिका नाम प्राप्ति ऋद्धि है।

प्राकाम्य—जलमें भूमिकी तरह चलना और भूमिपर जलकी तरह गमन करना, अथवा जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, सैन्य आदिका बनाना प्राकाम्य है।

ईशित्व—तीन लोकके प्रभुत्वको पाना ईशित्व है।

वशित्व—सम्पूर्ण प्राणियोंको वशमें करनेकी शक्तिका नाम वशित्व है।

अप्रतीघात—पर्वत पर भी आकाशकी तरह गमन करना, अनेक रूपोंका बनाना अप्रतीघात है।

कामरूपित्व—मूर्त और अमूर्त अनेक आकारोंका बनाना कामरूपित्व है।

अन्तर्धान—रूपको अदृष्ट बना लेना।

तप ऋद्धिके सात भेद हैं—१ घोरतप, २ महातप, ३ उग्रतप, ४ दीप्ततप, ५ तप्ततप, ६ घोरगुणब्रह्मचारिता और ७ घोरपराक्रमता।

घोरतप—सिंह, व्याघ्र, चीता, स्वापद आदि दुष्टप्राणियोंसे युक्त गिरिकन्दरा आदि स्थानोंमें और भयानक श्मशानोंमें तीव्र आतप, शीत आदिकी बाधा होनेपर भी घोर उपसर्गोंका सहना घोरतप है।

महातप—पक्ष, मास, छह मास और एक वर्षका उपवास करना महातप है। एक वर्षके उपवासके उपरान्त पारणा होती है और केवलज्ञान भी हो जाता है। इसलिये एक वर्षसे अधिक उपवास नहीं होता है।

उग्रतप—पञ्चमीको, अष्टमीको और चतुर्दशीको उपवास करना और दो या तीन बार आहार न मिलने पर तीन, चार अथवा पाँच उपवास करना उग्रतप है।

दीप्ततप—शरीरसे बारह सूर्यों जैसी कान्तिका निकलना दीप्ततप है।

तप्ततप—तपे हुये लोहपिण्ड पर गिरी हुई जलकी बूँदकी तरह आहार ग्रहण करते हो आहारका पता न लगना अर्थात् आहारका पच जाना तप्ततप है।

घोरगुणब्रह्मचारिता—सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियोंसे सेवित होना घोरगुण-ब्रह्मचारिता है।

घोरपराक्रमता—मुनियोंको देखकर भूत, प्रेत, राक्षस, शाकिनी आदिका डर जाना घोरपराक्रमता है।

बलऋद्धिके तीन भेद हैं—मनोबल, वचनबल और कायबल।

मनोबल—अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण श्रुतको चिन्तन करनेकी सामर्थ्यका नाम मनोबल है।

वचनबल—अन्तर्मुहूर्तमें सम्पूर्ण श्रुतको पाठ करनेकी शक्तिका नाम वचनबल है।

कायबल—एक मास, चार मास, छह मास और एक वर्ष तक भी कायोत्सर्ग करनेकी शक्ति होना अथवा अङ्गुलीके अग्रभागसे तीनों लोकोंको उठाकर दूसरी जगह रखनेकी सामर्थ्यका होना कायबल है।

औषधऋद्धि आठ प्रकारकी है। जिन मुनियोंकी निम्न आठों बातोंके द्वारा प्राणियोंके रोग नष्ट हो जाते हैं वे मुनि औषधऋद्धिके धारी होते हैं।

१ विट् (मल) लेपन, २ मलका एकदेश नहीं बहती है ...३ आहारका स्पर्श, ४ सम्पूर्ण अङ्गके मलका स्पर्श, ५ निष्ठीवनका स्पर्श कोई ६ दन्त, केश, नख, मूत्र आदिका स्पर्श ७ क्रूरदृष्टिसे अवलोकन और ८ कृपासे दांतेस दिखाना।

रस ऋद्धिके छह भेद हैं—१ आस्यविष–किसी दृष्टिगत प्राणीको 'मर जाओ' ऐसा कहनेपर उस प्राणीका तत्क्षण ही मरण हो जाय—इस प्रकारकी सामर्थ्यका नाम आस्यविष अथवा वाग्विष है।

२ दृष्टिविष—किसी क्रुद्ध मुनिके द्वारा किसी प्राणीके देखे जानेपर उस प्राणीका उसी समय मरण हो जाय इस प्रकारकी सामर्थ्यका नाम दृष्टिविष है।

३ क्षीरस्रावी—नीरस भोजन भी जिन मुनियोंके हाथमें आनेपर क्षीरके समान स्वादयुक्त हो जाता है, अथवा जिनके वचन क्षीरके समान संतोष देनेवाले होते हैं वे क्षीरस्रावी कहलाते हैं।

४ मध्वास्रावी—नीरस भोजन भी जिन मुनियोंके हाथमें आनेपर मधुके स्वादको देनेवाला हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओंको मधुके समान लगते हैं वे मुनि मध्वास्रावी हैं।

५ सर्पिरास्रावी—नीरस भोजन भी जिनके हाथमें आनेपर घृतके स्वादयुक्त हो जाता है और जिनके वचन श्रोताओंको घृतके स्वाद जैसे लगते हैं वे मुनि सर्पिरास्रावी हैं।

६ अमृतास्रावी—जिनके हस्तगत भोजन अमृतके समान हो जाता है और जिनके वचन अमृत जैसे लगते हैं वे मुनि अमृतास्रावी हैं।

क्षेत्र ऋद्धिके दो भेद हैं। अक्षीणमहानसऋद्धि और अक्षीणआलयऋद्धि।

किसी मुनिको किसी घरमें भोजन करनेपर उस घरमें चक्रवर्तीके परिवारको भोजन करनेपर भी अन्नकी कमी न होनेकी सामर्थ्यका नाम अक्षीण महानस ऋद्धि है।

किसी मुनिको किसी मन्दिरमें निवास करनेपर उस स्थानमें समस्त देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोंको परस्पर बाधा रहित निवास करनेकी शक्तिका नाम अक्षीणालय ऋद्धि है।

ऋद्धिरहित आर्योंके पाँच भेद हैं— १ सम्यक्त्वार्य, २ चारित्रार्य, ३ कर्मार्य, ४ जात्यार्य और ५ क्षेत्रार्य।

व्रतरहित सम्यग्दृष्टी सम्यक्त्वार्य हैं।

चारित्रको पालने वाले यति चारित्रार्य हैं।

कर्मार्यों के तीन भेद हैं—सावद्य कर्मार्य, अल्पसावद्य कर्मार्य और असावद्यकर्मार्य।

सावद्य कर्मार्यके छह भेद हैं—असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्यकर्मार्य।

तलवार, धनुष्, बाण, छुरी, गदा, आदि नाना प्रकारके आयुधों को चलानेमें चतुर असि कर्मार्य हैं। आयव्यय आदि लिखने वाले अर्थात् मुनीम या क्लर्क मसिकर्मार्य हैं। खेती करने वाले कृषि कर्मार्य हैं। गणित आदि बहत्तर कलाओंमें प्रवीण विद्या कर्मार्य हैं। निर्णेजक नाई आदि शिल्प कर्मार्य हैं। धान्य, कपास, चन्दन, सुवर्ण आदि पदार्थों के व्यापार को करने वाले वाणिज्यकर्मार्य हैं।

श्रावक अल्प सावद्य कर्मार्य होते हैं और मुनि असावद्य कर्मार्य हैं।

इक्ष्वाकु आदि वंशमें उत्पन्न होने वाले जात्यार्य कहलाते हैं। वृषभनाथ भगवान्‌के कुलमें उत्पन्न होनेवाले इक्ष्वाकुवंशी, भरतके पुत्र अर्ककीर्ति के कुलमें उत्पन्न होनेवाले सूर्यवंशी, बाहुबलिके पुत्र सोमयशके कुलमें उत्पन्न होनेवाले सोमवंशी, सोमप्रभ श्रेयांसके कुलमें उत्पन्न होनेवाले कुरुवंशी, अकम्पन महाराज-के कुलमें उत्पन्न होनेवाले नाथवंशी, हरिकान्त राजाके कुलमें उत्पन्न होनेवाले हरिवंशी, यदुराजाके कुलमें उत्पन्न होनेवाले यादव, काश्यप राजाके कुलमें उत्पन्न होनेवाले उग्रवंशी कहलाते हैं।

कौशल, गुजरात, सौराष्ट्र, मालव, काश्मीर आदि देशोंमें उत्पन्न होनेवाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं।

म्लेच्छ दो प्रकारके होते हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज।

लवण समुद्रमें आठों दिशाओंमें आठ द्वीप हैं। इन द्वीपोंके अन्तरालमें भी आठ द्वीप हैं। हिमवान् पर्वतके दोनों पार्श्वोंमें दो द्वीप हैं। शिखरी पर्वतके दोनों पार्श्वोंमें दो द्वीप हैं। और दोनों विजयार्द्ध पर्वतोंके दोनों पार्श्वोंमें चार द्वीप हैं। इस प्रकार लवण समुद्रमें चौबीस द्वीप हैं, इनको कुभोगभूमि कहते हैं।

चारों दिशाओंमें जो चार द्वीप हैं वे समुद्र को वेदीसे पाँच सौ योजनकी दूरी पर हैं। इनका विस्तार सौ योजन है। चारों विदिशाओंके चार द्वीप और अन्तरालके आठ द्वीप समुद्रकी वेदीसे साढ़े पाँच सौ योजनकी दूरी पर हैं उनका विस्तार पचास योजन है। पर्वतोंके अन्तमें जो आठ द्वीप हैं वे समुद्रकी वेदीसे छह सौ योजनकी दूरी पर हैं। इनका विस्तार पच्चीस योजन है।

पूर्वदिशाके द्वीपमें एक पैर वाले मनुष्य होते हैं। दक्षिण दिशाके द्वीपमें मनुष्य शृङ्ग (सींग) सहित होते हैं। पश्चिम दिशाके द्वीपमें पूँछवाले मनुष्य होते हैं। उत्तर दिशाके द्वीपमें गूँगे मनुष्य होते हैं। आग्नेय दिशामें शश (खरहा) के समान कान वाले और नैर्ऋत्य दिशामें शष्कुलीके समान कानवाले मनुष्य होते हैं। वायव्य दिशामें मनुष्योंके कान इतने बड़े होते हैं कि वे उनको ओढ़ सकते हैं। ऐशान दिशामें मनुष्योंके लम्बे कान वाले मनुष्य होते हैं।

पूर्व और आग्नेयके अन्तरालमें अश्वके समान मुखवाले.आग्नेय और दक्षिणके अन्तराल में सिंहके समान मुखवाले,दक्षिण और नैर्ऋत्यके अन्तरालमें भषण-कुत्तेके समान मुखवाले, नैर्ऋत्य और पश्चिमके अन्तरालमें गर्वर (उल्लू) के समान मुखवाले, पश्चिम और वायव्यके अन्तरालमें शूकरके समान मुखवाले,वायव्य और उत्तरके अन्तरालमें व्याघ्रके समान मुखवाले, उत्तर और ऐशानके अन्तरालमें काकके समान मुखवाले और ऐशान और पूर्वके अन्तराल में कपि (बन्दर)के समान मुखवाले मनुष्य होते हैं।

हिमवान् पर्वतके पूर्व पार्श्वमें मछलीके समान मुखवाले और पश्चिम पार्श्वमें काले मुखवाले, शिखरी पर्वतके पूर्व पार्श्वमें मेघके समान मुखवाले और पश्चिम पार्श्वमें विद्युतके, दक्षिणदिशाके विजयार्द्धके पूर्व पार्श्वमें गायके समान मुखवाले और पश्चिम पार्श्वमें मेषके समान मुखवाले और उत्तरदिशामें विजयार्द्धके पूर्व पार्श्वमें हाथीके समान मुखवाले और पश्चिम पार्श्वमें दर्पणके समान मुखवाले मनुष्य होते हैं।

एक पैरवाले मनुष्य मिट्टी खाते हैं और गुहाओंमें रहते हैं। अन्य मनुष्य वृक्षोंके नीचे रहते हैं और फल-पुष्प खाते हैं। इनकी आयु एक पल्य और शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुप है।

उक्त चौबीस द्वीप लवणसमुद्रके भीतर हैं। इसी प्रकार लवणसमुद्रके बाहर भी चौबीस द्वीप हैं। लवण समुद्रके कालोदसमुद्रसम्बन्धी भी अड़तालीस द्वीप हैं। सब मिलाकर छ्यानवे म्लेच्छ द्वीप होते हैं। ये सब द्वीप जलसे एक योजन ऊपर हैं। इन द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं।

पुलिन्द, शबर, यवन, खस, बर्वर आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

कर्म भूमियोंका वर्णन—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरु एवं उत्तर कुरुको छोड़कर पाँच विदेह–इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

इसके अतिरिक्त भूमियाँ भोगभूमि हो हैं किन्तु अन्तर्द्वीपोंमें कल्पवृक्ष नहीं होते।

भोगभूमिके सब मनुष्य मरकर देव ही होते हैं। किसी आचार्यका ऐसा मत है कि चार अन्तर्द्वीप हैं वे कर्मभूमिके समीप हैं अतः उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य चारों गतियोंमें जा सकते हैं।

मानुषोत्तर पर्वतके आगे और स्वयम्भूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित स्वयंप्रभ पर्वतके पहिले जितने द्वीप हैं उन सबमें एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव ही होते हैं। ये द्वीप कुभोगभूमि कहलाते हैं। इनमें असंख्यात वर्षकी आयुवाले और एक कोस ऊँचे पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च ही होते है, मनुष्य नहीं। इनके आदिके चार गुणस्थान ही हो सकते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत सत्रह सौ इक्कीस योजन ऊँचा है, और चार सौ तीस योजन भूमिके अन्दर है, मूलमें एक सौ बाईस योजन,मध्यमें सात सौ तेतीस योजन, ऊपर चार सौ चौबीस योजन विस्तारवाला है। मानुषोत्तरके ऊपर चारों दिशाओंमें चार चैत्यालय हैं।

सर्वार्थसिद्धिको देनेवाला उत्कृष्ट शुभकर्म और सातवें नरकमें ले जानेवाला उत्कृष्ट अशुभ कर्म यहीं पर किया जाता है। तथा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि कर्म यहीं पर

किया जाता है इसलिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि सम्पूर्ण जगत्में ही कर्म किया जाता है किन्तु उत्कृष्ट शुभ और अशुभ कर्मका आश्रय होनेसे इनको ही कर्मभूमि कहा गया है।

स्वयम्प्रभ पर्वतसे आगे लोकके अन्त तक जो तिर्यञ्च हैं उनके पाँच गुणस्थान हो सकते हैं। उनकी आयु एक पूर्वकोटिकी है। वहाँके मत्स्य सातवें नरकमें ले जाने वाले पापका बन्ध करते हैं। कोई कोई थलचर जीव स्वर्ग आदिके हेतुभूत पुण्यका भी उपार्जन करते हैं। इसलिये आधा स्वयंभूरमण द्वीप, पूरा स्वयंभूरमण समुद्र और समुद्रके बाहर चारों कोने कर्मभूमि कहलाते हैं।

मनुष्योंकी आयुका वर्णन—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है।

पल्यके तीन भेद हैं—व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धा पल्य।

व्यवहार पल्यसे संख्याका, उद्धार पल्यसे द्वीप समुद्रोंका और अद्धा पल्यसे कर्मों की स्थितिका वर्णन किया जाता है। व्यवहार पल्यका स्वरूप प्रमाणाङ्गुलसे परिमित एक प्रमाण योजन होता है। अवसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्तीके अङ्गुलको प्रमाणाङ्गुल कहते हैं। चौबीस प्रमाणाङ्गुलका एक हाथ होता है। चार हाथका एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डोंकी एक प्रमाणगव्यूति होती है। चार गव्यूतिका एक प्रमाणयोजन होता है। अर्थात् पाँच सौ मानव योजनोंका एक प्रमाणयोजन होता है। मानव योजनका स्वरूप—

आठ परमाणुओंका एक त्रसरेणु होता है। आठ त्रसरेणुओंका एक रथरेणु होता है। आठ रथरेणुओंका एक चिकुराग्र होता है। आठ चिकुराग्रोंकी एक लिक्षा होती है। आठ लिक्षाओंका एक सिद्धार्थ होता है। आठ सिद्धार्थोंका एक यव होता है। आठ यवोंका एक अङ्गुल होता है। छह अङ्गुलोंका एक पाद होता है। दो पादोंकी एक वितस्ति होती है। दो वितस्तियोंकी एक रति होती है। चार रतियोंका एक दण्ड होता है। दो हजार दण्डोंकी एक गव्यूति होती है। चार गव्यूतिका एक मानवयोजन होता है। और पांच सौ मानव-योजनोंका एक प्रमाणयोजन होता है।

एक प्रमाणयोजन लम्बा, चौड़ा और गहरा एक गोल गड्ढा हो। सात दिन तकके मेषके बच्चोंके बालोंको कैंचीसे कतर कर इस प्रकार टुकड़े किये जांय कि फिर दूसरा टुकड़ा न हो सके। उन सूक्ष्म बालोंके टुकड़ोंसे वह गड्ढा कूट कूटकर भर दिया जाय इस गड्ढे को व्यवहारपल्य कहते हैं। पुनः सौ वर्षके बाद उस गड्ढेमेंसे एक एक टुकड़ा निकाला जावे। इस क्रमसे सम्पूर्ण रोमखण्डोंके निकलनेमें जितना समय लगे उतने समयको व्यवहारपल्योपम कहते हैं।

पुनः असंख्यात करोड़ वर्षोंके जितने समय हों उतने समयोंसे प्रत्येक रोमखण्डों-का गुणा करे और इस प्रकारके रोमखण्डोंसे फिर उस गड्ढेको भर दिया जाय। इस गड्ढे-का नाम उद्धारपल्य है। पुनः एक एक समयके बाद एक एक रोमखण्डको निकालना चाहिए। इस क्रमसे सम्पूर्ण रोमखण्डोंके निकलनेमें जितना समय लगे उतने समयको उद्धार-पल्योपम कहते हैं। दश कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्योंका एक उद्धारसागर होता है।

अढ़ाई उद्धारसागरों अथवा पच्चीस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यों के जितने रोमखण्ड होते हैं उतने ही द्वीप समुद्र हैं।

एक वर्षके जितने समय होते हैं उनसे उद्धारपल्यके प्रत्येक रोमखण्डका गुणा करे और ऐसे रोमखण्डोंसे फिर वह गड्ढा भर दिया जाय तब इस गड्ढेका नाम अद्धा पल्य है। पुनः एक एक समयके बाद एक एक रोमखण्डको निकालने पर समस्त रोमखण्डोंके निकलनेमें जितने समय लगें उतने कालका नाम अद्धापल्योपम है।

दश कोड़ाकोड़ी अद्धापल्योंका एक अद्धासागर होता है। और दश कोड़ाकोड़ी अद्धासागरोंकी एक उत्सर्पिणी होती है। अवसर्पिणीका प्रमाण भी यही है।

अद्धापल्योपमसे नरक तिर्यञ्च देव और मनुष्योंकी कर्मकी स्थिति, आयुकी स्थिति कायकी स्थिति और भवकी स्थिति गिनी जाती है।

तिर्यञ्चोंकी स्थिति—

तिर्यग्योनिजानाञ्च ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी तरह तिर्यञ्चोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य आयु क्रमसे तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त है।

इस अध्याय में नरक, द्वीप, समुद्र, कुलपर्वत, पद्मादि ह्रद, गंगादि नदी, मनुष्योंके भेद, मनुष्य तिर्यञ्चोंकी आयु आदिका वर्णन है।

तृतीय अध्याय समाप्त

चतुर्थ अध्याय

देवोंके भेद—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवोंके चार भेद हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी।

देवगति नाम कर्मके उदय होनेपर और नाना प्रकारकी विभूति युक्त होनेके कारण जो द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि स्थानोंमें अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं उनको देव कहते हैं। जातिकी अपेक्षा 'देवाश्चतुर्णिकायः' ऐसा एकवचनान्त सूत्र होनेपर भी काम चल जाता फिर भी सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग प्रत्येक निकायके अनेक भेद बतलानेके लिये किया गया है।

देवोंमें लेश्याका वर्णन—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ ही होती हैं।

निकायोंके प्रभेद—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

भवनवासी देवोंके दश भेद, व्यन्तर देवोंके आठ भेद, ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद और कल्पोपपन्न अर्थात् सोलहवें स्वर्गतकके देवोंके बारह भेद होते हैं। ग्रैवेयक आदिमें सब अहमिन्द्र ही होते हैं इसलिये वहाँ कोई भेद नहीं है।

देवोंके सामान्य भेद—

**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्ण-
काभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥**

प्रत्येक निकायके देवोंमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक-ये दश भेद होते हैं।

इन्द्र—जो अन्य देवोंमें नहीं रहनेवाली अणिमा आदि ऋद्धियोंको प्राप्तकर असाधारण ऐश्वर्यका अनुभव करते हैं उनको इन्द्र कहते हैं।

सामानिक—आज्ञा और ऐश्वर्यको छोड़कर जिनकी आयु, भोग, उपभोगादि इन्द्रके ही समान हों उनको सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंश—मंत्री और पुरोहितके कामको करनेवाले देव त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। ये संख्यामें तेंतीस होते हैं।

पारिषद—सभामें बैठनेके अधिकारी देवोंको पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्ष—इन्द्रकी रक्षा करनेवाले देव आत्मरक्ष कहलाते हैं।

लोकपाल—जो देव अन्य देवोंका पालन करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं। ये आरक्षिक, अर्थचर और कोट्टपालके समान होते हैं। जो ग्राम आदिकी रक्षाके लिये नियुक्त

होते हैं उनको आरक्षक कहते हैं। अर्थ (धन) सम्बन्धी कार्यमें नियुक्त अर्थचर कहलाते हैं। पत्तन, नगर आदिकी रक्षाके लिये नियुक्त (कोट्टपाल) कहलाते हैं।

अनीक—जो हस्ति, अश्व, रथ, पदाति, वृषभ, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकारकी सेनामें रहते हैं वे अनीक हैं।

प्रकीर्णक—नगरवासियोंके समान जो इधर उधर फैले हुये हों उनको प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्य—जो नौकरका काम करते हैं वे आभियोग्य हैं।

किल्विषिक—किल्विष पापको कहते हैं। जो सवारीमें नियुक्त हों तथा नाई आदिकी तरह नीचकर्म करनेवाले होते हैं उनको किल्विषक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं।

इन्द्रोंकी व्यवस्था—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें प्रत्येक भेदसम्बन्धी दो दो इन्द्र होते हैं।

भवनवासी देवोंमें असुरकुमारोंके चमर और वैरोचन, नागकुमारोंके धरण और भूतानन्द, विद्युत्कुमारोंके हरिसिंह और हरिकान्त, सुवर्णकुमारोंके वेणुदेव और वेणुताली, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्निमाणव, वातकुमारोंके वेलम्ब और प्रभञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और अवशिष्ट, दिक्कुमारोंके अमितगति और अमितवाहन नामके इन्द्र होते हैं।

व्यन्तर देवोंमें किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयश, यक्षोंके पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, भूतोंके प्रतिरूप और अप्रतिरूप और पिशाचोंके काल और महाकाल नामके इन्द्र होते हैं।

देवोंके भोगोंका वर्णन—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

ऐशान स्वर्गपर्यन्तके देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और प्रथम तथा द्वितीय स्वर्गके देव मनुष्य और तिर्यञ्चोंके समान शरीरसे काम सेवन करते हैं।

मर्यादा और अभिविधि, क्रियायोग और ईषत् अर्थ में "आङ्" उपसर्ग आता है। तथा वाक्य और स्मरण अर्थमें 'आ' उपसर्ग आता है 'आ' उपसर्ग की स्वरपरे रहते सन्धि नहीं होती। इस सूत्रमें आ और ए (आ + ऐ) इन दोनों की सन्धि हो सकती थी लेकिन सन्देहको दूर करनेके लिये आचार्यने सन्धि नहीं की है। यहां आ अभिविधिके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अभिविधिमें उस वस्तुका भी ग्रहण होता है जिसका निर्देश आके बाद किया जाता है। जैसे इस सूत्रमें ऐशान स्वर्गका भी ग्रहण है।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

शेष देव (तृतीय स्वर्गसे सोलहवें स्वर्गतक) देवियोंके स्पर्शसे, रूप देखनेसे, शब्द सुननेसे और मनमें स्मरण मात्रसे काम सुखका अनुभव करते हैं।

सनत्कुमार और माहेन्द्रस्वर्गके देव और देवियाँ परस्परमें स्पर्शमात्रसे; ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गके देव और देवियाँ एक दूसरेके रूपको देखनेसे; शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गके देव और देवियाँ परस्पर शब्दश्रवणसे और आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गके देव और देवियाँ मनमें एक दूसरेके स्मरणमात्रसे अधिक सुखका अनुभव करती हैं।

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पञ्चोत्तर विमानवासी देव कामसेवनसे रहित होते हैं। इन देवोंको कामसेवनकी इच्छा ही नहीं होती है। उनके तो सदा हर्ष और आनन्द रूप सुखका अनुभव रहता है।

भवनवासियोंके भेद—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनवासी देवोंके असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार—ये दश भेद हैं।

भवनोंमें रहनेके कारण इन देवोंको भवनवासी कहते हैं।

जो परस्परमें दूसरोंको लड़ाकर उनके प्राणोंको लेते हैं उनको असुरकुमार कहते हैं। ये तृतीय नरक तकके नारकियोंको दुःख पहुँचाते हैं। पर्वत या वृक्षोंपर रहनेवाले देव नागकुमार कहलाते हैं। जो विद्युत्के समान चमकते हैं वे विद्युत्कुमार हैं। जिनके पक्ष (पंख) शोभित होते हैं वे सुपर्णकुमार हैं। जो पाताल लोकसे क्रीड़ा करनेके लिये ऊपर आते हैं वे अग्निकुमार कहलाते हैं। तीर्थंकरके विहारमार्गको शुद्ध करनेवाले वातकुमार हैं। शब्द करनेवाले देवोंको स्तनितकुमार कहते हैं। समुद्रोंमें क्रीड़ा करनेवाले उदधिकुमार। और द्वीपोंमें क्रीड़ा करनेवाले द्वीपकुमार कहलाते हैं। दिशाओंमें क्रीड़ा करनेवालोंको दिक्कुमार कहते हैं। असुरकुमारोंके प्रथम नरकके पङ्कबहुल भागमें और शेष भवनवासी देवोंके खरबहुल भागमें भवन हैं।

व्यन्तरदेवोंके भेद—

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

व्यन्तर देवोंके किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच—ये आठ भेद होते हैं।

नाना देशोंमें निवास करनेके कारण इनको व्यन्तर कहते हैं। जम्बूद्वीपके असंख्यात द्वीप-समुद्रको छोड़कर प्रथम नरकके खर भागमें राक्षसोंको छोड़कर अन्य सात प्रकारके व्यन्तर रहते हैं और पङ्कभागमें राक्षस रहते हैं।

ज्योतिषी देवोंके भेद—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

ज्योतिषी देवोंके सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये पाँच भेद हैं।

ज्योति (प्रकाश) युक्त होनेके कारण इनको ज्योतिषी कहते हैं।

इस पृथ्वीसे सात सौ नब्बे योजनकी ऊँचाई पर ताराओंके विमान हैं। ताराओंसे

दश योजन ऊपर सूर्यके विमान हैं। सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रमाका विमान है। इसके बाद चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं। नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध, बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र, शुक्रसे तीन योजन ऊपर बृहस्पति, बृहस्पतिसे तीन योजन ऊपर मङ्गल और मंगलसे तीन योजन ऊपर शनैश्चर देव रहते हैं। इस प्रकार मङ्गलसे एक सौ दश योजन प्रमाण आकाशमें ज्योतिषी देव रहते हैं। सूर्यसे कुछ कम एक योजन नीचे केतु और चन्द्रमासे कुछ कम एक योजन नीचे राहु रहते हैं।

सब ज्योतिषी देवोंके विमान ऊपर को स्थित अर्द्धगोलकके आकारके होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य और ग्रहोंको छोड़कर शेष ज्योतिषी देव अपने अपने एक ही मार्गमें गमन करते हैं।

ज्योतिषीदेवोंकी गति—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

मनुष्यलोकके ज्योतिषी देव मेरुकी प्रदक्षिणा देते हुये सदा गमन करते रहते हैं। मनुष्यलोकसे बाहर ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

प्रश्न—ज्योतिषी देवोंके विमान अचेतन होते हैं। उनमें गमन कैसे सम्भव है ?

उत्तर—आभियोग्य जातिके देवों द्वारा ज्योतिषी देवके विमान खींचे जाते हैं। आभियोग्य देवोंका कर्मविपाक अन्य ज्योतिषी देवोंके विमानोंको खींचने पर ही होता है। मेरुसे ग्यारहसौ इक्कीस योजन दूर रहकर ज्योतिषी देव भ्रमण करते रहते हैं।

जम्बूद्वीपमें दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र और एक सौ छिहत्तर ग्रह हैं। लवणसमुद्रमें चार सूर्य, एक सौ बारह नक्षत्र और तीन सौ बावन ग्रह है।

धातकीखण्डद्वीपमें बारह सूर्य, तीन सौ छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह हैं। कालोद समुद्रमें ब्यालीस सूर्य, ग्यारह सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छह सौ निन्यानवे ग्रह हैं। और पुष्करार्द्ध द्वीपमें बहत्तर सूर्य, दो हजार सोलह नक्षत्र और छह हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह हैं। चन्द्रमाओंकी संख्या सूर्यके बराबर है। प्रत्येक चन्द्रमाके ग्रहोंकी संख्या अठासी है। और नक्षत्रोंकी संख्या अट्ठाईस है। मानुषोत्तर पर्वतसे बाहरके सूर्योदिकी संख्या आगमानुसार समझ लेनी चाहिये।

व्यवहारकालका हेतु—

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

दिन, रात, मास आदि व्यवहारकालका विभाग नित्य गमन करने वाले ज्योतिषी देवोंके द्वारा किया जाता है। कालके दो भेद हैं—मुख्यकाल और व्यवहारकाल। मुख्यकालका वर्णन पाँचवें अध्यायमें किया जायगा। समय, आवली, मिनिट, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहारकाल है।

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

मनुष्यलोकसे बाहरके सब ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

चन्द्रमाके विमानके उपरितन भागका विस्तार प्रमाणयोजनके इकसठ भागोंमें से छप्पनभाग प्रमाण ($\frac{56}{61}$ योजन) है और सूर्यके विमानके उपरितनभागका विस्तार प्रमाण-

योजनके इकसठ भागोंमें से अड़तालीस भाग प्रमाण ($\frac{48}{61}$ योजन) है। शुक्रके विमानका विस्तार एक कोश, बृहस्पतिके विमानका विस्तार कुछ कम एक कोश और मङ्गल, बुध और शनिके विमानोंका विस्तार आधा कोश है।

वैमानिक देवोंका वर्णन—

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

विमानोंमें रहनेवाले देव वैमानिक कहलाते हैं। जिनमें रहनेवाले जीव अपनेको विशेष पुण्यात्मा समझते हैं उनको विमान कहते हैं। विमान तीन प्रकारके होते हैं—इन्द्रकविमान, श्रेणिविमान और प्रकीर्णक विमान। मध्यवर्ती विमानको इन्द्रक विमान कहते हैं। जो विमान चारों दिशाओंमें पंक्तिमें अवस्थित रहते हैं वे श्रेणिविमान हैं। इधर उधर फैले हुए अक्रमबद्ध विमान प्रकीर्णक विमान हैं।

इन विमानोंमें जो देवप्रासाद हैं तथा जो शाश्वत जिनचैत्यालय हैं वे सब अकृत्रिम हैं। इनका परिमाण मानवयोजन कोश आदिसे जाना जाता है। अन्य शाश्वत या अकृत्रिम पदार्थोंका परिमाण प्रमाणयोजन कोश आदिसे किया जाता है। यह परिभाषा है। परिभाषा नियम बनानेवाली होती है।

वैमानिक देवोंके भेद—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

वैमानिक देवोंके दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प अर्थात् सोलह स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाले देव कल्पोपपन्न और नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले देव कल्पातीत कहलाते हैं।

यद्यपि भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंमें भी इन्द्र आदिका कल्प या भेद है फिर भी रूढिके कारण वैमानिक देवोंकी ही कल्पोपपन्न संज्ञा है।

विमानोंका क्रम—

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंके विमान क्रमशः ऊपर ऊपर है। अथवा उपरि उपरि शब्द समीपवाची भी हो सकता है। इसलिये यह भी अर्थ हो सकता है कि प्रत्येक पटलमें दो दो स्वर्ग समीपवर्ती हैं। जिस पटलमें दक्षिण दिशामें सौधर्म स्वर्ग है, उसी पटलमें उत्तर दिशामें उसके समीपवर्ती ऐशान स्वर्ग भी है।

वैमानिक देवोंके रहनेका स्थान—

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सौधर्म ऐशान सानत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ट शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार आनत प्राणत आरण और अच्युत इन सोलह स्वर्गोंमें तथा नवग्रैवेयक नव अनुदिश और विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं।

इस सूत्र में यद्यपि नव अनुदिशोंका नाम नहीं आया है लेकिन 'नवसु ग्रैवेयकेषु' में नव शब्दको नव अनुदिशोंको ग्रहण करनेके लिये पृथक् रखा गया है। सूत्रमें सर्वार्थसिद्धिको सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण "सर्वार्थसिद्धौ" इस प्रकार पृथक् रक्खा गया है। प्रत्येक स्वर्गका नाम उस स्वर्गके इन्द्रके नामसे पड़ा है।

सबसे नीचे सौधर्म और ऐशान कल्प हैं। और इनके ऊपर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त क्रमशः दो दो कल्प हैं। आरण और अच्युत कल्पके ऊपर नव ग्रैवेयक, नव ग्रैवेयकोंके ऊपर नव अनुदिश और नव अनुदिशोंके ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं।

एक लाख योजन ऊंचा मेरुपर्वत है। मेरुपर्वतकी चोटी और सौधर्मस्वर्गके इन्द्रक ऋतुविमानमें एक बालमात्रका अन्तर है। मेरुसे ऊपर ऊर्ध्वलोक मेरुसे नीचे अधोलोक और मेरुके बराबर मध्यलोक या तिर्यक् लोक है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इकतीस पटल हैं। उनमें प्रथम ऋतु पटल है। ऋतु पटलके बीचमें ऋतु नामक पैंतालीस लाख योजन विस्तृत इन्द्रक (मध्यवर्ती) विमान है। ऋतु विमानसे चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ है। प्रत्येक विमानश्रेणीमें बासठ विमान हैं। विदिशाओंमें प्रकीर्णक विमान हैं। ऋतु पटलसे ऊपर प्रभा नामक अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटलके प्रत्येक श्रेणी विमानोंकी संख्या क्रमसे एक एक कम होती गई है। इस प्रकार अन्तिम पटलमें प्रत्येक दिशामें बत्तीस श्रेणी विमान हैं। प्रभा नामक इकतीसवें पटलके मध्यमें प्रभा नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक विमान श्रेणीमें बत्तीस विमान हैं। दक्षिण दिशामें जो विमानश्रेणी है उसके अठारहवें विमानमें सौधर्म इन्द्रका निवास है। और उत्तर दिशाके अठाहरवें विमानमें ऐशान इन्द्र रहता है। उक्त दोनों विमानोंके तीन तीन कोट हैं। बाहरके कोटमें अनीक और पारिषद जातिके देव रहते हैं। मध्यके कोटमें त्रायस्त्रिंश देव रहते हैं और तीसरे कोटके भीतर इन्द्र रहता है। इस प्रकार सब स्वर्गोंमें इन्द्रोंका निवास समझना चाहिये।

पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशाकी तीन विमान श्रेणियां और आग्नेय और नैर्ऋत्य दिशासे प्रकीर्णक विमान सौधर्म स्वर्गकी सीमामें हैं। उत्तरदिशाकी एक विमान श्रेणी और ईशान दिशाके प्रकीर्णक विमान ऐशान स्वर्गकी सीमामें हैं।

इसके ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग हैं। इनके सात पटल हैं। प्रथम अञ्जन पटलके मध्यमें अञ्जन नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्र विमानकी चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणीमें इकतीस विमान हैं। प्रथम पटलसे अन्तिम पटल पर्यन्त प्रत्येक पटलमें प्रत्येक श्रेणीमें विमानोंकी संख्या क्रमशः एक एक कम है। सातवें पटलमें इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणीमें पच्चीस विमान हैं। इस पटल की दक्षिण श्रेणीके पन्द्रहवें विमानमें सानत्कुमार और उत्तर श्रेणीके पन्द्रहवें विमानमें माहेन्द्र इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग हैं। इनके चार पटल हैं। प्रथम अरिष्ट पटलके मध्यमें अरिष्ट नामक इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमें चार विमान श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणीमें चौबीस विमान हैं। ऊपरके पटलोंमें श्रेणीविमानोंकी संख्या क्रमशः एक एक कम है। चौथे पटलमें प्रत्येक श्रेणीमें इक्कीस विमान हैं। इस पटलकी दक्षिण श्रेणीके बारहवें विमानमें ब्रह्मेन्द्र और उत्तर श्रेणीके बारहवें विमानमें ब्रह्मोत्तर इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग हैं। इनके दो पटल हैं—ब्रह्महृदय और लान्तव। प्रथम पटलकी प्रत्येक विमानश्रेणीमें बीस विमान हैं। और द्वितीय पटलकी प्रत्येक विमानश्रेणीमें उन्नीस विमान हैं। इस पटलकी दक्षिण श्रेणीके नौवें विमानमें लान्तव और उत्तर श्रेणीके नौवें विमानमें कापिष्ट इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग हैं। इनमें महाशुक्र नामक एक ही पटल है। इस पटलके मध्यमें महाशुक्र नामक इन्द्रक विमान है। चारों दिशाओंमें चार विमानश्रेणियाँ हैं। प्रत्येक विमानश्रेणीमें अठारह विमान हैं। दक्षिण श्रेणीके बारहवें विमानमें शुक्र और उत्तर श्रेणीके बारहवें विमानमें महाशुक्र इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर शतार और सहस्रार स्वर्ग हैं। इनमें सहस्रार नामक एक ही पटल है। चारों दिशाओंकी प्रत्येक श्रेणीमें सत्रह विमान हैं। दक्षिण श्रेणीके नौवें विमानमें शतार और उत्तर श्रेणीके नौवें विमानमें सहस्रार इन्द्र रहते हैं।

इसके ऊपर आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग हैं। इनमें छह पटल हैं। अन्तिम अच्युत पटलके मध्यमें अच्युत नामक इन्द्रक विमान है। इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओंमें चार विमानश्रेणियाँ हैं। प्रत्येक विमानश्रेणीमें ग्यारह विमान हैं। इस पटलकी दक्षिण श्रेणीके छठवें विमानमें आरण और उत्तर श्रेणीके छठवें विमानमें अच्युत इन्द्र रहते हैं।

इस प्रकार लोकानुयोग नामक ग्रन्थमें चौदह इन्द्र बतलाये हैं। श्रुतसागर आचार्यके मतसे तो बारह ही इन्द्र होते हैं। आदिके चार और अन्तके चार इन आठ स्वर्गोंके आठ इन्द्र और मध्यके आठ स्वर्गोंके चार इन्द्र अर्थात् ब्रह्म, लान्तव, शुक्र और शतार इस प्रकार सोलह स्वर्गोंमें बारह इन्द्र होते हैं।

विमानोंकी संख्या—सौधर्म स्वर्गमें बत्तीस लाख, ऐशान स्वर्गमें अट्ठाईस लाख, सानत्कुमार स्वर्गमें बारह लाख, माहेन्द्रमें आठ लाख, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरमें चालीस लाख, लान्तव और कापिष्टमें पचास हजार, शुक्र और महाशुक्रमें चालीस हजार, शतार और सहस्रारमें छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गमें सात सौ विमान हैं। प्रथम तीन ग्रैवेयकोंमें एक सौ ग्यारह, मध्यके तीन ग्रैवेयकोंमें एक सौ सात और ऊपरके तीन ग्रैवेयकोंमें एकानवे विमान हैं। नव अनुदिशमें नौ विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि पटलमें पाँच विमान हैं जिनमें मध्यवर्ती विमानका नाम सर्वार्थसिद्धि है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशामें क्रमसे विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान हैं।

विमानोंका रंग—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके विमानोंका रङ्ग श्वेत, पीला, हरा, लाल और काला है। सानत्कुमार और महेन्द्र स्वर्गमें विमानोंका रङ्ग श्वेत, पीला, हरा और लाल है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग में विमानोंका रंग श्वेत, पीला और लाल है। शुक्रसे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त विमानोंका रंग श्वेत और पीला है। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और अनुत्तर विमानोंका रंग श्वेत ही है। सर्वार्थसिद्धि विमान परमशुक्ल है और इसका विस्तार जम्बूद्वीपके समान है। अन्य चार विमानोंका विस्तार असंख्यात करोड़ योजन है।

उक्त त्रेसठ पटलोंका अन्तर भी असंख्यात करोड़ योजन है।

मेरुसे ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त क्षेत्रमें सौधर्म और ऐशान स्वर्ग हैं। पुनः डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्रमें सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग हैं। ब्रह्मसे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त दो दो स्वर्गोंकी ऊँचाई आधा राजू है। और ग्रैवेयकसे सिद्धशिला तक एक राजू ऊंचाई है। ऊर्ध्वलोकमें जितने विमान हैं सभीमें जिनमन्दिर हैं।

वैमानिक देवोंमें उत्कर्ष

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका: ॥ २० ॥

वैमानिक देवोंमें क्रमशः ऊपर ऊपर आयु, प्रभाव-शाप और अनुग्रहकी शक्ति,सुख-इन्द्रियसुख, दीप्ति-शरीरकान्ति, लेश्याओंकी विशुद्धि, इन्द्रियोंका विषय और अवधिज्ञानके विषयकी अधिकता पाई जाती है।

वैमानिक देवोंमें अपकर्ष—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीना: ॥ २१ ॥

वैमानिक देव गमन, शरीर, परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा क्रमशः ऊपर ऊपर हीन हैं।

ऊपर ऊपरके देवोंमें गमन, परिग्रह और अभिमानकी हीनता है।

शरीरका परिमाण—सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें शरीरकी ऊँचाई सात अरत्नि, सानत्कुमार और माहेन्द्रमें छह अरत्नि, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्टमें पाँच अरत्नि, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रारमें चार अरत्नि, आनत और प्राणतमें साढ़े तीन अरत्नि और आरण और अच्युतमें तीन अरत्नि शरीरकी ऊँचाई है। प्रथम तीन ग्रैवेयकोंमें ढाई अरत्नि, मध्यग्रैवेयकमें दो अरत्नि, ऊर्ध्व ग्रैवेयक और नव अनुदिशमें डेढ़ अरत्नि शरीरकी ऊँचाई है। पाँच अनुत्तर विमानोंमें शरीरकी ऊँचाई केवल एक हाथ है। मुंडे हाथको अरत्नि कहते हैं।

वैमानिक देवोंमें लेश्याका वर्णन—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

दो युगलोंमें, तीन युगलोंमें और शेषके विमानोंमें क्रमशः पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें पीत लेश्या होती है। विशेष यह है कि सानत्कुमार और माहेन्द्रमें मिश्र–पीत और पद्म लेश्या होती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ट, शुक्र और महाशुक्र स्वर्गमें पद्म लेश्या होती है। लेकिन शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्गमें मिश्र—पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गमें और नव ग्रैवेयकोंमें शुक्ल लेश्या होती है। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानोंमें परमशुक्ल लेश्या होती है।

यद्यपि सूत्रमें मिश्रलेश्याका ग्रहण नहीं किया है किन्तु साहचर्यसे मिश्रका भी ग्रहण कर लेना चाहिये, जैसे 'छाते वाले जा रहे हैं' ऐसा कहने पर जिनके पास छाता नहीं है उनका भी ग्रहण हो जाता है उसी प्रकार एक लेश्याके कहनेसे उसके साथ मिश्रित दूसरी लेश्याका भी ग्रहण हो जाता है। सूत्रका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें पीत लेश्या और सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें मिश्र-पीत और पद्मलेश्या होती है। लेकिन पद्मलेश्याकी विवक्षा न करके सानत्कुमार और माहेन्द्रस्वर्गमें पीतलेश्या ही कही गई है। ब्रह्मसे लान्तव स्वर्ग पर्यन्त पद्मलेश्या और शुक्रसे सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त मिश्र-पद्म और शुक्ल लेश्या होती है लेकिन शुक्र और महाशुक्रमें शुक्ललेश्याकी विवक्षा न करके पद्म लेश्या ही कही गई है। इसी प्रकार शतार और सहस्रार स्वर्गमें पद्मलेश्याकी विवक्षा न करके शुक्ललेश्या ही सूत्रमें कही गई है।

कल्पकी सीमा—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

ग्रैवेयकोंसे पहिलेके विमानोंकी कल्प संज्ञा है। अर्थात् सोलह स्वर्गोंको कल्प कहते हैं। नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान कल्पातीत कहलाते हैं।

लौकान्तिक देवोंका निवास—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक नामक पांचवें स्वर्गमें रहते हैं।

प्रश्न—यदि ब्रह्मलोकमें रहनेके कारण इनको लौकान्तिक कहते हैं तो ब्रह्मलोक-निवासी सब देवोंको लौकान्तिक कहना चाहिये।

उत्तर—लौकान्तिक यह यथार्थ नाम है और इसका प्रयोग ब्रह्मलोक निवासी सब देवोंके लिये नहीं हो सकता। लोकका अर्थ है ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोकके अन्तको लोकान्त और लोकान्तमें रहनेवाले देवोंका नाम लौकान्तिक है। अथवा संसारको लोक कहते हैं। और जिनके संसारका अन्त समीप है उन देवोंको लौकान्तिक कहते हैं। लौकान्तिक देव स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य भव धारणकर मुक्त हो जाते हैं। अतः लौकान्तिक यह नाम सार्थक है।

लौकान्तिक देवोंके भेद—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकारके लौकान्तिक देव होते हैं।

जो चौदह पूर्वके ज्ञाता हों वे सारस्वत कहलाते हैं। देवमाता अदितिकी सन्तानको आदित्य कहते हैं। जो वह्निके समान देदीप्यमान हों वे वह्नि हैं। उदीयमान सूर्यके समान जिनकी कान्ति हो वे अरुण कहलाते हैं।

शब्दको गर्द और जलको तोय कहते हैं। जिनके मुखसे शब्द जलके प्रवाहकी तरह निकलें वे गर्दतोय हैं। जो संतुष्ट और विषय सुखसे परान्मुख रहते हैं वे तुषित हैं। जिनके कामादिजनित बाधा नहीं है वे अव्याबाध हैं। जो अकल्याण करने वाला कार्य नहीं करते हैं उनको अरिष्ट कहते हैं। सारस्वत आदि देवोंके विमान क्रमशः ईशान, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशामें हैं। इनके अन्तरालमें भी दो दो देवोंके विमान हैं। सारस्वत और आदित्यके अन्तरालमें अग्न्याभ और सूर्याभ, आदित्य और वह्निके अन्तरालमें चन्द्राभ और सत्याभ, वह्नि और अरुणके अन्तरालमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोयके अन्तरालमें वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरज और दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत और वसु और अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अपूर्व और विश्व रहते हैं।

सब लौकान्तिक स्वाधीन, विषय सुखसे परान्मुख, चौदह पूर्वके ज्ञाता और देवोंसे पूज्य होते हैं। ये देव तीर्थंकरोंके तपकल्याणकमें ही आते हैं।

लौकान्तिक देवोंकी संख्या चार लाख सात हजार आठ सौ बीस है।

विजय आदि विमानवासी देवोंकी संसारकी अवधि

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानवासी अहमिन्द्र मनुष्यके दो भव धारणकर नियमसे मोक्ष चले जाते हैं। यहाँ मनुष्यभवकी अपेक्षासे इनको द्विचरम कहा है। कोई भी अहमिन्द्र विजयादिसे च्युत होकर मनुष्यगतिमें आयगा, पुनः वह मनुष्यभव समाप्त कर विजयादिमें ही उत्पन्न होगा। फिर विजयादिसे च्युत होकर मनुष्यभव धारणकर नियमसे मोक्ष चला जायगा, इस प्रकार मनुष्यभवकी अपेक्षा दो भव और मनुष्यभवमें देव पर्यायको भी मिला देनेसे दो मनुष्यभव और एक देवभव इस प्रकार विजय आदिमें उत्पन्न होनेवाले अहमिन्द्रोंके तीन भव और बाकी रह जाते हैं। लेकिन सर्वार्थसिद्धिके अहमिन्द्र एकभवावतारी होते हैं। वे मनुष्यका एक भव धारण करके ही मोक्ष चले जाते हैं।

तिर्यञ्चोंका वर्णन—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

उपपाद जन्मवाले देव और नारकी तथा मनुष्योंको छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं।

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः ॥ २८ ॥

भवनवासी देवोंमें असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेषके छह कुमारोंकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य है।

वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट आयु—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ॥ २९ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर है। 'अधिके' इस शब्दकी अनुवृत्ति सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त होती है। इसलिये सहस्रार तकके देवोंकी आयु कथित सागरोंसे कुछ अधिक होती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके पटलोंमें आयुका वर्णन–प्रथम पटलमें ६६६६६६६ करोड़ पल्य और इतने ही पल्य तथा पल्यके तीन विभागोंमेंसे दो भाग उत्कृष्ट आयु है। दूसरे पटलमें १३३३३३३३ करोड़ पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्यके तीन भागोंमें से एक भाग आयु है। तीसरे पटलमें दो कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। चौथे पटलमें २६६६६६६६ करोड़ पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और पल्यके तीन भागोंमें से दो भाग प्रमाण आयु है। पाँचवें पटलमें ३३३३३३३३ करोड़ पल्य तथा ३३३३३३३ पल्य और पल्यके तीन भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण आयु है। छठें पटलमें चार कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। सातवें पटलमें ४६६६६६६६ करोड़ पल्य तथा ६६६६६६६ पल्य और पल्यके तीन भागोंमें से दो भाग प्रमाण आयु है। आठवें पटलमें ५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{1}{3}$ पल्यकी आयु है। नौवें पटलमें छह कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। दसवें पटलमें ६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६$\frac{2}{3}$ पल्यकी आयु है। ग्यारहवें पटलमें ७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{1}{3}$ पल्यकी आयु है। बारहवें पटलमें आठ कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। तेरहवें

पटलमें ८६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। चौदहवें पटलमें ९३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है । पन्द्रहवें पटलमें एक सागरकी आयु है। सोलहवें पटलमें एक सागर, ६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। सत्रहवें पटलमें एक सागर, १३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है। अठारहवें पटलमें बारह कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। उन्नीसवें पटलमें १२६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। बीसवें पटलमें१३३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है। इक्कीसवें पटलमें चौदह कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। बाईसवें पटलमें १४६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। तेईसवें पटलमें १५३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३-३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है। चौबीसवें पटलमें सोलह कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। पच्चीसवें पटलमें १६६६६६६६६ करोड़ पल्य और ६६६६६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। छब्बीसवें पटलमें १७३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है। सत्ताईसवें पटलमें अठारह कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। अट्ठाईसवें पटलमें १८६६६६६६६ करोड़ पल्य और६६६६६-६६$\frac{२}{३}$ पल्यकी आयु है। उनतीसवें पटलमें १९३३३३३३३ करोड़ पल्य और ३३३३३३३$\frac{१}{३}$ पल्यकी आयु है। तीसवें पटलमें बीस कोड़ाकोड़ी पल्यकी आयु है। और इकतीसवें पटलमें कुछ अधिक दो सागरकी आयु है।

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें देवोंकी आयु कुछ अधिक सात सागर है।

प्रथम पटलमें २$\frac{५}{७}$ सागर, द्वितीय पटलमें ३$\frac{३}{७}$ सागर, तीसरे पटलमें ४$\frac{१}{७}$ सागर, चौथे पटलमें ४$\frac{६}{७}$ सागर, पाँचवें पटलमें ५$\frac{४}{७}$, छठवें पटलमें ६$\frac{२}{७}$ और सातवें पटलमें कुछ अधिक सात सागरकी आयु है।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें दश सागरसे कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ट स्वर्गमें चौदह सागरसे कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्रमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, शतार और सहस्रारमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणतमें बीस सागर और आरण और अच्युतमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। इस सूत्रमें 'तु' शब्द यह बतलाता है कि पूर्वसूत्रके 'अधिके' शब्दकी अनुवृत्ति सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ही होती है। अतः आगेके स्वर्गोंमें आयु सागरोंसे कुछ अधिक नहीं है।

ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गके प्रथम पटलमें ७$\frac{३}{४}$ सागर, द्वितीय पटलमें ८$\frac{१}{२}$ सागर, तीसरे पटलमें ९$\frac{१}{४}$ सागर और चौथे पटलमें दश सागरसे कुछ अधिक आयु है।

लान्तव और कापिष्ट स्वर्गके प्रथम पटलमें बारह सागर और दूसरे पटलमें कुछ अधिक चौदह सागरकी आयु है। शुक्र और महाशुक्रमें एक ही पटल है। शतार और सहस्रारमें भी एक ही पटल है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गमें छह पटल हैं। प्रथम पटलमें सागरके तीसरे भागसे कुछ अधिक कम उन्नीस सागरकी आयु है। दूसरे पटलमें बीस सागर, तीसरे पटलमें २०$\frac{२}{३}$ सागर, चौथे पटलमें इक्कीस सागर, पाँचवें पटलमें २१$\frac{१}{३}$ सागर और छठवें पटलमें बाईस सागरकी आयु है।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

आरण और अच्युत स्वर्गसे ऊपर नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें और विजय आदि विमानोंमें एक एक सागर बढ़ती हुई आयु है। सूत्रमें नव शब्दका ग्रहण यह बतलाता है कि प्रत्येक ग्रैवेयकमें एक एक सागर आयुकी वृद्धि होती है। 'विजयादिषु' में आदि शब्द के द्वारा नव अनुदिशोंका ग्रहण होता है।

इस प्रकार प्रथम ग्रैवेयकमें तेईस सागर और नवमें ग्रैवेयकमें इकतीस सागरकी आयु है। नव अनुदिशोंमें बत्तीस सागर और विजय आदि पाँच विमानोंमें तेंतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहीं होती इस बातको बतलानेके लिये सूत्रमें सर्वार्थसिद्धि शब्दको पृथक् रक्खा है। नव ग्रैवेयकोंके नाम—१ सुदर्शन, २ अमोघ, ३ सुप्रबुद्ध, ४ यशोधर, ५ सुभद्र, ६ सुविशाल, ७ सुमनस, ८ सौमनस और ९ प्रीतिङ्कर।

स्वर्गोंमें जघन्य आयुका वर्णन—

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रथम पटलमें कुछ अधिक एक पल्यकी आयु है।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ३४ ॥

पहिले पहिलेके पटल और स्वर्गोंकी आयु आगे आगेके पटलों और स्वर्गोंकी जघन्य आयु है। अर्थात् सौधर्म और ऐशान स्वर्गकी उत्कृष्ट स्थिति सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गमें जघन्य आयु है। इसी क्रमसे विजयादि चार विमानों तक जघन्य आयु जान लेना चाहिये।

नारकियोंकी जघन्य आयु—

नारकाणाञ्च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

पहिले पहिलेके नरकोंकी उत्कृष्ट आयु दूसरे आदि नरकोंमें जघन्य आयु होती है। इस प्रकार दूसरे नरकमें जघन्य आयु एक सागर और सातवें नरककी जघन्य आयु बाईस सागरकी है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिले नरकमें जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है। यह जघन्य आयु प्रथम पटलमें है। प्रथम पटलकी उत्कृष्ट स्थिति नब्बे हजार वर्ष द्वितीय पटलकी जघन्य आयु है। इसी प्रकार आगेके पटलोंमें जघन्य आयुका क्रम समझ लेना चाहिये।

भवनवासियोंकी जघन्य आयु—

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

भवनवासियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है।

व्यन्तरोंकी जघन्य आयु—

व्यन्तराणाञ्च ॥ ३८ ॥

व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी है।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति—

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट आयु—

ज्योतिष्काणाञ्च ॥ ४० ॥

ज्योतिषी देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी है।

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु—

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

ज्योतिषी देवोंकी जघन्य आयु एक पल्यके आठवें भाग प्रमाण है।

विशेष—चन्द्रमाकी एक पल्य और एक लाख वर्ष, सूर्यकी एक पल्य और एक हजार वर्ष, शुक्रकी एक पल्य और सौ वर्ष, बृहस्पतिकी एक पल्य, बुधकी आधा पल्य, नक्षत्रोंकी आधा पल्य और प्रकीर्णक ताराओंकी $\frac{1}{4}$ पल्य उत्कृष्ट आयु है। प्रकीर्णक ताराओंकी और नक्षत्रोंकी जघन्य स्थिति पल्यके आठवें भाग ($\frac{1}{8}$ पल्य) प्रमाण है और सूर्यादिकोंकी जघन्य आयु पल्यके चौथे भाग ($\frac{1}{4}$ पल्य) प्रमाण है।

लौकान्तिक देवोंकी आयु—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमानि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

समस्त लौकान्तिक देवोंकी आयु आठ सागरकी है। इन देवोंमें जघन्य और उत्कृष्ट आयुका भेद नहीं है। सब लौकान्तिक देवोंके शुक्ल लेश्या होती है। इनके शरीरकी ऊँचाई पाँच हाथ है।

इस अध्यायमें देवोंके स्थान, भेद, सुख, स्थिति आदि का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

पञ्चम अध्याय

अजीव तत्त्वका वर्णन—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य अजीवकाय हैं। शरीरके समान प्रलय या पिण्ड रूप होनेके कारण इन द्रव्योंको अजीवकाय कहा है। यद्यपि काल द्रव्य भी अजीव है लेकिन प्रचयरूप न होनेके कारण कालको इस सूत्रमें नहीं कहा है। काल द्रव्यके प्रदेश मोती के समान एक दूसरेसे पृथक् हैं। निश्चयनयसे एक पुद्गल परमाणु बहुप्रदेशी नहीं है किन्तु उपचारसे एक पुद्गल परमाणु भी बहुप्रदेशी कहा जाता है क्योंकि उसमें अन्य परमाणुओं के साथ मिलकर पिण्डरूप परिणत होनेकी शक्ति है।

प्रश्न—'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' ऐसा आगे सूत्र है। उसीसे यह निश्चय हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। फिर इन द्रव्योंको बहुप्रदेशी बतलाने के लिये इस सूत्रमें काय शब्दका ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर—इस सूत्रमें काय शब्द यह सूचित करता है कि धर्म आदि द्रव्य बहुप्रदेशी हैं और आगेके सूत्रोंसे उन प्रदेशोंका निर्धारण होता है कि किस द्रव्यके कितने प्रदेश हैं। काल द्रव्यके प्रदेश प्रचयरूप नहीं होते हैं इस बातको बतलानेके लिये भी इस सूत्रमें काय शब्दका ग्रहण किया है। 'अजीवकाय' इस शब्दमें अजीव विशेषण है और काय विशेष्य है। इसलिये यहाँ विशेषणविशेष्य समास हुआ है। किन्हीं दो पदार्थोंमें व्यभिचार (असम्बन्ध) होनेपर किसी एक स्थानमें उनके सम्बन्धको बतलानेके लिये विशेषणविशेष्य समास होता है। काल द्रव्य अजीव है लेकिन काय नहीं है, जीव द्रव्य काय है लेकिन अजीव नहीं हैं। अतः अजीव और कायमें व्यभिचार होनेके कारण विशेषणविशेष्य समास हो गया है।

द्रव्याणि ॥ २ ॥

उक्त धर्म आदि चार द्रव्य हैं। जिसमें गुण और पर्याय पाये जाँय उनको द्रव्य कहते हैं।

नैयायिक कहते हैं कि जिसमें द्रव्यत्व नामक सामान्य रहे वह द्रव्य है। ऐसा कहना ठीक नहीं है। जब द्रव्यत्व और द्रव्य दोनोंकी पृथक् पृथक् सिद्धि हो तब द्रव्यत्वका द्रव्यके साथ सम्बन्ध हो सकता है। लेकिन दोनोंकी पृथक् पृथक् सिद्धि नहीं है। और यदि दोनों की पृथक् सिद्धि है तो विना द्रव्यत्वके भी द्रव्य सिद्ध हो गया तब द्रव्यत्वके सम्बन्ध माननेकी क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार गुणोंके समुदायको द्रव्य कहना भी ठीक नहीं है ; क्योंकि गुण और समुदायमें अभेद मानने पर एक ही पदार्थ रहेगा और भेद मानने पर गुणोंकी कल्पना व्यर्थ है क्योंकि विना गुणोंके भी समुदाय सिद्ध है।

गुण और द्रव्यमें कथञ्चित् भेदाभेद माननेसे कोई दोष नहीं आता। गुण और द्रव्य पृथक् पृथक् उपलब्ध नहीं होते इसलिये उनमें अभेद है और उनके नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि भिन्न भिन्न हैं इसलिये उनमें भेद भी है।

पूर्व सूत्रमें धर्म आदि बहुत पदार्थ हैं इसलिये इस सूत्रमें धर्म आदिका द्रव्यके साथ

समानाधिकरण होनेसे द्रव्य शब्दको बहुवचन कहा है लेकिन समानाधिकरणके कारण द्रव्य शब्द पुल्लिङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य शब्द सदा नपुंसक लिङ्ग है।

जीवाश्च ॥ ३ ॥

जीव भी द्रव्य है। आगे कालको भी द्रव्य बतलाया है। इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाल, पुद्गल, जीव और काल ये छह द्रव्य हैं।

प्रश्न—आगे 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्रमें द्रव्यका लक्षण वतलाया है। इसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म आदि द्रव्य हैं। फिर यहाँ द्रव्योंकी गणना करना ठीक नहीं है ?

उत्तर—यहाँ द्रव्योंकी गणना इसलिये की गई है कि द्रव्य छह ही हैं। अन्य लोगोंके द्वारा मानी गयी द्रव्यकी संख्या ठीक नहीं है।

नैयायिक पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। यह संख्या ठीक नहीं है ; पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनका पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भाव हो जाता है।

जिनेन्द्र देवने पुद्गल द्रव्यके छह भेद बतलाए हैं— अतिस्थूल, स्थूलस्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म। इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—पृथिवी, जल, छाया, नेत्रके सिवाय शेष चार इन्द्रियोंके विषय, कर्म और परमाणु।

प्रश्न पुद्गलद्रव्यमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाते हैं। वायु और मनमें रूप आदि नहीं हैं। अतः पुद्गलमें इनका अन्तर्भाव कैसे होगा ?

उत्तर—वायुमें भी रूप आदि चारों गुण पाये जाते हैं। वायुमें नैयायिकके मतके अनुसार स्पर्श है ही और स्पर्श होनेसे रूपादि गुणोंको भी मानना पड़ेगा। जहाँ स्पर्श है वहाँ शेष गुण होना ही चाहिए। ऐसा भी कहना ठीक नहीं कि वायुमें रूप है तो वायुका प्रत्यक्ष होना चाहिये; क्योंकि परमाणुमें रूप होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार जल, अग्नि आदिमें स्पर्श आदि चारों गुण पाये जाते हैं। चारोंका परस्पर अविनाभाव है।

मनके दो भेद हैं-द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमनका पुद्गलमें और भावमनका जीवमें अन्तर्भाव होता है। द्रव्यमन रूपादियुक्त होनेसे पुद्गलद्रव्यका विकार है। द्रव्यमन ज्ञानो-पयोगका कारण होनेसे रूपादि युक्त (मूर्त) है। शब्द भी पौद्गलिक होनेसे मूर्त ही है अतः नैयायिकका ऐसा कहना कि जिस प्रकार शब्द अमूर्त होकर ज्ञानोपयोगमें कारण होता है उसी प्रकार द्रव्यमन भी अमूर्त होकर ज्ञानोपयोगमें कारण हो जायगा ठीक नहीं है।

प्रत्येक द्रव्यके पृथक् पृथक् परमाणु मानना भी ठीक नहीं है। जलके परमाणु पृथिवी-रूप भी हो सकते हैं और पृथिवीके परमाणु जलरूप भी। जिस प्रकार वायु आदिका पुद्गलमें अन्तर्भाव हो जाता है उसी प्रकार दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव हो जाता है ; क्योंकि सूर्यके उदयादिकी अपेक्षा आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिमें पूर्व आदि दिशाका व्यवहार किया जाता है।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

जीव आदि सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। ये द्रव्य कभी नष्ट नहीं होते हैं इसलिये नित्य हैं। इनकी संख्या सदा छह ही रहती है अथवा ये कभी भी अपने अपने प्रदेशोंको नहीं छोड़ते हैं इसलिये अवस्थित हैं। द्रव्योंमें नित्यत्व और अवस्थितत्व द्रव्यनयकी अपेक्षासे है। इन द्रव्योंमें रूप, रस आदि नहीं पाये जाते इसलिये अरूपी हैं।

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाते हैं इसलिये पुद्गल द्रव्य रूपी है। जिसमें पूरण और गलन हो वह पुद्गल है। पुद्गलके परमाणु,स्कन्ध आदि अनेक भेद हैं इसलिये सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग किया है।

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥६॥

आकाश पर्यन्त अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक एक हैं। जीव या पुद्गलकी तरह अनेक नहीं है।

प्रश्न—'आ आकाशादेकैकम्' ऐसे लघु सूत्रसे ही काम चल जाता फिर व्यर्थ ही द्रव्य शब्दका ग्रहण क्यों किया ?

उत्तर—उक्त द्रव्य द्रव्यकी अपेक्षा एक एक हैं लेकिन क्षेत्र और भावकी अपेक्षा असंख्यात और अनन्त भी हैं इस बातको बतलानेके लिये सूत्रमें द्रव्य शब्दका ग्रहण आवश्यक है।

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

धर्म, अधर्म और आकाश ये द्रव्य निष्क्रिय भी हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेको क्रिया कहते हैं। इस प्रकारकी क्रिया इन द्रव्योंमें नहीं पाई जाती इसलिये ये निष्क्रिय हैं।

प्रश्न—यदि धर्म आदि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो इनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उत्पत्ति क्रियापूर्वक होती है। उत्पत्तिके अभावमें विनाश भी संभव नहीं है। अतः धर्म आदि द्रव्योंको उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य युक्त कहना ठीक नहीं हैं ?

उत्तर—यद्यपि धर्म आदि द्रव्योंमें क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं है फिर भी इनमें दूसरे प्रकारका उत्पाद पाया जाता है।

स्वनिमित्त और परप्रत्ययके भेदसे दो प्रकारका उत्पाद धर्म आदि द्रव्योंमें होता रहता है। इन द्रव्योंके अनन्त अगुरुलघु गुणोंमें छह प्रकारकी वृद्धि और छह प्रकारकी हानि स्वभावसे ही होती रहती है यही स्वनिमित्तक उत्पाद और व्यय है। मनुष्य आदिकी गति, स्थिति और अवकाशदानमें हेतु होनेके कारण धर्म आदि द्रव्योंमें परप्रत्ययापेक्ष उत्पाद और विनाश भी होता रहता है। क्योंकि क्षण क्षणमें गति आदिके विषय भिन्न भिन्न होते हैं और विषय भिन्न होनेसे उसके कारणको भी भिन्न होना चाहिये।

प्रश्न—क्रिया सहित जलादि ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त होते हैं। धर्म आदि निष्क्रिय द्रव्य जीवादिकी गति आदिमें हेतु कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—ये द्रव्य केवल जीवादिकी गति आदिमें सहायक होते हैं, प्रेरक नहीं। जैसे चक्षु रूपके देखनेमें निमित्त होता है लेकिन जो नहीं देखना चाहता उसको देखनेकी प्रेरणा नहीं करता। इसलिये धर्म आदि द्रव्योंको निष्क्रिय होनेपर भी जीवादिकी गति आदिमें हेतु होनेमें कोई विरोध नहीं है।

जीव और पुद्गलको छोड़कर शेष चार द्रव्य सक्रिय हैं।

द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या—

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म, अधर्म और एकजीवके असंख्यात प्रदेश होते हैं। जितने आकाशदेशमें एक

पुद्गल परमाणु रह सकता है उतने आकाश देशको प्रदेश कहते हैं। असंख्यातके तीन भेद हैं—जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट। उनमेंसे यहाँ अजघन्योत्कृष्ट लिया गया है। धर्म और अधर्म द्रव्य पूरे लोकाकाशमें व्याप्त है। एक जीव लोकाकाश प्रमाण प्रदेशवाला होने पर भी प्रदेशोंमें संकोच और विस्तारकी अपेक्षा स्वकर्मानुसार प्राप्त शरीरप्रमाण ही रहता है। लोकपूरणसमुद्घातके समय जीव पूरे लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है। जिस समय जीव लोकपूरणसमुद्घात करता है उस समय मेरुके नीचे चित्रवज्र पटलके मध्यमें जीवके आठ मध्य प्रदेश रहते हैं और शेष प्रदेश पूरे लोकाकाशमें व्याप्त हो जाते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणकी अपेक्षा चार समय प्रदेशोंके विस्तारमें और चार समय संकोचमें इस प्रकार लोकपूरणसमुद्घात करनेमें आठ समय लगते हैं।

आकाशस्यानन्ताः॥ ९ ॥

आकाश द्रव्यके अनन्त प्रदेश हैं। पर लोकाकाशके असंख्यात ही प्रदेश हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

पुद्गल द्रव्यके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। सूत्रमें 'च' शब्दसे अनन्तका ग्रहण किया गया है। अनन्तके तीन भेद हैं–परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। यहाँ तीनों अनन्तोंका ग्रहण किया है। किसी द्व्यणुक आदि पुद्गलके संख्यात प्रदेश होते हैं। दो अणुसे अधिक और डेड़ सौ अंक प्रमाण पर्यन्त पुद्गल परमाणुओंके समूहको संख्यातप्रदेशी स्कंध कहते हैं। लोकाकाशके प्रदेश प्रमाण परमाणुओंवाला स्कन्ध असंख्यात प्रदेशी होता है। इसी प्रकार कोई स्कन्ध असंख्याता संख्यात प्रदेशवाला, कोई परीतान्त प्रदेशवाला, कोई युक्तानन्त प्रदेशवाला और कोई अनन्तानन्त प्रदेशवाला भी होता है।

प्रश्न—लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं फिर वह अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्यका आधार कैसे हो सकता है?

उत्तर—पुद्गल परमाणुओंमें सूक्ष्म परिणमन होनेसे और अव्याहत अवगाहन शक्ति होनेसे आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु रह सकते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

परमाणुके दो आदि प्रदेश नहीं होते हैं। परमाणु एकप्रदेशी ही होता है। सबसे छोटे हिस्सेका नाम परमाणु है। अतः परमाणुके भेद या प्रदेश नहीं हो सकते। परमाणुसे छोटा और आकाशसे बड़ा कोई नहीं है। अतः परमाणुके प्रदेशोंमें भेद नहीं डाला जा सकता।

द्रव्योंके रहनेका स्थान—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

जीव आदि द्रव्योंका अवगाह (स्थान) लोकाकाशमें है। लोकाकाश आधार और जीवादि द्रव्य आधेय हैं। लेकिन लोकाकाशका अन्य कोई आधार नहीं है वह अपने ही आधार है।

प्रश्न—जैसे लोकाकाशका कोई दूसरा आधार नहीं है उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंका भी दूसरा आधार नहीं होना चाहिये अथवा धर्मादिके आधारकी तरह आकाशका भी दूसरा आधार होना चाहिये ?

उत्तर—आकाशसे अधिक परिमाण वाला अर्थात् बड़ा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है जो आकाशका आधार हो सके अतः आकाश किसीका आधेय नहीं हो सकता। आकाश भी व्यवहार नयकी अपेक्षा धर्मादि द्रव्योंका आधार माना गया है। निश्चय नयसे तो सब द्रव्य अपने अपने आधार हैं। आकाश और अन्य द्रव्योंमें आधार-आधेय सम्बन्धका तात्पर्य यही है कि आकाशसे बाहर अन्य द्रव्य नहीं है। एवम्भूत नयकी अपेक्षा तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। एवम्भूत अर्थात् निश्चयनय। परमात्मप्रकाश (१।५) में सिद्धोंको स्वात्मनिवासी ही बतलाया है।

प्रश्न—आधार और आधेय पूर्वापर कालभावी होते हैं। जैसे घड़ा पहिले रखा हुआ है और उसमें बेर आदि पीछे रख दिए जाते हैं। आकाश और धर्मादि द्रव्य समकालभावी हैं इसलिये इनमें व्यवहारनयसे भी आधार-आधेयसम्बन्ध नहीं बन सकता?

उत्तर—कहीं कहीं समकालभावी पदार्थोंमें भी आधार-आधेय सम्बन्ध पाया जाता है जैसे घट और घटके रूपादिकमें। इसी प्रकार समकालभावी आकाश और धर्मादि द्रव्योंमें उक्त सम्बन्ध है।

लोक और अलोकका विभाग धर्म और अधर्म द्रव्यके सद्भावसे होता है। यदि धर्म और अधर्म द्रव्य न होते तो जीव और पुद्गलकी जहाँ कि धर्म और अधर्म द्रव्य है वह लोक और उसके बाहर अलोक गति और स्थितिके अभाव होजानेसे लोकालोकका विभाग भी न होता।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाशमें तिलमें तैलकी तरह व्याप्त हैं। इसमें अवगाहन शक्ति होनेसे परस्परमें व्याघात नहीं होता है।

प्रश्न—अलोकाकाशमें अधर्म द्रव्य न होने से आकाशकी स्थिति और काल द्रव्य न होनेसे आकाशमें परिणमन कैसे होता है?

उत्तर—जैसे जलके समीप स्थित उष्ण लोहेका गोला एक ओरसे जलको खींचता है लेकिन जल पूरे लोह पिण्डमें व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार लोकके अन्तभागके निकटका अलोकाकाश अधर्म और काल द्रव्यका स्पर्श करता है और उस स्पर्शके कारण समस्त अलोकाकाशकी स्थिति और उसमें परिवर्तन होता है।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

पुद्गल द्रव्यका अवगाह लोकाकाशके एक प्रदेशको आदि लेकर असंख्यात प्रदेशोंमें यथायोग्य होता है। आकाशके एक प्रदेशमें एक परमाणुसे लेकर असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके स्कन्धका अवगाह हो सकता है। इसी प्रकार आकाशके दो, तीन आदि प्रदेशोंमें भी पुद्गल द्रव्यका अवगाह होता है।

प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं इसलिये इनके अवगाहमें कोई विरोध नहीं है लेकिन अनन्त प्रदेशवाले मूर्त पुद्गलस्कन्धका असंख्यात प्रदेशी लोकाकाशमें अवगाह कैसे हो सकता है?

उत्तर—सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होनेसे आकाशके एक प्रदेशमें भी अनन्त परमाणुवाला पुद्गलस्कन्ध रह सकता है। जैसे एक कोठेमें अनेक दीपकोंका प्रकाश

एक साथ रहता है। इस विषयमें आगम प्रमाण भी है। प्रवचनसारमें कहा है—कि सूक्ष्म, बादर और नाना प्रकारके अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्धोंसे यह लोक ठसाठस भरा है।

इस विषयमें रुई की गांठ का दृष्टान्त भी उपयुक्त है। फैली हुई रुई अधिक क्षेत्रको घेरती है जब कि गांठ बाँधनेपर अल्पक्षेत्रमें आ जाती है।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर समस्त लोकाकाशमें है। लोकाकाशके असंख्यात भागोंमें से एक, दो, तीन आदि भागोंमें एक जीव रहता है और लोकपूरणसमुद्घातके समय वही जीव समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो जाता है।

प्रश्न—यदि लोकाकाशके एक भागमें एक जीव रहता है तो एक भागमें द्रव्य प्रमाणसे शरीरयुक्त अनन्तानन्त जीवराशि कैसे रह सकती है ?

उत्तर—सूक्ष्म और बादरके भेदसे जीवोंका एक आदि भागोंमें अवगाह होता है। अनेक बादर जीव एक स्थानमें नहीं रह सकते क्योंकि वे परस्परमें प्रतिघात (बाधा) करते हैं, लेकिन परस्परमें प्रतिघात न करनेके कारण एक निगोद जीवके शरीरमें अनन्तानन्त सूक्ष्म जीव रहते हैं। बादर जीवोंसे भी सूक्ष्म जीवोंका प्रतिघात नहीं होता है।

असंख्यातप्रदेशी जीव लोकके असंख्यातवें भागमें कैसे रहता है—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

दीपकके प्रकाशकी तरह जीव प्रदेशोंके संकोच और विस्तारकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें आदि भागोंमें रहता है। दीपकको यदि खुले मैदानमें रक्खा जाय तो उसका प्रकाश दूर तक होगा। उसी दीपकको कोठेमें रखनेसे कम प्रकाश और घड़ेमें रखनेसे और भी कम प्रकाश होगा। इसी प्रकार जीव भी अनादि कार्मण शरीरके कारण छोटा और बड़ा शरीर धारण करता है और जीवके प्रदेश संकोच और विस्तारके द्वारा शरीरप्रमाण हो जाते हैं। लघु शरीरमें प्रदेशोंका संकोच और बड़े शरीरमें प्रदेशोंका विस्तार हो जाता है लेकिन जीव वही रहता है जैसे हाथी और चींटीके शरीरमें।

एक प्रदेशमें स्थित होनेके कारण यद्यपि धर्म आदि द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हैं लेकिन अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते इसलिये उनमें संकर या एकत्व दोष नहीं हो सकता। पञ्चास्तिकायमें कहा भी है कि—"ये द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेमें मिलते हैं, परस्परको अवकाश देते हैं लेकिन अपने अपने स्वभावको नहीं छोड़ते।"

धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

एक देशसे देशान्तरमें जाना गति है। ठहरना स्थिति है। जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायता देना धर्म द्रव्यका उपकार और जीव तथा पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायता देना अधर्म द्रव्यका उपकार है। यद्यपि उपकार दो हैं लेकिन उपकार शब्दको सामान्य-वाची होनेसे सूत्रमें एकवचनका ही प्रयोग किया है।

प्रश्न—सूत्रमें उपग्रह शब्द व्यर्थ है क्योंकि उपकार शब्दसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है इसलिये 'गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः' ऐसा सूत्र होना चाहिये।

उत्तर—यदि सूत्रमें उपग्रह शब्द न हो तो जिस प्रकार धर्म द्रव्यका उपकार गति और अधर्म द्रव्यका उपकार स्थिति है ऐसा क्रमसे होता है उसी प्रकार जीवोंके गमनमें सहायता

करना धर्म द्रव्यका उपकार और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायता देना अधर्म द्रव्यका उपकार है ऐसा विपरीत अर्थ भी हो जाता। अतः इस भ्रमको दूर करनेके लिये सूत्रमें उपग्रह शब्दका होना आवश्यक है।

प्रश्न--धर्म और अधर्म द्रव्यका जो उपकार बतलाया है वह आकाशका ही उपकार है क्योंकि आकाशमें ही गति और स्थिति होती है।

उत्तर—आकाश द्रव्यका उपकार द्रव्योंको अवकाश देना है। इसलिये गति और स्थितिको आकाशका उपकार मानना ठीक नहीं है। एक द्रव्यके अनेक प्रयोजन मानकर यदि धर्म और अधर्म द्रव्यका अस्तित्व स्वीकार न किया जाय तो लोक और अलोकका विभाग नही हो सकेगा। इन्हीं दो द्रव्योंके कारण ही यह विभाग बन पाता है।

प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्यका प्रयोजन पृथिवी, जल आदिसे ही सिद्ध हो जाता है इसलिये इनके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—पृथिवी, जल आदि गति और स्थितिके विशेष कारण हैं। लेकिन इनका कोई साधारण कारण भी होना चाहिये। इसलिये धर्म और अधर्म द्रव्यका मानना आवश्यक हैं क्योंकि ये गति और स्थितिमें सामान्य कारण होते हैं।

धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थितिमें प्रेरक नहीं होते किन्तु सहायक मात्र होते है अतः ये परस्परमें गति और स्थितिका प्रतिबन्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न—धर्म और अधर्म द्रव्यकी सत्ता नहीं है क्योंकि इनकी उपलब्धि नहीं होती है।

उत्तर—ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिस वस्तुकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि हो वही वस्तु सत् मानी जाय। सब मतावलम्बी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारके पदार्थोंको मानते हैं। धर्म अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय होनेसे यद्यपि हम लोगोंको प्रत्यक्ष नही होते हैं लेकिन सर्वज्ञ तो इनका प्रत्यक्ष करते ही हैं। श्रुतज्ञानसे भी धर्म और अधर्म द्रव्यकी उपलब्धि होती है।

आकाशका उपकार—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

समस्त द्रव्योंको अवकाश देना आकाशका उपकार है।

प्रश्न—क्रियावाले जीव और पुद्गलोंको अवकाश देना तो ठीक है लेकिन निष्क्रिय धर्मादि द्रव्योंको अवकाश देना तो संभव नहीं है।

उत्तर—यद्यपि धर्म आदिमें अवगाहन क्रिया नहीं होती है लेकिन उपचारसे वे भी अवगाही कहे जाते हैं। धर्म आदि द्रव्य लोकाकाशमें सर्वत्र व्याप्त हैं इसलिये व्यवहारनयसे इनका अवकाश मानना उचित ही है।

प्रश्न—यदि आकाशमें अवकाश देनेकी शक्ति है तो दीवालमें गाय आदिका और वज्रमें पत्थर आदिका भी प्रवेश हो जाना चाहिये।

उत्तर—स्थूल होनेके कारण उक्त पदार्थ परस्परका प्रतिघात करते हैं। यह आकाशका दोष नहीं है किन्तु उन्हीं पदार्थोंका है। सूक्ष्म पदार्थ परस्परमें अवकाश देते हैं इसलिये प्रतिघात नहीं होता। इससे यह भी नहीं समझना चाहिये कि अवकाश देना पदार्थोंका काम है आकाशका नहीं, क्योंकि सब पदार्थोंको अवकाश देनेवाला एक साधारण कारण आकाश मानना आवश्यक है।

यद्यपि आलोकाकाशमें अन्य द्रव्य न होनेसे आकाशका अवकाशदान लक्षण वहाँ नहीं बनता लेकिन अवकाश देनेका स्वभाव वहाँ भी रहता है इसलिये आलोकाकाश अवकाश न दने पर भी आकाश ही है।

पुद्गल द्रव्यका उपकार—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं।

शरीर विशीर्ण होनेवाले होते हैं। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच शरीर पुद्गलसे बनते हैं। आत्माके परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल परमाणु कर्मरूप परिणत हो जाते हैं और कर्मोंसे औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये शरीर पौद्गलिक हैं।

प्रश्न—कार्मण शरीर अनाहारक होनेसे पौद्गलिक नहीं हो सकता।

उत्तर—यद्यपि कार्मण शरीर अनाहारक है लेकिन उसका विपाक गुड कांटा आदि मूर्तिमान् द्रव्यके सम्बन्ध होने पर होता है इसलिये कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है।

वचन के दो भेद हैं—द्रव्यवचन और भाववचन। वीर्यान्तराय, मति और श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदय होनेपर भाववचन होते हैं इसलिये पुद्गलके आश्रित होनेसे पौद्गलिक है। भाव वचनकी सामर्थ्यसे युक्त आत्माके द्वारा प्रेरित होकर जो पुद्गल परमाणु वचनरूपसे परिणत होते हैं वे द्रव्य वचन हैं। द्रव्य वचन श्रोत्रेन्द्रियके विषय होते हैं।

प्रश्न—वचन अमूर्त हैं अतः उनको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है।

उत्तर—वचन अमूर्त नहीं है किन्तु मूर्त हैं और इसीलिये पौद्गलिक भी हैं। शब्दोंका मूर्तिमान् द्रव्यकर्णके द्वारा ग्रहण होता है, दीवाल आदि मूर्तिमान् द्रव्यके द्वारा शब्दका अवरोध देखा जाता है, तीव्र भेरी आदिके शब्दोंके द्वारा मन्द मच्छर आदिके शब्दोंका व्याघात होता है, मूर्त वायुके द्वारा भी शब्दका व्याघात होता है। विपरीत वायु चलनेसे शब्द अपने अनुकूल देशमें नहीं पहुंच पाता, इन सब कारणोंसे शब्दमें मूर्तत्व सिद्ध होता है। मूर्त द्रव्यके द्वारा ग्रहण, अवरोध, अभिभव आदि अमूर्त वस्तुमें नहीं हो सकते।

मनके भी दो भेद हैं द्रव्यमन और भावमन। ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदय होने पर गुण और दोषोंके विचार करनेमें समर्थ आत्माके उपकारक जो पुद्गल मन रूपसे परिणत होते हैं वे द्रव्यमन हैं। भावमन लब्धि और उपयोगरूप होता है और द्रव्यमनके आश्रित होनेसे पौद्गलिक है।

प्रश्न—मन अणुमात्र और रूपादि गुणोंसे रहित एक भिन्न द्रव्य है। उसको पौद्गलिक कहना ठीक नहीं है।

उत्तर—यदि मन अणुमात्र है तो इन्द्रिय और आत्मासे उसका सम्बन्ध है या नहीं? यदि सम्बन्ध नहीं है; तो वह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता। और आत्माके साथ मनका सम्बन्ध है, तो एक देशमें ही सम्बन्ध हो सकेगा, तब अन्य देशोंमें वह उपकारक नहीं हो सकेगा। अदृष्टके कारण अलातचक्रकी तरह मनका आत्माके सब प्रदेशोंमें परिभ्रमण मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा और अदृष्ट नैयायिक मतके अनुसार स्वयं क्रियारहित हैं अतः वे मनकी क्रियामें भी कारण नहीं हो सकते। क्रियावान् वायु आदिके गुणही अन्यत्र क्रियाहेतु हो सकते हैं।

ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होने पर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदय होने पर शरीरके भीतरसे जो वायु बाहर निकलती है उसको प्राण और जो वायु बाहरसे शरीरके भीतर जाती है उसको अपान कहते हैं।

मन और प्राणापानका भी मूर्त द्रव्यसे प्रतिघात आदि देखा जाता है इसलिये ये भी मूर्त हैं। बिजलीके गिरनेसे मनका प्रतिघात और मदिरा आदिसे अभिभव देखा जाता है। हाथ आदिसे मुखको बन्द कर देने पर प्राणापानका प्रतिघात और गलेमें कफ अटक जाने पर श्वासोच्छ्वासका अभिभव भी देखा जाता है।

प्राणापान क्रियाके द्वारा जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है। शरीरमें जो श्वासोच्छ्वास क्रिया होती है उसका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये क्योंकि कर्ताके विना क्रिया नहीं हो सकती और जो श्वासोच्छ्वास क्रियाका कर्ता है वही जीव है।

उक्त शरीर आदि पुद्गलके उपकार जीवके प्रति हैं।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

सुख, दुःख, जीवित और मरण ये भी जीवके प्रति पुद्गलके उपकार हैं। साता वेदनीयके उदयसे सुख और असाता वेदनीयके उदयसे दुःख होता है। आयु कर्मके उदयसे जीवन और आयु कर्मके विनाशसे मरण होता है। सुख आदि मूर्त कारणके होने पर होते हैं इसलिये ये पौद्गलिक हैं।

सूत्रगत उपग्रह शब्द इस बातको सूचित करता है कि पुद्गलका पुद्गलके प्रति भी उपकार होता है। जैसे काँसेका वर्तन भस्मसे साफ हो जाता है, मैला जल फिटकरी आदिसे स्वच्छ हो जाता है और गरम लोहा जलसे ठंडा हो जाता है। सूत्रगत 'च' शब्द यह सूचित करता है कि इन्द्रिय आदि अन्य भी पुद्गलके उपकार हैं।

जीवका उपकार—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

जीव परस्पर उपकार करते हैं जैसे पिता पुत्र, स्वामी-सेवक और गुरु-शिष्य आदि। स्वामी धनादिके द्वारा सेवकका और सेवक अनुकूल कार्यके द्वारा स्वामीका उपकार करता है। गुरु शिष्यको विद्या देता है तो शिष्य शुश्रूषा आदिसे गुरुको प्रसन्न रखता है। सूत्रगत उपग्रह शब्द सूचित करता है कि सुख, दुःख, जीवित और मरण द्वारा भी जीव परस्पर उपकार करते हैं।

कालका उपकार—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार हैं। कहीं 'वर्तना परिणामः क्रिया' इन तीनों पदोंमें स्वतन्त्र विभक्तियाँ भी देखी जाती हैं। कहीं 'वर्तनापरिणाम-क्रियाः' ऐसा समस्त पद उपलब्ध होता है। सब पदार्थोंमें स्वभावसे ही प्रतिसमय परिवर्तन होता रहता है लेकिन उस परिवर्तनमें जो बाह्य कारण है वह परमाणुरूप कालद्रव्य है। कालद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले परिवर्तन का नाम वर्तना है। वर्तनासे कालद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। चावलोंको वर्तन में अग्निपर रखनेके कुछ समय बाद ओदन (भात) बन कर तैयार हो जाता है। चावलोंसे जो ओदन बना वह एक समयमें और एक साथ ही नहीं बना किन्तु चावलोंमें प्रत्येक समय सूक्ष्म परिणमन होते होते अन्तमें स्थूल परिणमन दृष्टि-गोचर होता है। यदि प्रति समय सूक्ष्म परिणमन न होता तो स्थूल परिणमन भी नहीं हो सकता था। अतः चावलोंमें जो प्रति समय परिवर्तन हुआ वह काल रूप बाह्य कारणकी

अपेक्षासे ही हुआ। इसी प्रकार सब पदार्थोंमें परिणमन काल द्रव्यके कारण ही होता है। कालद्रव्य निष्क्रिय होकर भी निमित्तमात्रसे सब द्रव्योंकी वर्तना (क्रिया) में हेतु होता है।

एक पर्यायकी निवृत्ति होकर दूसरे पर्यायकी उत्पत्ति होनेका नाम परिणाम है। जीवका परिणाम क्रोध, मान, माया लोभादि,है। पुद्गलका परिणाम वर्णादि है। धर्म,अधर्म औ आकाशका परिणाम अगुरुलघु गुणोंकी वृद्धि हानिसे होता है।

हलन-चलन का नाम क्रिया है। क्रियाके दो भेद हैं--प्रायोगिकी और वैस्रसिकी। शकट (गाड़ी) आदिमें क्रिया दूसरों द्वारा होती है। इसको प्रायोगिकी क्रिया कहते हैं। मेघ आदिमें क्रिया स्वभावसे ही होती है। इसको वैस्रसिकी क्रिया कहते हैं

छोटे और बड़ेके व्यवहारको परत्वापरत्व कहते हैं। क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे परत्वापरत्व व्यवहार होता है लेकिन यहाँ कालका प्रकरण होनेसे कालकृत परत्वापरत्वका ही ग्रहण किया गया है। कालकृत परत्वापरत्वसे समीप देशवर्ती और व्रतादि गुणोंसे रहित वृद्ध चाण्डालको बड़ा और दूर देशवर्ती व्रतादिगुणोंसे सम्पन्न ब्राह्मण बालकको छोटाकहते हैं।

परिणाम, क्रिया, परत्वापरत्व, आवली, घड़ी, घण्टा, दिन आदिका कारण व्यवहार-काल है। सूर्यादिकी क्रियासे जो समय, आवली आदिका व्यवहार होता है वह व्यवहार कालकृत है। एक पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानेमें जो काल लगता है उसका नाम समय है और उस समयका कारण मुख्य काल है। व्यवहारमें भूत, भविष्यत् आदि व्यवहार मुख्यतया होते हैं।

यद्यपि परिणाम आदि वर्तनाके ही विशेष या भेद हैं लेकिन काल द्रव्यके मुख्य और व्यवहार ये दो भेद बतलानेके लिये सबका ग्रहण किया गया है। मुख्यकाल वर्तना रूप है। और व्यवहारकाल परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्वरूप है।

पुद्गलका स्वरूप—

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण पाये जाते हैं। कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ये स्पर्शके आठ भेद हैं। खट्टा, मीठा, कड़ुआ, कषायला और चरपरा ये रसके पाँच भेद हैं,लवण रसका सभी रसोंमें अन्तर्भाव है। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये गन्धके दो भेद हैं। काला, नीला, पीला, लाल और सफेद ये वर्णके पाँच भेद हैं। इनके भी संख्यात, असंख्यात और अनन्त उत्तर भेद होते हैं। जिन अग्नि आदिमें रस आदि प्रकट नहीं हैं वहाँ स्पर्शकी सत्ताद्वारा शेषका अनुमान कर लेना चाहिए।

यद्यपि "रूपिणः पुद्गलाः" इस पूर्वोक्त सूत्रसे ही पुद्गलके रूप रसादि वाले स्वरूपका ज्ञान हो जाता है लेकिन वह सूत्र पुद्गलको रूप रहित होनेकी आशंकाके निवारणके लिये कहा गया था। 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रसे पुद्गलमें भी अरूपित्वकी आशंका थी। अतः यह सूत्र पुद्गलका पूर्ण स्वरूप बतलानेके लिये है, निरर्थक नहीं है।

पुद्गलकी पर्यायें—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

पुद्गल द्रव्यमें शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, छाया, तम, आतप और उद्योत रूपसे परिणमन होता रहता है अर्थात् ये पुद्गलकी पर्यायें हैं। शब्दके दो भेद हैं-

भाषारूप और अभाषारूप। भाषारूप शब्दके भी दो भेद हैं-अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्द संस्कृत और असंस्कृतके भेदसे आर्य और म्लेच्छोंके व्यवहारका हेतु होता है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय,चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानातिशयको प्रतिपादन करनेवाला अनक्षरात्मक शब्द है। एकेन्द्रियादिकी अपेक्षा दो इन्द्रिय आदिमें ज्ञानातिशय है। एकेन्द्रियमें तो ज्ञानमात्र है। अतिशय ज्ञानवाले सर्वज्ञके द्वारा एकेन्द्रियादिका स्वरूप बताया जाता है।

कोई लोग सर्वज्ञके शब्दोंको अनक्षरात्मक कहते हैं लेकिन उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अनक्षरात्मक शब्दसे अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता। सब भाषात्मक शब्द पुरुषकृत होनेसे प्रायोगिक होते हैं।

अभाषात्मक शब्दके दो भेद हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिकके चार भेद हैं—तत, वितत, घन और सुषिर। चमड़ेके ताननेसे पुष्कर, भेरी, दुन्दुभि आदि बाजोंसे उत्पन्न होने वाले शब्दको तत कहते हैं। तन्त्रीके कारण वीणा आदिसे होनेवाला शब्द वितत है। किन्नरोंके द्वारा कहा गया शब्द भी वितत है। घण्टा, ताल आदिसे उत्पन्न होने वाला शब्द घन है। बाँस, शंख आदिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द सुषिर है। मेघ, विद्युत् आदिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वैस्रसिक है।

बन्धके दो भेद हैं-प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुषकृत बन्धको प्रायोगिक कहते हैं। इसके दो भेद हैं-अजीवविषयक और जीवाजीवविषयक। लाख और काष्ठ आदिका सम्बन्ध अजीवविषयक प्रायोगिक बन्ध है। जीवके साथ कर्म और नोकर्मका बन्ध जीवाजीवविषयक प्रायोगिक बन्ध है। पुरुषकी अपेक्षाके बिना स्वभावसे ही होनेवाले बन्धको वैस्रसिक बन्ध कहते हैं। रूक्ष और स्निग्ध गुणके निमित्तसे विद्युत्, जलधारा,अग्नि, इन्द्रधनुष आदिका बन्ध वैस्रसिक है।

सौक्ष्म्यके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणुओंमें अन्त्य सौक्ष्म्य है। बेल, आँवला, बेर आदिमें आपेक्षिक सौक्ष्म्य है। बेलकी अपेक्षा आँवला सूक्ष्म है और आँवलेकी अपेक्षा बेर सूक्ष्म है।

स्थौल्यके भी दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। अन्त्य स्थौल्य संसारव्यापी महास्कन्धमें है। बेर, आँवला, बेल आदिमें आपेक्षिक स्थौल्य है। बेरकी अपेक्षा आँवला स्थूल है और आंवलेकी अपेक्षा बेल स्थूल है।

संस्थानके दो भेद हैं—इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण। जिस आकारका अमुकरूपमें निरूपण किया जा सके वह इत्थंलक्षण संस्थान है जैसे गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि। और जिस आकारके विषयमें कुछ कहा न जा सके वह अनित्थंलक्षण संस्थान है जैसे मेघ, इन्द्रधनुष आदिका आकार अनेक प्रकारका होता है।

भेद छह प्रकारका है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, प्रतर और अणुचटन। करोंत, कुल्हाड़ी आदिसे लकड़ी आदिके काटनेको उत्कर कहते हैं। जौ, गेहूँ आदिको पीसकर सतुआ आदि बनाना चूर्ण है। घटका फूट जाना खण्ड है। उड़द,मूँग आदिको दलकर दाल बनाना चूर्णिका है। मेघपटलोंका विघटन हो जाना प्रतर हैं। संतप्त लोहेके गोलेको घनसे कूटने पर जो आगके कण निकलते हैं वह अणुचटन है।

प्रकाशका विरोधी अन्धकार पुद्गलकी पर्याय है।

प्रकाश और आवरणके निमित्तसे छाया होती है। इसके दो भेद हैं—वर्णादि-विकारात्मक और प्रतिबिम्बात्मक। गौरवर्णको छोड़कर श्यामवर्ण रूप हो जाना वर्णादि-

विकारात्मक छाया है। और चन्द्र आदिका जलमें जो प्रतिबिम्ब होता है वह प्रतिबिम्बात्मक छाया हैं।

सूर्य, वह्नि आदिमें रहनेवाली उष्णता और प्रकाशका नाम आतप है।

चन्द्रमा, मणि, खद्योत (जुगुनू) आदिसे होनेवाले प्रकाशको उद्योत कहते हैं।

उक्त शब्द आदि दश पुद्गल द्रव्यके विकार या पर्याय हैं। सूत्रमें 'च' शब्दसे अभिघात, नोदन आदि अन्य भी पुद्गल द्रव्यके विकारोंका ग्रहण कर लेना चाहिये।

पुद्गलके भेद—

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। अणुका परिमाण आकाशके एक प्रदेश प्रमाण है। यद्यपि परमाणु प्रत्यक्ष नहीं हैं लेकिन उसका स्कन्धरूप कार्योंको देखकर अनुमान कर लिया जाता है।

परमाणुओंमें दो अविरोधी स्पर्श, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहता है, ये स्वरूपकी अपेक्षासे नित्य हैं लेकिन स्पर्श आदि पर्यायोंकी अपेक्षासे अनित्य भी हैं। इनका परिमाण परिमण्डल (गोल) होता है। नियमसारमें परमाणुका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"जिसका वही आदि, वही मध्य और वही अन्त हो, जो इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सके ऐसे अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते हैं।"

स्थूल होनेके कारण जिनका ग्रहण, निक्षेपण आदि हो सके ऐसे पुद्गल परमाणुओंके समूहको स्कन्ध कहते हैं। ग्रहण आदि व्यापारकी योग्यता न होने पर भी उपचारसे द्व्यणुक आदिको भी स्कन्ध कहते हैं।

यद्यपि पुद्गलके अनन्त भेद हैं लेकिन अणुरूप जाति और स्कन्धरूप जातिकी अपेक्षा से दो भेद भी हो जाते हैं।

प्रश्न—जातिमें एकवचन होता है फिर सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग क्यों किया?

उत्तर—अणु और स्कन्धके अनेक भेद बतलानेके लिये बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

यद्यपि 'अणुस्कन्धाश्च' इस प्रकार एक पदवाले सूत्रसे ही काम चल जाता लेकिन पूर्वके दो सूत्रोंमें भेद बतलानेके लिये 'अणवः स्कन्धाश्च' इस प्रकार दो पदका सूत्र बनाना पड़ा। 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इस सूत्रका सम्बन्ध केवल अणुसे है अर्थात् परमाणुओंमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं। लेकिन स्कन्धका सम्बन्ध 'स्पर्शरस' इत्यादि और 'शब्दबन्ध' इत्यादि दोनों सूत्रोंसे है। स्कन्ध स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं तथा शब्द, बन्ध आदि पर्यायवाले भी होते हैं।

इस सूत्रमें 'च' शब्द समुच्चयार्थक है। अर्थात् अणु ही पुद्गल नहीं हैं किन्तु स्कन्ध भी पुद्गल हैं। निश्चयनयसे परमाणु ही पुद्गल हैं और व्यवहारनयसे स्कन्धभी पुद्गल हैं।

स्कन्धोंकी उत्पत्तिका कारण—

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

स्कन्धोंकी उत्पत्ति भेद, संघात और दोनोंसे होती है। भेद अर्थात् विदारण जुदा होना, संघात अर्थात् मिलना इकट्ठा होना।

दो अणुओंके मिल जानेसे दो प्रदेशवाला स्कन्ध बन जाता है। दो प्रदेशवाले स्कन्ध के साथ एक अणुके मिल जानेसे तीन प्रदेशवाला स्कन्ध हो जाता है। इस प्रकार संघातसे संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश परिमाण स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। भेदसे भी स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। संख्यात और अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंके भेद (टुकड़े) करनेसे द्विप्रदेशपर्यन्त अनेक स्कन्ध बन जाँयगे। इसी प्रकार भेद और संघात दोनोंसे भी स्कन्धकी उत्पत्ति होती है। कुछ परमाणुओंसे भेद होनेसे और कुछ परमाणुओंके साथ संघात होनेसे स्कन्धकी उत्पत्ति होती है।

अणुकी उत्पत्तिका कारण—

भेदादणु ॥ २७ ॥

परमाणुकी उत्पत्ति भेदसे ही होती है—संघात और भेद-संघातसे अणुकी उत्पत्ति नहीं होती है। किसी स्कन्धके परमाणु पर्यन्त भेद करनेसे परमाणुकी उत्पत्ति होती है।

दृश्य स्कन्धकी उत्पत्तिका कारण—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

चाक्षुष अर्थात् चक्षु इन्द्रियसे देखने योग्य स्कन्धोंकी उत्पत्ति भेद और संघातसे होती है, केवल भेदसे नहीं। अनन्त अणुओंका संघात होनेपर भी कुछ स्कन्ध चाक्षुष होते हैं और कुछ अचाक्षुष। जो अचाक्षुष स्कन्ध है उसका भेद हो जाने पर भी सूक्ष्म परिणाम बने रहनेके कारण वह चाक्षुष नहीं हो सकता। लेकिन यदि उस सूक्ष्म स्कन्धका भेद होकर अर्थात् सूक्ष्मत्वका विनाश होकर अन्य किसी चाक्षुष स्कन्धके साथ सम्बन्ध हो जाय तो वह चाक्षुष हो जायगा। इस प्रकार चाक्षुष स्कन्धकी उत्पत्ति भेद और संघात दोनोंसे होती है।

द्रव्यका लक्षण—

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्यका लक्षण सत् है, अर्थात् जिसका अस्तित्व अथवा सत्ता हो वह द्रव्य है।

सत्का स्वरूप—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो वह सत् है। अपने मूल स्वभाव को न छोड़कर नवीन पर्यायकी उत्पत्तिको उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टीके पिण्डसे घट पर्यायका होना। पूर्व पर्यायका नाश हो जाना व्यय है जैसे घटकी उत्पत्ति होने पर मिट्टीके पिण्डका विनाश व्यय है। ध्रौव्य द्रव्यके उस स्वभावका नाम है जो द्रव्यकी सभी पर्यायोंमें रहता है और जिसका कभी विनाश नहीं होता जैसे मिट्टी। पर्यायोंका उत्पाद-विनाश होने पर भी द्रव्य स्वभावका अन्वय बना रहता है।

प्रश्न—भेद होने पर युक्त शब्दका प्रयोग देखा जाता है जैसे देवदत्त दण्डसे युक्त है। इसी तरह यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य और द्रव्यमें भेद है तो दोनोंका अभाव हो जायगा क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके विना द्रव्यकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती और द्रव्यके अभावमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी संभव नहीं है।

उत्तर—उत्पाद आदि और द्रव्यमें अभेद होने पर भी कथञ्चिद्भेद नयकी अपेक्षासे युक्त शब्दका प्रयोग किया गया है। यह खंभा सारयुक्त है ऐसा व्यवहार अभेदमें भी देखा जाता है। द्रव्य लक्ष्य है और उत्पाद आदि लक्षण हैं अतः लक्ष्यलक्षणभावको दृष्टिमें रखने पर पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे द्रव्य और उत्पाद आदिमें भेद है लेकिन द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे उनमें अभेद है। अथवा यहाँ युक्त शब्द योगार्थक युज् धातुसे नहीं बना है किन्तु युक्त शब्द समाधि (एकता) वाचक है। अतः जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक हो उसका नाम द्रव्य है। तात्पर्य यह कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एतत्त्रयात्मक ही द्रव्य है, दोनोंका पृथक् अस्तित्व नहीं है। पर एक अंश है और दूसरा अंशी, एक पर्याएँ हैं तो दूसरा अन्वयी द्रव्य, एक लक्षण हैं तो दूसरा लक्ष्य इत्यादि भेद दृष्टिसे उनमें भेद है।

नित्यका लक्षण—

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

उस भाव या स्वरूपके प्रत्यभिज्ञानका जो हेतु होता है वह अनुस्यूत अंश नित्यत्व है। यह वही है इस प्रकारके ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान बिना हेतुके नहीं हो सकता। अतः तद्भाव प्रत्यभिज्ञानका हेतु है। किसीने पहिले देवदत्तको बाल्यावस्थामें देखा था। जब वह उसे वृद्धावस्थामें देखता है और पूर्वका स्मरण कर सोचता है कि—यह तो वही देवदत्त है। इससे ज्ञात होता है कि देवदत्तमें एक ऐसा तद्भाव (स्वभावविशेष) है जो बाल्य और वृद्ध दोनों अवस्थाओंमें अन्वित रहता है। यदि द्रव्यका अत्यन्त विनाश हो जाय और सर्वथा नूतन पर्यायकी उत्पत्ति हो तो स्मरणका अभाव हो जायगा और स्मरणाभाव होनेसे लोकव्यवहारकी भी निवृत्ति हो जायगी। द्रव्यमें नित्यत्व द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे ही है, सर्वथा नहीं। यदि द्रव्य सर्वथा नित्य हो तो आत्मामें संसारकी निवृत्तिके लिए की जाने वाले दीक्षा आदि क्रियाएँ निरर्थक हो जाँयगीं। और आत्माकी मुक्ति भी नहीं हो सकेगी।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

मुख्य या प्रधान और गौण या अप्रधान के विवक्षाभेदसे एक ही द्रव्यमें नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म रहते हैं। वस्तु अनेकधर्मात्मक है। जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म प्रधान हो जाता है और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं। एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, भ्राता, चाचा आदि अनेक धर्मोंको धारण करता है। वह अपने पुत्रकी अपेक्षा पिता है, पिताकी अपेक्षा पुत्र है, भाईकी अपेक्षा भ्राता है। अतः अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तुमें अनेक धर्म रहनेमें कोई विरोध नहीं है। द्रव्य सामान्य अन्वयी अंशसे नित्य है तथा विशेष पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है। इसी तरह भेद-अभेद, अपेक्षितत्व-अनपेक्षितत्व, देव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेकों विरोधी युगल वस्तुमें स्थित हैं। वस्तु इन सभी धर्मोंका अविरोधी आधार है।

परमाणुओंके बन्धका कारण—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है। स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक और तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुककी

उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु वाले स्कन्धोंकी भी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणके एकसे लेकर अनन्त तक भेद होते हैं। जैसे जल, बकरीका दूध और घृत, गायका दूध और घृत भैंसका दूध और घृत, और ऊँटनी का दूध और घृत इनमें स्निग्ध गुण की उत्तरोत्तर अधिकता है। धूलि, रेत, पत्थर, वज्र आदिमें रूक्ष गुणकी उत्तरोत्तर अधिकता है। इसी प्रकार पुद्गल परमाणुओंमें स्निग्ध और रूक्ष गुणका प्रकर्ष और अपकर्ष पाया जाता है।

न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥

जघन्य गुणवाले परमाणुओंका बन्ध नहीं होता है। प्रत्येक परमाणुमें स्निग्ध आदिके एकसे लेकर अनन्त तक गुण रहते हैं। गुण उस अविभागी प्रतिच्छेद (शक्तिका अंश) का नाम है जिसका दूसरा विभाग या विवेचन न किया जा सके। जिन परमाणुओंमें स्निग्धता और रूक्षताका एक ही गुण या अंश रहता है उनका परस्पर बन्ध नहीं हो सकता। गुण शब्दका प्रयोग गौण, अवयव, द्रव्य, उपकार, रूपादि, ज्ञानादि, विशेषण, भाग आदि अनेक अर्थोंमें होता है। यहाँ गुण शब्द भाग (अविभागी अंश) अर्थ में लिया गया है।

एक गुणवाले स्निग्ध परमाणु का एक, दो, तीन आदि अनन्त गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होगा। इसी प्रकार एक गुणवाले रूक्ष परमाणुका एक, दो, तीन आदि अनन्त गुणवाले रूक्ष या स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होगा। जघन्य गुणवाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंको छोड़कर अन्य स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं का परस्परमें बन्ध होता है।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

गुणोंकी समानता होनेपर एक जातिवाले परमाणुओंका भी बन्ध नहीं होता है। अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका दो गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता है, और दो गुणवाले रूक्ष परमाणुका दो गुणवाले रूक्ष या स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता है।

यद्यपि गुणकी समानता होनेपर सजातीय या विजातीय किसी प्रकारके परमाणुओं का बन्ध नहीं होता है और इस प्रकार सूत्रमें सदृश शब्द निरर्थक हो जाता है लेकिन सदृश शब्द इस बातको सूचित करता है कि गुणोंकी विषमता होनेपर समान जातिवाले परमाणुओंका भी बन्ध होता है केवल विसदृश जातिवाले परमाणुओंका ही नहीं।

बन्ध होनेका अन्तिम निर्णय–

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

दो अधिक गुणवाले परमाणुओंका बन्ध होता है। तु शब्दका प्रयोग पादपूरण, अवधारण, विशेषण और समुच्चय इन चार अर्थोंमें होता है उनमेंसे यहाँ तु शब्द विशेषणार्थक है। पूर्वमें जो बन्धका निषेध किया गया है उसका प्रतिषेध करके इस सूत्रमें बन्धका विधान किया गया है। दो गुणवाले स्निग्ध परमाणुका एक, दो और तीन गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध नहीं होगा किन्तु चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध होगा। दो गुणवाले स्निग्धपरमाणुका पाँच, छह, आदि अनन्त गुणवाले स्निग्ध

या रूक्ष परमाणुके साथ भी बन्ध नहीं होगा। तीन गुणवाले स्निग्ध परमाणुका पाँच गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ ही बन्ध होगा अन्य गुणवाले परमाणुके साथ नहीं। इसी प्रकार दो गुणवाले रूक्ष परमाणुका चार गुणवाले रूक्ष या स्निग्ध परमाणुके साथ ही बन्ध होगा और तीन गुणवाले रूक्ष परमाणुका पाँच गुणवाले रूक्ष या स्निग्ध परमाणुके साथ ही बन्ध होगा, अन्य गुणवाले परमाणुके साथ नहीं। अतः दो गुण अधिक होनेपर समान और असमान जातिवाले परमाणुओंका परस्परमें बन्ध होता है।

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

बन्धमें अधिक गुणवाले परमाणु कम गुणवाले परमाणुओंको अपनेमें परिणत कर लेते हैं। नूतन अवस्थाको उत्पन्न कर देना पारिणामिकत्व है। जैसे गीला गुड़ अपने ऊपर गिरी हुई धूलिको गुड़ रूप परिणत कर लेता है उसी प्रकार चार गुणवाला परमाणु दो गुण वाले परमाणुको अपने रूपमें परिणत कर लेता है अर्थात् उन दोनोंकी पूर्व अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। एक तीसरी ही अवस्था उत्पन्न होती है। उनमें एकता हो जाती है। यही कारण है कि अधिक गुणवाले परमाणुओंका ही बन्ध होता है। समगुण वाले परमाणुओंका नहीं। यदि अधिकगुण परमाणुओंको पारिणामक न माना जाय तो बन्ध अवस्थामें भी परमाणु सफेद और काले तन्तुओंसे बने हुए कपड़ेमें तन्तुओंके समान पृथक् पृथक् ही रहेंगे उनमें एकत्व परिणमन न हो सकेगा। इसी प्रकार जल और सत्तूमें परस्पर सम्बन्ध होने पर जल पारिणामक होता है।

इस प्रकार बन्ध होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मोंकी तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति भी बन जाती है क्योंकि जीवके साथ पूर्व सम्बद्ध कार्मणद्रव्य स्निग्ध आदि गुणोंसे अधिक है।

द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

जो गुण और पर्यायवाला हो वह द्रव्य है। गुण अन्वयी (नित्य) होते हैं अर्थात् द्रव्यके साथ सदा रहते हैं, द्रव्यको कभी नहीं छोड़ते। गुणोंके द्वारा ही एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे भेद किया जाता है। यदि गुण न हों तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप भी हो जायगा। जीवका ज्ञानगुण जीवको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करता है। इसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्योंके रूपादि गुण भी उन द्रव्योंको अन्य द्रव्योंसे पृथक् करते हैं।

पर्यायें व्यतिरेकी (अनित्य) होती हैं अर्थात् द्रव्यके साथ सदा नहीं रहती बदलती रहती हैं। गुणोंके विकारको ही पर्याय कहते हैं जैसे जीवके ज्ञान गुणकी घटज्ञान, पटज्ञान आदि पर्याएँ हैं। व्यवहारनयकी अपेक्षासे पर्याएँ द्रव्यसे कथंचित् भिन्न हैं। यदि पर्याएँ द्रव्यसे सर्वथा अभिन्न हों तो पर्यायोंके नाश होने पर द्रव्यका भी नाश हो जायगा।

कहा भी है कि द्रव्यके विधान करनेवालेको गुण कहते हैं। और द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं। अनादि निधन द्रव्यमें जलमें तरङ्गोंके समान प्रतिक्षण पर्याएँ उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। द्रव्यमें गुण और पर्यायें सदा रहती हैं। गुण और पर्यायोंके समूहका नाम ही द्रव्य है। गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्य कोई पृथक् वस्तु नहीं है।

काल द्रव्यका वर्णन—

कालश्च ॥ ३९ ॥

काल भी द्रव्य है क्योंकि उसमें द्रव्यका लक्षण पाया जाता है। द्रव्यका लक्षण 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं और 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' बतलाया है। कालमें दोनों प्रकारका लक्षण पाया जाता है। स्वरूपकी अपेक्षा नित्य रहनेके कारण कालमें स्वप्रत्यय ध्रौव्य है। उत्पाद और व्यय स्वप्रत्यय और परप्रत्यय दोनों प्रकारसे होते हैं। अगुरुलघु गुणोंकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा कालमें स्वप्रत्यय उत्पाद और व्यय होता रहता है। काल द्रव्योंके परिवतनमें कारण होता है अतः परप्रत्यय उत्पाद और व्यय भी कालमें होते हैं।

कालमें साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके गुण रहते हैं। अचेतनत्व, अमूर्तत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व आदि कालके साधारण गुण हैं। द्रव्योंके परिवर्तनमें हेतु होना कालका असाधारण गुण है। इसीप्रकार कालमें पर्याएँ भी उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। अतः जीवादिकी तरह काल भी द्रव्य है।

प्रश्न—काल द्रव्यको पृथक् क्यों कहा। पहिले "अजीवकाया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः" ऐसा सूत्र बनाना चाहिये था। ऐसा करनेसे काल द्रव्यका पृथक् वर्णन न करना पड़ता।

उत्तर—यदि "अजीवकाया" इत्यादि सूत्रमें काल द्रव्यको भी सम्मिलित कर देते तो धर्म आदि द्रव्योंकी तरह काल भी काय हो जाता। लेकिन कालद्रव्य मुख्य और उपचार दोनों रूपसे काय नहीं है।

पहिले "निष्क्रियाणि च" इस सूत्रमें धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यको निष्क्रिय बतलाया है। इनके अतिरिक्त द्रव्य सक्रिय हैं। अतः पूर्व सूत्रमें कालका वर्णन होनेसे काल भी सक्रिय द्रव्य हो जाता और "आ आकाशादेकद्रव्यम्" इसके अनुसार काल भी एक द्रव्य हो जायगा। लेकिन काल न तो सक्रिय है और न एक द्रव्य। इन कारणोंसे काल द्रव्यका वर्णन पृथक् किया गया है।

कालद्रव्य अनेक है इसका तात्पर्य यह है कि लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर एक एक कालाणु रत्नराशिके समान पृथक् पृथक् स्थित है। लोकाकाशके प्रदेश असंख्यात होनेसे काल द्रव्य भी असंख्यात है। कालाणु अमूर्त और निष्क्रिय हैं तथा सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं।

व्यवहारकाल का प्रमाण—

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

व्यवहारकालका प्रमाण अनन्त समय है। यद्यपि वर्तमान कालका प्रमाण एक समय ही है किन्तु भूत और भविष्यत् कालकी अपेक्षासे कालको अनन्तसमयवाला कहा गया है।

अथवा यह सूत्र व्यवहार कालके प्रमाणको न बतलाकर मुख्यकालके प्रमाणको ही बतलाता है। एक भी कालाणु अनन्त पर्यायोंकी वर्तनामें हेतु होनेके कारण उपचारसे अनन्त समयवाला कहा जाता है। समय कालके उस छोटेसे छोटे अंशको कहते हैं जिसका बुद्धिके द्वारा विभाग न हो सके। मन्दगतिसे चलनेवाले पुद्गल परमाणुको आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक चलनेमें जितना काल लगे उतने कालको समय कहते हैं।

यहाँ समय शब्दसे आवली, उच्छ्वास आदिका भी ग्रहण करना चाहिये। असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है। संख्यात आवलियोंका एक उच्छ्वास होता है। सात

उछ्वासोंका एक थोव होता है और सात थोवोंका एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवोंकी एक नाली होती है। दो नलियोंका एक मुहूर्त होता है और आवलीसे एक समय अधिक तथा मुहूर्तसे एक समय कम अन्तमुहूर्तका काल है। इसी तरह माह, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, पल्योपम आदिकी गणना होती है।

द्रव्यका लक्षण—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

जो द्रव्यके आश्रित हों और स्वयं निर्गुण हों उनको गुण कहते हैं।

निर्गुण विशेषणसे द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्धोंकी निवृत्ति हो जाती है। यदि 'द्रव्याश्रया गुणाः' ऐसा ही लक्षण कहते तो द्व्यणुक आदि भी गुण हो जाते क्योंकि ये अपने कारणभूत परमाणुद्रव्यके आश्रित हैं। लेकिन जब यह कह दिया गया कि जो गुणको निर्गुण भी होना चाहिये तो द्व्यणुक आदि गुण नहीं हो सकते क्योंकि निर्गुण नहीं हैं किन्तु गुण सहित हैं।

यद्यपि घट संस्थान आदि पर्यायें भी द्रव्याश्रित और निर्गुण हैं लेकिन वे गुण नहीं हो सकतीं क्योंकि 'द्रव्याश्रया'का तात्पर्य यह है कि गुणको सदा द्रव्यके आश्रित रहना चाहिये। और पर्यायें कभी कभी साथ रहती हैं, वे नष्ट और उत्पन्न होती रहती हैं अतः पर्यायोंको गुण नहीं कह सकते। नैयायिक गुणोंको द्रव्यसे पृथक् मानते हैं लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। यद्यपि संज्ञा, लक्षण आदिके भेदसे द्रव्य और गुणमें कथंचित् भेद है लेकिन द्रव्यात्मक और द्रव्यके परिणाम या पर्याय होनेके कारण गुण द्रव्यसे अभिन्न हैं।

पर्यायका वर्णन—

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

धर्मादि द्रव्योंके अपने अपने स्वरूपसे परिणमन करनेको पर्याय कहते हैं। धर्मादि द्रव्योंके स्वरूपको ही परिणाम कहते हैं। परिणामके दो भेद हैं—सादि और अनादि। सामान्यसे धर्मादि द्रव्योंका गत्युपग्रह आदि अनादि परिणाम है और वही परिणाम विशेषकी अपेक्षा सादि है। तात्पर्य यह कि गुण और पर्याय दोनों ही द्रव्योंके परिणाम हैं।

पांचवा अध्याय समाप्त

छठवाँ अध्याय

योगका स्वरूप—

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहते हैं। अर्थात् मन, वचन और कायकी वर्गणाओं को आलंबन लेकर आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलनरूप क्रिया होती है उसीका नाम योग है। योगके तीन भेद हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। वीर्यान्तरायके क्षयोपशम होनेपर तथा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र और कार्मण शरीर रूपसे परिणत वर्गणाओंमेंसे किसी शरीरवर्गणाके निमित्त से आत्माके प्रदेशोंमें जो क्रिया होती है वह काययोग है। शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली वचनवर्गणाके होनेपर, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर, मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर, अक्षरादिश्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर और अन्तरंगमें वचनलब्धिकी समीपता होनेपर वचनरूप परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंमें जो क्रिया होती है उसको वचनयोग कहते हैं। वचनयोग सत्य, असत्य, उभय और अनुभयके भेदसे चार प्रकारका है। अन्तरंगमें वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिके होनेपर और बहिरंगमें मनोवर्गणाके उदय होनेपर मनरूप परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंमें जो क्रिया होती है वह मनोयोग है।

सयोगकेवलीमें वीर्यान्तराय आदिके क्षय होनेपर मनोवर्गणा आदि तीन प्रकारकी वर्गणाओंके निमित्तसे ही योग होता है। सयोगकेवलीका योग अचिन्तनीय है जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने बृहत्स्वयंभू स्तोत्रमें कहा है— हे भगवन्! आपके मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती हैं और न विना विचारे ही होती हैं, आपकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं।

आस्रवका वर्णन—

स आस्रवः ॥ २ ॥

ऊपर कहे गये योगका नाम ही आस्रव है। कर्मके आनेके कारणोंको आस्रव कहते हैं। मन, वचन और कायकी क्रियाके द्वारा आत्मामें कर्म आते हैं अतः योगको आस्रव कहते हैं। दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरणात्मक भी योग होता है लेकिन वह अनास्रव रूप है अर्थात् दण्डादियोग कर्मोंके आनेका कारण नहीं होता है। जिस प्रकार गोला वस्त्र धूलि को चारों ओरसे ग्रहण करता है अथवा तप्त लोहेका गरम गोला चारों ओरसे जलको ग्रहण करता है उसी प्रकार कषायसे सन्तप्त जीव योगके निमित्तसे आये हुये कर्मोंको सम्पूर्ण प्रदेशोंके द्वारा ग्रहण करता है।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

शुभ योग पुण्य कर्मके आस्रवका और अशुभ योग पापकर्मके आस्रवका कारण होता है। जो आत्माको पवित्र करे वह पुण्य है, जो आत्माको कल्याणकी ओर न जाने

दे वह पाप है। सद्वेद्य, शुभायु, शुभनाम और शुभ गोत्र पुण्य हैं. असाता वेदनीय अशुभ आयु अशुभ नाम और अशुभ गोत्र पाप हैं। जीवरक्षा, अचौर्य, ब्रह्मचर्यादि शुभ काययोग है। सत्य, हित, मित, प्रियभाषणादि शुभ वचनयोग है। अर्हन्त आदिकी भक्ति, तपमें रुचि, शास्त्रकी विनय आदि शुभ मनोयोग है। हिंसा, अदत्तादान, मैथुन आदि अशुभ काययोग है। असत्य, अप्रिय, अहित, कर्कश भाषण आदि अशुभ वचनयोग है। वधचिन्तन, ईर्ष्या, असूया आदि अशुभ मनोयोग है। शुभ परिणामोंमें उत्पन्न योगको शुभ योग और अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न योगको अशुभ योग कहते हैं। ऐसा नहीं है कि जिसका हेतु शुभ कर्म हो वह शुभ योग और जिसका हेतु अशुभ कर्म हो वह अशुभ योग कहा जाय। यदि ऐसा माना जाय तो केवलीके भी शुभाशुभ कर्मका बन्ध होना चाहिये क्योंकि केवलीके अशुभ कर्म (असाता वेदनीय) का उदय होनेसे अशुभ योग हो जायगा और अशुभ योग होने सेअशुभ कर्मका बन्ध होना चाहिये। लेकिन केवलीके अशुभ कर्मका बन्ध नहीं होता है।

प्रश्न—शुभ योग भी ज्ञानावरणादि कर्मके बन्धका कारण होता है। जैसे किसीने एक उपवास करने वाले व्यक्तिसे कहा कि तुम पढ़ो नहीं,पढ़ना बन्द कर दो। तो यद्यपि कहने वालेने हितकी बात कही फिर भी उसके ज्ञानावरणादिका बन्ध होता है। इसलिये एक अशुभ योग ही मानना ठीक है। शुभ योग है ही नहीं।

उत्तर—उक्त प्रकारसे कहनेवालेको अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता है क्योंकि उसके परिणाम विशुद्ध हैं। उसके कहनेका अभिप्राय यह था कि यदि यह उपवास करनेवाला व्यक्ति इस समय विश्राम कर ले तो भविष्यमें अधिक तप कर सकता है। अतः उसके परिणाम शुभ होनेसे अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता है।

आप्तमीमांसामें कहा भी है कि—स्व और परमें उत्पन्न होनेवाले सुख या दुःख यदि विशुद्धिपूर्वक हैं तो पुण्यास्रव होगा यदि संक्लेश पूर्वक हैं तो पापास्रव होगा। यही व्यवस्था पुण्य-पापास्रवकी सयुक्तिया है।

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

जो आत्माको कसे अर्थात् दुःख दे वह कषाय। अथवा कषाय चेंपको कहते हैं जैसे बहेड़ा या आँवलेका कसैली चेंप वस्त्रके कसैले रंगसे रंग देता है। कषाय सहित जीवोंके साम्परायिक और कषाय रहित जीवोंके ईर्यापथ आस्रव होता है। संसारके कारणभूत आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं।। स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रवको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। कषायसहित जीवोंके अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे दशमें गुणस्थान तक साम्परायिक आस्रव होता है। और ग्यारहवें गुणस्थानसे तेरहवें गुणस्थान तक ईर्यापथ आस्रव होता है। ईर्यापथ आस्रव संसारका कारण नहीं होता है क्योंकि उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें कषायका अभाव होनेसे योगके द्वारा आये हुये कर्मोंका स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता है और आये हुये कर्मोंकी सूखी दीवाल पर गिरे हुये पत्थरकी तरह तुरन्त निवृत्ति हो जाती है। और कषायसहित जीवोंके योगके द्वारा आये हुए कर्मोंका कषायके निमित्तसे स्थिति और अनुभागबन्ध भी होता है अतः वह आस्रव संसारका कारण होता है। चौदहवें गुणस्थानमें आस्रव नहीं होता है।

साम्परायिक आस्रवके भेद—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और पचीस क्रियाएँ इस प्रकार साम्परायिक

आस्रवके उनतालीस भेद हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंके द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंके द्वारा और हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच अव्रतोंके द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है।

सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाओंके द्वारा भी साम्परायिक आस्रव होता है। पच्चीस क्रियाओंका स्वरूप निम्न प्रकार है—

१ सम्यक्त्वको बढ़ाने वाली क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया कहते है जैसे देवपूजन, गुरूपास्ति, शास्त्र प्रवचन आदि। २ मिथ्यात्वको बढ़ानेवाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया हैं जैसे कुदेवपूजन आदि। ३ शरीरादिके द्वारा गमनागमनादिमें प्रवृत्त होना प्रयोग क्रिया है। ४ संयमीका अविरतिके सम्मुख होना अथवा प्रयत्नपूर्वक उपकरणादिका ग्रहण करना समादान क्रिया है। ५ ईर्यापथ कर्मकी कारणभूत क्रियाको ईर्यापथ क्रिया कहते हैं। ६ दुष्टतापूर्वक कायसे उद्यम करना कायिकी क्रिया है। हिंसाके उपकरण तलवार आदिका ग्रहण करना अधिकरण क्रिया है। ८ जीवोंको दुःख उत्पन्न करने वाली क्रियाको पारितापिकी क्रिया कहते हैं। ९ आयु, इन्द्रिय आदि दश प्राणोंका वियोग करना प्राणातिपातिकी क्रिया है। ११ रागके कारण रमणीयरूप देखनेकी इच्छाका होना दर्शन क्रिया है। १२ कामके वशीभूत होकर सुन्दर कामिनीके स्पर्शनकी इच्छाका होना स्पर्शन क्रिया है। १३ नये नये हिंसादिके कारणोंका जुटाना प्रात्ययिकी क्रिया है। १४ स्त्री, पुरुष और पशुओंके बैठने आदिके स्थानमें मल, मूत्र आदि करना समन्तानुपात क्रिया है। १५ विना देखी और विना शोधी हुई भूमि पर उठना, बैठना आदि अनाभोग क्रिया है। १६ नौकर आदिके करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्त क्रियाहै। १७ पापको उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तिमें दूसरेको अनुमति देना निसर्ग क्रिया है। १८ दूसरों द्वारा किये गये गुप्त पापोंको प्रगट कर देना विदारण क्रिया है। १९ चारित्रमोहके उदयसे जिनोक्त आवश्यकादि क्रियाओंके पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण जिनाज्ञासे विपरीत कथन करना आज्ञाव्यापादन क्रिया है। २० प्रमाद अथवा अज्ञानके कारण शास्त्रोक्त क्रियाओंका आदर नहीं करना अनाकांक्षाक्रिया है। २१ प्राणियोंके छेदन, भेदन आदि क्रियाओंमें स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्यको प्रवृत देखकर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया हैं। २२ परिग्रहकी रक्षाका प्रयत्न करना पारिग्रहिकी क्रिया है। २३ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपमें तथा इनके धारी पुरुषोंमें कपट रूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है। २४ मिथ्यामतोक्त क्रियाओंके पालन करनेवाले की प्रशंसा करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। २५ चारित्र मोहके उदयसे त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

इन्द्रिय आदि कारण हैं और क्रियाएँ कार्य हैं अतः इन्द्रियोंसे क्रियाओंका भेद स्पष्ट है।

आस्रवकी विशेषतामें कारण—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्यकी विशेषतासे आस्रवमें विशेषता होती है।

बाह्य और अभ्यन्तर कारणोंसे जो उत्कट क्रोधादिरूप परिणाम होते हैं वह तीव्रभाव है। कषायकी मन्दता होनेसे जो सरल परिणाम होते हैं वह मन्द भाव है। 'इस प्राणीको मारूँगा' इस प्रकार जानकर प्रवृत्त होना ज्ञातभाव है। प्रमाद अथवा

अज्ञानसे किसी प्राणीको मारने आदिमें प्रवृत्त होना अज्ञातभाव है। आधारको अधिकरण कहते हैं। और द्रव्यकी स्वशक्ति विशेषको वीर्य कहते हैं।

क्रोध, राग, द्वेष, सज्जन और दुर्जन जनका संयोग और देशकाल आदि बाह्य कारणोंके वशसे किसी आत्मामें इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाओंकी प्रवृत्तिमें तीव्र भाव और किसीमें मन्द भाव होते हैं। और परिणामके अनुसार ही तीव्र या मन्द आस्रव होता है। जानकर इन्द्रिय, अव्रत आदिमें प्रवृत्ति करनेपर अल्प आस्रव होता है। अधिकरणकी विशेषतासे भी आस्रवमें विशेषता होती है जैसे वेश्याके साथ आलिङ्गन करनेपर अल्प और राजपत्नी या भिक्षुणीसे आलिङ्गन करनेपर महान् आस्रव होता है। वीर्यकी विशेषता से भी आस्रवमें विशेषता होती है जैसे वज्रवृषभनाराचसंहननवाले पुरुषको पाप कर्ममें प्रवृत्त होनेपर महान् आस्रव होगा और हीन संहननवाले पुरुषके अल्प आस्रव होगा। इसी प्रकार देश काल आदिके भेदसे भी आस्रवमें भेद होता है जैसे घरमें ब्रह्मचर्य भंग करनेपर अल्प और देवालयमें ब्रह्मचर्य भंग करनेपर अधिक आस्रव होगा। उससे भी अधिक आस्रव तीर्थयात्राको जाते समय मार्गमें ब्रह्मचर्य भंग करनेपर, उससेभी अधिक तीर्थस्थान पर ब्रह्मचर्य भङ्ग करनेपर तीव्र आस्रव होता है। इसी तरह देववन्दना आदिके कालमें कुप्रवृत्ति करनेपर महान् आस्रव होता है। इसी प्रकार पुस्तकादि द्रव्यकी अपेक्षा भी आस्रवमें विशेपता होती है। इस प्रकार उक्त कारणोंके भेदसे आस्रवमें भेद समझना चाहिये।

अधिकरणका स्वरूप—

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ७ ॥

जीव और अजीव ये दो आस्रवके अधिकरण या आधार हैं। यद्यपि सम्पूर्ण शुभ और अशुभ आस्रव जीवके ही होता है लेकिन आस्रवका निमित्त जीव और अजीव दोनों होते हैं अतः दोनोंको आस्रवका अधिकरण कहा गया है। जीव और अजीव दो द्रव्य होने से सूत्रमें "जीवाजीवौ" इस प्रकार द्विवचन होना चाहिये था लेकिन जीव और अजीवकी पर्यायोंको भी आस्रवका अधिकरण होनेसे पर्यायोंकी अपेक्षा सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

जीवाधिकरणके भेद—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

संरंभ, समारंभ और आरम्भ, मन, वचन और काय; कृत, कारित और अनुमोदना, क्रोध, मान, माया और लोभ इनके परस्परमें गुणा करनेपर जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद होते हैं। किसी कार्यको करनेका संकल्प करना संरंभ है। कार्यकी सामग्रीका एकत्रित करनेका नाम समारंभ है। और कार्यको प्रारंभ कर देना आरंभ है। स्वयं करना कृत, दूसरेसे कराना कारित और किसी कार्यको करनेवालेकी प्रशंसा करना अनुमत या अनुमोदना है। जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद इस प्रकार होते हैं।

क्रोधकृतकायसंरंभ, मानकृतकायसंरंभ, मायाकृतकायसंरंभ, लोभकृतकायसंरंभ, क्रोधकारितकायसंरंभ, मानकारितकायसंरंभ, मायाकारितकायसंरंभ, लोभकारितकायसंरंभ, क्रोधानुमतकायसंरंभ, मानानुमतकायसंरंभ, मायानुमतकायसंरंभ और लोभानुमतकायसंरंभ इस प्रकार कायसंरंभके बारह भेद हैं। वचन संरंभ और मनः संरंभके भी इसी प्रकार बारह बारह भेद समझना चाहिये। इस प्रकार संरंभके कुल छत्तीस भेद हुये। इसी प्रकार

समारंभ और आरम्भके भी छत्तीस छत्तीस भेद होते हैं। अतः सब मिलाकर जीवाधिकरणके एक सौ आठ भेद होते हैं।

सूत्रमें 'च' शब्दसे यह सूचित होता है कि कषायोंके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान आदि प्रभेदोंके द्वारा जीवाधिकरणके और भी अन्तर्भेद होते हैं।

अजीवाधिकरणके भेद—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

दो निर्वतना, तीन निक्षेप, दो संयोग और तीन निसर्गके भेदसे अजीवाधिकरणके ग्यारह भेद होते हैं। रचना करनेका नाम निर्वतना है। निर्वर्तनाके दो भेद हैं—मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। मूलगुण निर्वर्तनाके पाँच भेद हैं—शरीर, वचन, मन, प्राण और अपान। इनकी रचना करना मूलगुण-निर्वर्तना है। काष्ठ, पाषाण, आदिसे चित्र आदि बनाना, जीवके खिलौने बनाना, लिखना आदि उत्तरगुण निर्वर्तना है। किसी वस्तुके रखनेको निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं—अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण। बिना देखे किसी वस्तुको रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। ठीक तरहसे न शोधी हुई भूमिमें किसी वस्तुको रखना दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है। शीघ्रतापूर्वक किसी वस्तुको रखना सहसानिक्षेपाधिकरण है। किसी वस्तुको बिना देखे अयोग्य स्थान में रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

मिलानेका नाम संयोग है। संयोगाधिकरणके दो भेद हैं—अन्नपानसंयोगाधिकरण और उपकरणसंयोगाधिकरण। किसी अन्नपानको दूसरे अन्नपानमें मिलाना अन्नपानसंयोगाधिकरण है। और कमण्डलु आदि उपकरणोंको दूसरे उपकरणोंके साथ मिलाना उपकरणसंयोगाधिकरण है। प्रवृत्ति करनेको निसर्ग कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—कायनिसर्गाधिकरण, वाक्निसर्गाधिकरण और मनोनिसर्गाधिकरण। काय, वचन और मनसे प्रवृत्ति करनेको क्रमसे कायादिनिसर्गाधिकरण समझना चाहिये। सूत्रमें 'पर' शब्द अजीवाधिकरणका वाचक है। यदि पर शब्द न होता तो ये भेद भी जीवाधिकरणके ही हो जाते। उक्त ग्यारह प्रकारके अजीवाधिकरणके निमित्तसे आत्मामें कर्मोंका आस्रव होता है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रव—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

ज्ञान और दर्शन विषयक प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त पुरुषकी प्रशंसा सुनकर स्वयं प्रशंसा न करना और मनमें दुष्ट भावोंका लाना प्रदोष है। किसी बातको जानने पर भी मैं 'उस बातको नहीं जानता हूँ' पुस्तक आदिके होनेपर भी 'मेरे पास पुस्तक आदि नहीं है' इस प्रकार ज्ञानको छिपाना निह्नव है। योग्य ज्ञान योग्य पात्रको भी नहीं देना मात्सर्य है। किसीके ज्ञानमें विघ्न डालना अन्तराय है। दूसरेके द्वारा प्रकाशित ज्ञानकी काय और वचनसे विनय, गुणकीर्तन आदि नहीं करना आसादन है। सम्यग्ज्ञानको भी मिथ्याज्ञान कहना उपघात है।

आसादनमें ज्ञानकी विनय आदि नहीं की जाती है लेकिन उपघातमें ज्ञानको नाश करनेका ही अभिप्राय रहता है अतः इनमें भेद स्पष्ट है।

प्रश्न—पहिले ज्ञान और दर्शनका प्रकरण नहीं होनेसे इस सूत्रमें आए हुए 'तत्' शब्दके द्वारा ज्ञान और दर्शनका ग्रहण कैसे किया गया ?

उत्तर—यद्यपि पहिले ज्ञान और दर्शनका प्रकरण नहीं है फिर भी सूत्रमें 'ज्ञानदर्शनावरणयोः' शब्दका प्रयोग होनेसे 'तत्' शब्दके द्वारा ज्ञान और दर्शनका ग्रहण किया गया है। अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरणके आस्रव कौन हैं ऐसे किसीके प्रश्नके उत्तरमें यह सूत्र बनाया गया अतः तत् शब्दके द्वारा ज्ञान और दर्शनका ग्रहण किया गया है।

एक कारणके द्वारा अनेक कार्य भी होते हैं अतः ज्ञानके विषयमें किये गये प्रदोष आदि दर्शनावरणके भी कारण होते हैं। अथवा ज्ञानविषयक प्रदोष आदि ज्ञानावरणके और दर्शनविषयक प्रदोष आदि दर्शनावरणके कारण होते हैं।

आचार्य और उपाध्यायके साथ शत्रुता रखना, अकालमें अध्ययन करना, अरुचिपूर्वक पढ़ना, पढ़नेमें आलस करना, व्याख्यान को अनादरपूर्वक सुनना, जहाँ प्रथमानुयोग बाँचना चाहिये वहाँ अन्य कोई अनुयोग बाँचना, तीर्थोपरोध, बहुश्रुतके सामने गर्व करना, मिथ्योपदेश, बहुश्रुतका अपमान, स्वपक्षका त्याग, परपक्षका ग्रहण, ख्याति-पूजा आदिकी इच्छासे असम्बद्ध प्रलाप, सूत्रके विरुद्ध व्याख्यान, कपटसे ज्ञानका ग्रहण करना, शास्त्र बेचना, और प्राणातिपात आदि ज्ञानावरणके आस्रव हैं।

देव, गुरु आदिके दर्शनमें मात्सर्य करना, दर्शनमें अन्तराय करना, किसीकी चक्षुको उखाड़ देना, इन्द्रियाभिमतित्व-इन्द्रियोंका अभिमान करना, अपने नेत्रोंका अहङ्कार, दीर्घनिद्रा, अतिनिद्रा, आलस्य, नास्तिकता, सम्यग्दृष्टियों को दोष देना, कुशास्त्रोंकी प्रशंसा करना, मुनियोंसे जुगुप्सा आदि करना और प्राणातिपात आदि दर्शनावरणके आस्रव हैं।

असातावेदनीयके आस्रव—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

स्व, पर तथा दोनोंमें किए जानेवाले दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन आसातावेदनीयके आस्रव हैं।

पीड़ा या वेदनारूप परिणामको दुःख कहते हैं। उपकार करनेवाली चेतन या अचेतन वस्तुके नष्ट हो जानेसे विकलता होना शोक है। निन्दासे, मानभङ्गसे या कर्कश वचन आदिसे होनेवाले पश्चात्तापको ताप कहते हैं। परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक, बहुविलाप और अङ्ग विकारसे सहित स्पष्ट रोना आक्रन्दन है। आयु, इन्द्रिय आदि दश प्रकारके प्राणोंका वियोग करना वध है। स्व और परोपकारकी इच्छासे संक्लेशपरिणामपूर्वक इस प्रकार रोना कि सुननेवालेके हृदयमें दया उत्पन्न हो जाय परिदेवन है।

यद्यपि शोक आदि दुःखसे पृथक् नहीं हैं लेकिन दुःख सामान्य वाचक है अतः दुःखकी कुछ विशेष पर्यायें बतलानेके लिये शोक आदिका पृथक् ग्रहण किया है।

प्रश्न—यदि आत्म, पर और उभयस्थ दुःख, शोक आदि असातावेदनीयके आस्रव हैं तो जैन साधुओं द्वारा केशोंका उखाड़ना, उपवास, आतपनयोग आदि स्वयं करना और दूसरोंको करनेका उपदेश देना आदि दुःखके कारणों को क्यों उचित बतलाया है ?

उत्तर—अन्तरङ्गमें क्रोधादिके आवेशपूर्वक जो दुःखादि होते हैं वे असातावेदनीयके

कारण हैं और क्रोधादिके अभाव होनेसे दुःखादि असातावेदनीयके आस्रवके कारण नहीं होते हैं। जिस प्रकार कोई परम करुणामय वैद्य किसी मुनिके फोड़ेको शस्त्रसे चीरता है और इससे मुनिको दुःख भी होता है लेकिन क्रोधादिके विना केवल बाह्य निमित्तमात्रसे वैद्यको पापका बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार सांसारिक दुःखोंसे भयभीत और दुःखनिवृत्तिके लिये शास्त्रोक्त कर्ममें प्रवृत्ति करनेवाले मुनिका केशोत्पाटन आदि दुःखके कारणोंके उपदेश देनेपर भी संक्लेश परिणाम न होनेसे पापका बन्ध नहीं होता है।

कहा भी है–'कि चिकित्साके कारणोंमें दुःख या सुख नहीं होता है किन्तु चिकित्सामें प्रवृत्ति करनेवालेको दुःख या सुख होता है। इसी प्रकार मोक्षके साधनोंमें दुःख या सुख नहीं होता है किन्तु मोक्षके उपायमें प्रवृत्ति करनेवालेको दुःख या सुख होता है। अर्थात् चिकित्साके साधन शस्त्र आदिको दुःख या सुख नहीं होता है किन्तु चिकित्सा करनेवाले वैद्यको सुख या दुःख होता है। यदि वैद्य क्रोधपूर्वक फोड़ेको चीरता है तो उसको पापका बन्ध होगा और यदि करुणापूर्वक पीड़ाको दूर करनेके लिये फोड़ेको चीरता है तो पुण्यका बन्ध होगा। इसी प्रकार मोह क्षयके साधन उपवास, केशलोंच आदि स्वयं दुःख या सुख रूप नहीं है किन्तु इनके करने वालेको दुःख या सुख होता है। यदि गुरु क्रोधादिपूर्वक उपवासादिको स्वयं करता है या दूसरोंसे कराता है तो उसको पापका बन्ध होगा और यदि शान्त परिणामोंसे दुःखविनाशके लिये उपवास आदिको करता है तो उसको पुण्यका बन्ध होगा।

अशुभ प्रयोग, परनिन्दा, पिशुनता, अदया, अङ्गोपाङ्गोंका छेदन-भेदन, ताड़न, त्रास, अङ्गुली आदिसे तर्जन करना, वचन आदिसे किसीकी भर्त्सना करना, रोधन, बन्धन, दमन, आत्मप्रशंसा, क्लेशोत्पादन, बहुत परिग्रह, मन, वचन और कायकी कुटिलता, पाप कर्मोंसे आजीविका करना, अनर्थदण्ड, विष मिश्रण, बाण जाल पिञ्जरा आदि का बनाना आदि भी असाता वेदनीय कर्मके आस्रव हैं।

सातावेदनीयके आस्रव—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीयके आस्रव हैं।

चारों गतियोंके प्राणियोंमें दयाका भाव होना भूतानुकम्पा है। अणुव्रत और महाव्रतके धारी श्रावक और मुनियोंपर दया रखना व्रत्यनुकम्पा है। परोपकारके लिये अपने द्रव्यका त्याग करना दान है। छह कायके जीवोंकी हिंसा न करना और पाँच इन्द्रिय और मनको वशमें रखना संयम है। रागसहित संयमका नाम सरागसंयम है। क्रोध, मान, और मायाकी निवृत्ति क्षान्ति है। सब प्रकारके लोभका त्याग कर देना शौच है।

सूत्रमें आदि शब्दसे संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदि और इति शब्दसे अर्हत्पूजा, तपस्वियोंकी वैयावृत्त्य आदिका ग्रहण किया गया है।

यद्यपि भूतके ग्रहणसे तपस्वियोंका भी ग्रहण हो जाता है लेकिन व्रतियोंमें अनुकम्पाकी प्रधानता बतलानेके लिये भूतोंसे व्रतियोंका ग्रहण पृथक् किया गया है।

दर्शन मोहनीयके आस्रव—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवोंकी निन्दा करना दर्शनमोहनीयके आस्रव हैं।

जिनके त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको युगपत् जाननेवाला केवलज्ञान हो वे केवली हैं। सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए और गणधर आदिके द्वारा रचे हुए शास्त्रोंका नाम श्रुत है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके धारी मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंके समूहका नाम संघ है। सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशीके द्वारा कहा हुआ अहिंसा, सत्य आदि लक्षणवाला धर्म है। भवनवासी आदि पूर्वोक्त चार प्रकारके देव होते हैं।

केवलीका अवर्णवाद—केवली कवलाहारी होते हैं रोगी होते हैं उपसर्ग होते हैं। नग्न रहते हैं किन्तु वस्त्रादियुक्त दिखाई देते हैं इत्यादि प्रकारसे केवलियोंकी निन्दा करना केवली का अवर्णवाद है। श्रुतका अवर्णवाद—मांसभक्षण, मद्यपान, माता-बहिन आदिके साथ मैथुन, जलका छानना पापजनक है—इत्यादि बातें शास्त्रोक्त हैं, इस प्रकार शास्त्रकी निन्दा करना श्रुतका अवर्णवाद है। संघका अवर्णवाद—मुनि आदि शूद्र हैं, अपवित्र हैं, स्नान नहीं करते हैं, वेदोंके अनुगामी नहीं हैं, कलि कालमें उत्पन्न हुए हैं इस प्रकार संघकी निन्दा करना संघका अवर्णवाद है। धर्मका अवर्णवाद—केवली द्वारा कहे हुए धर्ममें कोई गुण नहीं है, इसके पालन करनेवाले लोग असुर होते हैं इस प्रकार धर्मकी निन्दा करना धर्मका अवर्णवाद है। देवोंका अवर्णवाद—देव मद्यपायी और मांसभक्षी होते हैं इत्यादि प्रकारसे देवोंकी निन्दा करना देवोंका अवर्णवाद है।

चारित्र मोहनीयका आस्रव—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

कषायके उदयसे होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीयके आस्रव हैं।

चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं—कषाय मोहनीय और अकषाय मोहनीय।

स्वयं और दूसरेको कषाय उत्पन्न करना, व्रत और शीलयुक्त यतियोंके चरित्रमें दूषण लगाना, धर्मका नाश करना, धर्ममें अन्तराय करना, देशसंयतोंसे गुण और शीलका त्याग कराना, मात्सर्य आदि से रहित जनोंमें विभ्रम उत्पन्न करना, आर्त्त और रौद्र परिणामोंके जनक लिङ्ग, व्रत आदिका धारण करना कषायमोहनीयके आस्रव हैं।

अकषाय मोहनीयके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद। समीचीन धर्मके पालन करनेवालेका उपहास करना, दीन जनोंको देखकर हँसना, कन्दर्पपूर्वक हँसना, बहुत प्रलाप करना,हास्यरूप स्वभाव होना आदि हास्यके आस्रव हैं। नाना प्रकारकी क्रीड़ा करना,विचित्र क्रीड़ा, देशादिके प्रति अनुत्सुकतापूर्वक प्रीति करना, व्रत, शील आदिमें अरुचि होना रतिके आस्रव हैं। दूसरोंमें अरतिका पैदा करना और रतिका विनाश करना,पापशील जनोंका संसर्ग,पापक्रियाओंको प्रोत्साहन देना आदि अरतिके आस्रवहैं। अपने और दूसरोंमें शोक उत्पन्न करना, शोकयुक्त जनोंका अभिनन्दन करना आदि शोकके आस्रव हैं। स्व और परको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, दूसरोंको त्रास देना आदि भयके आस्रव हैं। पुण्य क्रियाओंमें जुगुप्सा करना, दूसरोंकी निन्दा करना आदि जुगुप्साके आस्रव हैं परान्गनागमन, स्त्रीके स्वरूपका धारण करना, असत्य वचन, परवञ्चना, दूसरोंके दोषोंके देखना, और वृद्धमें राग होना आदि स्त्री वेदके आस्रव हैं। अल्पक्रोध, मायाका अभाव, गर्वका अभाव, स्त्रियोंमें अल्प आसक्ति, ईर्ष्याका न होना, रागवस्तुओंमें अनादर, स्वदारसन्तोष, परदाराका त्याग आदि पुंवेदके आस्रव हैं। प्रचुरकषाय, गुह्येन्द्रियका विनाश,

पराङ्गनाका अपमान, स्त्री और पुरुषोंमें अनङ्गक्रीड़ा करना, व्रत और शीलधारी पुरुषोंको कष्ट देना और तीव्रराग आदि नपुंसकवेदके आस्रव हैं ।

नरक आयुके आस्रव—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

बहुत आरंभ और परिग्रह नरक आयुके आस्रव हैं। ऐसे व्यापारको जिसमें प्राणियोंको पीड़ा या वध हो आरंभ कहते है। जो वस्तु अपनी (आत्माकी) नहीं है उसमें ममेदं (यह मेरी है) बुद्धि या मूर्च्छाका होना परिग्रह है ।

मिथ्यादर्शन, तीव्रराग, अनृतवचन, परद्रव्यहरण, निःशीलता, तीव्रवैर, परोपकार न करना, यतियोंमें विरोध कराना, शास्त्रविरोध, कृष्णलेश्या, विषयोंमें तृष्णाकी वृद्धि, रौद्रध्यान, हिंसादि क्रूर कर्मोंमें प्रवृत्ति, बाल, वृद्ध और स्त्रीकी हिंसा आदि भी नरक आयुके आस्रव हैं ।

तिर्यञ्च आयुके आस्रव—

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

माया अर्थात् छल-कपट करना तिर्यञ्च आयुका आस्रव हैं ।

मिथ्यात्वसहित धर्मोपदेश, अधिक आरम्भ और परिग्रह, निःशीलता, ठगनेकी इच्छा, नीललेश्या, कापोतलेश्या, मरणकालमें आर्त्तध्यान, क्रूरकर्म, अप्रत्याख्यान क्रोध, भेद करना, अनर्थका उद्भावन सुवर्ण आदिको खोटा खरा आदि रूपसे अन्यथा कथन करना, कृत्रिम-चन्दनादि करना, जाति कुल और शीलमें दूषण लगाना, सद्गुणोंका लोप और दोषोंकी उत्पत्ति आदि भी तिर्यञ्च आयुके आस्रव हैं ।

मनुष्य आयुके आस्रव—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

थोड़ा आरंभ और थोड़ा परिग्रह मनुष्य आयुके आस्रव हैं ।

विनीत प्रकृति, भद्र स्वभाव, कपटरहित व्यवहार, अल्पकषाय, मरणकालमें असंक्लेश, मिथ्यादर्शनसहित व्यक्तिमें नम्रता, सुखबोध्यता, प्रत्याख्यान क्रोध, हिंसासे विरति, दोषरहितत्व, क्रूर कर्मोंसे रहितता, अभ्यागतोंका स्वभावसे ही स्वागत करना, मधुरवचनता, उदासीनता, अनसूया, अल्पसंक्लेश, गुरु आदिकी पूजा, कापोत और पीतलेश्या आदि मनुष्य आयुके आस्रव हैं ।

स्वभावमार्दवञ्च ॥ १८ ॥

स्वाभाविक मृदुता भी मनुष्य आयुका आस्रव है। मानके अभावको मार्दव कहते हैं। गुरूपदेशके बिना स्वभावसे ही सरल परिणामी होना स्वभावमार्दव है ।

इस सूत्रसे पृथक् इसलिये किया है कि स्वभावमार्दव देवायुका भी कारण है ।

सब आयुओंका आस्रव—

निःशीलव्रतित्वञ्च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

तीन गुणव्रत और शिक्षाव्रत इन सात शीलों और अहिंसा आदि पाँच व्रतोंका अभाव और सूत्रमें 'च' शब्दसे अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह ये चारों आयुओंके आस्रव हैं ।

शील और व्रतरहित भोगभूमिज जीव ऐशान स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं अतः उक्त जीवोंकी अपेक्षा निःशीलव्रतित्व देवायुका आस्रव है। कोई अल्पारंभी और अल्प परिग्रही व्यक्ति भी अन्य पापोंके कारण नरक आदिको प्राप्त करते हैं अतः ऐसे जीवोंकी अपेक्षा अल्पारंभ-परिग्रह भी नरक आयुका आस्रव होता है।

देवायुके आस्रव—

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायुके आस्रव हैं।

सरागसंयमका दो प्रकारसे अर्थ हो सकता है—राग सहित व्यक्तिका संयम अथवा रागसहित संयम। संसारके कारणोंका विनाश करनेमें तत्पर लेकिन अभी जिसकी सम्पूर्ण अभिलाषाएँ नष्ट नहीं हुई ऐसे व्यक्ति को सराग कहते हैं और सरागीका जो संयम है वह सरागसंयम है। अथवा जो संयम रागसहित हो वह सरागसंयम है, अर्थात् महाव्रतको सरागसंयम कहते हैं। कुछ संयम और कुछ असंयम अर्थात् श्रावकके व्रतोंको संयमासंयम कहते हैं। विना संक्लेशके समतापूर्वक कर्मोंके फलको सह लेना अकामनिर्जरा है। जैसे बुभुक्षा, तृष्णा, ब्रह्मचर्य, भूशयन, मलधारण, परिताप आदिके कष्टोंको विना संक्लेशके भी सहन करने वाले जेलमें बन्द प्राणीके जो अल्प निर्जरा होती है वह अकामनिर्जरा है। मिथ्यादृष्टि तापस, संन्यासी, पाशुपत, परिव्राजक, एकदण्डी, त्रिदण्डी, परमहंस आदिका जो कायक्लेश आदि तप है उसको बालतप कहते हैं। सरागसंयम आदि देवायुके आस्रव हैं।

सम्यक्त्वञ्च ॥ २१ ॥

सम्यग्दर्शन भी देवायुका आस्रव है। इस सूत्रको पूर्व सूत्रसे पृथक् करनेका प्रयोजन यह है कि सम्यग्दर्शन वैमानिक देवोंकी आयुका ही आस्रव है। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति के पहिले बद्धायुष्क जीवोंको छोड़कर अन्य सम्यग्दृष्टि जीव भवनवासी आदि तीन प्रकारके देवोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं।

अशुभनाम कर्मके आस्रव—

योगवक्रता विसंवादनञ्चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

मन, वचन और कायकी कुटिलता और विसंवादन ये अशुभ नाम कर्मके आस्रव हैं।

मनमें कुछ सोचना, वचनसे कुछ दूसरे प्रकारका कहना और कायसे भिन्न रूपसे ही प्रवृत्ति करना योगवक्रता है। दूसरोंकी अन्यथा प्रवृत्ति कराना अथवा श्रेयोमार्गपर चलनेवालों-को उस मार्गकी निन्दा करके बुरे मार्गपर चलनेका कहना विसंवादन है। जैसे सम्यक्-चारित्र आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवालेसे कहना कि तुम ऐसा मत करो और ऐसा करो।

योगवक्रता आत्मगत होती है और विसंवादन परगत होता है यही योगवक्रता और विसंवादनमें भेद है।

'च' शब्दसे मिथ्यादर्शन, पैशून्य, अस्थिरचित्तता, झूठे बांट तराजू रखना, झूठी साक्षी देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, परद्रव्यग्रहण, असत्यभाषण, अधिक परिग्रह, सदा उज्ज्वलवेष, रूपमद, परुषभाषण, असदस्यप्रलपन, आक्रोश, उपयोगपूर्वक सौभाग्योत्पादन,

चूर्णादिके प्रयोगसे दूसरोंको वशमें करना, मन्त्र आदिके प्रयोगसे दूसरोंको कुतूहल उत्पन्न करना, देव, गुरु आदिकी पूजाके बहानेसे गन्ध, धूप, पुष्प आदि लाना, दूसरोंकी बिडम्बना करना, उपहास करना, ईंटें पकाना, दावानल प्रज्वलित करना, प्रतिमा तोड़ना, जिनालयका ध्वंस करना, बागका उजाड़ना, तीव्र क्रोध, मान, माया और लोभ, पाप कर्मोंसे आजीविका करना आदि अशुभ नामकर्मके आस्रव हैं।

शुभ नामकर्मके आस्रव—

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

योगोंकी सरलता और अविसंवादन ये शुभ नामकर्मके आस्रव हैं।

धर्मात्माओंके पास आदरपूर्वक जाना, संसारसे भीरुता, प्रमादका अभाव, पिशुनताका न होना, स्थिरचित्तता, सत्यसाक्षी, परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सत्यवचन, परद्रव्यका हरण न करना, अल्प आरंभ और परिग्रह, अपरिग्रह, कभी कभी उज्ज्वल वेष धारण करना, रूपका मद न होना, मृदुभाषण,शुभवचन, सभ्यभाषण, सहज सौभाग्य,स्वभावसे वशीकरण, दूसरोंको कुतूहल उत्पन्न न करना, विना किसी बहानेके पुष्प, धूप, गन्ध आदि लाना, दूसरोंकी बिडम्बना न करना, उपहास न करना, इष्टिकापाक और दावानल न करनेका व्रत, प्रतिमा निर्माण, जिनालयका निर्माण, बागका न उजाड़ना, क्रोध, मान, माया और लोभकी मन्दता पापकर्मोंसे आजीविका न करना आदि शुभ नामकर्मके आस्रव हैं।

तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रव —

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

दर्शनविशुद्धि. विनयसम्पन्नता, शील और व्रतोंमें अतीचार न लगाना, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग और संवेग, यथाशक्ति त्याग और तप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्य, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, और प्रवचन-वत्सलता ये तीर्थंकर प्रकृतिके आस्रव हैं।

दर्शनविशुद्धि – पच्चीस दोष रहित निर्मल सम्यग्दर्शनका नाम दर्शनविशुद्धि है। दर्शनविशुद्धिको पृथक् इसलिये कहा है कि जिनभक्तिरूप या तत्त्वार्थश्रद्धारूप सम्यग्दर्शन अकेला भी तीर्थंकर प्रकृतिका कारण होता है। यशस्तिलकमें कहा भी है कि—"केवल जिनभक्ति भी दुर्गतिके निवारणमें, पुण्यके उपार्जनमें और मोक्ष लक्ष्मीके देनेमें समर्थ है।" अन्य भावनाएँ सम्यग्दर्शनके विना तीर्थंकर प्रकृतिका कारण नहीं हो सकती अतः दर्शन-विशुद्धिकी प्रधानता बतलानेके लिये इसका पृथक् निर्देश किया है।

दर्शनविशुद्धिका अर्थ—इह लोकभय,परलोकभय,अत्राणभय,अगुप्तिभय,मरणभय,वेदना-भय और आकस्मिकभय इन सात भयोंसे रहित होकर जैनधर्मका श्रद्धान करना निःशङ्कित है। इस लोक और परलोकके भोगोंकी आकांक्षा नहीं करना निःकाङ्क्षित है। शरीरादिक पवित्र हैं इस प्रकारकी मिथ्याबुद्धिका अभाव निर्विचिकित्सता है। अर्हन्तको छोड़कर अन्य कुदेवोंके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण नहीं करना अमूढदृष्टि है। उत्तम क्षमा आदिके

द्वारा आत्माके धर्मकी वृद्धि करना और चार प्रकारके संघके दोषोंको प्रगट नहीं करना उपगूहन है। क्रोध, मान, माया और लोभादिक धर्मके विनाशक कारण रहने पर भी धर्मसे च्युत नहीं होना स्थितिकरण है। जिनशासनमें सदा अनुराग रखना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके द्वारा आत्माका प्रकाशन और जिनशासनकी उन्नति करना प्रभावना है। सम्यग्दर्शनके इन आठ अंगोंका का सद्भाव तथा तीन मूढ़ता, छह अनायतन और आठ मदोंका अभाव, चमड़ेके पात्रमें रक्खे हुये जलको नहीं पीना और कन्दमूल, कलिङ्ग, सूरण, लशुन आदि अभक्ष्य वस्तुओं को भक्षण न करना आदिको दर्शनविशुद्धि कहते हैं।

रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारकोंका महान् आदर और कषायका अभाव विनयसम्पन्नता है। पाँच व्रत और सात शीलोंमें निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतिचार है। जीवादि-पदार्थोंके स्वरूपको निरूपण करनेवाले ज्ञानमें निरन्तर उद्यम करना अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग है। संसारके दुखोंसे भयभीत रहना संवेग है। अपनी शक्तिके अनुसार आहार, भय और ज्ञानका पात्रके लिये दान देना शक्तितस्त्याग है। अपनी शक्तिपूर्वक जैन शासनके अनुसार कायक्लेश करना शक्तितस्तप है। जैसे भाण्डागारमें आग लग जाने पर किसी भी उपायसे उसका शमन किया जाता है उसी प्रकार व्रत और शीलसहित यतिजनोंके ऊपर किसी निमित्तसे कोई विघ्न उपस्थित होने पर उस विघ्नको दूर करना साधुसमाधि है। निर्दोष विधिसे गुणवान् पुरुषोंके दोषोंको दूर करना वैयावृत्त्य है। अर्हन्तका अभिषेक, पूजन, गुणस्तवन, नामकी जाप आदि अर्हद्भक्ति है। आचार्योंको नवीन उपकरणोंका दान, उनके सम्मुखगमन, आदर, पादपूजन, सम्मान और मनःशुद्धियुक्त अनुरागका नाम आचार्यभक्ति है। इसी प्रकार उपाध्यायोंकी भक्ति करना बहुश्रुतभक्ति है। रत्नत्रय आदिके प्रतिपादक आगममें मनःशुद्धि युक्त अनुराग का होना प्रवचनभक्ति है। सामायिक स्तुति,-चौबीस तीर्थंकरकी स्तुति-वन्दना, एक तीर्थंकर स्तुति, प्रतिक्रमण-कृतदोष निराकरण, प्रत्याख्यान नियतकाल और आगामी दोषोंका परिहार और कायोत्सर्ग-शरीरसे ममत्वका छोड़ना-इन छह आवश्यकोंमें यथाकाल प्रवृत्ति करना आवश्यकापरिहाणि है। ज्ञान, दान, जिन-पूजन और तपके द्वारा जिन धर्मका प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। गाय और बछड़ेके समान प्रवचन और साधर्मी जनोंमें स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है।

ये सोलह भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धका कारण होती हैं।

नीच गोत्रके आस्रव—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

दूसरोंकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, विद्यमान गुणोंका विलोप करना और अविद्यमान गुणोंको प्रकट करना ये नीच गोत्रके आस्रव हैं।

'च' शब्दसे जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, श्रुतमद, ज्ञानमद, ऐश्वर्यमद और तपमद-ये आठमद, दूसरोंका अपमान, दूसरोंकी हँसी करना, दूसरोंका परिवादन, गुरुओंका तिरस्कार, गुरुओंसे उद्घट्टन-टकराना, गुरुओंके दोषोंको प्रगट करना, गुरुओंका विभेदन, गुरुओंको स्थान न देना, गुरुओंका अपमान, गुरुओंकी भर्त्सना, गुरुओंसे असभ्य वचन करना। गुरुओंकी स्तुति न करना और गुरुओंको देखकर खड़े नहीं होना आदि भी नीच गोत्रके आस्रव हैं।

उच्च गोत्रके आस्रव—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

परप्रशंसा, आत्मनिन्दा, सद्गुणोद्भावन, असद्गुणोच्छादन, नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक ये उच्च गोत्रके आस्रव हैं। उच्च गुणवालोंकी विनय करनेको नीचैर्वृत्ति या नम्रवृत्ति कहते हैं। ज्ञान,तप आदि गुणोंसे उत्कृष्ट होकर भी मद न करना अनुत्सेक है।

'च' शब्दसे आठ मदोंका परिहार, दूसरोंका अपमान प्रहास और परिवाद न करना, गुरुओंका तिरस्कार न करना, गुरुओंका सन्मान अभ्युत्थान और गुणवर्णन करना, और मृदुभाषण आदि भी उच्च गोत्रके आस्रव हैं।

अन्तरायके आस्रव—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

दूसरोंके दान, लाभ,भोग, उपभोग और वीर्यमें विघ्न करना अन्तरायके आस्रव हैं।

दानकी निन्दा करना, द्रव्यसंयोग, देवोंको चढ़ाई गई नैवेद्यका भक्षण, परके वीर्यका अपहरण, धर्मका उच्छेद, अधर्मका आचरण, दूसरोंका निरोध, बन्धन, कर्णछेदन, गुह्य-छेदन, नाक काटना और आँखका फोड़ना आदि भी अन्तरायके आस्रव हैं।

विशेष—तत्प्रदोष, निन्हव आदि ज्ञानावरण आदि कर्मोंके जो पृथक् पृथक् आस्रव बतलाए हैं वे अपने अपने कर्मके स्थिति और अनुभाग बन्धके ही कारण होते हैं। उक्त आस्रव आयु कर्मको छोड़कर (क्योंकि आयु कर्मका बन्ध सदा नहीं होता है) अन्य सब कर्मोंके प्रकृति और प्रदेश बन्धके कारण समान रूपसे होते हैं।

छठवाँ अध्याय समाप्त।

सातवाँ अध्याय

व्रतका लक्षण—

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्त होना व्रत है। अभिप्रायपूर्वक किये गये नियमको अथवा कर्तव्य और अकर्तव्यके संकल्पको व्रत कहते हैं।

प्रश्न—"ध्रुवमपायेऽपदानम्" [पा० सू० १।४।२४] इस सूत्रके अनुसार अपाय (किसी वस्तुसे किसी वस्तुका पृथक् होना) होने पर ध्रुव वस्तुमें पञ्चमी विभक्ति होती है और हिंसादिक परिणामोंके अध्रुव होनेसे यहाँ पञ्चमी विभक्ति नहीं हो सकती ?

उत्तर—वक्ताके अभिप्रायके अनुसार शब्दके अर्थका ज्ञान किया जाता है। यहाँ भी हिंसादि पापोंसे बुद्धिके विरक्त होने रूप अपायके होनेपर हिंसादिकमें ध्रुवत्वकी विवक्षा होनेसे पञ्चमी विभक्ति युक्तिसंगत है। जैसे 'कश्चित् पुमान् धर्माद्विरमति'—कोई पुरुष धर्मसे विरक्त होता है—यहाँ कोई विपरीत बुद्धिवाला पुरुष मनसे धर्मका विचार करता है कि यह धर्म दुष्कर है, धर्मका फल श्रद्धामात्रगम्य है; इस प्रकार विचार कर वह पुरुष बुद्धिसे धर्मको प्राप्तकर धर्मसे निवृत्त होता है। जिस प्रकार यहाँ धर्मको अध्रुव होनेपर भी पञ्चमी विभक्ति हो गई है उसी प्रकार विवेक बुद्धिवाला पुरुष विचार करता है कि हिंसा आदि पापके कारण हैं और जो पापकर्ममें प्रवृत्त होते हैं उनको इस लोकमें राजा दण्ड देते हैं और परलोकमें भी उनको नरकादि गतियोंमें दुःख भोगने पड़ते हैं, इस प्रकार स्वबुद्धिसे हिंसादिको प्राप्तकर उनसे विरक्त होता है। अतः हिंसादिमें ध्रुवत्वकी विवक्षा होनेसे यहाँ हिंसादिकी अपादान संज्ञा होती है और अपादान संज्ञा होनेसे पञ्चमी विभक्ति भी हुई।

व्रतोंमें प्रधान होनेसे अहिंसाव्रतको पहिले कहा है। सत्य आदि व्रत अनाजकी रक्षाके लिये वारीकी तरह अहिंसा व्रतके परिपालनके लिये ही हैं। सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्तिरूप केवल सामायिक ही व्रत है और छेदोपस्थापना आदिके भेदसे व्रतके पाँच भेद हैं।

प्रश्न—व्रतोंको आस्रवका कारण कहना ठीक नहीं है किन्तु व्रत संवरके कारण हैं। "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः" [९।२] इस सूत्रके अनुसार दशलक्षणधर्म और चारित्रमें व्रतोंका अन्तर्भाव होता है।

उत्तर—संवर निवृत्तिरूप होता है और अहिंसा आदि व्रत प्रवृत्तिरूप हैं, अतः व्रतोंको आस्रवका कारण मानना ठीक है। दूसरी वात यह है कि गुप्ति समिति आदि संवरके परिकर्म हैं। जिस साधुने व्रतोंका अनुष्ठान अच्छी तरहसे कर लिया है वही संवरको सुखपूर्वक कर सकता है। अतः व्रतोंको पृथक् कहा गया है।

प्रश्न—रात्रिभोजनत्याग भी एक छठवाँ व्रत है उसको यहाँ क्यों नहीं कहा ?

उत्तर—अहिंसा व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं उनमेंसे एक भावना आलोकितपानभोजन है। अतः आलोकितपानभोजनके ग्रहणसे रात्रिभोजनत्यागका ग्रहण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि रात्रिभोजनत्याग अहिंसा व्रतके अन्तर्गत ही है, पृथक् व्रत नहीं है।

व्रतके भेद—

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

व्रतके दो भेद हैं—अणुव्रत और महाव्रत। हिंसादि पापोंके एकदेशत्यागको अणुव्रत और सर्वदेशत्यागको महाव्रत कहते हैं। अणुव्रत गृहस्थोंके और महाव्रत मुनियों के होते है।

व्रतोंकी स्थिरताकी कारणभूत भावनाओंका वर्णन—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

जिस प्रकार उत्त औषधियाँ रसादिकी भावना देनेसे विशिष्ट गुणवाली हो जाती हैं उसी तरह अहिंसादि व्रतभी भावनाभावित होकर सत्फलदायक होते हैं। उन अहिंसा आदि व्रतोंकी स्थिरताके लिये प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं।

अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

वचनको वशमें रखना वचनगुप्ति और मनको वशमें रखना मनोगुप्ति हैं। चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। भूमिको देख और शोधकर किसी वस्तुको रखना या उठाना आदाननिक्षेपणसमिति है। सूर्यके प्रकाशसे देखकर खाना और पीना आलोकित-पानभोजन है।

सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ये सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

क्रोधका त्याग करना क्रोधप्रत्याख्यान है। लोभको छोड़ना लोभप्रत्याख्यान है। भय नहीं करना भयप्रत्याख्यान है। हास्यका त्याग करना हास्यप्रत्याख्यान है और निर्दोष वचन बोलना अनुवीचिभाषण है।

अचौर्यव्रतकी भावनाएँ—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्षशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्षशुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्य व्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

पर्वत, गुफा, वृक्षकोटर, नदीतट आदि निर्जन स्थानोंमें निवास करना शून्यागारावास है। दूसरोंके द्वारा छोड़े हुए स्थानोंमें रहना विमोचितावास है। दूसरोंका उपरोध नहीं करना अर्थात् अपने स्थानमें ठहरनेसे नहीं रोकना परोपरोधाकरण है। आचारशास्त्रके अनुसार भिक्षाकी शुद्धि रखना भैक्षशुद्धि हैं। और सहधर्मी भाइयोंसे कलह नहीं करना सधर्माविसंवाद है।

शून्यागारोंमें और त्यक्त स्थानोंमें रहनेसे परिग्रह आदिमें निस्पृहता होती है। सहधर्मियोंके साथ विसंवाद न करनेसे जिनवचनमें व्याघात नहीं होता है। इससे अचौर्यव्रतमें स्थिरता आती है। इसी प्रकार परोपरोधाकरण और भैक्षशुद्धिसे भी इस व्रतमें दृढ़ता आती है।

ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाएँ—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कारत्याग ये ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

स्त्रियोंमें राग उत्पन्न करनेवाली कथाओंके सुननेका त्याग स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग है। स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोंको देखनेका त्याग तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग है। पूर्वकालमें भोगे हुए विषयोंको स्मरण नहीं करना पूर्वरतानुस्मरणत्याग है। कामवर्धक, वाजीकर और मन तथा रसनाको अच्छे लगनेवाले रसोंको नहीं खाना वृष्येष्टरसत्याग है। अपने शरीरका किसी प्रकारका संस्कार नहीं करना स्वशरीरसंस्कारत्याग है।

परिग्रहत्यागव्रतकी भावनाएँ—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके इष्ट विषयोंमें राग नहीं करना और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना ये परिग्रहत्यागव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।

हिंसादि पापोंकी भावना—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

हिंसादि पापोंके करनेसे इस लोक और परलोकमें अपाय और अवद्यदर्शन होता है। अभ्युदय और निःश्रेयसको देनेवाली क्रियाओंके नाशको अथवा सात भयोंको अपाय कहते हैं और निन्दाका नाम अवद्य है।

हिंसा करनेवाला व्यक्ति लोगों द्वारा सदा तिरस्कृत होता है और लोगोंसे वैर भी उसका रहता है। इस लोकमें वध, बन्धन आदि दुःखोंको प्राप्त करता है और मर कर नरकादि गतियोंके दुःखोंको भोगता है। इसलिये हिंसाका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

असत्य बोलनेवाले पुरुषका कोई विश्वास नहीं करता है। ऐसे पुरुषकी जिह्वा कान नासिका आदि छेदी जाती है। लोग उससे वैर रखते हैं और निन्दा करते हैं। इसलिये असत्य वचनका त्याग करना ही अच्छा है।

चोरी करनेवाला पुरुष चाण्डालोंसे भी तिरस्कृत होता है और इस लोकमें पिटना वध, बन्धन हाथ पैर कान नाक जीभ आदिका छेदन, सर्वस्व हरण, गधेपर बैठाना आदि दण्डोंको प्राप्त करता है। सब लोग उसकी निन्दा करते हैं और वह मरकर नरकादि गतियों के दुःखको प्राप्त करता है। अतः चोरी करना श्रेयस्कर नहीं है।

अब्रह्मचारी पुरुष मदोन्मत्त होता हुआ कामके वश होकर वध बन्धन आदि दुःखोंको प्राप्त करता है, मोह या अज्ञानके कारण कार्य और अकार्यको नहीं समझता है और स्त्रीलम्पट होनेसे दान, पूजन, उपवास आदि कुछ भी पुण्य कर्म नहीं करता है। परस्त्रीमें अनुरक्त पुरुष इस लोकमें लिङ्गच्छेदन, वध, बन्धन, सर्वस्वहरण आदि दुःखोंको प्राप्त करता है और मरकर नरकादि गतियोंके दुःखोंको भोगता है। लोगों द्वारा निन्दित भी होता है अतः कुशीलसे विरक्त होना ही शुभ है।

परिग्रहवाला पुरुष परिग्रहको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा अभिभूत होता है जैसे मांसपिण्डको लिये हुए एक पक्षी अन्य पक्षियोंके द्वारा। वह परिग्रहके उपार्जन, रक्षण और क्षयके द्वारा होनेवाले बहुतसे दोषोंको प्राप्त करता है। इन्धनके द्वारा वह्निकी तरह धनसे उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। लोभके कारण वह कार्य और अकार्यको नहीं समझता। पात्रोंको देखकर किवाड़ बन्द कर लेता है, एक कौड़ी भी उन्हें नहीं देना चाहता। पात्रोंको केवल धक्के ही देता है। वह मरकर नरकादि गतियोंके घोर दुखोंको प्राप्त करता है और लोगों द्वारा निन्दित भी होता है। इसलिये परिग्रहके त्याग करनेमें ही कल्याण है। इस प्रकार हिंसादि पाँच पापोंके विषयमें विचार करना चाहिये।

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अथवा ऐसा विचार करना चाहिये कि हिंसादिक दुःखरूप ही हैं। हिंसादि पाँच पापोंको दुःखका कारण होनेसे दुःखरूप कहा गयाहै जैसे "अन्नं वै प्राणाः" यहाँ अन्नको प्राणका कारण होनेसे प्राण कहा गया है। अथवा दुःखका कारण असातावेदनीय है। असातावेदनीयका कारण हिंसादि हैं। अतः दुखके कारणका कारण होनेसे हिंसादिकको दुःखस्वरूप कहा गया है, जैसे :"धनं वै प्राणाः" यहाँ प्राणके कारण भूत अन्नका कारण होनेसे धनको प्राण कहा गया है।

यद्यपि विषयभोगोंसे सुखका भी अनुभव होता है लेकिन वास्तवमें यह सुख सुख नहीं है, केवल वेदनाका प्रतिकार है जैसे खाजको खुजलानेसे थोड़े समयके लिये सुखका अनुभव होता है।

अन्य भावनाएँ—

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥ ११ ॥

प्राणीमात्र, गुणीजन, क्लिश्यमान और अविनयी जीवोंमें क्रमसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका विचार करे।

संसारके समस्त प्राणियोंमें मन वचन काय कृत कारित और अनुमोदनासे दुःख उत्पन्न न होनेका भाव रखना मैत्री भावना है। ज्ञान तप संयम आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषोंको देखकर मुखप्रसन्नता आदिके द्वारा अन्तर्भक्तिको प्रकट करना प्रमोद भावना है। असातावेदनीय कर्मके उदयसे दुःखित जीवोंको देखकर करुणामय भावोंका होना कारुण्य भावना है। जिनधर्मसे पराङ्मुख मिथ्यादृष्टि आदि अविनीत प्राणियोंमें उदासीन रहना माध्यस्थ्य भावना है।

इन भावनाओंके भावनेसे अहिंसादि व्रत न्यून होने पर भी परिपूर्ण हो जाते हैं।

संसार और शरीरके स्वभावका विचार—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

संवेग और वैराग्यके लिये संसार और शरीरके स्वभावका विचार करना चाहिये। संसारसे भीरुता अथवा धर्मानुरागको संवेग कहते हैं। शरीर, भोगादिसे विरक्त होना वैराग्य है। सूत्रमें आया हुआ 'वा' शब्द यह सूचित करता है कि संसार और शरीरके स्वरूपचिन्तनसे अहिंसादि व्रतोंमें भी स्थिरता होती है।

संसारके स्वरूपका विचार—लोकके तीन भेद हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। अधोलोक वेत्रासनके आकार है, मध्यलोक झल्लरी (झालर) और ऊर्ध्वलोक मृदङ्गके आकार है। तीनों लोक अनादिनिधन हैं। इस संसारमें जीव अनादि कालसे चौरासी लाख योनियोंमें शारीरिक मानसिक आगन्तुक आदि नाना प्रकारके दुःखोंको भोगते हुए भ्रमण कर रहे हैं। इस संसारमें धन यौवन आदि कुछ भी शाश्वत नहीं हैं। आयु जलबुद्बुदके समान है और भोगसामग्री विद्युत् इन्द्रधनुष आदिके समान अस्थिर हैं। इस संसारमें इन्द्र धरणेन्द्र आदि कोई भी विपत्तिमें जीवकी रक्षा नहीं कर सकते। इस प्रकार संसारके स्वरूपका विचार करना चाहिये।

कायके स्वभाव का विचार—शरीर अनित्य है, दुःखका हेतु है, निःसार है, अशुचि है, बीभत्स है, दुर्गन्धयुक्त है, मल मूत्रमय है, सन्तापका कारण है और पापोंकी उत्पत्तिका स्थान है। इस प्रकार कायके स्वरूपका विचार करना चाहिये।

हिंसाका लक्षण—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

प्रमत्त व्यक्तिके व्यापारसे दश प्रकारके प्राणोंका वियोग करना अथवा वियोग करनेका विचार करना हिंसा है। कषायसहित प्राणी को प्रमत्त कहते हैं। अथवा विना विचारे जो इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति करता है वह प्रमत्त है। अथवा तीव्र कषायोदयके कारण अहिंसामें जो कपटपूर्वक प्रवृत्ति करता है वह प्रमत्त है। अथवा चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादोंसे जो युक्त हो वह प्रमत्त है। प्रमत्त व्यक्तिके मन, वचन और कायके व्यापारको प्रमत्तयोग कहते हैं। और प्रमत्तयोगसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है।

प्रमत्तयोगके अभावमें प्राणव्यपरोपण होनेपर भी हिंसाका दोष नहीं लगता है। प्रवचनसारमें कहा भी है कि—"ईर्यासमितिपूर्वक गमन करनेवाले मुनिके पैरके नीचे कोई सूक्ष्म जीव आकर दब जाय या मर जाय तो उस मुनिको उस जीवके मरने आदिसे सूक्ष्म भी कर्मबन्ध नहीं होता है। जिस प्रकार मूर्च्छाका नाम परिग्रह है उसी प्रकार प्रमत्तयोगका नाम हिंसा है।" और भी कहा है कि—"जीव चाहे मरे या न मरे लेकिन अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेको हिंसाका दोष अवश्य लगता है और प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेको हिंसामात्रसे पापका बन्ध नहीं होता है।"

अपने परिणामोंके कारण प्राणियोंका घात नहीं करनेवाले प्राणी भी पापका बन्ध करते हैं जैसे धीवर मछली नहीं मारते समय भी पापका बन्ध करता है क्योंकि उसके भाव सदा ही मछली मारनेके रहते हैं और प्राणियोंका घात करनेवाले प्राणी भी पापका बन्ध नहीं करते जैसे कृषकको हल चलाते समय भी पापका बन्ध नहीं होता है क्योंकि उसके

परिणाम हिंसा करनेके नहीं है। प्रमादयुक्त व्यक्ति पहिले स्वयं अपनी आत्माका घात करता है बादमें दूसरे प्राणियोंका वध हो चाहे न हो। अतः प्रमत्तयोगसे प्राणोंके वियोग करनेको अथवा केवल प्रमत्तयोगको हिंसा करते हैं। प्रमत्तयोगके विना केवल प्राणव्यपरोपण हिंसा नहीं है।

असत्यका लक्षण—

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

प्रमादके योगसे असत् (अप्रशस्त) अर्थको कहना अनृत या असत्य है। अर्थात् प्राणियोंको दुःखदायक विद्यमान अथवा अविद्यमान अर्थका वचन असत्य है। जिस प्रकार धनश्री हिंसामें प्रसिद्ध है उसी तरह वसु राजा झूठमें। कर्णकर्कश, हृदयनिष्ठुर, मनमें पीड़ा करनेवाले, विप्रलापयुक्त, विरोधयुक्त, प्राणियोंके वध बन्धन आदिको करानेवाले, वैरकारी, कलह आदि करानेवाले,त्रास करनेवाले गुरु आदिकी अवज्ञा करनेवाले आदि वचन भी असत्य हैं। झूँठ बोलनेकी इच्छा और झूठ बोलनेके उपाय सोचना भी प्रमत्तयोगके कारण असत्य हैं। प्रमत्तयोगके अभावमें असत्य वचन भी कर्मबन्धके कारण नहीं होते हैं।

चोरीका लक्षण —

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

प्रमत्तयोगसे विना दी हुई किसी वस्तुको ग्रहण करना चोरी है। अर्थात् जिस वस्तु पर सब लोगोंका अधिकार नहीं है उस वस्तुको ग्रहण करना, ग्रहण करनेकी इच्छा करना अथवा ग्रहण करनेका उपाय सोचना चोरी है।

प्रश्न—यदि विना दी हुई वस्तुके ग्रहण करनेका नाम चोरी है तो कर्म और नोकर्मका ग्रहण भी चोरी कहलायगा क्योंकि कर्म और नोकर्म भी किसीके द्वारा दिए नहीं जाते।

उत्तर—जिस वस्तुका देना और लेना संभव हो उसी वस्तुके ग्रहण करनेमें चोरीका व्यवहार होता है। सूत्रमें आए हुए 'अदत्त' शब्दका यही तात्पर्य है। यदि दाताका सद्भाव हो तो ग्राहक का अस्तित्व भी पाया जाता है। लेकिन कर्म और नोकर्म वर्गणाओंका कोई स्वामी न होनेसे उनके ग्रहण करनेमें अदत्तादानका प्रश्न ही नहीं होता है। अतः कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना चोरी नहीं है।

प्रश्न—ग्राम, नगर आदिमें भ्रमण करनेके समय मुनि रथ्याद्वार (गलीका द्वार) आदिमें प्रवेश करते है और रथ्या आदि स्वामी सहित हैं अतः विना आज्ञाके प्रवेश करनेके कारण मुनियोंको चोरीका दोष लगना चाहिये।

उत्तर—ग्राम, नगर आदिमें और रथ्याद्वार आदिमें प्रवेश करनेसे मुनियोंको चोरीका दोष नहीं लगता है क्योंकि सर्व साधारणके लिये वहाँ प्रवेश करनेकी स्वतन्त्रता है। मुनियों के लिये यह भी विधान है कि बन्द द्वार आदिमें प्रवेश न करें। अतः खुले हुए द्वार आदिमें प्रवेश करनेसे कोई दोष नहीं लगता है। अथवा प्रमत्तयोगसे अदत्तादानका नाम चोरी है और मुनियोंको प्रमत्तयोगके विना रथ्याद्वार आदिमें प्रवेश करनेपर चोरीका दोष नहीं लग सकता है।

कुशीलका लक्षण—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

मैथुनको अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं। चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे राग-परिणाम सहित स्त्री और पुरुषको परस्पर स्पर्श करने की इच्छाका होना या स्पर्श करनेके उपायका सोचना मैथुन है। रागपरिणामके अभावमें स्पर्श करने मात्रका नाम कुशील नहीं है। लोक और शास्त्रमें भी यही माना गया है कि रागपरिणामके कारण स्त्री और पुरुषकी जो चेष्टा है वही मैथुन है। अतः प्रमत्तयोगसे स्त्री और पुरुषमें अथवा पुरुष और पुरुषमें रतिसुखके लिये जो चेष्टा है वह मैथुन है।

जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोंकी वृद्धि हो वह ब्रह्म है और ब्रह्मका अभाव अब्रह्म है। मैथुनको अब्रह्म इसलिये कहा है कि मैथुनमें अहिंसादि गुणोंकी रक्षा नहीं होती है। मैथुन करनेवाला जीव हिंसा करता है। मैथुन करनेसे योनिमें स्थित करोड़ों जीवोंका घात होता है। मैथुनके लिये झूठ भी बोलना पड़ता है, अदत्तादान और परिग्रहका भी ग्रहण करना पड़ता है। अतः मैथुनमें सब पाप अन्तर्हित हैं।

परिग्रहका लक्षण—

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

मूर्च्छाको परिग्रह कहते हैं। गाय भैंस मणि मुक्ता आदि चेतन और अचेतन रूप बाह्य परिग्रह और राग द्वेष आदि अन्तरङ्ग परिग्रहके उपार्जन रक्षण और वृद्धि आदिमें मनकी अभिलाषा या ममत्वका नाम मूर्च्छा है। वात पित्त श्लेष्म आदिसे उत्पन्न होने वाली अचेतन स्वभावरूप मूर्च्छाका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है।

प्रश्न—यदि मनकी अभिलाषाका नाम ही परिग्रह है तो बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं होंगे।

उत्तर—मनकी अभिलाषाको प्रधान होनेके कारण अन्तरङ्ग परिग्रहको ही मुख्य रूपसे परिग्रह कहा गया है। बाह्य पदार्थभी मूर्च्छाके कारण होनेसे परिग्रह ही हैं। ममत्व या मूर्च्छाका नाम परिग्रह होनेसे आहार भय आदि संज्ञायुक्त पुरुष भी परिग्रहसहित है क्योंकि संज्ञाओंमें ममत्वबुद्धि रहती है।

प्रश्न—सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र आदि भी परिग्रह हैं या नहीं ?

उत्तर—जिसके प्रमत्तयोग होता है वही परिग्रहसहित होता है और जिसके प्रमत्तयोग नहीं है वह अपरिग्रही है। सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र आदिसे युक्त पुरुष प्रमाद-रहित और निर्मोह होता है, उसके मूर्च्छा भी नहीं होती है अतः वह परिग्रहरहित ही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान दर्शन आदि आत्माके स्वभाव होनेसे अहेय हैं और रागद्वेषादि अनात्मस्वभाव होनेसे हेय हैं। अतः राग द्वेषादि ही परिग्रह हैं न कि ज्ञान दर्शनादि। ऐसा कहा भी है कि जो हेय हो वही परिग्रह है।

परिग्रहवाला पुरुष हिंसा आदि पाँचों पापोंमें प्रवृत्त होता है और नरकादि गतियोंके दुःखोंको भोगता है।

अन्तरङ्ग परिग्रहके चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष। बाह्य परिग्रहके दश भेद हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, सवारी, शयनासन, कुप्य और भाण्ड।

राग, द्वेषादिको ही मुख्य रूपसे परिग्रह कहते हैं। कहा भी है कि-अपने पापके कारण बाह्यपरिग्रहरहित दरिद्र मनुष्य तो बहुतसे होते हैं लेकिन अभ्यन्तर परिग्रह रहित जीव लोकमें दुर्लभ है।

व्रतीकी विशेषता—

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

शल्यरहित जीव ही व्रती है। शल्य वाणको कहते हैं। जिस प्रकार वाण शरीरके अन्दर प्रवेश करके दुःखका हेतु होता है उसी प्रकार प्राणियोंकी शारीरिक मानसिक आदि बाधाका कारण होनेसे कर्मोदयके विकारको भी शल्य कहते हैं। शल्यके तीन भेद हैं—माया मिथ्यात्व और निदान।

छल कपट करनेको माया कहते हैं। तत्त्वार्थश्रद्धानका न होना मिथ्यात्व है और विषयभोगोंकी आकांक्षाका नाम निदान है। जो इन तीन प्रकारकी शल्योंसे रहित होता है वही व्रती कहलाता है।

प्रश्न—शल्य रहित होनेसे निःशल्य और व्रत सहित होनेसे व्रती होता है। अतः जिस प्रकार दण्डधारी देवदत्त छत्री (छत्तावाला) नहीं कहलाता है उसी प्रकार शल्य रहित व्यक्ति भी व्रती नहीं हो सकता है।

उत्तर—निःशल्यो व्रती कहनेका तात्पर्य यह है कि शल्यरहित और व्रतसहित व्यक्ति ही व्रती कहलाता है केवल हिंसादिसे विरक्त होने मात्रसे कोई व्रती नहीं हो सकता। इसी तरह हिंसादिसे विरक्त होने पर भी शल्यसहित व्यक्ति व्रती नहीं है किन्तु शल्य रहित होने पर ही वह व्रती होता है। जैसे जिसके अधिक दूध घृत आदि होता है वही गोवाला कहलाता है, दूध घृतके अभावमें गायोंके होने पर भी वह ग्वाला नहीं कहलाता उसी प्रकार अहिंसादि व्रतोंके होने पर भी शल्यसंयुक्त पुरुष व्रती नहीं है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतोंके विशिष्ट फलको शल्यरहित व्यक्ति ही प्राप्त करते हैं शल्यसहित नहीं।

व्रतीके भेद—

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

व्रतीके दो भेद हैं—अगारी और अनगारी। जो घरमें निवास करते हैं वे अगारी (गृहस्थ) हैं और जिन्होंने घरका त्याग कर दिया है वे अनगारी (मुनि) हैं।

प्रश्न—इस प्रकार तो जिनालय शून्यागार मठ आदिमें निवास करनेवाले मुनि भी अगारी हो जायेंगे और जिसकी विषयतृष्णा दूर नहीं हुई है लेकिन किसी कारणसे जिसने घरको छोड़ दिया है ऐसा वनमें रहनेवाला गृहस्थ भी अनगारी कहलाने लगेगा।

उत्तर—यहाँ घर शब्दका अर्थ भावघर है। चारित्रमोहके उदय होनेपर घरके प्रति अभिलाषाका नाम भावघर है। जिस पुरुषके इस प्रकारका भावघर विद्यमान है वह वनमें नग्न होकर भी निवास करे तो भी वह अगारी है। और भावागार न होनेके कारण जिन चैत्यालय आदिमें रहनेवाले मुनि भी अनगारी है।

प्रश्न—अपरिपूर्ण व्रत होनेके कारण गृहस्थ व्रती नहीं हो सकता।

उत्तर—नैगम संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा गृहस्थ भी व्रती ही है। जैसे घरमें या घरके एक कमरेमें निवास करनेवाले व्यक्तिको नगरमें रहनेवाला कहा जाता है उसी प्रकार परिपूर्ण व्रतोंके पालन न करने पर भी एकदेशव्रत पालन करनेके कारण वह व्रती कहलाता है। पाँच पापोंमें से किसी एक पापका त्याग करनेवाला व्रती नहीं है किन्तु पाँचो पापोंके एकदेश या सर्वदेश त्याग करनेवालेको व्रती कहते हैं।

अगारीका लक्षण—

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

हिंसादि पापोंके एकदेश त्याग करनेवालेको अगारी या गृहस्थ कहते हैं।

अणुव्रतके पाँच भेद हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत। संकल्प पूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करना अहिंसाणुव्रत है। लोभ,मोह, स्नेह आदिसे अथवा घरके विनाश होनेसे या ग्राममें वास करनेके कारण असत्य नहीं बोलना सत्याणुव्रत है। संक्लेशपूर्वक लिया गया अपना भी धन दूसरों को पीड़ा करने वाला होता है, और राजाके भय आदिसे जिस धनका त्याग कर दिया है ऐसे धनको अदत्त कहते हैं। इस प्रकारके धनमें अभिलाषाका न होना अचौर्याणुव्रत है। परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रीमें रतिका न होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और क्षेत्र वास्तु धन धान्य आदि परिग्रहका अपनी आवश्यकतानुसार परिमाण कर लेना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है।

सात शीलव्रतोंका वर्णन—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

वह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतोंसे और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतोंसे सहित होता है। 'च' शब्दसे व्रती सल्लेखनादिसे भी सहित होता है।

दशों दिशाओंमें हिमाचल, विन्ध्याचल आदि प्रसिद्ध स्थानोंकी मर्यादा करके उससे बाहर जानेका मरण पर्यन्तके लिये त्याग करना दिग्व्रत है। दिग्व्रत की मर्यादाके बाहर स्थावर और त्रस जीवोंकी हिंसाका सर्वथा त्याग होनेसे गृहस्थके भी उतने क्षेत्रमें महाव्रत होता है। दिग्व्रतके क्षेत्रके बाहर धनादिका लाभ होनेपर भी मनकी अभिलाषाका अभाव होनेसे लोभका त्याग भी गृहस्थके होता है। दिग्व्रतके क्षेत्रमें से भी ग्राम नगर नदी वन घर आदिसे निश्चित कालके लिये बाहर जानेका त्याग करना देशव्रत है। देशव्रत दिग्व्रतके अन्तर्गत ही है। विशेष रूपसे पापके स्थानोंमें, व्रतभङ्ग होने योग्य स्थानोंमें और खुरासान मूलस्थान मखस्थान हिरमजस्थान आदि स्थानोंमें जानेका त्याग करना देशव्रत है। देशव्रतके क्षेत्रसे बाहर भी दिग्व्रतकी तरह ही महाव्रत और लोभका त्याग होता है।

प्रयोजन रहित पापक्रियाओंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है। अनर्थदण्डके पाँच भेद हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान और दुःश्रुति।

द्वेषके कारण दूसरोंकी जय पराजयवध बन्धन द्रव्यहरण आदि और रागके कारण दूसरेकी स्त्री आदिका हरण कैसे हो इस प्रकार मनमें विचार करना अपध्यान है।

पापोपदेश अनर्थदण्डके चार भेद हैं—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, बधकोपदेश और आरम्भोपदेश। अन्य देशोंसे कम मूल्यमें आनेवाले दासी-दासोंको लाकर गुजरात आदि देशोंमें बेचनेसे महान् धनलाभ होता है ऐसा कहना क्लेशवणिज्या पापोपदेश है। इस देशके गाय भैंस बैल ऊँट आदि पशुओंकी दूसरे देशमें बेचनेसे अधिक लाभ होता इस प्रकार उपदेश देना तिर्यग्वणिज्या पापोपदेश है। पाप कर्मोंसे आजीविका करने वाले धीवर शिकारी आदिसे ऐसा कहना कि उस स्थान पर मछली मृग वराह आदि बहुत हैं वधकोपदेश है। नीच आदमियोंसे ऐसा कहना कि भूमि ऐसे जोती जाती है. जल ऐसे निकाला जाता है, वनमें आग इस प्रकार लगाई जाती है, वनस्पति ऐसे खोदी जाती है इत्यादि उपदेश आरम्भोपदेश है।

बिना प्रयोजन पृथिवी कूटना जल सींचना अग्नि जलाना पंखा आदिसे वायु उत्पन्न करना वृक्षोंके फल फूल लता आदि तोड़ना तथा इसी प्रकारके अन्य पाप कार्य करना प्रमादाचरित है।

दूसरे प्राणियोंके घातक मार्जार सर्प बाज आदि हिंसक पशु-पक्षियोंका तथा विष कुठार तलवार आदि हिंसाके उपकरणोंका संग्रह और विक्रय करना हिंसादान है।

हिंसा राग द्वेष आदिको बढ़ानेवाले शास्त्रोंका पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना व्यापार करना आदि दुःश्रुति है। इन पाँचों प्रकारके अनर्थदण्डोंका त्याग करना अनर्थ-दण्ड व्रत है।

दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीनों अणुव्रतोंकी वृद्धिमें हेतु होनेके कारण गुणव्रत कहलाते हैं।

समयशब्दसे स्वार्थमें इकण् प्रत्यय होनेपर सामायिक शब्द बना है। एकरूपसे परिणमन करनेका नाम समय है और समयको ही सामायिक कहते हैं। अथवा प्रयोजन अर्थमें इकण् प्रत्यय करनेसे समय (एकत्वरूप परिणति) ही जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है। तात्पर्य यह है कि देववन्दना आदि कालमें बिना संक्लेशके सब प्राणियोंमें समता आदिका चिन्तवन करना सामायिक है।

सामायिक करनेवाला जितने काल तक सामायिकमें स्थित रहता है उतने काल तक सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्ति हो जानेसे वह उपचारसे महाव्रती भी कहलाता है। लेकिन संयमको घात करनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायके उदय होनेसे वह सामायिक कालमें संयमी नहीं कहा जा सकता। सामायिक करनेवाला गृहस्थ परिपूर्ण संयमके बिना भी उपचारसे महाव्रती है जैसे राजपदके बिना भी सामान्य क्षत्री राजा कहलाता है।

अष्टमी और चतुर्दशीको प्रोषध कहते हैं। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके त्याग करनेको उपवास कहते हैं। अतः प्रोषध (अष्टमी और चतुर्दशी) में उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। अर्थात् अशन पान खाद्य और लेह्य इन चार प्रकारके आहारका अष्टमी और चतुर्दशीको त्याग करना प्रोषधोपवास है। जो श्रावक सब प्रकारके आरंभ स्वशरीरसंस्कार स्नान गन्ध माला आदि धारण करना छोड़कर चैत्यालय आदि पवित्र स्थानमें एकाग्र मनसे धर्मकथाको कहता सुनता अथवा चिन्तवन करता हुआ उपवास करता है वह प्रोषधोपवासव्रती है।

भोजन पान गन्ध माल्य ताम्बूल आदि जो एक बार भोगनेमें आवें वे उपभोग हैं और आभूषण शय्या घर यान वाहन आदि जो अनेक बार भोगनेमें आवें वे परिभोग है। उपभोग और परिभोगके स्थानमें भोग और उपभोगका भी प्रयोग किया जाता है। उपभोग

और परिभोगमें आनेवाले पदार्थोंका परिमाण कर लेना उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत है। यद्यपि उपभोगपरिमाणव्रतमें त्याग नियत कालके लिये ही किया जाता है लेकिन मद्य मांस मधु केतकी नीमके फूल अदरख मूली पुष्प अनन्तकायिक छिद्रवाली शाक नल आदि वनस्पतियोंका त्याग यावज्जीवनके लिये ही कर देना चाहिये क्योंकि इनके भक्षणमें फल तो थोड़ा होता है और जीवोंकी हिंसा अधिक होती है। इसी प्रकार यान वाहन आदिका त्याग भी यथाशक्ति कुछ कालके लिये या जीवन पर्यन्त करना चाहिये।

संयमकी विराधना किये विना जो भोजनको जाता है वह अतिथि है। अथवा जिसके प्रतिपदा, द्वितीया आदि तिथि नहीं है, जो किसी भी तिथिमें भोजनको जाता है वह अतिथि है। इस प्रकारके अतिथिको विशिष्ट भोजन देना अतिथिसंविभागव्रत है। अतिथिसंविभाग के चार भेद हैं— भिक्षादान, उपकरणदान, औषधदान और आवासदान। मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील, संयममें तत्पर और शुद्ध संयमीके लिये निर्मल चित्तसे निर्दोष भिक्षा देनी चाहिये। इसी प्रकार पीछी,पुस्तक, कमण्डलु आदि धर्मके उपकरण, योग्य औषधि और श्रद्धापूर्वक निवासस्थान भी देना चाहिये।

'च' 'शब्द' से यहाँ जिनेन्द्रदेवका अभिषेक, पूजन आदिका भी ग्रहण करना चाहिये।

सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चारों, जिस प्रकार माता-पिताके वचन सन्तानको शिक्षाप्रद होते हैं उसी प्रकार अणुव्रतोंकी शिक्षा देनेवाले अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले होनेके कारण शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

सल्लेखनाका वर्णन—

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

मरणके अन्तमें होनेवाली सल्लेखनाको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाला पुरुष गृहस्थ होता है। आयु, इन्द्रिय और बलका किसी कारणसे नाश हो जाना मरण है। इस प्रकारके मरणके समय गृहस्थको सल्लेखना करना चाहिये। समतापूर्वक काय और कषायोंके कृश करनेको सल्लेखना कहते हैं। कायको कृश करना बाह्य सल्लेखना और कषायोंको कृश करना अन्तरङ्ग सल्लेखना है।

प्रश्न—अर्थकी स्पष्टताके लिये 'जोपिता'के स्थानमें 'सेविता' शब्द क्यों नहीं रखा ?

उत्तर—अर्थ विशेषको बतलानेके लिये आचार्यने जोपिता शब्दका प्रयोग किया है। प्रीति पूर्वक सेवन करनेका नाम ही सल्लेखना है। प्रीतिके बिना बलपूर्वक सल्लेखना नहीं कराई जाती है। किन्तु गृहस्थ संन्यासमें प्रीतिके होने पर स्वयं ही सल्लेखनाको करता है। अतः प्रीतिपूर्वक सेवन अर्थ में जुषी धातुका प्रयोग बहुत उपयुक्त है।

प्रश्न—स्वयं विचारपूर्वक प्राणोंके त्याग करनेमें हिंसा होनेसे सल्लेखना करनेवालेको आत्मघातका दोष होगा ?

उत्तर—सल्लेखनामें आत्मघातका दोष नहीं होता है क्योंकि प्रमत्तयोगसे प्राणोंके विनाश करनेको हिंसा कहते हैं और जो विचारपूर्वक सल्लेखनाको करता है उसके राग द्वेषादिके न होनेसे प्रमत्तयोग नहीं होता है। अतः सल्लेखना करनेमें आत्मघातका दोष संभव नहीं है। राग, द्वेष, मोह आदिसे संयुक्त जो पुरुष विष, शस्त्र, गलपाश, अग्निप्रवेश, कूपपतन आदि प्रयोगोंके द्वारा प्राणोंका त्याग करता है वह आत्मघाती है। कहा भी है कि—

"जो आत्मघाती व्यक्ति हैं वे अति अन्धकारसे आवृत असूर्यलोकमें अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं ?"

जिनागममें कहा है कि—"रागादिका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है, रागादिकी उत्पत्ति ही हिंसा है।"

सल्लेखनामें आत्मघात न होनेका एक कारण यह भी है कि वणिक्को अपने घर के विनाशकी तरह प्रत्येक प्राणीको मरण अनिष्ट है। वणिक् बहुमूल्य द्रव्योंसे भरे हुए अपने घरका विनाश नहीं चाहता है। लेकिन किसी कारणसे विनाशके उपस्थित होने पर वणिक् उस घरको छोड़ देता है अथवा ऐसा प्रयत्न करता है जिससे द्रव्योंका नाश न हो। उसी प्रकार व्रत और शीलका पालन करनेवाला गृहस्थ भी व्रत और शीलके आश्रय स्वरूप शरीरका विनाश नहीं चाहता है। लेकिन शरीरविनाशके कारण उपस्थित होने पर संयमका घात न करते हुए धीरे धीरे शरीरको छोड़ देता है अथवा शरीरके छोड़नेमें असमर्थ होने पर और कायविनाश तथा आत्मगुणविनाशके युगपत् उपस्थित होने पर आत्माके गुणोंका विनाश जिस प्रकार न हो उस प्रकार प्रयत्न करता है। अतः सल्लेखना करनेवालेको आत्मघातका पाप किसी भी प्रकार संभव नहीं है। गृहस्थोंकी तरह मुनियोंको भी आयुके अन्तमें समाधि-मरण बतलाया है।

सम्यग्दर्शन के अतिचार—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ २३ ॥

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंमें सन्देह करना—जैसे निर्ग्रन्थोंके मुक्ति बतलाई है उसी प्रकार क्या सग्रन्थों को भी मुक्ति होती है ? अथवा इसलोकभय, परलोकभय, आदि सात भय करना शंका है। इसलोक और परलोकके भोगोंकी वाञ्छा करना कांक्षा है। रत्नत्रयधारकोंके मलिन शरीरको देखकर यह कहना कि ये मुनि स्नान आदि नहीं करते इत्यादि रूपसे ग्लानि करना विचिकित्सा है। मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और चारित्रगुणकी मनसे प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा है। और मिथ्यादृष्टिके विद्यमान और अविद्यमान गुणोंको वचन से प्रकट करना अन्यदृष्टिसंस्तव है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं अतः अतिचार भी आठ ही होना चाहिये।

उत्तर—व्रत और शीलोंके पाँच पाँच ही अतिचार बतलाये हैं अतः अतिचारोंके वर्णनमें सम्यग्दर्शनके पाँच ही अतीचार कहे गये हैं। अन्य तीन अतिचारोंका अन्यदृष्टिप्रशंसा और संस्तवमें अन्तर्भाव हो जाता है जो मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा और स्तुति करता है वह मूढ़दृष्टि तो है ही, वह रत्नत्रयधारकोंके दोषोंका उपगूहन (प्रगट नहीं करना) नहीं करता है, स्थितिकरण भी नहीं करता है, उससे वात्सल्य और प्रभावना भी संभव नहीं है। अतः अन्यदृष्टिप्रशंसा और संस्तवमें अनुपगूहन आदि दोषोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

व्रत और शीलोंके अतिचार—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

पाँच अणुव्रत और सात शीलोंके क्रमसे पाँच पाँच अतिचार होते हैं। यद्यपि व्रतोंके ग्रहण करनेसे ही शीलोंका ग्रहण हो जाता है लेकिन शीलका पृथक् ग्रहण व्रतोंसे शीलोंमें विशेषता

बतलानेके लिये किया गया हैं। व्रतोंकी रक्षा करनेको शील कहते हैं। दिग्व्रत आदि सात शीलोंके द्वारा पाँच अणुव्रतोंकी रक्षा होती है यही शीलोंकी विशेषता है। अतः शीलके पृथक् ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये अहिंसाणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

इच्छित स्थानमें गमन रोकनेके लिये रस्सी आदिसे बाँध देना बन्ध है। लकड़ी, बेंत, दण्ड आदिसे मारना वध है। यहाँ वधका अर्थ प्राणोंका विनाश नहीं है क्योंकि इसका निषेध हिंसारूपसे पहिले ही कर चुके हैं। नाक, कान आदि अवयवोंको छेद देना छेद है। शक्तिसे अधिक भार लादना अतिभारारोपण है। मनुष्य, गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि प्राणियोंको समय पर भोजन और पानी नहीं देना अन्नपाननिरोध है।

सत्याणुव्रतके अतिचार—

मिथ्योपदेशरहोऽभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥ २६ ॥

मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयसको न देनेवाली क्रियाओंमें भोले मनुष्योंकी प्रवृत्ति कराना और धनादिके निमित्तसे दूसरोंको ठगना मिथ्योपदेश है। इन्द्रपद, तीर्थंकरका गर्भ और जन्म कल्याणक, साम्राज्य, चक्रवर्तिपद, तपकल्याणक, महामण्डलेश्वर आदि राज्यपद, और सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त अहमिन्द्रपद, इन सब संसारके विशेष अथवा साधारण सुखोंका नाम अभ्युदय है। और केवल ज्ञानकल्याणक, निर्वाण कल्याणक, अनन्तचतुष्टय और परमनिर्वाण-पद ये सब निःश्रेयस हैं। स्त्री और पुरुषके द्वारा एकान्तमें किये गये किसी कार्यविशेष को अथवा वचनोंको गुप्तरूपसे जानकर दूसरोंके सामने प्रकट कर देना रहोऽभ्याख्यान है। किसी पुरुषके द्वारा नहीं किये गये और नहीं कहे गये कार्यको द्वेषके कारण उसने ऐसा किया है और ऐसा कहा है इस प्रकार दूसरोंको ठगने और पीड़ा देनेके लिये असत्य बातको लिखना कूटलेखक्रिया है। किसी पुरुषने दूसरेके यहाँ सुवर्ण आदि द्रव्यको धरोहर रख दिया, द्रव्य लेनेके समय संख्या भूल जानेके कारण कम द्रव्य माँगने पर जानते हुए भी कहना कि हाँ इतना ही तुम्हारा द्रव्य है, इस प्रकार धरोहरका अपहरण करना न्यासापहार है। अङ्गविकार, भ्रूविक्षेप आदिके द्वारा दूसरोंके अभिप्रायको जानकर ईर्षा आदिके कारण दूसरोंके सामने प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है।

अचौर्याणुव्रतके अतिचार—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक-व्यवहार ये अचौर्याणुव्रतके अतिचार है।

चोरको चोरी करनेके लिये स्वयं मन वचन और कायसे प्रेरणा करना अथवा दूसरेसे प्रेरणा कराना, इसी प्रकार चोरी करने वालेकी अनुमोदना करना स्तेनप्रयोग है। चोरके द्वारा चुराकर लाई हुई वस्तुका खरीदना तदाहृतादान है। बहुमूल्य वस्तुओंको कम मूल्यमें नहीं लेना चाहिये और कम मूल्य वाली वस्तुओंको अधिक मूल्यमें नहीं देना चाहिये इस प्रकारकी राजाकी आज्ञाके अनुसार जो कार्य किया जाता है वह राज्य कहलाता है। उचित मूल्यसे विरुद्ध अनुचित मूल्यमें देने और लेने को अतिक्रम कहते हैं। राजाकी आज्ञाका उल्लंघन करना अर्थात् राजाकी आज्ञाके विरुद्ध देना और लेना विरुद्धराज्यातिक्रम है। राजाकी आज्ञाके बिना यदि व्यापार किया जाय और राजा उसे स्वीकार कर ले तो वह विरुद्धराज्यातिक्रम नहीं है।

नापनेके प्रस्थ आदि पात्रोंको मान और तौलनेके साधनोंको उन्मान कहते हैं। कम परिमाणवाले मान और उन्मानके द्वारा किसी वस्तुको देना और अधिक मान और उन्मान के द्वारा लेना हीनाधिकमानोन्मान है। लोगोंको ठगनेके लिये कृत्रिम खोटे सुवर्ण आदिके सिक्कोंके द्वारा क्रय-विक्रय करना प्रतिरूपकव्यवहार है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये ब्रह्मचर्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।

दूसरोंके पुत्र आदिका विवाह करना या कराना परविवाहकरण है। विवाहित सधवा अथवा विधवा स्त्रीको जो व्यभिचारिणी हो परिगृहीतेत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रियोंसे बातचीत करना, हाथ, चक्षु, आदिके द्वारा किसी अभिप्रायको प्रकट करना, जघन स्तन मुख आदिका देखना इत्यादि रागपूर्वक की गई दुश्चेष्टाओंका नाम परिगृहीतेत्वरिकागमन है। स्वामीरहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियोंको अपरिगृहीतेत्वरिका कहते हैं। ऐसी स्त्रियोंसे संभाषण आदि व्यवहार करना अपरिगृहीतेत्वरिकागमन है। गमन-शब्दसे जघन स्तन मुख आदिका निरीक्षण, संभाषण, हाथ भ्रूक्षेप आदिसे गुप्त संकेत करना आदि ही विवक्षित हैं। कामसेवनके अङ्गोंको छोड़कर अन्य स्तन आदि अङ्गोंसे क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीडा है। कामसेवनमें अत्यधिक इच्छा रखना कामतीव्राभिनिवेश है। कामसेवन कालमें भी यह दोष होता है तथा दीक्षिता, कन्या, तिर्यञ्चिणी आदिके साथ कामसेवन करना भी कामतीव्राभिनिवेश है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके अतिचार—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य इन वस्तुओं के प्रमाणको लोभके कारण उल्लंघन करना ये क्रमसे परिग्रह परिमाणाणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। अनाजकी उत्पत्तिके स्थानको क्षेत्र—खेत कहते हैं। रहनेके स्थानको वास्तु कहते हैं। चाँदीको हिरण्य और सोनेको सुवर्ण कहते हैं। गाय भैंस हाथी घोड़े आदिको धन तथा गेहूँ चना ज्वार मटर तुअर धान आदि अनाजोंको धान्य कहते हैं। नौकरानी और नौकरको दासी-दास कहते हैं। वस्त्र कपास चन्दन आदिको कुप्य कहते हैं।

दिग्व्रतके अतिचार —

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वव्यतिक्रम अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्व्रतके पाँच अतिचार हैं।

दिशाके परिमाणको उल्लंघन करनेको व्यतिक्रम कहते हैं। ऊपरके परिमाणको उल्लंघन कर पर्वत आदिपर चढ़ना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है, इसी प्रकार नीचे कुंआ आदिमें उतरना अधोव्यतिक्रम है और सुरङ्ग, बिल आदिमें तिरछा प्रवेश करना तिर्यग्व्यतिक्रम है। प्रमाद अथवा मोहादिके कारण लोभमें आकर परिमित क्षेत्रको बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है, अर्थात् परिमित क्षेत्रके बाहर लाभ आदि होनेकी आशासे वहाँ जाना या जानेकी इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है और दिशाओंके प्रमाणको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है।

देशव्रतके अतिचार

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशव्रतके पाँच अतिचार हैं।

मर्यादाके बाहरकी वस्तुओंको अपने क्षेत्रमें मंगाकर क्रय,विक्रय आदि करना आनयन है। मर्यादाके बाहर नौकर आदिको भेजकर इच्छित कार्यकी सिद्धि कराना प्रेष्यप्रयोग है। कार्यकी सिद्धिके लिये मर्यादासे बाहर वाले पुरुषोंको खांसी आदिके शब्द द्वारा अपना अभिप्राय समझा देना शब्दानुपात है। इसी प्रकार मर्यादासे बाहरवालोंको अपना शरीर दिखाकर कार्यकी सिद्धि करना रूपानुपात है तथा मर्यादासे बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर काम निकालना पुद्गलक्षेप है।

अनर्थदण्डव्रतके अतिचार—

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतिचार हैं।

रागकी अधिकता होनेके कारण हास्यमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है। शरीरसे दुष्ट चेष्टा करते हुए हास्यमिश्रित अशिष्ट शब्दोंका प्रयोग करना कौत्कुच्य है। धृष्टतापूर्वक विना प्रयोजनके आवश्यकतासे अधिक बोलना मौखर्य है। बिना विचारे अधिक प्रवृत्ति करना असमीक्ष्याधिकरण है। इसके तीन भेद हैं—मनोगत, वाग्गत और कायगत असमीक्ष्याधिकरण। मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा रचित अनर्थक काव्य आदिका चिन्तन करना मनोगत असमीक्ष्याधिकरण है। बिना प्रयोजन दूसरोंको पीड़ा देनेवाले वचनोंको बोलना वाग्गत असमीक्ष्याधिकरण है और विना प्रयोजन सचित्त और अचित्त फल, फूल आदिका छेदना तथा अग्नि, विष आदिका देना कायगत असमीक्ष्याधिकरण है। उपभोगपरिभोगके पदार्थोंको अत्यधिक मूल्यसे खरीदना तथा आवश्यकतासे अधिक भोग और उपभोगके पदार्थोंको रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है।

सामायिक व्रतके अतिचार—

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

काययोगदुष्प्रणिधान, वाग्योगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये सामायिकव्रतके पाँच अतिचार हैं।

योगोंकी दुष्टप्रवृत्तिको तथा अन्यथा प्रवृत्तिको योगदुष्प्रणिधान कहते हैं। सामायिकके समय क्रोध मान माया और लोभसहित मन वचन कायकी प्रवृत्ति दुष्ट प्रवृत्ति है। शरीरके अवयवोंको आसनबद्ध या नियन्त्रित नहीं रखना कायकी अन्यथाप्रवृत्ति है। अर्थरहित शब्दोंका प्रयोग करना वचनकी अन्यथाप्रवृत्ति है और उदासीन रहना मनकी अन्यथाप्रवृत्ति है। सामायिक करनेमें उत्साहका न होना अनादर है। एकाग्रताके अभावसे सामायिकपाठ वगैरह भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रोषधोपवासव्रतके अतिचार—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये प्रोषधोपवासव्रतके पाँच अतिचार हैं।

यहाँ जीव हैं या नहीं इस प्रकार अपनी चक्षुसे देखना प्रत्यवेक्षित है, और कोमल उपकरण (पीछी) से झाड़नेको प्रमार्जित कहते हैं। बिना देखी और बिना शोधी हुई भूमि पर मल, मूत्र आदि करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग है। देखे और शोधे बिना पूजन आदिके उपकरणोंको उठा लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना शोधे हुए बिस्तर पर सो जाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है। क्षुधा, तृषा आदिसे व्याकुल होनेपर आवश्यक धार्मिक कार्योंमें आदरका न होना अनादर है। करने योग्य कार्योंको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके अतिचार—

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्काहाराः ॥ ३५ ॥

सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्काहार ये उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके पाँच अतिचार हैं।

सचित्त (जीव सहित) फल आदिका भक्षण करना सचित्ताहार है। सचित्त पदार्थसे सम्बन्धको प्राप्त हुई वस्तुको खाना सचित्तसम्बन्धाहार है। सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थका खाना सचित्तसंमिश्राहार है। सम्बन्धको प्राप्त वस्तु तो पृथक् की जा सकती है लेकिन संमिश्र वस्तु पृथक् नहीं हो सकती यही सम्बन्ध और संमिश्रमें भेद है। रात्रिमें चार पहर तक गलाया या पकाया हुआ चावल आदि अन्न द्रव कहलाता है। बलवर्द्धक तथा कामोत्पादक आहारको वृष्य कहते हैं। द्रव और वृष्य दोनोंका नाम अभिषव है। अभिषव पदार्थका आहार करना अभिषवाहार है। कम या अधिक पके हुए पदार्थका आहार करना दुःपक्वाहार है। वृष्य और दुःपक्व आहारके सेवन करनेसे इन्द्रियमदकी वृद्धि होती है, सचित्त पदार्थको उपयोगमें लेना पड़ता है, वात आदिके प्रकोप तथा उदरमें पीड़ा आदिके होनेपर अग्नि आदि जलानी पड़ती है। इन बातोंसे बहुत असंयम होता है। अतः इस प्रकारके आहारका त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न—व्रती पुरुषकी सचित्ताहार आदिमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर—मोह अथवा प्रमादके कारण बुभुक्षा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य सचित्त आदिसे सहित अन्न, पान, लेपन, आच्छादन आदिमें प्रवृत्ति करता है।

अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥ ३६ ॥

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतिचार हैं।

सचित्त कदलीपत्र, पद्मपत्र आदिमें रखकर आहार देना सचित्तनिक्षेप है। सचित्त वस्तुसे ढके हुए आहारको देना सचित्तापिधान है। अपनी असुविधाके कारण दूसरे दाताके द्वारा अपने द्रव्यका दान कराना परव्यपदेश है। अथवा यहाँ दूसरे अनेक दाता हैं मैं दाता नहीं हूँ इस प्रकार सोचना परव्यपदेश है। या दूसरे ही इस प्रकारका आहार दे सकते हैं मैं इस प्रकारसे या इस प्रकारका आहार नहीं दे सकता ऐसे विचारको परव्यपदेश कहते हैं।

प्रश्न—परव्यपदेश अतिचार कैसे होता है ?

उत्तर—धनादिलाभकी आकांक्षासे आहार देनेके समयमें भी व्यापारको न छोड़ सकनेके कारण योग्यता होने पर भी दूसरेसे दान दिलानेके कारण परव्यपदेश अतिचार होता है। कहा भी है कि—

"अपने द्रव्यके द्वारा दूसरोंसे धर्म करानेमें धनादिकी प्राप्ति तो होती है परन्तु वह अपने भोगके लिए नहीं। उसका भोक्ता दूसरा ही होता है।"

"भोजन और भोजन शक्तिका होना, रतिशक्ति और स्त्रीकी प्राप्ति, विभव और दानशक्ति ये स्वय धर्म करनेके फल हैं।"

अनादरपूर्वक दान देना अथवा दूसरे दाताओंके गुणोंको सहन नहीं करना मात्सर्य है।

आहारके समयको उल्लंघन कर अकालमें दान देना अथवा क्षुधित मुनिका अवसर टाल देना कालातिक्रम है।

सल्लेखनाके अतिचार—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना व्रतके पाँच अतिचार हैं।

सल्लेखना धारण करने पर भी जीवित रहनेकी इच्छा करना जीविताशंसा है। रोगसे पीड़ित होनेपर विना संक्लेशके मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा है। पूर्वमें मित्रोंके साथ अनुभूत क्रीड़ा आदिका स्मरण करना मित्रानुराग है। पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना सुखानुबन्ध है। मरनेके बाद परलोकमें विषयभोगोंकी आकांक्षा करना निदान है।

दानका स्वरूप—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अपने और परके उपकारके लिये धन आदिका त्याग करना दान है। दान देनेसे दाताको विशेष पुण्यबन्ध होता है और अतिथिके सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदिकी वृद्धि होती है। यही स्व और परका उपकार है।

प्रश्न—आहार आदि देनेसे सम्यग्दर्शन आदिकी वृद्धि कैसे होती है ?

सरस आहार देनेसे मुनिके शरीरमें शक्ति, आरोग्यता आदि होती है। और इससे मुनि ज्ञानाभ्यास उपवास तीर्थयात्रा धर्मोपदेश आदिमें सुखपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। इसी प्रकार पुस्तक पीछी आदिके देनेसे भी परोपकार होता है। विज्ञानी योग्य दाता योग्य पात्रके लिये योग्य वस्तुका दान दे। कहा भी है कि—

"धर्म,स्वामि सेवा और पुत्रोत्पत्तिमें स्वयं व्यापार करना चाहिए दूसरोंके द्वारा नहीं।"

जो अन्न विवर्ण विरस और घुना हुआ हो, स्वरूपचलित हो, झिरा हुआ हो, रोगोत्पादक हो, जूँठा हो, नीच जनोंके लायक हो, अन्यके उद्देश्यसे बनाया गया हो, निन्द्य हो, दुर्जनोंके द्वारा छुआ गया हो, देवभक्ष्य आदिके लिए संकल्पित हो, दूसरे गांवसे लाया गया हो, मन्त्रसे लाया गया हो, किसीके उपहारके लिए रखा हो, बाजारू बनी हुई मिठाई आदिके रूपमें हो, प्रकृतिविरुद्ध हो, ऋतुविरुद्ध हो, दही घी दूध आदिसे बना हुआ होनेपर बासा हो गया हो, जिसके गन्ध रसादि चलित हो, और भी इसी प्रकारका भ्रष्ट अन्न पात्रोंको नहीं देना चाहिए।

दानके फलमें विशेषता—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष और पात्रविशेषसे दानके फलमें विशेषता होती है।

सुपात्रके लिये खड़े होकर पगगाहना, उच्च आसन देना, चरण धोना, पूजन करना, नमस्कार करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि ये नव विधि हैं। विधिमें आदर और अनादर करना विधिविशेष है। आदरसे पुण्य और अनादरसे पाप होता है। मद्य, मांस और मधुरहित शुद्ध चावल गेहूँ आदि द्रव्य कहलाते हैं। पात्रके तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धिमें हेतुभूत द्रव्य पुण्यका कारण होता है। तथा जो द्रव्य तप आदिकी वृद्धिमें कारण नहीं होता वह विशिष्ट पुण्यका भी कारण नहीं होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये दाता होते हैं। पात्रमें असूया न होना, दानमें विषाद न होना तथा दृष्टफलकी अपेक्षा नहीं करना आदि दाताकी विशेषता है। श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और शक्ति ये दाताके सात गुण हैं। पात्र तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम पात्र, मध्यम पात्र और जघन्य पात्र। महाव्रतके धारी मुनि उत्तम पात्र हैं। श्रावक मध्यम पात्र हैं। सम्यग्दर्शन सहित लेकिन व्रतरहित जन जघन्य पात्र हैं। सम्यग्दर्शन आदिकी शुद्धि और अशुद्धि पात्रकी विशेषता है।

योग्य पात्रके लिये विधिपूर्वक दिया हुआ दान वटबीजकी तरह प्राणियोंको अनेक जन्मोंमें फल (सुख) को देता है।

पात्र गत थोड़ा भी दान भूमिमें पड़े हुए वटबीजकी तरह विशाल रूपमें फलता है। जिसके आश्रयसे अनेकोंका उपकार होता है।

सप्तम अध्याय समाप्त

आठवाँ अध्याय

बन्धके कारण--

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके कारण हैं।

तत्त्वार्थोंके अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धानको मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं–नैसर्गिक (अगृहीत) मिथ्यात्व और परोपदेशपूर्वक (गृहीत) मिथ्यात्व। परोपदेशके बिना मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है। जैसे भरतके पुत्र मरीचिका मिथ्यात्व नैसर्गिक था। गृहीत मिथ्यात्वके चार भेद हैं--क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानिक और वैनयिक। अथवा एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ये पाँच भेद भी होते हैं।

यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं, इस प्रकार अनेकधर्मात्मक वस्तुके किसी एक धर्मको ही मानना, सारा संसार ब्रह्मस्वरूप ही है, अथवा सब पदार्थ नित्य ही हैं इस प्रकारके ऐकान्तिक अभिप्राय या हठको एकान्त मिथ्यादर्शन कहते हैं। सग्रन्थको निर्ग्रन्थ कहना, केवलीको कवलाहारी कहना और स्त्रीको मुक्ति मानना इत्यादि विपरीत कल्पनाको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। "इसमें सन्देह नहीं है कि जो समभावपूर्वक आत्माका ध्यान करता है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त करता है चाहे वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बुद्ध हो या अन्य कोई।" इस प्रकारका श्रद्धान विपरीत मिथ्यात्व ही है। सम्यग्दर्शन,ज्ञान और चारित्र मोक्ष-के मार्ग हैं या नहीं इस प्रकार जिनेन्द्रके वचनोंमें सन्देह करना संशय मिथ्यात्व है। सब देवताओं और सब मतोंको समान रूपसे आदरकी दृष्टिसे देखना वैनयिक मिथ्यात्व है। हित और अहितके विचार किये बिना श्रद्धान करनेको अज्ञान मिथ्यात्व कहते हैं। क्रियावादियोंके १८०, अक्रियावादियोंके ८४, अज्ञानियोंके ६७ और वैनयिकोंके ३२ भेद हैं। इस प्रकार सब मिथ्यादृष्टियोंके ३६३ भेद हैं।

पाँच प्रकारके स्थावर और त्रस इस प्रकार छह कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग न करना और पाँच इन्द्रिय और मनको वशमें नहीं रखना अविरति है। इस प्रकार अविरतिके बारह भेद हैं।

पाँच समितियोंमें, तीन गुप्तियोंमें, विनयशुद्धि, कायशुद्धि, वचनशुद्धि, मनः शुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, व्युत्सर्गशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, शयनशुद्धि और आसनशुद्धि इन आठ शुद्धियोंमें, तथा दशलक्षणधर्ममें आदर पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करना प्रमाद है। प्रमादके पन्द्रह भेद हैं— पाँच इन्द्रिय, चार विकथा, चार कषाय, निद्रा और प्रणय। सोलह कषाय और नव नोकषाय इस प्रकार कषायके पच्चीस भेद हैं।

चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोगके भेदसे योग पन्द्रह प्रकारका है। आहारक और आहारकमिश्र काययोगका सद्भाव छठवें गुणस्थानमें ही रहता है। मिथ्या-दर्शन आदिका वर्णन पहिलेके अध्यायोंमें हो चुका है।

मिथ्यादृष्टिके पाँचों ही बन्धके हेतु होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि,सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टिमें मिथ्यात्वके बिना चार बन्धके हेतु होते हैं। संयतासंयतके

विरतियुक्त अविरति तथा प्रमाद, कषाय और योग बन्धके हेतु हैं। प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्धके हेतु हैं। अप्रमत्त, अपूर्वकरण, बादरसाम्पराय और सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानोंमें कषाय और योग ये दो ही बन्धके कारण हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानोंमें केवल योग ही बन्धका हेतु है। अयोग-केवली गुणस्थानमें बन्ध नहीं होता है।

बन्धका स्वरूप—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

कषायसहित होनेके कारण जीव जो कर्मके योग्य (कार्माणवर्गणा रूप) पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण करता है वह बन्ध है।

कषायका ग्रहण पहिले सूत्रमें हो चुका है। इस सूत्रमें पुनः कषायका ग्रहण यह सूचित करता है कि तीव्र, मन्द और मध्यम कषायके भेदसे स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध भी तीव्र,मन्द और मध्यमरूप होता है।

प्रश्न—बन्ध जीवके ही होता है अतः सूत्रमें जीव शब्दका ग्रहण व्यर्थ है। अथवा जीव अमूर्तीक है, हाथ पैर रहित है, वह कर्मोंको कैसे ग्रहण करेगा ?

उत्तर—जो जीता हो या प्राण सहित हो वह जीव है इस अर्थको बतलानेके लिये जीव शब्दका ग्रहण किया गया है। तात्पर्य यह है कि आयुप्राणसहित जीव ही कर्मको ग्रहण करता है। आयुसबन्धके बिना जीव अनाहारक हो जाता है अतः विग्रहगतिमें एक, दो या तीन समय तक जीव कर्म (नोकर्म ?) का ग्रहण नहीं करता है।

प्रश्न—'कर्मयोग्यान्' इस प्रकारका लघुनिर्देश ही करना चाहिये था 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्तिनिर्देश क्यों किया ?

उत्तर—'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्तिनिर्देश दो वाक्योंको सूचित करता है। एक वाक्य है—कर्मणो जीवः सकषायो भवति और दूसरा वाक्य है कर्मणो योग्यान्। प्रथम वाक्यका अर्थ है कि जीव कर्मके कारण ही सकषाय होता है। कर्म रहित जीवके कषाय-का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध सिद्ध होता है। तथा इस शंकाका भी निराकरण हो जाता है कि अमूर्तीक जीव मूर्त कर्मोंको कैसे ग्रहण करता है। यदि जीव और कर्मका सम्बन्ध सादि हो तो सम्बन्धके पहिले जीवको अत्यन्त निर्मल होनेके कारण सिद्धोंकी तरह बन्ध नहीं हो सकेगा। अतः कर्म सहित जीव ही कर्मबन्ध करता है, कर्मरहित नहीं। दूसरे वाक्यका अर्थ है कि जीव कर्मके योग्य (कार्माणवर्गणारूप) पुद्गलोंको ही ग्रहण करता है अन्य पुद्गलोंका नहीं। पहिले वाक्यमें 'कर्मणो' पञ्चमी विभक्ति है और दूसरे वाक्यमें षष्ठी विभक्ति। यहाँ अर्थके वशसे विभक्तिमें भेद हो जाता है।

सूत्रमें पुद्गल शब्दका ग्रहण यह बतलाता है कि कर्मकी पुद्गलके साथ और पुद्गल की कर्मके साथ तन्मयता है। कर्म आत्माका गुण नहीं है क्योंकि आत्माका गुण संसारका कारण नहीं हो सकता।

'आदत्ते' यह क्रियावचन हेतुहेतुमद्भावको बतलाता है। मिथ्यादर्शन आदि बन्धके हेतु हैं और बन्धसहित आत्मा हेतुमान् है। मिथ्यादर्शन आदिके द्वारा सूक्ष्म अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंका आत्माके प्रदेशोंके साथ जल और दूधकी तरह मिल जाना बन्ध है। केवल संयोग या सम्बन्धका नाम बन्ध नहीं है। जैसे एक बर्तनमें रखे हुए नाना प्रकारके

रस, बीज, पुष्प, फल आदिका मदिरा रूपसे परिणमन हो जाता है उसी प्रकार आत्मामें स्थित पुद्गलोंका भी योग और कषायके कारण कर्मरूपसे परिणमन हो जाता है।

सूत्रमें 'स' शब्दका ग्रहण इस बातको बतलाता है कि बन्ध उक्त प्रकारका ही है अन्य गुण-गुणी आदि रूपसे बन्ध नहीं होता है। जिस स्थानमें जीव रहता है केवल उसी स्थानमें केवलज्ञानादिक नहीं रहते हैं किन्तु दूसरे स्थानमें भी उनका प्रसार होता है। यह नियम नहीं है कि जितने क्षेत्रमें गुणी रहे उतने ही क्षेत्रमें गुणको भी रहना चाहिये (?)।

बन्धके भेद—

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ये बन्धके चार भेद हैं।

प्रकृति स्वभावको कहते हैं। जैसे नीमकी प्रकृति कड़वी और गुडकी प्रकृति मीठी है। कर्मोंका ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावरूप होना प्रकृतिबन्ध है। अर्थका ज्ञान नहीं होने देना ज्ञानावरणकी प्रकृति है। अर्थका दर्शन नहीं होने देना दर्शनावरणकी प्रकृति है। सुख और दुःखका अनुभव करना वेदनीयकी प्रकृति है। तत्त्वोंका अश्रद्धान दर्शन-मोहनीयकी प्रकृति है। असंयम चारित्र मोहनीयकी प्रकृति है। भवको धारण कराना आयु कर्मकी प्रकृति है। गति, जाति आदि नामोंको देना नामकर्मकी प्रकृति है। उच्च और नीच कुलमें उत्पन्न करना गोत्रकर्मकी प्रकृति है। दान, लाभ आदिमें विघ्न डालना अन्तराय की प्रकृति है।

आठों कर्मोंका अपने अपने स्वभावसे च्युत नहीं होना स्थितिबन्ध है। जैसे अजाक्षीर गोक्षीर आदि अपने माधुर्य स्वभावसे च्युत नहीं होते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म भी अर्थका अपरिज्ञान आदि स्वभावसे अपने अपने काल पर्यन्त च्युत नहीं होते हैं।

ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंकी तीव्र, मन्द और मध्यमरूपसे फल देनेकी शक्ति (रस विशेष) को अनुभागबन्ध कहते हैं। अर्थात् कर्मपुद्गलोंकी अपनी अपनी फलदान शक्तिको अनु-भाग कहते हैं।

कर्म रूपसे परिणत पुद्गल स्कन्धोंके परमाणुओंकी संख्याको प्रदेश कहते हैं। प्रकृति और प्रदेश बन्ध योगके द्वारा और स्थिति तथा अनुभागबन्ध कषायके द्वारा होते हैं।

कहा भी है—"योगसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते हैं तथा कषायसे स्थिति और अनुभाग बन्ध। अपरिणत—उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय आदि गुणस्थानोंमें कषायोंका सद्भाव न रहने से बंध नहीं होता अर्थात् इनमें स्थिति और अनुभाग बंध नहीं होते।

प्रकृतिबन्धके भेद—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥

प्रकृतिबन्धके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं।

आयु शब्द कहीं उकारान्त भी देखा जाता है। जैसे "वितरतु दीर्घमायु कुरुताद्गुरुता-मवतादहर्निशम्" इस वाक्यमें। जिस प्रकार एक बार किया हुआ भोजन रस, रुधिर, मांस आदि अनेक रूपसे परिणत हो जाता है उसी प्रकार एक साथ बन्धको प्राप्त हुए कर्म परमाणु भी ज्ञानावरणादि अनेक भेद रूप हो जाते हैं। सामान्यसे कर्म एक ही है। पुण्य और पाप की अपेक्षा कर्मके दो भेद हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे कर्मके चार

भेद हैं। ज्ञानावरण आदिके भेदसे कर्मके आठ भेद हैं। इस प्रकार कर्मके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भी भेद होते हैं।

प्रकृतिबन्धके उत्तर भेद—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

उक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके क्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।

यद्यपि इस सूत्रमें यह नहीं कहा गया है कि प्रकृतिबन्धके ये उत्तर भेद हैं, लेकिन पूर्वमें 'आद्य' शब्दके होनेसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि ये प्रकृतिबन्धके ही उत्तर भेद हैं।

ज्ञानावरणके भेद—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरणके पाँच भेद हैं।

प्रश्न—अभव्यजीवोंमें मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति है या नहीं? यदि है तो वे जीव अभव्य नहीं कहलायंगे और यदि शक्ति नहीं है तो उन जीवोंमें मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका सद्भाव मानना व्यर्थ ही है।

उत्तर—नयकी दृष्टिसे उक्त मतमें कोई दोष नहीं आता। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे अभव्यजीवोंमें मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति है और पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिसे उक्त दोनों शक्तियाँ नहीं है।

प्रश्न—यदि अभव्यजीवोंमें भी मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति पाई जाती है तो भव्य और अभव्यका विकल्प ही नहीं रहेगा।

उत्तर—शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्य और अभव्य भेद नहीं होते हैं किन्तु शक्तिकी व्यक्ति (प्रकट होना) की अपेक्षा उक्त भेद होते हैं।

सम्यग्दर्शन आदिके द्वारा जिस जीवकी शक्तिकी व्यक्ति हो सकती है वह भव्य है और जिसकी शक्तिकी व्यक्ति नहीं हो सकती वह अभव्य है। जैसे एक कनकपाषाण होता है जिससे स्वर्ण निकलता है और एक अन्धपाषाण होता है जिससे सोना नहीं निकलता (यद्यपि उसमें शक्ति रहती है)। यही बात भव्य और अभव्यके विषयमें जाननी चाहिये।

दर्शनावरणके भेद—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये दर्शनावरणके नौ भेद हैं।

जो चक्षु द्वारा होने वाले सामान्य अवलोकनको न होने दे वह चक्षुःदर्शनावरण है। जो चक्षुको छोड़कर अन्य इन्द्रियोंसे होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे वह अचक्षुःदर्शनावरण है। जो अवधिज्ञानसे पहिले होनेवाले सामान्य अवलोकनको न होने दे वह अवधिदर्शनावरण और जो केवलज्ञानके साथ होनेवाले सामान्य दर्शनको रोके वह केवलदर्शना-

वरण है। मद, खेद, परिश्रम आदिको दूर करनेके लिये सोना निद्रा है। निद्राका बार बार लगातार आना निद्रानिद्रा है । निद्रावाला पुरुष जल्दी जग जाता है। निद्रा-निद्रावाला पुरुष बहुत मुश्किलसे जगता है। जो शरीरको चलायमान करे वह प्रचला है । प्रचला शोक, श्रम, खेद आदिसे उत्पन्न होती है और नेत्रविकार, शरीर विकार आदिके द्वारा सूचित होती है। प्रचलावाला पुरुष बैठे बैठे भी सोने लगता है । प्रचलाका पुनः पुनः होना प्रचलाप्रचला है। जिसके उदयसे सोनेकी अवस्थामें विशेष बलकी उत्पत्ति हो जावे वह स्त्यानगृद्धि है। स्त्यानगृद्धिवाला पुरुष दिनमें करने योग्य अनेक रौद्र कार्योंको रात्रिमें कर डालता है और जागने पर उसको यह भी मालूम नहीं होता कि उसने रात्रिमें क्या किया।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में निद्रा आदि के लक्षण निम्न प्रकार बतलाए हैं—

स्त्यानगृद्धिके उदयसे सोता हुआ जीव उठ बैठता है, काम करने लगता है और बोलने भी लगता है। निद्रानिद्राके उदयसे जीव आँखोंको खोलनेमें भी असमर्थ हो जाता है। प्रचलाप्रचलाके उदयसे सोते हुये जीवकी लार बहने लगती है और हाथ पैर आदि चलने लगते हैं। प्रचलाके उदयसे जीव कुछ कुछ सो जाता है, सोता हुआ भी कुछ जागता रहता और बार बार मन्द शयन करता है। और निद्राके उदयसे जीव चलते चलते रुक जाता है, बैठ जाता है। गिर पड़ता है और सो जाता है।

वेदनीयके भेद—

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

साता वेदनीय और असाता वेदनीय ये वेदनीयके दो भेद हैं। जिसके उदयसे देव,मनुष्य और तिर्यंगतिमें शारीरिक और मानसिक सुखोंका अनुभव हो उसको साता वेदनीय कहते हैं। और जिसके उदयसे नरकादि गतियोंमें शारीरिक, मानसिक आदि नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव हो उसको असातावेदनीय कहते है।

मोहनीयके भेद—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

मोहनीय कर्मके मुख्य दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं—१ सम्यक्त्व, २ मिथ्यात्व और ३ सम्यग्मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीयके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय। कषाय वेदनोयके सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध,मान,माया और लोभ। अप्रत्याख्यान क्रोध,मान,माया और लोभ। प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभ। संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। अकषाय वेदनीयके नव भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद।

यद्यपि बन्धकी अपेक्षा दर्शनमोहनीय एक भेदरूप ही है लेकिन सत्ताकी अपेक्षा उसके तीन भेद हो जाते हैं। शुभपरिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वकी फलदानशक्ति रोक दी जाने

पर मिथ्यात्व आत्मामें उदासीनरूपसे अवस्थित रहता है और आत्माके श्रद्धान परिणाममें बाधा नहीं डाल सकता। लेकिन इसके उदयसे श्रद्धानमें चल आदि दोष उत्पन्न होते हैं। दर्शनमोहनीयकी इस अवस्थाका नाम सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय है। जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्गसे पराङ्मुख होकर तत्त्वोंका श्रद्धान न करे तथा हित और अहितका भी ज्ञान जिसके कारण न हो सके वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनोंकी मिली हुई अवस्थाका नाम सम्यग्मिथ्यात्व। इस प्रकृतिके उदयसे आत्मामें मिश्ररूप परिणाम होते हैं। जिस प्रकार कोदो (एक प्रकारका अन्न) को धो डालनेसे उसकी कुछ मदशक्ति नष्ट हो जाती है और कुछ मदशक्ति बनी ही रहती है उसी प्रकार शुभपरिणामोंसे मिथ्यात्वकी कुछ फलदानशक्तिके नष्ट होजानेसे वही मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्वरूप हो जाता है।

जिसके उदयसे हँसी आवे वह हास्य है। जिसके उदयसे किसी ग्राम आदिमें रहने वाला जीव परदेश आदिमें जानेकी इच्छा नहीं करता है वह रति है। रतिके विपरीत इच्छा होना अरति है। जिसके उदयसे शोक या चिन्ता हो वह शोक है। जिसके उदयसे त्रास या भय उत्पन्न हो वह भय है। जिसके उदयसे जीव अपने दोषोंको छिपाता है और दूसरोंके दोषोंको प्रगट करता है वह जुगुप्सा है। जिसके उदयसे स्त्रीरूप परिणाम हो वह स्त्रीवेद है। जिसके उदयसे पुरुषरूप परिणाम हो वह पुंवेद और जिसके उदयसे नपुंसक रूप भाव हों वह नपुंसकवेद है।

अन्य ग्रन्थोंमें वेदोंका लक्षण इस प्रकार बतलाया है—योनि, कोमलता, भयशील होना, मुग्धपना, पुरुषार्थशून्यता, स्तन और पुरुषभोगेच्छा ये सात भाव स्त्रीवेदके सूचक हैं। लिङ्ग, कठोरता, स्तब्धता, शौण्डीरता, दाढ़ी-मूँछ, जबर्दस्तपना और स्त्रीभोगेच्छा ये सात पुंवेदके सूचक हैं। ऊपर जो स्त्रीवेद और पुरुषवेदके सूचक १४ चिह्न बताए हैं वे ही मिश्रित रूपमें नपुंसकवेदके परिचायक होते हैं।

अनन्त संसारका कारण होनेसे मिथ्यादर्शनको अनन्त कहते हैं। जो क्रोध, मान माया और लोभ मिथ्यात्वके बंधके कारण होते हैं वे अनन्तानुबन्धी हैं। अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त नहीं कर सकता। जिसके उदयसे जीव संयम अर्थात् श्रावकके व्रतोंको पालन करनेमें असमर्थ हो वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ है। जिसके उदयसे जीव महाव्रतोंको धारण न कर सके वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ है। जो कषाय संयमके साथ भी रहती है लेकिन जिसके उदयसे आत्मामें यथाख्यातचारित्र नहीं हो सकता वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ है।

सोलह कषायोंके स्वभावके दृष्टान्त इस प्रकार हैं। क्रोध चार प्रकारका होता है—१ पत्थरकी रेखाके समान, २ पृथिवीकी रेखाके समान, ३ धूलिरेखाके समान, और ४ जलरेखाके समान। उक्त क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिके कारण होते हैं। मान चार प्रकारका होता है—१ पत्थरके समान, २ हड्डीके समान ३ काठके समान और ४ बेंतके समान। चार प्रकारका मान भी क्रम से नरकादि गतियोंका कारण होता है। माया भी चार प्रकारकी होती है—१ बाँसकी जड़के समान, २ मेढ़के सींग के समान, ३ गोमूत्रके समान और ४ खुरपाके समान। चार प्रकारकी माया क्रमसे नरकादि गतियोंका कारण होती है। लोभ भी चार प्रकारका होता है—१ किरमिचके रंगके समान, २ रथके मल अर्थात् ओंगतके समान, ३ शरीरके मलके समान और ४ हल्दीके रंगके समान। चार प्रकारका लोभ भी क्रमसे नरकादि गतियोंका कारण होता है।

आयुकर्मके भेद—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ये आयुकर्मके चार भेद हैं।

जिसके उदयसे जीव नरकके दुःखोंको भोगता हुआ दीर्घ काल तक जीवित रहता है वह नरकायु है। इसी प्रकार जिसके उदयसे जीव तिर्यञ्च मनुष्य देव गतियोंमें जीवित रहता है उसको तिर्यञ्च मनुष्य देव आयुकर्म समझना चाहिये।

नामकर्मके भेद—

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णा-नुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येक-शरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशः-कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वञ्च ॥ ११ ॥

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर, साधारण, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति और तीर्थंकर प्रकृति ये नामकर्मके ब्यालीस भेद हैं।

जिसके उदयसे जीव दूसरे भवको प्राप्त करता है उसको गति नामकर्म कहते हैं। गतिके चार भेद हैं—१ नरकगति, २ तिर्यञ्चगति, ३ मनुष्यगति और ४ देवगति। जिसके उदयसे जीवमें नरकभाव अर्थात् नारक शरीर उत्पन्न हो, वह नरक गति है। इसी प्रकार तिर्यञ्च आदि गतियोंका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

जिसके उदयसे नरकादि गतियोंमें जीवोंमें समानता पाई जाय वह जाति नामकर्म है। जातिके पाँच भेद हैं—१ एकेन्द्रियजाति, २ द्वीन्द्रिय जाति, ३ त्रीन्द्रियजाति, ४ चतुरिन्द्रियजाति और ५ पञ्चेन्द्रियजाति। जिसके उदयसे जीव एकेन्द्रिय कहा जाता है वह एकेन्द्रियजाति है। इसी प्रकार अन्य जातियोंका स्वरूप समझ लेना चाहिये।

जिसके उदयसे जीवके शरीरकी रचना हो वह शरीर नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं—१ औदारिक, २ वैक्रयिक, ३ आहारक, ४ तैजस और ५ कार्मण शरीर।

जिसके उदयसे अङ्ग और उपाङ्गोंकी रचना हो उसको अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, २ वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग और ३ आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग। तैजस और कार्मण शरीरके अङ्गोपाङ्ग नहीं होते अतः अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके तीन ही भेद हैं। दो हाथ, दो पैर, मस्तक, वक्षस्थल, पीठ और नितम्ब ये आठ अङ्ग हैं तथा ललाट, कान, नाक, नेत्र आदि उपाङ्ग हैं।

जिसके उदयसे अङ्गोपाङ्गोंकी यथास्थान और यथाप्रमाण रचना होती है उसको निर्माण नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण। जिसके उदयसे नाक, कान आदिकी रचना निश्चित स्थान में ही होती है वह स्थान निर्माण है। और जिसके उदयसे नाक, कान आदिकी रचना निश्चित संख्याके अनुसार होती है वह प्रमाण निर्माण है।

शरीर नाम कर्मके उदयसे ग्रहण किये गये पुद्गलस्कन्धोंका परस्परमें सम्बन्ध जिसके उदयसे होता है वह बन्धन नाम कर्म है। इसके पाँच भेद हैं--१ औदारिकशरीरबन्धननाम, २ वैक्रियिकशरीरबन्धननाम, ३ आहारकशरीरबन्धननाम, ४ तैजसशरीरबन्धननाम और ५ कार्मणशरीरबन्धननाम।

जिसके उदयसे शरीरके प्रदेशोंका ऐसा बन्धन हो कि उसमें एक भी छिद्र न रहे और वे प्रदेश एकरूप हो जाँय उसको संघात नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—१ औदारिकशरीरसंघातनाम, २ वैक्रियिकशरीरसंघातनाम, ३ आहारकशरीरसंघातनाम, ४ तैजसशरीरसंघातनाम और ५ कार्मणशरीरसंघातनाम।

जिसके उदयसे शरीरके आकारकी रचना होती है वह संस्थान नामकर्म है। इसके छह भेद हैं—१ समचतुरस्रसंस्थान, २ न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, ३ स्वातिसंस्थान, ४ कुब्जकसंस्थान, ५ वामनसंस्थान और ६ हुंडकसंस्थान। जिसके उदयसे शरीरकी रचना ऊपर, नीचे और मध्यमें समान रूपसे हो अर्थात् मध्यसे ऊपर और नीचेके भाग बराबर हों, छोटे या बड़े न हों वह समचतुरस्रसंस्थान है। जिसके उदयसे नाभिसे ऊपर मोटा और नीचे पतला शरीर हो वह न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान है। जिसके उदयसे नाभिसे ऊपर पतला और नीचे मोटा शरीर हो वह स्वातिसंस्थान है। इसका दूसरा नाम वल्मीक संस्थान है। जिसके उदयसे पीठमें पुद्गल स्कन्धोंका समूह (कूबड़) हो जाय वह कुब्जकसंस्थान है। जिसके उदयसे बौना (छोटा) शरीर हो वह वामनसंस्थान है। जिसके उदयसे शरीरके अंगोपाङ्गोंकी रचना ठीक रूपसे न हो वह हुण्डकसंस्थान है।

जिसके उदयसे हड्डियोंमें बन्धनविशेष होता है उसको संहनन कहते हैं। संहननके छह भेद हैं–वज्रवृषभनाराचसंहनन, २ वज्रनाराचसंहनन, ३ नाराचसंहनन, ४ अर्द्धनारासंहनन, ५ कीलकसंहनन और ६ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन। जिसके उदयसे वज्रकी हड्डियां हो तथा वे सनाराच (हड्डियोंके दोनों छोर आपसमें आँकड़ेकी तरह फँसे हों) और वृषभ अर्थात् वलयसे जकड़ी हों वह वज्रवृषभनाराचसंहनन है। जिसके उदयसे वज्रकी हड्डियाँ आपसमें आँकड़ेकी तरह फँसी तो हों पर उनपर वलय न हों। उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदयसे साधारण हड्डियाँ दोनों ओरसे एक दूसरेमें फंसी हों उसको नाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदयसे हड्डियाँ एक ओरसे दूसरी हड्डीमें फंसी हों पर एक ओर साधारण हों उसको अर्धनाराचसंहनन कहते हैं। जिसके उदयसे हड्डियाँ परस्पर फंसी तो न हों पर परस्पर कीलित हों वह कीलकसंहनन है। जिसके उदयसे हड्डियाँ परस्परमें कीलित न होकर पृथक् पृथक् नसोंसे लिपटी हों उसको असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन कहते हैं।

असंप्राप्तासृपाटिकासंहननका धारी जीव आठवें स्वर्ग तक जा सकता है। कीलक और अर्द्धनाराचसंहननका धारी जीव सोलहवें स्वर्ग तक जाता है। नाराचसंहननका धारी जीव नवग्रैवेयक तक जाता है। वज्रनाराचसंहननका धारी जीव अनुदिश तक जाता है। और वज्रवृषभनाराचसंहननवाला जीव पाँच अनुत्तर विमान और मोक्षको प्राप्त करता है।

वज्रवृषभनाराचसंहननवाला जीव सातवें नरक तक जाता है। वज्रनाराच, नाराच और अर्द्धनाराचसंहननवाले जीव छठवें नरक तक जाते हैं। कीलक संहननवाले जीव पाँचवें नरक तक जाते हैं। असंप्राप्तासृपाटिकासंहननवाला संज्ञी जीव तीसरे नरक तक जाता है।

एक इन्द्रिय (?) से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके केवल असंप्राप्तासृपाटिका-संहनन होता है। असंख्यातवर्षकी आयुवालोंके ही वज्रवृषभनाराच संहनन होता है। चौथे कालमें छहों संहनन होते हैं। पाँचवें कालमें अन्तके तीन संहनन होते हैं। छठवें कालमें केवल असंप्राप्तासृपाटिका संहनन होता है। विदेह क्षेत्रमें, विद्याधरोंके स्थानोंमें और म्लेच्छखंडोंमें मनुष्यों और तिर्यञ्चोंके छहों संहनन होते हैं। नगेन्द्र पर्वतसे बाहर तिर्यञ्चोंके छहों संहनन होते हैं। कर्मभूमिमें उत्पन्न होने वाली स्त्रियोंके आदिके तीन संहनन नहीं होते हैं, केवल अन्तके तीन संहनन होते हैं।

आदिके सात गुणस्थानोंमें छहों संहनन होते हैं। उपशमश्रेणीके चार गुणस्थानों (आठवेंसे ग्यारहवें तक) में आदिके तीन संहनन होते हैं। क्षपक श्रेणीके चार गुणस्थानों (८, ९, १० और १२) में और सयोगकेवली गुणस्थानमें आदिका एक ही संहनन होता है।

जिसके उदयसे स्पर्श उत्पन्न हो वह स्पर्श नामकर्म है। स्पर्शके आठ भेद हैं—कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष।

जिसके उदयसे रस उत्पन्न हो वह रस नामकर्म है। रसके पाँच भेद हैं—तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर।

जिसके उदयसे गन्ध हो वह गन्ध नामकर्म है। गन्धके दो हैं—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

जिसके उदयसे वर्ण हो वह वर्ण नामकर्म है। वर्णके पाँच भेद हैं—शुक्ल, कृष्ण, नील, रक्त और पीत।

जिसके उदयसे विग्रहगतिमें पूर्व शरीरके आकारका नाश नहीं होता है उसको आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं। इसके चार भेद हैं—नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और देवगत्यानुपूर्व्य। कोई मनुष्य मरकर नरकमें उत्पन्न होनेवाला है लेकिन जब तक वह नरकमें उत्पन्न नहीं हो जाता तब तक आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरके आकार ही रहते हैं इसका नाम नरकगत्यानुपूर्व्य है। इसी प्रकार अन्य आनुपूर्व्योंके लक्षण जानना चाहिये।

जिसके उदयसे जीवका शरीर न तो लोहेके गोलेकी तरह भारी होता है और न रुईके समान हलका ही होता है वह अगुरुलघु नाम है। जिसके उदयसे जीव स्वयं ही गलेमें पाश बाँधकर, वृक्ष आदि पर टंगकर मर जाता है वह उपघात नाम है। शस्त्रघात, विषभक्षण, अग्निपात, जलनिमज्जन आदिके द्वारा आत्मघात करना भी उपघात है। जिसके उदयसे दूसरोंके शस्त्र आदिसे जीवका घात होता है वह परघात नाम है। जिसके उदयसे शरीरमें आताप हो वह आतप नाम है। जिसके उदयसे शरीरमें उद्योत हो वह उद्योत नाम है जैसे चन्द्रमा, जुगनू आदिका शरीर। जिसके उदयसे उच्छ्वास हो वह उच्छ्वास नाम है। जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो वह विहायोगति नाम है। इसके दो भेद हैं—प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। गज, वृषभ, हंस आदिके गमन की तरह सुन्दर गतिको प्रशस्त विहायोगति और ऊँट, गधा, सर्प आदिके समान कुटिल गतिको अप्रशस्त विहायोगति कहते हैं। जिसके उदयसे एक शरीरका स्वामी एक ही जीव हो वह प्रत्येक शरीर नाम है। जिसके उदयसे एक शरीरके स्वामी अनेक जीव हों वह साधारण शरीर नाम है।

वनस्पति कायके दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक। जिन जीवोंका आहार और श्वासोच्छ्वास एक साथ हों उनको साधारण कहते हैं। प्रत्येक वनस्पतिके भी दो भेद हैं—

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस शरीरका मुख्य स्वामी एक ही जीव हो लेकिन उसके आश्रित अनेक साधारण जीव रहते हों वह सप्रतिष्ठित प्रत्येक है। और जिस शरीरके आश्रित अनेक जीव न हों वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। गाम्मटसार जीवकाण्डमें सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येककी पहिचान इस प्रकार बतलाई है। जिनकी शिरा और सन्धिपर्व (गांठ) अप्रकट हों, जिनका भंग करने पर समान भंग हो जाँय, और दोनों टुकड़ोंमें परस्परमें तन्तु (रेसा) न लगा रहे तथा जो तोड़ने पर भी बढ़ने लगे और जिनके मूल, कन्द, छिलका, कोंपल, टहनी, पत्ता, फूल, फल और बीजोंको तोड़ने पर समान भंग हो उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। इसके अतिरिक्त वनस्पतियोंको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

जिसके उदयसे दो इन्द्रिय आदि जीवोंमें जन्म हो उसको त्रस नाम कहते हैं। जिसके उदयसे पृथिवीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवोंमें जन्म हो उसको स्थावर नाम कहते हैं। जिसके उदयसे किसी जीवको देखने या सुननेपर उसके विषयमें प्रीति हो वह सुभगनाम है। जिसके उदयसे रूप और लावण्यसे सहित होनेपर भी जीव दूसरोंको अच्छा न लगे वह दुर्भगनाम है। जिसके उदयसे मनोहर स्वर हो वह सुस्वर नाम है। जिसके उदयसे गधे आदिके स्वरकी तरह कर्कश स्वर हो वह दुःस्वरनाम है। जिसके उदयसे शरीर सुन्दर होता है वह शुभनाम है। जिसके उदयसे शरीर असुन्दर होता है वह अशुभ नाम है। जिसके उदयसे सूक्ष्म शरीर होता है वह सूक्ष्म नाम है। जिसके उदयसे स्थूल शरीर होता है वह बादर नाम है। जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी पूर्णता हो उसको पर्याप्ति नाम कहते हैं। जिसके उदयसे पर्याप्ति पूर्ण हुए बिना ही जीव मर जाता है वह अपर्याप्ति नाम है। जिसके उदयसे शरीरकी धातु और उपधातु स्थिर रहें वह स्थिर नाम है। जिसके उदयसे धातु और उपधातु स्थिर न रहें वह अस्थिर नाम है। जिसके उदयसे कान्ति सहित शरीर हो वह आदेय नाम है। जिसके उदयसे कान्तिरहित शरीर हो वह अनादेय नाम है। जिसके उदयसे जीवकी संसारमें प्रशंसा हो वह यशःकीर्ति नाम है। जिसके उदयसे जीवकी संसारमें निन्दा हो वह अयशःकीर्ति नाम है और जिसके उदयसे जीव अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करता है वह तीर्थंकर नाम है।

इस प्रकार नामकर्मके मूल भेद व्यालीस और उत्तर भेद तेरानवे होते हैं।

गोत्रकर्मके भेद—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

गोत्र कर्मके दो भेद हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जिसके उदयसे लोकमान्य इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, हरिवंश आदि कुलमें जन्म हो उसको उच्चगोत्र कहते हैं। जिसके उदयसे लोकनिन्द्य दरिद्र, भ्रष्ट आदि कुलमें जन्म हो उसको नीचगोत्र कहते हैं।

अन्तरायके भेद—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तरायके पाँच भेद हैं।

जिसके उदयसे दानकी इच्छा होनेपर भी जीव दान न दे सके वह दानान्तराय है। जिसके उदयसे लाभ न हो सके वह लाभान्तराय है। जिसके उदयसे इच्छा होने पर भी

जीव भोग और उपभोग न कर सके वह भोगान्तराय और उपभोगान्तराय है। और जिसके उदयसे जीव उद्यम या उत्साह न कर सके उसको वीर्यान्तराय कहते हैं।

स्थितिबन्धका वर्णन—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। यह स्थिति संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवकी है। एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके उक्त कर्मांकी उत्कृष्ट स्थिति $\frac{3}{7}$ सागर है।

दो इन्द्रियकी स्थिति पच्चीस सागरके सात भागोंमें से तीन भाग, तीन इन्द्रियकी स्थिति पचास सागरके सात भागोंमें से तीन भाग और चार इन्द्रियकी उत्कृष्ट स्थिति सौ सागरके सात भागोंमें से तीन भाग है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकके उक्त कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागरके सात भागोंमें से तीन भाग है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवके ज्ञानावरणादि चार कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर है। अपर्याप्तक एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिद्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोंके उक्त कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति पर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें से पल्यके असंख्यातवें भाग कम है।

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवके मोहनीय कर्मकी है।

उक्त स्थिति चारित्र मोहनीयकी है। दर्शनमोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है। पर्याप्तक एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय जीवोंके मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर और सौ सागर है। पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे पल्यके असंख्यातवें भाग कम एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त अपर्याप्तक जीवोंके मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार सागर है। और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवके मोहनीयकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग कम एक हजार सागर है।

यहाँ ज्ञानावरणादि कर्मोंकी स्थितिके समान सागरोंके सात भाग करके तीन भागोंका ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु पूरे पूरे सागर प्रमाण स्थिति बतलाई गई है।

नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

नाम और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर है। यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवकी है। पर्याप्तक एकेन्द्रिय जीवोंके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। पर्याप्तक दो इन्द्रिय जीवके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। पर्याप्तक तीन इन्द्रिय जीवके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति पचास सागरके सात भागोंमें से दो

भाग है। पर्याप्तक चार इन्द्रिय जीवके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति सौ सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति हजार सागरके सात भागोंमें से दो भाग है। अपर्याप्तक एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके नाम और गोत्रकी उत्कृष्ट स्थिति पर्याप्तक जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिमें से पल्यके असंख्यातवें भाग कम है।

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति—

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। यह स्थिति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके आयु कर्मकी है।

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके आयु कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग है क्योंकि असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण देवायु या नरकायुका बन्ध करता है। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीव पूर्वकोटी आयुका बन्ध करके विदेह आदिमें उत्पन्न होते हैं।

वेदनीयकी जघन्य स्थिति—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त अर्थात् चौबीस घड़ी है। इस स्थिति का बन्ध सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानमें होता है।

पहिले ज्ञानावरणकी जघन्य स्थितिको बतलाना चाहिये था लेकिन क्रमका उल्लंघन सूत्रोंको संक्षेपमें कहनेके लिये किया गया है।

नाम और गोत्रकी जघन्य स्थिति—

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है। इस स्थितिका बन्ध भी दसवें गुणस्थानमें होता है।

शेष कर्मोंकी जघन्य स्थिति—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ॥ २० ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्मकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मकी जघन्य स्थितिका बन्ध दशमें गुणस्थानमें होता है। मोहनीयकी जघन्य स्थितिका बन्ध नवमें गुणस्थानमें होता है। आयुकर्मकी जघन्य स्थितिका बन्ध संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है।

अनुभव बन्धका स्वरूप—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

विशेष और नाना प्रकारसे कर्मोंके उदयमें आनेको अनुभव या अनुभाग बन्ध कहते हैं। वि अर्थात् विशेष और विविध, पाक अर्थात् कर्मोंके उदय या फल देनेको

अनुभव कहते हैं। आस्रवकी विशेषतामें कारणभूत तीव्र, मन्द और मध्यम भावोंसे कर्मोंके विपाकमें विशेषता होती है। और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके निमित्तसे विपाक नाना प्रकारका होता है। शुभ परिणामोंके प्रकर्ष होनेपर शुभ प्रकृतियोंका अधिक और अशुभ प्रकृतियोंका कम अनुभाग होता है। और अशुभ परिणामोंके प्रकर्ष होनेपर अशुभ प्रकृतियोंका अधिक और शुभ प्रकृतियोंका कम अनुभाग होता है। कर्मोंका अनुभाग दो प्रकार से होता है—स्वमुख अनुभाग और परमुख अनुभाग। सब मूल प्रकृतियोंका अनुभाग स्वमुख ही होता है जैसे मतिज्ञानावरणका अनुभाग मतिज्ञानावरणरूपसे ही होगा। किन्तु आयुकर्म, दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीयको छोड़कर अन्य कर्मोंकी सजातीय उत्तर प्रकृतियोंका अनुभाग परमुख भी होता है। जिस समय जीव नरकायुको भोग रहा है उस समय तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायुको नहीं भोग सकता है। और दर्शन मोहनीयको भोगनेवाला पुरुष चारित्र मोहनीयको नहीं भोग सकता तथा चारित्र मोहनीय को भोगनेवाला दर्शनमोहनीयको नहीं भोग सकता है। अतः इन प्रकृतियोंका स्वमुख अनुभाग ही होता है।

स यथानाम ॥ २२ ॥

वह अनुभागबन्ध कर्मोंके नामके अनुसार होता है। अर्थात् ज्ञानावरणका फल ज्ञानका अभाव, दर्शनावरणका फल दर्शनका अभाव, वेदनीयका फल सुख और दुःख देना, मोहनीयका फल मोहको उत्पन्न करना, आयुका फल भवधारण कराना, नामका फल नाना प्रकारसे शरीर रचना, गोत्रका फल उच्च और नीचत्वका अनुभव और अन्तरायका फल विघ्नों का अनुभव करना है।

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

फल दे चुकने पर कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। निर्जरा दो प्रकारसे होती है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। अपनी अपनी स्थितिके अनुसार कर्मोंको फल देनेके बाद आत्मासे निवृत्त हो जाने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। और कर्मोंकी स्थितिको पूर्ण होनेके पहिले ही तप आदिके द्वारा कर्मोंको उदयमें लाकर आत्मासे पृथक् कर देना अविपाक निर्जरा है। जैसे किसी आमके फल उसमें लगे लगे ही पककर नीचे गिर जाँय तो वह सविपाक निर्जरा है। और उन फलोंको पहिले ही तोड़कर पालमें पकानेके समान अविपाक निर्जरा है।

सूत्रमें आए हुए 'च' शब्दका तात्पर्य है कि 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्रके अनुसार निर्जरा तपसे भी होती है। यद्यपि निर्जराका वर्णन संवरके बाद होना चाहिये था लेकिन यहाँ संक्षेपके कारण निर्जराका वर्णन किया गया है। संवरके बादमें वर्णन करने पर 'विपाकोऽनुभवः' यह सूत्र पुनः लिखना पड़ता।

प्रदेशबन्धका स्वरूप—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

योगोंकी विशेषतासे त्रिकालमें आत्माके समस्त प्रदेशोंके साथ बन्धको प्राप्त होनेवाले, ज्ञानावरणादि प्रकृतियोंके कारणभूत, सूक्ष्म और एक क्षेत्रमें रहनेवाले अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओंको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

कर्मरूपसे परिणत पुद्गल परमाणु ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि प्रकृतियोंके कारण होते हैं अतः 'नामप्रत्ययाः' कहा है। ऐसे पुद्गल परमाणु संख्यात या असंख्यात नहीं होते हैं किन्तु अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं अतः 'अनन्तानन्ताः' कहा। ये कर्मपरमाणु आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त रहते हैं। आत्माके एक एक प्रदेशमें अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध रहते हैं अतः 'सर्वात्मप्रदेशेषु' कहा। ऐसे प्रदेशोंका बन्ध सब कालोंमें होता है। सब प्राणियोंके अतीत भव अनन्तानन्त होते हैं और भविष्यत् भव किसीके संख्यात, किसीके असंख्यात और किसीके अनन्त भी होते हैं। इन सब भवोंमें जीव अनन्तानन्त कर्म परमाणुओंका बन्ध करता है अतः 'सर्वतः' कहा। यहाँ सर्व शब्दका अर्थ काल है। इस प्रकारके कर्म परमाणुओंका बन्ध योगकी विशेषताके अनुसार होता है अतः 'योगविशेषात्' पद दिया। ये कर्म परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, आत्माके एक प्रदेशमें अनन्तानन्त कर्म परमाणु स्थिर होकर रहते है अतः 'सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः' पद दिया। एक क्षेत्रका अर्थ आत्माका एक प्रदेश है। ये कर्म परमाणु घनाङ्गुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रमें रहते हैं, एक समय, दो समय, तीन समय आदि संख्यात समय और असंख्यात समयकी स्थिति वाले होते हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस (लवण रसका मधुर रसमें अन्तर्भाव हो जाता है), दो गन्ध और आठ स्पर्शवाले होते है।

पुण्य प्रकृतियाँ—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ये तीन शुभायु हैं। मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अङ्गोपाङ्ग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण, प्रशस्त रस, प्रशस्त गन्ध, प्रशस्त स्पर्श, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर प्रकृति ये सैंतीस नाम कर्मकी प्रकृतियाँ शुभ हैं।

पाप प्रकृतियाँ—

अतोऽन्यत् पापम् ॥ २६ ॥

पुण्य प्रकृतियोंसे अतिरिक्त प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं।

पांच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय, पांच अन्तराय, नरकगति, तिर्यञ्चगति, एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार जाति, प्रथम संस्थानको छोड़कर पांच संस्थान, प्रथम संहननको छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्त वर्ण, अप्रशस्त गन्ध, अप्रशस्त रस, अप्रशस्त स्पर्श, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये चौंतीस नामकर्मकी प्रकृतियाँ, असातावेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र ये पापप्रकृतियां हैं। पुण्य और पाप दोनों पदार्थ अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं।

अष्टम अध्याय समाप्त

नवम अध्याय

संवरका लक्षण—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं। आत्मामें जिन कारणोंसे कर्म आते हैं उन कारणोंको दूर कर देनेसे कर्मोंका आगमन बन्द हो जाता है, यही संवर है। संवरके दो भेद हैं—भावसंवर और द्रव्यसंवर। आत्माके जिन परिमाणोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव रुक जाता है उनको भावसंवर कहते हैं। और द्रव्य कर्मोंका आस्रव नहीं होना द्रव्यसंवर है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें मिथ्यादर्शनके द्वारा जिन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध होता है सासादन आदि गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका संवर होता है। वे सोलह प्रकृतियां निम्न प्रकार हैं। १ मिथ्यात्व २ नपुंसकवेद, ३ नरकायु ४ नरकगति ५-८ एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार जाति ९ हुण्डकसंस्थान १० असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन ११ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य १२ आतप १३ स्थावर १४ सूक्ष्म १५ अपर्याप्तक और १६ साधारण शरीर।

अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जिन पच्चीस प्रकृतियोंका आस्रव दूसरे गुणस्थान तक होता है तीसरे आदि गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका संवर होता है वे पच्चीस प्रकृतियाँ निम्न प्रकार हैं— १ निद्रानिद्रा २ प्रचलाप्रचला ३ स्त्यानगृद्धि ४-७ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ८ स्त्रीवेद ९ तिर्यञ्चायु १० तिर्यञ्चगति ११-१४ प्रथम और अन्तिम संस्थानको छोड़कर चार संस्थान १५-१८ प्रथम और अन्तिम संहननको छोड़कर चार संहनन १९ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य २० उद्योत २१ अप्रशस्तविहायोगति २२ दुर्भग २३ दुःस्वर २४ अनादेय और २५ नीचगोत्र।

अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे निम्न दश प्रकृतियोंका आस्रव चौथे गुणस्थान तक होता है और आगेके गुणस्थानोंमें उन प्रकृतियोंका संवर होता है। १-४ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ५ मनुष्यायु ६ मनुष्यगति ७ औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग ९ वज्रवृषभनाराचसंहनन और १० मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य। सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थानमें आयुका बन्ध नहीं होता है। प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे पाँचवें गुणस्थान तक प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभका आस्रव होता है। आगेके गुणस्थानोंमें इन प्रकृतियोंका संवर होता है। प्रमादके निमित्तसे छठवें गुणस्थान तक निम्न छह प्रकृतियोंका आस्रव होता है और आगेके गुणस्थानोंमें उनका संवर होता है। १ असातावेदनीय २ अरति ३ शोक ४ अस्थिर ५ अशुभ और ६ अयशःकीर्ति। देवायुके आस्रवका प्रारंभ छठवें गुणस्थानमें होता है लेकिन देवायुका आस्रव सातवें गुणस्थानमें भी होता है। आगेके गुणस्थानोंमें देवायुका संवर है।

आठवें गुणस्थानमें तीव्र संज्वलन कषायके उदयसे निम्न छत्तीस प्रकृतियोंका आस्रव होता है और आगेके गुणस्थानोंमें उनका संवर होता है। आठवें गुणस्थानके प्रथम संख्यात भागोंमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका बन्ध होता है। पुनः संख्यात भागोंमें तीस प्रकृतियोंका बन्ध होता है। देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्ग, आहारकशरीराङ्गो-

पाङ्ग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर प्रकृति। आठवें गुणस्थानके अन्त समयसे हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियोंका बन्ध होता है। इन प्रकृतियोंका आगेके भागोंमें और गुणस्थानोंमें संवर होता है।

नवमें गुणस्थानमें मध्यम संज्वलन कषायके उदयसे पांच प्रकृतियोंका बन्ध होता है। प्रथम संख्यात भागोंमें पुंवेद और क्रोध संज्वलनका बन्ध होता है। पुनः संख्यात भागोंमें मान और माया संज्वलनका बन्ध होता है और अन्त समयमें लोभ संज्वलनका बन्ध होता है। इन प्रकृतियोंका आगेके भागों और गुणस्थानोंमें संवर होता है।

दशमें गुणस्थानमें मन्द संज्वलन कषायके उदयसे निम्न सोलह प्रकृतियोंका बन्ध होता है और आगेके गुणस्थानोंमें उनका संवर होता है। पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, पांच अन्तराय, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र ये सोलह प्रकृतियां हैं। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें योगके निमित्तसे एक ही सातावेदनीयका बन्ध होता है और चौदहवें गुणस्थानमें उसका संवर होता है।

गुणस्थानोंका स्वरूप—

१ मिथ्यात्व—तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान न होकर विपरीत श्रद्धान होनेको मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान कहते हैं। दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। इन तीनोंके तथा अनन्तानुबन्धी चार कषायोंके उदय न होनेपर औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। औपशमिक सम्यक्त्वका काल अन्तर्मुहूर्त है।

२ सासादन—उपशम सम्यक्त्वके कालमें उत्कृष्ट छह आवली और जघन्य एक समय शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभमें से किसी एकके उदय होनेपर तथा और दूसरे मिथ्यादर्शनके कारणोंका उदयाभाव होनेपर सासादन गुणस्थान होता है। यद्यपि सासादनसम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यादर्शनका उदय नहीं होता है लेकिन अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे उसके मति आदि तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान ही हैं। क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यादर्शनको ही उत्पन्न करती हैं। जीव सासादन गुणस्थानको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही आता है।

३ मिश्रगुणस्थान—इस गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेसे उभयरूप (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) परिणाम होते हैं जिनके कारण तत्त्वार्थोंमें जीव श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों करता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टिके तीन अज्ञान सत्यासत्यरूप होते हैं।

४ अविरत सम्यग्दृष्टि—इस गुणस्थानमें चारित्र मोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टि जीव संयमका पालन करनेमें नितान्त असमर्थ होता है। अतः चौथे गुणस्थानका नाम अविरति सम्यग्दृष्टि है।

५ देशविरत—इस गुणस्थानमें जीव श्रावकके व्रतोंका पालन करता है लेकिन प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे मुनिके व्रतोंका पालन नहीं कर सकता अतः इस गुणस्थानमें अप्रमत्त जीव भी अन्तर्मुहूर्तके लिये प्रमत्त (प्रमादी) हो जाता है अतः छठवें गुणस्थानका नाम प्रमत्तसंयत है।

६ प्रमत्तसंयत—इस गुणस्थानमें अप्रमत्त जीवभी अन्तर्मुहूर्तके लिए प्रमत्त (प्रमादी) हो जाता है अतः छठवें गुणस्थानका नाम प्रमत्तसंयत है।

७ अप्रमत्तसंयत—इस गुणस्थानमें निद्रा आदि प्रमादका अभाव होनेसे सातवें गुणस्थानका नाम अप्रमत्त संयत है।

८, ६, १०—अपूर्णकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय इन तीन गुणस्थानों-में दो दो श्रेणियाँ होती है एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपकश्रेणी । जिस श्रेणीमें आत्मा मोहनीय कर्मका उपशम करता है वह उपशम श्रेणी है और जिसमें मोहनीय कर्मका क्षय करता है वह क्षपक श्रेणी है। उपशम श्रेणी चढ़नेवाला पुरुष आठवें गुणस्थानसे नवमें, दशमें और ग्यारहवें गुणस्थानमें जाकर पुनः वहाँसे च्युत होकर नीचेके गुणस्थानमें आ जाता है। क्षपक श्रेणी चढ़नेवाला पुरुष आठवें गुणस्थानसे नवमें और दशमें गुणस्थानमें जाता है और इसके बाद ग्यारहवें गुणस्थानको छोड़कर बारहवें गुणस्थानमें जाता है। वहाँसे वह पतित नहीं होता है।

८ अपूर्वकरण—इस गुणस्थानमें उपशमक और क्षपक जीव नूतन परिमाणोंको प्राप्त करते हैं अतः इसका नाम अपूर्वकरण है। इस गुणस्थानमें कर्मका उपशम या क्षय नहीं होता है किन्तु यह गुणस्थान सातवें और नवमें गुणस्थानके मध्यमें है और उन गुणस्थानोंमें कर्मका उपशम और क्षय होता है अतः इस गुणस्थानमें भी उपचारसे उपशम और क्षय कहा जाता है। जैसे उपचारसे मिट्टीके घटको भी घीका घट कहते हैं। इस गुणस्थान-में एक ही समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षा विषम परिणाम होते हैं। और द्वितीय आदि क्षणोंमें अपूर्व अपूर्व ही परिणाम होते हैं अतः इस गुणस्थानका अपूर्वकरण नाम सार्थक है।

९ अनिवृत्तिबादरसाम्पराय—इस गुणस्थानमें कषायका स्थूलरूपसे उपशम और क्षय होता है तथा एक समयवर्ती उपशमक और क्षपक नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं अतः इस गुणस्थानका नाम अनिवृत्तिबादरसाम्पराय है।

१० सूक्ष्मसाम्पराय—साम्पराय कषायको कहते हैं। इस गुणस्थानमें कषायका सूक्ष्म रूपसे उपशम या क्षय हो जाता है अतः इसका नाम सूक्ष्मसाम्पराय है।

११ उपशान्तमोह—इस गुणस्थानमें मोहका उपशम हो जाता है अतः इसका नाम उपशान्त मोह है।

१२ क्षीणमोह—इस गुणस्थानमें मोहका पूर्ण क्षय हो जाता है अतः इसका नाम क्षीणमोह है।

१३ सयोगकेवली—इस गुणस्थानमें जीव केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर लेता है अतः इसका नाम सयोगकेवली है।

१४ अयोगकेवली अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच लघु अक्षरोंके उच्चारण करनेमें जितना काल लगता है उतना ही काल अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानका है।

अपूर्वकरण गुणस्थानसे क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त गुणस्थानोंमें जीवोंके परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। अभव्य जीवकी अपेक्षा मिथ्यात्त्व गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अनादि और अनन्त है। तथा भव्य जीवकी अपेक्षा उत्कृष्ट काल अनादि और सान्त है। सासादन गुणस्थानका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल छह आवली है। मिश्र गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल छयासठ सागर है। देशसंयत गुणस्थानका जघन्य काल एक मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एकपूर्व कोटि है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे क्षीण कषाय पर्यन्त गुणस्थानोंका उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सयोगकेवली गुणस्थानका उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटि है।

संवरके कारण—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इसके द्वारा संवर होता है।

संसारके कारणस्वरूप मन, वचन और कायके व्यापारोंसे आत्माकी रक्षा करनेको अर्थात् मन,वचन और कायके निग्रह करनेको गुप्ति कहते हैं। जीवहिंसारहित यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं। जो आत्माको संसारके दुःखोंसे छुटाकर उत्तम स्थानमें पहुंचा दे वह धर्म है। शरीर आदिके स्वरूपका विचार अनुप्रेक्षा है। क्षुधा,तृषा आदिकी वेदना उत्पन्न होनेपर कर्मोंकी निर्जराके लिये उसे शान्तिपूर्वक सहन कर लेना परीषहजय है। कर्मोंके आस्रवमें कारणभूत बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओंके त्याग करनेको चारित्र कहते हैं।

सूत्रमें आया हुआ 'स' शब्द यह बतलाता है कि गुप्ति आदिके द्वारा ही संवर होता है। और जलमें डूबना, शिरमुण्डन, शिखाधारण, मस्तकछेदन, कुदेव आदिकी पूजा आदिके द्वारा संवर नहीं हो सकता है, क्योंकि जो कर्म राग, द्वेष आदिसे उपार्जित होते हैं उनकी निवृत्ति विपरीत कारणोंसे हो सकती है।

संवर और निर्जराका कारण—

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

तपके द्वारा निर्जरा और संवर दोनों होते हैं। 'च' शब्द संवरको सूचित करता है।

यद्यपि दश प्रकारके धर्मोंमें तपका ग्रहण किया है और उसीसे तप संवर और निर्जरा-कारण सिद्ध हो जाता, लेकिन यहाँ पृथक् रूपसे तपका ग्रहण इस बातको बतलाता है कि तप नवीन कर्मोंके संवरपूर्वक कर्मक्षयका कारण होता है तथा तप संवरका प्रधान कारण है।

प्रश्न—आगममें तपको अभ्युदय देनेवाला बतलाता है। वह संवर और निर्जराका साधक कैसे हो सकता है ? कहा भी है—"दानसे भोग प्राप्त होता है, तपसे परम इन्द्रत्व तथा ज्ञानसे जन्म जरा मरणसे रहित मोक्षपद प्राप्त होता है।

उत्तर—एक ही तप इन्द्रादि पदको भी देता है और संवर और निर्जराका कारण भी होता है इसमें कोई विरोध नहीं है। एक पदार्थ भी अनेक कार्य करता है जैसे एक ही छत्र छायाको करता है तथा धूप और पानीसे बचाता है।

इसी प्रकार तप भी अभ्युदय और कर्म क्षयका कारण होता है।

गुप्तिका स्वरूप—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४॥

विषयाभिलाषाको छोड़कर और ख्याति, पूजा, लाभ आदिकी आकांक्षासे रहित होकर मन, वचन और कायके व्यापारके निग्रह या निरोधको गुप्ति कहते हैं। योगोंके निग्रह होनेपर संक्लेश परिणाम नहीं होते हैं और ऐसा होनेसे कर्मोंका आस्रव भी नहीं होता है। अतः गुप्ति संवरका कारण होती है। गुप्तिके तीन भेद हैं–कायगुप्ति, वाग्गुप्ति और मनोगुप्ति।

समितिका वर्णन—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और उत्सर्गसमिति ये पाँच समितियाँ हैं। इनमें प्रत्येकके पहिले सम्यक् शब्द जोड़ना चाहिये जैसे सम्यगीर्यासमिति आदि।

ईर्यासमिति—जिसने जीवोंके स्थानको अच्छी तरह जान लिया है और जिसका चित्त एकाग्र है ऐसे मुनिके तीर्थयात्रा, धर्मकार्य आदिके लिये आगे चार हाथ पृथिवी देखकर चलनेको ईर्यासमिति कहते हैं।

एकेन्द्रिय बादर और सूक्ष्म, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सातोंके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह जीवस्थान होते हैं।

भाषासमिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना अर्थात् असंदिग्ध, सत्य, कानोंको प्रिय लगनेवाले, कषायके अनुत्पादक, सभास्थानके योग्य, मृदु, धर्मके अविरोधी, देशकाल आदिके योग्य और हास्य आदिसे रहित वचनोंको बोलना भाषासमिति है।

एषणासमिति–निर्दोष आहार करना अर्थात् विना याचना किये शरीरके दिखाने मात्रसे प्राप्त, उद्गम, उत्पादन आदि आहारके दोषोंसे रहित, चमड़ा आदि अस्पृश्य वस्तुके संसर्गसे रहित दूसरेके लिये बनाये गये भोजनको योग्य कालमें ग्रहण करना एषणासमिति है।

आदाननिक्षेपसमिति—धर्मके उपकरणोंको मोरकी पीछीसे, पीछीके अभावमें कोमल वस्त्र आदिसे अच्छी तरह झाड़ पोंछ कर उठाना और रखना आदाननिक्षेपसमिति है। मुनि गायकी पूँछ, मेषके रोम आदिसे नहीं झाड़ सकता है।

उत्सर्गसमिति—जीव रहित स्थानमें मल मूत्रका त्याग करना उत्सर्गसमिति है। इन पाँच समितियोंसे प्राणिपीड़ाका परिहार होता है अतः समिति संवरका कारण है।

धर्मका वर्णन—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं। इनमें प्रत्येकके पहिले उत्तम शब्द लगाना चाहिये जैसे—उत्तम क्षमा आदि।

उत्तमक्षमा—शरीरकी स्थितिके कारणभूत आहारको लेनेके लिये दूसरोंके घर जाने वाले मुनिको दुष्ट जनोंके द्वारा असह्य गाली दिये जाने या काय विनाश आदिके उपस्थित होनेपर भी मनमें किसी प्रकारका क्रोध नहीं करना उत्तम क्षमा है।

उत्तममार्दव—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु इन आठ पदार्थोंके घमण्डको छोड़कर दूसरोंके द्वारा तिरस्कार होनेपर अभिमान नहीं करना उत्तम मार्दव है।

मन, वचन और कायसे माया (छल-कपट) का त्याग कर देना उत्तम आर्जव है।

लोभ या गृद्धताका त्याग कर देना उत्तम शौच है। मनोगुप्ति और शौचमें यह भेद है कि मनोगुप्तिमें सम्पूर्ण मानसिक व्यापारका निरोध किया जाता है किन्तु जो ऐसा करनेमें असमर्थ है उसको दूसरोंके पदार्थोंमें लोभके त्यागके लिये शौच बतलाया गया है। भगवती आराधनामें शौचका 'लाघव' नाम भी मिलता है।

दिगम्बर मुनियों और उनके उपासकोंके लिये सत्य वचन कहना उत्तम सत्य है।

भाषा समिति और सत्यमें भेद—भाषा समिति वाला मुनि साधु और असाधु दोनों प्रकारके पुरुषोंमें हित और परिमित वचनोंका प्रयोग करेगा। यदि वह असाधु पुरुषोंमें अहित और अमित भाषण करेगा तो रागके कारण उसकी भाषासमिति नहीं बनेगी। लेकिन सत्य बोलनेवाला साधुओंमें और उनके भक्तोंमें सत्य वचनका प्रयोग करेगा और ज्ञान, चारित्र आदिकी शिक्षाके हेतु अमित (अधिक) वचनका भी प्रयोग करेगा अर्थात् भाषा समितिमें प्रवृत्ति करने वाला असाधु पुरुषोंमें भी वचनका प्रयोग करेगा लेकिन उसके वचन मित ही होंगे और सत्य बोलने वाला पुरुष साधु पुरुषोंमें ही वचनका प्रयोग करेगा लेकिन उसके वचन अमित भी हो सकते हैं।

छह कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग करना और छह इन्द्रियोंके विषयोंको छोड़ देना उत्तम संयम है। संयमके दो भेद हैं एक अपहृतसंज्ञक और दूसरा उपेक्षासंज्ञक। अपहृत संज्ञक संयम के तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। जो मुनि प्राणियोंके समागम होनेपर उस स्थानसे दूर हट कर जीवोंकी रक्षा करता है उसके उत्कृष्ट संयम है। जो कोमल मोरकी पीछीसे जीवों को दूर कर अपना काम करता है उसके मध्यम संयम है। और जो दूसरे साधनोंसे जीवोंको दूर करता हैं उसके जघन्य संयम होता है। रागद्वेष के त्यागका नाम उपेक्षासंज्ञक संयम है।

उपार्जित कर्मोंके क्षयके लिये बारह प्रकारके तपोंका करना उत्तम तप है।

ज्ञान, आहार आदि चार प्रकार का दान देना उत्तम त्याग है।

पर पदार्थोंमें यहाँ तक कि अपने शरीरमें भी ममेदं या मोहका त्याग कर देना उत्तम आकिञ्चन्य है। इसके चार भेद हैं। १ अपने और परके जीवनके लोभका त्याग करना। २ अपने और परके आरोग्यके लोभका त्याग करना। ३ अपने और परके इन्द्रियोंके लोभ का त्याग करना। ४ अपने और परके उपभोगके लोभका त्याग करना।

मन, वचन और कायसे स्त्री सेवनका त्याग कर देना ब्रह्मचर्य है। स्वेच्छाचार पूर्वक प्रवृत्ति को रोकनेके लिये गुरुकुलमें निवास करनेको भी ब्रह्मचर्य कहते हैं।

विषयोंमें प्रवृत्तिको रोकनेके लिये गुप्ति बतलाई है। जो गुप्तिमें असमर्थ है उसका प्रवृत्तिके उपाय बतलानेके लिये समिति बतलाई गई है। और समितिमें प्रवृत्ति करने वाले मुनिको प्रमादके परिहारके लिये दश प्रकारका धर्म बतलाया गया है।

अनुप्रेक्षाका वर्णन—

**अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबो-
धिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वाचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥**

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इनके स्वरूपका चिन्तवन करना सो बारह अनुप्रेक्षायें हैं।

अनित्यभावना—शरीर और इन्द्रियोंके विषय आदि सब पदार्थ इन्द्रधनुष और दुष्टजनकी मित्रता आदिकी भांति अनित्य हैं। लेकिन जीव अज्ञानताके कारण उनको नित्य समझ रहा है। संसारमें जीवके निजी स्वरूप ज्ञान और दर्शनको छोड़कर और कोई वस्तु नित्य नहीं है इस प्रकार विचार करना अनित्यानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे जीव शरीर, पुत्र, कलत्र आदिमें राग नहीं करता है और वियोगका अवसर उपस्थित होनेपर भी दुःख नहीं करता है।

अशरणभाव–जिस प्रकार निर्जन वनमें मांसभक्षी और भूखे सिंहके द्वारा मृगके बच्चेको पकड़े जानेपर उसका कोई सहायक नहीं होता है उसी प्रकार जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुखोंके बीचमें पड़े हुए जीवका भी कोई शरण नहीं है। संचित धन दूसरे भवमें नहीं जाता है। बान्धव भी मरण कालमें जीवकी रक्षा नहीं कर सकते। इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि भी उस समय शरण नहीं होते हैं। केवल एक जैनधर्म ही शरण होता है। इस प्रकार विचार करनेसे संसारके पदार्थोंमें ममत्व नहीं होता है और रत्नत्रय मार्गमें रुचि होती है।

३ संसारभावना—इस संसारमें भ्रमण करनेवाला जीव जिस जीवका पिता होता है वही जीव कभी उसका भाई, पुत्र और पौत्र भी होता है और जो माता होती है वही बहिन, भार्या, पुत्री और पौत्री भी होती है। स्वामी दास होता है और दास स्वामी होता है। अधिक क्या जीव स्वयं अपना भी पुत्र होता है। इस प्रकार जीव नटकी तरह नाना वेषोंको धारण करता है। ऐसा संसारके स्वरूपका विचार करना संसारानुप्रेक्षा है। विचार करनेसे जीवको संसारके दुःखोंसे भय होता है और वैराग्य भी होता है।

४ एकत्वभावना—आत्मा अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरण करता है तथा अकेला ही दुःखको भोगता है। जीवका वास्तवमें न कोई बन्धु है और न कोई शत्रु। व्याधि, जरा, मरण आदिके दुखोंःको स्वजन या परजन कोई भी सहन नहीं करते हैं। बन्धु और मित्र श्मशान तक ही साथ जाते हैं। अविनाशी जिनधर्म ही जीवका सदा सहायक है। इस प्रकार विचार करना एकत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे जीवकी स्वजनों और परजनोंमें प्रीति और अप्रीति नहीं होती है और जीव उनसे विरक्त हो जाता है।

अन्यत्वभावना—जीवको शरीर आदिसे पृथक् चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। यद्यपि बन्धकी अपेक्षा जीव और शरीर एक ही है लेकिन लक्षणके भेदसे इनमें भेद पाया जाता है। काय इन्द्रियमय है और जीव इन्द्रिय रहित है। काय अज्ञ है और जीव ज्ञानवान् है। काय अनित्य है और आत्मा नित्य है। जब कि जीव शरीरसे भिन्न है तो कलत्र, पुत्र, गृह आदिसे भिन्न क्यों नहीं होगा? अर्थात् इनसे भी भिन्न है ही। इस प्रकार आत्माको शरीर आदिसे भिन्न चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तवन करनेसे शरीर आदिमें वैराग्य उत्पन्न होता है।

६ अशुचिभावना—यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है। रुधिर, मांस, मज्जा आदि अशुचि पदार्थोंका घर है; इस शरीरकी अशुचिता जलमें नहानेसे, और चंदन, कपूर, कुङ्कुम आदिके लेप करनेसे भी दूर नहीं की जा सकती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही जीवकी विशुद्धिको करते हैं इस प्रकार विचार करना अशुच्यनुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे शरीरमें वैराग्य उत्पन्न होता है

७ आस्रव भावना–कर्मोंका आस्रव सदा दुःखका देने वाला है। इंद्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाएँ नदीके प्रवाहके समान तीव्र होती हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इंद्रियाँ गज,मत्स्य, भ्रमर, शलभ और मृग आदिका संसारसमुद्रमें गिरा देती हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, वध, बन्धन आदि दुःखोंको देते हैं। इस प्रकार आस्रव के स्वरूपका विचार करना सो आस्रवानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे उत्तम क्षमा आदिके पालन करनेमें मन लगता है।

८ संवर भावना—कर्मोंका संवर हो जानेसे जीवको दुःख नहीं होता है। जैसे नावमें छेद हो जाने पर उसमें जल भरने लगता है और नाव डूब जाती है। लेकिन छेदको बन्द कर देने पर नाव अपने स्थान पर पहुँच जाती है। उसी प्रकार कर्मोंका आगमन रोक देने पर कल्याण मार्गमें कोई बाधा नहीं आ सकती है इस प्रकार विचार करना संवरानुप्रेक्षा है।

९ निर्जरा भावना—निर्जरा दो प्रकारसे होती है एक अबुद्धिपूर्वक और दूसरी कुशल-मूलक। नरकादि गतियोंमें फल दे चुकनेपर कर्मोंकी जो निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वक या अकुशलमूलक निर्जरा है। जो तप या परीषहजयके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वक या कुशलमूलक निर्जरा है। इस प्रकार निर्जराके गुण और दोषोंका विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे जीवकी कर्मोंकी निर्जराके लिये प्रवृत्ति होती है।

१० लोकभावना— अनन्त लोकाकाशके ठीक मध्यमें चौदह राजू प्रमाण लोक है। इस लोकके स्वभाव, आकार आदिका चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। लोकका विचार करनेसे तत्त्वज्ञानमें विशुद्धि होती है।

११ बोधिदुर्लभभावना—एक निगोदके शरीरमें सिद्धोंके अनन्तगुने जीव रहते हैं और समस्त लोक स्थावर प्राणियोंसे ठसाठस भरा हुआ है। इस लोकमें त्रस पर्याय पाना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार समुद्रमें गिरी हुई वज्रकी कणिकाको पाना। त्रसोंमें भी पञ्चे-न्द्रिय होना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार गुणोंमें कृतज्ञताका होना। पञ्चेन्द्रियोंमें भी मनुष्य पर्यायको पाना उसीप्रकार दुर्लभ है जिसप्रकार मार्गमें रत्नोंका ढेर पाना। एक बार मनुष्य पर्याय समाप्त हो जाने पर पुनः मनुष्य पर्यायको पाना अत्यन्त दुर्लभ है जिस प्रकार वृक्षके जल जाने पर उस राखका वृक्ष हो जाना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जन्म मिल जाने पर भी सुदेशका पाना दुर्लभ है। इसी प्रकार उत्तम कुल, इन्द्रियोंकी पूर्णता, सम्पत्ति, आरोग्यता ये सब बातें उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। इन सबके मिल जाने पर भी यदि जैन धर्मकी प्राप्ति नहीं हुई तो मनुष्य जन्मका पाना उसी प्रकार निरर्थक है जैसे विना नेत्रोंके मुखका होना। जो जैन धर्मको प्राप्त करके भी विषय सुखोंमें लीन रहता है वह पुरुष राखके लिए चन्दनके वृक्षको जलाता है। विषय-सुखसे विरक्त हो जाने पर भी समाधिका होना अत्यन्त दुर्लभ है। समाधिके होने पर ही विषय-सुखसे विरक्त स्वरूप बोधिलाभ सफल होता है। इस प्रकार बोधि (ज्ञान) की दुर्लभताका विचार करना बोधि दुर्लभानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करनेसे जीवको प्रमाद नहीं होता।

१२ धर्मभावना—धर्म वह है जो सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्रणीत हो, सर्व जीवों पर दया करने वाला हो, सत्ययुक्त हो, विनयसम्पन्न हो, उत्तम क्षमा, ब्रह्मचर्य, उपशम आदिसे सहित हो जिसके सेवनसे विषयोंसे व्यावृत्ति हो और निष्परिग्रहता हो। इस प्रकारके धर्मको न पानेके कारण जीव अनादिकाल तक संसारमें भ्रमण करते हैं और धर्मकी प्राप्ति हो जाने पर जीव स्वर्ग आदिके सुखोंको भोगकर मोक्षको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार धर्मके स्वरूपका विचार करना धर्मानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करनेसे जीवका धर्ममें गाढ़ स्नेह होता है।

इस प्रकार बारह भावनाओंके होने पर जीव उत्तम क्षमा आदि धर्मोंका धारण करता है और परीषहोंको सहन करता है अतः धर्म और परीषहोंके बीचमें अनुप्रेक्षाओंका वर्णन किया है।

परीषहोंका वर्णन—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थंपरिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

मार्ग अर्थात् संवरसे च्युत न होनेके लिये और कर्मोंकी निर्जराके लिये बाईस परीषहों को सहन करना चाहिये। मार्गका अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी होता है। परीषहों के सहन करनेसे कर्मोंका संवर होता है। परीषहजय संवर, निर्जरा और मोक्षका साधन है।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवध-याचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

१ क्षुधा परीषह—जो मुनि निर्दोष आहारको ग्रहण करता है और निर्दोष आहार के न मिलने पर या अल्प आहार मिलनेपर अकाल और अयोग्य देशमें आहारको ग्रहण नहीं करता है, जो छह आवश्यकोंकी हानिको नहीं चाहता, अनेक बार अनशन, अवमौदर्य आदि करनेसे तथा नीरस भोजन करनेसे जिसका शरीर सूख गया है क्षुधाकी वेदना होने पर भी जो क्षुधाकी चिन्ता नहीं करता है और भिक्षाके लाभकी अपेक्षा अलाभमें लाभ मानता है, उस मुनिके क्षुधापरीषहजय होता है।

२ तृषापरीषह—जो मुनि नदी, वापी, तड़ाग आदिके जलमें नहाने आदिका त्यागी होता है और जिसका स्थान नियत नहीं होता है, जो अत्यन्त क्षार (खारा) आदि भोजन के द्वारा और गर्मी तथा उपवास आदिके द्वारा तीव्र प्यासके लगने पर उसका प्रतिकार नहीं करता और तृषाको संतोषरूपी जलसे शान्त करता है उसके तृषापरीषहजय होता है।

३ शीतपरीषह—जिस मुनिने वस्त्रोंका त्याग कर दिया है, जिसका कोई नियत स्थान नहीं है, जो वृक्षोंके नीचे, पर्वतों पर और चतुष्पथ आदिमें सदा निवास करता है, जो वायु और हिमकी ठंडकको शान्तिपूर्वक सहन करता है, शीतका प्रतिकार करनेवाली अग्नि आदिका स्मरण भी नहीं करता है, उस मुनिके शीत परीषहजय होता है।

४ उष्णपरीषह—जो मुनि वायु और जल रहित प्रदेशमें, पत्तोंसे रहित सूखे वृक्षके नीचे या पर्वतों पर ग्रीष्म ऋतुमें ध्यान करता है, दावानलके समान गर्म वायुसे जिसका कण्ठ सूख गया है और पित्तके द्वारा जिसके अन्तरङ्गमें भी दाह उत्पन्न हो रहा है फिर भी उष्णताके प्रतिकार करनेका विचार न करके उष्णताकी वेदनाको शान्तिपूर्वक सहन करता है उसके उष्णपरीषहजय होता है।

५ दंशमशकपरीषह—जो डांस, मच्छर, चींटी, मक्खी, बिच्छू आदिके काटनेसे उत्पन्न हुई वेदनाको शान्तिपूर्वक सहन करता है उसके दंशमशकपरीषहजय होता है। यहाँ दंश शब्दके ग्रहणसे ही काम चल जाता फिर भी जो मशक शब्दका ग्रहण किया गया है वह उपलक्षणके लिये है। जहाँ किसी एक पदार्थके कहनेसे तत्सदृश अन्य पदार्थोंका भी ग्रहण हो वहाँ उपलक्षण होता है। जैसे किसीने कहा कि "काकेभ्यो घृतं रक्षणीयम्" कौओंसे घृतकी रक्षा करनी चाहिये, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि बिल्ली आदिसे घृतकी रक्षा नहीं करनी चाहिये।

जैसे यहाँ काक शब्द उपलक्षण होनेसे बिल्ली आदिका भी बोध कराता है इसी प्रकार मशक शब्द भी उपलक्षण होनेसे बिच्छू, चींटी आदि प्राणियोंका बोधक है।

६ नाग्न्यपरीषह—नग्नता एक विशिष्ट गुण है जिसको कामासक्त पुरुष धारण नहीं कर सकते हैं। नग्नता मोक्षका कारण है और सब प्रकारके दोषोंसे रहित है। परमस्वातन्त्र्य का कारण है। पराधीनता लेशमात्र नहीं रहती। जो मुनि इस प्रकारकी नग्नताको धारण करते हुए मनमें किसी प्रकारके विकारको उत्पन्न नहीं होने देता उसके नाग्न्यपरीषहजय होता है।

७ अरतिपरीषह—जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत रहता है, सङ्गीत आदिसे रहित शून्य गृह आदिमें निवास करता है, स्वाध्याय आदिमें हो रति करता है उनके अरतिपरीषहजय होता है।

८ स्त्रीपरीषह—जो मुनि स्त्रियोंके भ्रूविलास, नेत्रविकार, शृङ्गार आदिको देखकर मनमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होने देता, कछवेके समान इन्द्रिय और मनका संयमन करता है उसके स्त्रीपरीषहजय होता है।

९ चर्यापरीषह—गुरुजनकी आज्ञासे और देशकालके अनुसार गमन करनेमें कंकण, कांटे आदिके द्वारा उत्पन्न हुई बाधाको जो मुनि शान्तिपूर्वक सहन करता है और पूर्व अवस्थामें भोगे हुए वाहन आदिका स्मरण नहीं करता है उसके चर्यापरीषहजय होता है।

१० निषद्यापरीषह—जो मुनि श्मशान, वन, पर्वतोंकी गुफा आदिमें निवास करता है और नियतकालपर्यन्त ध्यानके लिये निषद्य (आसन) को स्वीकार करता है, लेकिन देव, तिर्यञ्च, मनुष्य और अचेतन पदार्थोंके उपसर्गोंके कारण जो वीरासन आदिसे च्युत नहीं होता है और न मन्त्र आदिके द्वारा किसी प्रकारका प्रतीकार ही करता है उसके निषद्यापरीषहजय होता है।

११ शय्यापरीषह—जो मुनि ऊँची-नीची, कठोर कंकड़ बालू आदिसे युक्त भूमि पर एक करवटसे लकड़ी पत्थरकी तरह निश्चल सोता है, भूत प्रेत आदिके द्वारा अनेक उपसर्ग किये जाने पर भी शरीरको चलायमान नहीं करता, कभी ऐसा विचार नहीं करता कि 'इस स्थानमें सिंह आदि दुष्ट प्राणी रहते हैं अतः इस स्थानसे शीघ्र चले जाना चाहिये, रात्रिका अन्त कब होगा इत्यादि उस मुनिके शय्यापरीषहजय होता है।

१२ आक्रोशपरीषह—जो मुनि दुष्ट और अज्ञानी जनोंके द्वारा कहे गये कठोर और असत्य वचनोंको सुनकर हृदयमें किञ्चिन्मात्र भी कषायको नहीं करता है और प्रतिकार करनेकी सामर्थ्य होनेपर भी प्रतिकार करनेका विचार भी नहीं करता है उस मुनिके आक्रोशपरीषहजय होता है।

१३ वधपरीषह—जो मुनि नानाप्रकारके तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा शरीरपर प्रहार किये जाने पर भी प्रहार करनेवालोंसे द्वेष नहीं करता है किन्तु यह विचार करता है कि यह मेरे पूर्व कर्मका ही फल है और शस्त्रोंके द्वारा दुःखोंके कारण शरीरका ही विघात हो सकता है आत्माका विघात त्रिकालमें भी संभव नहीं है, उस मुनिके वधपरीषहजय होता है।

१४ याचनापरीषह—तपके द्वारा शरीरके सूख जानेपर अस्थिपञ्जरमात्र शरीर शेष रहने पर भी जो मुनि दीनवचन, मुखवैवर्ण्य आदि आदि संज्ञाओंके द्वारा भोजन आदि पदार्थोंकी याचना नहीं करता है उसके याचनापरीषहजय होता है।

१५ अलाभपरीषह—अनेक दिनोंतक आहार न मिलनेपर जो मुनि मनमें किसी प्रकारका खेद नहीं करता है और भिक्षाके लाभसे अलाभको ही तपका हेतु मानता है उस मुनिके अलाभ परीषहजय होती है।

१६ रोगपरीषह—जो मुनि शरीरको अपवित्र, अनित्य और परित्राण रहित समझ कर धर्मकी वृद्धिके लिये भोजनको स्वीकार करता है, लेकिन अपथ्य आदि आहारके लेनेसे शरीरमें हजारों रोग उत्पन्न होजाने पर भी व्याकुल नहीं होता है और सर्वौषधि आदि ऋद्धियोंके होनेपर भी रोगका प्रतिकार नहीं करता है उस मुनिके रोगपरीषहजय होती है।

१७ तृणस्पर्शपरीषह—जो मुनि चलते समय पैरमें तृण, कांटे आदिके चुभ जानेसे उत्पन्न हुई वेदनाको शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है उस मुनिके तृणस्पर्शपरीषहजय होती है।

१८ मलपरीषह—जिस मुनिने जलकायिक जीवोंकी रक्षाके लिये मरणपर्यन्त स्नानका त्याग कर दिया और शरीरमें पसीना आनेसे धूलिके जम जानेपर तथा खुजली आदि रोगोंके उत्पन्न हो जानेपर भी शरीरको जो खुजलाता नहीं है तथा जो ऐसा विचार नहीं करता है कि मेरा शरीर मलसहित है और इस भिक्षुका शरीर कितना निर्मल है उस मुनिके मलपरीषहजय होती है।

१९ सत्कारपुरस्कारपरीषह—प्रशंसा करनेको सत्कार और किसी कार्यमें किसीको प्रधान बना देनेको पुरस्कार कहते हैं। अन्य मनुष्यों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न किये जानेपर जो मुनि ऐसा विचार नहीं करता है कि मैं चिरतपस्वी हूँ मैंने अनेक बार वादियोंको शास्त्रार्थमें हराया है फिर भी मेरी कोई भक्ति नहीं करता है, आसन आदि नहीं देता है, प्रणाम नहीं करता है। मुझसे अच्छे तो मिथ्यातपस्वी हैं जिनको मिथ्यादृष्टि लोग सर्वज्ञ मानकर पूजते हैं। जो ऐसा कहा जाता है कि अधिक तपस्या वालोंकी व्यन्तर आदि पूजा करते हैं वह सब झूठ है। ऐसा विचार न करनेवाले मुनिके सत्कारपुरस्कारपरीषहजय होती है।

२० प्रज्ञापरीषह—जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलङ्कार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओंमें निपुण होनेपर भी ज्ञानका मद नहीं करता है तथा जो इस बातका घमण्ड नहीं करता है कि प्रवादी मेरे सामनेसे उसी प्रकार भाग जाते हैं जिस प्रकार सिंहके शब्दको सुनकर हाथी भाग जाते हैं उस मुनिके प्रज्ञापरीषहजय होती है।

२१ अज्ञानपरीषह—जो मुनि सकल शास्त्रोंमें निपुण होनेपर भी दूसरे पुरुषोंके द्वारा किये गये 'यह मूर्ख है' इत्यादि आक्षेपोंको शान्त मनसे सहन कर लेता है उस मुनिके अज्ञान-परीषहजय होती है।

२२ अदर्शनपरीषह—चिरकाल तक तपश्चर्या करनेपर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि आदिकी प्राप्ति न होनेपर जो मुनि विचार नहीं करता है कि यह दीक्षा निष्फल है, व्रतोंका धारण करना व्यर्थ है इत्यादि, उस मुनिके अदर्शनपरीषहजय होती है।

इस प्रकार इन बाईस परीषहोंको जो मुनि शान्त चित्तसे सहन करता है उस मुनिके राग द्वेष आदि परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले आस्रवका निरोध होकर संवर होता है।

किस गुणस्थानमें कितने परीषह होते हैं—

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

सूक्ष्मसाम्पराय अर्थात् दशवें और छद्मस्थवीतराग अर्थात् बारहवें गुणस्थानमें निम्न चौदह परीषह होते हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग,

तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान। छद्मका अर्थ है ज्ञानावरण और दर्शनावरण। ज्ञानावरण और दर्शनावरणका उदय होने पर भी जिसको अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान होनेवाला हो उसको छद्मस्थ वीतराग (बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि) कहते हैं।

प्रश्न—छद्मस्थवीतराग गुणस्थानमें मोहनीय कर्मका अभाव है इसलिये मोहनीय कर्मके निमित्तसे होनेवाले आठ परीषह वहाँ नहीं होते हैं यह तो ठीक है लेकिन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें तो मोहनीयका सद्भाव रहता है अतः वहाँ मोहनीयके निमित्तसे होनेवाले नाग्न्य आदि आठ परीषहोंका सद्भाव और बतलाना चाहिये।

उत्तर—सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयकी सब प्रकृतियोंका उदय नहीं होता किन्तु संज्वलन लोभकषायका ही उदय रहता है और वह उदय भी सूक्ष्म होता है न कि बादर। अतः यह गुणस्थान भी छद्मस्थवीतराग गुणस्थानके समान ही है। इसलिये इस गुणस्थानमें भी चौदह ही परीषह होते हैं।

प्रश्न—छद्मस्थवीतराग गुणस्थानमें मोहनीयके उदयका अभाव है और सूक्ष्म-साम्परायमें मोहनीयके उदयकी मन्दता है इसलिए दोनों गुणस्थानोंमें क्षुधा आदि चौदह परीषहोंका अभाव ही होगा, वहाँ उनका सहना कैसे संभव है?

उत्तर—यद्यपि उक्त दोनों गुणस्थानोंमें चौदह परीषह नहीं होते हैं किन्तु उन परीषहोंके सहन करनेकी शक्ति होनेके कारण वहाँ चौदह परीषहोंका सद्भाव बतलाया गया है। जैसे सर्वार्थसिद्धिके देव सातवें नरक तक गमन नहीं करते हैं फिर भी वहाँ तक गमन करनेकी शक्ति होनेके कारण उनमें सातवें नरक पर्यन्त गमन बतलाया है।

एकादश जिने ॥ ११ ॥

सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानमें ग्यारह परीषह होते हैं। पूर्वोक्त चौदह परीषहोंमेंसे अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञानको छोड़कर शेष ग्यारह परीषहोंका सद्भाव वेदनीय कर्मके सद्भावके कारण बतलाया गया है।

प्रश्न—तेरहवें गुणस्थानमें मोहनीयके उदयके अभावमें क्षुधा आदिकी वेदना नहीं हो सकती है फिर ये परीषह कैसे उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—तेरहवें गुणस्थानमें क्षुधा आदिकी वेदनाका अभाव होने पर भी वेदनीय द्रव्य कर्मके सद्भावके कारण वहाँ ग्यारह परीषहोंका सद्भाव उपचारसे समझना चाहिये। जैसे ज्ञाना-वरण कर्मके नष्ट हो जानेसे जिनेन्द्र भगवान्में चिंताका निरोध करने स्वरूप ध्यान नहीं होता है फिर भी चिंताको करने वाले कर्मके अभाव (निरोध) हो जानेसे उपचारसे वहाँ ध्यानका सद्भाव माना गया है। यही बात वहाँ परीषहोंके सद्भावके विषयमें है। यदि केवली भगवान्में क्षुधा आदि वेदनाका सद्भाव माना जाय तो कवलाहारका भी प्रसङ्ग उनके होगा। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अनन्त सुखके उदय होने से जिनेन्द्र भगवान्के कवलाहार नही होता है। कवलाहार वही करता है जो क्षुधाके क्लेशसे पीड़ित होता है। यद्यपि जिनेन्द्रके वेदनीयके उदयका सद्भाव रहता है लेकिन वह मोहनीयके अभावमें अपना कार्य नहीं कर सकता जैसे सेनापतिके अभावमें सेना कुछ काम नहीं कर सकती।

अथवा उक्त सूत्रमें न शब्द का अध्याहार करना चाहिये। न शब्दका अध्याहार करनेसे "एकादश जिने न" ऐसा सूत्र होगा जिसका अर्थ होगा कि जिनेन्द्र भगवान्के ग्यारह परीषह नहीं होते हैं।

प्रमेयकमलमार्तण्डमें एकादश शब्दका यह अर्थ किया गया है—एकेन अधिका न दश इति एकादश अर्थात् एक+अ+दश एक और दश (ग्यारह) परीषह जिनेन्द्रके नहीं होते हैं।

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

बादरसाम्पराय अर्थात् स्थूल कषायवाले छठवें, सातवें, आठवें और नवमें इन चार गुणस्थानोंमें सम्पूर्ण परीषह होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रोंमें सब परीषह होते हैं।

कौन परीषह किस कर्मके उदयसे होता है ?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥ १३ ॥

ज्ञानावरण कर्मके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह होते हैं।

प्रश्न—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे अज्ञानपरिषह होता है यह तो ठीक है किन्तु प्रज्ञापरीषह भी ज्ञानावरणके उदयसे होता है यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रज्ञापरीषह अर्थात् ज्ञानका मद ज्ञानावरणके विनाश होनेपर होता है अतः वह ज्ञानावरणके उदयसे कैसे हो सकता है ?

उत्तर—प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है अर्थात् मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम होनेपर और अवधिज्ञानावरण आदिके सद्भाव होनेपर प्रज्ञाका मद होता है। सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षय हो जानेपर ज्ञानका मद नहीं होता है। अतः प्रज्ञापरीषह ज्ञानावरणके उदयसे ही होता है।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

दर्शनमोहनीयके उदयसे अदर्शनपरीषह और अन्तराय कर्मके उदयसे अलाभ परीषह होता है।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

चारित्र मोहनीयके उदयसे नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होते हैं। ये परीषह पुंवेद आदिके उदयके कारण होते हैं। मोहके उदयसे प्राणिपीड़ा होती है और प्राणिपीड़ाके परिहारके लिये निषद्या परीषह होता है अतः यह भी मोहके उदयसे होता है।

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

वेदनीय कर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह होते हैं।

एक साथ एक जीवके होनेवाले परीषहोंकी संख्या—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः ॥ १७ ॥

एक साथ एक जीवके एकको आदि लेकर उन्नीस परीषह तक हो सकते हैं।

एक जीवके एक कालमें अधिकसे अधिक उन्नीस परीषह हो सकते हैं। क्योंकि शीत

और उष्ण इन दो परीषहोंमें से एक कालमें एक ही परीषह होगा तथा चर्या, शय्या और निषद्या इन तीन परीषहोंमें से एक कालमें एक ही परीषह होगा। इस प्रकार बाईस परीषहोंमें से तीन परीषह घट जाने पर एक साथ उन्नीस परीषह ही हो सकते हैं, अधिक नहीं।

प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें परस्परमें विरोध है अतः ये दोनों परीषह एक साथ कैसे होंगे ?

उत्तर—श्रुतज्ञानके होनेपर प्रज्ञापरीषह होता है और अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके अभावमें अज्ञान परीषह होता है अतः ये दोनों परीषह एक साथ हो सकते हैं।

चारित्रका वर्णन—

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये पाँच चारित्र हैं। सूत्रमें 'इति' शब्द समाप्तिवाचक है जिसका अर्थ है कि यथाख्यात चारित्रसे कर्मोंका पूर्ण क्षय होता है। दश प्रकारके धर्मोंमें जो संयमधर्म बतलाया गया है वह चारित्र ही है लेकिन पुनः यहाँ चारित्रका वर्णन इस बातको बतलाता है कि चारित्र निर्वाणका साक्षात् कारण है।

सम्पूर्ण पापोंके त्याग करनेको सामायिक चारित्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं–परिमित काल सामायिक और अपरिमितकाल सामायिक। स्वाध्याय आदि करनेमें परिमितकाल सामायिक होता है और ईर्यापथ आदिमें अपरिमितकाल सामायिक होता है।

प्रमादके वशसे अहिंसा आदि व्रतोंमें दूषण लग जाने पर आगमोक्त विधिसे उस दोषका प्रायश्चित्त करके पुनः व्रतोंका ग्रहण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। व्रतोंमें दोष लग जाने पर पक्ष, मास आदिकी दीक्षाका छेद (नाश) करके पुनः व्रतोंमें स्थापना करना अथवा सङ्कल्प और विकल्पोंका त्याग करना भी छेदोपस्थापना चारित्र है।

जिस चारित्रमें जीवोंकी हिंसाका त्याग होनेसे विशेष शुद्धि (कर्ममलका नाश) हो उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। जिस मुनिकी आयु बत्तीस वर्षकी हो, जो बहुत काल तक तीर्थंकरके चरणोंमें रह चुका हो, प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्वमें कहे गये सम्यक् आचारका जानने वाला हो, प्रमाद रहित हो और तीनों सन्ध्याओं को छोड़कर केवल दो गव्यूति (चार मील) गमन करने वाला हो उस मुनिके परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। तीर्थंकरके पादमूलमें रहनेका काल वर्षपृथक्त्व (तीन वर्षसे अधिक और नौ वर्षसे कम) है।

जिस चारित्रमें अति सूक्ष्म लोभ कषायका उदय रहता है उसको सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र कहते हैं।

सम्पूर्ण मोहनीयके उपशम या क्षय होने पर आत्माके अपने स्वरूपमें स्थिर होनेको यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यथाख्यातका अर्थ है कि आत्माके स्वरूपको जैसा का तैसा कहना। यथाख्यातका दूसरा नाम अथाख्यात भी है जिसका अर्थ है कि इस प्रकारके उत्कृष्ट चारित्रको जीवने पहिले प्राप्त नहीं किया था और मोहके क्षय या उपशम हो जाने पर प्राप्त किया है। सामायिक आदि चारित्रोंमें उत्तरोत्तर गुणोंकी उत्कृष्टता होनेसे इनका क्रम से वर्णन किया गया है।

बाह्य तप—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकाय-क्लेशाः बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और काय-क्लेश ये छह बाह्य तप हैं।

फलकी अपेक्षा न करके संयमकी वृद्धिके लिये, रागके नाशके लिये, कर्मोंके क्षयके लिये, ध्यानप्राप्ति और शास्त्राभ्यास आदिके लिये जो उपवास किया जाता है वह अनशन है। संयममें सावधान रहनेके लिये, पित्त, श्लेष्म आदि दोषोंके उपशमनके लिये, ज्ञान, ध्यान आदिकी सिद्धिके लिये कम भोजन करना अवमौदर्य है। वृत्ति अर्थात् भोजनकी प्रवृत्तिमें परि-संख्यान अर्थात् सब प्रकारसे मर्यादा करना वृत्तिपरिसंख्यान है। तात्पर्य यह है कि भोजन को जाते समय एक घर, एक गली आदिमें भोजन करनेका नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान है। इन्द्रियोंके निग्रहके लिये, निद्राको जीतनेके लिये और स्वाध्याय आदिकी सिद्धिके लिये घृत आदि रसोंका त्याग कर देना रसपरित्याग है। ब्रह्मचर्यकी सिद्धि और स्वाध्याय, ध्यान आदिकी प्राप्तिके लिये प्राणीपीडासे रहित एकान्त और शून्य घर गुफा आदिमें सोना और बैठना विविक्तशय्यासन है। गर्मीमें, घाममें, शीत ऋतुमें खुले स्थानमें और वर्षा में वृक्षोंके नीचे बैठकर ध्यान आदिके द्वारा शरीरको कष्ट देना कायक्लेश है। कायक्लेश करनेसे शारीरिक सुखोंकी इच्छा नहीं रहती है, शारीरिक दुःखोंके सहन करनेकी शक्ति आती है और जैनधर्मकी प्रभावना आदि होती है।

कायक्लेश स्वयं इच्छानुसार किया जाता है और परीषह विना इच्छाके होता है यह कायक्लेश और परीषहमें भेद है।

यह छह प्रकारका तप बाह्य वस्तुओंकी अपेक्षासे होता है और दूसरे लोगोंको प्रत्यक्ष होता है अतः इसको बाह्य तप कहते हैं।

आभ्यन्तर तप—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं।

प्रमाद अथवा अज्ञानसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना प्रायश्चित्त है। उत्कृष्ट चारित्र के धारक मुनिको 'प्राय' और मनको चित्त कहते हैं। अतः मनकी शुद्धि करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहते हैं। ज्येष्ठ मुनियोंका आदर करना विनय है। बीमार मुनियोंकी शरीरके द्वारा अथवा पैर दबाकर या अन्य किसी प्रकारसे सेवा करना वैयावृत्त्य है। ज्ञानकी भावनामें आलस्य नहीं करना स्वाध्याय है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर देना व्युत्सर्ग है। मनकी चञ्चलताको रोककर एक अर्थमें मनको लगाना ध्यान है।

इन तपोंमें आभ्यन्तर अर्थात् मनका नियमन (वशीकरण) होनेसे और दूसरे लोगों को प्रत्यक्ष न होनेसे इनको आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आभ्यन्तर तपोंके उत्तर भेद—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमम् ॥ २१ ॥

क्रमसे प्रायश्चितके नव, विनय के चार, वैयावृत्त्य के दश, स्वाध्यायके पाँच और व्युत्सर्गके दो भेद होते हैं।

प्रायश्चित्तके नव भेद—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना—ये प्रायश्चित्त के नव भेद हैं।

एकान्त में बैठे हुए, प्रसन्न; दोष, देश और कालको जाननेवाले गुरुके सामने निष्कपट भावसे विनयसहित और भगवती आराधनामें बतलाये हुए दश प्रकारके दोषोंसे रहित विधिसे अपने दोषोंको प्रगट कर देना आलोचना है।

आलोचनाके दश दोष इस प्रकार हैं—१ गुरुमें अनुकम्पा उत्पन्न करके आलोचना करना आकम्पित दोष है। २ वचनोंसे अनुमान करके आलोचना करना अनुमानित दोष है। ३ लोगोंने जिस दोषको देख लिया हो उसीकी आलोचना करना दृष्टदोष है। ४ मोटे या स्थूल दोषोंकी ही आलोचना करना बादरदोष है। ५ अल्प या सूक्ष्म दोष की ही आलोचना करना सूक्ष्म दोष है। ६ किसीके द्वारा उसके दोषको प्रकाशित किये जानेपर कहना कि जिस प्रकारका दोष इसने प्रकाशित किया है उसी प्रकारका दोष मेरा भी है। इस प्रकार गुप्त दोष की आलोचना करना प्रच्छन्न दोष है। ७ कोलाहलके बीचमें आलोचना करना जिससे गुरु ठीक तरहसे न सुन सके सो शब्दाकुलित दोष है। ८ बहुत लोगोंके सामने आलोचना करना बहुजन दोष है। ९ दोषों को नहीं समझनेवाले गुरुके पास आलोचना करना अव्यक्तदोष है। १० ऐसे गुरुके पास उस दोषकी आलोचना करना जो दोष उस गुरुमें भी हो, यह तत्सेवी दोष है।

यदि पुरुष आलोचना करे तो एक गुरु और एक शिष्य इस प्रकार दोके आश्रयसे आलोचना होती है। और यदि स्त्री आलोचना करे तो चन्द्र, सूर्य, दीपक आदिके प्रकाशमें एक गुरु और दो स्त्रियाँ अथवा दो गुरु और एक स्त्री इस प्रकार तीनके होनेपर आलोचना होती है। आलोचना नहीं करनेवालेको दुर्धरतप भी इच्छित फलदायक नहीं होता है।

अपने दोषोंको उच्चारण करके कहना कि मेरे दोष मिथ्या हों प्रतिक्रमण है। गुरुकी आज्ञासे प्रतिक्रमण शिष्य को ही करना चाहिये और आलोचनाको देकर आचार्यको प्रतिक्रमण करना चाहिये।

शुद्ध होनेपर भी अशुद्ध होनेका संदेह या विपर्यय हो अथवा अशुद्ध होनेपर भी जहाँ शुद्धता का निश्चय हो वहाँ आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना चाहिये इसको तदुभय कहते हैं। जिस वस्तुके न खानेका नियम हो उस वस्तुके बर्तन या मुखमें आ जाने पर अथवा जिन वस्तुओंसे कषाय आदि उत्पन्न हो उन सब वस्तुओंका त्याग कर देना विवेक है। नियतकाल पर्यन्त शरीर, वचन और मनका त्याग कर देना व्युत्सर्ग है। उपवास आदि छह प्रकारका बाह्यतप तप प्रायश्चित्त है। दिन, पक्ष, मास आदि दीक्षाका छेद कर देना छेद प्रायश्चित्त है। दिन, पक्ष, मास आदि नियत काल तक संघसे पृथक् कर देना परिहार है। महाव्रतोंका मूलच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है।

आलोचना आदि किन किन दोषोंके करने पर किये जाते हैं—

आचार्यसे बिना पूछे आतापन आदि योग करने पर, पुस्तक पीछी आदि दूसरोंके उपकरण लेने पर, परोक्षमें प्रमादसे आचार्यकी आज्ञाका पालन नहीं करने पर, आचार्यसे बिना पूछे आचार्यके कामको चले जाकर आनेपर, दूसरे संघसे बिना पूछे अपने संघमें आ जाने पर, नियत देश कालमें करने योग्य कार्यको धर्मकथा आदिमें व्यस्त रहनेके कारण भूल जाने पर कालान्तरमें करने पर आलोचना की जाती है। छह इन्द्रियोंमें से वचन आदि की दुष्प्रवृत्ति होनेपर, आचार्य आदिसे हाथ, पैर आदिका संघट्ट (रगड़) होजाने पर, व्रत, समिति और गुप्तियोंमें स्वल्प अतिचार लगनेपर, पैशुन्य, कलह आदि करने पर, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय आदिमें प्रमाद करने पर, काम-विकार होने पर और दूसरोंको संक्लेश आदि देनेपर प्रतिक्रमण किया जाता है। दिन और रात्रिके अन्तमें भोजन गमन आदि करने पर, केशलोंच करने पर, नखोंका छेद करने पर, स्वप्नदोष होने पर, रात्रिभोजन करने पर और पक्ष, मास, चार मास, वर्ष पर्यन्त दोष करने पर आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों होते हैं। मौनके बिना केशलोंच करनेमें, पेटसे कीड़े निकलनेपर, हिमपात मच्छर या प्रचण्ड वायुसे संघर्ष होने पर, गीली भूमि पर चलने पर, हरे घास पर चलने पर, कीचड़में चलने पर, जङ्घातक जलमें घुसने पर, दूसरेकी वस्तुको अपने काममें लेने पर, नाव आदिसे नदी पार करने पर, पुस्तकके गिर जानेपर, प्रतिमाके गिर जाने पर, स्थावर जीवोंके विघात होने पर, बिना देखे स्थानमें शौच आदि करने पर, पाक्षिक प्रतिक्रमण व्याख्यान आदि क्रियाओं के अन्तमें, अनजानमें मल निकल जाने पर व्युत्सर्ग किया जाता है। इसी प्रकार तप, छेद आदि करनेके विषयमें आगमसे ज्ञान कर लेना चाहिये। नव प्रकारके प्रायश्चित्त करनेसे भावशुद्धि, चञ्चलताका अभाव, शल्यका परिहार और धर्ममें दृढ़ता आदि होती है।

विनयके भेद—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय ये चार विनय हैं।

आलस्य रहित होकर, देश काल भाव आदि की शुद्धिपूर्वक, विनय सहित मोक्षके लिये यथाशक्ति ज्ञानका ग्रहण, स्मरण आदि करना ज्ञानविनय है। तत्त्वोंके श्रद्धानमें शंका, कांक्षा आदि दोषोंका न होना दर्शनविनय है। निर्दोष चारित्रका स्वयं पालन करना और चारित्र धारक पुरुषोंकी भक्ति आदि करना चारित्रविनय है। आचार्य, उपाध्याय, आदिको देखकर खड़े होना, नमस्कार करना तथा उनके परोक्षमें परोक्ष विनय करना, उनके गुणोंका स्मरण करना आदि उपचार विनय है। विनयके होने पर ज्ञानलाभ, आहारविशुद्धि सम्यगाराधना आदि होती है।

वैयावृत्त्यके भेद—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंकी सेवा करना सो दश प्रकारका वैयावृत्त्य है।

जो स्वयं व्रतोंका आचरण करते हैं और दूसरोंको कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं। जिनके पास शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। जो महोपवास आदि

तपोंको करते हैं वे तपस्वी हैं । शास्त्रोंके अध्ययन करनेमें तत्पर मुनियोंको शैक्ष्य कहते हैं । रोग आदिसे जिसका शरीर पीड़ित हो उस मुनिको ग्लान कहते हैं । वृद्ध मुनियोंके समूहको गण कहते हैं । दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्योंके समूहको कुल कहते हैं । ऋषि, मुनि यति और अनगार इन चार प्रकारके मुनियोंके समूहको संघ कहते हैं अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओंके समूहको संघ कहते हैं । जो चिरकालसे दीक्षित हो उसको साधु कहते हैं । वक्तृत्व आदि गुणोंसे शोभित और लोगों द्वारा प्रशंसित मुनिको मनोज्ञ कहते हैं । इस प्रकारके असंयत सम्यग्दृष्टिको भी मनोज्ञ कहते हैं ।

इन दश प्रकारके मुनियोंको व्याधि होनेपर प्रासुक, औषधि, भक्तपान आदि पथ्यवस्तु, स्थान और संस्तरण आदिके द्वारा उनकी वैयावृत्ति करना चाहिये । इसी प्रकार धर्मोपकरणों को देकर, परीषहोंका नाश कर, मिथ्यात्व आदिके होनेपर सम्यक्त्वमें स्थापना करके तथा बाह्य वस्तुके न होनेपर अपने शरीरसे ही श्लेष्म आदि शरीरमलको पोंछ करके वैयावृत्ति करनी चाहिये । वैयावृत्य करनेसे समाधिकी प्राप्ति, ग्लानिका अभाव और प्रवचन वात्सल्य आदि की प्रकटता होती है ।

स्वाध्यायके भेद—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पाँच भेद हैं ।

फलकी अपेक्षा न करके शास्त्र पढ़ना शास्त्रका अर्थ कहना और अन्य जीवोंके लिये शास्त्र और अर्थ दोनोंका व्याख्यान करना वाचना है । संशयको दूर करनेके लिये अथवा निश्चयको दृढ़ करनेके लिये ज्ञात अर्थको गुरुसे पूछना पृच्छना है । अपनी उन्नति दिखाने, पर प्रतारण, उपहास आदिके लिये की गई पृच्छना संवरका कारण नहीं होती है ।

एकाग्र मनसे जाने हुए अर्थका बार बार अभ्यास या विचार करना अनुप्रेक्षा है । शुद्ध उच्चारण करते हुए पाठ करनेको आम्नाय कहते हैं । दृष्ट और अदृष्ट फलकी अपेक्षा न करके असंयमको दूर करनेके लिये, मिथ्यामार्गका नाश करनेके लिये और आत्माके कल्याण के लिये धर्मकथा आदिका उपदेश करना धर्मोपदेश है ।

स्वाध्याय करनेसे बुद्धि बढ़ती है, अध्यवसाय प्रशस्त होता है, तपमें वृद्धि होती है । प्रवचनकी स्थिति होती है, अतीचारोंकी शुद्धि होती है । संशयका नाश होता है, मिथ्यावादियोंका भय नहीं रहता है और संवेग होता है ।

व्युत्सर्गके भेद—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

बाह्योपधि व्युत्सर्ग और आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग ये दो व्युत्सर्ग हैं । धन, धान्य आदि बाह्य परिग्रहका त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है और काम, क्रोध, आदि आत्माके दुष्ट भावोंका त्याग करना आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग है । नियत काल तक अथवा यावज्जीवनके लिये शरीरका त्याग कर देना सो भी आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है । व्युत्सर्गसे निर्ममत्व, निर्भयता, दोषोंका नाश, जीनेकी आशाका नाश और मोक्षमार्गमें तत्परता आदि होती हैं ।

ध्यानका स्वरूप—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

चित्तको अन्य विकल्पोंसे हटाकर एक ही अर्थमें लगानेको ध्यान कहते हैं। ध्यान उत्तमसंहनन वालोंके अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है।

वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तम संहनन कहलाते हैं। ध्यानके आलम्बन भूत द्रव्य या पर्याय को 'अग्र' और एक 'अग्र' प्रधान वस्तुको 'एकाग्र' कहते हैं। एकाग्रमें चिन्ताका निरोध करना अर्थात् अन्य अर्थोंकी चिन्ता या विचार छोड़कर एक ही अर्थका विचार करना ध्यान कहलाता है। ध्यानका विषय एक ही अर्थ होता है। जबतक चित्तमें नाना प्रकारके पदार्थोंके विचार आते रहेंगे तब तक वह ध्यान नहीं कहला सकता। अतः एकाग्रचिन्तानिरोधका ही नाम ध्यान है। ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त है। किसी एक अर्थमें बहुतकाल तक चित्तको लगाना अधिक कठिन है अतः अन्तर्मुहूर्तके बाद एकाग्र-चिन्तानिरोध नहीं हो सकता। यदि अन्तर्मुहूर्तके लिये निश्चल रूपसे एकाग्रचिन्तानिरोध हो जाय तो सर्व कर्मोंका क्षय शीघ्र हो जाता है।

प्रश्न—चिन्ताके निरोध करनेको ध्यान कहा गया है और निरोध अभावको कहते हैं। यदि एक अर्थमें चिन्ताका अभाव (एकाग्र चिन्ता निरोध) ध्यान है तो ध्यान गगन-कुसुमकी तरह असत् हो जायगा।

उत्तर—ध्यान सत् भी है और असत् भी है। ध्यानमें केवल एक ही अर्थकी चिन्ता रहती है अतः ध्यान सत् है तथा अन्य अर्थोंकी चिन्ता नहीं रहती है अतः ध्यान असत् भी है। अथवा निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं करेंगे। जब निरोध शब्द भाववाचक होता है तब उसका अर्थ अभाव होता है और जब कर्मवाचक होता है तब उसका अर्थ होता है वह वस्तु जो निरुद्धकी गई (रोकी गई) हो। अतः इस अर्थमें एक अर्थमें अविचल ज्ञानका नाम ही ध्यान होगा। निश्चल दीपशिखाकी तरह निस्तरङ्ग ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं।

तीन उत्तम संहननोंमें से प्रथम संहननसे ही मुक्ति होती है। अन्य दो संहननोंसे ध्यान तो होता है किन्तु मुक्ति नहीं होती है।

ध्यानके भेद—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यानके चार भेद हैं।

दुःखावस्थाको प्राप्त जीवका जो ध्यान (चिन्ता) है उसको आर्त्तध्यान कहते हैं। रुद्र (क्रूर) प्राणी द्वारा किया गया कार्य अथवा विचार रौद्रध्यान है। वस्तुके स्वरूपमें चित्तको लगाना धर्म्यध्यान है। जीवोंके शुद्ध परिणामोंसे जो ध्यान किया जाता है वह शुक्लध्यान है।

प्रथम दो ध्यान पापास्रवके कारण होनेसे अप्रशस्त ध्यान कहलाते है और कर्ममलको नष्ट करनेमें समर्थ होनेके कारण धर्म्य और शुक्ल ध्यान प्रशस्त ध्यान कहलाते हैं।

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

इनमें धर्म्य और शुक्ल ध्यान मोक्षके कारण हैं। धर्म्यध्यान परम्परासे मोक्षका

कारण होता है और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्षका कारण होता है, लेकिन उपशम श्रेणीकी अपेक्षासे तीसरे भवमें मोक्षका दायक होता है।

जब धर्म्य और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं तो यह स्वयं सिद्ध है कि आर्त और रौद्र ध्यान संसारके कारण हैं।

आर्त्तध्यानका स्वरूप और भेद—

आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अनिष्ट पदार्थके संयोग हो जाने पर उस अर्थको दूर करनेके लिये बार बार विचार करना सो अनिष्टसंयोगज नामक प्रथम आर्त्तध्यान है। अनिष्ट अर्थ चेतन और अचेतन दोनों प्रकारका होता है। कुरूप दुर्गन्धयुक्त शरीर सहित स्त्री आदि तथा भयको उत्पन्न करने वाले शत्रु, सर्प आदि अमनोज्ञ चेतन पदार्थ हैं। और शस्त्र, विष, कण्टक आदि अमनोज्ञ अचेतन पदार्थ हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

स्त्री, पुत्र, धान्य आदि इष्ट पदार्थके वियोग होजाने पर उसकी प्राप्तिके लिये बार बार विचार करना सो इष्टसंयोगज नामक द्वितीय आर्त्तध्यान है।

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

वेदना (रोगादि) के होनेपर उसको दूर करनेके लिये बार बार विचार करना सो वेदनाजन्य तृतीय आर्त्तध्यान है। रोगके होनेपर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है, इस रोगका नाश कब होगा इस प्रकार सदा रोगजन्य दुःखका ही विचार करते रहनेका नाम तृतीय आर्त्तध्यान है।

निदानश्च ॥ ३३ ॥

भविष्य कालमें भोगोंकी प्राप्तिकी आकांक्षामें चित्तको बार बार लगाना सो निदानज नामक चतुर्थ आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यानके स्वामी—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥

ऊपर कहा हुआ चार प्रकारका आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतोंके होता है। व्रतोंका पालन न करनेवाले प्रथम चार गुणस्थानोंके जीव अविरत कहलाते हैं। पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक देशविरत हैं। और पन्द्रह प्रमादसहित छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिको प्रमत्तसंयत कहते हैं। प्रथम पाँच गुणस्थानवर्ती जीवोंके चारों प्रकारका आर्त्तध्यान होता है लेकिन छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिके निदानको छोड़कर अन्य तीन आर्त्तध्यान होते हैं।

प्रश्न—देशविरतके निदान आर्त्तध्यान नहीं हो सकता है क्योंकि निदान एक शल्य है और शल्य सहित जीवके व्रत नहीं हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि देशविरतके निदान शल्य नहीं हो सकती है।

उत्तर—देशविरत अणुव्रतोंका धारी होता है और अणुव्रतोंके साथ स्वल्प निदान

रह भी सकता है। अतः देशविरतमें चारों आर्त्तध्यान होते हैं। प्रमत्तसंयतके प्रमादके उदयकी अधिकता होनेसे तीन आर्त्तध्यान कभी कभी होते हैं।

रौद्रध्यानका स्वरूप व स्वामी—

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षण (विषयोंमें इन्द्रियों की प्रवृत्ति) इन चार वृत्तियोंसे रौद्रध्यान होता है। इन चार कार्यों के विषयमें सदा विचार करते रहना और इन कार्यों में प्रवृत्ति करना सो रौद्रध्यान है। रौद्रध्यान अविरत और देशविरत गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है।

प्रश्न—अविरत जीवके रौद्रध्यानका होना तो ठीक है लेकिन देशविरतके रौद्रध्यान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—देशविरतके भी रौद्र ध्यान कभी कभी होता है। क्योंकि एकदेशसे विरत होनेके कारण कभी कभी हिंसा आदिमें प्रवृत्ति और धनसंरक्षण आदिकी इच्छा होनेसे देश विरतके रौद्रध्यान होता है। लेकिन सम्यग्दर्शन सहित होनेके कारण इसका रौद्र ध्यान नरकादि गतियोंका कारण नहीं होता है। सम्यग्दर्शन सहित जीव नारकी, तिर्यञ्च, नपुंसक और स्त्री पर्यायमें उत्पन्न नहीं होता है तथा दुष्कुल, अल्पायु और दरिद्रताको प्राप्त नहीं करता है। प्रमत्तसंयतके रौद्रध्यान नहीं होता है क्योंकि रौद्रध्यानके होने पर असंयम हो जाता है।

धर्मध्यानका स्वरूप व भेद—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय, ये धर्म्यध्यानके चार भेद हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इनके विषयमें चिन्तवन करनेको धर्म्य ध्यान कहते हैं।

आज्ञाविचय—आप्तवक्ताके न होनेपर, स्वयं मन्दबुद्धि होनेपर, पदार्थों के अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण, हेतु, दृष्टान्त आदिका अभाव होने पर जो आसन्न भव्य जीव सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रको प्रमाण मानकर यह स्वीकार करता है कि जैनागममें वस्तुका जो स्वरूप बतलाया वह वैसा ही है, जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश मिथ्या नहीं होता है। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थके विषयमें जिनेन्द्रकी आज्ञाको प्रमाण मानकर अर्थके स्वरूपका निश्चय करना आज्ञाविचय है। अथवा वस्तुके तत्त्वको यथावत् जाननेपर भी उस वस्तुको प्रतिपादन करनेकी इच्छासे तर्क, प्रमाण और नयके द्वारा उस वस्तुके स्वरूपका चिन्तवन या प्रतिपादन करना आज्ञाविचय है।

अपायविचय—मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्धके समान हैं वे सर्वज्ञ-वीतराग प्रणीत मार्गसे पराङ्मुख रहते हुए भी मोक्षकी इच्छा करते हैं लेकिन उसके मार्गको नहीं जानते हैं। इस प्रकार सन्मार्गके विनाशका विचार करना अपायविचय है। अथवा इन प्राणियोंके मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका विनाश कैसे होगा इस पर विचार करना अपायविचय है।

विपाकविचय—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके अनुसार होनेवाले ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके फलका विचार करना विपाकविचय है।

संस्थानविचय—तीन लोकके आकारका विचार करना संस्थान विचय है।

उक्त चार प्रकारके ध्यानको धर्म्यध्यान कहते हैं क्योंकि इनमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंका सद्भाव पाया जाता है। धर्मके अनेक अर्थ होते हैं। वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं। उत्तम क्षमा आदिको धर्म कहते हैं। चारित्रको धर्म कहते हैं। जीवोंकी रक्षाको धर्म कहते है।

अप्रमत्त संयत मुनिके साक्षात् धर्म्यध्यान होता है और अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत जीवोंके गौण धर्म्य ध्यान होता है।

शुक्लध्यानके स्वामी—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३७ ॥

पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवलीके होते हैं। 'च' शब्दसे श्रुतकेवलीके धर्म्य ध्यान भी होता है। श्रुतकेवलीके श्रेणी चढ़नेके पहिले धर्म्य ध्यान होता है। दोनों श्रेणियोंमें पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो शुक्ल ध्यान होते हैं। श्रुतकेवलीके आठवें गुणस्थानसे पहिले धर्म्यध्यान होता है और आठवें नवें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थानोंमें पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान होता है और बारहवें गुणस्थानमें एकत्ववितर्क शुक्लध्यान होता है।

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान सयोगकेवलीके और व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान अयोगकेवलीके होता है।

शुक्लध्यानके भेद—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति—ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं।

पैरोंसे गमन न करके पद्मासनसे ही गमन करनेको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। इस प्रकार की सूक्ष्मक्रिया जिसमें पाई जाय वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान है और जिसमें सूक्ष्मक्रियाका भी विनाश हो गया हो वह व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यानके आलम्बन—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

उक्त चार शुक्लध्यान क्रमसे तीन योग, एक योग, काययोग और योगरहित जीवों के होते हैं। अर्थात् मन, वचन और काययोगवाले जीवोंके पृथक्त्ववितर्क, तीन योगों में से एकयोगवाले जीवोंके एकत्ववितर्क, काययोगवालोंके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और योगरहित जीवोंके व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान होता है।

आदिके दो ध्यानोंकी विशेषता—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो शुक्लध्यान परिपूर्ण श्रुतज्ञान धारी जीवके

होते हैं तथा वितर्क और वीचार सहित होते हैं। सम्पूर्ण श्रुतज्ञानका धारी जीव ही इन ध्यानोंका प्रारम्भ करता है।

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

लेकिन दूसरा शुक्लध्यान वीचाररहित है। अतः पहिले शुक्ल ध्यानका नाम पृथक्त्ववितर्कवीचार है और द्वितीय शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्कावीचार है।

वितर्कका लक्षण—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। वितर्कका अर्थ है विशेषरूपसे तर्क या विचार करना। प्रथम और द्वितीय शुक्लध्यान श्रुतज्ञानके बलसे होते हैं अतः दोनों ध्यान सवितर्क हैं।

वीचारका लक्षण—

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ, व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं।

ध्यान करने योग्य पदार्थ (द्रव्य या पर्याय) को अर्थ कहते हैं। वचन या शब्द को व्यञ्जन कहते हैं। और मन, वचन और कायके व्यापारको योग कहते हैं। संक्रान्तिका अर्थ है परिवर्तन।

अर्थसंक्रान्ति—द्रव्यको छोड़कर पर्यायका ध्यान करना और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करना इस प्रकार बार बार ध्येय अर्थमें परिवर्तन होना अर्थसंक्रान्ति है।

व्यञ्जनसंक्रान्ति—श्रुतज्ञानके किसी एक शब्दको छोड़कर अन्य शब्दका आलम्बन लेना और उसको छोड़कर पुनः अन्य शब्दको ग्रहण करना व्यञ्जनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति—काय योग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोगको ग्रहण करना और इनको छोड़कर पुनः काययोगको ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है।

प्रश्न—इस प्रकारकी संक्रान्ति होनेसे ध्यानमें स्थिरता नहीं रह सकती है और स्थिरता न होनेसे वह ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि एकाग्रचिन्तानिरोधका नाम ध्यान है।

उत्तर—ध्यानकी सन्तानको भी ध्यान कहते हैं। द्रव्यकी सन्तान पर्याय है। एक शब्दकी सन्तान दूसरा शब्द है। एक योगकी सन्तान दूसरा योग है। अतः एक सन्तानको छोड़कर दूसरी सन्तानका ध्यान करनेसे वह ध्यान एक ही रहेगा। एक सन्तानके ध्यानसे दूसरी सन्तानका ध्यान भिन्न नहीं है। अतः सक्रान्ति होनेपर भी ध्यानमें स्थिरता मानी जायगी।

गुप्ति आदिमें अभ्यस्त, द्रव्य और पर्याय की सूक्ष्मताका ध्यान करनेवाले, वितर्ककी सामर्थ्यको प्राप्तकर अर्थ और व्यञ्जन तथा काययोग और वचनयोगको पृथक् पृथक् रूपसे संक्रमण करनेवाले मन द्वारा जैसे कोई असमर्थ बालक अतीक्ष्ण कुठारसे वृक्षको काटता है उसी प्रकार मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेवाले मुनिके पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान होता है।

मोहनीय कर्मका समूल नाश करनेकी इच्छा करनेवाले, अनन्तगुणविशुद्धिसहित योगविशेषके द्वारा ज्ञानावरणकी सहायक प्रकृतियोंके बन्धका निरोध और स्थितिका ह्रास

करनेवाले, श्रुतज्ञानोपयोगवाले, अर्थ व्यञ्जन और योगकी संक्रान्ति रहित, क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनिके एकत्ववितर्क शुक्लध्यान होता है। एकत्ववितर्कध्यानवाला मुनि उस अवस्थासे नीचेकी अवस्थामें नहीं आता है।

एकत्ववितर्क ध्यानके द्वारा जिसने घातिया कर्मोंका नाश कर दिया है, जिसके केवल ज्ञानरूपी सूर्यका उदय हो गया है ऐसे तीन लोकमें पूज्य तीर्थंकर, सामान्यकेवली अथवा गणधरकेवली उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटी भूमण्डलमें विहार करते हैं। जब अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाती है और वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त रहती है तब वे सम्पूर्ण मन और वचन योग तथा बादर काययोगको छोड़कर सूक्ष्म काययोगमें स्थित होकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं। और जब वेदनीय नाम और गोत्र कर्मकी स्थिति आयु कर्मसे अधिक होती है तब वे चार समयोंमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातके द्वारा आत्माके प्रदेशों को बाहर फैलाते हैं और पुनः चार समयोंमें आत्माके प्रदेशोंको समेट कर अपने शरीरप्रमाण करते हैं। ऐसा करनेसे वेदनीय नाम और गोत्रकी स्थिति आयु कर्मके बराबर हो जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर आदि दण्ड कपाट आदि समुद्घात करके सूक्ष्मकाययोगके आलम्बनसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते हैं।

इसके अनन्तर व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान होता है। इसका दूसरा नाम समुच्छिन्न-क्रियानिवर्ति भी है। इस ध्यानमें प्राणापानक्रियाका तथा मन,वचन और काययोगके निमित्तसे होने वाले आत्माके प्रदेश परिस्पंदनका सम्पूर्ण विनाश हो जानेसे इसको समुच्छिन्नक्रिया-निवर्ति कहते हैं। इस ध्यानको करनेवाला मुनि सम्पूर्ण आस्रव और बन्धका निरोध करता है, सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन और यथाख्यातचारित्र को प्राप्त करता है और ध्यान रूपी अग्निके द्वारा सर्व कर्म-मलका नाश करके निर्वाणको प्राप्त करता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यानमें यद्यपि चिन्ताका निरोध नहीं है फिर भी उपचारसे उनको ध्यान कहते हैं। क्योंकि वहां भी अघातिया कर्मोंके नाश करने के लिये योगनिरोध करना पड़ता है। यद्यपि केवलीके ध्यान करने योग्य कुछ भी नहीं है फिर भी उनका ध्यान अधिक स्थितिवाले कर्मोंकी सम स्थिति करनेके लिये होता है। ध्यानसे प्राप्त होने वाला निर्वाण सुख है। मोहनीय कर्मके क्षयसे सुख,दर्शनावरणके क्षयसे अनन्त दर्शन,ज्ञाना-वरणके क्षयसे अनन्तज्ञान, अन्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य,आयुके क्षयसे जन्म-मरणका नाश, नामके क्षयसे अमूर्तत्व, गोत्रके क्षयसे नीच ऊँच कुलका क्षय और वेदनीयके क्षयसे इन्द्रिय-जन्य अशुभका नाश होता है।

एक इष्ट वस्तुमें जो स्थिर बुद्धि होती है उसको ध्यान कहते हैं। आर्त्त, रौद्र और धर्म्य ध्यानोंकी अपेक्षा जो चञ्चल मति होती है उसको चित्त, भावना, अनुप्रेक्षा, चिन्तन, ख्यापन आदि कहते हैं।

निर्जरामें न्यूनाधिकताका वर्णन—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक, दर्शनमोहका क्षय करने वाला, चारित्रमोहका उपशम करने वाला, उपशान्तमोहवाला, क्षपक-क्षीणमोह और जिनेन्द्र भगवान् इन सबके क्रमसे असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

कोई जीव बहुत काल तक एकेन्द्रिय और विकलत्रय पर्यायोंमें जन्म लेनेके बाद पञ्चेन्द्रिय होकर काल लब्धि आदिकी सहायतासे अपूर्वकरण आदि विशुद्ध परिणामोंको प्राप्त कर पहिलेकी अपेक्षा कर्मोंको अधिक निर्जरा करता है। वही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जराको करता है। वही जीव अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम करके श्रावक होकर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम करके विरत होकर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव अनन्तानुबन्धी चार कषायोंका विसंयोजन (अनन्तानुबन्धी कषायको अप्रत्याख्यान आदि कषायमें परिणत करना) करके पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव दर्शनमोहकी प्रकृतियोंको क्षय करनेकी इच्छा करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिको प्राप्त कर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणी चढ़नेके अभिमुख होता हुआ चारित्र मोहका उपशम करके पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव सम्पूर्ण चारित्रमोहके उपशम करनेके निमित्त मिलने पर उपशान्तकषाय नामको प्राप्त कर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव चारित्रमोहके क्षय करनेमें तत्पर होकर क्षपक नामको प्राप्त कर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जरा करता है। वही जीव सम्पूर्ण चारित्रमोहको क्षय करनेवाले परिणामोंको प्राप्तकर क्षीणमोह होकर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जराको करता है। और वही जीव घातिया कर्मोंका नाश करके जिन संज्ञाको प्राप्त कर पहिलेसे असंख्यातगुणी निर्जराको करता है।

निर्ग्रन्थोंके भेद—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये साधुओंके पाँच भेद हैं।

जो उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित हों तथा जिनके मूल गुणोंमें भी कभी कभी दोष लग जाता हो उनको पुलाक कहते हैं। पुलाकका अर्थ है मल सहित तण्डुल। पुलाकके समान कुछ दोषसहित होनेसे मुनियोंको भी पुलाक कहते हैं।

जो मूलगुणोंका निर्दोष पालन करते हैं लेकिन शरीर और उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेकी इच्छा रखते हैं और परिवारमें मोह रखते हैं उनको बकुश कहते हैं। बकुशका अर्थ है शबल (चितकबरा)।

कुशीलके दो भेद हैं—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील। जो उपकरण तथा शरीर आदिसे पूर्ण विरक्त न हों तथा जो मूल और उत्तर गुणोंका निर्दोष पालन करते हों लेकिन जिनके उत्तर गुणोंकी कभी कभी विराधना हो जाती हो उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं।

अन्य कषायों को जीत लेनेके कारण जिनके केवल संज्वलन कषायका ही उदय हो उनको कषायकुशील कहते हैं।

जिस प्रकार जलमें लकड़ीकी रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मोंका उदय अप्रकट हो और जिनको अन्तर्मुहूर्तमें केवल ज्ञान उत्पन्न होने वाला हो उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

घातिया कर्मोंका नाश करने वाले केवली भगवान्‌को स्नातक कहते हैं।

यद्यपि चारित्रके तारतम्यके कारण इनमें भेद पाया जाता है लेकिन नैगम आदि नय की अपेक्षासे इन पाँचो प्रकारके साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते है।

पुलाक आदि मुनियोंमें विशेषता—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४७ ॥

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगोंके द्वारा पुलाक आदि मुनियोंमें परस्पर विशेषता पाई जाती है।

पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन मुनियोंके सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होते हैं। कषायकुशीलके यथाख्यात चारित्रको छोड़कर अन्य चार चारित्र होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातकके यथाख्यातचारित्र होता है।

उत्कृष्टसे पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील मुनि अभिन्नाक्षर दशपूर्वके ज्ञाता होते हैं। अभिन्नाक्षरका अर्थ है—जो एक भी अक्षरसे न्यून न हो। अर्थात् उक्त मुनि दश पूर्वके पूर्ण ज्ञाता होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वके ज्ञाता होते हैं। जघन्यसे पुलाक आचार शास्त्रका निरूपण करते हैं। बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थ आठ प्रवचन मातृकाओंका निरूपण कहते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्तियोंको आठ प्रवचन मातृका कहते हैं। स्नातकोंके केवलज्ञान होता है, श्रुत नहीं होता।

व्रतोंमें दोष लगनेको प्रतिसेवना कहते हैं। पुलाकके पाँच महाव्रतों और रात्रि भोजन त्याग व्रतमें विराधना होती है। दूसरेके उपरोधसे किसी एक व्रत की प्रतिसेवना होती है। अर्थात् वह एक व्रतका त्याग कर देता है।

प्रश्न—रात्रिभोजन त्यागमें विराधना कैसे होती है ?

उत्तर—इसके द्वारा श्रावक आदिका उपकार होगा ऐसा विचारकर पुलाक मुनि विद्यार्थी आदिको रात्रिमें भोजन कराकर रात्रिभोजनत्याग व्रतका विराधक होता है।

बकुशके दो भेद हैं—उपकरण बकुश और शरीरबकुश। उपकरणबकुश नाना प्रकारके संस्कारयुक्त उपकरणोंको चाहता है और शरीरबकुश अपने शरीरमें तेलमर्दन आदि संस्कारोंको करता है यही दोनोंकी प्रतिसेवना है। प्रतिसेवनाकुशील मूलगुणोंकी विराधना नहीं करता है किन्तु उत्तर गुणोंकी विराधना कभी करता है इसकी यही प्रतिसेवना है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकके प्रतिसेवना नहीं होती है। ये पाँचों प्रकारके मुनि सब तीर्थंकरोंके समयमें होते हैं।

लिङ्गके दो भेद हैं—द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग। पाँचों प्रकारके मुनियोंमें भावलिङ्ग समान रूपसे पाया जाता है। द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षा उनमें निम्न प्रकारसे भेद पाया जाता है। 'कोई असमर्थ मुनि शीतकाल आदिमें कम्बल आदि वस्त्रों को ग्रहण कर लेते हैं लेकिन उस वस्त्रको न धोते हैं और न फट जाने पर सीते हैं तथा कुछ समय बाद उसको छोड़ देते हैं। कोई मुनि शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे लज्जाके कारण वस्त्रोंको ग्रहण कर लेते हैं।' इसी प्रकारका व्याख्यान भगवती आराधनामें अपवाद रूपसे बतलाया है। इसी आधारको मानकर कुछ लोग मुनियोंमें सचेलता (वस्त्र पहिरना) मानते हैं। लेकिन ऐसा मानना ठीक नहीं है। कभी किसी मुनिका वस्त्रधारण कर लेना तो केवल अपवाद है उत्सर्ग मार्ग तो अचेलकता ही है और वही साक्षात् मोक्षका कारण होती है। उपकरणकुशील मुनिकी अपेक्षा अपवाद मार्गका व्याख्यान किया गया है अर्थात् उपकरणकुशील मुनि कदाचित् अपवाद मार्ग पर चलते हैं।

पुलाकके पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना-कुशीलके छहों लेश्यायें होती हैं।

प्रश्न—बकुश और प्रतिसेवनाकुशीलके कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ कैसे होती हैं ?

उत्तर—पुलाकके उपकरणोंमें आसक्ति होनेसे और प्रतिसेवनाकुशीलके उत्तरगुणों में विराधना होनेके कारण कभी आर्त्तध्यान हो सकता है। अतः आर्तध्यान होनेसे आदिकी तीन लेश्याओंका होना भी संभव है। पुलाकके आर्त्तध्यानका कोई कारण न होनेसे अन्तकी तीन लेश्याएँ ही होती हैं। कषायकुशीलके अन्तकी चार लेश्याएँ ही होती हैं। कषायकुशीलके संज्वलन कषायका उदय होनेसे कापोत लेश्या होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातकके केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगकेवलीके लेश्या नहीं होती है।

उत्कृष्टसे, पुलाकका अठारह सागरकी स्थितिवाले सहस्रार स्वर्गके देवोंमें उत्पाद होता है। बकुश और प्रतिसेवनाकुशीलका बाईस सागर की स्थितिवाले आरण और अच्युत स्वर्गके देवोंमें उत्पाद होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थोंका तेंतीस सागरकी स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें उत्पाद होता है। सबका जघन्य उपपाद दो सागरकी स्थितिवाले सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंमें होता है। स्नातकका उपपाद मोक्षमें होता है।

कषायके निमित्तसे होने वाले संयम स्थान असंख्यात है। पुलाक और कषायकुशीलके सर्वजघन्य असंख्यात संयम स्थान होते हैं। वे दोनों एक साथ असंख्यात स्थानों तक जाते हैं, बादमें पुलाक साथ छोड़ देता है, इसके बाद कषायकुशील अकेला ही असंख्यात स्थानों तक जाता है। पुनः कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश एक साथ असंख्यात स्थानों तक जाते हैं, बादमें बकुश साथ छोड़ देता है। और असंख्यात स्थान जानेके बाद प्रतिसेवनाकुशील भी साथ छोड़ देता है। पुनः असंख्यात स्थान जानेके बाद कषायकुशील की भी निवृत्ति हो जाती है। इसके बाद निर्ग्रन्थ असंख्यात अकषायनिमित्तक संयम स्थानों तक जाता है और बादमें उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसके अनन्तर एक संयम स्थान तक जानेके बाद स्नातकको निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। स्नातक की संयमलब्धि अनन्तगुण होती है।

नवम अध्याय समाप्त

दसवाँ अध्याय

केवलज्ञानकी उत्पत्तिके कारण—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायके क्षय होनेसे तथा 'च' शब्दसे तीन आयु और नामकर्मकी तेरह प्रकृतियोंके क्षय होनेसे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

मोहनीयकी अट्ठाईस, ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नौ और अन्तरायकी पाँच प्रकृतियोंके क्षय होनेसे; देवायु, तिर्यगायु और नरकायुके क्षय होनेसे तथा साधारण, आतप, पञ्चेन्द्रियके बिना चार जाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी और उद्योत इन तेरह नामकर्मकी प्रकृतियोंके क्षय होनेसे (एकत्र त्रेसठ प्रकृतियोंके क्षयसे) केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रश्न—'मोहज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात् केवलम्' ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं बनाया ?

उत्तर—कर्मोंके क्षयका क्रम बतलानेके लिये सूत्रमें 'मोहक्षयात्' शब्दको पृथक् रक्खा है। पहिले मोहनीय कर्मका क्षय होता है और अन्तर्मुहूर्त बाद ज्ञानावरणादिका क्षय होता है। कर्मोंके क्षयका क्रम इस प्रकार है—

भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपने परिणामोंकी विशुद्धिसे असंयतसम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानोंमें से किसी एक गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी चार कषायोंका और दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। पुनः अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अधःकरण परिणामोंको प्राप्तकर क्षपकश्रेणी चढ़नेके अभिमुख होता हुआ अपूर्वकरण परिणामोंसे अपूर्वकरण गुणस्थानको प्राप्त करके शुभपरिणामोंसे पापकर्मोंकी स्थिति और अनुभागको कम करता है और शुभ कर्मोंके अनुभागको बढ़ाता है। पुनः अनिवृत्तिकरण परिणामोंसे अनिवृत्तिबादरसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त कर प्रत्याख्यान कषाय चार, अप्रत्याख्यान कषाय चार, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुंवेद, क्रोध, मान और मायासंज्वलनका बादरकृष्टि (उपायके द्वारा जिन कर्मोंकी निर्जरा की जाती है उन कर्मोंको किट्टि या कृष्टि कहते हैं। किट्टिके दो भेद हैं—बादरकृष्टि और सूक्ष्मकृष्टि) द्वारा क्षय करके लोभसंज्वलनको कृश करके सूक्ष्मसाम्पराय क्षपक गुणस्थानको प्राप्त करता है। पुनः मोहनीयका पूर्ण क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्तकर इस गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका क्षय करके और अन्त्य समयमें पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तरायोंका क्षय करके जीव केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करता है।

मोक्षका स्वरूप और कारण—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

बन्धके कारणोंका अभाव (संवर) और निर्जराके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंके नाश हो जानेको मोक्ष कहते हैं।

बन्धके कारण मिथ्यादर्शन आदिके न रहनेसे नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं होता है और निर्जराके द्वारा संचित कर्मोंका क्षय हो जाता है इस प्रकार संवर और निर्जराके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति होती है।

कर्मोंका क्षय दो प्रकारसे होता है— प्रयत्नसाध्य और अप्रयत्नसाध्य। जिस कर्मक्षय के लिये प्रयत्न करना पड़े वह प्रयत्नसाध्य है और जिसका क्षय स्वयं विना किसी प्रयत्नके हो जाय वह अप्रयत्नसाध्य कर्मक्षय है।

चरमोत्तमदेहधारी जीवके नरकायु, तिर्यञ्चायु और देवायुका क्षय अप्रयत्नसाध्य है। प्रयत्नसाध्य कर्मक्षय निम्न प्रकारसे होता है—

चौथे, पाँचवे, छठवें और सातवें गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोंका क्षय होता है। अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थानके नव भाग होते हैं। उनमें से प्रथम भागमें निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार जाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलह प्रकृतियोंका क्षय होता है। द्वितीय भागमें प्रत्याख्यान चार और अप्रत्याख्यान चार इन आठ कषायोंका क्षय होता है। तीसरे भागमें नपुंसक वेदका और चौथे भागमें स्त्रीवेदका क्षय होता है। पाँचवें भागमें हास्य आदि छह नोकषायोंका क्षय होता है। छठवें भागमें पुंवेदका क्षय होता है। सातवें, आठवें और नवमें भागोंमें क्रमसे क्रोध, मान और माया संज्वलनका क्षय होता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें लोभसंज्वलनका नाश होता है। बारहवें गुणस्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचलाका नाश होता है और अन्त्य समयमें पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायोंका क्षय होता है। सयोगकेवलीके किसी भी प्रकृतिका क्षय नहीं होता है। अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें एक वेदनीय, देवगति, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छह संस्थान, तीन अङ्गोपाङ्ग, छह संहनन, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्तविहायोगति, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र इन बहत्तर प्रकृतियों का क्षय होता है और अन्त्य समयमें एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र इन तेरह प्रकृतियों का क्षय होता है।

'क्या द्रव्य कर्मोंके क्षयसे ही मोक्ष होता है अथवा अन्यका क्षय भी होता है?' इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य निम्न सूत्रको कहते हैं—

औपशमिकादिभव्यत्वानाञ्च ॥ ३ ॥

औपशमिक, औदयिक, क्षयोपशमिक और भव्यत्व इन चार भावोंके क्षयसे मोक्ष होता है। 'च' शब्दका अर्थ है कि केवल द्रव्यकर्मोंके क्षयसे ही मोक्ष नहीं होता है किन्तु द्रव्यकर्मोंके क्षयके साथ भावकर्मोंके क्षयसे मोक्ष होता है। पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्व का ही क्षय होता है; जीवत्व, वस्तुत्व, अमूर्तत्व आदिका नहीं। यदि मोक्षमें इन भावोंका भी क्षय हो जाय तो मोक्ष शून्य हो जायगा। मोक्षमें अभव्यत्वके क्षयका तो प्रश्न ही नहीं हो सकता है क्योंकि भव्य जीवको ही मोक्ष होता है।

प्रश्न—द्रव्यकर्मके नाश हो जाने पर द्रव्यकर्मके निमित्तसे होनेवाले भावोंका नाश भी स्वयं सिद्ध हो जाता है। अतः इस सूत्रको बनानेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह कोई नियम नहीं है कि निमित्त के न होने पर कार्य नहीं होता है। किन्तु निमित्तके अभावमें भी कार्य देखा जाता है जैसे दण्ड, चक्र आदिके न होने पर भी घट देखा जाता है। अतः द्रव्यकर्मके नाश हो जाने पर भावकर्मोंका नाश भी हो जाता है इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उक्त सूत्र बनाया है।

मोक्षमें क्षायिक भावोंका क्षय नहीं होता है—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

मोक्षमें केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन चार भावोंका क्षय नहीं होता है।

प्रश्न—तो फिर मोक्षमें अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदिका क्षय हो जायगा।

उत्तर—अनन्तवीर्य, अनन्तसुख आदिका अन्तर्भाव ज्ञान और दर्शनमें ही हो जाता है। अनन्तवीर्य आदि रहित जीवके केवलज्ञान आदि नहीं हो सकते हैं। अतः केवलज्ञान आदिके सद्भावसे अनन्तवीर्य आदिका भी सद्भाव सिद्ध है।

प्रश्न—सिद्ध निराकार होते हैं अतः उनका अभाव क्यों नहीं हो जायगा ?

उत्तर—सिद्धोंकी आत्माके प्रदेश चरमशरीरके आकार होते हैं अतः उनका अभाव कहना ठीक नहीं है।

प्रश्न—कर्मसहित जीवके प्रदेश शरीरके आकार होते हैं। अतः शरीरका नाश हो जाने पर जीवके असंख्यात प्रदेशोंको लोक भरमें फैल जाना चाहिये।

उत्तर—नोकर्मका सम्बन्ध होने पर जीवके प्रदेशोंमें संहरण और विसर्पण होता है और नोकर्मका नाश हो जाने पर उनका संहरण-विसर्पण नहीं होता है।

प्रश्न—तो जिस प्रकार कारणके न रहने पर प्रदेशोंमें संहरण और विसर्पण नहीं होता है उसी प्रकार ऊर्ध्वगमनका कारण न रहने पर मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन भी नहीं होगा। अतः जीव जहां मुक्त हुआ है वहीं रहेगा।

उत्तर—मुक्त होनेके बाद जीवका ऊर्ध्वगमन होता है। ऊर्ध्वगमनके कारण आगे बतलाये जांयगे।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

सब कर्मोंके क्षय हो जानेके बाद जीव लोकके अन्तिम भागतक ऊपरको जाता है और वहां जाकर सिद्धशिलापर ठहर जाता है।

ऊर्ध्वगमनके कारण—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

पूर्वके संस्कारसे, कर्मके सङ्गरहित हो जानेसे, बन्धका नाश हो जानेसे और ऊर्ध्वगमनका स्वभाव होनेसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

संसारी जीवने मुक्त होनेसे पहिले कई बार मोक्षकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया है। अतः पूर्वका संस्कार रहनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जीव जब तक कर्मभारसहित रहता है तब तक संसारमें बिना किसी नियमके गमन करता है और कर्मभारसे रहित हो

जाने पर ऊपरको ही गमन करता है। अन्य जन्मके कारण गति, जाति आदि समस्त कर्म-बन्धके नाश हो जानेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है और आगममें जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करनेका बतलाया है अतः कर्मोंके नष्ट हो जाने पर अपने स्वभावके अनुसार जीवका ऊर्ध्व-गमन होता है। ये ऊर्ध्वगमनके चार कारण हैं।

उक्त चारों कारणोंके चार दृष्टान्त—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

घुमाये गये कुम्हारके चक्केकी तरह, लेपरहित तूंबीकी तरह, एरण्डके बीजकी तरह और अग्निकी शिखाकी तरह जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

जिस प्रकार कुम्हारके हाथ और दण्डेसे चाकको एक बार घुमा देने पर वह चाक पूर्व-संस्कारसे बराबर घूमता रहता है उसी प्रकार मुक्त जीव पूर्व संस्कारसे ऊर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार मिट्टीके लेपसहित तूंबी जलमें डूब जाती है और लेपके दूर होने पर ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मलेपरहित जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार एरण्ड (अण्ड) वृक्षका सूखा बीज फलीके फटने पर ऊपरको जाता है उसी प्रकार मुक्त जीव कर्मबन्ध रहित होनेसे ऊर्ध्वगमन करता है। और जिस प्रकार वायु रहित स्थानमें अग्निकी शिखा स्वभावसे ऊपरको जाती है उसी प्रकार मुक्तजीव भी स्वभावसे ही ऊर्ध्वगमन करता है।

प्रश्न—सङ्ग और बन्धमें क्या भेद है ?

उत्तर—परस्पर संयोग या संसर्ग हो जाना सङ्ग है और एक दूसरेमें मिल जाना-एक रूपमें स्थिति बन्ध है।

प्रश्न—यदि जीवका स्वभाव ऊर्ध्वगमन करनेका है तो लोकके बाहर अलोकाकाश में क्यों नहीं चला जाता ?

उत्तर—धर्मास्तिकायका अभाव होनेसे जीव अलोकाकाशमें नहीं जाता है।

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

गमनका कारण धर्म द्रव्य है। और अलोकाकाशमें धर्म द्रव्यका अभाव है। अतः आगे धर्म द्रव्य न होनेसे जीव लोकके बाहर गमन नहीं करता है। जीवका स्वभाव ऊर्ध्व-गमन करनेका है अतः लोकमें धर्मद्रव्यके होने पर भी जीव अधोगमन या तिर्यग्गमन नहीं करता है किन्तु ऊर्ध्वगमन ही करता है।

मुक्त जीवोंमें भेदके कारण—

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भेद पाया जाता है। क्षेत्र आदिका भेद निश्चयनय और व्यवहारनयकी अपेक्षासे किया जाता है।

क्षेत्रकी अपेक्षा निश्चयनयसे जीव आत्माके प्रदेशरूप क्षेत्रमें ही सिद्ध होता है और व्यवहारनयसे आकाशके प्रदेशोंमें सिद्ध होता है। जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्म-भूमियोंमें सिद्ध होता है और संहरणकी अपेक्षा मनुष्य लोकमें सिद्ध होता है। संहरण दो प्रकारसे होता है—स्वकृत और परकृत। चारण विद्याधरोंके स्वकृत संहरण होता है। तथा

देव आदिके द्वारा किया गया अन्य मुनियोंका संहरण परकृत संहरण है। देव आदि पूर्व वैरके कारण किसी मुनिको उठाकर समुद्र आदिमें डाल देते हैं। इसीको संहरण या हरण करना कहते हैं। जिस क्षेत्रमें जन्म लिया हो उसी क्षेत्रसे सिद्ध होनेको जन्मसिद्ध कहते हैं। किसी दूसरे क्षेत्रमें जन्म लेकर संहरणसे अन्य क्षेत्रमें सिद्ध होनेको संहरणसिद्ध कहते हैं।

कालकी अपेक्षा निश्चयनयसे जीव एक समयमें सिद्ध होता है। व्यवहारनयसे जन्मकी अपेक्षा सामान्य रूपसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है और विशेषरूपसे अवसर्पिणी कालके तृतीय कालके अन्तमें और चौथे कालमें उत्पन्न हुआ जीव सिद्ध होता है, और चौथे कालमें उत्पन्न हुआ जीव पाँचवें कालमें सिद्ध होता है। लेकिन पाँचवें कालमें उत्पन्न हुआ जीव पाँचवें कालमें सिद्ध नहीं होता है। तथा अन्य कालोंमें उत्पन्न हुआ जीव भी सिद्ध नहीं होता है। संहरणकी अपेक्षा सर्व उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंमें सिद्धि होती है।

गतिकी अपेक्षा सिद्धगति या मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है।

लिङ्गकी अपेक्षा निश्चयनयसे वेदके अभावसे सिद्धि होती है। व्यवहारनयसे तीनों भाववेदोंसे सिद्धि होती है लेकिन द्रव्यवेदकी अपेक्षा पुंवेदसे ही सिद्धि होती है। अथवा निर्ग्रन्थलिङ्ग या सग्रन्थलिङ्गसे सिद्धि होती है (भूतपूर्वनयकी अपेक्षा)।

तीर्थकी अपेक्षा कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं और कोई सामान्यकेवली होकर सिद्ध होते हैं। सामान्यकेवली भी या तो किसी तीर्थंकरके रहने पर सिद्ध होते हैं अथवा तीर्थंकरके मोक्ष चले जानेके बाद सिद्ध होते हैं।

चारित्रकी अपेक्षा यथाख्यातचारित्रसे अथवा पाँचों चारित्रोंसे सिद्धि होती है।

कोई स्वयं संसारसे विरक्त होकर (प्रत्येकबुद्ध होकर) सिद्ध होते हैं और कोई दूसरे के उपदेशसे विरक्त होकर (बोधितबुद्ध होकर) सिद्ध होते हैं।

ज्ञानकी अपेक्षा निश्चय नयसे केवलज्ञानसे सिद्धि होती है और व्यवहारनयसे मति, श्रुत आदि दो, तीन या चार ज्ञानोंसे भी सिद्धि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान होनेसे पहिले व्यक्तिके दो, तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं।

शरीरकी ऊँचाईको अवगाहना कहते हैं। अवगाहनाके दो भेद हैं—उत्कृष्ट और जघन्य। सिद्ध होने वाले जीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पाँच सौ धनुष है और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ है। जो जीव सोलहवें वर्षमें सात हाथ शरीर वाला होता है वह गर्भसे आठवें वर्षमें साढ़े तीन हाथ शरीर वाला होता है और उस जीवकी मुक्ति होती है। मध्यम अवगाहनाके अनन्त भेद हैं।

यदि जीव लगातार सिद्ध होते रहें तो जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ सययका अनन्तर होगा अर्थात् इतने समय तक सिद्ध होते रहेंगे। और यदि सिद्ध होनेमें व्यवधान पड़ेगा तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मासका अन्तर होगा।

संख्याकी अपेक्षा जघन्यसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टसे एक समयमें एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

क्षेत्र आदिमें सिद्ध होनेवाले जीवोंकी परस्परमें कम और अधिक संख्याको अल्पबहुत्व कहते हैं। क्षेत्रकी अपेत्ता अल्पबहुत्व—निश्चय नयकी अपेक्षा सब जीव सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध होते हैं अतः उनमें अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवहार नयकी अपेक्षा उनमें अल्पबहुत्व इस प्रकार है।

क्षेत्रमें सिद्ध दो प्रकारसे होते हैं–जन्मसे और संहरणसे। संहरणसिद्ध अल्प हैं और जन्मसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। क्षेत्रके कई भेद हैं— कर्मभूमि, अकर्मभूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग् लोक। उनमें से ऊर्ध्वलोकसिद्ध अल्प हैं, अधोलोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं और तिर्यक्लोकसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। समुद्रसिद्ध सबसे कम हैं और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। विशेषरूपसे लवणोदसिद्ध सबसे अल्प हैं, कालोदसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार जम्बूद्वीपसिद्ध, धातकीखण्डद्वीपसिद्ध और पुष्करार्धद्वीपसिद्ध क्रमसे संख्यातगुणे संख्यातगुणे अधिक हैं। कालकी अपेक्षा अल्पबहुत्व—निश्चय नयसे जीव एक समयमें सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवहारनयसे उत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले अल्प हैं और अवसर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले उनसे कुछ अधिक हैं। अनुत्सर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले उनसे कुछ अधिक हैं। और अनुत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी कालमें सिद्ध होनेवाले उनसे संख्यातगुणे है।

गतिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व—निश्चयनयसे सब सिद्धगतिमें सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवहारनयसे भी अल्पबहुत्व नहीं है क्योंकि सब मनुष्यगति से सिद्ध होते हैं।

एकान्तरगति (जिसगतिमे मनुष्यगतिमें आकर मोक्ष प्राप्त किया हो) की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—तिर्यंगतिसिद्ध अत्यल्प हैं। मनुष्यगतिसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। नरकगतिसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। और देवगतिसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं।

वेदकी अपेक्षा अल्पबहुत्व—निश्चय नयसे सब अवेदसे सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवहार नयसे नपुंसकवेद सिद्ध सबसे कम हैं। स्त्रीवेदसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं और पुंवेदसिद्ध उनसे संख्यातगुणे हैं। कहा भी है—

"नपुंसकवेदवाले बीस, स्त्रीवाले चालीस और पुरुषवेदवाले अड़तालीस जीव सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार आगमके अनुसार तीर्थ चारित्र, आदिकी अपेक्षा अल्पबहुत्व जान लेना चाहिये।

दसवाँ अध्याय समाप्त

तत्त्वार्थसूत्राणामकारादिकोशः

तत्त्वार्थसूत्रस्थशब्दानामकाराद्यनुक्रमः

अ

ग

घ

च

छ

ज

ब

भ

श

ह

तत्त्वार्थवृत्तौ समागतानासमुद्धतवाक्यानामकाराद्यनुक्रमः

तत्त्वार्थवृत्तिगताः केचिद् विशिष्टाः शब्दाः

तत्त्वार्थवृत्तिगता ग्रन्था ग्रन्थकाराश्च

ग्रन्थसङ्केतविवरणम्